



आचार्य श्री शक्तिसागर महाराज ।

अपनी बात

बहुत समय से चारित्र्य चक्रवर्ती १०८ आचार्य शातिसागर महाराज के सौरभ सम्पन्न लोकोत्तर चरित्र से परिचित लोगों की मनोकामना थी, कि उन मुनिनाथ की जीवन कथा प्रकाश में लाई जाय जिससे मोहान्धकार में भ्रात मानव आध्यात्मिक प्रकाश पर मंगल पथ में प्रवृत्ति करे। सुयोग की बात है, सन १९५१ के पर्युषण पर्व के समय बारामती (पूना) में विशेष चर्चा हुई। उस समय पूज्य आचार्य देव चातुर्मास वहां ही व्यतीत कर रहे थे, और मैं भी गुरुचरण के समीप पहुंचा था। लोगों से चर्चा के उपरान्त चरित्र निर्माण का कार्य मुझ पर रखा गया और प्रकाशन आदि की आर्थिक व्यवस्था का भार जिनवाणी जीर्णोद्धारक संघ ने स्वीकार किया।

पर्युषण पर्व के उपरान्त सिवनी लौटने पर जब मैंने लेखन निमित्त सामग्री का अन्वेषण किया तो मुझे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि दो, एक लघु पुस्तिकाओं तथा समाचार पत्रों के अल्प विवरण से चरित्र निर्माण का व्यवस्थित कार्य भी कठिन प्रतीत होता था। मैं चिन्ता में पड़ गया। निराशा ने मुझे घेर लिया। ऐसे अवसर पर अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ लोगों के उत्साहवर्धक पत्र मिले। दानवीर रावराजा श्रीमंत सर सेठ हुकुमचंद जी इंदोर का पत्र बड़ा प्राणपूर्ण था। केन्द्रीय लोक सदन (Parliament) के अध्यक्ष श्री मावलंकर से प्राप्त पत्र द्वारा प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख श्री मोलवन्कर ने बड़े उदात्त उद्गारों को व्यक्त करके स्फूर्तिप्रद शब्दों में उत्साहजनक सामग्री प्रदान करते हुए लिखा था कि ऐसे पवित्र और निस्वार्थ सेवा के क्षेत्र में परमात्मा की कृपा से सकलता की उपलब्धि में तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपनी पुण्य भावना को व्यक्त करते हुए यह सुन्दर पद्य आचार्य महाराज की अभिवंदना में उक्त लिखा था :-

पंच अनेक, संत सब एक,
नत हूँ मैं अपना सिर टेक।
जहाँ अहिंसा का अभिप्रेक
परम धर्म का वहाँ विवेक ॥

ऐसी पवित्र स्फूर्तिप्रद सामग्री उल्लास तथा उत्साह देती थी किन्तु जीवन घटनाओं का अल्प परिचय हमें सचिन्त बनाता था । इस कठिन प्रसंग में अन्तःकरण ने परमात्मा की आराधना को उचित बताया, इसलिए मैंने वीतराग तीर्थंकरों की ययाशक्ति समाराधना तथा अर्चा की । उसके फलस्वरूप तथा विविध ग्रंथों के परिशीलन में सलग्नता के कारण धीरे २ उपयुक्त सामग्री मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित हो चली । परमात्मा का नाम-स्मरण और आचार्य श्री के चरणों को प्रणाम करते हुए मैं जब लिखने बैठता था तो विपुल सामग्री मिलती जाती थी ।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि पवित्र कार्य में विघ्न प्रायः आया करते हैं । उन्हें आमंत्रण देकर बुलाने की आवश्यकता नहीं होती । इस आचार्य वाणी की सत्यता का हमें पर्याप्त मात्रा में अनुभव हुआ । जब हम लेखन कार्य में अत्यन्त संलग्न थे; तब जिनवाणी जीर्णोद्धारक संघ के मंत्री जी ने हमें सूचना दी कि यह कार्य आचार्य महाराज को पसन्द नहीं है, इसलिए आप ग्रंथ निर्माण का कार्य बन्द कर दीजिये । हमने सोचा कि यह श्रम अर्थ की प्रेरणा के स्थान में अंतःकरण के प्रेम, श्रद्धा और भक्तिवश किया जा रहा है इसलिए उसे अविवर्थात रूपसे जारी रखना ही ठीक होगा । फिर भी व्यवस्था की बात मन में विचार उत्पन्न करती थी । ऐसे अवसर पर हमारे गुरु-भक्त छोटे भाई ज्ञानचंद दिवाकर, तथा शाति कुमार ने कहा, "इस संबंध में यदि अन्यत्र से व्यवस्था न हुई तो अपने घर से ही इस ग्रंथ का प्रकाशन करेंगे ।"

दिगंबर जैन महासभा की प्रबंधकारिणी की एक बैठक में यह प्रस्ताव पास हुआ था कि हमारे ग्रंथ निर्माण के अनंतर महासभा उसे आचार्य श्री की हीरक जयंती के अवसर पर उनके कर कमलों में अर्पण करेगी । जब मैंने ग्रंथ प्रकाशनार्थ आर्थिक व्यवस्था के विषय में प्रमुख महोदय को पत्र दिया तो ऐसा उत्तर नहीं आया जो हमें निःशंक बनावे । पश्चात् की प्रवृत्तियों से तो इस परिणाम पर पहुंचना पड़ा कि इस दिशा में आशान्वित न होना ही समझदारी की बात होगी ।

कोई कोई गुरु भक्त कहते थे, "आपने जैन-शासन सबूत महत्वपूर्ण ग्रन्थ तथा प्राकृत भाषा की प्रांजल तथा दो-हजार वर्ष प्राचीन महान कृति

‘महाबंध’ प्रथम खंड की टीका को दक्षिण से लाकर प्रसिद्ध व्यवसायी सेठ शांतिप्रसाद जी जैन की भारतीय ज्ञानपीठ काशी को प्रकाशनार्थ अमूल्य प्रदान की, तो वह कृतज्ञ संस्था आचार्य श्री के जीवन, चरित्र को प्रकाशित करने में कृतार्थता का अनुभव करेगी। शांतिप्रसाद जी की संस्था द्वारा शांतिसागर स्वामी संबंधी रचना का प्रकाशन पूर्णतया समंजस ही है।” वह विचार अनुपयोगी दिखाई दिया, क्योंकि केवल ज्ञानप्रसार तथा लोक कल्याण की कामना से प्रदत्त सामग्री के प्रतिफल स्वरूप जो व्यथा वर्षक पुरस्कार प्राप्त हुआ उससे ज्ञानपीठ की ओर पीठ करना ज्ञान पूर्ण लगा। हमें तो यह जानकर आश्चर्य हुआ कि प्रकांड दार्शनिक रायबहादुर त्रिंतिपल ए. चक्रवर्ती एम. ए. आई. ई. एस, मद्रास द्वारा अंग्रेजी समयसार तथा कुरल काव्य, अमूल्य दिए जाने पर उक्त संस्था से उन्हें हमारी तरह परितोष के स्थान में परिताप प्राप्त हुआ। ऐसी ओर भी उज्ज्वल साहित्य सेवियों की व्यथा की क्या है। यदि दानवीर संस्थापक जी स्वयं ध्यान देकर संस्था को अकलंक बनाने का प्रयत्न करें, तो समंतभद्र बात होगी। धीरे धीरे वह दिन भी आ गया, जब अंतःकरण ने चरित्र निर्माण कार्य को समाप्ति पर संतोष और प्रसन्नताका अनुभव किया।

अब तो प्रकाशन का प्रश्न प्रमुख बन गया। कुछ श्रीमानों ने हमें लिखा कि, “यदि आप पर्यूपण पर्व में हमारे यहां धर्मोपदेश के हेतु आवें, तो अर्थ की व्यवस्था हो जायगी।” मैं विचार में पड़ गया, क्योंकि हृदय आचार्य महाराज के समीप पहुंचने की सलाह देता था, कारण पर्यूपण में आचार्य महाराज से अमूल्य अनुभव पूर्ण सैदान्तिक चर्चा द्वारा अपूर्व आलहाद और महान प्रकाश प्राप्त होता रहा है। सात, आठ वर्षों से मेरा पर्यूपण महाराज के समीप ही व्यतीत हुआ करता है, इसलिए मेरे मन की अर्थ प्राप्ति की अपेक्षा बौद्धिक और आध्यात्मिक लाभ उठाना श्रेयस्कर लगा। इसका विशेष कारण है। उनके पास जाने पर ऐसा लगता है; मानों हम सजीव उत्तम, क्षमा आदि दश विध धर्मों की पार्श्व भूमि में पहुंच गए हों। अतएव मैं महाराज के पास लोणंद पहुंचा।

एक दिन आचार्य महाराज के पास नीराके कुछ भाई दर्शनार्थ पहुंचे। मैंने उत्साही सेठ नेमचन्द देवचंद जी आसबलीकरसे कहा कि “आपके लिए

एक प्रिय सामग्री में लाया हूँ ” और मैंने उन्हें ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति दिखाई । उसे देख उनका गुरुभक्त हृदय अत्यन्त हर्षित हुआ । मैंने कहा “ग्रंथ प्रकाशन के उपरांत सहायतार्थ लगाई गई द्रव्य विक्रीके पश्चात् सधन्यवाद लौटा दी जायगी । इस योजना से लोक कल्याण होते हुए भी आर्थिक क्षति नहीं होगी । गोमटेश्वर स्वामी का महाभिप्रेक महोत्सव समीप है । उस समय ग्रंथ की विक्री भी सरलता से हो जायगी ऐसी आशा है ।”

उनको यह योजना उचित लगी । उनने तथा श्री रावजी हीराचंद कोठडिया ने हमसे नीरा आने का अनुरोध किया । नीरा पहुँचने पर उक्त दोनों सज्जनों ने तथा श्री रामचन्द्र अमीचन्द्र शाह ने हमारी योजना की पूर्ति का वचन दिया तथा वचन पूर्ति की ।

उक्त आर्थिक सहायता में जो भी कमी पड़ी उसकी पूर्ति हमारे भाई ज्ञानचंद दिवाकर ने की । इस ग्रंथ प्रकाशन की अधिक अड़चन दूर करने का कार्य असाधारण महत्व रखता है, इसलिए नीरा के उक्त तीन सज्जनों को सामयिक उदारता के लिए धन्यवाद है । अब ग्रंथ प्रकाशन के प्रवर्धकी समस्या थी । छपाई की कठिनाता भाई छगनमलजी बी ए एल एल. बी मैनेजर परफेक्ट पाटरी कंपनी जबलपुर के सहयोग से सहज हो दूर हो गई ।

ग्रंथ निर्माण में उपयोगी विपुल ग्रंथ, अनेक लाभप्रद सुझाव आदि हमारे अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर एम ए बी काम एल एल बी तथा भाई श्रेयासकुमार दिवाकर बी एस सी से प्राप्त हुए । अभिनंदन कुमार दिवाकर एम ए ने प्रकाशन आदि के निमित्त बहुवृत्त श्रम किया तथा चित्रों के प्रकाशन आदि की व्यवस्था निमित्त टाइम्स आफ इंडिया प्रेस बम्बई में पहुँचकर कुशलता से सब कार्य सम्पन्न कराया । उक्त प्रेस के उच्च अधिकारियों ने विशेषकर श्री राजकुमार जैन डिप्टी मैनेजर टाइम्स प्रेस, और कीरेन्द्र कुमार जैन एम ए ‘धर्मयुग’ बम्बई ने प्रेम और साजग्य सहित कार्य किया । हमने देखा आचार्य महाराज के जीवन का थोड़ा सा वर्णन एवं उनके चित्रों का दर्शन कर सर्वश्रेष्ठ सहयोग प्राप्त करना सरल हो जाता था ।

वर्नाटक प्रान्त में परिभ्रमण कर आचार्य श्री की जन्मभूमि तथा

अन्य स्थानों में जाकर उपयोगी सामग्री प्राप्त करने में कीर्तनकार ब्रह्मचारी जिनदास जी समझोलीकर ने सहायता दी। श्री धनंजय कांगले फोटोग्राफर निपाणी (बेलगाव) ने आचार्य महाराज के निवास स्थान भोजग्राम पहुंचकर सुन्दर चित्र निस्वार्थ भाव से खींचकर दिए। प्रोफेसर पी. सी. सेठी एम. एस सी. साइंस कालेज नागपुर, श्रीमंत ऋषभ कुमार जी बी. ए. खुरई, श्री वीर कुमार जी बी. एस. सी. लोणंद, श्री बाबूराव जी दोशी बकील फलटण तथा मास्टर मन्हेलाठ जी सिवनी, नेमचन्द जी जैन एम. ए. जबलपुर द्वारा महत्वपूर्ण सामग्री तथा सहयोग प्राप्त हुआ। सिवई हेमचन्द जी तथा सिवई नेमचंद जी जबलपुर का सहयोग भी उपयोगी रहा। उपयोगी बातें बताने में सर्व प्रथम हमारे पूज्य पिता जी, संव-भक्त शिरोमणि सेठ दाडिमचन्द जी जवेरी बंबई, धर्मप्रेमी बकील श्री तलकचन्द शहा फलटण, गुरु भक्त सेठ चंदूलाल जी सराफ, श्री निरंजन लाल जी बंबई आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रेस कापी तैयार करने में कामर्स कालेज के विद्यार्थी चुन्नीलाल जैन ने बहुत श्रम किया। महान तपस्वी मुनिराज वर्धमानसागर जी, मुनिराज नैमिसागर जी, मुनिराज पायसागर जी, मुनिराज वीरसागरजी, मुनि समन्तभद्र जी, श्री क्षुल्लक सुमतिसागरजी से (फलटण वाले), जिनका महाराज से निकट परिचय रहा है, महत्वास्पद बातें ज्ञात हुई थी। इन पूजनीय तपस्वियों ने अपने मंगलमय आशीर्वाद द्वारा हमें कृतार्थ भी किया था।

समाज के प्रमुख नेता तथा उच्चकोटिके धर्मज्ञ एवं शास्त्रज्ञ हमारे पूज्य, पिता जी (सिवई कुंवरसेन जी) के कारण हमारे लेखन कार्यके सर्व विघ्न दूर हुए हैं तथा सब प्रकार की अंगुलता उनके पुण्य प्रसादसे मिली है।

उनकी अवस्था इस समय ८० वर्षके समीप है और उन्होंने लौकिक कार्यों को छोड़कर आत्मकल्याण करने की ही अब अपना सच्चा परिवार मान उस ओर प्रवृत्ति की है। वे अपना अधिक समय जिन नाम-स्मरण तथा तत्त्वचिंतन में व्यतीत करते हैं। उनकी आचार्य महाराज में अपार भक्ति है। यदि उनसे हमें सर्व प्रकार की स्वाधीनता न दी होती तो ऐसा चरित्र बनाना स्वप्न में भी संभव न होता।

और भी अनेक सत्पुरुषों द्वारा सहायता प्राप्त हुई है, जिससे इस ग्रंथ

निर्माण का कठिन कार्य सम्पन्न हो सका है। इन सभी सहायकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए एक 'आभारी' शब्द ही हमारे पास है।

इतने बड़े ग्रंथ का अल्प समय में प्रकाशन होने के कारण प्रूफ शीयन कार्य जितना निर्दोष बनना चाहिए था न हो पाया। फिर भी अत्यधिक धन द्वारा जितनी सावधानी सभव थी, उसमें तनिक भी प्रमाद नहीं किया गया।

जिनेन्द्र भगवान की भक्ति तथा आचार्य शान्तिसागर महाराज के पुण्य-स्मरण द्वारा हमारी आत्मा को पर्याप्त प्रकाश तथा बल प्राप्त होता रहा है, उनके चरण कमलों को हमारी प्रणामार्जलि है।

२६ जनवरी १९५३

दिवाकर—यदन

सिवनी

सुमेरुचंद्र दिवाकर



आमुख

इस विशाल विश्व का मर्म खोजने पर प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी सच्चे सुख और शांति के अन्वेषण में सब प्रकार के उचित अनुचित उपायों का अवलंबन के प्रयत्न करता है । एक व्यक्ति अपनी उपलब्ध साधन सामग्री से असंतुष्ट हो दूसरे को सुख और शांति का स्वाद करने वाला सोचता है । ऐसी स्थिति दूसरों की भी है । कवि ने इस भाव को इस प्रकार बताया है — नदी का यह पार आह भर कर बोला, "जो कुछ सुख है उस पार है" । नदी का वह पार दीर्घ स्वास लेकर कह उठा, "अरे ! सारे सुख का भंडार तो उस पार है" । इस प्रकार विश्व की स्थिति है, फिर भी विषयो की वेदना से व्यथित यह प्राणी मरुस्थल की जलशून्य भूमि में दिखने वाली मरीचिका के पीछे लम्बी दौड़ लगाने के प्रयत्न में पीछे नहीं रहता । विश्व को सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का पर्यवसान मृत्यु की गोद में सो जाने में है । बड़े से बड़े कालाकार, नरेश, राजनीतिज्ञ धनी, ज्ञानी, निर्बन्ध सभी मृत्यु की गोद में सो जाते हैं । इसलिये सम्पूर्ण बंधव और विभूति, मान और गौरव अथवा और भी लोक प्रवृत्तियां अन्त में मृत्यु के महा द्वार तक पहुँचाकर इस जीव को अकिञ्चन बना छोड़ देती हैं । सब कुछ यही रह जाता है । लोक में प्राप्त प्रतिष्ठा का प्रदीप भी विस्मृति के प्रचंड पवन द्वारा थोड़े समय में ही बुझ जाता है । इसलिये योगी लोग इस जगती को चंचलता और मृत्यु के झूले में झूलते हुए देख उभर उपाय के लिये अपने सर्वस्व का त्याग करने को उद्यत होते हैं, जिससे ये अमर जीवन, अक्षय आनन्द, अपरिमित शक्ति और शांति का स्वामी बने तथा जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जावे । साधारणतया जग जाल में फँसा हुआ मानव यह नहीं सोच पाता कि दिन और रात्रि के आने जाने के द्वारा किस तरह इसकी जीवन ज्योति क्षीण होती जाती है ।

यह क्या व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है । बड़े बड़े साम्राज्यों के विलुप्त होने की कथा उनके भग्नावशेष सुनाते हुए हमें बताते हैं, कि

तुम जिस उन्नति के महल को सजाने में लगे हो, वह भी कुछ काल के बाद धूल में मिल जायगा। जीवन में वसतवाल का चिर निवास नहीं होता। उसकी मधुरिमा के बाद आग उगलने वाला गर्मी का युग आता है और वर्षा, शिशिर आदि के अनन्तर पतझड़ भी प्राप्त होता है, जब प्रकृति थी-विहीन हो दरिद्रता की मुद्रा धारण करती है। यह अस्त और उदय की बीणा विश्व के प्रागण में निरन्तर बजती है। मोह के रोगी की कर्ण इन्द्रिय बधिर हो जाने से उसे यह गीत सुनाई ही नहीं पड़ता। आत्म विकास का सुप्रभात जिनके जीवन में होनेवाला है ऐसे सत्पुरुष उस गीत को सुनते हैं, उसके मर्म को समझकर तत्काल अविनाशी अमृत पथ पर चलने के लिये कठोर से कठोर त्याग करने को तत्पर हो जाते हैं। इस कार्य में वे बृद्धावस्था के आगमन की प्रतीक्षा नहीं करते बैठते। योगवासिष्ठ में लिखा है कि "युवावस्था में ही धर्मशील बनना चाहिये, क्योंकि जीवन विनश्वर है। किसे ज्ञात है कि ये किसकी मरण वेला है?"

जो सोचते हैं फिर कभी कार्य करेंगे, अभी तो अवकाश नहीं है उन माया के फदे में फसे हुए भ्रात भाइयों की उलझनें वर्धमान होती हुई अकस्मात् ही उनकी जीवन लीला को समाप्त कर देती हैं। इस प्रकार यह मनुष्य जीवन का अमूल्य अवसर आत्मा की उपलब्धि के बिना विषयो की दासता में यो ही बीत जाता है। मनुष्य इस विशाल विश्व में आकर अपने शरीर से सम्बन्ध रखनवाले कुटुम्बी, मित्र, वधु-बान्धव आदि की संकीर्ण परिधि में अपने आपको जकड़कर अपनी विशालता को भूलता है तथा कर्म-रुग्ण विषयर के द्वारा काटे जाने के कारण उसे दुख देने वाली पापपूर्ण सामग्री प्रिय लगती है। आज का मानव भौतिक विकास के उत्तम शिखर पर अपना उच्च भवन बना विश्व के चिन्तको को चुनौती देता हुआ अहंकार की भाषा में अपने को पूर्णता का अधिनायक बताता है, किन्तु क्षण भर में विकृति का प्रचण्ड प्रहार उसकी उन्नति के प्रासाद को स्वयं समाप्त कर शोचनीय अवस्था उत्पन्न करता है। आत्म विद्या के आचार्यों ने बताया है कि कनक, कामिनी और

१ युवैव धर्मशील स्यात् अनित्यं खलु जीवितम् ।

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥

विषयो की दासता को छोड़कर जब तक तुम त्याग के पथ पर नहीं आओगे, तब तक तुम्हें क्षण भर भी वास्तविक शांति नहीं मिलेगी। उपनिषद् में लिखा है, 'यह आत्मा अमृत पद को प्राप्त करने के लिये धन की आराधना करे तो भी उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। ईश्वर की जोर जोर से गुणगाथा गाने से भी इसकी कामना पूर्ण नहीं होगी। उस उज्ज्वल स्थिति का प्राप्त करने का अद्वितीय मार्ग परिपूर्ण त्याग का आश्रय लेना है'।

आज का वातावरण त्याग और सयम के पथ को सकटमय बनाये हुए है। विषय लंछुर्पी वासनाओं के गुलाम और इन्द्रियों के दास, आत्म सयमी और त्याग शील पुरुष को देख उसे अपने समान अपवित्रता तथा कालिमापूर्ण जानते हुए प्रस्त कर रहे हैं। विश्व का इतिहास बताता है कि भौतिकता के दीवाना ने आत्म-पथ पर चलने वाले योगियों के शरीर पर अंगारों की वर्षा की है। भगवान् पार्श्वनाथ पर पापी कमठ ने विपत्ति या पहाड़ लाकर पटकवा था, किन्तु वे महामना अपने योग से विचलित नहीं हुए— 'महामना यो न चंचाल योगतः'। जब तीर्थंकर संदृश श्रेष्ठ आत्मा पर दुष्ट जीवों का पापमय आक्रमण हो सकता है, तब अल्प पुण्यवाले साधारण मानवों की क्या कथा? इसीलिये सयम और त्याग की धरा पर पर धरने वाले सत्पुरुष को बलि सचेत करता हुआ कहता है—

अरे हंस या नगर में, जइयो आप विचार।

बागनिसो जिन प्रीतकर, कोविल दई विडार ॥

आज जगत को उद्धार का संदेश देने वाले असयम और पापाचार की बाखूनी पीभर स्वयं क्रूरता की मूर्ति बन जीवा के रक्त से स्नान करते हुए सुचिन्ता का संदेश देने खड़े होते हैं। ऐसे पापमय निमग्न चाह राजनीतिज्ञ हो या बलम के धनी हो, गाठ के धनी हो अथवा लौकिक बल और पराक्रम के प्रतीक हो, उन्हें आध्यात्मिक प्रकाश पाना अधोरी काठरी में घुसकर भ्रमर की खोज करना है। धर्म के मर्म को न जानकर धर्मात्मा का अभिनय करने वाले विविध धर्माचार्य अथवा विशिष्ट धर्म संप्रदाय के अधिनायकों के मुख से धर्म की बात और त्याग

की चर्चा ऐसी ही दुरी और असुहाबनी लगती है, जैसे गदी नाली में गिरे हुए शराब के नशे में निमग्न व्यक्ति के मुख से मद्यपान के निषेध में दिया गया भाषण प्राणशून्य लगता है। गान्धी जी ने एक महत्व की बात लिखी है 'मैंने किसी धर्म में निश्चित उन्नति नहीं देखी। यदि विश्व के धर्म समुन्नत होते तो जगत कसाईघर के रूप में नहीं दिखाई पड़ता।' सचमुच में दम्भ और पाखंड की आधार शिला पर अवस्थित पाखंड जब धर्म का वेप धारणकर ससार के समक्ष आता है, तब विज्ञ लोग उसे विदाई का प्रणाम (Farewell) अर्पण करना ही सौजन्य का कार्य जानते हैं। जिस अभय और आनन्द के देने वाले धर्म के भवन में जीवव्य, हिंसा, पापाचार, इद्रिया की दासता और दुराग्रह का दयनीय दृश्य दिखाया जावे, उसे कौन पसंद करेगा ? आज का बुद्धिजीवी वर्ग जो धर्म के प्रति क्षुब्ध हो उठा है, उसका कारण इसी अधर्म राक्षस द्वारा धर्म का पाट अदा करना है। सच्चा धर्म तो जीव के प्राणरूप है। "यह धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा, सयम और क्षम स्वरूप है। जिसका मन सदा धर्म में रम गया है, उसे सुरगण सदा प्रणाम करते हैं।" ऐसे धर्म की यदि प्रतिष्ठा हो तो जगत के जीवन से आनन्द और प्रेम की उपलब्धि हो। धर्म अभ्युदय, आनन्द और शाश्वतिक शांति का जनक है। जनक अपनी सतति का संरक्षण ही करता है। महर्षि गुणभद्र ने लिखा है^३ "धम कल्याण को उत्पन्न करता है इसलिये धर्मरूपी कारण, कल्याण रूपी कार्य का कभी विघातक नहीं होगा" इसलिये धर्म के पाम आने

१ A student asked Gandhi, whether it was not true that Christianity and Islam were progressive religions and Hinduism static or retrogressive 'No' he replied "I have noticed no definite progress in any religion The world would not be the shambles it has become, if the religions of the world were progressive"

Louis Fischer Life of Mahatma Gandhi, p 488

२ धम्मो मंगलमुक्कट्टु अहिंसा सयमो तवो ।

देवावि तस्स पणमाति जस्स धम्मो सया मणो ॥

३ धर्मं सुखस्य हेतुं हेतुर्नैविराधकं स्वकार्यस्य ।

तस्मात्सुखभगभिया मा भू धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥

से डरने वालों को सान्त्वना देते हुए वे कहते हैं कि "आनन्द के क्षय की कल्पना मे तुम धर्म से विमुख नहीं बनो ।"

आचार्य जिनसेन ने लिखा है, "यह धर्म संकटों से बचाता है" 'धर्मो रक्षत्यप्येभ्यः' । गांधीजी के द्वारा सम्मानित विद्वान् टाल्सटाय ने देशबंधु चित्तरंजनदास को सन् १९०७ में एक महत्वपूर्ण पत्र लिखा था, उसमें ये महत्व के शब्द थे "आपके देश के अधिपति नेता धर्म की महत्ता पर जोर नहीं देते, यद्यपि देश की जनता के लिये यह परमावश्यक है" । इस बात को भूल आज के प्रमुख लोग धृणा, विद्वेष और प्रतिहिंसा की अन्धकोठरी में बैठकर जगत को मोहक बातें सुनाया करते हैं । उन लोगोंने तो भौतिक ज्ञान द्वारा प्राप्त कुछ विशेषताओं को देखकर पुद्गल की सेवा को ही अपना कर्तव्य मान लिया है । वे नैतिक जगत की ओर पूर्णतया अन्ध बन वासनाओं से मुक्ति की बात ही नहीं सोच पाते । भौतिकवाद के शिखर पर चढ़े हुए समृद्ध अमेरिकावासियों को कबीन्द्र खोन्दाय ने अमेरिका जाकर यह मामूली बात कही थी, "इस प्राकृतिक जगत में मनुष्य विज्ञान की सहायता से प्राकृतिक शक्तियों का स्वामी बन रहा है, किन्तु नैतिक जगत् में मनुष्य का कार्य बड़ा कठिन है । उसे अपनी वासनाओं तथा कामनाओं के आतंक को दूरकर उन्हें अपने आधीन बनाना है ।" उनमें यह भी कहा था, "सम्पत्ति एक सोने का पिजरा है, जिसमें धनिकों के बालकों का पोषण होता है । उस कृत्रिम वातावरण में उनकी शक्तिया मृत हो जाती हैं ।"

वास्तव में यह धैर्य की स्थिति भी कैसे शांति देगी, जिसमें यह जीव परावलम्बी बन अपनी स्वाधीनता को धरोहर रखकर सुख की प्राप्ति करता है और चिरकाल तक कर्मों के चक्कर में फंसा हुआ आँखों में पट्टी बांध कोझू का बेल बन सुख के चारों ओर घूमा करता है । उसे यह नहीं मालूम है कि मेरी आत्मा ही उस आनन्द

१ In this natural world with the help of science man is turning the forces of nature into obedience. But in this moral world he has a harder task to accomplish. He has to turn his own passions and desires from tyranny into obedience.

Dr. Rabindranath Tagore : Personality, p. 90.

(Lectures in America.)

का भंडार है जिसके प्रतिविम्ब को वास्तविक मान में बाहर भटकता फिरता हूँ । चीनी विद्वान प्रो० तान युन शान ने लिखा है "व्यापक विश्व सस्कृति का निर्माण अहिंसा के आधार पर हो सकता है ।" इस अहिंसा विद्या का अग्रतिम वर्णन, चिन्तन और परिपालन जैन तीर्थंकरों ने किया है ।" उक्त चीनी बौद्ध विद्वान ने हमें अपने एक महत्वपूर्ण पत्र में लिखा था, "इस अहिंसा या उपदेश बुद्ध देव के पहले तीर्थंकर महावीर ने दिया था ।" आज देश में और बाहर भी अहिंसा का मधुर गीत सुनाई पड़ता है किन्तु इस गीत के गाने वाले बहुधा ऐसे लोग मिलते हैं, जिन्होंने सम्राट अक्बर के शब्दों में 'अपने पेट को जान-बरो के मान को खिलाकर इसे 'बक्स्तान' बना लिया है, जहाँ मानवों की बोलों नहीं सुनाई पड़ती । अहिंसा का मधुर गीत गाने वाले को अपने जीवन को प्रेम की गंगा में पवित्र करना होगा । मांस भक्षण, मुरापात, शिवार सदृश पाप की भूमि में प्रेम का पीया नहीं लहलहाता । वहाँ तो उसकी तबाही मृत्यु हो जाती है । इसलिये

"We Chinese and Indians, the two greatest peoples of the world should culturally join together to create, to establish and promote a common culture called Sino-Indian culture entirely based on Ahimsa. We shall further create, establish and promote a common world culture on the same basis---"

A. B. Patria, Dated 31.10.49

२ "Ahimsa is the royal road to peace and Lord Mahavira was the the first and foremost pioneer of this road in this world . "

"By promoting Ahimsa we shall lead the world to real and permanent peace, love, harmony and happiness, despite the encircling gloom of war clouds, that surrounds our existence. I reiterate that Ahimsa is the royal road to peace and let humanity march through it towards the ultimate goal of international peace and brotherhood "

Letter, dated 3-4-51 Vishva Bharti Cheena Bhawan, Shantiniketan

जिन विचारवान व्यक्तियों ने विश्व में सामंजस्य स्थापित करके प्रेममय नव जगत के निर्माण का निश्चय किया है, उन्हें तीर्थंकरों के जीवन का निकट निरीक्षण करना होगा और उनकी स्वाध्याय गंगा में स्नान कर जीवन को निर्मल बनाना होगा। भारत राष्ट्र ने जिस धर्मचक्र पर प्रेम प्रगटकर उसे राज चिन्ह बनाया है, उस के मर्म की ओर समर्थ पुरुषों का ध्यान जाना चाहिए। वह धर्म चक्र कैसा, जिसके नीचे जीव वध का पोषण हो, प्राणियों के प्राणों के संहार करने की योजनाएँ बनें और अहिंसा प्रेमी राष्ट्र का धनकर के रूप में ग्रहण कर उसमें लगाया जाय। जिस चक्र के नीचे हिंसा की राक्षसी का घर बना हो वह धर्म चक्र कैसा? उसे हो गम का चक्र मानना चाहिये। भारत का इतिहास बताता है कि कल्याण की बैजन्ती धारण करने वाले धर्म प्रिय सम्राट् भरत आदि के शासन में व्यष्टि तथा समष्टि सचमुच में सुखी, समृद्ध, सशक्त और पूर्णतया समुन्नत थी।

आज जगत में धर्मों के विविध रूपों को देखकर आदमी कि कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है कि वह किसे धर्म मानकर उसका शरण ग्रहण करे। वास्तव में महर्षि कुंद कुंद की व्याख्या "चरित्र ही वास्तविक धर्म है" उपयोगी है। इस चरित्र धर्म की महत्ता को आज भी सुधी समाज स्वीकार करता है। अंग्रेजी में एक सूक्ति है धन गया तो जानना चाहिये कि कोई हानि नहीं हुई, यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कहना होगा कि थोड़ी हानि हुई; किन्तु यदि चरित्र का नाश हो गया तो मानना होगा कि सारा जीवन ही चौपट हो गया। "इस चरित्र की निधि को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को स्वावलंबी बनना आवश्यक होगा। अनात्म पदार्थों के प्रति विश्वास छोड़ आत्मा को अनंत शक्ति का पुंज स्वीकार करना होगा। जिस धर्म से लौकिक उन्नति के शिखर पर मनुष्य पहुंचता है, उससे अधिक आत्मबल और त्याग इस चरित्र के शिखर पर पहुंचने के लिये आवश्यक है लोक-मान्य तिलक कहा करते थे "बिना धर्म के आत्मा महान नहीं

१ If weath is lost nothing is lost; if health is lost something is lost; but if character is lost everything is lost."

वनती महापुरुष वनने के लिये मनुष्य को परिस्थितियों से सघर्ष करना पड़ता है ।" जब लौकिक अपरिमित सकटों के मध्य से जाने पर भौतिक स्वाधीनता प्राप्त होती है, तब आध्यात्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये इस जीव को मोह भ्रमता तथा इन्द्रियों की लोलुपता के प्रचंड प्रहारा से बचते हुए अपने बंदमों को आगे बढ़ाना आवश्यक है । आत्मा के वैभव को जानने वाला भौतिक स्वतंत्रता को अथवा साम्राज्य की प्राप्ति को तृण तुल्य मानता है । इसलिये अपनी आत्मत्व की प्राप्ति के लिये वह जगत भर के लिये स्पृहणीय साम्राज्य को शव सदृश समझ छोड़ देता है । ऐसा पुरुष ही सच्ची स्वाधीनता के रहस्य को सझता है । राधाकृष्णनन् कहते हैं, "वास्तविक स्वतंत्रता तो आध्यात्मिक स्वतंत्रता है । सच्चा स्वराज्य तो मनुष्य की आत्मा का स्वराज्य है " (पृष्ठ १७८ 'स्वतंत्रता और सस्कृति') ।

आध्यात्मिक स्वाधीनता के सेनानी का दर्शन बड़े पुण्य से होता है । ऐसे विद्वान-सन्यासी परमहंस योगी का जीवन पूर्व जन्म के सस्कारों के प्रसाद से निर्मित होता है । जगत में वासनाओं के दास ही दिखाई देते हैं । शेक्सपियर भी कहता है, "मुझे ऐसा मनुष्य बताओ जो वासनाओं का दास न हो, मैं उसे अपने अतःकरण के भीतर विराजमान करूंगा" । महर्षि गुणभद्र ने आत्मानुशासन में लिखा है, "जब बिसी महाभाग के सत्कार सिंधु का तट समीप आ जाता है, तब वह धन, वैभव आदि परिग्रह का परित्याग कर देता है, कपायों का निग्रह करता है, समता सयम, इन्द्रिय दमन का पालन करता है, तत्वों के अभ्यास में सलग्न रहता है, तपश्चरण में उद्यम करता है, वित्तवृत्ति का स्वामी बनता है, कर्म शत्रुओं के विजेता जिनेन्द्र की आराधना करता है तथा कल्याणपूर्ण जीवन व्यतीत करता है ।" यह विश्व का सौभाग्य है कि आज वय तथा तप में बृद्ध दिगम्बर महाश्रमण आचार्य शातिसागर महाराज सदृश

"When the shore of the ocean of the cycle of existence is close by, the fortunate man has aversion to sense-gratifications, renounces all possessions, subjugates the passions, has tranquillity, vows, self-control, practice of self-contemplation, pursuit, of austerities, duly ordained mental activity, devotion to the Conquerors and Compassion "

थेष्ठ अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा अचीर्य के अप्रतिम आराधक विद्यमान हैं। वे चरित्र के चक्रवर्ती होने के कारण भव्यात्माओं के द्वारा चरित्र चक्रवर्ती के रूप में वंदनीय हैं। उनके मंगल जीवन पर विविध दृष्टियों से प्रकाश डालने का हमने इस ग्रंथ में प्रयत्न किया है।

हमें मरुभूमि में फिरकर जल का संग्रह कर कलश लाने वाले व्यक्ति के समान पद पद में कठिनाता का अनुभव करना पड़ा है। आध्यात्मिक संत शातिसागरजी के पास से उनके व्यक्तिगत जीवन की सामग्री पाना उस समय से असम्भव हो गया, जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके उज्ज्वल जीवन से हम जगत को परिचित कराने के लिये कुछ लिख रहे हैं। गांधी जी के जीवन पर महत्वपूर्ण सामग्री हमें इसलिये मिल जाती है, कि स्वयं उनसे कृपाकर अपने जीवन की कहानी लिख दी, दूसरे लिखने वाले लेखक को सामग्री दी और हर प्रकार का सहयोग दिया, इससे उनका सजा हुआ जीवन लोगों को मिल जाता है। हमारी कथा इससे विलक्षण है; इसलिये हमने कर्नाटक प्रांत में पर्यटन कर वृद्धजनों आदि से सामग्री प्राप्त करने का उद्योग किया, जहां ये चरित्र-चक्रवर्ती पहले रहते थे तथा जहां इनने विहार किया है। इस उद्योग से जो सामग्री मिली है, हमें विश्वास है, कि वह इनके महनीय जीवन को समझने में सहायक होगी और प्रत्येक मानव के अंतःकरण को प्रकाश प्रदान करेगी। वास्तव में इन संतराज का जीवन धन्य है, जिनसे इस मनुष्य जीवन की अमूल्य निधि भुक्ति वृत्ति को धारण कर अपूर्व साम्यरूपी अनृत का पान किया है।

चारित्र-चिंतन

थोवग्निह सिक्खिदे जिणइ बहुसुद जो चरित्तसपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो कि तस्स सुदेण बहुएण ॥

चारित्र परिपूर्ण मुनि अल्पशिक्षा प्राप्त होते हुए भी महान शास्त्रज्ञ को जीतता है । जो व्यक्ति चारित्र शून्य है, उसके शास्त्र पारगत होने में क्या सार है ?

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति ण्हिद्वो ।
मोहवकोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

तत्त्वतः यह चारित्र ही धर्म है । यही धर्म साम्य स्वरूप है । मोह तथा क्षोभ विरहित आत्म-परिणति जीव का धर्म है ।

हिंसानृतचीर्येभ्यो मैथुन-सेवा-परिग्रहाभ्यां च ।
पाप-प्रणालिकाभ्यो विरति सङ्गस्य चारित्रम् ॥

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, तथा परिग्रह रूप पाप के साधनों का त्याग करना सम्यक् ज्ञानी का चारित्र है ।

सकल विकल चरणं तत्सकलं सर्वसगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकल सागाराणां संसगानाम् ॥

वह चारित्र सकल तथा विकल के भेद से दो प्रकार है । समस्त परिग्रह के त्यागी मुनियों का चारित्र सकल चारित्र है तथा परिग्रही गृहस्थों का चारित्र विकल चारित्र है ।

गौणं चारित्रमाख्यातं यत्सावधानिवर्तनम् ।
आनन्दसाद्रमानात्मा पवित्रं परमार्थतः ॥

जो पाप का परित्याग है वह तो गौण रूप से चारित्र कहा गया है । पारमार्थिक दृष्टि से आनन्द परिपूर्ण आत्मा ही पवित्र चरित्र स्वरूप है ।

क्रम

अपनी बात	१—६
आमुख	७—१५
१ वातावरण	१
२ प्रभात	१३
३ लोकस्मृति	२६
४ वार्तालाप	५४
५ संयमपथ	७३
६ दिगंबर दीक्षा	९३
७ आचार्य पद	१३१
८ तीर्थाटन	१५६
९ प्रभावना	२२९
१० नूतनपारा	३३२
१२ प्रतिज्ञा	३५३
१३ आयमं	३८१
१४ आत्मानुशासन का हृदय	४१२
१५ समयसार दर्शन	४२६
१६ प्रकीर्णक	४५३
१७ तात्त्विक-चिन्तन	४८१
१८ दिगम्बरत्व	४९७
१९ अहिंसा महाव्रत	५४२
२० सत्य महाव्रत	५८९
२१ अस्तेय महाव्रत	६०८
२२ ब्रह्मचर्य महाव्रत	६२३
२३ अपरिग्रह महाव्रत	६४८
२४ भावना	६७६
२५ प्रवचन मातृका	६७९

૨૬	હૃદય જય	૬૯૧
૨૭	આવશ્યક	૬૯૯
૨૮	શેષ મૂલગુણ	૭૩૬
૨૯	ધ્યાન	૭૫૨
૩૦	અનુપ્રેક્ષા	૭૬૧
૩૧	સાર	૭૮૨

वातावरण

आधुनिक
परिस्थिति
का चिन्तन

आत्मविशुद्धता को प्राप्त कर मिद्ध परमात्मा बनने के लिये जैन संस्कृति में सर्वज्ञ बीतराग देव, निर्ग्रन्थि गुरु तथा अनेकान्तमय जिनवाणी की आराधना प्राथमिक स्थिति में आवश्यक मानी गयी है। प्रतिदिन की पूजा में गृहस्थ "अरिहंत श्रुत सिद्धांत गुरु निर्ग्रन्थि नित पूजा रचूँ" यह पाठ पढ़ता है। वर्तमान युग में संहनन की होनता के कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि के हेतु शुक्ल-ध्यान की समाराधना संभव नहीं है। अतएव सर्वज्ञदेव मनोमंदिर में वंदना के योग्य हो गये हैं, अथवा स्थापना-निक्षेप द्वारा प्रतिमा के रूप में पूजनीय हैं। जिनेन्द्र की वाणी, जीवो का उपकार करती हुई आज भी सर्वज्ञ शासन का प्रकाश भव्य जीवों को प्रदान कर रही है। निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन परम कल्याणकारी माना गया है किन्तु पाप प्रचुर पंचम काल के प्रताप से साधारण संयम की साधना संकट सकुल बन रही है तब सम्पूर्ण पापी का पूर्णतया परित्याग कर, महाव्रती मुनिराज के दिगंबर स्वावलम्बी जीवन की व्यतीत करने वाले महामुनियों का प्रादुर्भाव आज के लोगों को असंभव सा दिखा करता है।

उत्तर भारत में दिगंबर जैन मुनियों का दर्शन करने वा श्रावकों को संकष्टों घपों से सौभाग्य लाभ नहीं हुआ प्रतीत होता है। शाहजहा बादशाह के समकालीन विद्वान् कवि बनारसीदास जी के आत्मचरित्र—'अर्थ कथानक' से ज्ञात होता है कि साक्षात् दिगंबर गुरु का दर्शन न होने के कारण वे अज्ञानकारीवश विचित्र प्रवृत्ति में तत्पर थे। वे लिखते हैं^१ कि चन्द्रभान उदयकरण और थानसिंह नामक मित्रों के साथ अध्यात्म

१ चन्द्रभान बनारसी उदय करन अर्थ थान ।

चारों खेलहि खेल फिर करहि अध्यात्म ज्ञान ॥ ६०२ ॥

नगन होहि चारों जनें, फिरहि कोठरी माहि ।

कहहि भए मुनिराज हम, कछू परिग्रह नाहि ॥

गनि गनि मारहि हाथसो मुखसों करहि पुकार ।

जो गुमान हम कर गहे, ताके सिर पैजार ॥

गीत सुनै पावैं सुनहि ताकी विग बनाइ ।

कहैं अध्यात्म मय अरथ रहै मृपा लो लाइ ॥

को चर्चा करते हुए एक कमरे में नग्न होकर फिरते थे और समझते थे कि हम निर्ग्रन्थ मुनिराज बन पड़े। यदि सकल समयवारी दिगंबर मुनि का दर्शन हुआ होता तो वे नग्नमुनि बनने का अद्भुत नाटक नहीं खेलते। मुनि पद में हिसादि पापों का सार्वकालिक परिष्कार होता है, यह बात उनकी समझ में आई होती तो वे कुछ समय दिगंबर बन पश्चात् श्रीड़ा कौतुक में कभी भी संलग्न न होते।

जब वास्तविक सत्य रूप का दर्शन नहीं होता तब मनुष्य प्रत्यक्ष में मुनि दर्शन न होनेसे कल्पनिक जगत में भ्रमण करता हुआ उपहास पूर्ण प्रवृत्ति करता है। भूधरदास जी आदि प्राचीन हिन्दी के विद्वानों भाव द्वारा बंदना की रचनाओं के स्वाध्याय से यही बात झलकती है कि उन मुनि-भक्त नर रत्नों के नेत्र जिन मुद्रा धारी मुनि दर्शन के लिये सदा प्यासे ही रहे आये, इसलिये वे अपनी रचना में चतुर्थ कालीन वज्रवृषभ संहनन धारी दिगंबर गुह्यों की भक्ति करते हुये उनका ही इस काल में सद्भाव विचार करते थे। अपनी मुनि दर्शन की लालसा को वे गुरु स्तुति में इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

“बंदों दिगंबर गुरु चरण जग तरुण-तारुण जान।

जे वरम भारी रोग को, हूँ राज बंध महान।

जिनके अनुग्रह दिन कभी नहीं कटे कर्म जजोर।

ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर ॥ १ ॥”

वे यही सोचते थे कि पंचम काल में भी मुनिजन पर्वत के शिखर पर सदा कैष्ट सहन किया करते हैं इसलिये वे स्तुति में कहते हैं —

“जे बाह्य पर्वत बन बसें, गिरि, गुफा, महल, मनोग।

सिल-सेज, समता-सहचरी, शशि-किरण, दीपक जोग।

मृग-मित्र, भोजन तप मयी, विज्ञान निर्मल नीर।

ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर ॥ ४ ॥”

ऐसे मुनियों का जीवन में कभी दर्शन लाभ हो तो वह दिन धन्य होगा, यह विचारते हुए वे कहते हैं —

“कर जोर ‘भूधर’ वीनवै कब मिलहि वे मुनिराज,

यह आस मन की कब फलै, मम सरहि सगरे काज,

संसार विषम विदेश में जे बिना कारण बीर,

ते साधु मेरे उर बसहु मम हरहु पातक पीर ॥ ८ ॥”

कविवर उपरोक्त दृष्टि को दूसरी मनोरम रचना में भी इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

“ गुरु मेरे मन बसो जो भव जलधि जिहाज ।

तिरिंह पर तारहीं ऐसे श्री ऋषिराज ।

मोह महा रिपु जानके छाड़ियो सब घर वार ।

होय दिगंबर बन बसै आतम शुद्ध विचार ॥ २ ॥”

वे मुनियों को वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहने वाले ही सोचते हैं और उनकी दृष्टि में यह बात नहीं है कि आज के हीन संहनन में शरीर ऐसी तपश्चर्या को सहन भी कर सकेगा या नहीं । इसलिये वे कहते हैं —

“पावस रैन डरावनी, बरसै जल घर धार ।

तह सल निवसें तब गती बाजे झंझा वार ॥ ८ ॥

वे गुरु चरणों जहाँ धरें जग में तीरथ जेय ।

सो रज भन मस्तक चढ़ों ‘भूधर’ मांगे येह ॥ १४ ॥”

पंचमकाल में मुनियों की अल्प तपस्या द्वारा, महान् निर्जरा इन विद्वानों की दृष्टि में आगम का यह कथन नहीं आया कि पंचम काल में संहनन हीन होने के कारण मुनिराज पुर, नगर तथा ग्राम में भी निवास करते हैं । ऐसी आगम की आज्ञा इन धर्मात्मा विद्वानों के ध्यान में आयी होती तो वे अपनी रचना में इस-वात को प्रतिबिंबित करने से न चूकते । आचार्य देवसेन ने “भावसंग्रह” में लिखा है, “ इस पंचम काल के प्रभाव से तथा हीन संहनन होने के कारण इस काल में मुनिराज पुर, नगर, ग्राम में निवास करने लगे । अत्यन्त हीन संहनन, शारीरिक हीन शक्ति, दुःपमा काल तथा चित्त की अस्थिरता होते हुए भी धीर पुरुष महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साहित होते हैं” । जो व्यक्ति यह सोचता हो कि आज चतुर्थ कालीन मुनियों के समान कठोर तपस्वी जीवन व्यतीत करना असंभव होने के कारण कर्मों की निर्जरा कम होती होगी, उसे आचार्य देवसेन के-ये शब्द बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिये । “पहले हजार वर्ष तप करने पर जितना कर्मों का

१ संहणस्त गुणेण य दुस्तमकालस्त तवपहावेण ।

पुरणयरनामवासी धाविरे कप्ये ठिया जाया ॥ १२७ ॥

संहणं अङ्गिञ्च कालो सो दुस्तमो मणो चवलो ।

तहविहु धीरा पुरिसा महव्वय-भरधरण उच्छहिया ॥ १३० ॥

नाश होता था वह आज हीन संहनन में एक वर्ष के तप द्वारा कर्मों का नाश होता है ”^१ इसका कारण यह है कि हीन संहनन में तपस्या करने के लिये अलौकिक मनोबल लगता है । आज की शारीरिक स्थिति अदभुत है यदि एक दिन आहार नहीं मिला तो लोगों का मुख कमल मुझी जाता है । वज्र वृषभ संहनन भारी सहज ही अनेक उपवास और बड़े बड़े कष्ट सहन करने में समर्थ होता था । आज का अल्प संयम पुरातन कालीन बड़े संयम के समान आत्म दृढता चाहता है । जैसे एक करोड़पति किसी कार्य के लिये एक लाख रुपया दान करता है और दूसरा हजारपति नौ सौ हजार उस कार्य के हेतु देता है । इन दोनों दानियों में अल्प द्रव्य देने वाला दानी असाधारण महत्व धारण करता है क्योंकि उसका त्याग महान् मनोबल और उदारता का ज्ञापक है । इसी प्रकार आज के व्यक्ति का मुनि बनकर सकल संयम का धारण करना कम चमत्कार की बात नहीं । आचार्य वामदेव ने लिखा है “ आज संहनन हीन है, काल भयंकर है, मन चंचल है फिर भी महाव्रत के भार को धारण करने वाले सकल संयमी सत्पुरुष पाये जाते हैं । ”^२

यदि काल आदि की भीषणता को भूल, कोई शीत उष्ण वर्षा के कष्ट को चतुर्थ काल के समान सहन करे, तो इस शरीर रूपी पिंजरे के शीघ्र नष्ट होने से आत्मदेव को लोकान्तर को प्रयाण करना ही होगा ।

उत्तर में मुनि दर्शन का अभाव तथा संयम संबंधी विरुद्ध कल्पना	उत्तर भारत में मुनि दर्शन होना असंभव सरीखा समझा जाता था । इतना ही नहीं उच्च धार्मिक का जीवन व्यतीत करने वाली आत्मायें भी दृष्टिगोचर नहीं होती थी । उस समय चरित्र के समान ज्ञान की ज्योति भी अत्यंत क्षीण सी दिखती थी । जो तत्त्वार्थ सूत्र तथा भक्त्याम्बर स्तोत्र का मूल पाठ कर लेता था वह आज के प्रकाण्ड पंडितों से अधिक सन्मान और श्रद्धा का पात्र समझा जाता था । उस समय धार्मिकता के

१ वरिस सहस्तेण पुरा जं कर्म हृणइ तेण वाएण ।

संनपहि वरितेणहु पिज्जरयइ हीण संहणणे ॥१३१-‘भावसंग्रह’

२ सप्रति दुःखमेवाले नीच संहननत्थयात् ।

सजाता नगरग्राम जितावासवासिनः ॥२७२॥

नीच संहननवालो दुमहर्षपलं मनः ।

तथापि संयमोयुक्ता महाव्रत धुरंधराः ॥२७९॥ वामदेव ‘भावसंग्रह’

राम से भीगे अंतःकरण वालों को भाईजी या भगत जी कहा जाता था । वे लोग सोचते थे कि आज का काल, व्रतादि, प्रतिमाओं का पूर्णतया पालन करने के भी प्रतिकूल है । इसलिये वे अपने पाप भीरु मन द्वारा शास्त्रों से चुनी गयी बातों का अद्भुत संग्रह करके उसे जीवन का पथ प्रदर्शक जानते थे । उनमें अनेक बातें ऋषि-प्रणीत आगम से मेल नहीं खाती । उदाहरणार्थ दौलतराम जी ने अपने 'क्रिया कोष' में रात्रि-भक्त-त्याग नामक छटवी प्रतिमा में गृहस्थ को रात्रि में मौन धारण करने का वर्णन किया है । उस पर 'श्रावक धर्म संग्रह' में धर्मात्मा श्रावक सोधिया दरयावसिंह जी लिखते हैं, " उसका भाव ऐसा भापता है कि भोजन व्यापार आदि सम्बन्धी विकथा न करे, धर्म चर्चा का निषेध नहीं । " (२४७ पृष्ठ) आगम के प्रकाश में यह बात अतिरेक पूर्ण है । छटवी प्रतिमा वाला स्वस्त्री सेवन द्वारा संतति तक उत्पन्न करता है, तब उसके विषय में रात्रि में मौन धारण करने का कथन आगम समर्थित नहीं है । दौलतराम जी के क्रिया कोष में पांचवी प्रतिमा में सचित्त भक्षण त्याग के स्थान में सचित्त मात्र का त्याग मानकर गृहस्थ को सचित्त मिट्टी का स्पर्श न करने को कहा है । उसे मुनि तुल्य मान वे पंखा भी हिलाने की अनुमति नहीं देते । उनसे लिखा है —

माटी हाथ धोयवे काज लेय अचित्त दया के काज ॥ १८७१ ॥

पवन करे न करावे सोय, पट काया को पीहर होय ॥ १८७४ ॥

गृहस्थों में मूलाचार के समान पूज्य माने जाने वाले क्रिया कोष में लिखा है कि छटवी प्रतिमा में रात्रि के समय गमनागमन नहीं करे —

गमनागमन सकल आरंभ तजै रैन में नाहि अचंभ ॥ १८८२ ॥ •
उसमें यह भी लिखा है —

छट्टी प्रतिमा धारक सोई, दिवस नारि को परसत होई ॥ १०४८ ॥

रात्रि बिपे अनशन व्रत धरे, चउ अहार को है परिहरै ।

गमनागमन तजै निसि मांहि, मन वच तन दिनशील घराहि ॥ १०४९ ॥

इस प्रकार आज से लगभग तीन चार सौ वर्ष पूर्व का वातावरण तथा लोक धारणा को ध्यान में रखने पर मुनि जीवन की तो कथा ही निराली, प्रतिमापारी श्रावक का पद कोई धारण कर सकेगा, यह अशक्य सोचा जाता था । यदि किसी ने सप्तम श्रावक के व्रत धारण कर लिए, तो उस धर्मभूति का दर्शन ऐसा ही धार्मिक लोगों को हर्ष प्रदान करता था, जैसा कि पूर्व काल में चारणादि ऋद्धिधारी मुनियों का दर्शन

ऐसे समय के प्रति प्रोत्साहन शून्य तथा कृत्रिम जटिलताओं के बकटों से पूर्ण वातावरण में महाव्रती बनने की बात को सभी लोग अभसव सदृश सोचते थे। ऐसी स्थिति में गुरु भक्त गृहस्थ या तो विदेह भूमि में विराजमान साधु समुदाय को परोक्ष प्रणामाजलि अर्पित करता था या अपनी मनोभूमि में प्राचीन काल में हुये साधुओं को विराजमान करके बड़े भाव से पूजता था। इस समय समय के प्रति भक्ति थी, ममता थी, किन्तु मन में भय का भाव भरा था, इससे समय के पथ पर चलने की कल्पना भी कोई नहीं करता था।

विषय इस काल के पश्चात् नवीन वैज्ञानिक युग का आविर्भाव
लपटतापूर्ण हुआ। इसने अपने समोहन अस्त्रों, जलकल, वायुयान,
वातावरण रेल, मोटरों आदि के द्वारा लोगों को बहुत आश्चर्यप्रद
 इंद्रिय पोषक सामग्री प्रदान की। लोग अधिक आमोद-
प्रमोद प्रिय बन गए। अतः आचार विचारों में अद्भुत शिथिलता का आविर्भाव
हो गया। अब संयम का अनुराग भी नहीं दिखता है। समयी को देखकर
असमयी समुदाय के मन में आदर का भाव नहीं जगता है। कारण उन
असमयी लोगों के आराध्य और वदनीय लोग वे हैं, जो भोग, विषय लपटता
में सर्वोपरि बन रहे हैं। इससे आदर्श सदाचार की बात चर्चा की वस्तु बन गई
है। लोग यही कहने लगे हैं, कि आचार में क्या धरा है, अपने विचार
ठीक रखो, यही सार की बात है। आज शिथिलाचार में अपरिमित वृद्धि
होने के कारण कौन सोच सकता है कि ऐसी भी कोई युगान्तर उत्पन्न
करने वाली आत्मा होगी जो इस पंचम काल में, चतुर्थ कालीन महामुनि की
तपस्या की स्मृति को साक्षात् रूप में दर्शन कराती।

अविचलित शांति पुद्गल के विकास का चैम्बव बताने वाले विज्ञान के
के सागर परिपह चमत्कार पूर्ण दश युग में लगभग ३० वर्ष पूर्व एक
विजेता की कीर्ति समाचार प्रकाश में आया था कि अपने आध्यात्मिक
फैलना पवित्र जीवन से भव्यात्माओं के अतः कारण में अपरिमित
 आनन्द की वर्षा करने वाली एक विलक्षण आत्मा दक्षिण
प्रान्त में दिगंबर जैन मुनिराज के रूप में विराजमान है। उनकी तपस्या
सब को चकित करती है। वे मुनिराज किसी जगल की गुफा में आत्मध्यान
कर रहे थे कि एक नागराज ने उन पर उपसर्ग किया वह उनके शरीर में
ऐसे लिट गया मानो वह सचमुच में सतापहारी, शान्तिदायी, सुवास सपन्न

चन्दन का वृक्ष ही हो। वे मुनिराज सद्गुणों से अलंकृत थे। शांति के सागर थे। इससे उनकी आत्मा सर्पराज के लिपटने पर चन्दन के समान अचल रही आयी। दो तीन घटे के बाद वह विपथर चला गया।

यह दृश्य काल्पनिक अथवा पौराणिक नहीं है। इसे अनेक गृहस्थों ने अपने चर्म चक्षुओं से देखा था। मृत्यु के अत्यन्त विश्वस्त प्रतिनिधि सर्पराज की अग्नि परीक्षा में पूर्णतया उत्तीर्ण होने वाले अविचलित धर्मधारी उन शांति के सागर महामुनि की कीर्ति और महिमा साधर्मि समुदाय ने अवर्णनीय आनन्द, प्रेम, भक्ति तथा ममता पूर्वक सुनी। लोग चकित हो उठे। प्रत्येक सहृदय इस भीषण पचमकाल में चतुर्थ कालीन दृश्य को नयन गोचर बनाने वाले उन तपोनिधि की मनोमन्दिर में पूजा करने लगा।

जब उन निर्ग्रन्थ गुरुदेव का वीतरागतापूर्ण दिगंबर मुद्रा मय चित्र प्रकाश में आया, तब सभी मानव अपने धर्म या संप्रदाय का मोह भुला उन भ्रमणराज को बड़ी नम्रता से प्रणाम करते थे। उनकी मुद्रा में अपार शांति थी। उनके रोम रोम में वीतरागता का रस छलकता सा लगता था। वे सर्वपरिग्रह मुक्त, पूर्णतया स्वावलम्बी वन परिग्रह के पीछे पागल बगने वाले जनसमुदाय को अमर जीवन और सच्चे कल्याण का पथ बताते थे, कि वैभव के विलास में फँसने वाली आत्मा अपने विनाश की सामग्री एकत्रित करती है। जिसे अविनाशी आनन्द चाहिये, उसे अपरिग्रहवाद के प्रकाश में अपने अन्तःकरण को धोना चाहिये। उनका जीवन बहिर्लोकमय था। एक बार हमारे यहाँ उनके उक्त चित्र का दर्शन अनेक हिन्दू मुसलिम पारसी आदि शिक्षकों ने किया, तो उनकी आत्मा आश्चर्य युक्त हो आनन्दविमोह हो गई। एक सहृदय मुसलिम जागीरदार कह उठे, 'धन्य है ऐसी आत्मा को।' उनके दिगम्बरत्व पर उनमें एक पक्ष सुनाया कि दिगम्बरत्व से बढ़कर और दूसरा कोई भी वप नहीं है। यह वह पोशाक है, जिसमें सीधा या उल्टा का भेदभाव नहीं है। एक दूसरे तत्व प्रेमी भाई बोल उठे कि श्रेष्ठ और उच्च जीवन तो इन महात्मा का है, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीता है। जिनने व्याघ्र, सर्प आदि भोषण जन्तुओं को मारा है, उनमें कोई बड़ा काम नहीं किया। सबसे बड़ा दौरान इन्द्रियों की लाजसा है। जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, यथार्थ में वही व्यक्ति महान है। उससे

१ तन की उरयानी से बेहतर है नहीं कोई लिबास।

यह वह जामा है कि जिसका नहीं उल्टा सीधा ॥

बड़ा और कौन हो सकता है ? पारे को मारकर सिद्ध रसायन बनाने वाले ने क्या बड़ा काम किया। यथार्थ में अपने अहंकार को जिसने मारा श्रेष्ठ वही आत्मा है । १

अपिराज का दशन कुछ वर्षों के पश्चात् उन अपिराज का साक्षात् दर्शन मिला, तब ज्ञात हुआ, कि उनके असाधारण व्यक्तित्व पूर्णतया उनके निवृत्त संपर्क में आने से ही समझा जा सकता है । उनकी समस्त क्रियाओं को देखकर प्रत्येक विवेकी विद्वान यह अनुभव करता है, कि वे इस पंचमकाल में चतुर्थ कालीन मुनियों के समान निर्दोष आचरण करते हैं । वे ही आज चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य श्री सान्तिसागर महाराज के नाम से श्रमण राघ के शिरोमणि के रूप में विख्यात हैं ।

उनके जीवन के विषय में किसकी जिज्ञासा न होगी ? अतएव यह आवश्यक है, कि उस सम्बन्धी में विवेचन किया जाय । उनके जीवन पर प्रकाश डालने का साहस हमसे नहीं हो सकता है, कारण उनका उज्ज्वल जीवन स्वयं सबको प्रकाश प्रदान करता है । वे प्रकाशक हैं, दूसरों के द्वारा प्रकाश्य नहीं । उनके असाधारण जीवन की प्रायः सभी बातें महत्वास्पद होंगी, किन्तु उनके चरित्र की प्रमाणिक पूर्ण सामग्री को प्राप्त करना असंभव सदृश हो गया । आचार्य जी की अवस्था अपाढ़े कृष्ण पण्ठी को अस्सी वर्ष की हो गई । उनके वाल्य जीवन तथा युवाकाल की कथा वाले साथी अब कैसे मिल सकते हैं । वे स्वयं महानतत्त्वज्ञ मुनि शिरोमणि हैं अतः उनसे सामग्री प्राप्त की आशा निराशा रूप में परिणत हो गई । कारण सन् १९५१ अक्टूबर में वारामती के उद्यान में हमने उनसे अपने अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर के साथ बड़ी विनय से कुछ जीवन गायन जानने की प्रार्थना की, तो उत्तर मिला, "हम सप्ताह के साधुओं में सबसे छोटे हैं, हमारा 'लास्ट नंबर' है, उससे तुम क्या लाभ ले सकोगे ? हमारे जीवन में कुछ भी महत्त्व की बात नहीं है ।" हमने कहा "महाराज आपका साधुओं में प्रथम स्थान है या अंतिम, यह

१ बिहगो अजदहाओ सोरे नर मारा तो क्या मारा,
बड़े मूजी की मारा नक्स अम्मारो को जो मारा ।
न मारा आपको जो छाब हो अवसीर बन जाता,
अगर पारे को अय अवसीरगर मारा तो क्या मारा ॥

घात देखने वाले ही जान सकते हैं। ससार तो जानता है कि आपका फस्ट नम्बर है।”

महाराज बोले—लोग हमें क्या जानें, हम अपने को जानते हैं, कि तीन कम नव कोटि मुनियों में हमारा अंतिम नंबर है।

मैंने कहा—अच्छा! आपकी दृष्टि में वे साधुगण हैं। उनमें से आप हैं, तब तो आपके जीवन की बातें हमारे सबके लिये बड़ी कल्याणप्रद तथा बोध जनक होगी।

महाराज बोले—बड़े बड़े कद्विधारी मुनियों, महापुरुषों के जीवन चरित्र का पता नहीं है तब हमारे चरित्र से क्या होगा। तुम हमें सबसे छोटा समझो इतना हमने कह दिया, अधिक नहीं कहना है।

कुछ क्षण पश्चात् वे बोल उठे—तुम्हारे लिये हमारा आदेश है कि तुम हमारा जीवन-चरित्र मत लिखो।

मैं बोला—महाराज! यह तो आपकी बड़ी कड़ी आज्ञा है। मैं अपने गुरु के गौरव से जगत को परिचित कराकर गुरु की सेवा तथा लोफ हित करना चाहता हूँ। उस विषय में आप क्या प्रतिबध उपस्थित करते हैं? आपकी अस्सी वर्ष की अवस्था पूर्ण होने को है। धार्मिक समाज उत्सव मनाकर धर्म प्रभावना करना चाहती है। उसकी इच्छानुसार एक अभिनदन ग्रंथ भी प्रकाशित करने की आयोजना होने को है और वह भार मेरे ऊपर रखा गया है।

महाराज बोले—हमें अभिनदन ग्रंथ वगैरह कुछ नहीं चाहिये उत्सव भी नहीं चाहिये। अब हमारी जीवन घड़ी में बारह घंटा पूर्ण होने में थोड़ा समय शेष है। सूरज डूबने को थोड़ा समय बाकी है। अब हमें चुपचाप आत्मा का ध्यान करना है। हमें और कोई चीज नहीं चाहिये।

मैंने कहा—महाराज आप अपने समय पूर्ण होने की बात कहते हैं, तो क्या आपको इस विषय में भ्रान्त सा हो गया है।

महाराज बोले—अब हम अस्सी वर्ष के हो गए हैं, अब और कितने दिन जीवित रहेगे। इससे हमें अपनी कीर्ति आदि की क्षण्ट नही चाहिए। सम्मान नही चाहिए। तुम हमारी स्तुति प्रशंसा में ग्रंथ मत लिखना।

मैं बोला—महाराज यदि प्रथमलिख लिया तो इस दोष का प्रायश्चित्त आपके चरणों में आकर लेखूंगा। आपके जीवन का परिषय पाकर जो जगत को सुख और शांति तथा प्रवास मिलेगा, वह आपके दृष्टि पथ में नहीं है। आपकी महत्ता दूसरे अनुभव करते हैं।

महाराज बोले—हम यह चुके हमें कोई कीर्ति, मान, यश नहीं चाहिए।

मेरे पास उन महान आत्मा के आगे और प्रार्थना करने के शब्द शेष नहीं थे। मैं असमजस में पड़ गया। सुशीलकुमार ने भी अनुशा के लिए अभ्यर्थनाएँ की, किन्तु उन निस्पृह वीतराग मूर्ति का यह राग की बात न जची।

हमारा बर्बद को प्रस्थान करना आवश्यक था, अतः हमने चुपचाप गुरु चरणा को प्रणाम किया और उनका अनंत आशीर्वाद प्राप्त कर वहाँ से चल दिये। मार्ग में विचार में निमग्न रहे आए। अब क्या किया जाय ? एक यात्री बन्धु के पास एक धार्मिक पुस्तक थी, उसे देखने को ले लिया, उसमें लिखा था बड़ों की आज्ञा भी कभी कभी मानने में कल्याण होता है। मैंने ध्यान से उस अक्षरों को पढ़ा। लिखा था, तुम पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य कर रहे हो, वे तुम्हारे कष्ट का विचार कर कहे, अब वैयावृत्य न करो। उस स्थिति में यदि तुम सेवा करके उनके कष्ट को दूर करते हो तो तुम शब्दशः उनसे आदेश का पालन नहीं करते हो, किन्तु वास्तव में तुम उनकी सेवा ही कर रहे हो, उसका श्रेय तुमको मिलेगा ही। तुम्हें अलाम नहीं होगा।

इसे वाचते ही मन में विचार आया, कि लोकोत्तर श्रेष्ठ आत्मा की आज्ञा का उल्लंघन भी न हो, और कार्य भी बन जाय ऐसा कोई मध्यवर्ती मार्ग मिल जाय, तो बड़ा सुन्दर होगा। आचार्य श्री यथार्थ में असाधारण आध्यात्मिक विभूति हैं। उनका यश अपयश की सकीर्णता से ऊँचा उठ जाना उनके आत्म विकास और विशुद्ध दृष्टि के द्योतक है। बड़ा से बड़ा भी व्यक्तित्व इस यश लिप्ता से नहीं बच सका है। इसी से प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कीर्ति की कामना को सत्पुरुष की अंतिम दुर्बलता (Last infirmity of noble mind) कहा है। महापुरुष तक इस रोग से नहीं बचे हैं, किन्तु आचार्य महाराज में यह विकृति भी नहीं है, ऐसी पूज्यनीय आत्मा के विषय में जानने वाले व्यक्ति का मौन रखना जनहित की दृष्टि से अक्षम्य अपराध ही माना जायगा।

आचार्य श्री की पवित्र जीवनी हमारे लिए श्रद्धा की वस्तु है, क्योंकि उनके पद पर चलने की समता साधारण पुण्य की बात नहीं है। संपूर्ण परिग्रह का त्यागकर अंतः बाह्य निरन्तर वृत्ति का पाना असामान्य सीमा की बात है। आत्मानुशासन में लिखा है—

यदेतत्स्वच्छन्द विहरणमकार्पण्यमशनम्
सहार्थैः सवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।
मनो मन्दस्थन्द वहिरपि चिरायाति विमृशन् ।
न जाने कस्येय परणति हृदारस्य तपसः ॥ ६७ ॥^१

हम नही जानते कि यह किस महान तप का विपाक है, जो मुनिजन 'स्वतन्त्रता के साथ विहार करते हैं, आत्म गौरव पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं, गुणी व्यक्तियों के सहवास में रहते हैं, शान्त भाव ही हैं, परिश्रम का फल जिनके ऐसे, ज्ञान के धारक हैं, तथा जिनका प्रशान्त-चित्त अन्तर्दृष्टि में निमग्न रहकर बहुत समय पश्चात् वहिर्मुखता धारण करता है ।

वहा यह भी कहा है —

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणापरा ।
मतिरपि सदैकान्तव्वन्ति प्रपञ्च विभेदिनी ।
अनशन तपश्चर्या चान्ते यथोक्त विद्यान्तरी ।
भवति महता नाल्पस्येद फल तपसो विधेः ॥ ६८ ॥^२

महापुरुषों का विषय—त्याग अतुलनीय होता है । शास्त्र सम्बन्धी चिन्ता उनके पास रहती है । सम्पूर्ण जीवों पर करुणा करने में तत्पर रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वदा एकान्त दृष्टि के अधिकार के प्रसार को दूर करती है तथा अन्त

१ I do not know of what noble austerities is this the result that—(an ascetic) moves about at will (gets) food without humility, (has) company of the saints (hās) knowledge with calmness as fruit of hard study and (his) tranquil mind (being deeply absorbed in) contemplating (upon the self) comes out after long intervals to external (objects.)

२ The high minded (saints) have unique Renunciation (of worldly attachments), contemplation of the scriptures, unlimited compassion (towards the living world) also an intellect capable of ever dispelling the illusion of sticking to one-sided view of a thing and lastly the austerity of fasting according to rules laid down (in the sacred books). This is the result of practising high and not small austerities.

में वे आगम के अनुसार अनशन तप करते हैं । ऐसी वृत्ति अल्प तपश्चर्या का फल नहीं है ।

ऐसे पवित्र आत्म-पथ पर अवस्थित आचार्य श्री की अनुपम तथा असाधारण अवस्था की जब तक जीव को उपलब्धि न हो, तब तक उनके आलोकमय जीवन के प्रति श्रद्धाजलि व्यक्त करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य हो जाता है । उन्निनीषु आत्मा का उत्थान इसी उपाय से होता है । यह सीचकर हमने अभिनन्दन ग्रन्थ का विचार छोड़कर श्रद्धाजलि स्वरूप इस ग्रन्थ निर्माण का निश्चय किया । यह कार्य मुनीन्द्र कुदकुन्द स्वामी की धार्मिक देशना के पूर्णतया अनुरूप है, कारण जब तक प्रत्याख्यानावरणादि कथाओं का उदय दूर नहीं होता है, तब तक सबल समय के सत्पथ पर चरने का सौभाग्य किसे प्राप्त हो सकता है ? अतः गुरु-चरणों के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करना आगम सम्मत तथा शिष्टाचार पद्धति के पूर्णतया अनुरूप है यह विचार कर इस कार्य की पूर्ति निमित्त सलग्न हो गये । ।

उपरोक्त आचार्य की अत्यन्त वीतराग परणति के कारण अब कुछ सामग्री पाना, जो उनके बाल्यजीवन, तारुण्य जीवन की विशिष्ट घटनाओं को बतावेगी, असम्भव प्रायः हो गया । उनकी रुचि एकदम आत्मविचार आत्मध्यान की ओर हो गई है । उनसे वात्सल्य भास में यही भावना व्यवत की थी और कहा था, तुम्हें जब चाहे, जितने दिन हमारे पास रहना हो रहो और आत्मा, ध्यान, तत्त्वचिंतन आदि के बारे में चर्चा करनी हो, प्रश्न भरना हो, हृदय खोल कर बरो । इस स्थिति में पूज्य श्री के साथ, जीवन के पूर्व की अपूर्व घटनाओं का चित्रण करना हमारे हाथ की बात नहीं है । फिर भी भिन्न २ साधनों से जो कुछ भी उनके महामहिम जीवन को जानने की सामग्री उपलब्ध हुई, उसके आधार पर उद्देश्य सिद्धि के क्षेत्र में उद्योग किया जायगा । पादोपनिषद् सूत्र ने लिखा है, कि थोड़ा भी अमृत रस का पान आनन्द कारण होता है 'पीयूषमहि नि शय पिवन्नवमुत्सायते ।' अतः जो भी सामग्री प्रस्तुत की जायगी वह यथार्थ अमृत होगी, जो मुमुक्षु के अमृत पथ प्रस्थान के लिये स्वादु, स्वास्थ्यप्रद पाथेय का कार्य करेगी ।

प्रभात

जन्मभूमि जननी
जनक आदि
का वर्णन

जन सस्कृति के विकास तथा उत्पत्ति के इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि कैवलय-सूर्य की रश्मियों से विश्व का मोहान्धकार दूर करने वाले तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा उत्तर भारत की भूमि को पवित्र किया तथा निर्वाण द्वारा भी उसे तीर्थस्थल बनाया, किन्तु उनकी धर्ममयी देशाना रूप जन्म को पीकर महत्वपूर्ण वीतरागता रस भरे शास्त्रों का निर्माण करने वाले घुरघर छाचार्यों ने अपने जन्म से दक्षिण भारत की भूमि को श्रुति-तीर्थ बनाया। उसी ज्ञानधारा से पुनीत दक्षिण भारत के बेलगाव जिले की नररत्न आचार्य शान्तिसागर महाराज की जन्म भूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भोजग्राम के समीप लगभग चार सौ मील की दूरी पर विद्यमान ग्राम बेलगूल में अष्टाद वृष्णा ६ वित्रम सबत् १९२९ में बुधवार की रात्रि को इनका जन्म हुआ था। वह ग्राम भोज के अतर्गत तथा सानिध्य में था, इससे भोज भूमि ही जन्म स्थान है, ऐसी सर्वत्र प्रसिद्धि हुई। उस ग्राम में महाराज के मामा का निवास था। वे वहा के ग्रामपति पाटील थे। उनके जन्म द्वारा मातुल गृह पवित्र हुआ था, यह बात हमें ता १३ सितम्बर सन १९५२ को ज्ञात हुई थी, जब हम पूज्य श्री के जीवन वार्ता जानने के हेतु भोज भूमि तथा कर्नाटक प्रांत के अनेक ग्राम आदि में गए थे।

इतना जन्म क्षत्रिय वंश में हुआ था। पिता श्री भीम क्षत्रिय वंश में गोडा पाटिल थे। जननी कहलाने का पुण्य माता सत्यवती को प्राप्त हुआ था। इनकी जाति चतुर्थ जैन थी जिसमें अनेक दीक्षाधारी महापुरुषों का जन्म हुआ था। कोल्हापुर में भगवज्जिनसेन महापुराणकार का मठ जो आज भी विद्यमान है उसके भट्टारक श्री जिनसेन स्वामी चतुर्थ जाति के सत्पुरुष हैं।

कुलीन पूर्वज
परंपरा

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व पीठाधिकारी एक विद्याधर नाम के दिगंबर प्रभावशाली तथा प्रतिभा संपन्न निरग्रंथ मुनि हुये हैं, उनका समाधि स्थान बेलगाव जिले के अतर्गत चिकोडी तालुका का अर्कावाट ग्राम है। उस स्थान पर आज भी

अभावस्या को वन्दनार्थ श्रावक लोग जाया करते हैं। उनवे पश्चात् श्री नेमगौडा, सातगौडा, प्रभावशाली मुनि हुये हैं।

जिस चतुर्थ जाति में महाराज का जन्म हुआ, उसमें बड़े २ प्रभाव-शाली रत्नत्रयधारी तथा वीतराग शासन के प्रभावक नररत्न हुये हैं। इनका ९ पीढ़ियों का वंश वृक्ष बताता है कि सभी लोग भूमिपति पाटील थे उनके द्वारा धर्म तथा जनता को गौरवान्वित करने वाले महान कार्य संपन्न हुये हैं। इनके जनक तथा जननी का विशुद्ध वंश होने के कारण इनको सप्त परम स्थानों में से प्रथमस्थान 'सज्जातित्व' समलकृत कहा जायगा। ये सज्जा-तित्व, सद्गृहित्व, परिव्राजक पद, सुरेन्द्र पद, साम्राज्य पद, अहंस्तपद तथा निर्वाण पद इन सप्त परम स्थानों-श्रेष्ठपदों में से पदत्रय विभूषित महापुरुष हैं।^१ महापुराण में बताया है कि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर मुनि दीक्षा धारण के योग्य पवित्र वंश में विशुद्ध जन्म धारण करना सज्जाति है। पिता के वंश की शुद्धता को कुल कहते हैं तथा माता के वंश की निर्मलता को जाति कहते हैं। माता तथा पिता के वंशों की शुद्धता को सज्जाति कहते हैं। इसके होने पर अयत्न प्राप्त गुणों के धारण रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ होती है।^२

इनके आदिगौडा और देवगौडा नाम के दो ज्येष्ठ बंधु थे। कुमगौडा नाम के अनुज थे। बहिन का नाम वृष्णाबाई था। इनके शात भावी ब्रह्मे अनुरूप इन्हें सातगौडा कहते थे। गौडा, शब्द भूमिपति—पाटील का व्योतक है। ये तृतीय पुत्र थे, इसीसे मानो प्रकृति ने इन्हें रत्नत्रय और तृतीय रत्न सम्यक्चारित्र का अनुपम आराधक बनाया।

इनकी वंश परम्परा का उस प्रात में बड़ा प्रभाव रहा है। यथायं में इनके पूर्वज राजा सदृश थे। पहले इनके पूर्वज श्री पद्मगौडा देसाई

१ सज्जाति. सद्गृहित्व च पारिव्राज्य सुरेन्द्रता ।

साम्राज्य परमार्हन्त्य परनिर्वाणमित्यापि ॥ ६७. पर्व ३८ ॥

२ नृजन्म परिप्राप्ती दीक्षायोग्ये सदन्यये ।

विशुद्ध लभते जन्म संपा सज्जाति रिप्यते ॥ ८३ पर्व ३८ ॥

पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते ।

मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिधीयते ॥ ८५ पर्व ३९ ॥

विशुद्धियमयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता ।

यत्प्राप्ती सुलभा बोधिरयत्नोपनर्तगुणैः ॥ ८६. पर्व ३९ ॥ 'महापुराण'

बीजापुर जिले में शालचिद्री स्थल के अधिपति थे। ब्रिटिश शासनकाल में भी अन्य नरेशों के समान इनके पूर्वजों की बात का बड़ा सम्मान किया जाता था।

कुछ समय से चतुर्थ जाति में पुनर्लंगन की कुप्रथा प्रचलित हो गयी है, इसलिए भ्रमवश कोई-यह सोचते हैं कि आचार्य श्री के वश में भी वह दोष रहा होगा। इसका आश्रय ले वे जघन्य प्रवृत्तियों के प्रचारक पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना चाहते थे। किन्तु जब यह सत्य प्रकाश में आया कि आचार्य श्री के मातृपक्ष और पितृपक्ष परंपरा में कहीं भी पुनर्लंगन की कालिमा नहीं है तब भ्रान्त लोगों को चुप होना पड़ा। एक बार महाराज के समक्ष इस सम्बन्ध में प्रश्न आया था तब उनसे कहा था "कि हमारे घराने में पहले कभी भी पुनर्विवाह नहीं हुआ है। यदि कोई यह सिद्ध करदे तो हम इस पद का छोड़कर छोटे पद को ग्रहण कर लेंगे। यह मुनि दीक्षा हमने आत्म कल्याण के हेतु ली है अहंकार पूर्ति के लिये नहीं। दिगंबर जैन शास्त्रों में कहा है कि विशुद्ध वश वाला श्रैर्वर्णिक ही निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर सकता है।"

भोज भूमि में दो सुन्दर नदियाँ दूध गंगा और वेदगंगा मिलकर उसे अपना सगम स्थल बनाये हुई हैं। जब हम उन नदियों के सगम पर पहुँचे तब वहाँ के प्रशान्त और रम्य वातावरण में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ये दोनों नदियाँ एक विशय प्रकार की प्रतीक हैं। वेदगंगा ज्ञान की और दूधगंगा पवित्र प्रेम, रस भरे उज्ज्वल चरित्र की सूचिका है। हमें प्रतीत होना है कि शातिसागर महाराज का जीवन भी सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चरित्र के सगमरूप प्रयागराज के समान आध्यात्मिक तीर्थ रूप बन गया है, जिसके द्वारा विश्व के सभी प्राणधारियों को आध्यात्मिक, अत्यंत मधुर और रसमय भोजन प्राप्त होता है। आध्यात्मिक भोजन दान करने वाले श्री भीम के आत्मज श्री निवास भूमि का भोज नाम बड़ा अर्थपूर्ण लगता है। यही बात हमने आचार्य श्री के पूर्वजों द्वारा बनाये गये जिन मंदिर की पार्श्व भूमि में एकत्रित समाज के समक्ष अपने मापण में नहीं थी। हमने तो यह भी कहा था कि विश्व के अनुपम आध्यात्मिक सतराज शातिसागर महाराज की निवास भूमि उनसे गुणानुरागी लोगों के लिये तीर्थ स्वरूप लगती है।

यहां कुछ वृद्धा से इनके आत्म जीवन आदि के विषय में परिचय प्राप्त किया तो ज्ञात हुआ कि ये पुण्यात्मा महापुण्य प्रारम्भ से ही अताधारण गुणों

के भंडार थे । इनका परिवार बड़ा सुखी समृद्ध, वैभवपूर्ण तथा जिनेन्द्र का अप्रतिम भक्त था । इनकी स्मरण शक्ति जन साधारण में प्रख्यात थी । इनने माता सत्यवती से सत्य के प्रति अनन्य निष्ठा और सत्य धर्म के प्रति प्राणाधिक श्रद्धा का भाव प्राप्त किया था, ऐसा प्रतीत होता है । अपने प्रभावशाली पराक्रमी, अत्यंत उदार तथा प्रामाणिक जीवन वाले पूज्य पिता श्री भीमगौडा से इनने वह दृढ़ता और गभीरता प्राप्त की थी जो इन्हें विपत्ति और संकट के समय भीम समान साहस संपन्न रखती आयी है । लोगो ने बताया कि इनमें वचनो जैसी विवेक विहीन जघन्य प्रवृत्तियाँ नहीं पायी जाती थी । बचपन से ही इनके चिन्ह इस प्रकार के थे कि ये लोकोत्तर महापुरुष, जिनमें इसलिये ये अलीकिक बालक के रूप में प्रत्यक्ष सर नारी के मन को अपनी ओर आकर्षित करते थे । जो भी इन्हें देखता था वह इन्हें गभीरता, करुणा, पराक्रम और प्रतिभा का पुंज पाता था । इनका शरीर अत्यंत निरोग और सुदृढ़, शक्ति सम्पन्न था । इनकी ऐसी कोई चोट्टा नहीं थी जिसे बात कह कर क्षमा किया जाय । बाल्यकाल में ही इनके जीवन में बृद्धो सदृश गभीरता और विवेक पाया जाता था । उससे यह प्रतीत होता था कि य जन्मान्तर के महापुरुष इस भरतखंड के लोगो को धर्माभूत पात कराने के लिये ही बाल शरीर धारण कर मध्य भोज भूमि में आविर्भूत हुये हैं और संपूर्ण भव्या को कल्याण करने वाले वीरशासन के धर्मचक्रधारी सत्पुरुष हैं ।

लोगों से ज्ञात हुआ कि इनकी प्रवृत्ति असाधारण थी । ये विवेक के पुंज थे । बाल्य काल में बाल सूर्य सदृश प्रकाशक और सब के नेत्रो को प्यारे लगते थे । ये जिस कार्य में भी हाथ डालते थे उसमें प्रथम श्रेणी की सफलता प्राप्त करते थे । प्रथम श्रेणी में भी प्रथम स्थान इनका प्रत्येक पवित्र बलात्मक कार्य में रहा है । अध्ययन के अलातम साधन उपलब्ध होते हुये भी इनका असाधारण क्षयापशम और लोकोत्तर प्रतिभा बड़े २ विद्वानो और भिन्न भिन्न धर्मों के प्रमुख पुरुषोको शक्ति करती थी । यद्यपि ये विद्या के उपाधिधारी विद्वान नहीं थे फिर भी बड़े बड़े उपाधिधारी ज्ञानी लोग इनके चरणो के पास आकर आत्म प्रकाश प्राप्त करते थे । सदाचार समन्वित और प्रतिभा अलंकृत इनका जीवन यथार्थ में सौख्य सम्पन्न सरोज के समान था और उसके समान ही ये जलतुल्य वैभव से अपने अंतःकरण को पूर्णतया अलिप्त रखते थे ।

भोजग्राम के वृद्धों
से महाराज की
जीवन सामग्री

भोज के वृद्धजनों से तर्क वितर्क द्वारा जो सामग्री मिली
उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये प्रकृति के विश्व-
विद्यालय की सर्वश्रेष्ठ परीक्षा में उत्तीर्ण सत्पुरुष रहे
हैं। इसीलिये इनके जीवन में पूर्णतया प्राकृतिकता का

अधिष्ठान है और उसमें किसी प्रकार की विकृति की कालिमा नहीं दिखाई
पड़ती। सत्पुरुषों की जननी और जनक जिस प्रकार अपूर्व गुण संपन्न होते
हैं वही विशेषता पुण्यशीला माता सत्यवती और भव्य शिरोमणि श्री भीम
गोड़ा पाटील के जीवन में थी। उनका गृह सदा बड़े २ महात्माओं
सत्पुरुषों और उज्ज्वल त्यागियों की चरणरज से पवित्र हुआ करता था।
जब भी कोई निर्गन्ध दिगंबर मुनिराज या अन्य महात्मा भोज ग्राम में
आते तो अतिथि-संविभाग कार्य में अत्यन्त प्रवीण पुण्यशीला माता
सत्यवती के भवन को अवश्य पवित्र करते थे। वहाँ श्रद्धा, भक्ति, विवेक,
विनय आदि सब प्रकार के आन्तरिक साधन तथा वैभवशाली होने के
कारण बाह्य सामग्री संतो की सेवा के लिये सबंदा उपस्थित रहती थी।
बड़े बड़े मुनिराज तथा तपस्वी लोग भोजग्राम के भूपति तुल्य श्री भीमगोड़ा
पाटील के यहाँ पधारते थे, जहाँ बालक सातगोड़ा उनकी सेवा में तत्पर रह,
उनके जीवन में धर्म के विकसित तथा परिपक्व स्वरूप को देखा करता था, तथा
उनके जीवन से उज्ज्वल जीवन बनाने की श्रेष्ठ कला सीखा करता था। यही
बड़ी शिक्षा भाग्यशाली भव्य बालक को दिगंबर श्रमणों के निकट संपर्क से
मिलती रही जिसके कारण कुमारकाल में ही भोगों की दासता को छोड़
तपस्वी, मुनि बनने की प्रबल लालसा मन में उत्पन्न हो गयी थी। विदुषी
धर्मवती माता से तीर्थकरों का चरित्र, मोक्षगामी पुरुषों की बातें तथा रत्न-
त्रय को पुष्ट करने वाली शिक्षा प्राप्त हुआ करती थी। वातावरण भी अलौकिक
धार्मिक मनोवृत्ति को विकासप्रद सामग्री प्रदान करता था। परिवार का
उज्ज्वल वातावरण जीवन पर कसा प्रभाव डालता है, यह बात भोज भूमि
में हमारे स्वयं दृष्टिगोचर हुई।

महाराज के
परिवार में
उच्च संस्कार

इस वर्ष सन १९५२ के ११ सितंबर को अष्टमी
के दिन हमें उरा पवित्र घर में भोजन मिला जहाँ
आचार्य महाराज रहा करते थे। उस दिन हमारे लिये
लवण आदि पटरम विहीन भोजन बना था। मैं

भोजन करने बैठा। पास में महाराज के भाई का नाती भीमकुमार भोजन
कर रहा था।

बालक भीम की घाली में बिना नमक का भाजन आया, इसलिये उसने अपनी माता से कहा "माता मुझे नमक चाहिये।"

पास में बैठी हुई लगभग १० वर्ष की वय वाली बालिका बहन सुशीला बाल उठी "भैया, जब तुम स्वामी (मुनि) बनाग तब तो बिना नमक का आहार लेना होगा। उस समय नमक कैसे मागोगे?"

उस समय इन भाई और बहन की स्वाभाविक बातचीत मुन्वर मेरी समझ में आया कि परिवार की पवित्रता का पुत्रादि के जीवन पर कंसा प्रभाव पडा बरता है। उस घर न आचार्य शान्तिसागर महाराज सद्गुरु महापुरुष को जन्म दिया, उसी में श्री देवगोडा नाम के, महाराज के ज्येष्ठ बन्धु न निवास किया जो आज दिगंबर मुनि श्री वधमान सागर के रूप में ९२ वर्ष की अवस्था में निर्दोष रीति से रत्नत्रय धर्म का पालन कर रहे हैं। जब हमन कोल्हापुर के समीप जाकर बिनी ग्राम में उनके दर्शन ८ सितंबर को किये तब अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। उनकी शांति, तपस्या, मार्मिकता, ध्यान निमग्नता तथा चीतरागता वदक के अत करण को अत्यन्त आनन्दित करती है। वे आचार्य महाराज से १० वर्ष ज्येष्ठ हैं। जिस घर में ऐसे दो पवित्र जीवन वाले सचमुच में महान आत्माओं का निवास रहा उसका जीवित प्रभाव उपरोक्त भाई-बहनो की बातचीत के रूप में स्पष्ट हुआ। हमें स्मरण आया कि मीमांसा शास्त्र का महान विद्वानमडन मिश्र कहा रहता है, 'ऐसा प्रश्न उप स्थिति हुआ तब किसी व्यक्ति ने जिज्ञासु से कहा था कि 'जिस स्थल में रहने वाले तोता आदि पक्षीगण न्यायशास्त्र की पक्तियों का इस प्रकार उच्चारण कर रहे हैं—'स्वतः प्रमाण, परतः प्रमाण,' वही मीमांसा शास्त्र के मडनमिश्र का निवास है, यह जानना चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी के चित्त में इस बात को जानने की इच्छा हो कि भोज भूमि में किस जगह आचार्य शान्तिसागर महाराज ने रहकर अपना पुण्य जीवन व्यतीत किया था तो हम उसे यही कहेंगे कि उनकी घर उसी भूमि को जानना चाहिये जहां भाई-बहन के बीच में मुनि जीवन की पूर्ववत् चर्चा चला करती है। सचमुच में जो शिक्षा बड़े बड़े विश्व-विद्यालयों के द्वारा नहीं प्राप्त हो पाती, वह उज्ज्वल परिवार के लोगों

से प्राप्त होती है। बाल्यजीवन में माता-पिता के संस्कार शिशु के अतःकरण पर बीज रूप में अंकित हो जाते हैं, जो आगामी जीवन में सहस्र गुणित वृद्धि को प्राप्त हो बालक को लोकान्तर महापुरुष बनाते हैं।

गान्धी जी के जीवन पर गुजरात में विद्यमान अहिंसात्मक जीवन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। गान्धीजी ने अपनी आत्म कथा में बताया है कि उनके जीवन पर उनके माता पिता का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है “मेरे पिता जी सत्यप्रिय और उदार थे। धन संचय करने का लोभ पिता जी को कभी नहीं हुआ था। माता जी बड़ी साध्वी स्त्री थी। इस बात की याद मेरे हृदय में गहरी छाप की तरह अंकित है। जब से मैंने होश सम्हाला, तब से कभी भी उन्होंने चातुर्मास व्रत भंग किया हो ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। वे बड़े से बड़े व्रत को ग्रहण कर लेती थी और उसे अतः तक निचाह ले जाती थी। जो व्रत वे एक बार ले लेती, उसके लिये यदि वे बीमार पड़ जाती तो भी उसे छोड़ती नहीं थी” (पृष्ठ १३, ‘आत्मकथा’) गान्धी के धार्मिक विचारों पर उनकी माता तथा पिता का कितना अधिक प्रभाव पड़ा यह निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है “राजकोट में यह शिक्षा मिली कि सब संप्रदायों के प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिये। हिन्दू धर्म के सब सम्प्रदायों के प्रति सम्मान का भाव रखना मैंने सीखा था, क्योंकि माता जी और पिता जी विष्णु मन्दिर जाने, शिवालय में जाते और राम मन्दिर में भी जाते थे। हम लोगों को भी, कभी तो वे अपने साथ ले जाते और कभी वे हमें भेज दिया करते थे। इससे सिवाय पिताजी के पास बीच बीच में कोई जैन धर्माचार्य आया ही करते थे। पिताजी उन्हें सम्मान से रखते और भोजनोदि कराते थे। वे लोग ससारिक और धार्मिक विषयों की चर्चा किया करते थे। इनके सिवा पिताजी के कई पारसी और मुसलमान मित्र भी थे। जब वे लोग आपस में बातें करते तब सेवाशुश्रूषा में लगे रहने के कारण मैं भी वहाँ मौजूद रहा करता था। इस वातावरण में रहने का जो प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा उसका फल यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे हृदय में समान सम्मान का भाव जन गया। (५७-आत्मकथा)”

छत्रपति शिवाजी पर उनकी माता जीजाबाई का गहरा असर

पड़ा था । सब प्रवृत्तियाँ जब मोम की तरह मुलायम रहती हैं, उस समय जीवन पर माता पिता के अमिट सस्कार पड़ा करते हैं ।

भारतीय गणतन्त्र के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद अपनी 'आत्मकथा' में अपनी माता के प्रभाव के विषय में लिखते हैं, "माता और दादी मुझे बहुत प्यार करती । बचपन से ही मेरी यह आदत थी कि मैं संध्या को बहुत जल्द सो जाया करता था और उधर कुछ रात रहते ही बहुत सवेरे ही जाग जाता था । जागो में खास कर लम्बी रात होने के कारण रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय से माँ को भी नहीं सोने देता । रजाई के भीतर ही भीतर उनको जगाता । वह जाग कर परानी (प्रभाती) भजन सुनाया करती । उन भजनों और क्याओं का असर मेरे दिल पर बहुत पड़ता " (पृष्ठ ५) । सरदार वल्लभभाई पटेल ने राजेन्द्र बाबू के संबंध में पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है "श्री राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पड़ती है" । ये नैसर्गिक गुण माता की सत्प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप ही प्राप्त हुए ।

आचार्य श्री के जीवन पर उनके माता पिता की धार्मिकता का बड़ा प्रभाव था । सन् १९४८ के दशलक्षण पर्व में फलटन नगर में उनसे बताया था, "हमारी माता अत्यधिक धार्मिक थी, वह अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करती तथा साधुओं को आहार देती । हम भी बचपन से ही साधुओं को आहार देने में योग दिया करते थे, उनके कमण्डलु को हाथ में रखकर उनके साथ साथ जाया करते थे । छोटी अवस्था से ही हमारे मन में मुनि बनने की लालसा जाग गई थी ।" अपने पिता जी के विषय में उनसे बताया था कि वे प्रभावशाली, बलवान, रूपवान, प्रतिभाशाली, ऊँचे पूरे क्षत्रिय थे । वे शिवाजी महाराज सरीखे दिखते थे । उनसे १६ वर्ष पर्यन्त एक-द्वार ही भोजन पानी के नियम का निर्वाह किया था । उनसे १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत रखा था । उन जैसा धर्मराधनापूर्वक सावधानी सहित समाधिमरण मुनियों के लिये भी बठिन हैं । एक दिन पिता जी ने हमसे कहा, "उपाध्याय को बुलाओ, उसे दान देकर अब हम यम समाधि लेना चाहते हैं ।" हमने पूछा, "आप मर्यादित काल वाली नियम समाधि क्यों नहीं लेते ?" पिता जी ने उत्तर दिया, "अब हमें अधिक समय तक नहीं रहना है इसलिये हम यम समाधि लेते हैं ।" उस समय

हम लोगो ने उनकी धर्म की बात सुनाने का कार्य निरंतर किया, दिन के समान सारी रात भी धर्माश्रयता का क्रम चलता रहा । प्रभात काल में पिता जी के प्राण सूर्य उदय के पूर्व ही पंच परमेष्ठी का नाम स्मरण करते करते निकल गये । उस समय वे लगभग ६५ वर्ष के थे ।” अपनी माता के विषय में आचार्य श्री ने बताया था, “हमारी माता का समाधिभरण १२ घंटे में हो गया था” । ऐसे धार्मिक परिवार में ऐसे विश्व दीपक, अनुपम नररत्न का जन्म, सर्वर्षेण तथा पोषण हुआ था ।

यह कहावत सत्य है कि पूत के दग पालने में ही दिख जाते हैं । फूल बनने वाला व्यक्ति अपने बचपन में ही सर्प के समान कुटिल कर वृत्ति को दिखाया करता है । कहते हैं शाहजहा ने औरंगजेब को तत्वज्ञान की शिक्षा देने के लिये एक अच्छे विद्वान को नियुक्त किया था, किन्तु अत्याचारी शासक बनने वाले औरंगजेब को बाल्यकाल में तत्वज्ञान की बातें नीरस और सारशून्य लगती थीं । औरंगजेब ने अपने शिक्षक मौलवी को एक पत्र में लिखा था “आपने मेरे पिता शाहजहा से कहा था कि आप मुझे तत्वज्ञान की शिक्षा देंगे । यह सत्य है, मुझे यह अच्छी तरह स्मरण है कि आपने मुझे ख्याली बातें बरसो तक बताईं, जिनके द्वारा मन को जरा भी सतोष नहीं होता था, और उनकी मानव समाज को आवश्यकता भी नहीं है । कोरे विचार और सारशून्य कल्पनाएँ थीं वे । उनमें केवल इतनी बात थी कि वे कठिनता से समझ में आती थी और सरलता पूर्वक विस्मृत हो जाती थी । क्या आपने कभी यह सिखाना भी सोचा कि किस प्रकार किसी नगर का घेरा डाला जाता है या किस प्रकार किसी सेना को संग्रामार्थ सन्नद्ध किया जाता है । इन बातों के विषय में तो मुझे आपके स्वान में दूसरों का आभार मानना पड़ेगा ।” १

१ Aurangzeb in a letter to his tutor writes, “You told my father Shah Jehan that you would teach me philosophy... it's true, I remember only well that you have entertained me for many years with airy questions of things, that afford no satisfaction to the mind and are of no use in human society, empty notions and mere fancies that have only this in them that they are very hard to understand and very easy to forget.

Have you ever taken care to make me learn what it's to besiege a town or to set an army in array. For these things

बालयोगी का
जीवन

आचार्य श्री को चरित्र या चक्रवर्ती बनाना था, इसलिए इनके बाल्य जीवन में विकृतियों पर विजय की तैयारी दितानी थी। ये बालयोगी सरीखे दितते थे। भोज

ग्राम में जो शिक्षण उपलब्ध हो सकता था वह इनने प्राप्त किया था। इनकी मुख्य शिक्षा घांतराज महर्षियों द्वारा रचे गये, रत्नत्रय का वैभव दत्ताने वाले शास्त्रों के स्वाध्याय रूप में थी। अनुभवजन्य शिक्षा वा इनके जीवन में प्रमुख स्थान था। गांधी जी के पिता का भी यही शिक्षा मिली थी। उनसे लिखा है "पिता जी को कुछ शिक्षा मिली थी। वह अनुभवजन्य थी। इतिहास या भूगोल की शिक्षा तो उन्हें बिल्कुल ही नहीं मिली थी पर उनका व्यावहारिक ज्ञान इतना अधिक और उत्तम था कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों या प्रश्नों का समाधान करना अथवा हजारों आदमियों से काम निकाल लेना उनके लिये चापे हाथ का खेल था। इन कामों लिये उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं होती थी।" (आत्मकथा पृष्ठ १३)

अनुभव के आधार पर प्राप्त ज्ञान बड़ा सरा, सच्चा और मार्मिक होता है। अनेक प्रतापी नरेशों के विषय में कहा जाता है कि उनका ज्ञान और अनुभव सतसंगति के निमित्त से विकसित हुआ था। विश्व के विद्वानों द्वारा अपनी अपूर्व उक्ति और सूझ के लिये पूजित कविरा-कवीर-दास ने किसी को अपना गुरु बनने का कष्ट नहीं दिया था। इस प्रकार प्रायः महापुरुष अनुभव की शाला में शिक्षण लाभ करते हुये देखे जाते हैं। आचार्य श्री की धारणा-शक्ति अदभुत रही है। बाल्य जीवन की तो बात निराली, अभी ८० वर्ष की अवस्था में भी तरुण विद्वानों की चर्चित करने वाली उनको धारणा शक्ति है। ऐसे क्षयोपशम के कारण सतसंग और शास्त्र चिंतन से उन्हें अपार लाभ पहुँचा। आचार्य सोमदेव कहते हैं "नरेश अध्ययन के अभाव में भी विशिष्ट व्यक्तियों के संपर्क द्वारा उत्कृष्ट प्रवीणता को प्राप्त करते हैं।"

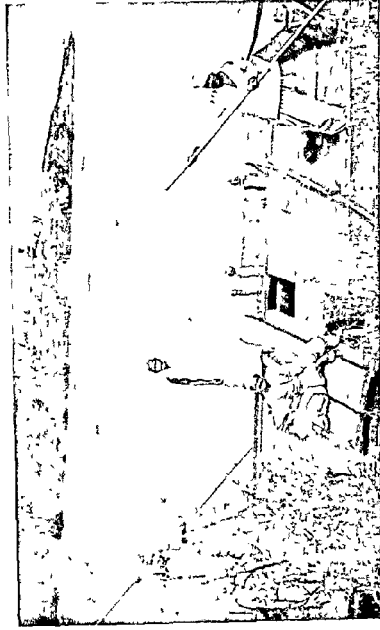
सर्व प्रियता अपने सद्गुणों के कारण चरित्र नायक सर्व प्रिय थे। जब वे नौ वर्ष के हुये, तब माता पिता ने ६ वर्ष की

I am obliged to others and not at all to you."

A treasury of the world's great letters Ed. by M. Lincoln SCHUSTER 1941 pp. 90-91

१ अनधियानोपि विशिष्ट जनसंपर्कत्परा व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥

'नोतिवाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देश ॥ ६३॥'



वेदगंगा, दुधगंगा सगम का एक भव्य दृश्य। नाव पर बैठे हुए लेखक है।

पर जरा भी नहीं दबता था। विदुद्ध ब्रह्मचर्य तथा वीर्यान्तराय कर्म का विशेष धर्षोपगम होने के कारण ही आज घोर तपश्चर्या और अनुष्ठान करने के पश्चात् भी अस्सी वर्ष की अवस्था में उनमें आसन का स्थैर्य है, गमनागमन की शक्ति है, जिसे देखाकर अच्छे अच्छे शक्तिशाली भी दानों तले झगुली दबाते हैं।

मैंने पूछा—“महाराज आपने वैराग्य के परिणाम क्या से धे ?

महाराज—“छोटी अवस्था से ही हमारे त्याग के भाव थे। १७ या १८ वर्ष की अवस्था में ही हमारे निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के परिणाम थे। जो पहले बड़े बड़े मुनि हुए हैं, वे सब छोटी ही अवस्था में निर्ग्रन्थ बने थे।”

मैंने पूछा—“फिर कौन सी बात थी, जो आप उस समय मुनि न बन सके ?”

महाराज—“हमारे पिता का हम पर बड़ा अनुराग था। पिता जी ने आप्रह किया कि ‘जब तक हमारा जीवन है, तब तक तुम घर में ही रहकर धर्म साधन करो। तुम्हारे घर से बाहर चले जाने से हमें बड़ा संक्लेश होगा। योग्य पुत्र का कार्य पिता को दलेश उत्पन्न करने का नहीं है। अतः पिता जी के आप्रहवस हमें घर में रहना पड़ा, फिर भी हम अत्यन्त उदास रहते थे। हमारी किसी भी लोकिव कार्य में रुचि नहीं थी।”

एक दिन महाराज से उनके धार्मिक परिवार के विषय में चर्चा चलाई। श्रीभाग्य की बात है कि उस समय उनके पूर्वजों के बारे में भी कुछ बातें विदित हुईं। महाराज ने बताया—

“हमारे आज्ञा का नाम गिरिगोडा था। हमारे यहाँ सात पीढ़ी से पाटील का अधिकार चला आता है। पाटील गाव का मालिक, रक्षक होता है। उसे एक माह पर्यन्त अपराधी को दण्ड देने का अधिकार रहता है।” महाराज ने यह भी बताया कि “हमारे पूर्वज सभी धार्मिक जमींदार थे। मुनितुल्य उनकी धर्म में निष्ठा रहती रही थी। चारंग्राम की पाटीली थी। पहले हमारे पूर्वज कर्णाटक में रहते थे। वहाँ से टीपू के कारण भोजप्राय में आये थे।”

बालिका के साथ इनका विवाह कर दिया। दैवयोग से उस लड़की का छह माह के बाद मरण भी हो गया। महाराज ने बताया था कि, "हमने उसे अपनी स्त्री के रूप में कभी नहीं जाना।" पहले माता पिता अपने मनोविनोद को प्रमुख बना घर में पुत्रवधू लाने की ममता, तथा मोह के कारण छोटी सी अवस्था में, जब कि तृप्तचमुच दूध के दाँत नहीं टूटने थे, विवाह कर दिया कर देते थे। गांधी जी का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में हो गया था। गांधी जी लिखते हैं, 'तेरह वर्ष' की उम्र में मेरी शादी हुई थी, यह कहते हुये मुझे खेद होता है। आज दिन मेरे समक्ष बारह तेरह वर्ष के जो लड़के मौजूद हैं उन्हें देखकर और अपने विवाह की बात सोचकर मुझे अपनी उस अवस्था पर दया आती है और उन्होंने जो इस उम्र में अपनी शादी नहीं की है, उसके लिए उन्हें बधाई देने को जी चाहता है।" (पृष्ठ १८-१९ आत्मकथा)

बाल ब्रह्मचारी जब चरित्रनायक अठारह वर्ष के हुए तब माता पिता ने इनके फिर विवाह की चर्चा चलाई। इनने अपनी अनिच्छा प्रकट की। इस पर पुनः आग्रह होने लगा, तब इनने कहा, "यदि आपने पुनः हमें इस गृहजाल में फँसने को दबाया, तो हम मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।" इस भय से पुनः विवाह के लिये आग्रह नहीं किया गया। इस प्रकार पूज्य श्री बाल्य जीवन से ही निर्दोष ब्रह्मचर्य-वृत्त का पालन करते चले आ रहे हैं, अतः शरीर बड़ा बलसंपन्न रहा है।

व्यायाम में चार छह आदमियों को जरा में गिरा देते थे। जिसका पंजा इनन पकड़ लिया, उसे छुड़ाना उसके लिये असंभव था। अच्छे हूट-गुट, बैलों की जोड़ी द्वारा जो पानी की मोट खेंची जाती है, उसे ये अकेले खेंच लेते थे। दूर तक कूदने में इनके समक्ष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। शरीर वजू की तरह कड़ा था। जब महाराज का संघ शिखर जी को गया था, तब वैद्यावृत्य करने वाले व्यक्ति कहते थे कि महाराज का पैर दबाने

१ Mohanchand Karamchand Gandhi married when he was a High School pupil aged 13. He had been engaged three times, of course without his knowledge. "I have faint recollection" he reports "that the third betrothal took place in my seventh year" but he was not informed. He was told six years later, a short time before the wedding.

Fischer, 'The Life of M. Gandhi' P. 29



भोजग्राम की वेदगंगा दूधगंगा का संगम जहाँ महाराज अपने कंध पर आदिशागर जी को रखकर नदी पार करते थे।

बालिका के साथ इनका विवाह कर दिया। ईदयोग से उस लड़की का छह माह के बाद मरण भी हो गया। महाराज ने बताया था कि, "हमने उसे अपनी स्त्री के रूप में कभी नहीं जाना।" पहले माता पिता अपने मनोविनोद को प्रमुख बना घर में पुत्रवधू लाने की ममता, तथा मोह के कारण छोटी सी अवस्था में, जब कि सचमुच दूध के दाँत नहीं टूटने थे, विवाह कर दिया कर देते थे। गांधी जी का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में हो गया था। गांधी जी लिखते हैं, "तेरह वर्ष की उम्र में मेरी शादी हुई थी, यह कहते हुये मुझे खेद होता है। आज दिन मेरे समक्ष बारह तेरह वर्ष के जो लड़के मौजूद हैं उन्हें देखकर और अपने विवाह की बात सोचकर मुझे अपनी उस अवस्था पर दया आती है और उन्होंने जो इस उम्र में अपनी शादी नहीं की है, इसके लिए उन्हें बर्बाद देने की जो चाहता है।" (पृष्ठ १८-१९ आत्मकथा)

जब चरित्रनायक अठारह वर्ष के हुए तब माता पिता ने इनने फिर विवाह की चर्चा चलाई। इनने अपनी अनिच्छा का जीवन प्रगट की। इस पर पुनः आग्रह होने लगा, तब इनने कहा, "यदि आपने पुनः हमें इस गृहजाल में फसने को दवाया, तो हम मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।" इस भय से पुनः विवाह के लिये आग्रह नहीं किया गया। इस प्रकार पूज्य श्री बाल्य जीवन से ही निर्दोष ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते चले आ रहे हैं, अतः शरीर बड़ा बलसम्पन्न रहा है।

व्यायाम में चार छह आदमियों को जरा में गिरा देते थे। जिसका पंजा इनन पकड़ लिया, उसे छुड़ाना उसके लिये असंभव था। अच्छे हूट-पुट, वैलो की जोड़ी द्वारा जो पानी की मोट खेंची जाती है, उसे ये अकेले खेंच लेते थे। दूर तक कूदने में इनके समक्ष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। शरीर बज्ज की तरह बड़ा था। जब महाराज का संघ शिखर जी को गया था, तब वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति कहते थे कि महाराज का पैर दबाने

१ Mohanchand Karamchand Gandhi married when he was a High School pupil aged 13. He had been engaged three times, of course without his knowledge. "I have faint recollection" he reports "that the third betrothal took place in my seventh year" but he was not informed. He was told six years later, a short time before the wedding.

Fischer, 'The Life of M. Gandhi' P. 29

लोकस्मृति

आचार्य शातिगागर महाराज के साथ बचने के पूर्व का जीवन किस प्रकार का रहा, इस विषय में उन निस्पृह तथा तत्त्वदर्शी महान आत्मा में विशेष सामग्री प्राप्त करना असंभव देख हमने उनकी निवास-भूमि आदि में विद्यमान व्यवस्था के पास पहुँचकर प्रत्यक्ष चर्चा की एवं विविध प्रश्नों के फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण बातें अवगत कीं। उनमें प्रमुख स्थान आचार्य महाराज के ज्येष्ठ वंशु मुनि १०८ श्री वर्धमान सागर महाराज से प्राप्त सामग्री का है, जो बड़ी कठिनाई तथा तत्परयत्न से प्राप्त हुई। भोजग्राम के वृद्ध-लोगों से वर्धमान स्वामी के सौम्य ममता जीवन की मार्त विदित हुई। प्रामाणिकता, लोकोपकार, दीन दुखी एवं सत्पानों की सेवा परायणता आदि उनके विशेष गुण थे। उनका स्वभाव बड़ा मधुर था। उनके सरस में आते ही हमें ऐसा लगा माना हम हिमालय के समीप में आ गए हो। दो दिन उनके पास रहकर जो कुछ सामग्री एकत्रित की जा सकी, यह इस प्रकार है। वे तत्त्वदर्शी वीतराग महामुनि थे अतः कुटुम्ब की चर्चा करना उनको आत्मा को अनुकूल नहीं लगता था, फिर भी सौभाग्य से जो भी अल्प सामग्री ज्ञात हुई वह अत्यंत महत्व की है। अनेक प्रश्नों के उत्तर रूप में इस प्रकार सामग्री प्राप्त हुई।

वर्धमान स्वामी ने बताया 'हमारे माता पिता महान धार्मिक थे। धार्मिक पुत्र अर्थात् महाराज पर उनकी अपार प्रीति थी। महाराज जब छोटे शिशु थे, तब सभी लोगों का उन पर बड़ा स्नेह था। वे उनको हाथों-हाथ लिए रहते थे। वे घर में रह ही नहीं पाते थे। यस्ती शर के वे ममत्व पात्र थे।'

मैंने पूछा— "स्वामिन ससार के उद्धार करने वाले महापुरुष जब माता के गर्भ में आते हैं, तब कुछ शुभ-शकुन कुटुम्बियों आदि को दिखते हैं। माता को भी मंगल स्वप्न आदि का दर्शन होता है। आचार्य महाराज सदृश रत्नत्रय धारकों की चूड़ामणि रूप महान विभूति का जन्म कोई साधारण घटना नहीं है। कुछ न कुछ अपूर्व बात अवश्य हुई होगी?"

शुभ दोहला

उनने कुछ काल तक चुप रहकर पश्चात् बताया "उनके गर्भ में जाने पर माता को दोहला हुआ था कि एक सौ

आठ सहस्र दल वाले कमलों से जितेन्द्र भगवान की पूजा कृतं । उस समय पता लगाया गया कि वहाँ ऐसे कमल मिलेंगे । कोल्हापुर के समीप के तालाब में वे कमल विशेष प्रबन्ध तथा, व्यय द्वारा लाये गये और भगवान की बड़ी भक्ति पूर्वक पूजा की गई ।” उनने कहा “उस समय मेरी अवस्था दस वर्ष के लगभग थी ।” आचार्य श्री के जन्म के विषय में उनने बताया कि भोजग्राम से लगभग तीन मील की दूरी पर बेलगुल ग्राम है । वहाँ हमारे नाना रहते थे । उनके यहाँ ही महाराज का जन्म हुआ । महाराज के जन्म की वार्ता श्रात होते ही सबको बड़ा आनन्द हुआ था । ज्योतिषी से जन्म पत्रिका बनवाई गई । उसने बताया था कि यह बालक अत्यन्त धार्मिक होगा । जगत भर में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा तथा संसार के प्रगच में नहीं फंसेगा ।” उनने मेरे प्रश्न का उत्तर यह दिया कि “महाराज का शरीर अत्यन्त निरोग था । कभी भी इनका मस्तक नहीं दुःखता था । हाँ! एक बार तीन वर्ष की अवस्था में ये बहुत बीमार हो गये थे । रक्त के दस्त होते थे । उस समय इनका जीवन रहता है या नहीं ऐसी चिन्ता पैदा हो गई थी, किन्तु एक बाई ने दवा दी, उससे ये अच्छे हो गए । इसके सिवाय और कोई रोग नहीं हुआ ।”

आचार्य महाराज का शरीर वाल्य काल में असाधारण शक्ति असाधारण शक्ति संपन्न रहा है । चावल के लगभग चार मन के बोरो को सहज ही वे उठा लेते थे । उनके समान कुश्ती खेलने वाला नहीं था । उनका शरीर पत्थर की तरह कड़ा था । कुए से मोट द्वारा पानी खिंचता था । वे बेल को अलग कर उसके स्थान में स्वयं लगकर अपने हाथों से मोट खेंच लेते थे । वे दोनों पैर जोड़कर, बारह हाथ लम्बी जगह को लांघ जाते थे । उनके अपार बल के कारण जनता उन्हें बहुत चाहती थी । वे बच्चों के साथ बालक्रीड़ा नहीं करते थे । व्यर्थ की बात नहीं करते थे किसी बात के पूछने पर संक्षेप में उत्तर देते थे । वे लड़ाई झगड़े में नहीं पड़ते थे, बच्चों के समान गंदे खेलों में उनका सनिक भी अनुराग उनका न था । वे लौकिक आमोद प्रमोद से दूर रहते थे । धार्मिक उत्सवों में जाते थे ।

वे प्रारंभ से ही वीतराग प्रवृत्ति वाले थे । परम वीतराग प्रवृत्ति बहिन की शादी में या कुमंगीडा की शादी में शामिल नहीं हुए थे । उनकी स्मरण शक्ति सब को चकित करती थी ।

कभी उन्हें प्रमाद अथवा भूल के कारण शिक्षका ने दंड नहीं दिया । अध्यापक इनके क्षयोपशम की सदा प्रशंसा करते थे ।

मधुर तथा सयत
जीवन
इनका गरीब अमीर सभी बालकों पर समान प्रेम रहता था । साथ के बालकों के साथ कभी भी लड़ाई झगडा नहीं होता था । उनमें कभी भी किसी से झगडा नहीं किया । उनके मुख से कभी कठोर वचन नहीं निकले । बाल्यकाल से ही वे शांति के सागर थे । मितभाषी थे ।

उनकी खानपान में बालकों के समान स्वच्छद प्रवृत्ति नहीं थी । जो मिलता था उसे वे शांत भाव से खा लिया करते थे । बाल्यकाल में बहुत घी दूध खाते थे । पाच डेढ़ पाच घी के हजम कर लेते थे । आज की महान तपश्चर्या में वही सचित बल काम करता है । सब लोग उनको अम्पा (दादा) कहते थे । वे सादे वस्त्र पहनते थे । खादी का बना बारा बंदी वाला अंगरखा पहिनते थे । माता सत्यवती सूत कातती थी । उससे यह खादी बनती थी । वे सादा फेंटा बाँधते थे । वे तकिया से टिक कर नहीं बैठते थे । तकिया से दूर आश्रय विहीन बैठा करते थे ।

अश्व परीक्षा आदि
में पारंगत
वे अश्व परीक्षा में प्रथम कोटि के थे । वे किसी को बताते नहीं थे, केवल गुण दोष का ज्ञान रखते थे वे घर के गाय बैल आदि को खूब खिलाते थे और लोगों को कहते थे कि इनको खिलाने में कभी भी कमी न करना चाहिये आज उनके सुविकसित जीवन में जो गुण दिखते हैं, वे बाल्य काल में बट के बीज समान विद्यमान थे । बचपन में वे माता के साथ प्रति दिन मंदिर । जाया करते थे ।

आत्म ध्यान की
रुचि
बच्चों के समान धार धार खाने की आदत उनकी नहीं थी । वे सदा शास्त्र पढ़ते हुये पाये जाते थे । ध्यान करने में उनकी पहिले से रुचि थी । वेदाती लोग उनके पास आकर चर्चा करते थे । वेदात प्रेमी रुद्रप्पा से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी । उनके उपदेश के प्रभाव से वह छानकर पानी पीता था, रात्रि को भोजन नहीं करता था । रात्रि को भोजन करते समय महाराज ने उसे प्रत्यक्ष में पतंगे आदि जीवों को भोजन में गिरते बताया था । इससे रात्रि भोजन से

उसके मन में विरक्ति पैदा हुई। उसको महाराज के उपदेश से यह प्रतीत होने लगा था कि जैनधर्म ही यथार्थ है। उनके प्रभाव से वह उपवास करने लगा था। जब वह प्लेग में बीमार हुआ, तब महाराज ने उसकी आत्मा के लिये कल्याणकारी जिन धर्म का उपदेश दिया था।”

मुनि भक्ति व “मुनियां पर महाराज की बड़ी भक्ति रहती थी। एक निस्पृह जीवन मुनिराज को वे अपने कंधे पर बैठाकर वेद गंगा तथा दूध गंगा के संगम के पार ले जाते थे। वे रात्रिदिवस शास्त्र पढ़ने में तत्पर रहते थे। एक बार वाचने पर ‘अमुक ग्रंथ में अमुक बात लिखी है’ ऐसा वे अपनी स्मृति के बल पर बोलते थे। लेन देन, व्यापार आदि में वे पूर्ण विरक्त थे। छोटा भाई कुमगौडा कपड़े की दूकान पर बैठता था। जब वह बाहर चला जाता था, तब वहाँ ‘अप्पा’ तकिया छोड़कर बैठे रहते थे। लोग आकर पूछते ‘कुमगौडा कुठे गेला, सातगौडा’ तब वे कहते थे कि यह बाहर गया है यदि कपड़ा लेना है तो अपने मन से चुन लो, अपने हाथ से नापकर कपड़ा काट लो और वही में अपने हाथ से लिख दो। इस प्रकार की उनकी निस्पृहता थी। वे कुटुम्ब की क्षत्रियों में नहीं पड़ते थे।”

पिता का अपार पराक्रम तथा तपस्वी जीवन

“वे सबको शास्त्र समझाते थे तथा लोगों की शका का समाधान करते थे।” उनसे बताया था कि “हमारे पिता ने लगभग सोलह वर्ष तक एक आसन से बैठकर एक ही वार भोजन किया। उनसे भारतवर्ष के तीर्थों की वदना की थी। उन्होंने श्रवणबेलगोला के दशान के बाद एक-

भक्ति का नियम लिया था तथा धी, दूध, दही आदि सब रस छोड़ दिये थे। सेठ हीराचंद नेमचंद के द्वारा प्रकाशित ‘जैनतत्त्वादश’ पुस्तक के वाचने से हमारे पिता जी की धार्मिक प्रवृत्ति स्वच्छ हुई थी। पिताजी बड़े पराक्रमी, प्रभावशाली और महान तेजस्वी थे। सो व्यक्ति भी उनपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। हमारे पूर्वज बीजापुर जिले के सारविंदी ग्राम से ‘भोज’ आए थे। वे आठ बैलों से खिचनेवाली गाड़ियों पर अपनी संपत्ति लाद कर वहाँ आए थे, कार बीजापुर की ओर यवनो ने भयकर अत्याचार मचा रखा था।”

उनसे यह भी बताया था कि “सब रस छोड़ने से हमारे

पिता का बलवान शरीर वृश्च होते जा रहा था, उस समय हम उनको नारियल का दूध निकालकर भोजन में मिलाकर देते थे, ताकि उस स्निग्ध पदार्थ से उनका शरीर टिका रहे। पीछे उन्होंने आहार तक अत्यन्त न्यून कर लिया था। वे एक वर्ष पर्यन्त एक बटोरी प्रमाण भोजन लेते रहे। उनकी समाधि बड़ी महत्वपूर्ण थी। हम और महाराज उनके दोनों तरफ बैठे थे। उन्होंने लोगों को राते देखकर कहा 'हमें अपना आत्म बल्याण करना है यदि तुम हल्ला करोगे तो हम इस घर में नहीं रहेंगे।' उनसे अपने हाथ से बैगों को उखाड़ दिया था। बैठने की गद्दी अलग कर दी थी निरन्तर धर्मध्यान में लीन हो बड़ी सावधानी पूर्वक उनसे शरीर का परित्याग किया था। पिता की मृत्यु होने पर महाराज ने दुःख नहीं किया। वे वैराग्य मूर्ति बने रहे।"

उनसे यह भी बताया कि "महाराज के अठारह वर्ष वयस में जिन की अवस्था में मुनि बनने के परिणाम थे। उस समय हमारी धार्मिक रुचि थी किन्तु उनकी दीक्षा के बाद हमारे भावों में परिवर्तन हुआ। हमारे घराने में बहुत पहिले से जिन भगवान की भक्ति चली आ रही है। इसलिए सारा परिवार धर्म की भक्ति में तत्पर रहता था। हमारी माता व्रत संयम पालन तथा साधु सेवा में सदा तत्पर रहती थी।

हमारे यहाँ मुनियों को आहार देने योग्य भोजन सदा बनता था। तत्पश्चात् मुनिराज के आने पर उपाध्याय आकर माता से कहता था, "आजी-बाई महाराज आले" वे कहती थी "इथे घेऊन या बाबा," (उन्हे यहाँ ले आओ)। जब माता पिता ने महाराज से विवाह करने को कहा और वे बोले "बाबा लग्न क्यों नहीं करते।" महाराज ने कहा, "मैं ब्रह्मचारी राहणार।" उनके शब्दों के सुनते ही माता पिता के नेत्रों में पानी आ गया और वे बोले "माझा जन्म तुम्ही सार्थक केला" बेटा—तुमने हमारा जन्म कृतार्थ कर दिया। उनसे बताया हमारी माता हम लोगों को धर्म और सदाचार का उपदेश दिया करती थी। 'पाप करू नवा' 'चोरी करू नवा,' "जीव हिंसा करू नवा इत्यादि कहती थी।"

हमने पूछा "कभी माता पिता आपको तथा महाराज को दंड देते होगे?" इसपर उनसे कहा "हमने तथा महाराज ने दंडपाने योग्य अन्याय किया ही नहीं तो फिर दंड की बात क्या? माता की वाणी

गटोर नहीं थी प्रेम तथा शांत भावपूर्ण थी । उन पर सब प्रीति करते थे । हमारे पिता बलवान धनवान ऐश्वर्यवान थे । बड़े बड़े लोग उनके अधीन रहते थे । उनमें अपने व्यवहार में तेईमानी की कभी भी स्थान नहीं दिया । पाटिल होते हुए किसी की तनिक भी जमीन अयायपूर्वक नहीं ली । अधिकारिया के मुख से यही वाक्य निकलता था कि वे सच्चे मनुष्य हैं—जरा माणुस आहे । न्याय के साथ परिवार के गौरव का भी उन्हें बड़ा ध्यान था । एक बार उनके वारण किसी कुटुम्बी को राज्याधिकारी ने तीन सौ रु० दंड और जेल की सजा दी थी । उस समय अपने गोत्र के गौरव को धक्का लगेगा ऐसा सोचकर उनने अपने पास से रुपया देकर उसे छुड़वाया ।

“हम सब लोग भोज में प्लेग होने के कारण अपने बटुक द्वारा मामा के यहाँ थे । उस समय हमारे मामा बड़ सफल लक्ष्यवेध प्रतापी थे । उनके आनक से डाकू बगैरह उपद्रव नहीं कर पाते थे । इसलिये सरकार ने उनके पास बटुक आदि हथियार दिये थे । वहाँ हम सब लोग विनोद पूर्वक बैठे थे । नारियल के वृक्ष में लगे हुए नारियल का छदन की चर्चा चली । महाराज ने अपने जीवन में कभी भी बन्दूक हाथ में नहीं ली थी । उस समय उन्होंने बन्दूक हाथ में ली और एकाग्र बन्दूक का निशाना लगाया और क्षण भर में बटुक छोड़ दी । गोली ने नारियल को छद दिया । सब लोग चकित हो गये । इसने पश्चात कभी उन्होंने बन्दूक हाथ में नहीं ली । इस प्रकार उनकी एकाग्रता तथा कर कौशल था । ”

जब महाराज ने दाखा ली, और हम लोग उनके दर्शना को जाते थे, तो वे हमसे विषय अनुराग युक्त बात नहीं करते थे ।

इस प्रकार हम वर्धमान स्वामी से प्रश्न करके आचार्य श्री के जीवन सबधी बातों की पूछ रहे थे कि उनमें पूछा “अब और क्या पूछना है ? ” मैंने कहा “महाराज आम्हें पोट नाही भरलें”—हमारा पोट अभी नहीं भरा है ।

वे वाले ‘तुमचें पाट प्रचुम्नसारलें आहे’—तुम्हारा पेट श्री कृष्ण के पुत्र प्रचुम्नकुमार के समान है, जिसने अपने विक्रिया के द्वारा बनाय गये शरीर द्वारा माता सत्यभामा के यहाँ के सब भोज्य पदार्थों को खा

लिया था फिर भी वह मूखा का भूमा दिखाई पड़ता था ।

उनमें विराग भाव की धुद्धि देगकर मैंने योंही एक उपयोगी आध्यात्मिक प्रश्न उनमें किये, उनका उत्तर देने में उनमें स्फूर्ति आ गई । मैंने पूछा "महाराज! आत्मा का अनुभव कंसा है?"

उनने कहा, "शक्कर मधुर है अत्यन्त मधुर है, इसमें उसकी मधुरता का वर्णन नहीं होता । यह अनुभव गम्य है । "गोड बसासागा?" वह कंसी मधुर है, यह किस प्रकार कहेंगे ? । इतने में एक दूसरा मनुष्य आ गया, उसने सक्करा का रसास्वाद लिया है, वह तुरन्त उसकी मधुरता का स्मरण करेगा और उसके मुख में रसोद्रेक के स्वरण, द्वारा समान रूपसे पानी आ जाएगा । इसी प्रकार आत्मा का अनुभव वाणी के अगोचर है । उसका अनुभव करने वाले व्यक्ति तुलना द्वारा उसका बोध प्राप्त करते हैं" ।

मैंने पूछा "महाराज व्यवहार किया क्या सर्वथा मिथ्या है?" मेरा भाव था यदि व्यवहार धर्म मिथ्या है तो आप २८ मूल गुण आदि व्यवहार धर्म का क्यों आश्रय लिये हुए हैं ?

उनने मेरा मनोभाव समझते हुये ही तुरन्त कहा "व्यवहार सत्य, निश्चय सत्य, लवार कौन को कहना ।" "व्यवहार ठीक है, निश्चय भी सत्य है; मिथ्या किसको कहना ?"

मैं चुप हो गया ।

कुछ क्षण के पश्चात् मैंने पूछा "महाराज आप १२ वर्ष के हो गए, आपको दीक्षा लिये कितने वर्ष हो चुके?"

उनने कहा "हमने बारामती में आचार्य महाराज से दिगम्बर दीक्षा ली थी । इसे १२ वर्ष हो गये ।"

मैंने कहा "महाराज ! वृद्धावस्था में यह दीक्षा दुःखप्रद तो नहीं है?"

उनने सन्तुष्ट वदन से कहा "इसमें कष्ट किस बात का है ? हमारा आत्मा तो सदानन्द है ।"

इस उत्तर को सुनते ही मैंने कहा, "महाराज मेरा पेटभर गया है-आमचें पोट भरलें ।" केवल एक ही बात आप से पूछना है, कि आप सद्गुरु

महामुनिराज का पवित्र समय व्यावहारिक चर्चा में लिया और बहुत समय तक आपको कष्ट दिया, इसका क्या प्रायश्चित्त है ?”

मधुर हास्यपूर्वक उनसे कहा, “तुम आचार्य महाराज द्वारा सींसे गये घबल प्रंथादि का बराबर काम करो तथा ऐसे ही धार्मिक कार्य करो यही प्रायश्चित्त है और यही हमारा आशीर्वाद भी है ।”

मैंने उनको प्रणाम किया और प्रभु से प्रार्थना की कि मैं अधिक से अधिक वर्धमान शासन की सेवा में योग्य, सफल, संपन्न 'बनूँ' ऐसी क्षमता प्राप्त हो ।

माता-पिता की महत्ता श्री भाऊ साहब देवगौडा पाटील की अवस्था ६५ वर्ष की है । ये महाराज के चचेरे भाई हैं । धार्मिक रीति संपन्न हैं । उनसे बताया कि “महाराज के पिता श्री भीम गौडा पाटील खूब ऊँचे पूरे, अत्यन्त बलवान, प्रभावशाली तथा बुद्धिमान सत्पुत्र थे । वे विनोद में भी मिय्या बात नहीं बोलते थे । उनकी प्रकृति शीघ्र थी, स्वभाव मधुर तथा सर्वप्रिय था । वे नीति संपन्न तथा उदार चेतन मानव थे । उनके तेज के समक्ष बड़े २ लोग झुक जाया करते थे ।

माता सत्यवती बड़ी बुद्धिमती, धर्मपरायण, सर्वप्रिय, पति-सेवा तत्पर तथा पुण्यशीला थी । वे बहुत व्रत उपवास करती रहती थी । बन्धु महिलाओं के प्रति उनमें सखी भाव पाया जाता था । उनका हमारी माता ताराबाई से बड़ा प्रेम रहता था । वे सभी बालकों का राक्षसानी तथा प्रेम पूर्वक पोषण करती थीं । महाराज (सात गौडा) की विरक्त प्रकृति देख माता का अधिक लक्ष्य उनकी ओर रहा करता था ।

महाराज के बड़े भाई, जो आज वर्धमान सागर मुनिराज के रूप में वंदित हैं, पहिले से ही सन्वासी सद्गुरु थे । वे गृहस्थ होते हुए भी मोक्ष मार्गस्थ थे । वे सेवामावी तथा परोपकारी थे । वे अपने से छोटो तक की बात को प्रेम पूर्वक मानते थे ।

शान्त तथा एकान्तप्रिय महाराज सदा शान्त भाव संपन्न रहते थे । ये एकान्त प्रिय थे । व्यर्थ की बातें नहीं करते थे । शास्त्र चर्चा के हेतु लोगों के पास बैठते थे । विरुपा कभी नहीं करते थे । इनके वचनों पर सभी को अपार विश्वास रहता था । लोग उन पर बड़ी श्रद्धा करते थे । उनकी बाणी में विशेष आकर्षण तथा मामिकता पाई जाती

थी। वे ऐसी न्यायपूर्ण बात कहते थे, कि उसे सभी लोग मान्य करते थे।

सब लोग उन पर प्रेम करते थे। वे अजातशत्रु थे। वे

अजातशत्रु

अत्यन्त सादे ढंग से रहते थे। खादी की धोती, बारा

बंदी, फंटा उनके वस्त्र थे। वे अश्व परीक्षा में अनुपम थे। घोड़े के शरीरस्थ चिन्हों को देखते ही उसके गुण दोषों को जान लेते थे। वृषभ-परीक्षा में भी

वे प्रवीण थे। प्रत्येक बौद्धिक कार्य में उनका प्रथम स्थान

विविध विषय

था। कृषि कार्य में उनका अनुभव दूसरों का मार्ग

विज्ञता

दर्शक था। तम्बाकू, धान्य, इक्षु आदि फसलों के वे

विशेषज्ञ थे। ऐसा कोई काम नहीं था, जिसमें उनका दूर दूर तक के लोगों में दूसरा नम्बर हो। उनकी प्रत्येक चेष्टा से यह अनुमान होता था कि वे

लोकोत्तर महात्मा हैं। जब महाराज ने मुनिदीक्षा ली तब जैन, अजैन सभी कहते थे "हे घरात साधू प्रमाणेच होते, आज प्रत्यक्ष साधू बनले, असा

प्रत्येकाला भाव ज्ञाला"—ये घर में साधु सदृश थे, आज ये साक्षात् साधु बन गए ऐसा भाव प्रत्येक व्यक्ति का हुआ। उनके दीक्षा लेने पर प्रायः

सभी लोगों के नेत्रों में अश्रु आ गये थे।

ये अकारण बधु तथा सब के उपकारी थे। उनको सबके उपकारी धर्म तथा नीति के मार्ग में लगाते थे। वे भोजभूमि के

पिता तुल्य प्रतीत होते थे। उनके साधु बनने पर ऐसा लगा, कि नगर के पिता अब हमेशा के लिए नगर को छोड़कर चले गए। उस समय घर घर में

उनके पुण्य गुणों की चर्चा थी। आज भी पुराने लोगों के आँखों में उनकी चर्चा होते ही आसू आ जाने हैं कि उन जैसी विश्व पूज्य विभूति के ग्राम में हम लोगों का जन्म हुआ है।

हमारे घर के अत्यन्त सन्निकट उनकी दुकान थी, जहाँ अत्यन्त मधुर वे पुण्य पुरुष सदा बैठ कर रहे थे, इससे हमें उनका पूरा

जीवन

पूरा हालज्ञात है। वे हमें घर में ही योगी सदृश

लगते थे। उनके जीवन में एक भी दोष हमारे देखने में नहीं आया। दोष गून्धता को ही उनका दोष कहा जा सकता है। उनके जीवन में एक अपूर्व मधुरता थी। उनके पास बैठने में, उनकी बोली सुनने में, बड़ा अच्छा लगता

था। उनका सदृष्टांत तथा क्या सदमं समुक्त शास्त्र विवेचन हृदय के द्वार खोल देता था। वे पराई निंदा तथा कटु भाषण से दूर रहते थे। उनका

ग्रहचर्य अत्यन्त निर्दोष था। वे बड़े भारी प्रतिभा सम्पन्न थे। वैसा भी

बठिन प्रश्न उपस्थित किए जाने पर वे अपनी अद्भुत प्रज्ञाशक्ति द्वारा उसका समाधान करते थे ।

हमने उनकी दुःख तथा सुख में समान वृत्तिवाला देखा है । माता पिता की मृत्यु होने पर हमने उनमें साधारण लोगों की भाँति शोकाकुलता नहीं देखी । उस समय उनके भावों में वैराग्य की वृद्धि दिखाई पड़ती थी ।

असाधारण धैर्य उनका असाधारण था । माता पिता का समाधि मरण होने से उन्हें सतोष हुआ था । उनके पास आर्त ध्यान, रोद्रध्यान को स्थान न था । वे धर्म ध्यान की मूर्ति थे । वे दया, शांति, वैराग्य नीति तथा मत्स्य जीवन के सिंधु थे ।

उनकी आत्मा बालक समान पवित्र थी । इससे उनका बच्चों पर उत्तम वात्सल्य भाव पाया जाता था । उनमें किसी प्रकार का व्यसन नहीं था । उनमें चंचलता या क्षुद्रता नहीं थी । वे सागर के समान सर्वदा गभीर रहे हैं । उनकी स्मृति असाधारण थी । वे जिस बात की परीक्षा करते थे, वह सदा ठीक ही निकलती थी । तमाखू की फसल आने पर उसकी पेंडी बाधने में इनकी कुशलता की सभी सराहना करते थे । उनसे तमाखू को सुवास सपन्न करने में लवंग लगाने का विशेष प्रयोग किया था, उससे उनकी सृजन शक्ति की सभी व्यापारी तथा किसान लोग प्रशंसा करते थे । वे किसी की नकल नहीं करते थे । सभी लोग उनका अनुकरण करते थे ।

उनकी न्यायसिद्ध भाषा सर्वत्र अवाट्य रही है । उनके न्यायपूर्ण जीवन तर्क के आगे सबका सिर झुकता रहा है । आज बड़े बड़े शास्त्री श्रीमत, वकील, जज आदि उनकी प्रतिभाप्रसूत बातों को सुनकर चकित होते हैं, उनकी यह सामर्थ्य यहाँ भी हम लोगों के नयन-भोजन होती थी ।

उनका दयामय जीवन प्रत्येक के देखने में आता था । दीन दुःखी पशु, पक्षी आदि पर उनको करुणा की धारा बहती थी । जहाँ देवी आदि के आगे हजारों बकरे, भैंसे आदि मारे जाते थे वहाँ पहुँचकर अपने प्रभावशाली उपदेश द्वारा जीववध को ये बंद कराते थे । इससे लोग इनको 'अहिंसावीर' कहते थे । ये दयामूर्ति के साथ ही साथ प्रेम मूर्ति भी थे । इस कारण ये सर्प आदि भीषण जीवों पर भी प्रेम करते थे,

वसन्ता लिंगायत सदृश ज्योतिषी, तथा व्यायाम में धौल, सर्कस में धौल गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए हैं। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धि रही है कि जो व्यक्ति भोजवासियों के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है। आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियों की श्रद्धा, भक्ति, तथा आदर की भावना इस बात को पहिले से ही सूचित करते थे, कि इन महापुरुष का सारे मसार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निवट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहता, कि ये प्रकृति

उनसे तनिक भी नहीं डरते थे । इनका विश्वास था, कि ये प्राणी बिना सताए कभी भी कष्ट नहीं देते हैं ।

हम पर महाराज की बड़ी दया थी । हम उनके महा संसार से विरक्ति सदा जाया करते थे । वे हमारे यहा या दूसरो के घर बिना कार्य के नहीं जाते थे । कोर्ट—कचहरी आदि का काम ये नहीं करते थे । उनसे वे पृथक् रहते थे । वह काम छोटे भाई कुमगोडा देखा करते थे । उनमें अति लोभ या कुटुम्ब के प्रति अत्यासक्ति नहीं पाई जाती थी । वे अल्प आरभ तथा अल्प परिग्रह वाले सत्पुरुष रहे हैं । विध्यासक्त संसार और उनमें जमीन आस्मान का अन्तर था । वे कठोर भूमि पर शयन करते थे । गद्दी का उपयोग नहीं करते थे ।

उनका शरीर अत्यन्त निरोग तथा सशक्त था । उनके शरीर के समान उनकी आत्मा भी पूर्ण स्वस्थ थी । उनके स्वभाव में तनिक भी गर्मी नहीं थी । वे क्रोध, चंचलता तथा अत्यन्त वेग से कोई काम नहीं करते थे । धैर्य तथा विचार पूर्वक ही कार्य करते थे— क्रोध, चंचलता आणि अतिवेगाने कोणतेहि काम न करिता, धैर्य आणि विचारपूर्वक ते कार्य करित होते ।

इनने मिथ्यात्व यहाँ पाटीलो का सदा प्रभाव रहा है, किन्तु भेद नीति का त्याग कराया के कारण ब्राह्मणों ने अपना विशेष स्थान रखा है । लोग मिथ्या देवों की आराधना करते थे । यहा के मास्ती के मंदिर में जाते थे । लिगायतों तथा ब्राह्मणों के धर्म गुरुओं की भक्ति पूजा करते थे । उनका उपदेश सुनते थे । उनको भेंट नढाते थे । इस प्रकार गाढ़ मिथ्यान्धकार में निमग्न लोगों को सत्पथ में लगाने की सामर्थ्य किसमें थी ? महाराज के उज्ज्वल व्यक्तित्व तथा पवित्र उपदेश के प्रभाव से लोगों ने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व के मार्ग को ग्रहण किया । महाराज के प्रभाव से जैनियों को बौद्धिक तथा मानसिक स्वातंत्र्य मिला और ब्राह्मणों की वृत्तनीति से समाज का परिव्राण हुआ ।

महाराज की सभी प्रवृत्तियाँ धैर्य के उन्मुख तथा धर्मानुकूल होती थी । वे धैर्यनीति, मिथ्यात्व निराकरण तथा अहिंसा प्रचार के सिवाय लौकिक व्यवहार अथवा राजनीति के पक्ष में लिप्त नहीं होते थे ।

प्रकृति सिद्ध हमारे पूर्वज बताते थे कि पूना के समान इस भोज भूमि में अनेक स्थाति प्राप्त बलाकर विद्वान् तथा मर्मज्ञ लोगो ने जन्मधारण किया है । खट्वा मद्राश ध्यानी तथा सत्यव्रती

वसप्पा लिंगायत सदृश ज्योतिषी, तथा व्यायाम में श्रेष्ठ, सर्कस में श्रेष्ठ गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए हैं। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धि रही है कि जो व्यक्ति भोजवासियों के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है। आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियों की श्रद्धा, भक्ति, तथा आदर की भावना इस बात को पहिले से ही सूचित करते थे, कि इन महापुरुष का सारे ससार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निकट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहता, कि ये प्रकृति सिद्ध महापुरुष प्रत्येक कार्य में सर्वश्रेष्ठ रहे हैं। दीक्षा लेने के बाद महाराज एक बार भोज पधारे थे। मंदिर में भगवान का दर्शन करके उनमें सामायिक की तथा वे बाहर चले गये थे, ताकि किसी प्रकार का मोह उत्पन्न न हो। हजारों लोगों ने एकत्रित होकर भोज की विभूति ही नहीं, विश्व की अनुपम निधि का दर्शन किया था। उनके आने के बाद भोज भूमि प्राण शून्य सी लगती थी। हम लोग अपने को इसी बात में कृतार्थ मानते हैं कि हम लोगों का जन्म आचार्य शास्त्रिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ, नर रत्न एवं धमण शिरोमणि की निवास भूमि में हुआ।”

भोज ग्राम में गणू ज्योति दबाले नाम का एक मराठा बूढ़ मराठा का कथन किसान ८० वर्ष की अवस्था का अभी जीवित है। वह एक ब्राह्मण के खेत में मजदूरी करता रहा है। उस खेत से लगा हुआ एक खेत है जहाँ महाराज का प्रतिदिन आना जाना होता था। उस बूढ़ मराठा को जब यह समाचार पहुँचा कि महाराज के जीवन के सबन्ध में परिधम पाने को कोई व्यक्ति बाहर से आया है तो वह महाराज का भक्त मध्याह्न में दो मील की दूरी से भूखा ही समाचार देने को हमारे पास आया। उस कृपक वाया से इस प्रकार महत्व की सामग्री ज्ञात हुई।

महाराज की अपूर्व दयालुता उसने बताया “हम जिस खेत में काम करते थे उससे लगा हुआ महाराज का खेत था। हम उनको पाटील कहते थे। हमारा उनसे निकट परिचय था। उनकी बोली बड़ी प्यारी लगती थी। मैं गरीब हूँ और वे धीमन हैं, इस प्रकार का अहंकार उनमें नहीं था। हमारे खेत में अनाज खाने को सैंकड़ों हजारों पक्षी आ जाते थे मैं उनको उड़ाता था तो वे उनके खेत में बैठ जाते थे। वे उन पक्षियों को नहीं उड़ाते थे। पक्षियों के झुंड के झुंड उनके खेत में अनाज

उनसे तनिक भी नहीं डरते थे । इनका विश्वास था, कि ये प्राणी बिना सताए कभी भी कष्ट नहीं देते हैं ।

हम पर महाराज की बड़ी दया थी । हम उनके यहाँ संसार से विरक्ति सदा जाया करते थे । वे हमारे यहाँ या दूसरों के घर बिना कार्य के नहीं जाते थे । कोर्ट-कचहरी आदि का नाम ये नहीं करते थे । उनसे वे पृथक् रहते थे । वह काम छोटे भाई कुमगोडा देखा करते थे । उनमें अति लोभ या कटुम्ब के प्रति अत्यासक्ति नहीं पाई जाती थी । वे अल्प आरभ तथा अल्प परिग्रह वाले सत्पुरुष रहे हैं । विषयासक्त संसार और उनमें जमीन आस्मान का अन्तर था । वे कठोर भूमि पर शयन करते थे । गद्दी का उपयोग नहीं करते थे ।

उनका शरीर अत्यन्त निरोग तथा सशक्त था । उनके शरीर के समान उनकी आत्मा भी पूर्ण स्वस्थ थी । उनके स्वभाव में तनिक भी गर्मी नहीं थी । वे श्रोत्र, चंचलता तथा अत्यन्त वेग से कोई काम नहीं करते थे । धैर्य तथा विचार पूर्वक ही कार्य करते थे— श्रोत्र, चंचलता आणि अतिवेगाने कोणतेंहि काम न करिता, धैर्य आणि विचारपूर्वक ते कार्य करित होते ।

इनने मिथ्यात्व यहाँ पाटीलो का सदा प्रभाव रहा है, किन्तु भेद नीति का त्याग कराया के कारण ब्राह्मणों ने अपना विशेष स्थान रखा है । लोग मिथ्या देवों की आराधना करने थे । यहाँ के मास्ती के मंदिर में जाते थे । लिगायतो तथा ब्राह्मणों के धर्म गुरुओं की भक्ति पूजा करते थे । उनका उपदेश सुनते थे । उनको भेट चढ़ाते थे । इस प्रकार गाढ़ मिथ्यान्धकार में निमग्न लोगों को सत्पथ में लगाने की सामर्थ्य किसमें थी ? महाराज के उज्ज्वल व्यक्तित्व तथा पवित्र उपदेश के प्रभाव से लोगों ने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके सत्यव्रत के मार्ग को ग्रहण किया । महाराज के प्रभाव से जैनियों को बौद्धिक तथा मानसिक स्वातंत्र्य मिला और ब्राह्मणों की कूटनीति से समाज का परित्राण हुआ ।

महाराज की सभी प्रवृत्तियाँ धैर्य के उन्मुख तथा धर्मानुकूल होती थी । वे धैर्यनीति, मिथ्यात्व निराकरण तथा अहिंसा प्रचार के सिवाय लौकिक व्यवहार अथवा राजनीति के पक्ष में लिप्त नहीं होते थे ।

प्रकृति सिद्ध हमारे पूर्वज बताते थे कि पूना के समान इस भोज भूमि में महापुरुष अनेक स्याति प्राप्त कलामर विद्वान् तथा मर्मज्ञ लोगों ने जन्मधारण किया है । खट्वा सदृश ध्यानी तथा सत्यव्रती

वसुष्पा लिगायत सदृश-ज्योतिषो, तथा व्यायाम में श्रेष्ठ, सर्कस में श्रेष्ठ गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए हैं। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धि रही है कि जो व्यक्ति भोजवासियों के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है। आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियों की श्रद्धा, भक्ति, तथा आदर की भावना इस बात की पहिले से ही सूचित करते थे, कि इन महापुरुष का सारे ससार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निकट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहता, कि ये प्रकृति सिद्ध महापुरुष प्रत्येक कार्य में सर्वश्रेष्ठ रहे हैं। दीक्षा लेने के बाद महाराज एक बार भोज पधारे थे। मंदिर में भगवान का दर्शन करके उनने सामायिक की तथा वे बाहर चले गये थे, ताकि किसी प्रकार का मोह उत्पन्न न हो। हजारों लोगो ने एवत्रित होकर भोज की विभूति ही नहीं, विश्व की अनुपम निधि का दर्शन किया था। उनके आने के बाद भोज भूमि प्राण शून्य सी लगती थी। हम लोग अपने को इसी बात में कृतार्थ मानते हैं कि हम लोगों का जन्म आचार्य शातिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ-नर-रत्न एवं धमण शिरोमणि की निवास भूमि में हुआ।”

बृद्ध मराठा का कथन
भोज ग्राम में गणू ज्योति बबाले नाम का एक मराठा किसान ८० वर्ष की अवस्था का अभी जीवित है। वह एक ब्राह्मण के खेत में मजदूरी करता रहा है। उस खेत से लगा हुआ एक खेत है जहाँ महाराज का प्रतिदिन आना जाना होता था। उस बृद्ध मराठा को जब यह समाचार पहुँचा कि महाराज के जीवन के संबन्ध में परिचय पाने को कोई व्यक्ति बाहर से आया है तो वह महाराज का भक्त मध्याह्न में दो मील की दूरी से भूखा ही समाचार देने को हमारे पास आया। उस कृपक बाबा से इस प्रकार महत्व की सामग्री ज्ञात हुई।

महाराज की अपूर्व दयालुता
उसने बताया “हम जिस खेत में काम करते थे उससे लगा हुआ महाराज का खेत था। हम उनको पाटोल कहते थे। हमारा उनसे निकट परिचय था। उनकी बोली बड़ी प्यारी लगती थी। मैं गरीब हूँ और वे श्रीमन हैं, इस प्रकार का अहंकार उनमें नहीं था। हमारे खेत में अनाज खाने को सँकड़ी हजारों पक्षी आ जाते थे मैं उनको उड़ाता था तो वे उनके खेत में बैठ जाते थे। वे उन पक्षियों को नहीं उड़ाते थे। पक्षियों के झुंड के झुंड उनके खेत में अनाज

खाया करते थे। एक दिन मैंने कहा पाटील हम अपने खेत के सब पक्षियों को तुम्हारे खेत में हमेशा भेजेंगे। उनने कहा 'तुम भेजो हमारे खेत का सब अनाज खा लेंगे तो भी कमी नहीं होगी'। इसके बाद उनने पक्षियों के पीने को पानी रखने की व्यवस्था खेत में कर दी। पक्षी मस्त होकर अनाज खाते थे और जी भर कर पानी पीते थे। और महाराज चुपचाप यह दृश्य देखते थे मानो वह खेत उनका न हो। मैंने कहा 'पाटील तुम्हारे मन में इन पक्षियों पर दया है तो झाड़ पर पानी क्या नहीं रख देते?' उनने कहा 'ऊपर पानी रख देने से पक्षियों को नहीं दिखेगा इससे उसे नीचे रखते हैं'। उनको देख कर कभी कभी मैं कहता था 'तुम ऐसा क्यों करते हो? क्या बड़े साधू बनोगे?' वे चुप रहते थे। क्योंकि व्यर्थ की बातें करना उन्हें पसन्द नहीं था। कुछ समय के बाद जब पूरी फसल आती थी तब उनके खेत में हमारी अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न होता था।

उन्की अस्पृश्य शूद्रों पर बड़ी दया रहती थी। हमारे कुछ शूद्रों पर प्रेमभाव का पानी जब खेत में सींचा जाता था तब उसमें से शूद्र लोग यदि पानी लेते थे तो हम उनको धमकाते थे और पानी लेने से रोकते थे, किन्तु महाराज को उन पर बड़ी दया थी। वे हमें समझाते थे और उन गरीबों को पानी लेने देते थे। खेतों के काम में उनके समान कुशल व्यक्ति हमने दूर-दूर नहीं देखा। खेत में मग्रा बोलते समय उनका हल पूर्णतया सीधी लाइन में चलता था। उनके द्वारा बनाई गई तमासू की पेड़ी सर्व श्रेष्ठ रहती थी। वे सबसे बड़े प्रेम से बोलते थे। पशुओं पर भी उनका बड़ा भारी प्रेम था। उनको ये बिल खोलकर खिलाते पिलाते थे। इनके बलहाथी सरोखे मस्त रहते थे। इनके सामने जो गरीब आता था उसको मुक्तहस्त होकर सब अनाज दिया करते थे। बस्ती में छोटे बड़े सभी लोग इनके जरा भी विद्वद नहीं थे। वे भगवान के यहाँ से ही साधू बनकर आये थे। वे हमको अच्छी बातें समझाया करते थे।

एक दिन हमारे खेत में दो गज लम्बा साप निकला। मैंने सर्प पर प्रेम उस मार डाला। यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। उनने मुझ वहाँ "तुमने यह अच्छा नहीं किया। यह कुलीन आदमों का काम नहीं"। अपने जीवन में केवल इतने ही बड़े शब्द उनके मुँह से सुने। इससे उनको इतना बरा लगा कि वे तुरन्त वहाँ से अन्यत्र चले गये। इतना होते हुये भी उनकी हम पर दया थी। गुड तथा शक्कर तैयार करने में वे श्रेष्ठ थे। एक दिन हमने

उनसे बिन। पूछे गुड बनाने में उनकी नकल की तो हमारी चासनी बिगड़ गई। वे सभी कामों में बहुत चतुर थे। जब हमने सुना कि ये 'स्वामी' बन गये तब मेरे हृदय में बड़ा दुःख हुआ आगा में आसू आ गये। उस समय मुझे पश्चात्ताप होता था कि मैं इतने बड़े महात्मा मे हसी में किस प्रकार कठोर बातें कह देता था और वे महात्मा चुप रहते थे। उनके साधू बनने से सारे गांव की बड़ा दुःख हुआ।

गांव में पुराने लोगों में जब चर्चा चलती थी तब सब गांव के रत्नरूप लोग यही कहते थे कि हमारे गांव का रत्न चला गया, मैं वदित एव अच्छे सत्वरूप चले गये। गरीब लोग आगा से आसू बहाकर यह कहकर रोते थे कि हमारा जीवनदाता चला गया। दूर लोग उनके बियोग से अधिक दुखी हुए थे। क्योंकि उन दोनों के लिये वे कण्ठा सागर थे।

अभी तब हममें जो कुछ अच्छी बातें हैं उसका कारण गरीबों के उद्धारक वे स्वामीजी ही हैं। हमने कभी चोरी नहीं की, मिथ्या भाषण भी नहीं किया, कुर्बान सेवन भी नहीं किया, दूसरे की बहू बेटीयों की माता और बहिन की दृष्टि से ही देखा, इसका कारण महाराज का पवित्र उपदेश है। वे कभी भी व्यय की बातें नहीं करते थे गप्पें भी नहीं लगाया करते थे। हम सबको व्यय की बातें करने से रोकते थे। स्वामी ने स्वप्न में दो तीन बार दर्शन दिये। अब जीवन में उनका दर्शन कहा होगा ?”

निकटवर्ती बृद्ध आचार्य महाराज के बाल्य जीवन से निकट परिचय रामाभीमा का बर्णन सागावे ग्रामवासी, पंचम जैन का था, जो उनके ज्येष्ठ बंधु देव गांधा (वर्धमान स्वामी) के समान ९२ वर्ष का है। श्री भीमगोडा गिरिगोडा पाटिल की अवस्था ८५ वर्ष की है। इन दोनों बृद्ध पुरुषों से आचार्य श्री के सम्बन्ध में ये बातें ज्ञात हुई —

ज्ञात प्रकृति “हम बाल्य काल से इनके साथ रहे हैं ये सदा ज्ञात प्रकृति के रहे हैं। खेल में तथा अन्य बातों में इनका प्रथम स्थान था। ये किसी स झगड़ते नहीं थे, प्रत्युत झगड़ने वाले को प्रेम से समझाते थे। ये बाल मंडली में बैठकर सबको यह बताते थे कि बुरा सन्मार्ग दर्शक काम कभी नहीं करना चाहिये। वे नदी में तैरना जानते थे। उनका शारीरिक बल आश्चर्य प्रद था।

पवित्र-जीवन उनका जीवन 'बड़ा पवित्र और निरुपद्रवी रहा है। वे कभी भी किसी की कष्ट नहीं देखते थे। वे कण्ठा भाव

पूर्वक पक्षियों की अनाज खिलाते थे । वे मेला ठेला तथा तमाशों में नहीं जाते थे । केवल धार्मिक उत्सवों में भाग लेते थे । हम लोगों को वे उपदेश देते थे कि अपना काम ठीक करना चाहिये और व्यर्थ की बातों में नहीं पड़ना चाहिये ।

मुनिराज के आने पर वे उनका कमण्डलु लेकर चलते थे और उनकी सूब मुनित भक्त सेवा करते थे । मुनिराज उनसे बहुत चर्चा करते थे । हजारों आश्रमियों के बीच में स्वामी का इन पर अधिक प्रेम रहा करता था । वे भोजन को घर में आते थे तथा शेष समय दूकान में व्यतीत करते थे । वहाँ वे पुस्तक वाचने में सलग्न रहते थे । उनकी माता का स्वभाव बड़ा मधुर था । वे हम सब लड़कों को अपने स्वाध्याय शीलता बेटे के समान मानती थी । वे हमें कहती थी "कभी चोरी नहीं करना, भूठ नहीं बोलना, अधर्म नहीं करना । उनके घर में घी दूध का विपुल भंडार रहता था ।" रामा सागावे ने कहा "मैं महाराज के साथ २४ वर्ष तक रहा उनके परिवार में बाम करता था । मैं उनके साथ उठता बैठता तथा सोता था । उनके साथ खेत को जाता था । उनका खाना मर्यादित रहता था । वे अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते थे उनके हृदय में वराग्य का भाव छुपा हुआ था । स्वामी बनने के विचार उनमें कभी प्रगट नहीं किये । जब उनमें दीक्षा ली तब हमें अपार दुःख हुआ ।" इस बात का स्मरण करते ही उस बुद्ध की आप्त्ति से अश्रु धारा वह चली तथा कंठ से स्पष्ट शब्द निकलना बंद ही गया ।

रामा ने बताया "दीक्षा लेने के बाद जब हमें कोगनोली उनका में दर्शन हुआ तब हमने कहा 'स्वामी आप संसार से पार हो गये हम अभी वहाँ के वहाँ ही हैं । इसके बाद हमारा गला भर आया ।' महाराज ने कहा "आत्मा का कल्याण करो" । वे हमें कहते थे "जिनेन्द्र की वाणी पर पूर्ण श्रद्धा रखो" । वे अन्य धर्मों की निंदा नहीं करते थे । वे खेल तमाशों में भाग नहीं लेते थे । वे दीक्षा लेने के पूर्व अपनी बहन कृष्णाबाई के साथ शिखरजी गये थे । वहाँ से वापिस आने पर एकाशन आदि का नियम लिया था । अम्पा जी मकदूम, तात्या शिवगोडा पाटील, रलम्पा चोगले (आदि-सागर स्वामी) और सातगोडा (आचार्य महाराज) मिलकर शास्त्र चर्चा करते थे । ये लोग सदा धर्मध्यान करते थे । इनके छोटे भाई कुभगोडा का मधुर स्वर ग्रंथ वाचन सुनकर महाराज के मन का वराग्य बढ़ता था ।

वैराग्य उत्पन्न करने का कारण कुमगोडा पाटील का मधुर प्रवचन था ऐसा हमें प्रतीत होता है। महाराज खादी के वस्त्र पहनते थे। उनकी माता सत्यवती चर्चा चलाती थी। अब महाराज हमारे पास से दूर हो गये हम उनका स्वन में दर्शन करते हैं। हम रोज उनका नाम जपते हैं।” रामा ने कहा ‘आमचा तीर्थंकर सातगोडा स्वामी बाहू’—शातिसागर महाराज हमारे तीर्थंकर हैं। उनकी वाणी प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति तथा आनन्द प्रदान करती थी। उन गुरुदेव को हमारा शतश प्रणाम है।”

बृद्धा का कथन रकमणी बाई, धर्मपत्नी शिवगोंडा पाटील वय ७० वर्ष, से आचार्य महाराज और उनकी माता के विषय में परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

माता की धार्मिकता उन बृद्धा ने कहा “महाराज की माता सत्यवती बाई को मैं अच्छी तरह जानती थी। वे बहुत शांत और सरल थी। उनका स्वभाव बड़ा मधुर था। वे देवता प्रकृति की थी। व्रता-चरण, धर्मध्यान, परोपकार उनके जीवन के मुख्य अंग थे।”

मितभाषी सत्यनिष्ठ उन बृद्धा माता ने महाराज के विषय में कहा “वे बड़े शांत सरल और निरुपद्रवी थे। वे हठी प्रकृति के नहीं थे। वे सत्यनिष्ठ और मितभाषी थे। दुनिया की झगड़ों से दूर रहते थे उनकी बोली सुनकर सबको प्रेम उत्पन्न होता था। उनका चरित्र बड़ा पवित्र था। वे बड़े दयालु थे। उनके खेत में जब पक्षी आकर अनाज खाते, वे तो वे पीठ करके बैठ जाते थे, जिससे पक्षीगण निर्भय होकर अनाज खाते रहे।

मुनि भक्ति जब कभी कोई जैन निरर्थक गुरु वस्ती में आते तो वे उनकी बड़ी सेवा किया करते थे। वे अपनी माता से कहते थे ‘हम मुनि बनेंगे, हम यह नहीं रहने।’ वास्तव में वे महा-पुरुष थे। उनका उद्देश सर्वप्रिय तथा कल्याणकारी होता था।”

आचार्य महाराज के सबसे छोटे भाई श्री कुमगोडा पाटील के चिरजीव श्री जिनगोंडा के पास जयसिंहपुर ग्राम में पहुंचकर ता १३ ९-५२ को हमने उनके परिवार के मध्वन्ध में चर्चा चलाई। श्री पाटील से उनकी आजी के विषय में महत्वपूर्ण चीजें विदित हुई। उनसे बताया “इस समय मेरी अवस्था ४८ वर्ष की है। मुझे अपनी आजी माँ की छोड़ी-पोड़ी स्मृति है। जब

भोजन के समय हठ करता था तब वे गृहशायी माता मनोवांछित पक्वान बना मुझे बनाया करती थी। वे मुझे अपने साथ गये माता सत्यवती तथा गंध्या को भोज के दिन मंदिर में ले जाती थी। वा मयूर वे मुझे कनटो भाषा में कहा करती थी 'बेटा हमेशा जीवन भगवान का दर्शन करना चाहिये इससे सब सुख मिलते

हैं।' वे मुझे अपनी गोद में लिये लिये फिरती थी। मैं तितना भी उपद्रव करता था वे कभी भी नाराज नहीं होती थी। यदि ताई घर का आदमी मुझे डांटता था तो आजी मा तृणी थी 'बच्चे को प्रेम से समझाना चाहिये उसे मारना पीटना नहीं चाहिये और न उस पर शोध ही करना चाहिये।' हमारे घर में मुनिराज आदिनागर, अक्कीकर, देवेन्द्रवीनि-स्वामी आदि साधु लोग प्रायः पधारा करते थे। उस समय आजी माता उनकी सेवा भक्ति तथा अहार दाग बटो मुत्ती से करती थी।

उनके चार पुत्र और एक पुत्री के बीच में एक में ही उनका नाती था, इस कारण आजी मा की मेरे प्रति ममता होना स्वभाविक बात थी। वे मुझे समझाती थी 'बेटा कभी झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना दूसरे का उपद्रव नहीं करना इत्यादि।' उनकी याणी बड़ी मयूर रहती थी। दुसरी व्यक्ति तथा निर्धन परिवार को ये सफट के समय सहायता देती थी। अतिथियों के सत्कार में उन्हें बड़ी प्रमत्तता होती थी। महमाना को दुलावर बहुत समय तक बढ़िया भोजन कराता तथा बस्त्र आदि में उज्जा सत्कार करना आजी मा का प्रिय विषय था। घर में आजी मा की बात को सब भाई बहुत मानते थे। प्रभात में मेरे पिता आदि सभी आजी मा को प्रणाम करते थे तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। वे अतिशय बुद्धिमती थी, इससे अनेक महिलाएँ उनके पास आकर बैठती थी तथा उनसे मलाह लिया करती थी।

आजी मा बड़ी उदार प्रवृत्ति की थी। मेरे साथ चलने वाले बच्चों को भी मेरे ही समान खिलाती थी। जब कभी बच्चे में सगडा होता तो वे बिना धमकाए प्रेम से समझाती थी और कुछ प्रिय पदार्थ खिला-पिलाकर सबको शांत कर देती थी। हमारे घर में शास्त्र की चर्चा चला करती थी। आचार्य महाराज ब्रती थे इससे आजी मा का उन पर विशेष ध्यान रखनी थी।" श्री पाटील ने यह भी बताया, "जब मैं

महाराज का पुण्य जीवन

पाच छः वर्ष था था तब मुझे महाराज दूकान के भीतर अपने पास सुलाते थे । वे बाष्ठासन पर सोते थे किन्तु मुझे गद्दे पर सुलाते थे । प्रभात में वे सामयिक करते थे पश्चात् मुझे जगाकर पचनमोकार मन पढ़ने को कहते थे । वे मुझे रत्नकरन्द थावकाचार के श्लोक कठ कराते थे । वे अनेक प्रकार के सद्दोषदेस मुझे देते थे । प्रभात में मैं स्कूल चला जाता था, मध्याह्न में मैं लौटकर आता था, उस समय महाराज अपने पास बिठाकर मुझे भोजन कराते थे । वे दूसरी थाली मौन से एक ही थार भोजन करते थे । जब तक उनका आहार पूरा नहीं होता था तब तक मैं उनके पास ही बैठा रहता था । दोपहर को वे मुझे कुछ देर पढ़ाते थे । पश्चात् वे मुझे विशमिता, वादाम, खोपरा, मिथी आदि आठ माह पर्यन्त रिलाते थे । आम की ऋतु में निपाणी से हाफुज आम मगाकर खिलाते थे किन्तु वे कुछ भी नहीं खाते थे । वे मेरी माता को शास्त्र बताते थे

शास्त्र रचि

इससे मेरा भा शास्त्र में प्रवीण हो गई थी । महाराज की दीक्षा के बाद मेरी माता स्त्रिया को शास्त्र सुनाती थी । सन्ध्या के समय महाराज मुझ खेत की ओर तथा । यमी वभी मंदान की तरफ घुमाने ले जाते थे । आजो भा की मृत्यु के बाद महाराज दूकान में रात्रि को शास्त्र पढ़ते थे । उस समय उनका मित्र दशरा आया करता था । वह भी मुझ पर प्रेम करता था ।

महाराज की बात का हमारे घर में बड़ा मान था । करणा शीलता

महाराज की दूकान पर पंद्रह-बीस लोग शास्त्र सुनते थे । भलगाडा पाटील उनके पास शास्त्र सुनने रोज आता था । एक रात वह शास्त्र सुनने नहीं आया नव शास्त्र "वर्चा व" पश्चात् महाराज उनके घर गये वहां न मिलने से रात में ही उसके खेत में पहुंचे । वहाँ वे बया देवते हैं कि भलगाडा ने गले में फांसी का फंदा लगा लिया है और वह मरने के लिये तत्पर है । यदि कुछ समय और देर होता तो उसकी जीवन लीला समाप्त हो गई होती । सोभाग्य से वह उस समय जीवित था । महाराज ने उसका फंदा खोला । अपनी दूकान में लेकर उसे खूब समझाया । उसकी अतर्वेदना दूर की जिससे उनने आत्महत्या का रिश्ता बदल दिया । हमारे घर में अबड शान्ति रहती थी । सब लोग महाराज के चट्टोल में रहते थे । वे, मेरी माता

तथा आजी माँ एक बार ही भोजन करते थे ।

जब महाराज मेरी माता के ममल अपनी दीक्षा लेने की बात कहते थे तब मैं आकर उनके पैरों में लिपट जाता था और कहता था, "अप्पा ! मैं कभी आपको नहीं जाने दूंगा । अभी मैं छोटा हूँ । बड़े होने के बाद आप मुझे समझा कर जावें ।" इस पर वे मुझे संतोषित करते थे ।

एक दिन की बात है महाराज शीघ्र को बाहर गये थे मंडक की प्राणरक्षा वापिस आने पर उनके हाथ के टूटे हुये लोटे को देख कर घर में पूछा गया यह लोटा कैसे टूटा ? तब उनने बताया कि एक सपने एक मंडक को खाने जा रहा था उस समय उस मंडक की प्राणरक्षा के लिये मैंने तत्काल इस लोटे को पत्थर पर जोर से पटक दिया इससे वह सांप भाग गया । श्री पाटील ने वह लोटा हमें दिखाया था ।

उन्ने कहा आजी माँ की मरणवेला पर महाराज उनकी शास्त्र सुनाकर सेवा करते थे ।

महाराज की बहिन कृष्णाबाई के विषय में उन्ने कहा, "वे बाल विधवा थी । हमारे घर में ही रहकर व्रत उपवास पूर्वक धार्मिक जीवन व्यतीत करती थी । वे अतिथि सेवा तत्पर थी । उनका मुझपर बड़ा प्रेम था ।"

मुनि ब्रह्ममानसागर महाराज के विषय में श्री पाटील ने कहा "वे बड़े परोपकारी, सेवापरायण तथा अत्यन्त दयालु थे । वे भोले स्वभाव के सत्पुरुष थे । मैं उनको बाबा कहता था । मैं महाराज को अप्पा कहता था इससे सभी लोग उनको अप्पा कहने लगे थे । वे जयसिंहपुर के बाहर खेत में जाकर एकान्त स्थान में २,३, घंटे पर्यन्त धूप कापोत्तर्ग करते थे ।" अपने माता पिता श्री कुमगोडा के विषय में उन्ने कहा "वे लोक व्यवहार में प्रवीण थे । गृहस्थी का सारा काम काज वे देखते थे तथा व्यवस्था करते थे । शास्त्र चर्चा में मेरे पिता और महाराज का खूब वादविवाद हुआ करता था । तत्व का मन्यन कार्य बड़ी सूक्ष्मता के साथ होता था । मेरे पिता जब शास्त्र पढ़ते थे तब सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक महाराज को बड़ा संतोष होता था । इससे वे उनको ही शास्त्र बाधने को कहते थे । मेरे पिता तथा माता ने सन् १९१९ में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था । उनका महाराज के प्रति अगाध प्रेम था । यदि महाराज राम थे तो वे लक्ष्मण तुल्य उनके परम भक्त और सेवक थे । वे महाराज की आर्शा अथवा इच्छा के विरुद्ध कोई

काम नहीं करते थे । मेरे पिता ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ले ली थी । उनके भी भाव मुनि बनने के थे किन्तु दुर्भाग्य से उनकी असमय में मृत्यु हो गई ।

जब महाराज ने भोज से लगभग २०, मील की दूरी पर स्थित उत्तूर ग्राम में सुल्लक दीक्षा ली तब दूसरे दिन लोगों ने जाकर कहा 'महाराज! आपने हमसे दीक्षा की कोई भी चर्चा नहीं की ?' उनसे कहा 'दीक्षा लेने की बात बोलना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है । हमारे वैराग्य के परिणाम पहले से ही थे यह बात आप लोग जानते ही हैं ।' इसके पश्चात् उन्होंने थोड़ा सा वैराग्य उपदेश दिया जो अपूर्व प्राण पूर्व था ।"

सुल्लक मुमतिसागरजी फलटण वाले सपन्न तथा लोकविज्ञ व्यक्ति थे । उनसे जब १९९६ में नादरे में आचार्य शान्तिसागर महाराज के पास से सुल्लक दीक्षा ली थी । उनकी अवस्था ६४ वर्ष के लगभग है । उनसे जब हमने आचार्य महाराज के विषय में प्रश्न किए, तब उनसे इन शब्दों में प्रकाश डाला—'मेरी रुचि अध्यात्म शास्त्र में अधिक थी । इससे अध्यात्म चर्चा करने हेतु प्रसिद्ध कारंजा के भट्टारक वीरमेन स्वामी के पास बहुधा जाया करता था । उनका मुझ पर बहुत प्रभाव था । आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व समडोली ग्राम में मुझे आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के दर्शन का सीमाग्य प्राप्त हुआ । इनके संपर्क में आते ही, मेरे मन में यह बात आई कि आज हमें सच्चे आध्यात्मविद्या के महान ज्ञानी गुरुदेव का समागम मिला है । मैं इनसे आत्मा संबंधी बहुत चर्चा किया करता था, महान ज्ञाता जिसका उत्तर सुनते ही मेरे हृदय के कपाट खुल जाते थे । इनके तत्त्वप्रतिपादन में एकान्त पक्ष का पोषण नहीं रहता था । ये स्याद्वाद की सुमधुर शैली का आश्रय लेकर आत्म स्वरूप का प्रतिपादन करते थे । इनके कथन में अनुभूति अपूर्व छटा पाई जाती थी ।

दृढ आसन रामडोली से चलकर महाराज ने कोन्नूर में चातुर्मास किया । वहां मैंने देखा कि महाराज जिस आसन से बैठते थे, उसमें परिवर्तन नहीं करते थे । एक आसन से बैठे हुए वे घंटों तत्त्वचर्चा करते थे ।

उनकी वाणी में ओज, माधुर्य, सरलता तथा सरसता का वाणी में आकर्षण अपूर्व समन्वय रहता था । उनके कथन में अपूर्व आकर्षण

पाया जाता है। उनके मुख के वाक्यों को सदा सुनते रहने की लालसा लगी रहती है।

आचार्य महाराज की व्यवहार कुशलता महत्वपूर्ण है।
व्यवहार कुशलता सन् १९३७ में आचार्य श्री ने सम्मदशिसर जी की सघ सहित यात्रा की थी, उस समय मैं उनके साथ साथ सदा रहता था। सर्व प्रकार की व्यवस्था तथा वैवाच्य आदि का कार्य घर ऊपर रखा गया था। उस अवसर पर मैंने आचार्य श्री के जीवन का पूणतया निराक्षण किया और मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा विशिष्ट आत्मा में पाये जाने वाले सभी साधोक्त गुण उनमें विद्यमान हैं। प्रवास करते हुये मार्ग में कई बार जगली जानवरों का मिलना हो जाता था, किन्तु महाराज में रचमात्र भी भय या चिन्ता का दर्शन नहीं होता था। उन जैसी निर्भय आत्मा के आश्रय से सभी मानी निर्भयता पूर्णतया भय विमुक्त रहे आते थे। जब जब मार्ग में बड़ी से बड़ी चिरति आई, तब हम आचार्य महाराज का नाम स्मरण करके पुण्यमय प्रभाव कार्य में उत्तत हो जाते थे, और उनकी जय घोल्त हुए काम करते थे। और उस समय विघ्न की घटा शीघ्र ही दूर हो जाती थी। प्रवास के अपार कष्ट हात हैं, किन्तु इन महान योगी के प्रताप में गुला का फूल रूप परिणमन हो जाता था।

दयाधर्म का महान प्रचार मार्ग में हजारों लोग आ आकर इन भुविनाथ को प्रणाम करते थे, इनने उन लोगों को मांस, मदिरा का त्याग कराया है। शिकार न करने का नियम दिया है। इनकी तनामय वाणी से अगणित लोगों ने दया धर्म के पथ में प्रवृत्ति की है।

आध्यात्मिक आकर्षण आचार्य महाराज का आध्यात्मिक आकर्षण अद्भुत है। इसीसे उनके पास से घर आन पर चित्त उनके पुनर्दर्शन को तत्काल लालायित हो जाता था। मैं सत समागम का अधिक लाभ लिया करता था।

मेरा व्रता की ओर विशेष ध्यान नहीं था। एक दिन की बात है कि अचानक आदि स्थानों की बात करते करते मेरे मुख से यह बात निकली कि यदि अतिशय क्षेत्र दहीगाव में पंचकल्याणक महोत्सव होगा तो मैं क्षुल्लक दीदा ले लूंगा। मेरे शब्द पूज्य आचार्य महाराज के कण्ठोच्चर हो गए। उनमें मेरे अतःकरण को समझ लिया। इसके पश्चात् गुरुदेव का

अकलूज में चातुर्मास हुआ। वहाँ उनका मर्मस्पर्शी उपदेश सुन सुनकर मेरी आत्मा में वैराग्य के भाव जग गये। हमने दीक्षा लेने का निश्चय किया। वहाँगाव में पचकल्याणक महोत्सव हो चुका था। सर्वव्यवस्था करने के उपरान्त हमने नादरे में क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की। यह मेरा पक्का अनुभव है, कि आचार्य महाराज के चरणों में निवास करने से जो अद्भुत शांतिदाता शांति प्राप्त होती है, वह अन्यत्र नहीं मिलती है। पहले मेरे स्नेही लोग विनोद तथा उपहास करते हुए वहाँ करते थे, कि मैं क्या दीक्षा लूँगा? किन्तु आचार्य महाराज की वीतराग वाणी ने मेरा मोहज्वर दूर करके मेरी आत्मा का उद्धार कर दिया। उनके निमित्त से हम कृतार्थ हो गये।”

भट्टारक जिनसेन स्वामी महाकवि भगवत जिनसेन की गद्दी पर उत्तराधिकारी त्यागी सत्पुरुष हैं। आजकल वे क्षुल्लक व्रती हैं। हम १३-९-५२ को महिसाल जिला सागली में उनके पास पहुँचे तथा आचार्य श्री के विषय में उनसे पूछा। तब उनसे अपना अनुभव इस प्रकार सुनाया —

“सन् १९१९ की बात है, आचार्य शांतिनागर महाराज हमारे नादणी मठ में पधारे थे। वे महा की गुफा में ठहरे थे। उस समय वे अपार तेज पुज ऐलक थे। उनके मुख पर अपार तेज था। पूर्ण शांति भी थी। वे धर्मवथा वे सिवाय अन्य पापाचार की घातों में तनिक भी नहीं पड़ते थे। मैं उनके चरणों के समीप पहुँचा, बड़े ध्यान से उनकी शांत मुद्रा का दर्शन किया। उनसे मेरे अंतःकरण को बलवान चुम्बक की भाँति अपनी ओर आकर्षित किया था। नान्दणी में हजारों जैन भज्जन नर नारियों ने आ आकर उन महापुरुष का दर्शन किया था। सभी लोग उनके असाधारण ध्यावृत्तत्व, अखंड शांति, तेजोमय मुद्रा से अत्यन्त अनुभव पूर्ण तत्त्व प्रभावित हुए थे। उनका सत्त्व प्रतिपादन अनुभव की पसीटी पर कसा, अत्यन्त मार्मिक तथा अंतःस्थल को स्पर्श करनेवाला होता था। लोग गम्भीर प्रदत्त भी करते थे किन्तु उनके तर्क सगत समाधान से प्रत्येक शकाशील मन को शांति का लाभ हो जाता था। उनकी वाणी में उग्रता या कठोरता अथवा चिड़चिड़ा-प्रेम पूर्ण उत्तर पन रचमात्र भी नहीं था। वे बड़े प्रेम से प्रसन्नतापूर्वक सयुक्त उत्तर देते थे। उस समय मेरे मन पर

ऐसा प्रभाव पड़ा कि इन समागत साधु घूटागणि को ही अपने जीवन का आराध्य गुरु बनाऊँ और उनके चरणों की निरन्तर समाराधना करूँ। उनकी अलौकिक मुद्रा के दर्शन से मुझे कितना आनन्द अलौकिक मुद्रा हुआ, कितनी शांति मिली और कितना आत्म-

प्रकाश मिला उसका मैं वर्णन करने में असमर्थ हूँ। इन मनस्वी चरित्र के आज दर्शन की जब भी मधुर स्मृति जग जाती है, तब मैं आनन्द विभोर हो जाता हूँ। उनका तपस्वी जीवन चित्त को चकित करता था। उस समय वे एक दिन के अंतराल से एक बार केवल दूध चावल लिया करते थे। वे सदा आत्म चिन्तन, शास्त्र स्वाध्याय तथा तत्त्वोपदेश में सलग्न पाये जाते थे। लोककथा, भोजनकथा, राष्ट्र-आत्मा की पोषक कथा, आदि से वे अलिप्त रहते थे। उनके उपदेश से आत्मा का पोषण होता था। उनका विषय प्रतिपादन इतना सरस और स्पष्ट होता था कि छोटे बड़े सभी के हृदय में उनकी बात जम जाती थी। उनके दिव्य जीवन को देखकर मैंने उनको अपना आराध्य गुरु मान लिया। अब मैं उनके अनुशासन तथा आदेश में रहना अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। मेरे पर उनकी बड़ी दया दृष्टि रही है।

एक धार्मिक संस्थान के मुख्य मठाधीश होने के कारण मेरे समक्ष अनेक बार भीषण जटिल समस्याएँ उपस्थित हो जाया करती थी। उस स्थिति में गुरुराज स्वप्न में दर्शन दे मुझे प्रकाश प्रदान करते हैं। उनके भाग्यदर्शन से मेरा कंठकाकीर्ण पथ सर्वदा सुगम बना है। अनेक बार स्वप्न अपूर्व पथ प्रदर्शन में दर्शन देकर उन्होंने मुझे श्रेष्ठ संयम पथ में प्रवृत्त होने को प्रेरणापूर्ण उपदेश दिया है। मेरे जीवन का ऐसा दिन अब तक नहीं बीता है जिस दिन उन साधुराज का मंगल स्मरण नहीं आया हो। उनकी पावन स्मृति मेरे जीवन की पवित्र निधि हो गयी है। उससे बड़ी शांति और अवर्णनीय आह्लाद प्राप्त होता है।

इस समय मठ की सम्पत्ति तथा उसकी आय के उपयोग के विषय में मैंने उनसे प्रश्न किया तब महाराज ने कहा "धार्मिक सम्पत्ति का लौकिक कार्यों में व्यय करना दुर्गति तथा पाप का कारण है। इन सप्त क्षेत्रों में धार्मिक द्रव्य का उपयोग करना हितकारी है —

“जिन बिम्ब जिनागारं जिन यात्रा प्रतिष्ठितम् ।

दान-पूजा न सिद्धातलेखन सप्त क्षेत्रकम् ॥”

मेरे मार्ग में विघ्नों की राशि सदा आई, किन्तु गुरुदेव के आदेशा-
नुसार प्रवृत्ति करने से मेरा काम शांतिपूर्वक होता रहा । उनका विश्वास
है कि इस कलिकाल में भगवान की वाणी के रक्षण द्वारा
जीव का हित होगा इसलिये वे शास्त्र संरक्षण के विषय में विशेष
ध्यान देते हैं । एक बार आपने आचार्य श्री को लिखा था कि भगवान

भूतबली स्वामी रचित महाधवल ग्रंथ के चार पाँच
आगम के भक्त हजार श्लोक नष्ट हो गये हैं, उस समय उनको शास्त्र
संरक्षण की गहरी चिन्ता हो गई थी । उस समय मैं सागली में था
और वर्षाकाल में ही मैं उनकी सेवा में कुन्धलगिरि पहुँचा । बंबई से
संघपति गेंदमल जी, बारामती से चट्टाल जी सराफ तथा नातेपूते से
रामचन्द्र धनजी दावडा वहाँ आये । सबके समक्ष आचार्य महाराज ने
अपनी अतवदना व्यक्त करते हुये कहा “धवल महाधवल ग्रंथ महावीर
भगवान की वाणी है । उसके चार पाँच हजार श्लोक नष्ट हो गये इससे
आगामो उपाय ऐसा करना चाहिये जिससे ग्रंथों की बहुत समय तक कोई
भी क्षति न प्राप्त हो । इसलिये इनको ताम्रपत्र में लिखाने की योजना
करना चाहिये जिससे वे हजारों वर्षों पर्यंत सुरक्षित रहे । इस पवित्र
कार्य में लाख रुपये से भी अधिक लग जायें तो उसकी परवाह नहीं
करना चाहिये ।”

उनके प्रत्येक शब्द में पवित्र साहित्य संरक्षण के प्रति
श्रुत संरक्षण का उत्कट अनुराग भरा हुआ था । मुझपर उनकी वाणी
महान कार्य का बड़ा प्रभाव हुआ मैंने (१११११) उस शास्त्र संरक्षण के
निमित्त अर्पण किया । आज वह फंड लगभग तीन लाख रु० के हो गया है ।
इस ईश्वरस्मरणीय एवं महनीय शास्त्र संरक्षण का ध्येय पूज्य महाराज को है ।

कलिकाल की कृपा से धर्म पर बड़े बड़े संकट आये । बड़े बड़े
समझदार लोग तक धर्म को भूल अधर्म का पक्ष लेने लगे, ऐसी विकट
स्थिति में भी महाराज की दृष्टि पूर्ण निर्मल रही और उनने अपनी सिन्धु
तुल्य गम्भीरता को नहीं छोड़ा । वे सदा यही कहते रहे हैं कि ‘जिन
वाणी सर्वज्ञ भगवान की वाणी है । वह पूर्ण सत्य है । उसके निरुद्ध
यदि सारा ससार हो तो भी हमें कोई डर नहीं है ।’ उनकी ईश्वर भक्ति

और पवित्र तपश्चर्या से बड़े से बड़े सबट नष्ट हुए हैं ।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उनके पुण्य चरणों की सच्ची भक्ति तथा उनके आदेश उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मीय शांति तथा लौकिक सद्बुद्धि भी मिलती है । यह अतिशयोक्ति नहीं है । इस सत्य को मैंने अनेक गुरु भक्तों के जीवन में चरितार्थ होते हुये देखा है । उनका महान व्यक्तित्व तथा पुण्यजीवन इस पापपूर्ण पञ्चमकाल में धर्मप्रचुर चतुर्थ काल की पुनरावृत्ति सा करता हुआ प्रतीत होना है । आज के युग में वे धर्म के सूर्य हैं दया के अवतार हैं । मैं उनके चरणा को सदा प्रणाम करता हूँ ।”

महिसाल ग्राम के पाटील श्री मलमोडा केशमोडा आचार्य दिव्य दृष्टि महाराज के निकट परिचय में आये हैं । दृढ़ पाटील महोदय ने बताया— “महाराज १९२२ के लगभग हमारे यहाँ पधारे थे । उस समय उनका अपूर्व प्रभाव दिखाई पड़ा था । उनकी शांत और तपोमयमूर्ति प्रत्येक के मन को प्रभावित करती थी । उस समय की एक बात मुझे याद है एक दिन आचार्य महाराज ने अपने साथ में रहने वाले ब्रह्मचारी जिनमोडा (जिनदास समझोलीकर) को अवस्मात् आदेश दिया कि तুম तुरत यहाँ से समझोली चले जाओ । वे ब्रह्मचारी जी गुरुदेव के आदेश को सुनते ही चकित हो गये । उनका मन गुरुचरणों के निकट रहने को लालायित था फिर भी उन्हें यहाँ आदेश मिला कि वहाँ एक मिनट भी बिना रुके अपने घर चले जाओ । इस आदेश का कारण अज्ञात था । नेत्रों से अश्रु धारा बहाते हुए उक्त ब्रह्मचारी जी ने प्रस्थान किया । जब वे समझोली पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि कुछ बदमाशा ने उनकी भनेजन के पति को खेत में कत्त कर दिया है । उस समय यह बात ज्ञात हुई कि महाराज के दिव्य ज्ञान में इस भविष्यत् कालीन घटना का कुछ संकेत आ गया था । ऐसे योगियों की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? उनके दर्शन से आत्मा पवित्र होती है ।”

ब्रह्मचारी जिनदास समझोलीवाले उस समय से महाराज के निकट सम्पर्क में रहे हैं जबकि महाराज ब्रह्मचारी के रूप में अपने घर में रहा करते थे । अतः इनके स्मरण देना भी उपयोगी है —

“मैं महाराज के निकट परिचय में उस समय से हूँ जब वे अपने घर में त्यागी के वेप में रहते थे तथा ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी थे । वे सदा सादी का ही उपयोग करते थे । वे अपना समय ध्यान तथा अध्ययन में लगाते थे । गृह में निवास करते हुए भी वे वास्तव में सन्यासी सद्गुरु

गृहस्थ सन्यासी थे। उनकी भाषा मित होती थी किन्तु उसका अमित प्रभाव पड़ता था। उनका खानपान सादा तथा सात्विक था। उनकी बात समाज में तथा जनता में बड़ी विश्वसनीय सात्विक जीवन मानी जाती थी। प्रत्येक के हृदय में उनके पवित्र व्यक्तित्व के प्रति अपार आदर तथा श्रद्धा का भाव पाया जाता था। वे स्वभाव से उदार, दयालु तथा तेजस्वी रहे हैं। उनका गृहवास जल से भिन्न कमल की वृत्ति का स्मरण कराता था। उनका शास्त्र प्रवचन तथा शंका समाधान बहुत ही आकर्षण तथा भाषिक था, इस कारण मेरा हृदय उनकी ओर अधिक आकर्षित हुआ। उनके परिवार के सभी व्यक्तियों के साथ मेरा निकट संबंध रहा है। वे सभी धार्मिक रहे हैं।

अद्भुत तपस्या महाराज की तपश्चर्या अद्भुत रही है। कागनोली में लगभग ८ फुट लंबा स्थूलकाय सर्वराज उनके शरीर में दो घंटे पर्यंत लिपटा था। वह सर्प भीषण होने के साथ ही अधिक वजनदार भी था। महाराज का शरीर अधिक बलशाली था इससे वे उसके भारी बोझ को धारण कर सके। दो घंटे बाद मैं उनके पास पहुंचा। उस समय वे अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे। किसी प्रकार का खेद चिन्ता तथा मलीनता उनके मुख मंडल पर नहीं थी। उनकी स्थिरता सबको चकित करती थी। महाराज गोकर्ण के पास एक गुफा में प्रायः ध्यान किया करते थे। उस निर्जन स्थान में शेर आदि भयंकर जंतु विचरण करते थे। प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को उपवास तथा अखंड मौन धारण कर ये गिरिचन्द्रा में रहते थे वहां अनेक बार व्याघ्र आदि हिंसक जंतु इनके पास आ जाया करते थे। किन्तु साम्यभाव भूषित ये मुनिराज शेर सर्प आदि का निर्भीक हो आत्मध्यान में सलग्न रहते थे। गोकर्ण के पास बौध्दर की गुफा में सर्प ने आकर इन पर उपसर्ग किया था किन्तु ये मुनिराज अपने साम्यभाव से विचलित नहीं हुए। महाराज जब ध्यान में निमग्न होते हैं तब उनकी तलश्चिन्ता को बज्रपात द्वारा भी भंग नहीं किया जा सकता। एक समय वे अषाढ़ बदी अष्टमी को समडोली में अष्टमी की संध्या से जो ध्यान में बैठे तो नवमी के प्रभात तक नहीं उठे। इस बजे तब लोगों ने प्रतीक्षा की उस समय चिन्तातुर भक्तों ने दरवाजा तोड़कर भीतर घुस

कर देखा तो महाराज ध्यान में ही मग्न पाये गये । उस समय हल्ला होने के कारण उनकी समाधि भंग न हुई थी ।

अन्य सम्प्रदाय के बड़े बड़े साधु और मठाधीश इनके अन्य साधुओं पर चरित्र और तपस्या के वैभव के आगे सदा झुकते रहे प्रभाव हैं । एक बार जब महाराज हुबली पधारे उस समय लिगायत सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य सिद्धाष्ट स्वामी ने इनका दर्शन किया, और यह-इनका भक्त बन गया । उसने अपने शिष्यों से कहा था कि जीवन में ऐसे ही महापुरुष को अपना गुरु बनाना चाहिये ।

एक समय कोल्हापुर के समीपवर्ती इस्लामपुर में मुसलिम जनता पर अपूर्व अधिकारी ने महाराज के आम सड़क से निकलने के प्रभाव विषय में आपत्ति उपस्थित की थी । छण भर में आस पास के ग्रामों में यह समाचार फैल गया कि इस्लामपुर के मुसलिम आचार्य महाराज के प्रति दुष्ट व्यवहार करना चाहते हैं । थोड़े समय में दस हजार से अधिक ग्रामीण जेनी चारों ओर से लाठी आदि लेकर आ गये । उस समय वह इस्लामपुर जैनपुर सा दिखता था । मुसलिम लोग अपने अपने घरों में घुस गये । उन्हें अपनी जान बचाना कठिन पड़ गया । तत्काल मुसलिम अधिकारी ने अपने नादिरशाही भाईर को वापिस लिया । आचार्य शान्तिसागरजी का जयजयकार करते हुए उस स्थान से बिहार हुआ । महाराज का पुण्य-प्रताप ऐसा है कि बड़ी से बड़ी विपत्ति शीघ्र ही दूर होकर गौरव की वृद्धि करने वाली और आत्म हत्या बन जाती है । उनकी अपार सामर्थ्य को मैंने अपने के पाप से बचाया जीवन में अनुभव किया । उन्होंने मेरे प्राण बचाए मुझे जीवन दान दिया अन्यथा मैं आत्महत्या के दुष्परिणाम स्वरूप न जाने किम यॉनि में जाकर ब्रष्ट भोगता फिरता । बात इस प्रकार है—

वेदना व्यक्त करदी । उनने मुझे बड़ी हिम्मत दी और आत्मघात करने को महान पातक बता उसे रोका । उनने मुझसे कहा 'घबराओ मत तुम्हारा रोग जल्दी दूर हो जावेगा । तुम प्रभात, मध्याह्न तथा सायंकाल के समय शुद्धतापूर्वक ऐकीभाव स्तोत्र का पाठ करो ।' तीन चार सप्ताह के बाद वह रोग दूर हो गया और मैं गुरु प्रसाद गुरु प्रसाद से न केवल उस रोग से मुक्त हुआ बल्कि आत्मघात की विपत्ति से बचा ।" यह हाल बहुत लोगों को मालूम है । स्तवनिधि क्षेत्र में पाँयसागर महाराज ने आचार्य महाराज की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए बताया था कि गुरु प्रसाद से ब्रह्मचारी जिनदास यह रोग मुक्त हुआ था ।

वार्तालाप

1 2 3

एक बार मैंने महाराज से उनके गुरु के बारे में पूछा था। तब उन्होने बताया था कि "देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से हमने जेठ सुदी १३ शक संवत्, १८३७

देवेन्द्र कीर्ति
मुनि का
वचन

में क्षुल्लक वीक्षा ली थी तथा फाल्गुन सुदी एकादशी शक संवत् १८४१ में मुनि दीक्षा ली थी। वे बाल ब्रम्हचारी थे, सोलह वर्ष की अवस्था में सेनगण की गद्दी पर सट्टारक बने थे। उस समय उन्होंने सोचा कि

गद्दी पर बैठे रहने से मेरी आत्मा का क्या हित सिद्ध होगा, मुझे तो क्षण्टा से मुक्त होना है इसलिये दो वर्ष बाद उन्होंने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण की थी। उन्होने अपने जीवन भर आहार के बाद उपवास तथा उपवास के बाद आहार रूप पारणा, धारणा का वृत्त पालन किया था।" आचार्य महाराज

आदिसागर
मुनि का
वचन

ने एक आदिसागर मुनिराज के विषय में बताया था कि "वे बड़े तपस्वी थे, और सात दिन के बाद आहार लेते थे। शेष दिन उपवास में व्यतीत करते थे। यह कब उनका जीवन भर रहा। आहार में वे एक ही वस्तु

ग्रहण करते थे। वे प्रायः जंगल में रहा करते थे। जब वे गन्ने का रस लेते थे तब गन्ने के रस के सिवाय अन्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते थे। उनमें बड़ी शक्ति थी। आम की ऋतु में यदि आम के रस का आहार मिला तो वे उस पर ही निर्भर रहते थे। उनकी आध्यात्मिक पदा को गाने की आदत थी। वे बनड़ी में पदों को गाया करते थे।

जब वे भोज में आते थे और हमारे घर में उनका आहार होता था तब व उस दिन हमारी दुकान में ही रहत थे। वहा ही वे रात्रि का सोते थे। हम भी उनके पाम में सो जाते थे। हम उनकी निरंतर वैधावृत्ति तथा सेवा करते थे। दूसरे दिन हम उनको दूधगंगा, वेदगंगा नदी के संगम के पास तक पहुँचाते थे। बाद में हम उन्हें अपने कंधे पर रखकर नदी के पार ले जाते थे।"

मैंने पूछा—“महाराज ! एक उन्नत काय वाले पुरुष को अपने कंधे पर रखकर ले जाने में आपके शरीर को बड़ा कष्ट हाता हागा ?”

महाराज ने कहा— हम रज मात्र भी पीडा नहीं हो बरदा भार उन्हें ऐसा मानूम होता था जैसा कोई गृहस्थ ए

कंधे पर रखकर नदी के पार ले जाता हो। महाराज ने बताया था 'हम आदि-सागर महाराज की तपस्या से बहुत प्रभावित थे। उनको हम आहार कोनूर की गुफा दान देते थे। उनके कमण्डलु में हम जल भरते थे। उनके साथ रहा करते थे। वे कोनूर के पास की गुफा में रहते थे। वहाँ मुनियों के निवास योग्य संकडो-गुफायें हैं। एक बार मैं आदि सागरस्वामी ध्यान करते थे, तब शेर आया था।"

मैंने पूछा—"महाराज शेर के आने पर भय का संचार तो हुआ होगा?"

महाराज ने कहा—"नहीं। कुछ देर के बाद शेर वहाँ से चला गया। शेर का आगमन मैंने पूछा—"महाराज! निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के बाद बिहार करते हुए कभी शेर आपके पास आया था?"

महाराज ने कहा—"हम मुक्तगिरि के पर्वत पर रहते थे, वहाँ शेर आया करता था और प्रतिदिन पास में बहने वाले झरने का पानी पीकर चला जाता था। श्रमणवेलगोला की यात्रा में भी शेर मिला था। मोनागिरि क्षेत्र पर भी वह आया था। इस तरह शेर आदि बहुत जगह आते रहते हैं इसमें महत्व की कौन सी बात है?"

मैंने कहा—"महाराज साक्षात् यमराज की मूर्ति व्याघ्रराज के आने पर घबड़ाहट होना तो साधारण बात है?"

महाराज ने कहा—"डर किस बात का किया जाय। जीवन भर हमें कभी किसी वस्तु का डर नहीं लगा। जब तक कोई पूर्य का घेर न हो अथवा उस जानवर की बाधा न हो तब तक वह नहीं सताता है।"

महाराज ने मुक्तगिरि से चडवानी जाते हुए मत्पुंडा के निर्जन वन की एक घटना बताया कि "बिहार करत समय उस निर्जन वन में सध्या हो गयी। हम ध्यान करने का बैठ गये। साथ व आवक वहाँ डेरा लगाकर ठहर गये। उस समय जब शेर आया, तब आवक घण्टा गये। एव ता हमारी कुटी के भीतर घुस गया था। कुछ काल के पश्चात् वह शेर बिना हानि पहुँचाये जंगल में चला गया।"

महाराज का लौकिक जीवन वास्तव में अलौकिक था—। लोग रुन देन के व्यवहार में इनके वचनों को अत्यधिक प्रामाणिक मानते थे। इनकी वाणी रजिस्ट्री किये गये सरकारी कागजातों के समान विश्वसनीय मानी जाती थी। इनके सच्चे व्यवहार पर वहाँ ने तगा दूर दूर के लोग अचानक

मुग्ध थे। मैंने पूछा—“महाराज हिन्दी भाषा के प्राचीन पंडितों ने लिखा है
 खेती के विषय कि श्रावक को खेती नहीं करना चाहिये उसे सोना चांदी
 में चर्चा भागिक, मोती आदि का व्यापार करना चाहिये। क्या
 जैन धर्म में बेचारे गरीबों का कोई ठिकाना नहीं है ?
 खेती आदि का व्यवसाय तो राष्ट्र का जीवन है ?

महाराज बोले, “खेती का हमें स्वयं अनुभव है, उसमें परिणाम
 जितने सरल रहते हैं उतने अन्य व्यवसाय में नहीं रहते हैं। अन्य धन्धों में
 बगुले की तरह ध्यान रहता है, वह चुपचाप घंठा रहता है किन्तु उसका
 ध्यान सदा ग्राहक की ओर लगा रहता है। ग्राहक दिखा कि वह उससे पीछे
 लगा। इन धंधों में हजारों प्रकार का मायाचार होता है। गृहस्थ गद्दी पर
 चुपचाप बंठे हुए ग्राहक का ध्यान करता है। बड़ी-बड़ी गद्दी थाले हजारों
 लोग मायाचार पूर्वक धन को लेते हैं। सोना चांदी के व्यापार में भी ऐसे
 ही भाव रहते हैं।”

खेती के विषय में कुरल काव्य का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है उसमें
 कृषि के महत्व पर बड़ी मार्मिक बात कही गई है—

“उनका जीवन सत्य जो, करते कृषि उद्योग ।
 और कमाई अन्य की खाते बाकी लोग ।
 निज कर को यदि खींच ले कृषिसे कृषक समाज ।
 गृह त्यागी तब साधु के टूटे सिर पर गाज ।
 जीतो नौदो खेत की खाद बड़ा परतत्व ।
 सींचे से रक्षा उचित, रखती अधिभ्रम महत्व ।
 नहीं देखता भालता कृषि को रहकर गेह,
 गृहिणी सम तब छूटती, कृषि भी कृश कर देह ।

पाप का कारण मनोवृत्ति है। गाचार्य सोमदेव ने अपने ‘यशस्तिलक’
 महाकाव्य में लिखा है “परिणामविशेषवश जीवघात न करता हुआ
 धीवर की तरह पाप का वध करता है किन्तु विज्ञान कृषि में जीवघात होते
 हुए भी प्राणघात की मनोवृत्ति न धारण करने के कारण धीवर के सामान
 पाप को नहीं प्राप्त करता है।” ‘स्वयम् स्तोत्र’ में स्वामी समतभद्र ने

१ अघ्नन्नपि भवेत्पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक्

अभिध्यातं विशेषेण यथा धीवरकर्मकी ॥ अध्याय ७, पृ. ३३५

लिखा है—“कि आदिनाथ भगवान ने प्रजा को कृपि आदि कर्म का उपदेश दिया था ।”

महाराज की तीर्थभक्ति अपूर्व है । तीर्थस्थान के दर्शन करना तथा वहाँ निर्वाणप्राप्त आत्माओं का स्तवन करना तो अपूर्व तीर्थ भक्ति प्रत्येक भक्ति की कृति में दृष्टिगोचर होता है, वि तु तीर्थस्थान जाकर अपार विशुद्धि प्राप्त करके आत्मा को समुन्नत बनाने के लिए सधम भाव की शरण कितने व्यक्ति लिया करते हैं ? आचार्य महाराज जब शिखरजी की वदना को लगभग बत्तीस वर्षों की अवस्था में पहुँचे थे, तब उनमें नित्य निर्वाण भूमि की स्मृति में विषय प्रतीक्षा लेने का विचार किया और शिखर जी की जीवन मर के लिए धी तथा तेल भक्षण का त्याग कर वदना से त्याग दिया । घर आते ही इन भावि-मुनिनाथ ने एक-बार और नियम भोजन की प्रतीक्षा ले ली । रोगी व्यक्ति भी अपने शरीर रक्षण के हेतु कड़ा समय पालने में असमर्थ होता है, किन्तु इन प्रचंड-बली सत्पुरुष का रसना इन्द्रिय पर अकुशल लगाने वाला महान त्याग वास्तव में अपूर्व था । शास्त्र में रसना इन्द्रिय तथा स्पर्शन इन्द्रिय को जीतना बड़ा कठिन कहा गया है । उपरोक्त प्रकार के अनेक आहार की लोलुपता त्याग कराने वाले नियम द्वारा इनने रसना इन्द्रिय को अपने अधीन कर लिया तथा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय की । ये यथार्थतः पूर्ण बालब्रह्मचारी हैं, जिनमें कभी भी स्त्री-संबन्ध नहीं किया ।

रसना इन्द्रिय की लालसा छोड़कर कठोर समय पालन करना साधारण कार्य नहीं है । हमने एक प्रसिद्ध त्यागी महाराज का दर्शन किया है, जो तर्क के बड़े पंडित थे किन्तु गुणतः व श्रेष्ठ रसों का स्वाद लेने वाले भाजनानंद महाराज थे । उत्तम श्रावक का व्रत धारण करने हुए भी वे इस बात का आगम में प्रमाण प्राप्त करने का उद्योग करते थे, कि कहीं भी दुबारा कम से कम जल लाने की अनुज्ञा मिल जाय । उनका मदेशा लवर हम एक बार आचार्य महाराज के पास पहुँचे थे, किन्तु आगम का अवलोकन न मिलने से उनकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी थी । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि रसना इन्द्रिय की लालसा का त्याग करना साधारण बात नहीं है । लौकिक श्रेष्ठ ज्ञान संपादन करने वाला प्रवाह विद्वान भी समय की साधारण परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाता है । यथार्थ में वासनाओं पर विजय सरल बात नहीं

किन्तु आगामी मानवता के उद्धार का पवित्र भार उठाने की शक्ति की परीक्षा भी की थी । वाजप्रतिष्ठा का रोगी निर्धन भी थोड़े से भार को उठाने में असमर्थ बन नौकर या वाहन को खोजा करता है किन्तु ये श्रीमंत भीमगोंडा पाटील के अनन्य स्नेह के पान आत्मज्ञ अपनी प्रतिष्ठा, एक जित् चरण भक्त निर्धनमाता को पीठ पर लादकर पर्वत की वन्दना कराना, मानते थे । ऐसी ही घटनाओं से अंतःकरण की पवित्रता और महत्ता का अनुमान होता है ।

राजगिरी की
स्मरणीय
घटना

ऐसी ही घटना राजगिरि की पंच पहाडियों की यात्रा में हुई । वहाँ की वन्दना बड़ी कठिन लगती है । कारण वहाँ का मार्ग पत्थरों के चुभने से पीड़ाप्रद होता है । जैसे यात्री शिखरजी आदि की अनेक बार वन्दना करते हुए भी नहीं थकता है वैसे स्थिति राजगिरि में नहीं होती है । यहाँ पाचों पर्वतों की वन्दना एकदिन में करने वाला अपने को घन्यचाप देता है महाराज ने देखा कि एक पुरुष अत्याधिक थका गया है और उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं । उस पहाड़ी पर बढ़ते समय बलवान आदमी भी थकान तथा कठिनता का अनुभव करता है, किन्तु इन बली महात्मा ने उस पुरुष को पीठ पर रखकर वन्दना करा दी । इससे वाह्य दृष्टि वाले इनके शारीरिक बल की महत्ता आकते हैं, किन्तु हमें तो इनके अन्तःकरण तथा आत्मा की अपूर्वता एवं विशालता का परिज्ञान होता है ।

आज भी निर्वाण स्थल की ओर उनकी आत्मा विशेष आकर्षित हो रही है । उनसे सन १९४५ में फलटण के चातुर्मास के समय हमसे पूछा था कि समाधि के योग्य कौनसा स्थान अच्छा होगा ?

मैंने कहा—“महाराज ! मेरे ध्यान में श्रवणवेलगीला का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है जहाँ भगवान् बाहुबलि की त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति विराजमान है ।”

महाराज ने कहा—“हमारा ध्यान निर्वाणभूमि का है ।”

मैंने कहा—“इस दृष्टि से दीर भगवान् का निर्वाण स्थान पावापुरी अधिक अनुकूल होगा ।”

महाराज ने कहा—“वह स्थान बहुत दूर है, अब हमारा वहाँ पहुँचना संभव नहीं दिखता । इसका विशेष कारण यह है कि हमारे नेत्रों में कान बिंदु (Glcoma) नाम का रोग हो गया है जो अधिक चलने से

है। निकटससारी जीवों की ऐसे कार्यों में स्वतः प्रवृत्ति हुआ करती है। वास्तव में बात यह है कि जब जीव की आत्मा का रस आने लगता है, तब जीम का रस स्वयं दूर होने लगता है। शिखरजी की वदना ने महाराज को समय के शिखर पर चढ़ने के लिए त्पामी बनने की प्रबल प्रेरणा तथा महान विशुद्धता प्रदान की।

शिखरजी की वदना की एक मधुर घटना का शिखरजी को महाराज के जीवन से सम्बन्ध है, उससे उनके अह्वार मधुर घटना विहीन उज्ज्वल जीवन का अवबोध जगजाल में जकड़े हुए मानव को भी हुए बिना न रहेगा। पर्वत दूर से प्रिय और रमणीय लगते हैं किन्तु उनपर आरोहण करते समय उनकी भीषणता का परिचय मिलता है। सम्मेलनशिखर का पर्वत २५ वर्ग मील विस्तार वाला है। वहाँ की सर्वोन्नत शिखर ४५०० फुट ऊँचाई पर है। शरीर में अल्पशक्ति होने पर या बुढ़ापा आने पर वदना पैदल करना असम्भव सा दिखता है, किन्तु दृढ़ निश्चय, अपार जिन शक्ति के कारण ये महिला तब पैदल वदना पर लिया करती है, जिन्होंने एक मील जाने के लिए सवारी का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। पर्वत पर चढ़ते समय अत्यन्त अल्प सामान छे जाते हैं, जो सम्भवतः यह बात सूचित करता है कि उन्नति के शिखर पर जाने के लिए अल्प परिग्रह रखना आवश्यक है। पर्वत पर जाते समय अति आदमी को शरीर का भार भी असह्य लगता है। मोटा आदमी जल्दी थककर अपने फूले शरीर के कारण कष्ट का अनुभव करता है और दुबले पतले लोग फूल की तरह हल्के मन की अनुभूति करते हुए शैलशिखर पर चढ़ जाते हैं। पर्वत की वदना के हेतु जाती हुई मातायें अपने शिशुओं का भार उठाने में भी अपार कष्ट का अनुभव करती हुई नीचों का सहारा ढूँढा करती हैं। उस वदना में प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी चिन्ता में व्यस्त रहा करता है। आचार्य श्री पर्वत पर चढ़ रहे थे। उनकी कठिना पूर्ण दृष्टि एक वृद्धा माता पर पड़ी जो प्रयत्न करने पर भी आगे बढ़ने में असमर्थ हो गई थी। थोड़ा चरलती थी किन्तु फिर ठहर जाती थी। पैसा इतना न था कि पहले से ही डोली का प्रबन्ध करती। उस माता को देखकर इन महामना के हृदय में वात्सल्य भाव उत्पन्न हुआ। इनने माता को आश्वासन देते हुए धैर्य बघाया और अपनी पीठ पर उनको बैठाकर पर्वतराज की कठिन वदना करा दी। हमें तो यह प्रतीत होता है कि उस समय पर्वतराज पर उस माता का भार ही इनने नहीं उठाया

किन्तु आगामी मानवता के उद्धार का पवित्र भार उठाने की शक्ति की परीक्षा भी की थी। आज प्रतिष्ठा का रोगी निर्धन भी थोड़े से भार को उठाने में असमर्थ बन मौफर या बाहन को लोका करता है किन्तु ये श्रीमंत भीमगौडा पाटील के अनन्य स्नेह के पात्र आत्मज अपनी प्रतिष्ठा, एक जिन चरण भवत निर्धनमाता को पीठ पर लादकर पर्वत की वंदना कराना, मानते थे। ऐसी ही घटनाओं से अंतःकरण की पवित्रता और महत्ता का अनुमान होता है।

राजगिरी की
स्मरणीय
घटना

ऐसी ही घटना राजगिरि की पंच पहाडियों की यात्रा में हुई। वहा की वन्दना बड़ी कठिन लगती है। कारण वहा का मार्ग पत्थरों के चुभने से पीड़ाप्रद होता है। जैसे यात्री शिखरजी आदि की अनेक बार वन्दना करते हुए भी नहीं थकता है वैसे स्थिति राजगिरि में नहीं होती है। यहा पाचों पर्वतों की वन्दना एकदिन में करने वाला अपने को धन्यवाद देता है महाराज ने देखा कि एक पुष्प अत्याधिक थक गया है और उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं। उस पहाड़ी पर चढ़ते समय बलवान आदमी भी थकान तथा कठिनता का अनुभव करता है, किन्तु इन बली महात्मा ने उस पुरुष को पीठ पर रखकर वन्दना करा दी। इससे बाह्य दृष्टि वाले इनके शारीरिक बल की महत्ता आफते हैं, किन्तु हमें तो इनके अंतःकरण तथा आत्मा की अपूर्वता एवं विशालता का परिज्ञान होता है।

आज भी निर्वाण स्थल की ओर उनकी आत्मा विशेष आकर्षित हो रही है। उनसे सन १९४५ में फलटण के चातुर्मासि के समय हमसे पूछा था कि समाधि के योग्य कौनसा स्थान अच्छा होगा ?

मैंने कहा—“महाराज ! मेरे ध्यान में श्रवणबेलगोला का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है जहाँ भगवान् बाहुबलि की त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति विराजमान है।”

महाराज ने कहा—“हमारा ध्यान निर्वाणभूमि का है।”

मैंने कहा—“इस दृष्टि से बीर भगवान् का निर्वाण स्थान पावापुरी अधिक अनुकूल होगा।”

महाराज ने कहा—“वह स्थान बहुत दूर है, अब हमारा वहाँ पहुँचना संभव नहीं मिलता। इसका विशेष कारण यह है कि हमारे नेत्रों में काच बिंदु (Glaucoma) नाम का रोग हो गया है जो अधिक चलने से

बढ़ता है। उससे नेत्रों की ज्योति मन्द होती जा रही है। यदि दृष्टि की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई तो हमें समाधि मरण लेना होगा।”

इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए उनने कहा था, देखने की शक्ति नष्ट होने पर ईर्ष्यामिति नहीं बनेगी, भोजन की शुद्धता का पालन नहीं हो सकेगा, पूर्ण अहिंसा धर्म का रक्षण असम्भव हो जायगा। इससे चतुर्विध आहार का त्याग करना आवश्यक होगा।”

अब सात वर्ष व्यतीत होने के बाद इस वर्ष अगस्त सन् १९५२ में रोगद चातुर्मास के समय उनने पर्यूपण पर्व में कहा—“हमारा विचार अब चातुर्मास पूर्ण होने के अनन्तर निर्वाण भूमि की ओर समाधिके विषय जाने का हो रहा है। हमने दो वर्ष पूर्व गजपथा में सावधानी विजयदशमी के दिन १२ वर्ष के भीतर समाधीमरण का उत्कृष्ट नियम लिया था, ऐसा ही नियम हमने वर्धमानसागर को भी दिया है। इस काल से अधिक हमारा शरीर नहीं टिकेगा। उसकी भी अवस्था ९२ वर्ष की हो गई। वह भी अधिक समय तक नहीं रहेगा, इससे हमने उसे भी उक्त सदेशा भिजवाया था।”

व्यवहार धर्म अपने नव रोग के विषय में उनने कहा ‘हमें अपना कल्याण पालन हुए निश्चय करना है। हम व्यवहार क्रियाओं को पालते हैं, किन्तु हमारा ध्यान निश्चय पर अधिक है। भगवान के ज्ञान पर दृष्टि में जो हमारा भवितव्य है, वह होगा। उस पर अटल श्रद्धा है, इससे हम निर्वाणभूमि में जाने का निश्चय कर रहे हैं। निर्वाण भूमि में रहकर जीवन व्यतीत करना और अंत में वहाँ ही समाधि करने का हमारा इरादा है।” इससे उनकी अपार तीर्थ-भक्ति स्पष्ट होती है।

एक दिन आचार्य श्री, सेठ चट्टाल सराफ के वस्ती से दूर बारामती के सुन्दर उद्यान में सन् १९५१ के ग्रीष्म काल में विराजमान थे। वहाँ का प्रशान्त और पवित्र वातावरण बड़ा प्रिय लगता था। एक दिन मैंने पूछा—“महाराज आपके निवृत्त संपर्क में आने वाले अनेक व्यक्ति रह होंगे उनमें उल्लेखनीय स्थान किम्का था ?”

मित्र के जीवन महाराज ने कहा—“हमारा एक मित्र था। उसका पर प्रकाश नाम रद्रप्पा था। वह लगायत जाति का था। बड़ा श्रीमंत था। उसके यहाँ तवाखू का व्यापार होता था। भोज में तवाखू का मुख्य व्यापार है। रद्रप्पा उत्कृष्ट सत्यभाषी था।

वह भोजन के उपरांत अपने घर के कमरे में चुपचाप बैठा रहता था । किसी से व्यर्थ का वचनालाप नहीं करता था । प्रायः जंगल में जाता था और ध्यान करता था । वह हमसे हृदय खोलकर बातें करता था । उससे हमारी खूब चर्चा चलती थी । नीतिकार कहता है, "समान-शील-व्यसनेषु मैत्री"—समान शील स्वभाव वालों से मित्रता होती है यह बात महा पूर्णतया चरितार्थ होती है । कारण दोनों सत्य निष्ठ और दोनों ही ईश्वर के भक्त, उनमें घनिष्ठता होना स्वाभाविक है ।

सत्य की आदत महाराज ने कहा,—“वचन से ही हमारी सत्य का पक्ष लेने की आदत रही है । हमने कभी भी असत्य का पक्ष नहीं लिया । अब तो हम महाव्रती मुनि हैं । हम अपने भाद्यों अथवा कुटुम्बियों का पक्ष लेकर बात नहीं करते थे । सदा न्याय का पक्ष लेते थे चाहे उसमें हानि हो । इस कारण जब कभी व्यापार में, लेनदेन में वस्तुओं के भाव आदि में झगडा पड़ जाता था तब लोग हमारे कहे अनुसार काम करते थे । रुद्रप्पा हमारे पास आया करता था । हमारी घमें की चर्चा होती थी । हम कभी लौकिक चर्चा या विचार नहीं करते थे ।”

इस सत्यनिष्ठा, पुण्य-जीवन आदि के कारण भोजवासी इनको अपने अंतःकरण का देवता सा समझा करते थे । इनके प्रति जनता का अपार अनुराग तब ज्ञात हुआ, जब इन मनस्वी सत्यपुरुष ने मुनि बनने की भावना से भोज भूमि की जनता को जन्मभूमि में छोड़ा था । आज भी भोज के पुराने लोग उनको भी वंदित गौरव गाथा को कहते हुए बताते हैं “कि हमारे यहाँ का सूर्य चला गया ।” जगत पूज्य व्यक्ति भी अपने स्थान में बसित नहीं होता, ऐसी शक्ति है । किन्तु ये प्रकृतिसिद्ध महात्मा उस लोकोक्ति के ग्रंथन-विमुक्त थे, कारण इनकी जन्मभूमि की जनता इनको देवता तुल्य, पूज्य तथा वदनीय मानती थी । सर्वत्र यह नियम नहीं देखा जाता ।

अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत है—अपनी जन्म भूमि तथा अपने घर को छोड़कर सर्वत्र पैगम्बर पूजा जाता है ।^१ आचार्य श्री के जीवन में यह बात नहीं है । वे छोटे से कुटुम्ब तथा स्नेही जनो का साथ छोड़कर जगत भर के

१ “A Prophet is not without honour, save in his own country and in his own house”—New Testament, Mathew XIII, 57.

प्रति मैत्री की भावना धारण कर जब वे विश्वबंधु बनने गए उस समय भोजग्राम तथा आसपास के हजारों व्यक्ति इस प्रकार रोते थे, मानो उनका सगा बंधु ही जा रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि पूज्य श्री का जीवन प्रारंभ से ही असाधारण तथा सद्गुणों का निकेतन रहा है।

पूज्य श्री का लोक का अनुभव भी महान है। वे लोकानुभव तथा न्यायोचित सद् व्यवहार के विषय में एक बार कहने लगे—

लोक के विषय में अनुभव "मनुष्य सर्वथा खराब नहीं होता। दुष्ट के पास भी एकाध गुण रहता है। अतः उसे भी अपना बनाकर सत्कार्य का संपादन करना चाहिए। व्यसनी के पास भी यदि महत्व की बात है तो उससे भी काम लेना चाहिए" उनसे यह भी कहा "ऐसी नीति है कि मनुष्य को देखकर काम कहना और वृक्ष को देखकर आराम करना चाहिए।" उनके निकट संपर्क में आने वाले जानते हैं, कि आध्यात्मिक जगत के अप्रतिम महापुरुष होते हुए भी यथोचित लोकव्यवहार तथा सज्जन धर्मात्माओं को यथायोग्य सम्मानित करने में वे अतीव दक्ष हैं। अन्य धर्मवाला व्यक्ति भी आकर उनके चरणों का दास बन जाता है।

एक बार महाराज अहमदनगर (बम्बई प्रांत) के पास से निकले। वहाँ कुछ श्वेताम्बर भाइयों के साथ एक श्वेताम्बर साधू भी थे। वे जानते थे कि 'महाराज दिगम्बर जैनधर्म के खूटी के सदृश पक्के श्रद्धावी हैं। वे हम लोगों को मिथ्यात्वी कहे बिना न रहेंगे। कारण नेमिचन्द्र मधुर व्यवहार सिद्धान्त चक्रवर्ती ने हमें मशय मिथ्यात्वी कहा है।' उन श्वेताम्बर साधु ने मन में अशुद्ध भावना रखकर प्रश्न किया "महाराज! आप हमको क्या समझते हैं?" उस समय महाराज ने कहा "हम तुम्हें अपना छोटा भाई समझते हैं।" इस मधुर रसपूर्ण उत्तर से उनसे अपने को कृतार्थ अनुभव किया। महाराज ने कहा— "पहले हममें तुममें अन्तर नहीं था पश्चात् कारण विशेष से पृथक्पना हो गया, अतः तुम भाई ही तो हैं।" यदि आचार्य श्री के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति विवेकपूर्ण ऐसी बात न कहता तो कलह, विद्वेष और संश्लेश जनक वातावरण सहज ही हो जाता। वाणी का संयम महाराज में अद्भुत है। जब वे बोलते हैं, तब श्रोताओं की इच्छा यही होती है कि इनके मुखसे अमृतवाणी का प्रवाह बहता ही जावे और उसे कर्णपात्र द्वारा पीते चले जावें।

१९४६ अगस्त की बात है, एक दिन महाराज कवलाणा में विराजमान

पे । एक ब्रह्मचारी बन्धु पधारे । उनके मुख से मधुर मधुर बातों की सुनकर मैं महाराज से दूसरे दिन बोल उठा, “महाराज ! ब्रह्मचारीजी बड़े सज्जन धर्मात्मा हैं ।”

महाराज ने कहा—“मराठी भाषा में कहावत है ‘जैसा बोले तैसा चले’ त्याची वदावी पाउले’—जैसा बोले वैसा यदि चले, तो उसके चरणों की बदनाम करना चाहिए ।” इस मधुर उत्तर से सब बात समझ में आ गई ।

इसी प्रकार एकवार एक सज्जन आए और बड़ी बड़ी लच्छेदार जमीन आसमान एक करने वाली बातें कहने लगे । उस समय मैंने महाराज से कहा “महाराज वे बड़े प्रभावशाली व्यक्ति मालूम पड़ते हैं ।”

महाराज बोले—“तुम नहीं जानते बड़ी बातें बरने से ही आवामी बड़ा नहीं बन जाता है ।” उनकी लोच प्रवीणता को देखकर चित्त में यही आता है कि वे विशाल जैनसंघ के संरक्षक वृद्ध पितामह ही हैं ।

महाराज की वाणी में मार्मिकता, मधुरता, तथा सज्जल विनोद का भी समिश्रण रहता है । इसी से उनके पास शुष्क जीवन नहीं दिखता । ऐसा लगता है मानो हम शांति और कल्याण के सिंधु के समीप ही बैठे हैं । सन् १९४९ के भादा के पर्व में मैं कवलाना गया था । वहाँ पूज्य श्री का चातुर्मास था । वहाँ महाराज बड़ोदा गायकवाड के द्वारा बनवाए गए बड़े बड़े भवन हैं । पहले बाल्यकाल में स्वर्गीय सयाजीराव गायकवाड एक जैन परिवार के यहाँ नौकरी करते थे । पश्चात् पुण्यादय से वे बड़ोदा सरकार के वंशज निकले । अनेक शुभचिन्हों को देखकर उनको बड़ोदा का राज्यासन प्राप्त हुआ । उनने अपने जन्म स्थान में बड़े बड़े विशाल सुन्दर भवन निर्माण करवाए । अतः कवलाना छोटासा ग्राम होते हुए भी अनेक बड़े बड़े भवनों समन्वित हैं । उस कवलाना की असाधारणता ही है, जो वहाँ का एक बालक एक बड़ा राज्य का शासक बना । उस कवलाना में आचार्य महाराज ने जैनियों की विशेष सख्या न होते हुए भी, अपने दो चातुर्मास व्यतीत किये, यह उस भूमि की विशेष आकर्षकता कहना चाहिए । वहाँ के एक बड़े भवन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा जी विराजमान की गई थी । अब पूज्य महाराज के पुण्य प्रभाव से एक भव्य जिनालय वहाँ बन गया है ।

मार्मिक विनोद वहाँ व्रतों में शास्त्र वाचन का आदेश गुरुदेव ने मुझ दिया था । एकदिन मैं शास्त्र पढ़ रहा था । जिस गद्दी पर मैं बैठा था उसके ऊपर चढ़ेवा लगा हुआ था । पास में एक ओर पूज्य आचार्य

वज्रमयान बंदोर रहती है, किन्तु हमारे जीवों की व्याधा के लिए वसु मादि पुष्प से भी मुहूर्तर वृत्ति वाली हो जाती है। विलियम हेजिलिट ने लिखा है—“हमारी सबसे छोटी अंगुली में थोड़ी भी पीटा होने पर वह अधिक बिना तथा आकुलता उत्पन्न करता है जितना की हमारी मानव समाज के शोषाचार्य मानवा का ध्वंस उत्पन्न नहीं करता है”। जब जीवन में अहिंसा की मूर्ध्न ज्योति आलोक नहीं पहुँचाती तब तक ऐसी सर्वोर्ण स्वार्थ की कोटरी से निबलार विशाल विश्व के प्राण में आने का न साहस होता है और न मनोबल ही उत्पन्न होता है।

द्रष्टा घटना को देखकर समक्ष में आया नि करुणा के परमाणु पूज से स्वार्थपूर्ण होने के कारण ही मुनि को मंगल रूप मानना तो ठीक है ही, जर्जर द्रव्य शरीर को भी मंगल रूप क्यों माना है। ‘निलोपपण्णति’ में आचार्य मन्त्रिभूषण ने लिखा है—

आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का देह द्रव्य मंगल है। जिस शरीर के कण कण म कटा का रस भरा हुआ हो वह शरीर अमंगल कैसे माना जायगा ?

कहिं कहिं घ्रात माई साधु शब्द का प्रयोग स्वेच्छावश जिस किसी के गायु के विषय में आनि लिपि लगा उसे ववनीय, तथा मंगलमूर्ति मानकर ‘जमा होए गय माहुण’ का अर्थ रागी द्वेषी देवों के आराधक, शिष्यामय धर्म के शपासक, तथा लोन मूडताओं आदि के जाल में जकड़ी अवयव वृत्तिवाली ग्रहीत मिथ्यात्वों आत्मा करते हैं, क्योंकि उनके नाम के आगे गायु का पुछल्ला लगा है। परमार्थ दृष्टि से जो वैज्ञानिक दृष्टि सपन्न होए अहिंसा के पालन करुणामूर्ति, वीतरागता के आराधन तथा अद्वैत मूर्त्युण सपन्न निग्रन्थ हागे थे ही यद्यपि में साधु पद के बाध्य हागे। व्यवहारवशता नरराज को गजराज कहने में भी आपत्ति नहीं की जाती है।

मुनिर्मा की करुणावृत्ति द्वारा परार्थ के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी हुआ परती है। दूसरे जीव की व्याधा दूर होती है, तथा करुणा का छत्र तानने वाले।

१ “The Least pain in our little finger gives us more concern and uneasiness than the destruction of millions of our

पक्षी पर वरुणा पूज्य श्री की मध्याह्न की सामायिक पूर्ण हुई । उसके बाद मैंने देखा कि महाराज एक पक्षी के छोट बच्चे के विषय में बड़ा ध्यान लगा पार्श्ववर्ती एक ग्रामीण कर्मचारी से बातें कर रहे थे । पूछने पर ज्ञात हुआ कि महाराज उस पक्षी के रक्षण की भावना से युक्त थे । शास्त्र पढ़ने में आया, तब मैंने पूछा—“महाराज जी यह क्या है ?”

महाराज ने कहा—‘यह पक्षी का बच्चा । इस भवन के ऊपर से नीचे आ गया । यहाँ वहाँ अपनी माता से विमुक्त हो भटक रहा था । यदि इसकी रक्षा न की जायगी तो कौआ वगैरह पक्षी इसको मार डालेंगे ।’

मैंने पूछा—“महाराज तो आप क्या करते हैं ?”

उत्तरने कहा—“हम उस पक्षी की उसी जगह रखवा रहे हैं जहाँ से वह नीचे आया है । वहाँ आठ लगवा दी है जिससे वह इधर ना गिरे ।” थोड़ी देर में नर्सनी द्वारा व्यवस्था की गई । वह पक्षी सकुशल वहाँ रखा गया । इनमें से पक्षी की माता आई और उसे उठाकर ले गई । तब महाराज बोले “देखो ! पक्षी की माँ आ गई और अब उसके जीवन की चिन्ता नहीं रही ।”

यह घटना देखकर मेरी समझ में आया कि इन पूज्य पुरुषों की आत्मा यथार्थ में विशाल और महान हो जाती है जो छोटे छोटे प्राणियों की पीड़ा देख कर अनुवम्पा भाव युक्त हो सद्य हो जाती है । विशाल आत्मा (Enlarged Self) इसी का नाम है । जीवों का घात करने वाले मांस भक्षी, शिकारी, मुरा पापी, लेखनी के बल पर एक-दूसरे को बड़ी और श्रेष्ठ आत्मा लिखते हैं यह तो आग्रों के अंधे का नयनमुख नामकरण सदृश है । सच्ची करुणा ऐसे ही महापुरुषों के अंतःकरण में व्याप्त रहती है । जो स्वार्थी आत्मा रहती है वह अपने सीमित स्वार्थ तथा आनन्द के सिवाय दूसरे जीवों की व्यापार और वेदना की ओर तनिक भी संवेदनाशील नहीं होती है । ऐसे जीव ही अपनी विद्वत्ता द्वारा जाल बिछा भोले लोगों को भ्रात करते हैं । गो भक्षण की लालसा जब जगती है तब ये विश्व के शांतिविधायक लोग कह बैठते हैं कि गाय में आत्मा नहीं है । जब यह स्वार्थवृत्ति और बढ़ती है तब अपने राष्ट्र के मानवों के सिवाय राष्ट्रान्तर के मनुष्यों में भी प्राण का सद्भाव न मान मनमानी शूरता का व्यवहार करना अंतर्राष्ट्रीय न्यायलय में अपराध नहीं माना जाता है । आचार्य श्री सदृश सच्चे निस्वार्थी महापुरुष बिरले हैं जिनकी आत्मा स्वयं के कष्टों को सहन करने के लिए

महाराज और दूसरी ओर पूज्य मुनि नेमिसागर महाराज विराजमान थे। इतने में वर्षा प्रारंभ हो गई। मकान के छप्पर में से कुछ जलकण महाराज के ऊपर गिरने लगे। उस समय महाराज ने मुझे देखकर कहा—“पंडितजी! तुम कैसे आनंद से सुन्दर आसन पर बैठे हो! हमारा आसन देखो?” इतना कहते उनके चेहरे पर मधुर स्मित आया, वे चुप हो गए।

मैंने कहा—“महाराज! आपके उपस्थित रहते हुए इस शास्त्र की गद्दी पर बैठने का हमारा अधिकार नहीं है, यह तो आपकी ही आज्ञा है, जो मुझे यहां बैठने का अवसर मिला है।”

दूसरे वर्ष सन् १९५० में गणपंध्या में दशलक्ष पर्व में मैं शास्त्र पढ़ रहा था। भादों सुदी दशमी थी। संयम का वर्जन चल रहा था। रङ्गुरचित दशलक्ष अपभ्रंश भाषा की पूजा का अर्थ मैं करता था और उस पर ही विवेचन चलता था। मैंने पढ़ा—“संयम विन जीवन सयल सुगं।” इसका अर्थ किया ‘संयमके बिना सारा जीवन शून्य होता है।’ “संयम विन घडिय म इक्क जाहु”—‘संयम के बिना एक क्षण भी न जाने दो।’

आचार्य महाराज बोले—“पंडितजी एक बार फिर से कहो।”

गुरुदेव की आज्ञानुसार मैंने पुनः पढ़ दिया कि संयम बिना सारा जीवन शून्य रहता है। इतने में मेरी दृष्टि पूज्य श्री के स्मित और कारण्य भाव भूषित मुत्त मंडल पर पड़ी। मैं तत्काल समझ गया कि इस वाक्य को पुनः पढ़वाने का भाव महाराज का हम सरीखे पड़े लिखे लोगों का ध्यान संयम की महत्ता को समझ कर उस पुण्य पथ पर चलने की प्रेरणा करने का था। मैं उनके गर्भीर भाव को विचार कर उनके समक्ष नतमस्तक हो गया और कहा—“महाराज! जब तक सौभाग्य का सूर्य नहीं उगता, संयम घातक कर्मपटल नहीं हटता, तब तक यह सौभाग्य कहा! आपके चरणों के समीप इसीलिए आते हैं कि आत्मा की मलिनता दूर होकर जीवन उज्ज्वल बन जावे।” महाराज का यह कहना—“एक बार फिर से पढ़ो” रह-रह कर याद आता है, कि उन महान् आत्मा ने कितना मार्मिक, मधुर इंगित सत्यपथ पर चलने का किया था।

मुनिवृत्ति द्वारा सयमी का सर्व जीवों के साथ मैत्री का सुमधुर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उसका प्रत्यक्षीकरण १९५१ के पर्वपणपर्व के समय आचार्य श्री के बारामती चातुर्मास में हुआ, जब कि मुझे वहीं लगभग एक माह रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

पक्षी पर कदना पूज्य श्री की मध्याह्न की सामायिक पूर्ण हुई । उसके बाद मैंने देखा कि महाराज एक पक्षी के छोटे बच्चे के विषय में बड़ा ध्यान लगा पार्श्ववर्ती एक ग्रामीण कर्मचारी से बातें कर रहे थे । पूछने पर ज्ञात हुआ कि महाराज उस पक्षी के रक्षण की भावना से युक्त थे । शास्त्र पढ़ने में आया; तब मैंने पूछा—“महाराज जो यह क्या है ?”

महाराज ने कहा—‘यह पक्षी का बच्चा । इस भवन के ऊपर से नीचे आगया । यहाँ वहाँ अपनी माता से वियुक्त हो भटक रहा था । यदि इसकी रक्षा न की जायगी तो कोआ बगैरह पक्षी इसको मार डालेंगे ।’

मैंने पूछा—“महाराज तो आप क्या करते हैं ?”

उनने कहा—“हम उस पक्षी को उसी जगह रखवा रहे हैं जहाँ से वह नीचे आया है । वहाँ बाड़ लगवा दी है जिससे वह इधर ना गिरे ।” थोड़ी देर में नर्सनी द्वारा व्यवस्था की गई । वह पक्षी सकुशल वहाँ रखा गया । इतने में पक्षी की माता आई और उसे उठाकर ले गई । तब महाराज बोले “देखो ! पक्षी की माँ आ गई और अब उसके जीवन की चिन्ता नहीं रही ।”

यह घटना देखकर मेरी समझ में आया कि इन पूज्य पुरुषों की आत्मा यथार्थ में विशाल और महान हो जाती है जो छोटे छोटे प्राणियों की पीड़ा देन कर अनुकम्पा भाव युक्त हो सदय हो जाती है । विशाल आत्मा (Enlarged Self) इसी का नाम है । जीवों का घात करने वाले मांस भक्षी, शिकारी, गुरा पापी, लेखनी के बल पर एक-दूसरे को बडी और श्रेष्ठ आत्मा लिखते हैं यह तो आत्मा के अंधे का नयनसुख नामकरण सदृश है । सच्ची कदना ऐसे ही महापुरुषों के अंत करण में व्याप्त रहती है । जो स्वार्थी आत्मा रहती है वह अपने सीमित स्वार्थ तथा आनन्द के सिवाय दूसरे जीवों की व्याप और वेदना की ओर तनिका भी संबेदनाशील नहीं होती है । ऐसे जीव ही अपनी विद्वत्ता द्वारा जाल बिछा भोले लोगों को भ्रात करते हैं । गो भक्षण की लालसा जब जगती है तब ये विश्व के शांतिविधायक लोग कह बैठते हैं कि गाय में आत्मा नहीं है । जब यह स्वार्थवृत्ति और बढ़ती है तब अपने राष्ट्र के मानवों के सिवाय राष्ट्रान्तर के मनुष्यों में भी प्राण का सद्भाव न मान मनमानी क्रूरता का व्यवहार करना अंतर्राष्ट्रीय न्यायलय में अपराध नहीं माना जाता है । आचार्य श्री सदृश सच्चे निस्वार्थी महापुरुष बिरले हैं जिनकी आत्मा स्वयं के मष्टों को सहन करने में लिए

व्यसमान बटोर रहती है, किन्तु दूसरे जीवों की व्यथा के लिए कुसुमादि पुष्प से भी मृदुतर वृत्ति वाली हो जाती है। विलियम हेजिलिट ने लिखा है—“हमारी सबसे छोटी अंगुली में थोड़ी भी पीड़ा होने पर वह अधिक चिन्ता तथा आकुलता उत्पन्न करता है जितना की हमारी मानव समाज के कोट्यावधि मानवों का ध्वंस उत्पन्न नहीं करता है”। जब जीवन में अहिंसा की शुभ ज्योति आलोक नहीं पहुँचाती तब तक ऐसी संकीर्ण स्वार्थ की कोठरी से निकलकर विशाल विश्व के प्रांगण में आने का न साहस होता है और न मनोबल ही उत्पन्न होता है।

इस घटना को देखकर समझ में आया कि कृष्णा के परमाणु पुंज से सर्वांग पूर्ण होने के कारण ही भुनि को मंगल रूप मानना तो ठीक है ही, उनके द्रव्य शरीर को भी मंगल रूप क्यों माना है। ‘तिलोपपण्णत्ति’ में आचार्य धर्तवृषभ ने लिखा है—

आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का देह द्रव्य मंगल है। जिस शरीर के कण कण में कर्मा का रस भरा हुआ हो वह शरीर अमंगल कैसे माना जायगा ?

कोई कोई भ्रात भाई साधु शब्द का प्रयोग स्वेच्छावश जिस किसी के लिए लगा उसे बंदनीय, तथा मंगलमूर्ति मानकर ‘णमो लोए सब्ब साहूण’ का अर्थ ‘रागी द्वेपी देवों के आराधक, हिसामय धर्म के उपासक, तथा लोक भूढ़ताओं आदि के जाल में जकड़ी जघन्य वृत्तिवाली ग्रहीत मिथ्यात्वों आत्मा करते हैं, क्यों—

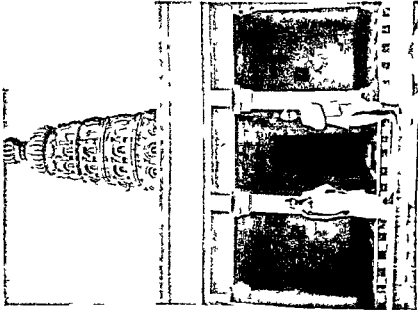
• कि उनके नाम के आगे साधु का पुलत्का लगा है। परमार्थ दृष्टि से जो वैज्ञानिक दृष्टि संपन्न थोष्ट अहिंसा के पालक कर्णामूर्ति, वीतरागता के आराधक तथा अठ्ठाईस मूलगुण संपन्न निर्ग्रन्थ होंगे वे ही यथार्थ में साधु पद के वाच्य होंगे। व्यवहारवश तो नरराज को गजराज कहने में भी आपत्ति नहीं की जाती है।

मुनियों की कर्णावृत्ति द्वारा परार्थ के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी हुआ करती है। दूसरे जीव की व्यथा दूर होती है, तथा कर्णा का छन तानने वाले •

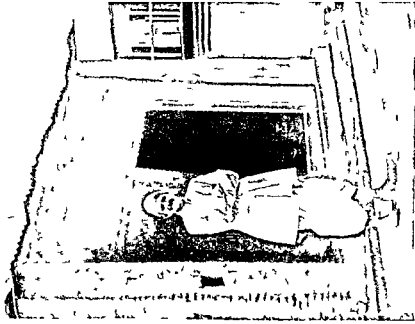
“The Least pain in our little finger gives us more concern and uneasiness than the destruction of millions of our fellow being.”



परिवार चित्र — (बाईं ओर से) महाराज के जेष्ठ बंधु श्री देवगोडा (वर्तमान मुनि वर्धमान सागरजी); स्व कनिष्ठ भ्राता कुमगोडा, छोटी बहिन स्व कुल्लाबाई ।



दिगंबर जैन मंदिर भोज (दाहिनें ओर लेप्पन खड़े हैं) ।



दूकान जहा आचार्य श्री बैठे करते थे (सामने लेखक

को भी स्वतः सुखद शीतल छाया प्राप्त होती है। शेक्सपियर ने लिखा है, "यह पात्र तथा दाता दोनों को आनंद प्रदान करती है।" अज्ञान बढ़ बड़े बड़े पड़े लिखे लोग तक ऐसी भूल कर जाते हैं जो इन परम कृष्णामूर्ति प्राणियों को अभय और आनंद दान करने वाली विभूतियों को स्वार्थी (Selfish) सोचते हैं। प्रतीत होता है उनके आदर्शवत् जीवन में वे स्वयं अपना प्रतिबिम्ब देखकर विवेचन करने बैठ जाते हैं। ये महर्षि कृष्णामय प्रवृत्ति करते हैं सदा सशक्त कल्याण की कामना करते हुए यही भावना करते हैं "क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु" सब जीवों का कल्याण हो। हिंसा की वंतरिणी में डुबकी लगाने वाले, परमअहिंसकों का सम्यक् रूप से स्वरूप नहीं समझ पाते हैं, जैसे अनेक निशा में विचरण करने वाले पक्षी सूर्य की विश्वप्रकाशन सामर्थ्य को समझने में अक्षम रहते हैं।

अहिंसात्मक
प्रहरी

एक दिन वारामती में नीरा नदी की नहर के तट पर से आचार्य महाराज जा रहे थे। मेरे साथ प्रोफेसर सुदील भी था। चलते चलते महाराज वहाँ कुछ बालकों को स्नान में तत्पर देखकर रुक गये और प्रेम भरी बोली में कहने लगे "यहा तुम लोगों को सम्बलकर रहना चाहिए। एक बार एक आदमी की मौत हो चुकी है।" उनको जगाते हुए इन अहिंसात्मक प्रहरी ने आगे प्रस्थान किया। मार्ग में काटा पड़ा था उसे वहाँ से अलग करते हुए ये आगे बढ़े, ताकि वह कंटक दूसरों को पीड़ादायक न बन जाय। यदि कोई निरन्तर इनके पास रहकर इनकी कृष्णामयी प्रवृत्ति को देखकर पुस्तक लिखे तो एक महाभारत ग्रंथ इनकी काश्यपपूर्ण जीवन गाथा से पूर्ण होना असंभव नहीं है। प्रयत्न करने पर भी कठोरता, क्रूरता, निर्दयता, का दर्शन नहीं मिलेगा। हा! दुर्भविनाओ, पाप प्रवृत्तियों तथा कापायोंके संहार करने में ये अवश्य अत्यन्त निर्दयतापूर्वक प्रवृत्ति करते हुए अरहंत के शरण में जाते हैं—जो अरहंत भगवान् उत्कृष्ट अहिंसा के अधिपति होते हुए शोध, माया, मान, लोभ, मोहादि विकारों के विनाशक हैं। महाराज जीवों को जो व्रतादि का उपदेश देते हैं, प्रेरणा करते हैं, उसके मूल में यह कृष्ण तथा कल्याण करने की कामना है। एक दिन वारामती में सेठ गुलाबचंद खेमचंद जी

व्रती बनाने के
मूल में कृष्ण
की भावना

१ "It is twice blest; It blesseth him that gives and him that takes." 'Merchant of Venice.' IV, I.

सागली ने पर्यूपण पर्व में आचार्य श्री के उपदेश तथा प्ररणा से व्रत प्रतिमा ग्रहण करने का निश्चय किया। उस दिन के उपदेश में अनेक मार्मिक एवं महत्वपूर्ण बातें कहते हुए महाराज ने कहा था “तुम लोगो की असयमी वृत्ति देखकर हमारे मन में बड़ी दया आती है कि ये लोग जीवन के इतने दिन व्यतीत हो जाने पर भी अपने कल्याण के विषय में जागृत नहीं होते। मनुष्य भव और उसका एक एक क्षण कितना मूल्यवान है यह नहीं विचारते हैं।” आचार्य महाराज ने कहा “शास्त्र में लिखा है जो विषयो का उपभोग किए बिना उनको त्यागते हैं वे श्रेष्ठ हैं और जो भोगकर पश्चात् त्यागते हैं वे मध्यम हैं, किन्तु जो विषयो को भोगते ही रहते हैं और छोड़ने का नाम नहीं लेते हैं वे अधम हैं।” उनने कहा “व्रती बनने में डरना नहीं चाहिये। व्रत में ब्रुटि आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। मुनियों तक को प्रायश्चित्त कहा गया है। बड़ा दोष हो जाने पर भी उसका प्रायश्चित्त किया जाता है।”

व्रत करने में जो भयभीत होते हैं उनको साहस प्रदान करते व्रत के समर्थन में हुए महाराज बोले “जरा धैर्य से काम लो और व्रत धारण समर्थ वाणी करो। डर कर बैठना ठीक नहीं है। ऐसा गुयोग अब फिर कब आयागा ? कई लोगों ने व्रता का दिकराल रूप बता बताकर लोगो को डरा दिया है, और भोषणता की कल्पना बस लोग अव्रती रहे आते हैं, यह ठीक नहीं है।” उनने यह भी कहा “हमारे भक्त, शत्रु मित्र मुधारक कोई हो हम सबको व्रत ग्रहण का उपदेश देते हैं। व्रत करने वाला आगामी देवायु का नियम से बध करता है। जिसने अन्य नरक तिर्यंच तथा मनुष्य आयु का बध कर लिया है, उसके व्रती बनने के भाव नहीं होते हैं।”

जो लोग सोचते हैं समय पालन करने में कष्ट होता है उनके सदेह को दूर करते हुए पूज्य श्री ने अपनी मार्मिक देशना में कहा—“ससार के कामो में जितना श्रम, जितना कष्ट उठाया जाता है, उसकी तुलना में व्रतिक बनने का कष्ट नगण्य है। लेन देन, व्यापार, व्यवसाय आदि में, द्रव्य के अर्जन करने में कितना श्रम किया जाता है ? और उसका फल कितना थोड़ा सा मिलता है। इतने दिन सुख भोगते भोगते सतोष नहीं हो पाया तो श्रेष्ठ थोड़ी सी जिदगी में, जिसका जरा भी भरोसा नहीं है, तुम कितना सुख भोगोगे ? कितना सचय करोगे ? व्रतिक बनकर देवपर्याय में तुम्हें इतना सुख मिलेगा, जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। देवो को दशांग कल्पवृक्षो

और भी कितने शारीरिक मानसिक कष्ट नहीं होते । घन के लिए, कटुश्च के लिए गृहस्थ को क्या क्या कष्ट नहीं उठाने पड़ते ? क्या क्या प्रपञ्च नहीं करना पड़ते हैं ? अठ में कुछ वस्तु हाथ नहीं लगती है । किन्तु थोड़ासा व्रत जोष का कितना उद्धार करता है, इसके प्रमाण प्रथमानु योग रूप आगम में भरे हुए हैं । उस दिन के विवेचन को सुनकर गीत हुआ, कि व्रत, दान की प्रेरणा के पीछे कितना प्रेम, कितना ममत्व, कितनी उज्ज्वल कल्याण की भावना गुरुदेव के अतःकरण में भरी हुई है । सुनकर ऐसा लगा मानो कोई पिता विपत्ति करने वाले अपने पुत्र से आपह कर कह रहा हो, 'बेटा ! विपत्ति मत करो, मेरे पास आजो में तुझे अमृत रस पिलाऊंगा ।'

आगम की आज्ञा व्रताचरण के विषय में गुरुदेव से किसी ने पूछा—
 रुडि से बड़ी है
 "महाराज ! रुडिबश लोग तरह तरह के प्रतिवध व्रतों में उपस्थित करते हैं, ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ?" आचार्य महाराज बोले — "व्रतों के विषय में शास्त्राज्ञा को देखकर चलो । रुडि को नहीं । शास्त्राज्ञा ही जिनेंद्राज्ञा है । लोक की आज्ञा रुडि है । धर्मात्माजीव सर्वज्ञ जिनेंद्र की आज्ञा को बताने वाले शास्त्र को अपना मार्ग दर्शक मानेगा, दूसरी वस्तुओं को मोक्ष मार्ग के लिए कैसे पथप्रदर्शक मानेगा ?" इस विषय में सोमदेवसूत्रि का यह आदेश भी ध्यान में रखना श्रेयस्कर है कि उन लौकिक विधि विधानों का शुभ सादर स्वागत कर सकते हो, जो तुम्हारी पवित्र श्रद्धा तथा व्रताचरण में बाधा नहीं डालते ।

'यशस्तिलक' में लिखा है कि गृहस्थ को भोगशून्य समय व्रतरहित नहीं बिताना चाहिए । जब तक विषयो का उपभोग नहीं होता है, तब तक भी गृहस्थ को उनभोगों का पुनः प्रवृत्ति पर्यन्त त्याग देना हितकारी है । कारण देववश यदि सहसा प्राणान्त हो जाय तो यह त्याग देवगति का कारण हो जायगा ।

गृहस्थ का कर्तव्य है कि जब तक विषयादिक के सेवानार्थ प्रवृत्ति नहीं होती है, तब तब के लिए मैं उनका त्याग करता हूँ, इस प्रकार त्रिया करने वाला, गुह्य का नाम स्मरण पूर्वक निद्रा लेना आदि काम करे । देववश यदि आयु का क्षय हो गया तो यह त्याग महान फल का दाता हो जायगा । अतः भोगरहित समय को व्रत के बिना व्यतीत न करे ।

सत्कार्यों के करने में प्रायः दीर्घसूत्रता का दोष चिपका रहता है। आदमी सहज सरल भाव से सोचा करता है 'आज नहीं कल, कल नहीं परसो उस काम को कर लेंगे।' जब 'कल' 'आज' के रूप में आता है तो यह आगामी 'कल' के ऊपर अपने निश्चय का भार लाद दिया करता है। इसे धर्म के काम को शीघ्र करने की इच्छा दुर्देववश नहीं होती क्योंकि यह जैसे दूसरे कार्यों को आवश्यक मानता है वैसे आत्मकल्याण की वार्ता को नहीं सोचता है इसी से सुभाषितकार इस आत्मा को समझाते हैं कि विद्या और धन का संपादन करते समय अपने आपको अजर-अमर सदृश समझकर ज्ञानलाभ और धनसंचय को करो, किन्तु धर्म के विषय में विलकुल ही भिन्न नीति का आश्रय लो। यह समझो कि मृत्यु ने मेरी छोटी पकड़ ही ली, अतः एक क्षण भी धर्म विहीन, व्रताचरण शून्य नहीं जाने दो।

आचार्यश्री भी कह रहे हैं "भविष्य का क्या भरोसा अतः शीघ्र आत्महित में आत्मा के कल्याण के लिए व्रत ग्रहण करलो।" इस प्रसंग में 'पद्मपुराण' का एक वर्णन बड़ा भास्मिक है—सीता के भाई भामहल अपने कुटुम्ब परिवार में उलझे हुए यह सोचते थे यदि मेने जिनदीक्षा लेली तो मेरे वियोग में मेरी रानियो आदि का प्राणान्त हुए बिना रहेगा, अतः कठिनता से त्याग जाने योग्य, कठिनाई से प्राप्तव्य सुखो को भोग आगे कल्याणपथ में प्रवृत्ति करूंगा। मैं भोगों से उपाजित अत्यन्त महान पाप को भी सुध्यान रूपी अग्नि के द्वारा क्षणभर में ही भस्म कर डालूंगा। मैंने अब यह कर लिया, अब यह कर रहा हूँ तथा आगामी यह करूंगा, ऐसा सोचते हुए उसने सहारार्य आगत आयु की बात की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इतने में क्या हुआ — वह अपने सात गजिल महल के भीतर विराजमान था। ऊपर से वज्रपात हुआ, विजली गिरी और इस प्रकार भामहल-मृत्यु की गोद में सो गया। दीर्घमूत्रीप्राणी आगामी होने वाली चंष्टाओं को भलीभाँति जानते हुए भी आत्मा के उद्धार के कार्य में नहीं लगता है।

इस क्षणभर में विनष्ट होने वाले दग्ध शरीर के लिए विषयवासना में उलझा जीव हनाश होकर क्या नहीं करता है? जो जीव सन्मान आदि सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करता है और अपने हित में लगता है वह असफल होकर नष्ट नहीं होता। ऐसा हजारों शास्त्रों का ज्ञान किस काम का जिनसे आत्मा को शान्ति न मिले। जिस एक पद के द्वारा आत्मा शान्ति

का प्राप्त करता है वह सतीष का वारण है । प्रतिदिन विविध अनेक वार्यों से आकुलित चित्तवाला दुखी प्राणी का जीवन प्रमाद से हाथ में रखे हुए रत्न के समान नष्ट होता है ।^१

प्रतीत होता है ऐसी ही पवित्र विद्या गुरुदेव के हृदय को प्रकाशित कर चुकी थी । इसीसे वे शिखरजी की बदना के बाद से धारणा पारणा रूप व्रत, उपवास करने में सलग्न हो गये थे । उनका असली व्यापार समय की साधना था । घर का व्यापार तो नाम मात्र का था । असली व्यापार महाराज ने बताया था कि “हमारे पूर्वजों ने क्षत्रिय वृत्ति तथा पाटीलगीरी के सिवाय कभी व्यापार नहीं आराधना किया था । यह तो पीछे से व्यापार का कार्य हमारे भाई ने प्रारम्भ किया था । ”

मैंने पूछा—‘महाराज ! जब आप घर में एक पारणा रूप व्रत करते थे तब कुटुम्बी लोग रोकते नहीं थे ? ’

महाराज ने कहा—“हमने कह दिया था ‘यदि तुमने हमें रोका तो हम बाहर चले जायेंगे’ इसलिए हमारे कार्य में कोई अतराय नहीं बनता था । ”

सैतीस वर्ष की अवस्था में उनके परिणाम विशेष समय की ओर लगे, पिता जी की मृत्यु हो चुकी थी इसलिए वैराग्य का वेग वृद्धि को प्राप्त हो गया था । पिता जी ने कहा था ‘तुम मेरे प्राणों के आधार हो । तुम्हारी धार्मिक प्रवृत्ति देख मुझे बड़ा सतीष होता है । मेरी यही इच्छा है कि मेरे जीवन भर तुम घर में रहो, मेरे बाद जैसा दिखे वैसा करना ।’ इनने राम की भाँति पिता के आदेश का पालन किया । वनवासी राम का मन अयोध्या को देखता था क्योंकि वे पूर्ण विरागी न थे, महाराज वैरागी थे इसलिए गृहवास करते हुए भी इनका हृदय तपोवन की ओर जाता था । राम वन में निवास करते हुए गृहवासी सदृश थे और महाराज विरक्त गृहवासी होने के कारण वनवासी^१जैसे लगते थे ।

संयम-पथ

पिता का स्वर्गवास होने पर चार वर्ष पर्यन्त घर में रहकर इनने अपनी आत्मा को निर्ग्रन्थ मुनि बनाने योग्य परिपुष्ट कर लिया था। जब ये (महाराज) लगभग ४१ वर्ष के हुए तब कर्नाटक प्रांत के दिगम्बर मुनि-राज देवप्पा स्वामी, देवेन्द्रकीर्ति महाराज उत्तूरग्राम में पधारे। उनके समीप पहुचकर महाराज ने कहा—“स्वामिन ! मुझे निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।”

उनने कहा—“वत्स ! यह पद बड़ा कठिन है इसको धारण करने के बाद महान संकट आते हैं उनसे मन विचलित हो जाता है।”

महाराज ने कहा—“भगवन ! आपके आशीर्वाद से और जिन धर्म के प्रसाद से इस पद का निर्दोष पालन करूंगा। प्राणों को छोड़ दूंगा किन्तु प्रतिज्ञा में दोष न आने दूंगा। मुझे महाव्रत देकर कृतार्थ कीजिये।”

जब गुरुदेव ने देखा कि यह श्मशान वैराग्य नहीं है किन्तु सत्तार से विरक्त विशुद्ध आत्मा की मार्मिक आवाज है, उन्हे विश्वास हुआ कि यह महाव्रत की प्रतिष्ठा को कभी भी लौछित नहीं करेगा। फिर भी उनने दूर तक सोचा,

क्षुल्लक दीक्षा 'यह विरक्त व्यक्ति सुखी, श्रीमंत परिवार का है और

धारण

महाव्रती बनने पर अपरिमित कष्ट सहन करने पड़ते हैं इसलिये कुछ समय के लिये क्षुल्लक के व्रत देना उचित

है। इसके पश्चात् यदि पूर्णपात्रता दिखी तो निर्वाण दीक्षा देदी जायगी।'

यही बात गुरुदेव ने इन विरक्त शिष्य को कही। उनने यह भी कहा, “क्रम पूर्वक आरोहण करने से आत्मा के पतन का भय नहीं रहता है।” इसलिये गुरुदेव की आज्ञानुसार श्री सातगोड़ा पाटील ने उत्तूरग्राम में जेठ सुदी त्रयोदशी शक संवत् १८३७, विक्रम संवत् १९७२ में क्षुल्लक दीक्षा लेकर लघु मुनित्व का पद प्राप्त किया। उस पवित्र त्रयोदशी को श्री सातगोड़ा पाटील ने सदा के लिये अपने गृह परिवार का मोह छोड़ा और भोजभूमि की भमता को सदा के लिये त्याग दिया। लोग जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से बड़ा मानते हैं किन्तु आत्म-स्वराज्य स्थापन निमित्त इन महामना महापुरुष के मन में वह पौद्गलिकभूमि भमत्व को न जगा सकी। परम विशुद्धता और उत्कृष्ट वैराग्य अलंकृत अंतःकरण वाले महाराज ने भोज भूमि के पिंजरे से अपने को उन्मुक्त कर दिया और अब ये

आध्यात्मिक सिंह सदृश विहार
 आध्यात्मिक सिंह के रूप में इस वसुन्धरा पर विहार करने लगे। अब इनकी आत्मा को पूर्ण शांति मिली कारण बाल्य जीवन की मनोकामना को पूर्ण करने का पवित्र पथ प्राप्त हुआ।

वैराग्य का कारण
 मैंने पूछा,—“महाराज ! वैराग्य का आपको कोई निमित्त तो मिला होगा ? साधुत्व के लिये आपको प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई ? पुराणों में वर्णन आता है कि आदिनाथ प्रभु को वैराग्य की प्रेरणा, देवायना नीलाजना का, अपने समस्त गुरुण देखने से प्राप्त हुई थी।”

महाराज ने कहा—“हमारा वैराग्य नैसर्गिक है। ऐसा लगता है कि यह हमारा पूर्वजन्म का सत्कार हो, गृह में कुटुम्ब, में हमारा मन प्रारम्भ से ही नहीं लगा। हमारे मन में सदा वैराग्य का भाव विद्यमान रहता था। हृदय बार बार गृहवास के बधन को छोड़ दीक्षा धारण के लिये स्वयं उत्कठित होता था।” भगवान् महावीर के सम्बन्ध में अशग कवि ने लिखा है ‘सुकुमार सरोज सदृश कोमल चरणयुगलवाले तथा ससार का नाश करने वाले महावीर भगवान् का तीस वर्ष प्रमाण कुमारकाल देवों के द्वारा लाये गये भोगों को भोगते हुये व्यतीत हो गया। एक दिन बिना किसी निमित्त के भगवान् विषय भोगों से विरक्त हो गये। यह उचित ही है क्योंकि तत्त्वज्ञानी मोक्षाभिलाषी आत्मा शांति के लिए बाह्य कारणों की प्रतीक्षा नहीं करते रहते।”

अब सब शीमती का वैभव भोज भूमि में रहा आया और ये लगेटो पिच्छी तथा स्वल्प सामग्री साथ ले स्वामी जी के पास रहने लगे। जिस प्रकार इनकी बाह्य सामग्री अल्प हुई उस प्रकार आत्मीय ज्ञान का भण्डार कम नहीं हुआ, वह तो कई गुना बढ़ गया। कर्मों की निर्जरा भी बड़े वेग से होने लगी। विषुद्धता निरन्तर वृद्धिगत हो रही थी, इससे पूर्ववद्ध कर्मराशी

१ ‘भगवान्मरोपनीतभोगात्स निनायानुभवःभवस्य होता।

त्रिगुणान्दशव सरात्रवाब्ज सुकुमाराधियुग कुमार एव ॥१०१॥

अथ सन्मतिरेकदाऽनिमित्त [विषयेभ्यो भगवान्भूतविरक्त ।

प्रशमाय सदा न बाह्यहेतु विदितार्थस्थितिरोक्षते मुमुक्षु ॥१०२॥”

‘वर्धमानचरित्र’ सर्ग १७

भी विनष्ट होती जा रही थी। एक माह व्यतीत होने पर चातुर्मास के निश्चय करने का अवसर आया। जतूर ग्राम बहुत छोटा था। अतः गुरुदेव की आज्ञा से चरित्र नायक क्षुल्लक महाराज कागल आ गए। वहाँ एक भक्त श्रावक ने इनको कमण्डलु भेंट दिया, इससे इनने लोटा को दूर कर दिया।

प्रथम चातुर्मास पाटील श्री भीमगौडा के धार्मिक श्रीमत घराने के भूषणरूप श्री सातगौडा ने क्षुल्लक दीक्षा ली, इस शुभ समाचार कोगनोली में ने सर्वत्र धार्मिक समाज को आनंदित किया। सभी लोग

इस पुण्य निश्चय की सराहना करते हुए उनको धन्य-धन्य कह उठे। इनकी निस्पृहवृत्ति, सच्ची विरक्ति तथा रत्नत्रय धर्म की निष्कलक साधना देख कर ऐसा कौन है जो प्रभावित न होता हो और प्रणामाञ्जलि अर्पित न करता हो। इनके कागल पहुँचते ही कोगनोली ग्राम के श्रावकों के समुदाय ने आकर अनुनय विनय की और कोगनोली में वर्षायोग व्यतीत करने का सादर अनुरोध किया। कोगनोली की जनता का बड़ा पुण्य था जो नवीन क्षुल्लक महाराज ने वहाँ प्रथम चतुर्मास व्यतीत करने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

सच्चारत्न छोटा होते हुए भी अपनी असाधारण दीप्ति द्वारा महान अधिकार को दूर करता है, इसी प्रकार क्षुल्लक होते हुए भी इनने सम्यक्श्रद्धा तथा सम्यक्चरित्र का महान प्रसार कार्य प्रारम्भ कर दिया और इनके प्रचार का जादू जैसा असर देखा जाता था।

गृहीत मियात्वा इनने देखा कि लोगो में कुदेवो, रागी द्वेषी मिथ्या देवो की त्याग का महान भक्ति विद्यमान है। लोग जिनेन्द्र देव को भूलकर चतुर्गति प्रचार ससार में डुबाने वालो की आराधना में मलग्न हैं, इससे

इनके अन्तःकरण में समाज के मिथ्यात्व रोग के दूर करने की भावना उत्पन्न हुई। कुल परंपरा से आगत प्रवृत्तियाँ, रुढ़ि को बदलना नदी की धारा का मुह फेरने सदृश कठिन काम होता है। वारण जो वाम पहिले से पीछियो से पीछे लग जाता है वह असत्य होते हुए भी दूर नहीं होता। मनोविज्ञान शास्त्र में इसे अत्यंत स्थितिपालक (Most Conservative Agent) कहा है। आदतबश आदमी यही सोचता है कि यह ठीकही कार्य होगा, कारण मैं इसे बचपन से करते चला आ रहा हूँ। पुरातन सत्कार

१ कवि जार्ज ने यहाँ लिखा है—

“Habit with him was all the test of truth
It must be right I've done it from my youth.”

वश दोष को देखने की दृष्टि क्षीण प्राय हो जाती है ।

महाराज का असाधारण व्यक्तित्व था, अतः उनके समक्ष जो भी कुदेव सेवी आता, वह तत्काल मिथ्यात्व का परित्याग कर व्यवहार-सम्यक्त्व को धारण करता था । हजारों घरों में इनने जिनेन्द्र भक्ति की ज्योति जगा दी । इनके मुख से शब्द निकलते ही भक्त श्रावक तत्काल मिथ्यात्व त्याग का नियम ग्रहण कर लिया करते थे । ससार में सबसे बड़ा आत्माशत्रु यह मिथ्यात्व है, यही सब पापों में प्रमुखा है । आज मिथ्यात्व के प्रचार का सर्वत्र जोर देखा जाता है । सत्य का प्रतिपादन करने वाले समर्थ पुरुष मिलते भी कहा है ?

‘सागरधर्माभृत’ में लिखा है कि आजकल पंचमकाल रूपी भीषण वर्षाकाल में मिथ्यामत-रूपी मेघों से सम्यक्ज्ञान रूपी दिशाएँ आक्रीत हो गई हैं । इस अवसर पर सूर्य चंद्रमा के समान प्रकाशदाता महान ज्ञानियों, तीर्थंकरों, ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानधारी मुनियों का दर्शन नहीं होता है । ऐसे आध्यात्मिक प्रकाश विहीन वातावरण में दुःख है कि तत्त्वमार्ग के उपदेश वही कही जुगनू की भाँति प्रकाश देते हैं ।

बड़े दुःख की बात है कि जिस भरतक्षेत्र में तीर्थंकरों ने, श्रुतके-वलियों ने सूर्य के समान सम्यक्ज्ञान तथा मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया था, वहाँ कलिकाल रूपी वर्षाकाल आ जाने से दिशाएँ मिथ्याउपदेश रूपी मेघों से ढक गई हैं, अतः मार्ग नहीं सूझता है । ऐसी स्थिति में सच्चे गुरु जुगनू की तरह कही कही प्रकाशित होते हैं, तथा प्रकाश प्रदान करते हैं ।

आज लौकिकविद्या में प्रवीण व्यक्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं । वे प्रत्येक गृह की शोभा बढ़ाते हैं, किन्तु आत्मकल्याणकारी ज्ञान युक्त पुरुषों का दर्शन दुर्लभ हो गया है । सम्यक्ज्ञान की चर्चा करने वाले पुण्यपुरुष कहाँ मिलते हैं ? आचार्य पद्मनाभ ने लिखा है “आजकल अपने को विद्वान समझकर महान वाणी का वैभव दिखाते हुए, सभाओं में श्रुंगारादि रसों से युक्त प्रमोद प्रदान करने वाले तथा मोह जाल में फँसाने वाले बक्ता घर घर में विराजमान हैं, किन्तु जिनमें परमात्मा तथा जीवादि तत्त्वा का बोध प्राप्त होता है वे उपदेष्टा दुर्लभ हैं ।

ऐसे मोह सकुल वातावरण में आत्मत्व की सम्यक्प्रवेशना निस्पृह, निभय भाव से देने वाले सत्पुरुष इस काल में विरले हैं । हमारे चरित्र नायक

ऐसे ही लोकोत्तर दुर्लभ महापुरुषों में चूड़ामणि हैं। कितनी भी सुन्दर मनवूत सर्वसाधनसंपन्नता का हो, उसमें यदि छिद्र है तो वह डूबे बिना नहीं रहती। इसी प्रकार सर्व प्रकार का लौकिकज्ञान हो, अनेक प्रकार की अभ्युदय की सामग्री हो फिर भी मिथ्यात्व का त्याग जब तक नहीं होता तब तक यह सब वैभव अल्पकालस्थायी है। कुछ समय के बाद वह मिथ्यात्व राक्षस इसके जीव का सर्वनाश करके इसे नरक तिर्यचादि धोनियों में आस दिए बिना न रहेगा। अतः विश्व की विभूति, और संपूर्ण सुखों का दाग एक तरफ और दूसरी तरफ मिथ्यात्व को धूरकर साम्यनज्ञान तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति कराना, इनमें सम्यक्त्व लाभ कराने के समान हितप्रद कोई वस्तु नहीं है। इससे भव भव में जीव सुख पाता है तथा मिथ्यात्व के कारण अनंत संसार में भटकता हुआ अनंत दुःख भोगता रहता है।

यही बात विचार कर पूज्य श्री ने पहले गृहीत मिथ्यात्व तपी गृह-राक्षस से, भोले तथा भूले जैन बंधुओं की मुक्ति का मंगल सुधार कार्य प्रारम्भ किया। लोग प्रायः शिथिलाचार के पोषण तथा भ्रष्ट स्वछंद प्रवृत्ति को 'सुधार, कहा करते हैं। किन्तु सच्चा सुधार यह है जिससे जीव का संसारपरि-भ्रमण दूर होता है वह पाप प्रवृत्तियों का परित्यागकर समय शील हो सदाचार के पथ पर लगता है। समाज में विद्यमान सत्प्रवृत्तियों को उखाड़कर पाप मूलक तथा व्यसनों की पुष्टि प्रदान करने वाली कल्मषमय वृत्तियों को सुधार का नाम देकर मोह तथा मिथ्यात्व के चक्कर में फसे हुए जीव जनसाधारण को कुमार्ग पर पहुँचाते हैं। ऐसे अवसर पर कुछ यदा-लिप्सु लोग सत्य कहने का साहस न होने से जानते हुए भी कुपथ में जाने वालों को प्रोत्साहन देने में संकोच नहीं करते हैं। ऐसे काल में जिनागम पर दृढ़प्रतीति धारण कर निर्भय हो जीव को परमार्थ कल्याण का उपदेश दे मिथ्यामार्ग से बचाने वाले पूज्य श्री सद्गुरु सत्पुरुषों का दर्शन तक दुर्लभ है।

आज कुछ लोग अपने संप्रदाय के कट्टर भक्त होते हुए मिथ्यात्व त्याग जनता के समक्ष अपने आपको सर्वधर्म-समभाववाला करने का कारण बता सबसे आदर, गौरव तथा प्रशंसा प्राप्त करने की चतुरता दिखाते हैं। ऐसे लोग शंका कर सकते हैं, कि आपके गुरुदेव ने मिथ्यात्व का प्रसार रोकने का श्रम क्यों किया? इसमें क्या सार है? उनके ऐहिक सुख लाभ के लिए या शिक्षा प्राप्ति के हेतु यदि वे उद्योग करते तो कहीं अच्छा होता, इससे राष्ट्र का भी अभ्युदय होता।

यह प्रश्न स्थूल दृष्टि से बड़ा मोहक दिखता है, किन्तु परमार्थ विचार से उचित नहीं ज्ञात होता। मिथ्यात्व की आराधना से यह जीव मोक्षमार्ग से वंचित हो जाता है। इसकी विवेक शक्ति का प्राणहरण हो जाता है और विवेक की मृत्यु होने से विज्ञ व्यक्ति के समक्ष समस्त जीवन ही सार शून्य विदित होता है। जैनधर्म वैज्ञानिक विचार है। वैज्ञानिक दृष्टि को मोक्ष का मूल मानता है। यह मिथ्या धारणाओं तथा अवैज्ञानिक मान्यताओं को आश्रय देता सर्प की दूष पिलाने के तुल्य समझता है। जिस तरह रोगी के शरीर में फोड़ा होने पर उसके प्रति ममत्व दिखा शल्यक्रिया (आप्रेशन) का जो विरोध करता है, वह परमार्थतः उरुका हितचिन्तक नहीं तथा शत्रु है। किन्तु डाक्टर भयकर दारुणा का उपयोग कर उसे असह्य वेदना देते हुए भी हितैषी मित्रतया सदबन्धु माना जाता है क्योंकि वह उस रोगी के रोग की जड़ को दूर कर उसे सुख प्रदान करता है। इसी प्रकार सद्गुरु, मिथ्या मार्ग का पालनकर अपनी मृत्यु का गड्ढा खोदने वाले जीव को सदुपदेश द्वारा सच्चा जीवन और आनन्द प्रदान करते हैं। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में आलोक और अन्धकार सदृश ऐक्य का स्थापन त्रिकाल में भी शक्य नहीं है। सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, शील और व्यभिचार में कैसे मैत्री उत्पन्न की जा सकती है? इसी प्रकार मोक्ष मार्ग के निरूपण में जैनशासन सत्यानुरोध से तथा जीव के कल्याण कामना से मिथ्यात्व का मूलोच्छेद करना आवश्यक बताता है। इस विषय में तनिक भी शैथिल्य रहा तो मिथ्यात्व का कालान्ताग इसे विना न रहेगा।

विचारवान व्यक्ति सरलता से इस तत्त्व को हृदयगम कर लेगा, कि जैनदृष्टि क्यों मिथ्यात्व का निषेध करती है? भोले लोग न जाने कितनी मिथ्या वस्तुओं को देवी, देवता का नाम दे उनकी भक्ति करते हुए अपने अमूल्य नरजन्म को नष्ट करते हैं। पहले जब रेल चली थी तब रेल का इजन ग्रामीणों का भगवान था। अभी १९५२ का जो स्वतंत्र गणतंत्र भारत का चुनाव हुआ, इसमें मतदान पेटिका (बैलेट बॉक्स) भी भगवान बन गई। कई ग्रामीणों ने पेटिका की पूजा की, उसका ध्यान किया, चोट-भगवान का शांत भाव से स्मरण किया। ऐसी भ्रात धारणाओं पर, वैज्ञानिक दृष्टि का जब तक चाबू नहीं चलता है तब तक दृष्टि शुद्ध नहीं होती है। अतः विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य है, कि विज्ञान, विचार तथा अनुभूति की कसौटी पर सत्य प्रमाणित होने वाली दृष्टि को स्वीकार करे,

न कि मानसिक दुर्बलता वश दूध और चूने को, काक और कौकिल को वर्ण साम्य होने से एक मानने का सत्य के शासन के विरुद्ध अपराध करे।

इस कारण जितेंद्र के शासन की छत्रछाया में भूले भाइयों को लाकर पूज्यश्री ने अवर्णनीय उपकार किया। महाराज ने तो यह नियम कर लिया था, कि जिसके यहाँ मिथ्यात्व की आराधना होती होगी और जो अपने यहाँ कुदेवों को विराजमान किए होगा, उसके यहाँ आहार नहीं लेंगे। उनकी इस प्रतिज्ञा रूप ओषधि ने बहुत शीघ्र मिथ्यात्व की बीमारी को दूर कर दिया। इस सम्पत्त्व प्रसार के कार्य से पूज्य श्री के वात्सल्य, स्थितीकरण उपगूहन तथा प्रभावना रूप सम्पत्त्व के अंगों की विशुद्धता प्रकाशित होती है। यह इसको सूचित करता है कि महाराज के चित्त में लोककल्याण की कितनी उज्ज्वल तथा पवित्र भावना वेग से काम कर रही थी। उन्हें निरंतर यही दिखता था, कि इन अज्ञजीवों का भ्रम भाव भगाकर कैसे उनको सन्मार्ग पर लगायी जाय, जिससे वे संसार के दुःखों से व्यथित न हों। कोगनोली में वर्षायोग व्यतीत कर क्षुल्लक महाराज ने अपने विहार द्वारा सम्पत्त्व का प्रकाश फैलाने का कार्य बड़ी तत्परता से किया।

अब उनमें अपना दूसरा चातुर्मास कुम्भोज में किया। यहाँ आदिसागर मुनिराज के सतसंग का लाभ रहा। वर्षायोग के निरंतर विहार द्वारा वे भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। उनका तीसरा चातुर्मास पुनः कोगनोली में हुआ।

इसके बाद महाराज ने कर्णाटक प्रांत की ओर विहार कर सन्मार्ग की प्रभावना की।

जैनवाड़ी में आकर उनमें वर्षायोग का निश्चय किया। इस जैन-वाड़ी में वाड़ी को जैनियों की वस्ती ही समझना चाहिये। यहाँ प्रायः सभी जैनी थे। किन्तु वे प्रायः भयंकर अज्ञान में डूबे हुए थे। सभी कुदेवों की पूजा करते थे। महाराज की पुण्य देशना से सब श्रावकों ने मिथ्यात्व का त्याग किया और अपने घर से कुदेवों को अलग कर कई गाड़ियों में भरकर उन्हें नदी में सिरा दिया।

उस समय, वहाँ के जो राजा थे, यह जानकर आश्चर्य में पड़े कि आचार्य महाराज तो बड़े पुण्यचरित्र महापुरुष हैं। वे भला हम लोगों के द्वारा पूज्य माने गये देवों को गाड़ी में भरवाकर नदी में डुबाने का कार्य क्यों कराते हैं? राजा और रानी दोनों महाराज की तापश्चर्या से पहले ही

खूब प्रभावित थे । उनके प्रति बहुत आदर भाव भी रखते थे ।

एक दिन राजा पूज्य श्री की सेवा में स्वयं उपस्थित हुए और बोले "महाराज ! आप यह क्या करवाते हैं जो गाड़ियों में देवों को भरवाकर नदी में पहुँचा देते हैं ।"

महाराज ने कहा—"राजन् ! आप एक प्रश्न का उत्तर दो । आप के यहाँ भाद्रपद में गणपति की स्थापना होती है या नहीं ?"

राजा ने कहा—"हाँ, महाराज ! हम लोग गणपति को विराजमान करते हैं ।"

महाराज ने कहा—"उनकी स्थापना के बाद आप क्या करते हैं ?"

राजा ने कहा—"महाराज हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं ।"

महाराज ने पूछा—"उस उत्सव के पश्चात् क्या करते हो ?"

राजा ने उत्तर दिया—"महाराज बाद में हम उनको पानी में सिरा देते हैं ।"

महाराज ने पूछा—"जिनकी आपने भक्ति से पूजा की, आराधना की उनको पानी में क्यों डुबा देते हैं ?"

राजा ने कहा—"महाराज पर्वपर्यन्त ही गणपति की पूजा का काल था । उसका काल पूर्ण होने पर उनको सिराना ही कर्तव्य है ।"

महाराज ने पूछा—"उनके सिराने के बाद आप फिर किनको पूजा करते हैं ?"

राजाने कहा—"महाराज इसके पश्चात् हम राम हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा करते हैं ।"

महाराज ने कहा—"राजन् जैसे पर्व पूर्ण होने के पश्चात् गणपति को आप सिरा देते हैं और रामचन्द्र जी आदि की मूर्ति की पूजा करते हैं, इसी प्रकार इन देवों की पूजा का पर्व समाप्त हो गया । जब तक हमारा आना नहीं हुआ था तब तक इनकी पूजा का काल था । अब जैन गुरु के आजाने के बाद उनका काम पूरा हो गया, इससे उनकी सिरा देना ही कर्तव्य है । जिस तरह आप राम हनुमान आदि की पूजा करते हैं इसी प्रकार हमारे मंदिर में स्थायी मूर्ति तीर्थंकरों की, अर्हत्तों की रहती है उनकी पूजा करते हैं ।"

पूज्य श्री के युक्ति पूर्ण विवेचन से राजा का संदेह दूर हो गया । वे महाराज को प्रणाम कर सतुष्ट हो अपने राजभवन की वापिस लौट गए ।

जैनवादी में एक और महत्व पूर्ण बात हुई । वही जब महाराज

जैनियों को मिथ्यादेवों की पूजा के त्याग की प्रतिज्ञा करा रहे थे, तब ग्राम के मुख्य जैनियों ने पूज्य श्री से प्रार्थना की—“महाराज ! आपकी सेवा में एक नम्र विनती है।”

महाराज ने बड़े प्रेम से पूछा—“क्या कहना है कहो।”

जैन बंधु बोले—“महाराज इस ग्राम में सर्प का बहुत उपद्रव है। सर्प का विष उतारने में निपुण एक जैनो भाई हैं। वह मिथ्यादेवों की भक्ति करके, उनके मंत्र को पढ़कर सर्प का विष उतारता है। उसने यदि आपसे मिथ्यात्व त्याग की प्रतिज्ञा ले ली तो हम सबको बड़ी विपत्ति उठानी पड़ेगी।

मिथ्या देवों की
उपासना का
निषेध

इसलिए उसे छोड़ दो सबको आप नियम दें इसमें हमारा विरोध नहीं है। आगे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।” अब तो विकट प्रश्न आ गया जो आज बड़े-बड़े लोगों को भी विचलित किए बिना न रहेगा। तार्किक व्यक्ति तो

लौ लोपकार, सार्वजनिक हित, जीवदया, प्राणरक्षण के नाम पर अथवा और भी युक्तिवाद की ओट में उस मांत्रिक जैन को नियम के बंधन से मुक्ति देने के विषय में पूज्य महाराज से प्रार्थना करेगा कि इस विषय में आपको विशेष विचार करना होगा और सार्वजनिक हित के हेतु केवल एक व्यक्ति को पूजा के लिये छुट्टी देनी होगी।

पूज्य महाराज ने गम्भीरता पूर्वक इस समस्या पर विचार किया और उस जैन बंधु से कहा “जैन मंत्रों में अचिन्त्य सामर्थ्य पाई जाती है। हम तुम्हें एक मन्त्र बताते हैं। उसका विधिपूर्वक प्रयोग करो यदि दो माह के भीतर वह मन्त्र तुम्हारा कार्य न करे तो तुम पर बंधन नहीं रहेगा। अतः तुम दो माह के लिए मिथ्यात्व का त्याग करो।” महाराज ने उस मांत्रिक बंधु को मिथ्यात्व का त्याग कराकर मन्त्र दिया तथा विधि भी कह दी। दो माह का त्याग कराया था। इतने में कोई आदमी समाचार लेकर आया और बोला

जैन मंत्र का
अपूर्व प्रभाव

कि ‘मेरे बेल को सर्प ने काट दिया है।’ वह तुरन्त पंच परमेष्ठीका स्मरण करता हुआ वहाँ पहुँचा और जैन मन्त्र का प्रयोग किया। तत्काल विष की वाधा दूर हो

गई। इसके पश्चात् मन्त्र का सफल प्रयोग देखकर वह महाराज के पास आया और बोला “महाराज अब मुझे जीवन भर के लिए मिथ्यात्व त्याग का नियम दे दीजिए।” महाराज ने उसे जीवन भर के लिए नियम दे दिया।

इससे महाराज की जिनागम पर प्रगाढ़ धर्मा तो स्पष्ट भात होती है

साथ ही विवट स्थिति में भी धर्मपथ से नहीं डिगने की भैरवत अवलंबुति भी ज्ञात होती है ।

इस प्रसंग में यह बात ज्ञातव्य है कि जिनद्र की वाणि में मंत्र की महत्ता पर बहुत प्रकाश डाला गया है । द्वादशगुरु जिनवाणी में विद्या साधनादि का वर्णन है ।

‘घबला’ टीका में लिखा है । कि ‘विद्यानुवाद’ नाम का दसवा पूर्व है उसमें पन्द्रह वस्तुगत, तीनसौ श्रामृतो के एव करोड दस लाख पदा द्वारा अगुष्ट प्रसेना आदि सातसौ अल्प विद्याओ का, रोहिणी आदि पाच सौ महा-विद्याओ का और अतरिक्ष, भीम, अग, स्वर, स्वप्न, क्षण, व्यजन, चिन्ह इन जठ महानिमित्त का वर्णन मिलता है । आज मंत्र विद्या के ज्ञाताओ का जैन समाज में दर्शन दुर्लभ हो जाने से दुखी व्यक्ति जिनेन्द्र को भूल कुदेव तथा कृगुरु की आराधना करता फिरता है । पहले जैन समाज में बड़े बड़े समर्थ मांत्रिक व्यक्ति ही चुके हैं । सन् १९५० में ग्वालियर जाने पर हमें विदित हुआ था कि वहाँ तीन चार सौ वर्ष पूर्व जो भट्टारक थे उनका बड़ा प्रभाव था । उनकी मांत्रिक साधना के कारण ग्वालियर तथा दिल्ली के दरबार में बड़ी प्रतिष्ठा थी । दिल्ली के लाल किले के सामने अवस्थित ‘लालमन्दिर’ नाम से ख्यात जिनालय मंत्रविद्या के प्रभाववश अत्याचारी शासको तथा धर्मान्धो द्वारा न हड़पा जा सका । जैन मंत्रों की अपार सामर्थ्य आज भी विद्यमान है । सदाचार श्रद्धा, दृढतापूर्वक आराधना करने वाले के लिए ये मंत्र कल्पवृक्ष के समान कामना पूर्ण करते हैं । आचार्य महाराज ने मनसाधक जैन बन्धु को सर्प का विष उतारने वाला सविधि जैनमंत्र सिखाया था । जैनमन की महान् सामर्थ्य का प्रत्यक्ष अनुभव लाभ के उपरांत वह जैन बन्धु महाराज के पास आकर बोला, “महाराज जैन मंत्र में एव और महत्व की बात ज्ञात हुई कि इसमें सर्प का विष अत्यन्त शीघ्र दूर होता है तथा भीषण रोगों की शीघ्र उपशान्ति होती है ।”

पचनमस्वार मंत्र सोमदेव सूरि ने लिखा है ‘कि सर्वज्ञ जिनेन्द्र से सर्व विद्याओ की उत्पत्ति हुई है । पच परमेष्ठी के वाचक शब्दों का ध्यान करना अविनाशी तथा सर्वविद्याओ का आधार है । सब शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके श्रद्धा तप करते हुए भी मुनिराज अत में एकचित्त हो इस पचगुरु नाम स्मरण रूप मंत्र की ही आराधना करते हैं । यह पच परमेष्ठी वाचक मंत्र स्मृति धारा द्वारा जिसके चित्त में वर्ण करता

है अर्थात् जो इसका निरंतर स्मरण करता है उसके क्षुद्र उपद्रव रूप घूल शात हो जाया करती है ।”^१ जिनसेन स्वामी ने भगवान को मन्त्र वेत्ता, मन्त्र निर्माता, मन्त्रधारक तथा मन्त्रमूर्ति कहा है ।^२

कवि धनजय कहते हैं “विष को दूर करने वाले मणि, औषधि, मन, रसायन आदि के उद्देश्य से जगत के जीव भटकते फिरते हैं किन्तु आश्चर्य है कि वे आपका स्मरण नहीं करते । यथार्थ में ये जिन भगवान के ही नामान्तर हैं ।”^३ जिनेन्द्र भगवान का एवाग्रता और श्रद्धापूर्वक स्मरण करने से क्या होता है इस सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन ने घवल ग्रंथ में लिखा है “जिनेन्द्रदेव के गुणों का कीर्तन करने से विघ्न नष्ट होते हैं, भय दूर होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं करते हैं तथा इच्छानुसार वस्तुओं का निरंतर लाभ होता है ।”^४

अभी सितम्बर सन १९५२ में भोज के जिनमन्दिर की कुटी में सुबल भहाराज नाम के ७६ वर्ष की अवस्था वाले शातमूर्ति ऐलक का दर्शन हुआ । पहले वे सागली ग्राम के (कोल्हापुर) पाटील थे । उनका नाम उस समय पायगोंचा सत्य गौडापाटील था । उन्हें दीक्षा

- १ “ध्यायेद्वा वागमय ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाजकम् ।
एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तपः परम् ।
इदं मन्त्रं स्मरन्त्यन्तेभुनयोनन्यचेतसः ॥
मन्त्रोयं स्मृतिधाराभिश्चित्तं यस्याभिवर्षति ।
तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपासवः ॥”

‘यशस्तिलक’ अध्याय ८-४२ कल्प

- २ “मन्त्रविन्मन्त्रं कृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिसतकः ॥” सहस्रनाम ८
- ३ “विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसमयं च ।
भाम्यन्त्येहो न त्वमिति स्मरति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥१४॥
‘विषापहारस्तोत्र’
- ४ “विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जानु न दुष्टदेवाः परिलपयन्ति ।
थान्यथेष्टाश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमाना परिकीर्तनेन ॥”
‘घवलाटीना’ भाग, १ पृ ४१.

लिए हुए ७ वर्ष हो गये । उनने अपने दीक्षा लेने के कारण पर इस प्रकार प्रवास डाला—“सात वर्ष हुए एन भयवर सर्पराज ने हमें काट दिया । उससे जीवन की रक्षा असम्भव प्रतीत होती थी । उस समय हमारे शरीर में अपार दाह हो रहा था । प्यास की भी वेदना हो रही थी, उस समय हमने सोचा कि इस विचराल सर्प के काटने से बच गये तो दीक्षा लेंगे यदि न बचे तो समाधि पूर्वक प्राण विसर्जन करेंगे ।

सुयोग की बात है उस समय क्षुल्लक समतभद्र जी तथा कीर्तनकार जिनगोडा पाटील भागूरकर ने भक्तिपूर्वक विपापहार स्तोत्र का पाठ पढ़ना प्रारम्भ किया । उस समय जित भगवान का पंचामृत अभिषेक भी किया गया था । ऋषिमडलमश का जाप भी चल रहा था । उस समय हमारे शरीर में अवर्णनीय पीडा हो रही थी । अभिषेक तथा शातिधारा पूर्ण होने पर अभिषेक का सारा जल हम पर डाल दिया गया । उसका जल शरीर पर पड़ते ही तत्काल सारी वेदना दूर हो गयी । हमारा शरीर विप रहित हो गया ।

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार हम मुनिराज पायसागर जी के पास बोरगांव पहुँचे जहाँ आठवें दिन आहार लेने वाले आदिशागर मुनिराज हुए हैं । पायसागर महाराज के पास हमने क्षुल्लक दीक्षा ली । दीक्षा लेने के बाद १८ नवम्बर सन १९४६ को हमने शिरगुम्मी में ऐलक दीक्षा ली ।”

इस प्रकार और लोग भी जिनेन्द्र के मंत्र की अपूर्वता बताते हैं । वरार प्रान्त के अमरावती जिले में हिवरखेरा ग्राम है । वहाँ के जैनमंदिर के कर्मचारी को भयकर सर्पराज ने काट दिया । वह मंदिर का माली सदा ही जिनभगवान की सेवा करता था । उसके मन में पारसनाथ भगवान के प्रति गहरी श्रद्धा थी । उसकी प्रार्थना पर जैन बधुओं ने भगवान पारसनाथ का अभिषेक करना आरम्भ किया । सभी जैनबधु प्रभु की पूजा में तन्मय हो रहे थे । उस समय विप का वेग बढ़ता जा रहा था । मंदिर के पास अन्य धर्म वाली की भीड़ इकट्ठी हो गयी और वे कहने लगे कि ये जैन लोग आज इस गरीब को मारे डाल रहे हैं । व्यर्थ में भगवान

१ इनने २८ नवम्बर सन १९५२ में आचार्य महाराज के ज्येष्ठवधु मुनिराज वर्धमान स्वामी के पास मुनि दीक्षा ली है । एक प्रेजुएट का दिगम्बर मुनि बनना बड़ी लोकोत्तर बात है ।

की पूजा का ढोंग रच रहे हैं। इतने में विष का गहरा असर होने से उसे एक चक्कर आया जिसे देख ऐसा लगा कि अब यह नहीं बचेगा। कुछ क्षण बाद दूसरा चक्कर आया। उस समय अभियेक का गंधोदक उसके शरीर में लगाया, उसके कुछ क्षण पूर्व तीसरा चक्कर आ रहा था, जिसे लोग मृत्यु का चक्कर ही समझ रहे थे। इतने में जिनेन्द्र भगवान के अभियेक का गंधोदक का शरीर से स्पर्श होते ही तत्काल उसका विष उतर गया। अन्य धर्म वाले बहुत प्रभावित हुये। आज तक भी लोग जिन भगवान की महिमा का बड़े आदर भाव से स्मरण करते हैं। वास्तव में जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा धारण करने से संसार में कोई विपत्ति नहीं रह सकती। आज हमारी श्रद्धा भगवान से दूर होकर लक्ष्मी के प्रति ही गयी है। इसीलिये जिनशासन की शरण में रहते हुए भी हमारी हीन अवस्था हो रही है। आज उच्च विद्वानों में भी श्रद्धा का दिवाला निकला हुआ दिखाई देता है। वे अपने स्वामियों के प्रति श्रद्धा रखते हैं। उनका गुणगान करते हुये नहीं सकते, किन्तु जिनेन्द्र की भक्ति करते समय उनकी आत्मा को अदभुत पीड़ा हो जाती है। इसका कारण यही है, कि मिथ्यात्व प्रकृति ने उनकी आत्मा को डस लिया है। कवि ने ठीक कहा है—

“सर्प डस्यो तव जानियो एचि कर नीम चबाय ।

कर्म डस्यो तव जानिये जिनवाणी न सुहाय ॥”

सम्पत्कवी मिथ्या मंत्रों से अपनी श्रद्धा को मलिन नहीं करेगा। गत वर्ष चारामती में महाराज से एक प्रश्न पूछा गया था “क्या सम्पत्कवी रोग निवारण के लिये मिथ्या मंत्रों द्वारा लाभ लेने का प्रयत्न करेगा या नहीं ?” पास में बैठे हुये एक विद्वान बोल उठे “जैसे सम्पत्कवी औषधि लेता है उसी प्रकार औषधि रूप में मिथ्या मंत्र से भी लाभ लेगा।”

इस पर महाराज ने कहा,—“औषधि लेने में बाधा नहीं है कारण औषधि में न सम्भवत्व है, न मिथ्यात्व है किन्तु मिथ्यादेवों की अराधनापूर्ण मंत्रों से स्वार्थ सिद्धि करने पर उसकी श्रद्धा में मलिनता आवेगी।”

वास्तव में ब्रह्मेव आदि सम्पत्त्व के अनाद्यतन हैं। इसलिये उनमें बचना तत्त्वज्ञ का कर्तव्य है। आचार्य महाराज ने मिथ्यात्व या

कराकर जो लोक हित किया उसकी तुलना में बड़ा से बड़ा राष्ट्रोद्धार नगण्य है। राक्षस कल्याण सम्यक्त्व के प्रचार में है जिससे भव-भव के दुःख दूर होते हैं।

जिसने आत्मा में लगे हुए मिथ्यात्व को दूर करा दिया, उसने जीव का अनन्त कल्याण कर दिया। शरीर के क्षय रोग की चिकित्सा लोक में बँध लोग करते हैं, विष्णु आत्मा में लगे हुए मिथ्यात्व रूपी क्षय के निवारण की सामर्थ्य देवाधिदेव जिन भगवान की वाणी तथा उसके अनुसार आचरण करने में है। कोई भी रोगी औषधि की श्रद्धा मात्र से रोग मुक्त नहीं होता। उसे औषधि सेवन करने के साथ युक्त आहार-विहार करना आवश्यक है। इसी प्रकार जो भगवान की वाणी में श्रद्धा मात्र बताकर ठीक उसके विपरीत आचरण करते हुए अपनी कालिमा पूर्ण प्रवृत्तियों को कल्याणकारी सोचते हैं उनके नेत्रों से मिथ्यात्व रूपी पीलिया रोग अभी दूर होना बाकी है ऐसा मानना योग्य जंचता है।

आज लोग जिनेन्द्र के शासन में जन्म लेते हुए भी प्रायः मिथ्यात्वी बन रहे हैं और उसे सर्ववर्म-समभाव का मयूर नाम देकर आत्म बचना करते हैं। काँप और कांचन, काग और कोकिल में एकान्त समता का भाव रखनेवाला कैसे तत्त्वज्ञ माना जायगा?

इसी प्रकार विश्व के उद्धार कर्ता वीतरागसंपूर्ण स्याद्वाद शासन के समान एकान्तवाद की नींव पर स्थित सरागता के आराधक सिद्धान्तों में तत्त्वज्ञ कैसे एकता स्वीकार करेगा? यह परमार्थ की बात है। इसमें लोक व्यवहार की लुभावनी नीति के अनुसार समझौता करने वाला जीव का सम्यक्त्व अस्तंगत हो जाता है।

यह सम्यक्त्व अदभुत सामर्थ्य है। इसके प्रसाद से अनंत संकट क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए महाज्ञानी मुनि समतम्र स्वामी ने लिखा है कि इस जीव का त्रिकाल और त्रिलोक में सम्यक्त्व सदृश कोई हितकारी नहीं है, और मिथ्यात्व के समान दुःख दाता नहीं है। सम्यक्त्व का प्राण वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान के प्रति पवित्र श्रद्धा धारण करना है। निर्ग्रन्थ गुरु और जिनेन्द्र की वाणी को शिरोधार्य करना सम्यक्त्व है। इसी मर्म को ध्यान में रख महाराज ने गृह त्याग करते ही लोगों के सिर पर सवार मिथ्यात्वप्रह के त्याग कराने का शाश्वतिक शान्ति प्रद कार्य किया। उनके तपोमय जीवन से यह कठिन

और असभव कार्य अत्यन्त सरल हो गया था ।

जैनवाड़ी की आन्तरिक शुद्धि करके महाराज ने उसे यथार्थ में जैनवाड़ी ही बना दिया था । अब वहाँ कोई भी कुदेवों की आराधना नहीं करता है । चातुर्मास के बाद वे जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ उनसे मिथ्यात्व के राक्षस

को भगा जिन भक्ति का मगल-दीप जलाया । पर्यटन बाहुबलि क्षेत्र करते हुए वे कुम्भोज के निकटवर्तीय बाहुबलि क्षेत्र में पधारे । यह स्थान अतिशय क्षेत्र सदृश माना जाता

है । लगभग २०० वर्ष पूर्व बाहुबलि नाम के उच्च तपस्वी मुनिराज यहाँ थे । उनकी तपस्या महान थी । कभी कभी उनके पास शेर आकर प्रेमभाव से बैठा करता था । ऐसे प्रभावशाली दिगम्बर मुनि के कारण इस क्षेत्र को बाहुबली नाम प्राप्त हुआ । जब महाराज यहाँ विराजमान थे,

तब कुछ समझोली आदि के धर्मात्मा भाई गिरनारजी गिरनार यात्रा की यात्रा के लिए निवले और बाहुबली क्षेत्र के

दर्शनार्थ वहाँ आये और महाराज का दर्शन कर अपना जन्म सफल माना । उनसे महाराज से प्रार्थना की कि नेमिनाथ भगवान के निर्वाण से पवित्र भूमि गिरनार जी चलने की कृपा कीजिए । महाराज की तीर्थ भक्ति असाधारण रही आयी है । इसलिए उनसे चलने का निश्चय कर लिया । उस समय वे रेल में बैठकर गिरनार जी गये थे । यहाँ प्रत्येक धार्मिक के मन में यह शङ्का अवश्य उत्पन्न होगी कि इतने बड़े मनस्वी महात्मा ने स्वावलंबन पूर्वक गिरनार की पैदल यात्रा क्या नहीं की ? इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है ।

महाराज की दीक्षा एक दिन महाराज से ज्ञात हुआ था कि जब उनसे गृहत्याग किया था तब निर्दोष रीति से सयमी जीवन के समय व्यापक नहीं पलता था । प्रायः मुनि वस्ती में वस्त्र लपेटकर शिथिलाचरण जाते थे और आहार के समय वे दिगम्बर होते थे ।

आहार के लिये पहले से ही उपाध्याय (जैन पुजारी) गृहस्थ के महा स्थान निश्चित कर लिया करता था जहाँ दूसरे दिन सायु जाकर आहार किया करते थे । ऐसी विवट स्थिति जब मुनियों तक की थी तब क्षुल्लकों को क्या निराली है ।

महाराज महान स्वाध्यायशील व्यक्ति बचपन से ही रहे हैं । वे सर्वदा शास्त्रों का चिन्तन किया करते थे । विष्णु स्मृति के धनी होने के

कुल्लुका जीवन
में परंपरा वश
अपार विघ्न

कारण पूर्वापर विचार कर वे शास्त्र के मर्म को बिना
सहायका के स्वयं समझ जाते थे। इसलिए उन्हें प्रचलित
सदाचार की प्रवृत्ति में पायी जाने वाली त्रुटियों का
धीरे धीरे शास्त्र के प्रकाश में निश्चय हो गया।

महाराज ने कहा—‘हमने सोचा कि उपध्याय के द्वारा पूर्व में निश्चित
किये गये घर में जाकर भोजन करना योग्य नहीं है। इसलिए हमने वैसे
आहार नहीं लिया। इससे हमारे मार्ग में अपरिमित कष्ट आये। लोगो
को इस बात का पता नहीं था कि, बिना पूर्व निश्चय के त्यागी लोग
आहार के लिए निकलते हैं इसलिए दातार गृहस्थ को अपने महा
आहारदान के लिए पडगाहना चाहिये।’ उस समय की प्रणाली के
अनुसार ही लोग आहार की व्यवस्था किया करते थे। यह बात महाराज
को आगम के विपरीत दिखी। अतएव उनमें किसी का भी ध्यान न
कर उसी घर में आहार लेने की प्रतिज्ञा की, जहाँ शास्त्रानुसार
आहार प्राप्त होगा।

इसका फल यह हुआ, कि इनको बहुधा कई दिन तक आहार
नहीं मिलता था। प्रभात में मंदिर का दर्शन कर चर्चा को निकले,
उस समय यदि किसी गृहस्थ ने कह दिया ‘महाराज ! आज हमारे गृह
में भोजन कीजिये, तो उसके यहाँ चले गये। अन्यथा दूसरे घरों के समझ
अपने रूप को दिखाते हुए चले। यदि पडगाहे गए तो आहार किया,
अन्यथा वह दिन निराहार ही व्यतीत होता था। इस प्रकार
कभी कभी चार चार, पांच पांच दिन तक भी निराहार रहना पड़ता था।
ऐसे अवसर पर उपाध्याय भी प्रतिकूल हो गए थे, कारण इस अनुद्दिष्ट
आहार की पद्धती के कारण उनको गृहस्थ के यहाँ जो अनायास आहार
मिल जाता था, वह लाभ बंद हो गया। उस समय के मुनि लोग भी
कहने लगे ऐसा करने से काम नहीं होगा। यह पक्षम बाल है, इसे
देखकर ही आचरण करना चाहिए। ऐसी बात सुनकर आगम भक्त
महाराज कहते थे ‘यदि शास्त्रानुसार जीवन नहीं बनेगा, तो हम उपवास
करते हुए समाधिमरण को ग्रहण करेंगे, किन्तु आगम की आज्ञा का उल्लंघन
नहीं करेंगे।’ उस समय की परिस्थिति ऐसी ही विकट थी, जैसी कि हम
पुराणों में आदिनाथ भगवान् के समय में विद्यमान पढ़ते हैं। जहाँ श्रावकों
की अपना वर्तव्य ज्ञात नहीं है, जानकार उपाध्याय स्वल्पवश विघ्नाकारी

बन रहे हैं तथा बड़े बड़े मुनि कालद्वेष के नाम पर शास्त्र की आज्ञा को भुला रहे हैं, वहाँ हमारा भविष्य जीवन कैसा चलेगा इस बात की महाराज को तनिक भी चिन्ता नहीं थी । उन्हें एक मात्र चिन्ता थी जिन वाणी के अनुसार प्रवृत्ति करने की । जिनेंद्र की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हुए मृत्यु उन्हें बड़ी प्रिय मालूम पड़ती थी । आगम के विरुद्ध जीवन को वे आत्मा की मृत्यु सोचते थे । उनकी कठिन परिस्थिति और उग्र तपश्चर्या का कौन अनुमान कर सकता है ? अत्यंत बलशाली शरीर को स्थिर रखने के लिए योग्य काल में आहार देना आवश्यक है । भोजन न मिलने से बड़े बड़े भक्त अपनी भक्ति को भुला दिया करते हैं । एक हिन्दू सत कहता है “ भूखे भगत न होय गोपाला, जा लो अपनी कंठी माला । ” क्षुधा की असह्य वेदना में मनुष्य पत्ते और घास तक खाकर इन प्राणों के रक्षण के लिए तत्पर होता है । वह ऐसा कोई अनर्थ नहीं है, जिसे पेट की ज्वाला से पीड़ित हो व्यवस्थित न करे । ऐसी लोकस्थिति होते हुए भी महाराज बच की तरह अचल रहे । चर्या के लिए बेबराबर निकलते थे । आहार नहीं मिलता था तो लाभातराय कर्म का उदय तीव्र है ऐसा जानते हुए शांत भाव से मंदिर में आकर धर्म ध्यान में अपना समय व्यतीत करते थे ।

मने पूछा—“महाराज ऐसी स्थिति में लोगों के अज्ञान आदि पर तो आपको रोष आता होगा? ऐसा होना पूर्णतया स्वाभाविक है ।”

महाराज ने कहा—“हमने कभी भी ऐसा रोष नहीं किया । उस समय हमारे परिणामों में और भी निमलता होती थी । हम यही सोचते थे, कि अभी हमारे कर्मों का तीव्र उदय है । इसलिए जैसे कर्म हमने पूर्व में बाधे हैं, उनका फल समता पूर्वक सहन करना चाहिये ।”

इस प्रकार दो तीन वर्ष तक इनके दुःशुल्क जीवन में क्रांतिकारी अघर्षणीय बाधाएँ आती रही किन्तु ये शांति के सागर ही धार्मिक संतराज रहे आये और कभी भी ज्वालाभ्रसाद नहीं बने । धीरे धीरे समय बदला और लोगों को महाराज की क्रियाओं का ज्ञान हो गया । इससे विघ्न की घटा दूर हो गई । इस प्रकाश में तो महाराज प्रचलित मिथ्या-प्रवृत्तियों का उच्छेद करने वाले प्रचंड विद्रोही के रूप में दिखते हैं । उन जैसा सुधारक कशा मिलेगा ? आज तो समय रूपी अमृत के कलश को फोड़कर फेंकने वाले विपद्-विष की प्याली पिलाने वाले

पुरुष ही मस्तक पर सुधारक के मूकुट को धारण करता है । जो सुधार महाराज ने किया और धर्म का निर्दोष मार्ग प्रचलित कराया उसे देख इन्हे सचमुच में इस युग के धार्मिक क्रांतिकारी महापुरुष कहना होगा । ऐसी ही अनेक शिथिल प्रवृत्तियों में उनने सुधार कर धर्म मार्ग में नवीन जीवन डाला ।

ऐसे अनुपम वंदनीय मानव की प्रवृत्ति आगम विरुद्ध होगी ऐसा समझने वाला अहंकारी विद्वान् यथार्थ में तत्त्वज्ञों की करुणा का पान होगा । यथार्थ में कई लोग निकट जीवन के संपर्क में बिना आये अपने घर में बैठे बैठे मिथ्याधारणाओं का ताना-बाना बुना करते हैं । अनेक लोग चरणानुयोग तथा जैन परम्परा से अल्पतम परिचय रखते हुये भी प्रथमानुमोग अथवा द्रव्यानुयोग अथवा करणानुयोग के ज्ञान के बल पर संयमी जीवन वाले आचार्यों के शिष्य बनने के स्थान में गृह का कार्य करना चाहते हैं । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि निर्दोष चरित्र महान् आत्मा के पवित्र जीवन पर दोष लगाने वालों को कर्मों के न्यायालय में किस प्रकार दुर्गति होती है ? इसलिये भव्यात्माओं का कर्तव्य है कि मिथ्याप्रवृत्ति वालों से नेतृत्व न ग्रहण करें । इसी में स्व और पर का कल्याण है । शास्त्र में जैनधर्म को लाञ्छित करके गौरवहीन बनाने का दोष कपटवृत्ति वाले तपस्वियों और चरित्रहीन विद्वानों के ऊपर रखा गया है ।^१ इसलिये नौका चलाने की दोनो पतवारों के समान धर्म की नौका को खेने वाले साधुओं को विशुद्ध चरित्र वाला बनना तथा विद्वानों को पुष्पाचरणवाले होना आवश्यक है ।

भगवान् नेमिनाथ समझोली के श्रावकों के साथ महाराज, नेमिनाथ भगवान् की निर्माण के पदरज से पुनीत गिरनार पर्वत पर पहुंचे ।
 • भूमि में उन्होंने जगतबंध नेमिनाथ प्रभु के चरण-चिन्हों को प्रणाम किया और सोचा कि इन तीर्थंकर के चरणों के चिन्ह रूप अपने जीवन में कुछ स्मृति सामग्री ले जाना चाहिये । वहां के पवित्र वातावरण ने इनके अंतःकरण को विशेष प्रकाश दिया । नेमिनाथ के निर्वाण स्थान की स्थायी स्मृति रूप ऐलक दीक्षा लेने का इनने विचार किया । महापुरुष जो विचारते हैं तदनुसार आचरण करते हैं इसलिये-

१ पंडितभ्रंष्ट चारित्र्यैः बठरैश्च तपोधनैः ।

शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनी कृतम् ॥

अब ये ऐलक बन गये । इनकी आत्मा में विद्युद्धता उत्पन्न हुई ।

ऐलक दीक्षा ऐलक बनने पर इनकी आत्मा को थड़ी स्फूर्ति मिली ।

मगवान नोमिनाय जैसे रागरग के चौराहे से मुख मोड़
वीतरागता के सिन्धु में निमग्न होने वाले तीर्थंकर की चरण-भूमि ने न
मालूम कितनी खोती हुई आत्माओं को आत्मप्रकाश प्रदान किया है ?
उनके ही कारण गिरनार पर्वत ही नहीं सारा सोराष्ट्र देश मुराष्ट्र रूप
में आध्यात्मिक जगत के द्वार बदनीय बन गया ।

महाव्रती बनने के लिये आत्मा के पोषण की पर्याप्त सामग्री
उनके पास इकट्ठी हो रही थी । नेमिप्रभु के चरणों ने उनके
आध्यात्मिक धन को बढ़ाकर उन्हें चारित्र्यनिधि का बड़ा धनी बना दिया ।

आहार के हेतु एक दिन गिरनार जो भी दबना कर वे लौटे और
एकही बार जावे प्रातःकाल पर्वत पर ही व्यतीत होने के कारण चर्या
के लिये सायंकाल के समय निकले, कारण शास्त्र की
ऐसी आज्ञा है कि साधु चर्या के लिए प्रभात में अथवा अपरान्ह काल में
निकले । यहाँ अबवा के स्थान में अपने अतःकरण को ही आगम और
परम्परा का प्रतीक मान कोई-कोई लोग 'और' शब्द रख कर प्रभात
में और अपरान्ह में निकलना उचित मानते थे । ऐसे लोगों को महाराज
ने बताया था, "आहार के लिए सकल्प करके दो बार निकलने से
एक आहार की प्रतिज्ञा दूषित होती है इसलिये सवेरे या दोपहरी के
बाद एक ही बार चर्या को निकलना धर्म का मार्ग है । चर्या को निकलना
धर्म का मार्ग है । चर्या को निकलते हुए आहार न पाने वाले मुनि का
उपवास नहीं कहा जायगा । आहार का त्याग करना और आहार का न
मिलना दोनों स्थिति में जो अंतर है उसे ज्ञानवान आदमी सहज ही विचार
सकता है ।"

एक बार इन्द्र, नवीन, गेहूँ, महाराज, को, एक घामिल, गहूँ, ने, पहाड़ा, १,
चीके तक पहुँच गये । आहार लेने की तैयारी ही थी, कि इनकी दृष्टि
आगम की आज्ञा थड़ी पर पड़ी । जाड़े में सूर्य जल्दी डूबता है ।
का बारीकी से इनने विचार किया यदि मैं आहार करता हूँ, तो
पालन आहार करते-करते इतना समय हो जायगा कि रात्रि
भोजन का दोष लग जायगा । उस समय सूर्य का प्रकाश था । गिरनार
पर्वत की चढ़ाई के कारण जठराग्नि भी स्वभावतः प्रदीप्त हो रही थी,

फिर भी भोजन करने से कुछ मिनट रात्रि भोजन त्याग व्रत को सदोष बना देंगे, इसलिये तत्काल ही आहार की लोलुपता का त्याग कर महाराज बाहर चले आये ।

लोगों ने कारण पूछा । इनने बताया “भोजन की विधि में कोई दोष नहीं था किन्तु विलम्ब से भोजन करने के कारण व्रत में दोष आने की संभावना थी क्योंकि सूर्य अस्त होने के तीन घड़ी पूर्व साधु को आहार छोड़ देना चाहिये ।” इस प्रकार धारीकी के साथ व्रतों के पालन में प्रवृत्ति करने वाले इन महापुरुष के महत्व को कौन विवेकी न मानेगा ? इस प्रकार निर्दोष धर्माचरण के द्वारा इनकी कीर्ति सर्वत्र फैलती जा रही थी ।

गिरनार से लौटकर ये सागली के समीपवर्ती कुडल नाम के पहाड़ से अलकृत स्टेशन पर उतरे । वहाँ के जिन मंदिरों की बदनामी की ओर जीवन भर के लिये सवारी पर बैठनका त्याग कर दिया । आज के युग में महाराज सदृश आध्यात्मिक निधि के अधिपति जिन मंदिरों की बदनामी की आवश्यकता को अनुभव करते हुए सर्वदा जिनदशन को तत्पर रहते हैं, किन्तु आश्चर्य है, कि अनर्थ के भूलअर्क के घनी अथवा लौकिक शास्त्रों का अल्प परिचय प्राप्त करने वाले आत्म-प्रकाश हीन व्यक्ति गृहस्थोचित पवित्र कर्त्तव्यों को भूल जिन भगवान् के दर्शन की आवश्यकता को अनुभव नहीं करते हैं । इस सत्य को कौन विवेकी न स्वीकार करेगा, कि वीतराग का कारण लिए बिना इस आत्मा का, त्रिकाल में भी उद्धार नहीं हो सकता ।

नसलापुर में यहाँ से चलकर इन धर्ममूर्ति ने भिन्न भिन्न स्थानों में
चातुर्मास धर्म की प्रभावना की ओर नसलापुर में वर्षायोग व्यतीत
 किया । वहाँ इनके द्वारा बहुत धर्म प्रभावना हुई ।
चातुर्मास के समय एक स्थान पर रहकर जैन साधु अपने अहिंसा व्रत का
रक्षण करते हुए स्व परोपकार में तत्पर रहते हैं । वर्षाकाल में सूक्ष्म जीवों
की उत्पत्ति अधिक होती है, इसलिए वे जीव रक्षा की दृष्टि से किसी एक
स्थान पर निवास करते हैं । उस समय वे उपवास आदि के द्वारा अपन जीवन
को समुज्ज्वल बनाते हैं । वर्षाकाल के बाद महाराज बीजापुर के समीपवर्ती
श्याम नावानगर में आये ।

वावानगर की
 सातिशय पार्श्व
 प्रभु की मूर्ति

महाराज ने कहा था—“वह पारसनाथ भगवान की लगभग एक हाथ लंबी मूर्ति बड़ी मनोज्ञ और अतिशय सपष्ट है । कहते हैं मूर्ति की नाभि में पारस था । वही वा उपाध्याय कभी-कभी संकट काल में लोहे की शलाका को उस पारस से लगा सोने की बना लिया करता था । उस उपाध्याय ने मरते समय अपने पुत्र को मूर्ति के अतिशय की बात बतायी । उसके मरते ही पुत्ररत्न ने दिन भर में इतनी लोहे की शलाका लगाकर सोना बनाना शुरू किया कि वह पारस उसमें से निकलकर खो गया । इस तरह एक व्यक्ति की मूर्खता से यह महद्व की बात चली गई ।” वास्तव में देखा जाय तो भगवान की मनोज्ञ मूर्ति का अलौकिकपना अभी भी है, जो जीवन को स्वर्ण-तुल्य बना देता है ।

दिगम्बर दीक्षा

इसके बाद महाराज ऐनापुर आये वहाँ एक निर्ग्रन्थ मुनिराज का समागम मिला । इससे इनके अतः करण में बड़ा हर्ष हुआ । महाराज के जीवन में यह विशेष बात है कि गुणी पुरुष का समागम होने पर इनके अतः करण में प्रमोद का भाव उत्पन्न होता है ।

यरनाल में ऐनापुर में एक पक्ष पर्यन्त रहकर ये यरनाल में पधारे ।
पचकल्याणक वहाँ जिनेन्द्र भगवान का पच कल्याणक महोत्सव बड़े
 वैभव के साथ हो रहा था । आसपास जैनियों की लखों
की सरया है, इसलिये अपरिमित जनसमुदाय उस महोत्सव के दर्शनार्थ
वहाँ एकत्रित हुआ था ।

यरनाल में निर्ग्रन्थ मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज पधारे थे ।

महाराज न उनके समीप जाकर प्रार्थना की—“भगवन ! आपकी अज्ञानुसार मैंने व्रता का पालन किया । अब प्रार्थना है, कि मनुष्य जन्म-की उच्छृष्ट निधि निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर मेरे जन्म को कृतार्थ करें ।”

गुरु से दिगम्बर उस समय देवेन्द्रकीर्ति स्वामी ने कहा—“यह दिगम्बर
दीक्षा लेना साधारण बात नहीं है, आज समय कीर्ति विचित्र
दीक्षा मागता है । मिथ्यात्वों जीवा की प्रचुरता है । दुष्ट लोगो के अमद्
वचन सुनकर सहज ही मन में मलिनता और व्रत के प्रति ग्लानि आना
सम्भव है । परीपहा का प्रचण्ड प्रहार भी परिणामो को विचलित कर आत्मा
को हिला देता है । यदि निर्ग्रन्थ पद लेकर निर्दोष रीति से उसका पालन न
किया तो जीव गिरकर नीच पद को पाता है । इसलिये असमर्थ आत्मा इसे
न धारण कर शक्ति के अनुसार समय लेते है । सोचो ! क्या तुम इस दुर्धर
निर्ग्रन्थ पद का भार उठा सकोगे या नहीं ? जल्दी में काम करना पीछे
पश्चात्ताप का कारण होता है ।’

स्वामी के महत्वपूर्ण उपदेश ने यह स्पष्ट कर दिया कि महाव्रत का धारण करना तलवार को धार पर चलने से भी कठिन है । ज्ञान और वैराग्य विभूषित मोक्षाभिलाषिणी को यह आत्मा के लिए पुष्पशैल्या सदृश आल्हादप्रद होती है । किंतु दुर्बल आत्मा को यह शरशैल्या के समान सबलपे पैदा करती है ।

महाराज ने गुरुचरणों में विनय पूर्वक कहा—“स्वामिन ! आपका

कश्यप अक्षरशः सत्य है, किन्तु मैंने यहाँ से निग्रन्थ दीक्षा के हेतु अपनी आत्मा को तैयार कर लिया है। जिनेन्द्र भगवान के प्रसाद से तथा आपके आशीर्वाद से इस पद की प्रतिष्ठा की सदा रक्षा करूँगा। उसमें कदाचित् प्राण जावे तो मुझे उसकी परवाह नहीं है।”

इनके परिणाम वैराग्य सागर में डूबे हुए थे। उनके पीछे संयम सदाचार तथा सत्य का आपार बल था। इससे गुरुदेव की आत्मा में यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि सातगोड़ा का प्रत्येक शब्द सत्य की शक्ति से पूर्ण

है। उपस्थित हजारों लोगों से गुरुदेव से विनम्र की “महाराज! ये बहुत पवित्र आत्मा है। ये स्वप्न में भी अपने व्रत को दूषण न लगावेंगे।”

अंत में निग्रन्थ दीक्षा देने का निश्चय हो गया। दीक्षा देने का श्रेष्ठ योग भी समीप था। पंचकल्याणक के समय भगवान के वैराग्य का काल आया। लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान के वैराग्य की अनुमोदना की। भगवान पालकी में विराजमान होकर दीक्षावन में पहुँचे। ऐसे उत्कृष्ट अवसर पर श्री सातगोड़ा ऐलक ने निग्रन्थ रूप धारणा करने का निश्चय किया। भगवान के साथ ही उनसे वस्त्र का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारणा की और केशों का लोंच आरम्भ किया। अब सातगोड़ा ऐलक मुनि शांति-सागर बन गये, जिन्हें जगत-चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य महाराज के नाम से हादिक भक्ति द्वारा पूजता है।

उस समय वैराग्य का अवर्णनीय रस आ रहा था। हजारों भव्य स्त्री-पुरुष जयजयकार कर रहे थे। उस समय के शांतिरस का वर्णन कौन कर सकता है, जब इन नैसर्गिक मुनि जीवन वाली आत्मा ने आज चिरकांक्षित पवित्र मुद्रा धारण की। गुरुदेव ने इनका नाम गुणों को देखकर शांति-सागर रखा। इनके नाम में आगत सात शब्द शांति का ही स्रोतक रहा है।

जब महाराज की दीक्षा का कार्य हो रहा था उस समय एक महाराज के प्रेमी श्रीमंत नेत्रों से अधुपारा बहा रहे थे। वे सोचते थे ‘किस प्रकार इनके मुनिपद का निर्वाह होगा। गृहस्थ समाज शिथिलता और प्रमाद में डूबी है। उसे आगम की आज्ञा का ध्यान नहीं है और महाराज आगम की आज्ञा से जरा भी डिगने वाले नहीं हैं। इसलिए भविष्य बड़ा अनिष्ट पूर्ण दिखाई देता था।’

उस समय महाराज ने सान्त्वना के शब्द कहकर समझाया “डरने

की क्या बात है ? यदि व्रत पालने ने योग्य सामग्री न रहेगी तो हम जगल में रहकर सामाविधारण कर लेंगे ।”

नाति के सागर में प्रेम और माधुर्य का जल भरा है इसमें तनिक भी सारापन नहीं है । यहाँ छोटे छोटे जीवों को भी अभय मिलता है ।

अभी ऐलक अवस्था में केवल छोटी 'पास' में थी, उससे ये तीर्थ-वार को जिनमुद्रा के धारी नहीं कहे जाते थे । उतना सा भी परिग्रह इन्हें सयतासयत गुणस्थान से ऊँचा नहीं उठने देता था । आश्चर्य है किन्हीं जैन कहे जाने वालों में परिग्रह-परिकर रखते हुए भी अपने को सयत कहने में और कहलाने में संकोच नहीं किया जाता है । यथा जात मुद्राधारण करते ही ये सयत हुए और इनने सर्वप्रथम अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर आरोहण किया, कारण देश समयी जब महाव्रत धारण करता है, तब भावों में अद्भुत निर्मलता होने से वह छटवें के स्थान में सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, गच्छात् अतर्मुहूर्त के परिणामों में कुछ प्रमत्तपना सज्जलन कपायजन्य आता है । वह भी अतर्मुहूर्त रहता है और फिर निर्मलता अप्रमत्त स्थिति को प्राप्त कराती है । कर्मकांड गोमट्टसार में लिखा है—

“मिथ्यात्व गुणस्थान वाला सासादन तथा प्रमत्त गुणस्थान को छोड़ कर शेष अप्रमत्त पर्यन्त चार स्थानों को प्राप्त होता है । सासादन गुणस्थान वाला मिथ्यात्व में ही गिरता है । मिश्रगुणस्थान वाला या तो चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है या पतित होकर मिथ्यात्वी होता है । अविरत सम्यक्त्वी तथा देशसमयी प्रमत्तगुणस्थान को छोड़कर अप्रमत्तगुणस्थान तक जाते हैं । प्रमत्त गुणस्थान वाला नीचे के पाँच स्थानों को और आगे के अप्रमत्तरूप स्थान को इस प्रकार छह स्थानों को प्राप्त करता है तथा अप्रमत्त गुणस्थान वाला छटवें गुणस्थान को प्राप्त करता है ।” १

१ सासण—प्रमत्त वज्ज अप्रमत्तत समल्लिखद मिच्छी ।

मिच्छत विदिय गुणो मिस्तो पढम चउत्थ च ॥५५७॥

अविरद सम्मो देसी प्रमत्त परिहोणमपप्रमत्त त ।

छट्ठाणाणि प्रमत्तो छट्ठगुण अप्रमत्तो दु ॥५५८॥

‘गोमट्टसार कर्मकांड’

सच्चे निर्ग्रन्थ देने अब साति सागर महाराज की मुद्रा और तीर्थंकरों की जिन्मुद्रा में रचमात्र भी अंतर नहीं है । वस्त्र, वैभव, परिग्रह के कारण ही मानव मानव में भेद की गहरी खाई खड़ी होती है, किन्तु दिगम्बरत्व सच्चा साम्य उत्पन्न कर देता है । अब इनको निर्ग्रन्थ कहने लगे, इसका कारण देवतेन स्वामी 'भावसग्रह' में इस प्रकार प्रकार बताते हैं—

“सर्व सग विनिर्मुक्त होने के कारण वृषभ जिनेन्द्र निर्ग्रन्थ थे । उनसे अपनी वाणी के द्वारा निर्ग्रन्थ मार्ग का उपदेश दिया । उनके मार्ग में लगने वाले सभी निर्ग्रन्थ महर्षि होते हैं ।” परिग्रह को धारण करनेवाला उनके मार्ग में पूर्णतया लगा हुआ निर्ग्रन्थ नहीं माना जाता है । परिग्रह के धारण करते हुए पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं बनता है ।

अब निर्ग्रन्थ भुनि वन इनसे अपने विहार द्वारा जीवों के कल्याण के साथ साथ आत्मा का भी कल्याण बड़े वेग से प्रारंभ किया । तपश्चर्या से चिर सचित्त कर्मों-की उदयावालि में प्रविष्ट करके तपोधन निर्जरा किया करते हैं । प्रतीत होता है, बि इनकी तप साधना द्वारा असाता की उदीरणा आरंभ हो गई । यरनाल में दूषित जल हो जाने से बीमारी फैल गई । उस रोग से महाराज का शरीर भी आक्रांत हो गया । अन्य तपस्वी भी बीमार पड़ गए । भक्त धावकों ने इनको नसलापुर लाकर खूब वैद्यावृत्य-सेवा की ।

एक माह के ऊपर ने शरीर को अत्यधिक क्षीण कर दिया । आहार के लिए जाने की भी सामर्थ्य न रही । उस विकट स्थिति में भी ये धर्म-ध्यान में प्रवीण रहे आए । उस समय इनसे आर्तध्यान को तनिक भी स्थान न दिया ।

‘आत्मा के कोई रोग नहीं है । शरीर रोगी है, जब असाता का विपाक मन्द होगा, तब रोग की उपशांति होगी’ ये सविचार ही उस समय इनके लिए औषधि रूप थे । इनका ध्येय अपार था । देखने वाले आश्चर्य में पड़ जाते थे, जैन भुनि की चर्या कितनी महान होती है । गोचरी करने की सामर्थ्य नहीं है, तो आहार ग्रहण नहीं करेंगे । दूसरी की बात ऐसी नहीं है । वहा जहा भी, जब भी, जो कोई भी, जो कुछ भी दे दे, दीन बनकर ले लेते हैं । इनकी वृत्ति सिंह सदृश पराक्रम पूर्ण है । घीरे घीरे असाता का वेग कम हुआ प्रकृति कुछ सुधरी ।

महाराज कोगनोली की गुफा में रहा करते थे। आहार के लिए वे सबेरे योग्य काल में जाते थे। मार्ग में एक विप्रराज का गृह पड़ता था। इनका दिगम्बर रूप देखते हुए एक दिन उसका दिमाग कुछ गरम हो गया। उसने आकर दुष्ट की भाषा में इनसे अपने घर के साम्हने से जाने की अपत्ति की। उसके हृदय को पीड़ा देने में बड़ा लाग, यह सोचकर इनने आने जाने का मार्ग बदल दिया। लगभग दो सप्ताह के बाद उस ब्राह्मण के चित्र में इनकी शांति ने असाधारण परिवर्तन किया। उसे अपनी मूर्खता और दुष्टता पर बड़ा दुःख हुआ। उसने इनके पास आकर अपनी मूल के लिए क्षमा मागी और प्रार्थना की कि महाराज पुनः उसी मार्ग से गमनागमन किया करें, मुझे कोई भी आपत्ति नहीं है।

महाराज के मन में कषाम भाव तो था नहीं। यहाँ हृदय स्फटिक तुल्य निर्मल था, अतः विप्रराज की विनय पर ध्यान दे इनने उस मार्ग से पुनः आना जाना प्रारंभ कर दिया। मुनि जीवन में दुष्ट जीवों कृत उपद्रव सदा ही आया करते हैं, यही कारण था कि निर्यन्त्र दीक्षा देने के पूर्व गुप्त ने पहले ही सचेत किया था कि किस प्रकार उपद्रव आया करते हैं, जिनके जीतने के लिए आत्मा को पूर्ण तथा कषाम विमुक्त बनाना पड़ता है। कोगनोली में चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् नसलापुरा चातुर्मास विहार करते हुए इनका शुभागमन वर्षा के समीप नसलापुर में हुआ अतः उनने वहाँ ही चातुर्मास व्यतीत किया। इनकी कीर्ति अब और धीरे धीरे सर्वत्र फैल रही थी, इससे इनके पुण्य दर्शन द्वारा जीवन सफल करने की आने वाले स्त्री पुरुषों की संख्या बढ़ने लगी। इनकी गुण-गरिमा का वर्णन सुनकर सोलापुर प्रांत के कुछ लोगों ने नसलापुर में आकर इनका दर्शन किया। इस दर्शन से इनकी आत्मा आनन्दविभोर हुई। इनने वापिस आकर महाराज की महिमा का वर्णन किया तो सबके मन में यही भाव होते थे कि कब इन रत्नत्रयमूर्ति मुनिराज का दर्शन कर जन्मकृतार्थ करें।

निर्यन्त्र रूप में दूसरा चातुर्मास नसलापुर में व्यतीत कर विहार करते हुए महाराज का ऐनापुर पधारना हुआ।

यहाँ एक विशेष घटना हो गई। शास्त्र में मुनिदान की पद्धति इस प्रकार कही गई है कि गृहस्थ अपने घर में जो शुद्ध आहार बनाते हैं उसे ही वह भक्ति पूर्वक महाव्रती मुनिराज को आहार के हेतु अर्पण करें। दूसरे के

कोगनौली में चातुर्मासि निकट देखकर विहार करते हुए कोगनौली पधारे और ग्राम के बाहर आधा मील की दूरी पर स्थिति गुफा में विग्राम किया । वहा वर्षा की प्रचुरता से इनकी दिगम्बर देह को बहुत बाधा आई, किन्तु इनको आपदा विचलित न कर सकी । बात यह है, कि अब ये सामान्य मानव नहीं हैं । जब सामान्य गृहस्थ की स्थिति में थे, तब तो इनमें अपूर्वज्ञान और वैराग्य था, निःसृष्टता और निर्ममता थी । अब तो मुनिवृत्ति धारण कर कर्मों के साथ इनने सीधा युद्ध आरंभ कर दिया है, अतः अब वे 'एक पराक्रमी घोड़ा के समान विपत्तियों के आने पर म्लान मुख या दीनवदन नहीं होते । विपत्ति आने पर उसे दूर करने को बाह्य प्रतीकार ये नहीं करते । जैसे प्राकृतिक चिकित्सा (Nature Cure) में विश्वास रखने वाले रोग आने पर औषधि के सेवन से बचते हैं, कारण उनका विश्वास रहता है, कि प्रकृति स्वयं विकारों के शमन होने पर निरोगता का वरदान देती है, इसी प्रकार ये मुनिराज प्रकृति की गोद में ययाजात शिशु के रूप में रहते हुए उसी मुद्रा को धारण कर प्राकृतिक पद्धति द्वारा संकटों का उपाय करते हैं । ये शांत भाव से बड़े बड़े संकटों को सहन करते हैं और यह सोचते हैं, कि जब तक कर्म का उदय है, तब तक फल भोगना अनिवार्य है । जिनेन्द्र नाम स्मरण, तथा आत्म गुण चिंतन प्रधान विशुद्ध भावनारूप संजीवनी सदा लेते रहते हैं, जिससे कर्मों का वेग कम होते जाता है । विपत्ति के समय निर्ग्रन्थ मुनिराज प्राकृतिक पद्धति द्वारा आत्मा के रोगों को दूर करते हैं ।

कोगनौली की गुफा में ये ध्यान करते थे । एक राशि को ग्राम से एक पागल वहाँ आया । पहले उसने इनसे भोजन माँगा । इनको मौन देख वह हल्ला मचाने लगा । पश्चात् गुफा के पास रखी ईंटों की राशि को फेंककर उपद्रव करता रहा, किन्तु शांति के सागर के भावों में विकार की एक लहर भी नहीं आई । दृढ़ता पूर्वक ध्यान करते रहे । अन्त में पागल उपद्रव करते करते स्वयं थक गया, इससे वहाँ से चला गया ।

१ णिगंथो जिणवसहो णिगंथं पवयणं कयं तेण ।

तस्सानुमगगलगा, सब्बे णिगंथं महुरिसिणो ॥

'भावसंग्रह' ॥ १३४ ॥

महाराज को गनोलो की गुफा में रहा करते थे। आहार के लिए वे सबेरे योग्य काल में जाते थे। मार्ग में एक विप्रराज का गृह पड़ता था। इनका दिगम्बर रूप देखते हुए एक दिन उसका दिमाग कुछ गरम हो गया। उसने आकर दुष्ट की भाषा में इनसे अपने घर के साम्हने से जाने की अपत्ति की। उसके हृदय को पीड़ा देने में क्या लाभ, यह सोचकर इनने आने जाने का मार्ग बदल दिया। लगभग दो सप्ताह के बाद उस ब्राह्मण के चिन्ता में इनकी शान्ति ने असाधारण परिवर्तन किया। उसे अपनी मूर्खता और दुष्टता पर बड़ा दुःख हुआ। उसने इनके पास आकर अपनी भूल के लिए क्षमा मागी और प्रार्थना की कि महाराज पुनः उसी मार्ग से गमनागमन किया करें, मुझे कोई भी आपत्ति नहीं है।

महाराज के मन में कषाय भाव तो था नहीं। यही हृदय स्फटिक तुल्य निर्मल था, अतः विप्रराज की वित्त पर ध्यान दे इनने उस मार्ग से पुनः आना जाना प्रारम्भ कर दिया। मुनि जीवन् में दुष्ट जीवो कृत उपद्रव सदा ही आया करते हैं, यही कारण था कि निर्ग्रन्थ दीक्षा देने के पूर्व गुरु ने पहले ही सर्वज्ञ किया था कि किस प्रकार उपद्रव आया करते हैं, जिनके जीतने के लिए आत्मा को पूर्ण तथा कषाय विमुक्त बनाना पड़ता है। कोगनोली में चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् नसलापुरा चातुर्मास विहार करते हुए इनका शुभागमन वर्षा के समीप नसलापुर में हुआ अतः उमने वहाँ ही चातुर्मास व्यतीत किया। इनकी कीर्ति अब और धीरे धीरे सर्वत्र फैल रही थी, इससे इनके पुण्य दर्शन द्वारा जीवन सफल करने को आने वाले स्त्री पुरुषों की संख्या बढ़ने लगी। इनकी गुण-गारिमा का वर्णन सुनकर सोलापुर प्रांत के कुछ लोगों ने नसलापुर में आकर इनका दर्शन किया। इस दर्शन से इनकी आत्मा आनन्दविभोर हुई। इनने वापिस आकर महाराज की महिमा का वर्णन किया तो सबके मन में यही भाव होते थे कि कब इन रत्नत्रयमूर्ति मुनिराज का दर्शन कर जन्मकृतार्थ करें।

निर्ग्रन्थ रूप में दूसरा चातुर्मास नसलापुर में व्यतीत कर विहार करते हुए महाराज का ऐनापुर पधारता हुआ।

यहाँ एक विशेष घटना हो गई। शास्त्र में मुनिदान की पद्धति इस प्रकार कही गई है कि गृहस्थ अपने घर में जो शुद्ध आहार बनाते हैं उसे ही यह भक्ति पूर्वक महाप्रती मुनिराज को आहार के हेतु अर्पण करें। दूसरे के

घर की सामग्री लाकर कोई दे, तो ऐसा आहार मुनियों के लिए योग्य नहीं है। नसलापुर में महाराज आहारग्रहण को निवले। एक गृहस्थ ने अपने यहाँ भोजन को बिना किसी प्रकार की तैयारी के सहसा महाराज से अहार ग्रहण करने की प्रार्थना की और निमित्त की बात है, उस दिन पड़गाहने की विधि भी मिल गई। इससे महाराज वहाँ ठहर गए। अब उस बधु को अपनी भूल याद आई कि मैंने यह क्या काम किया। घर में आहार घना नहीं है और मैंने अन्नजल शुद्ध है भोजनों को पधारिये, यह कह दिया। अब यदि मैं तत्काल योग्य व्यवस्था करने में चूकता हूँ, तो महाराज यहाँ से चले जावेंगे। लोगों में मेरी निन्दा भी होगी। ऐसे विविध विक्लप जाल में जवड़े हुए उसे एक युक्ति सूझी। उसके घर से लगा हुआ, जो श्रावक का घर था वहाँ आहार के योग्य शुद्ध सामग्री तैयार थी। अतः उसने बड़ी सफाई से सामान अपने घर में लाया। महाराज जी को इस बात का जरा सा भी पता नहीं लगा, अन्यथा वे वहाँ ठहरते क्यों ? होनहार की बात है, कि उस गृहस्थ की होशियारी या चालाकी से मुनिराज का आहार वहाँ हो गया।

आहार पूर्ण होने के पश्चात् महाराज को ज्ञात हुआ कि आज का आहार ग्रहण नहीं करना था। दूसरे के घर से माया गया भोजन आहार के काम में लाया गया था। इससे उनके चित्त में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। ऐसी स्थिति में मुनियों के पास जो सब भयकर प्रायश्चित्त से बड़ा हथियार प्रायश्चित्त का रहता है उसका उनमें अपने ऊपर प्रयोग करने का निश्चय किया। जब भी ग्रहण कोई बुराई होती है तो उसका कारण बाहर न खोज कर वे भीतर देखा करते हैं। जिस प्रकार सिंह मारने के साधन बनने वाली लाठी आदि को परवाहन कर प्रहार करनेवाले पर चोट करता है, इसी प्रकार ये महामुनि भी सीधी चाट (Direct action) की नीति का पालन करते हैं। आहार में दोष का कारण 'मेरे कर्मों' का विशेष उदय है, अन्यथा सदोष आहार क्यों मिलता ? सदोष को छोड़

“सूखहि सरोवर जल भरे सूखहि तरगिनि तोय ।
वाटहि बटोही ना चलें जह घाम गरमी होय ॥
तिहकाल मुनिवर तपत पहि गिरि शिखर ठाढ़े धीर ।
ते साधु मेरे उर बसो, मम हरहुपातक पीर” ॥

जो व्यक्ति नसलापुर में थे। वे इस पद्य को ‘ते साधु मेरे उर बसो’ के स्थान में ‘ये साधु मेरे उर बसो’ पढ़ सकते थे। उस दिन की ग्रीष्म की भीष्म परीपह देखकर लोग घबड़ा गये थे किन्तु महाराज तो महापुरुष ही ठहरे। उनकी स्थिरता अदभुत थी। ऐसे ही ग्रीष्म परीपह विजेताओं का चित्रण ‘मैया भगवतीदास’ ने इस पद्य में किया है—

“ग्रीष्म की ऋतु महि जल थल सूख जाहि ।
परत प्रचंड धूप आगि सी बरत है ॥
दावा की सी ज्वाल माल बहुत बयार अति ।
लागति लपट कोऊ धीर न धरत है ॥
धरती तपत माना तथा सी तपाय राखी ।
बड़वा अनल समशूल जो जरत है ॥
ताके श्रृंगशिला पर जोर जुग पाव धर ।
करत तपस्या मुनि परम हरत है ॥”

कीन सोचेगा, कि पंचम काल में असंप्राप्तासूपारिका असहनन धारक साधु चतुर्थ कालीन मुनियों के समान ऐसा धीर तप करेगा? उष्णता के कष्ट का अनुमान करने के लिए हम एक सरल उदाहरण बना उचित समझते हैं—

जब शिखर जी या राजागिर की पंचपहाड़ी की बटना करते समय मध्याह्न हो जाता है और पत्थर तथा रेत गरम होने लगती है तब यात्रा करने वाले जानते हैं, कि चलने में बंसा कष्ट होना है। ऐसी परिस्थिति उष्ण परीपह जब नग्न शरीरयुक्त पाषाण पर भीषण उष्णता के समय बैठने पर महाराज के शरीर को कितनी शारीरिक व्यथा हुई होगी, यह विचारक व्यक्ति कल्पना द्वारा अनुमान कर सकता है। उस समय तो आस पान की पाषाण राशि भी उष्ण हो आग जगलती सी प्रतीत होती थी। किन्तु धन्य है महाराज की स्थिरता तथा इन्द्रियजय कि शांतभाव से उस कष्ट को सहन कर उस सदोष

पहाड़ी में सात सौ गुफाएँ थी, ऐसी प्रसिद्धि है । इससे यह ज्ञात होता है, कि जब जैनधर्म के पालक करोड़ों थे, तब महाव्रत के भाव वाली अनेक आत्माएँ संयम साधना करती थी, और उनका बहुत बड़ा समुदाय इस कोसूर की भूमि को पवित्र करता चला आया है । इस चातुर्मास में दूर-दूर के श्रावकों ने महाराज के दर्शन करके अपने मनुष्य जन्म को सफल माना और शांति लाभ लीया । यह विक्रम संवत् १९८० का चातुर्मास विशेष प्रभावना पूर्ण रहा ।

महाराज के पास दूर दूर के प्रभुल धर्मात्मा श्रावक धर्म लाभ के लिए आते थे । धार्मिकों के आगमन से किस धर्मात्मा को परितोष न होगा, किन्तु अपनी कीर्ति के विस्तार से महाराज की पवित्र आत्मा को तनिक भी हर्ष नहीं हुआ । वे बाल्य जीवन से ही ध्यान और अध्ययन के अनुरागी रहे । अब लोगों के अधिक आते रहने से ध्यान करने में बाधा सहज ही आ जाती थी इससे महाराज ने एक अपरिचित गुफा में जाकर आनन्द से ध्यान करने का विचार किया और वे एक प्रशान्त गुफा में मध्याह्न की सामायिक के लिए गए और सामायिक करने लगे । गुफा के पास में झाड़ी थी । उसमें सर्पादिक जीवों का भी निवास था ।

सर्प के उपद्रव में स्थिरता गुरुभक्त मङ्गली ने देखा कि आज महाराज ध्यान के लिए दूसरे स्थान पर गए हैं । अब उनसे उनको दूढ़ता प्रारम्भ किया और कुछ समय के पश्चात् वे उस गुफा के समीप आ गये, जिसमें महाराज सामायिक में तल्लीन थे । उस समय एक सर्प झाड़ी में से निकला और गुफा के भीतर जाते हुए लोगों के दृष्टिगोचर हुआ । कुछ समय पश्चात् वह भीतर फिरकर बाहर निकलना ही चाहता था, कि एक श्रावक ने गुफा के द्वार पर एक नारियल नड़ा दिया । उसकी आहट से पुनः सर्प भीतर घुस गया । वहाँ वह महाराज के पास गया और उसने उनके ध्यान में विघ्न डालने का प्रयत्न किया किन्तु उसका उनपर कोई भी असर नहीं हुआ । वे भेद विज्ञान की विमल ज्योति द्वारा शरीर और आत्मा को निम्न भिन्न देखते हुए अपने को चैतन्य का पुञ्ज सोचते थे, अतः 'शरीर पर सर्प आया है, वह यदि दस कर देगा, तो मेरे प्राण न रहेंगे', यह बात उन्हें मय विह्वल न बना सकी । वे यज्ञ की मूर्ति की तरह स्थिर रहे आए । शरीर में अचलता थी, भावों में मेरुकी भांति स्थिरता थी । आत्मचित्तन से प्राप्त आनन्द में अपकर्ष के स्थान में उत्कर्ष ही हो रहा था । वे सर्प, सिंह, व्याघ्र,

अग्नि, आदि की बाधा को अत्यन्त तुच्छ जानते थे। उनकी दृष्टि मोहनीय कर्म, अंतराय कर्म, वेदनीय, ज्ञानावरणादि के विनाशकी ओर थी। वे सोचते थे, ये सर्प आदि कर्मों के उदयानुसार आकर जीव को व्यथा पहुँचाते हैं। अतः सबटो के मूलकारण का सहार करना चाहिए। सर्प के उपद्रव से अविचलित होना उनके उत्कृष्ट आत्म विकास तथा अंतःनिमग्नता के प्रमाण है। यह जिन धर्म का हो प्रभाव है, कि एक श्रीमंत कुलोत्पन्न सपन्न सुखी सत्पुरुष यमराज के प्रतिनिधि द्वारा शरीर पर चिपटते हुए भी आत्मध्यान में निमग्न रहे आते हैं, क्योंकि उनमें महान आत्माओं द्वारा पालन किए जाने वाले महाव्रतों की प्रतिज्ञा ली है। सती सीता की महत्ता अग्नि परीक्षा से प्रकाश में आई थी इसी प्रकार महाराज की विमल तत्पदचर्या का प्रभाव सर्व परीपह द्वारा व्यवत हुआ। सर्पकृत उपसर्ग उन्होंने अनेक बार सहे हैं।

विपत्ति में दृढ़ वृत्ति एक बार गजवन्या में पंचकल्पाणक महोत्सव के समय मैंने महाराज से पूछा था “महाराज सर्प कृत उपद्रव होते हुए आपकी आत्मा में घबराहट क्यों नहीं होती थी, सर्वतो साक्षात् मृत्युराज ही है।”

महाराज बोले—“विपत्ति के समय कभी भी भय या घबड़ाहट नहीं हुई। सर्प शरीर पर आया लिपटकर चला गया इसमें महत्त्व की क्या बात है?”

मैंने कहा—“उस मृत्यु के प्रति निधि की बात तो दूसरी, अन्न साधारण तुच्छ जीवकृत बाधा सहन करते समय सर्वसाधारण में भयंकर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। आपको भय न लगा, यह आश्चर्य है।”

महाराज—“हमें कभी भी भय नहीं लगता। यहाँ तो भीति की कोई बात भी नहीं है। यदि सर्प का हमारा पूर्व का वंश होगा तो वह बाधा नरेगा, अथवा नहीं। उस सर्प ने हमारा कुछ भी विगाड़ नहीं किया।”

मैंने कहा—“महाराज! उस समय आप क्या करते थे, जब सर्प आपके शरीर पर लिपट गया था।”

महाराज बोले “उस समय हम सिद्ध भगवान का ध्यान करते थे।” मैंने जिज्ञासु के रूप में पूछ्य श्री से पूछा कि “जब आपके शरीर पर सर्प चढ़ा, तब उसके शरीर का स्पर्श होने से आपके शरीर को विशेष प्रकार का स्पर्श जग्य अनुभव होता था नहीं।”



कोनूर की गुफा जहाँ महाराज के शरीर पर विद्याल सर्प
लिपटा था ।



कानूर की ७७२ गुफाओं में से एक अन्य गुफा का दृश्य ।

महाराज ने कहा—“हम ध्यान में थे। हमें बाहरी बातों का भान नहीं था।”

विचारशील व्यक्ति सोच सकता है, कि संपंक्त उपसर्ग महाराज के जीवन की अग्नि परीक्षा से कम नहीं है। घन्य है उनकी भेदविज्ञान की ज्योति जिससे वह अपनी आत्मा को सर्प बाधा मुक्त जानते हुए आत्मा से भिन्न शरीर को सर्प वेष्टित देखते हुए परम शांति रहे। यथार्थ में उनका नाम शातिसागर अत्यन्त उपयुक्त है।

कोन्नूर में उठने वाले सर्प द्वारा उपद्रव में भी स्थिरता एक दिन ताः २३-१०-५१ को हम महाराज के साथ रहने वाले तिर्यन्ध मुनि १०८ श्री नेमिसागर जी के पास चारामती में पहुँचे और महाराज शातिसागर जी के विषय में कुछ प्रश्न पूछने लगे। उनसे ज्ञात हुआ, कि वे लगभग २८ वर्ष से पूज्यश्री के आश्रय में रहते हैं। कोन्नूर में सर्पकृत परीषह के विषय में हमने पूछा तब वे बोले “कोन्नूर में वैसे सात सौ से अधिक गुफा हैं, किन्तु दो गुफा मुख्य हैं। महाराज प्रत्येक अष्टमी चौदस को गुफा में जाकर ध्यान करते थे। उस दिन उनका मौन रहता था। एक दिन की बात है, वे गुफा में घुसे। उनके पीछे ही एक सर्प भी गुफा में चला गया। वह बड़ा चंचल था। वह सर्प उठान मारने वाला था। अनेक लोगों ने यह घटना देखी थी। जब लोग महाराज के समीप पहुँचते थे तो वह सर्प उनकी जघाओं के बीच में छुप जाता था। लोगों के दूर होते ही वह इधर उधर फिरकर उपद्रव करता था।”

मैंने पूछा—“यह कब की बात थी?”

उनने कहा—“यह मध्याह्न की बात थी। वह सर्प ३ घंटे तक रहा पश्चात् चला गया। लोग यदि साहस कर उसे पकड़ते, तो इस बात का भय था, कि कहीं वह क्रुद्ध होकर महाराज को काट न दे, इससे सब किकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे।”

नेमिसागर महाराज ने बताया था कि कोन्नूर में पूज्य श्री से उन्हें पञ्चाणुव्रत मिले थे। उनने यह भी कहा था “चौमासे में मैं साष्टन पढ़ता था। और महाराज कनड़ी भाषा में सब श्रावकों को समझाया करते थे।”

मैंने पूछा—“विपत्ति के समय आपने महाराज की स्थिरतामय होने

क्या। कभी देखी है ?” ।

उत्तने कहा— ‘विपत्ति के समय कभी भी महाराज में घबड़ाहट नहीं देखी ।’

प्रसन्नवश उससे मैंने पूछा— ‘आपने और कौनसा महाराज का प्रचंड योग देखा ?’

उत्तने कहा— ‘कोनूर के जंगल में महाराज बाहिर बैठकर धूप में मकोड़े का सामायिक कर रहे थे । इतने में एक बड़ा कोंडा मकोड़ा उनके पास आया और उसने उनके पुण्य जिह्व से बिपट कर वहाँ का रक्त चूसना शुरू कर दिया । रक्त बहता जाता था किन्तु महाराज डब घटे पयन्त अविविलित ध्यान करते रहे ।’

नमिसागर जी ने बताया कि उस समय वे गृहस्थ थे, और चिंतित थे, कि इस समय क्या किया जाय ? यदि कोंडे को पकड़कर अलग करते थे, तो महाराज के ध्यान में विघ्ने आयेंगे । अतः वे क्वितव्यविमूढ़ हो रहे थे । नमिसागर जी ने यह भी कहा ‘और भी छोटे छोटे मकोड़े उस समय आते थे, उनको तो हम अलग कर देते थे किन्तु बड़े मकोड़े की बाधा को हम दूर न कर सके । पुरुष जिह्व से रक्त बहता था, किन्तु महाराज अपने अखंड ध्यान में पूर्ण निमग्न थे ।’

नमिसागर महाराज ने सर्व संधी एक घटना और शडबाल में बताई थी । उस समय शातिसागर महाराज शडबाल में सर्प बाधा में थे । वे पट्ट पर बैठे थे । पट्ट के नीचे पाँच फुट लम्बा सर्प बैठा था । वह सप उस स्थान पर रात भर रहा । दिन निकलने पर उस जंगल जाडन वाले जैनी ने महाराज ने कहा ‘भीतर सम्हलकर जाना ।’ जब वह भाई भीतर गया, तो उसकी दृष्टि सर्पराज पर पड़ी । उसने बाहर बौकर दूसरे लोगों से सर्प की चर्चा बताई ।

महाराज कोगनोली में क्षुल्लक की अवस्था में आये थे, तब वहाँ सर्पकृत उपसर्ग हुआ था । वहाँ के प्राचीन मंदिर में महाराज ध्यान के हेतु बैठे थे । ध्यान आरम्भ करने के पूर्व कुछ जिन नाम स्मरण पाठ कर रहे थे कि एक विशाल विष घर वहाँ घुसा । कुछ समय मंदिर में यहाँ वहाँ घूमकर वह इनके शरीर से लिपट गया । मर्तों ने उसके बड़े प्रेमों मिश्र ही हो । बात यह है जब महाराज सामायिक पाठ पढ़ते हैं तब कहते हैं ‘मेरी सर्व जीवों में समता भाव है । समता सर्व भूदेसु मेरा किसी के भी साथ वैरभाव नहीं है । वैर

मज्झिमे शक्येण वि' मेरे सर्व जीवों के प्रति मंत्री भाव है। 'मिस्ती में सर्व भूदेस' ।" कोण नीली में मालूम होता है सर्पराज। इसीलिए इसके पास आया कि सर्पकृत उपद्रव । इनके वचन सत्य हैं या नहीं देखें ये समता भाव रखते हैं या नहीं ये, मेरे प्रति मंत्री रखते हैं या नहीं ? सर्प ने चाणी के अनुरूप इनकी प्रवृत्ति पाई तो वह प्रेम के साथ शरीर में लिपट गया मानो इनके प्रति वह स्नेह ध्यस्त कर रहा हो। महाराज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धांत को स्वीकार कर चुके थे। इससे ही वह सर्पराज आत्मीय भाव से कमर से चढकर भूले में लिपटा हुआ था। इतने में मंदिर में अखंड प्रकाश हेतु 'नदादीप' अखण्ड दीपक सुधारने को विद्वा का उपाध्याय आया। महाराज के ऊपर सर्प लिपटा देखकर वह जान छोड़ कर भागा। बहुत लोग त्यहा आ गये। किन्तु क्या किया जाय यह समझ में नहीं आता था। यदि गडबडी की अथवा सर्प को दूर करन में बल प्रयोग किया तो वह काट देगा तब क्या भयकर स्थिति हो जायगी। अतः सबके सब लोग धबडा रहे थे। बहुत समय के पश्चात् सर्प शरीर से उतरा और धीरे धीरे मानो प्रसन्नता पूर्वक बाहर चला गया कारण उसे सच्चे साधक महात्मा का परीक्षण करने का अवसर मिला था और परीक्षण में वे शुद्ध स्वर्ण निकले।

मुनि तेमिसागर महाराज ने इस वर्ष लीपद चातुर्मास के समय १७ उपवास किए थे। उनके तपोमय जीवन की बड़े बड़े साधक प्रणाम

१ लका द्वीप के अनुराधपुर में राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू गए थे। वहाँ अशोक सम्राट के पुत्र महेन्द्र के समय से अब तक लगातार जलने वाला नदा दीप जलने देखा था। उसके बारे में राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

'अधिक चमत्कार और आश्चर्य की बात हमकी सुनाई गई कि वहा जो द्वीप जल रहा था, यह भी महेन्द्र का जलाया हुआ है। उस समय से आज तक यह दीप कभी बुझा नहीं है। बीदाने उसे वाइस-प्रेसिडेंट, बरसो से बराबर जलाये रखा है। यदि यह सच है तो यदि दुनिया में ऐसी कोई दूसरी अग्नि शिला न मिलेगी जो दो हजार बरसों से भी ज्यादा समय से बराबर जलती आ रही हो।'

करते हैं। मैंने उनसे आचार्य महाराज के विषय में पुनः पूछा तो उनने कहा—“महाराज जब दुल्लक थे, तब वे हमारे कुडची ग्राम में पधारे थे। उनका आहार हमारे घर में हुआ था। उस समय से मेरा अन्तःकरण उनकी ओर आकर्षित हुआ।” उनने कहा—“तुम लोग भगवान की पूजा, अर्घा, शास्त्र वाचन, दान आदि करते हो किन्तु यह सब गज के स्नान सदृश है कारण पश्चात् सप्ताह के प्रपञ्च में फसकर अपने को पुनः मालिन बनाते हो।

महाराज का कोल्हूर में चातुर्मास हुआ। वहाँ लगातार चार माह पर्यन्त मैं उनकी सेवा में जाता था। वहाँ मैं अपने मित्र बड़ोवा कुडचीकर के साथ महाराज को आहार दिया करता था। मेरी मुनि बनने की मनोकामना पहिले से ही थी। आचार्य महाराज के सत्संग से उस भावना को साकर समता प्राप्त हुई।

वहा के चातुर्मास पूर्ण होने के पूर्व ही कार्तिक सुदी चौदस को मैंने तथा गोकक के पायसागर जी ने उनसे ऐलक दीक्षा ली थी। इसके दस माह बाद आश्विन सुदी ११ को मैंने समजोली में निर्घंथ दीक्षा ली थी। वीरसागर जी भी मुनि बने थे। चद्रसागर जी ने ऐलक दीक्षा ली। आचार्य महाराज सब्ब विषुद्ध चरित्र निर्घंथ साधु का वसंग हमने कही किया। उनके समागम से मेरी आत्मा कृतार्थ हो गई। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे गुरु चरणों के समीप रहने का सुअवसर मिलता रहा है।

पायसागर जी के विषय में भी प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है, कारण उनकी चर्चा द्वारा आचार्यश्री की महत्ता सहज ही समझ में आ जाती है।

मुनि पायसागर महाराज से स्तवनिधि क्षेत्र में आचार्य महाराज के विषय में चर्चा की, तब उनने कहा कि “मेरा जीवन उन सन्तराज के प्रसाद से अत्यन्त प्रभावित है। मेरी क्या इस प्रकार है—

मैं एक नाटक कंपनी का प्रमुख अभिनेता रहा आया। पायसागरजी का पश्चात् आपसी अनबन होने के कारण मैंने कंपनी छोड़ अद्भुत जीवन दी और मे कुछ दिन तक ‘क्रांतिकारी’ सरीखा रहा। मैंने मिलमालिकों के विरोध में मजदूरों के सत्याग्रह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। इसके पश्चात् मेरा मन सासारिक विडवना से उचटा। अपने कुलधर्म—जैत्रधर्म से मेरा रचभाग भी परिचय नहीं था। मैं

णमोकर मंत्र को भी नहीं जानता था । इसलिए मैंने जटाविभूतिधारी पद्माक्षमाला-अलंकृत चिदम्बर बुवा का रूप धारण किया और इस साधुत्व का अभिनय करता हुआ बर्बाद से काशी पहुँचा । गंगाजी में गहरे मोते लगाए । 'काशी, विश्वनाथ, गंगे' के सानिध्य में समय व्यतीत करता हुआ हर प्रकार के साधुओं के सम्पर्क में आया ।

मैं लौकिक कार्यों में दक्ष था, इसलिए साधु बनने पर भी मेरी विचारशक्ति मृत नहीं हुई थी । वह मूर्छित अवस्था थी । जब मैं जटा विभूतिमण्डित सन्यासी के रूप में फिरता-फिरता शोलापुर के समीप आया, तब मेरी दृष्टि में यह बात आई, कि धाखड़ी साधु के रूप में फिरकर आत्मवचना तथा पर-प्रसारणा के कार्य में लगे रहना महामूर्खता है । मैंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के शास्त्रों का परिशीलन किया था, उस शास्त्र ज्ञान ने मुझे साहस प्रदान किया कि मैं उस साधुत्व के ढकोसले को दूर फेंक दूँ ।

अब मैंने अपने जीवन का नया अभिनय शुरू किया । मैं सुन्दर वस्त्रादि सुसज्जित गुडे के रूप में यत्र-तत्र विचरण करने लगा । शायद ही कीर्दी-ऐसा दोष हो जो खोजने पर मुझमें न मिले । मैं अत्यन्त विषयान्ध व्यक्ति बन गया ।

महाराज के प्रथम दर्शन का अपूर्व प्रभाव
सुयोग की बात है । उग्र तपस्वी दिगम्बर श्रमणराज आचार्य शतिसागर महाराज का कोन्नूर आना हुआ । उस समय मैं सायबिल हाथ में लिए बना ठना उसके पास से निकला । सैकड़ों जैनी उन मुनिराज को प्रणाम करते थे । मैं वहा एक कोने में खड़ा हो गया । मेरी दृष्टि उन पर पड़ी । मैंने उन्हें प्रणाम नहीं किया नाममात्र को दोनों हाथ जोड़ते लिए थे ।

उस समय कुछ बन्धुओं ने महाराज से मेरे विषय में कहा—'महाराज ये जैन कुलोत्पन्न हैं । महान व्यसनी हैं । इसे धर्म-कर्म कुछ नहीं सुहाता है ।' मेरी निन्दा महाराज के कानों में पहुँची, किन्तु उनके मुखमण्डल पर पूर्ण शांति थी । नेत्रों में मेरे प्रति करुणा थी और बलवान आकर्षण शक्ति थी । महाराज ने लोगों को शांत किया । उनके मुह से ये शब्द निकले 'इसने आज हमारे दर्शन किये हैं, इसलिये इसे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा ।' मैं उनके मुखमण्डल की धडे ध्यान से टकटकी लगाकर देख रहा था ।

मुझे वे सचमुच में शांति के सागर, दिले । - - -

मैंने भारत भर घूमकर बड़े बड़े नामवारी साधु देखे थे, मुझे ऐसा लगा कि आज सचमुच में मुझे इन साधु के रूप में अपूर्व निधि मिली । मैंने उन्हें आध्यात्मिक जादूगरों के रूप में देखा । मेरे मन में दान्तरिक वैराग्य का बीज पहले ही से था, उनके सम्पर्क ने उसमें प्राण डाल दिये ।

मैंने उनके जीवन का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया । आध्यात्मिक अर्थ को ज्ञान तुल्य । उठते-बैठते, बोलते-चालते उनकी सारी प्रवृत्तियों की बारीकी से जाच की । उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आज मुझ आध्यात्मिक अर्थ को सचमुच में नेत्रों की उपलब्धि हो गई है । मेरा मन उनके चरण कमलों की सुवास छोड़कर अन्यत्र निवास करना नहीं चाहता था । मैंने उनसे मध, मांस, तथा मधु के सेवन के त्याग का नियम लिया । हिंसा, झूठ, चोरी परस्त्री सेवन, अतिलोभ का त्याग किया तथा जिनेन्द्र भगवान के दर्शन की प्रतिज्ञा की ।

मेरी आत्मा पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि मुझ जैसे स्वच्छद तथा उद्दण्ड व्यक्ति ने अजीवन ब्रह्मचर्य का नियम ले लिया । अब मैं सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी बन गया । सभी लोग मेरा तीव्र विरोध करते थे और

महाराज से कहते थे 'यह बड़ा व्यसनी तथा उद्दण्ड एक माह में रहा है । यह फौजदार तक की मार देता है । सप्तम प्रतिमा यह अवगुणों का भंडार है । इसमें एक ही विशेषता और दूसरे में है, कि जिस बात को पकड़ लेता है उसे पूरा किये ऐलक दीक्षा ली बिना नहीं छोड़ता ।'

आचार्य महाराज महान मनोवैज्ञानिक हैं । उनमें अपनी दिव्य दृष्टि से मेरी प्रसुप्त सामर्थ्य को देख लिया । इसलिए उन्होंने मुझे व्रत देने में लोगों के विरोध की ओर ध्यान न दिया । दूसरे महीने में मैंने ऐलक दीक्षा मागी, और महाराज ने मुझे कृतार्थ कर दिया । उस समय मैंने कैशलोच जंगल में किये थे । मेरी स्थिरता देखकर महाराज की निश्चय हो गया कि यह व्रत का पूर्णतया पालन कर सकेगा । उस समय चन्द्रसागर जी ने मुझ पर आशेष किया और महाराज से कहा 'इसे प्रतिमाओं का स्वरूप भी नहीं मालूम है यह ऐलक पद का निर्वाह कैसे करेगा ?'

उस समय मैंने कहा 'महाराज मैं शेरवाल की पाठशाला में जाकर

पढ़ना चाहता हूँ। उस समय सबको यह भय था कि वहाँ से जाकर 'यह' फिर वही अपनी सुरत नहीं दिखावेगा। उस समय मेरी जमानत बालगोडा ने ली। वहाँ से चलकर शरोल ग्राम में रहा और रत्नकरड श्रावकाचार पढ़ना प्रारम्भ किया। मेरा अम शास्त्रों का पूरा पूरा अभ्यास था ही। इससे तुलना करते हुए शास्त्र के काय को समझने में मुझे अधिक समय नहीं लगा। मैं रात्रि को अभ्यास करता था। दिन को व्याख्यान देता था। मेरे उपदेश में बहुत लोग आने लग।

कुछ समय के बाद रुकड़ी में पवकल्याणक महोत्सव में आचार्य महाराज पहुँचे। मैं भी वहाँ गया।

“मुझे देखकर महाराज ने पूछा—‘क्या सब कुछ पढ़कर आ गये?’”

मैंने नम्रतापूर्वक कहा—“हाँ पढ़ आया।” साथ के सब त्यागी लोग हस पड़े। मेरा जीवन सबके लिए पहेली सरीखा था। जो मेरे पूर्व जीवन से परिचित था वह स्वप्न में भी नहीं सोचता था कि मुझ जैसे विपयाघ का जीवन इस आध्यात्मिक प्राप्ति का केन्द्र बनेगा। उस समय महोत्सव में चन्द्रसागर जी का भाषण हुआ। इसके बाद मैंने उपदेश दिया जिससे सारी जनता मेरी ओर आकर्षित हुई।

उस समय आचार्य महाराज ने चन्द्रसागर जी के आक्षेप नूररत्न की परीक्षा में प्रवीणता का उत्तर दिया, “तुम्हीं बताओ ऐसे को दीक्षा देना योग्य था या नहीं?” लोगो को ज्ञात हुआ कि महाराज मनुष्य परीक्षण में कितने प्रवीण हैं।

गुरुप्रसाद से छह वर्षों बाद मैंने सोनगिरि में दिगम्बरमुनि की दीक्षा ली।” उन्होंने कहा, ‘आचार्य श्री महान योगी हैं। उनकी पावन दृष्टि से मुझे जैसे पतित आत्मा का जीवन पावन बन गया। उनकी अद्भुत शक्त परणति, मृदुल एवं प्रिय वाणी से मेरे जीवन में आध्यात्मिक प्राप्ति हुई। मैंने वही भी महाराज में उग्रता या तीव्रवपाय का दर्शन नहीं किया। उनकी वाणी बड़ी मामूली होती है। जिज्ञासु की विविध प्रश्नमालिकाओं का समाधान उनके एक ही उत्तर से हो जाता है। जीवन की उलझना की सुलझान की अपूर्व कला उनमें है।’

लगभग बाईस वर्षों में मैं गुरुदेव के चरणों के प्रत्यक्ष सानिध्य में नहीं हूँ। यद्यपि मैं उनसे पाद पथों की सर्वदा यचना करता हुआ अतर्क्य

द्वारा दर्शन करता रहता है। जब मैं उनके सग में था, उस समय उनका शास्त्र जीवन की वाचन इतना अधिक नहीं हुआ था, किन्तु अपने निमेल उल्लसनों को अनुभव के आधार पर जो बात वे कहते थे उसकी सुलझाने वाले समर्थ सामग्री शास्त्री में मिल जाती थी। इस प्रकार कलाकार उनका अनुभव सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। उनको मुद्रा पर वैराग्य का भाव सर्वदा व्यक्ति पाया चिरतन वैराग्य जाता है। वे साम्यभाव के भंडार हैं। उनमें भक्त तथा साम्य भाव पर तोष और शत्रु पर रोष नहीं है।

आचार्य बनने पर शिष्यों को सतपथ पर चलने के लिए उन्हें आदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उनका उज्ज्वल जीवन ही सबको प्रकाश प्रदान करता था। अपने शिष्यों के प्रति शासन कार्य में कभी भी पक्षपात अन्याय अथवा अनीति का लवलेश भी मैंने नहीं देखा। सध का सदा अनुग्रह करने के साथ वे आत्मध्यान, शास्त्र अध्ययन आदि आवश्यक कार्यों में सतत सजग रहते थे। आठ-आठ, दस-दस उपवास करते हुए भी हमने उन्हें सदा स्थिर और धर्मध्यान तत्पर देखा है। आहारदान में चतुर व्यक्ति द्वारा दक्षता देखकर वे प्रसन्न नहीं होते थे और न अज्ञ व्यक्ति द्वारा लम्बे-लम्बे उपवासी के होते हुए भी प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थों को प्रदान किये जाने के कारण क्षुब्ध ही होते थे। प्रत्येक स्थिति में वे अपनी बीतरागता का सतुलन बनाए रखते थे।

जब आचार्य महाराज का सध उत्तर की ओर निकला था तब अनेक राजा महाराजा तथा उच्च राज्याधिकारी उनके चरणों को भक्ति श्रद्धा और प्रेम पूर्वक प्रणाम करते थे। उस समय उनकी प्रतिभापूर्ण मृदुल भाषा को सुनते ही प्रत्येक व्यक्ति उनके चरणों का अनन्य अनुरागी बन जाता था। जब लगभग सन १९३० में आचार्य महाराज धौलपुर राज्य के राजाखेड़ा ग्राम में पधारे तब धर्म विद्वेपी छिद्दी ब्राम्हण न तलवार ले उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया था। किन्तु उनके तपोबल से विपत्ति की घटा शीघ्र ही दूर हो गई। उस समय महाराज में उतनी ही स्थिरता थी जितनी कि अपनी भक्त मडली के द्वारा घिरे रहने पर होती है। भय, चिन्ता, सबहावट का उनमें लवलेश भी न था। उस समय उच्च पुलिस

१. सितम्बर माह १९५२ में पायसागर महाराज ने दहीगांव में गुरुदेव के २२ वर्ष बाद दर्शन कर नेत्र तुष्ट किए

अधिकारी ने उस ब्राह्मण को पकड़ कर महाराज की सेवा में उपस्थित किया और पूछा कि 'महाराज इस हत्यारे को क्या दण्ड दिया जाय ?' -

महाराज ने कहा—'इसे छोड़ देना चाहिए यही हमारा कहना है । जब तक तुम इसे न छोड़ोगे तब तक हमारे अन्न जल का त्याग है ।' उस समय सबने देखा कि महामना भुनिराज वस्तुतः शांति के सागर है जो अपने प्रेम के द्वारा प्राणघातक आततायी पर अपनी अनुकम्पा की अमृत वर्षा करते हैं ।'

पामसागर महाराज ने कहा था, "जब हजारों व्यक्ति भव्य स्वागत द्वारा गुरुदेव के प्रति जय घोष पूर्वक अपनी अपार भक्ति प्रकट करते थे तब, और जब कभी कठिन परिस्थिति आती थी तब, वे एक ही बात कहते थे 'यह जय जयकार क्षणिक है, विपत्ति भी क्षणस्थायी है । दोनों विनाशक हैं । अतः सभी त्यागियों को ऐसे अवसर पर अपने परिणामों में हर्ष विषाद नहीं करना चाहिये ।'

मैंने देखा है कि जिन बिम्ब, जिनागम तथा धर्मापत्तियों की हानि होने पर उनके धर्ममय अंतःकरण को आघात पहुँचता था, किन्तु वे वैराग्य भावना के द्वारा अपनी शांति को सदा असुण्ण रखते थे ।'

अपने कथन का उपसंहार करते हुए विद्वान् तपस्वी मुनि श्री पायसागरजी ने कहा—'मुझे जैसे व्यसनी, उच्छल आचरण वाले, भ्रष्ट-प्रवृत्ति तथा हीन विचारवाली गुन्डावृत्ति से परिपूर्ण, पतित आत्मा का यदि आचार्य शांतिसागर महाराज ने उद्धार न किया होता तो न जाने मेरी क्या कुगति होती ? इन महापुरुष ने मुझे ससार सिंधु में डूबते हुए देख हस्तावलंबन देकर मेरी रक्षा की है तथा मुझे महाव्रत की अपूर्व विधि दी है, उनके उपकार को मैं भव भवान्तर में भी नहीं भूल सकता हूँ । उनकी पावन स्मृति मुझे निरन्तर प्रकाश प्रदान करती है ।

हमें गुरुदेव का बहुधा स्वप्न में दर्शन होता है, तथा उनके मार्ग आने वाले विघ्नों का स्वप्न में बोध होता है, जो कि कालान्तर में सत्य होते हैं ।'

वे चारित्र्य चरवर्ती आचार्य शिरोमणि श्री शांतिसागर महाराज मेरी जीवन मौका के लिए प्रकाश-स्तम्भ रूप हैं ।

मोजग्राम से वापिस लौटने पर स्तवनिधि क्षेत्र में पुन १०८ पूज्य पायसागर महाराज का दर्शन हुआ। उस समय उनने कहा, 'आपको एक महत्व की बात और बताना है।'।

मैंने कहा--"महाराज अनुगृहीत कीजिए।"

उनने कहा--"कोल्हापुर में नीमसिर ग्राम में एक पंतीस मूक व्यक्ति को वर्ष का युवक रहता था। उसे अग्गणा दाडीवाले के नाम वाणी मिली। वह शास्त्र चर्चा में प्रवीण था। शकस्मात् वह गूंगा बन गया। वर्ष भर पर्यन्त गूंगेपन के कारण वह बहुत दुखी रहा। लोगों के समक्ष जाने में उसे लज्जा का अनुभव होता था। वह आचार्य ध्यातिसागर महाराज से परिचय वाला था। उसे लोग जबरदस्ती आचार्य श्री के समीप ले गये।

आचार्य महाराज ने कहा--"बोलो, बोलो तुम बोलते क्यों नहीं हो?" फिर उन्होंने कहा 'णमो अरिहन्ताण पढो।' बस उसका गूंगापन चला गया और वह पूर्ववत् बोलने लगा।

चार दिन के बाद वह अपने घर लौट आया। वहा पहुचते ही वह फिर से गूंगा बन गया। मैं उसके पास पहुचा। सारी कथा सुनकर मैंने कहा 'वहा एक वर्ष क्या नहीं रहा। जब तुम्हें आराम पहुचा था तो इतने जल्दी भाग आने की भूल क्यों की?' वह पुन आचार्यश्री के चरणों में पहुचा। उन तपोमूर्ति साधुराज के प्रभाव से वह पुन बोलने लगा। वहा वह १५ या २० दिन और रहा। इसके बाद वह पुन गूंगा न हुआ।

जब पायसागर महाराज ने यह बात सुनाई तब मुझे ऐसा लगा कि नीमसिर गाव के भौतिक श्रुति को आचार्य श्री ने वाणी दी थी किन्तु इन पायसागर जी ने स्व में आध्यात्मिक गूंगे को उनने मंगलमय वाणी की शक्ति प्रदान की, जो अत्मा के विषय में मूकत्व धारण करने वाले जगत् को अध्यात्म की रसवती बोली बोलना सिखाते हैं।

पायसागर महाराज ने आचार्य श्री की अपूर्व शांति पर उहड़ व्यवहार में प्रकाश डालते हुए एक घटना सुनाई थी--"एक कठोर भी पूर्ण शान्ति वाणी वाला लघु श्रेणी का शिष्य गुरुदेव के समीप पहुचा और उसने अहंकारवश उनके पवित्र ज्ञान को चुनौती देते हुए वहा 'आपने अभी शास्त्रों का बराबर परिशीलन नहीं किया।' पूज्य गुरुराज के प्रति प्रयुक्त अभद्र वाणी मुझे अयोग्य लगी। मैंने उससे भद्र शैली में भाषा

प्रवहार करने की प्रेरणा की। मेरे से आचार्य महाराज ने कहा—“पायसागर इसकी प्रकृति पिण्ड इसी प्रकार का है। इसमें बुराई की कोई बात नहीं है। स्वभाव की कोई दबाई नहीं है, इसलिए ऐसी पर रोष नहीं करना चाहिए।”

महाराज के दीक्षा गुरु श्री १०८ देवेन्द्रकीर्ति स्वामी आचार्य के दिवस में पायसागर जी ने एक महत्व की बात सुनाई थी, जिससे इनके गुरु देव की अद्भुत तपश्चर्या पर प्रकाश पड़ता है—

“एक दिन की बात है देवेन्द्र कीर्ति स्वामी गौनाक नगर महाराज के गुरु से कौभूर आ रहे थे। रास्ते में सूर्य अस्त हो गया। देव की अपार दिगम्बर मुनि रात्रि में विचरण नहीं करते इसलिए मार्ग तपस्या में ही रह गये। उनके साथ एगम्प पंडित भी थे। उन्होंने अपने आसपास चारों ओर एक रेखा खींच ली और वे तथा साथ का पंडित उस वृत्त के भीतर हो गये।

सायकालीन सामायिक होने के उपरान्त एक भीषण व्याघ्र वहाँ आया। रेखांकित क्षेत्र के बाहर उसने भीषण गर्जना तर्जनों की। अपना विकराल रौद्ररूप दिखाया, किन्तु उन्हें निर्भीक ऋषिराज पर उसका कुछ असर न हुआ। कुछ समय के बाद वह व्याघ्र वहाँ से चला गया।” इस घटना का समर्थन उक्त पंडित के नाती श्रीकान्त ने भी किया। उसने कहा कि मेरी माता यही बात बताती थी।

इनकी स्थिरता और साहस, निर्भीकता और आत्म निमग्नता आदि श्रेष्ठ गुणों को देखकर उनके समीप में आने वाले को ऐसा लगता है, कि यथायं में इनके पास चतुर्थकाल ही है। इनकी श्रद्धा तथा प्रवृत्ति चतुर्थकालीन मुनियों सदृश है। इतना ही सादृश्य नहीं है, बल्कि जहाँ वे पधारते हैं, वहाँ अनवरत धर्म का निशान बहते देखकर कौन कहेगा, कि वहाँ पाँच बहुल पंचमकाल है।

इनके जीवन की अल्पसामग्री प्राप्त होने पर तो आज के लोगो के रोमांच हो आते हैं। यदि आज के आत्मन्या लिखनेवाले लेखको

१ देवेन्द्रकीर्ति जी १०५ वर्ष तक जीवित रहे थे। ये चारणा पारणा करते थे। उनके अन्त सब दांत नहीं टूटे थे। उनमें १६ वर्ष की अवस्था में मुनिपद धारण किया था। वे बाल ब्रम्हचारी थे।

कीजिए । ”—“अर्चना काम कर गई । हृदय की प्रार्थना थी । महाराज सहृदयता की मूर्ति हैं । उनसे कृपा कर अपने हृदय का द्वार खोल दिया और कहते लगे—

सर्पराज का मुख “एक दिन हम जंगल की गुफा में ध्यान कर रहे थे ।
के समक्ष फण इतने में एक सात बाठ हाथ लम्बा खूब मोटा लठ्ठ सरीखा
करके खड़ा रहना सर्प आया । उसके शरीर पर बाल थे । वह आया और हमारे
मुख के साम्हने फण फैलाकर खड़ा हो गया । उसके
नेत्र ताम्र लाल रंग के थे । वह हमारे पर दृष्टि डालता था और अपनी
जोभ निकालकर लपलप करता था । उसके मुख से अग्नि के फण निकलते
थे । वह बड़ी देर तक हमारे सिर और नेत्रों के साम्हने खड़ा होकर हमारी
ओर देखता था हम भी उसको देखते थे ।”

मैंने पूछा—“महाराज ऐसी स्थित में भी आपको घबड़ाहट नहीं हुई ।”
महाराज ने कहा, “हमें भय कभी होता ही नहीं । हम उसको देखते रहे वह हमें
देखता रहा । एक दूसरे को देख रहे थे ।” सर्पराज शांति के सागर को देखता
था । और शांति के सागर उस यमराज को भी अपनी अहिंसा पूर्ण दृष्टि से
देखते थे । यह अमृत और विष की भेंट थी ।

मैंने पूछा—“महाराज ! उस समय आप क्या सोचते थे ?”

महाराज ने कहा—“हम यही सोचते थे यदि हमने इस जीव का कुछ
बिगाड़ पूर्व में किया होगा तो यह हमें बाधा पहुंचावेगा, नहीं तो यह स्वयं
घुपघाप चला जायगा ।”

महाराज का विचार यथार्थ निकला । कुछ काल के बाद सर्पराज
महाराज को साम्य और धैर्य की मूर्ति और शांति का सिंधु देखकर अपना फणा
नोवा करके, मानो महामुनि के चरणों की प्रणाम करता हुआ, धीरे-धीरे गुफा के
बाहर जाकर न जाने कहा चला गया ।

समुद्र के भीतर रत्नों की ऐसी राशि पड़ी रहती है, जिसकी दीप्ति
के समान समस्त विश्व, में भी कोई रत्न न हो किन्तु उन रत्नों का लाभ समुद्र
के तल का स्पर्श कर डूबकी लेने वालों को क्वचित् कदाचित् हो जाता है ।
ऐसी ही स्थिति शांतिसागर महाराज की प्रतीत होती है ।

मैंने कहा—“महाराज ऐसा भीषण उपसर्ग और भी तो आया होगा ?”

मेरे प्रश्न के उत्तर में सोभाग्य की बात है कि रत्नाकर ने प्रसन्नता
से एक रत्न और बाहर ला दिया । महाराज बोले—“एक बार हम अंगुल के

मंदिर के भीतर एकान्त स्थान में ध्यान करने बैठे । वहाँ पुजारी दीपक जलाने आया; दीपक में तेल डालते समय कुछ तेल भूमि पर गढ़ गया । बर्षा की श्रुति थी । दीपक जलाने के बाद पुजारी अपने स्थान पर वापिस चला गया ।

असंख्य चींटियों महाराज ने कहा, "उस समय हम निद्राविजयतप का द्वारा उपसर्ग पालन करते थे । इससे उस रात्रि को ज्ञात रहकर घम ध्यान में काल व्यतीत करने का नियम कर लिया था । पुजारी के जाने के कुछ काल पश्चात् चींटियों ने आना आरंभ कर दिया । धीरे धीरे असंख्य चींटियों का समुदाय इकट्ठा हो गया और वे हमारे शरीर पर आकर फिरने लगी । कुछ काल के अनंतर उनसे हमारे शरीर के अधोभाग नितंब आदि को काटना प्रारंभ कर दिया । उनसे जब शरीर को खाना प्रारंभ किया तो अधोभाग से रक्त बहने लगा । उस समय हम सिद्ध भगवान का ध्यान करते थे रात्री भर यही अवस्था रही । चींटियों नोचकर खाती जाती थी ।"

कभी एकाध चींटी शरीर में चिपक जाती है तब उसके काटने से जो पीड़ा होती है उससे सारी देह व्यथित हो जाती है । जब शरीर में असंख्य चींटियाँ चिपकी हो और देह के अत्यंत कोमल अंग गुह्यभाग को सारोरांत लगातार खाती रहें और नर देहस्थित आत्माराम बिना प्रतीकार किए एक दो मिनट नहीं, घंटा दो घंटा नहीं, लगातार सारी रात इस दृश्य को ऐसा अल्पित हो देखता रहे मानो सांख्य दर्शन का पुस्कर प्रलाभवत् निलिप्तपुरुष प्रकृति की लीला देव रहा हो । यदि कोई उस भीषण स्थिति का मानोवैज्ञानिक दृष्टि से गहरे रूप में विचार करे तो ज्ञात होगा, कि इस नरक तुल्य व्यथा को स्वाधीन वृत्ति वाले योगीराज शान्तिसागर जी निग्रन्ध एकान्त स्थल में सहन करते रहे, तो उनकी आत्मा कितनी परिष्कृत, सुसंस्कृत, बेराग्य तथा भेद विज्ञान के भाव से परिपूर्ण नहीं होगी । संपराज शरीर में लिपटा था वह मृत्युराज का घंघु बा, यही भय था, किन्तु उसने कोई पीड़ा नहीं दी थी, किन्तु इन छोटी चींटियों ने पीड़ा देने में संपराज को भात कर दिया । इस विषय की शान्ति अन्तःकरण से अनुमान भर किया जा सकता है, किन्तु असंख्य और अवर्णनीय वेदना महाराज ने क्षमताभाव पूर्वक सहन की ।

जब यह उपसर्ग हो रहा था, तब रात्रि के उत्तरार्ध में उस पुजारी को स्वप्न आया कि महाराज की बड़ा भारी कष्ट हो रहा है । वह एक दम घबड़ाकर उठा किन्तु उस भयंकर स्वप्न में रात्रि की जाने की उसकी

हिम्मत नहीं होती थी, कारण वहाँ 'शेर का' विशेष भय था। उसने अपने साथी दूसरे जैन बंधु से स्वप्न की बात सुनाकर वहाँ चलने को कहा, किन्तु प्रमादवश उसने उस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। रात्रि भर निद्रा के देह पर निर्मम हो छोटी-सी चीटियों ने जो महान् उपद्रव किया था, उसको प्रकाश में लाने के हेतु ही मानो प्रकृति ने सूर्य का प्रकाश पहुँचाया। लोग वहाँ जाकर देखते हैं तो उनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी, कारण महाराज के शरीर के गुह्य भाग से रक्त की धारा निकल रही थी, और शरीर सूजा हुआ था तथा फिर भी चीटियाँ शरीर को खाने के पराक्रम में व्यस्त थी। फिर लोगों ने दूसरी जगह शककर डालकर धीरे-धीरे उनको अलग किया, और पश्चात् योग्य वैद्यवृत्त की। इस उपसर्ग का जिसने प्रत्यक्ष हाल देखा, उसको आत्मा से अश्रु आए बिना न रहे। सर्वत्र इस उपसर्ग की चर्चा पहुँची। लोगों ने गुरुदेव को प्रणाम किया और उनके मुख से यही शब्द गूँज रहे थे 'धन्य है योगिराज! आप सदृश जितेन्द्रिय तपस्वी सत्तार में हमने नहीं देखा। आपको हम सबका अनंत प्रणाम हो। भव भव में आप समान गुरु का दर्शन तथा सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो।' किन्तु महाराज की स्थिति विचित्र थी। पृथक्त्व भावना के प्रकाश में ऐसा लगता था मानों जिस शरीर को पीड़ा हुई थी, वह शक्तिसागर जी महाराज का शरीर न था। वे तो ज्ञान शरीरी हैं। यथार्थ में आज के परिग्रह के पीछे उन्मत्त विज्ञान की प्राणहीन वस्तुओं की पूजा करने वाला जगत इन आध्यात्मिक निधियों को क्या समझे? जड वा भक्त तथा सेवक आत्मा क्या समझे? और समझे भी कैसे? जमाघ दुग्ध की भव्यता को क्या जाने? ऐसा अनादिसे मोह के द्वारा विवेक नेत्रों को नष्ट कर देने से दर्शन मोहनीय का दास जो वसुस्तुत आत्मा के वैभव और महता को क्या समझे? वह तो कूप मूडक के समान शक्ति के सिंधु की गम्भीरता और विशालता की बात ही नहीं मानेगा।

११ बस रत्नाकर के पास से उस दिन दो रत्न मिले, और सामायिक का समय आ गया। महाराज जी आत्मचिन्तन में निमग्न हो गये। हमें बार-बार महाराज के धीमुख से सुनी हुई बात का स्मरण आता था। चित्त यही सोचता था। आज के युग में इतनी दलशाली आत्मा का पाया जाना यथार्थ में आश्चर्य की बात है। मैं अपने को भी धन्य सोचता था जो गुरुदेव की वयो के कारण उनके दर्शन के साथ ऐसी महत्त्व की बात जान सके।

मुनिपद धारण करने के पूर्व ही भयनर कष्टों के द्वारा महाराज की परीक्षा प्रारम्भ हो गई थी और नियन्त्रण बनने के बाद उसका विचित्र वेग यदावदा दृष्टिगोचर हो जाता था। पहले महाराज ने बहुत समय तक दूध और चावल का ही आहार रख घोंप पदार्थों को त्याग कर दिया था। इन्द्रियों का दमन करना आवश्यक था। शरीर अत्यन्त बलवान था। बाल्यकाल से निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण इनका शारीरिक बल तो और भी वर्धमान हो रहा था। महाप्रती बनने के बाद इन्हें धातमा के बल की आवश्यकता थी। शरीर को बलवान बना आत्मा को दुर्बल करने की बात इन्हे जहरसी लगती थी। हा ! आत्मा को बलवान बनाने में यदि कायाशील हो जाती है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। इससे ये बहुत उपवास किया करते थे, जिससे इन्द्रियरूप हाथी मस्त न हो और वह इनके ज्ञानाकुश के आधीन रहा आवे।

एक दिन श्रीपूज्य १०८ नेमिसागर जी महाराज से मैने पूछा, "महाराज कृपाकर गुरुदेव की कुछ विशय बातें बताइये जो आपने देखी और जो आपके अनुभव में आईं। आप सदृश महावती मुनिराज की वाणी अयूनमन-तिरिक्त होगी।" —

उनने कहा—“धास्य में जैसा चारित्र्य आचार्य के लिए कहा गया है, वैसा ही चारित्र्य मैने महाराज का पाया है। वे हमेशा धारणा पारणा करते हैं, बीच में दो, तीन, चार उपवास आदि करना उनकी साधारण वृत्ति रही है।”

उनने यह भी कहा—“भगवान् वृषभनाथ स्वामी ने जो धर्म के विषय में बातें कहीं हैं उन पर उनका अटल विदवास, महान् श्रद्धा तथा प्रगाढ भक्ति है। उनकी जिन भक्तियों के प्रभाव से बड़े बड़े विघ्न दूर होते रहे हैं। श्रेष्ठ तपस्वी होते हुए भी मैने उनमें कभी भी अहंकार या भ्रमत्व का दर्शन नहीं किया।” —

नेमिसागर महाराज ने यह भी कहा—“पूज्य महाराज जी की स्मृति बड़ी अद्भुत है। योग्य अवसर में उनकी स्मृति तथा क्षयोपशम ऐसा समाधान उपस्थित करता है, कि प्रश्न की गुंजायश ही नहीं रहती है। महाराज के आन जाने वाले सारे भारत के व्यक्ति इस बात से सुपरिचित हैं कि जो बात या वस्तु उनके समक्ष एक बार आ गई, उसको वे कभी नहीं भूलते हैं। उनके भारत भ्रमण में हजारों आदमी परिषय में आये, किन्तु जब भी कोई व्यक्ति किसी

स्थान का जाता तो उसकी सारी बातें इनके स्मृति पथ में आ जाती थी । महाराज के मुख से हमने भी कई बार सुना "कि हम जिस चीज को एक बार देख लेते हैं या शास्त्र की, जिस बात को एक बार सुन लेते हैं, उसे कभी नहीं भूलते हैं ।" इस प्रकार चरित्र के धन के साथ क्षयोपशम की भी असाधारण सम्पत्ति उनके पास है । बड़े बड़े ग्रंथों का आधोपान्त, स्वाध्याय अनेकवार हो चुका है । प्रायः ऐसा कोई महत्व का प्रकाशित जैन ग्रंथ नहीं बचा होगा, जो इनके स्वाध्याय का विषय न हुआ हो ।

महाराज में अनेक अवधान भी पाए जाते हैं । अभी १९५१ की दीपावली के समय हम पूज्य श्री के पास गए थे । उस समय नेमिसागर महाराज तत्त्वार्थश्लोकवातिक जैसे महान ग्रंथराज को पढ़कर सुना रहे थे । उस बीच में महाराज से मैंने दूसरे किसी विषय की अपनी शंका का समाधान पूछा । मेरा उत्तर देने के साथ ही वे उस ग्रंथ के वर्णन को ध्यान देकर सुनने लगे । मैंने कहा—“महाराज ! अभी मेरे साथ चर्चा करने से आपको ग्रंथ के सम्बन्ध का पता कैसे चलेगा ?” उनमें कहा, “हमारा उपयोग उस ग्रंथ के सुनने की ओर भी रहा आया है ।” अनेक बातों की अवधारण शक्ति ऐसी ही होती है ।

इस प्रसंग पर हमें एक पुरानी सन १९४२ की बात याद आती है । श्रीवालासाव खेर भूतपूर्व मुख्य मंत्री बम्बई से यर्धा स्टेशन पर हमारी चर्चा चली । मैंने उनसे आग्रह किया कि वे यदि प्रयत्न करें, तो महावीर जयन्ती की सार्वजनिक छुट्टी बम्बई प्रांत में होने में देर न लगेगी । उस विषय में वे अपनी कठिनाताओं को बता रहे थे । इतने में एक दूसरे आगन्तुक व्यक्ति से उनमें बात प्रारम्भ कर दी । मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी बातें इनको पसन्द नहीं आई, इससे इतने दूसरी बातों में लगकर मेरी अपेक्षा की, अतः मैं भी उनका अनुकरण करता हुआ वहाँ से चल दिया । क्षण भर बाद उनमें मुझे वहाँ न देखा तब एक आदमी को भोजकर मुझे बुलवाया और कहा “मास्त्री जी ! आप तो चले गए । मैं तो आपकी बातें बड़ी दिलचस्पी से सुन रहा था ।” मैंने कहा, “मुझे ऐसा लगा कि आपको मेरी बातें पसन्द नहीं आई इससे आप दूसरे भाई से अन्य बातों में लग गए ।”

इस पर श्री खेर बोले, “आपकी समाज के श्रीमद् - रायचन्द्र भाई शतावधानी थे तो हम लोगो के भी कुछ अवधान रह सकते हैं ।” तब मुझे उनका दृष्टिकोण ज्ञात हुआ ।

ऐसी बात मैंने महाराज शातिसागर जी के विषय में भी 'चरितार्थ' पाई। ज्ञान का अहंकार लिए कई शास्त्री विद्वान अपने अपने स्थान में बैठे सोचते हैं कि इन महाराज ने कोई विद्वविद्यालय की डिग्री नहीं पाई है। न ये न्यायाचार्य हैं न न्यायतीर्थ या व्याकरणाचार्य ही हैं। सिद्धांतों के अभिज्ञ 'शास्त्री' भी नहीं हैं। लोक विद्या के विद्वान यह समझते हैं कि हमारे शास्त्र का तो ये लेश भी न जानते होंगे। किन्तु जैसे मानस्तम्भ के दर्शन से अहंकार दूर होकर भक्ति जागृत होती है, ऐसे ही इनके सम्पर्क में आकर चर्चा करते समय यह पता चलता है कि बड़े बड़े आचार्यों/पाध्यायों, शास्त्रियों, प्रेजुएटो आदि से पूज्य श्री के प्रश्नों का उत्तर देते नहीं बनता है और

उन कठिनगुत्थियों को ये बड़ी सरलता से सुलझा देते हैं।
महान अनुभवी एक दिन मैंने देखा, महाराज अर्थशास्त्र के सिद्धांत
ज्ञाता

(Law of Diminishing Utility) हीयमान उपयोगिता के सिद्धांत का वर्णन अपने अनुभव के आधार पर कर रहे थे। तब मुझे ज्ञात हुआ कि तपश्चर्या के द्वारा इनके क्षयोपशम में असाधारण विकास हुआ है।

सन १९५१ भाद्र पद के पश्चात् पं० जगमोहनलालजी शास्त्री कटनी, पं० मवलनलाल जी न्यायालकार मोरेना, पं० उत्कृष्टरायजी बनई तथा और भी बहुत से विद्वान महाराज के पास बाराबती में पधारे थे और चर्चा के समय महाराज की प्रतिभा का वैभव देखकर चकित होते थे। इतना असाधारण क्षयोपशम सतत श्रुत सेवा तथा तपश्चर्या का सुपरिणाम है।

अहंकार के पहाड़ पर बैठे हुए अपने को श्रेष्ठ विद्वान
सुलझी हुई मानने वाले भाई यदि इनके पास आवें तो
विद्वत्ता तो उनको पता लगेगा कि इनका जिनायम का ज्ञान कितना
सुलझा हुआ है और उनको उलझा हुआ समझने वाले कितनी गहरी
भ्रान्ति में फंसे हुए हैं।

एक दिन महाराज कहते थे, "हम प्रतिदिन कम से कम ४० या ५० पृष्ठों का स्वाध्यय करते हैं।" ध्वलादि सिद्धान्त ग्रंथों का बहुत सुन्दर अध्यास महाराज ने किया है। अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शकाओं को उत्पन्न करके उनका सुन्दर समाधान करते हैं। हमने महावन्द्य के दूसरे भाग की हिन्दी में टीका तीन वर्ष हुए तैयार कर ली थी, हमने सोचा पूज्य गुरुदेव को कुछ महत्व के अंश सुनाना उचित होगा और इससे उनका मंगलमय आशीर्वाद भी प्राप्त हो जायगा तथा

कई महत्व की बातें भी सुनने में आ जावेंगी । जैसे कि प्रथम भाग के लिए प्राप्ति हुई थी ।

‘महाबन्ध’ प्रथम भाग की टीका को कवलाना में पढ़कर महाराज ने कहा था

पहले समय सार सचमुच में यह ग्रंथ महाघवल है । बन्ध का स्पष्टता पूर्वक प्रतिपादन करने वाला शास्त्र यथार्थ में महान है ।
नहीं चाहिए बन्ध का ज्ञान होने पर ही मोक्ष का बराबर ज्ञान होता

है । पहले समयसार नहीं चाहिए । पहले महाबन्ध चाहिए । पहले सोचो हम क्यों दुःख में पड़े हैं, क्यों नीचे हैं ? तोन तो त्रैलोक्यपाल मत्त वाले भी
पहले बंध को मुख चाहते हैं किन्तु मिलता नहीं । हमें कर्म क्षय का
बाज ज्ञातव्य है मार्ग ढूँढना है । भगवान ने मोक्ष जाने की सड़क बनाई
है । चलोगे तो मोक्ष मिलेगा, इसमें शंका क्या ?”

अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए महाराज ने एक कथा सुनाई थी । ‘एक राजपुरोहित को मृत्यु हो गई । उसने अपने पुत्र को अर्थकरी विद्या कुछ भी न बताई, केवल इतना शिक्षण दिया था, कि अमुक कार्य करने से अमुक कर्म का बंध होता है । ब्राम्हण पुत्र बंध शास्त्रों में ही पारंगत था और कोई बातों को नहीं जानता था ।

उदाहरण पितृविहीन विप्रपुत्रकी बड़ी दुर्दशा हो गई । घर का धन सब खा लिया । आगे जीविका का कोई प्रसस्त पथ नहीं दिखा इससे उसने चोरी का आश्रय ग्रहण किया । राजा के खजाने में ही चोरी करने को घुसा । वहाँ जब उसने रत्न का हार चुराने को उठाया तब उसे स्मरण आ गया कि रत्नों की चोरी से इस प्रकार का बंध होता है । इससे उसने उसे छोड़ दिया । इसी प्रकार सुवर्ण चाँदी आदि निमित्त वस्तुओं को लेते समय दोषों के भयवश उसने उनका त्याग कर दिया । जो वस्तु उठाता वही दोषप्रद दिखती । अतः वह परेशान था । इतने में निराश लौटते हुए उस एक जगह भुसा की विपुल राशि देखी । उसके चुराने से कोई दोष होता है, यह पिता ने नहीं सिखाया था अतः मौला विप्रपुत्र भुसे का गद्ढा बाँध कर साथ ले चला । पहरेदारों ने उसे पकड़ा । पुरोहित पुत्र की बात होने से राजा ने उसे स्वयं बुलाकर पूछा—“तुमने भुसा की चोरी क्यों पसन्द की ?” उसने उत्तर दिया—“राजन् मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे जीवन में बेशक बंध का शास्त्र पढ़ाया था उससे मैं इतना ही जान सका, कि किस वस्तु के चुराने से क्या फल होता है । आपके राजकोष की बहुमल्य

वस्तुओं के लेने की हिम्मत न हुई क्योंकि उनके ग्रहण करने में बड़ा दोष होता है। एक भुसा का लेना ही दोष रहित ज्ञात हुआ। इससे उसे ले लिया।" राजा ने पुरोहित पुत्र को असाधारण पाप-भीरु देख, उसे ऐसे पद पर नियुक्त कर दिया, जिससे उसको कष्ट नहीं रहा। वधा का निष्कर्ष बताते हुए पूज्य ने कहा—“बन्ध का ज्ञान होते ही जीव पाप से बचता है। इससे कर्म की निर्जरा होती है। बन्ध वा वर्णन पढ़ने से मोक्ष का ज्ञान भी होता है। अतः पहले वध का ज्ञान होना आवश्यक है।”

आचार्य श्री ने महाबन्ध के दूसरे भाग की हमारी भायाटीका के कुछ अंश को सुनकर तत्काल कुछ मामिक शकाए की, जिनका हमें तत्काल उत्तर देते नहीं बना। कुछ समय बाद पूर्वापर विचार कर हमने जो समाधान किया, उससे उनका सतोष हुआ। तब महाराज बोले यह खुलासा तुम्हें टीका में कर देना चाहिए, जिससे संदेह न रहे। मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और उसके अनुसार विषय का स्पष्टीकरण कर दिया।

इस प्रकार उनके संपर्क में आने वाले को उनके असाधारण क्षयोपशम का तथा विशिष्ट स्मरण शक्ति का क्षण भर में ही निश्चय हो जायगा। इसलिए पूज्य मुनि श्रीनेमिसागर महाराज ने जो गुरुदेव की स्मरण शक्ति को अद्भुत कहा वह यथार्थ है।

अंजुली में उबलता मुनिपद में प्रायः मौत के साथ झूला सा झूला जाता है।

दूध न जाने कब कोन सी घटना जीवन प्रदीप को बुझाने वाली बन जाय? एक बार महाराज चर्या के लिए निकले। एक श्रावक के गृह पर विधि मिल गई। भोजनशाला में पहुँच गए। सिद्धभक्ति हो चुकी। अंजुलि बाधकर आहार लेने को तैयार हुए। उस समय महाराज उष्ण दूध और चावल का आहार लेते थे। उस श्रावक के यहाँ उबलता हुआ दूध रखा था। होनहार की बात कि उसका साधारण विवेक भी उस समय नष्ट सा हो गया। उसने अपने हाथ न जल जाय, इस कारण कपड़े से दूधवाले वस्त्र को पकड़ा और तुरन्त महाराज की अंजुली में डाल दिया। वह यह नहीं सोच सका कि इससे मेरा हाथ जलता है, तब इसके स्पर्श से इन मुनिनायक का क्या हाल होगा? दूध का हाथ में गिरते ही उष्णता की असह्य पीड़ा के कारण वे मूर्छा के अधीन हो तत्काल भूतल पर गिर पड़े। सब स्तब्ध पड़ गए। नेमिसागर

मुनि महाराज गृहस्थ के रूप में थे । वे यह सोचकर कि कहीं वह महाराज का जीवन का अंतिम क्षण न हो उसके कानों में ज़ोर ज़ोर से से पचनमस्कार मंत्रराज का पाठ करने लगे । कुछ समय के पश्चात् मूर्छा दूर हुई । उस समय महाराज ने आँखें खोली, क्षण भर में सब बातों की स्मृति हो गई । उस दिन उनको आहार का अंतराय हो गया । उनके भावों में शांति रही आई ।

तीन वर्ष पूर्व कवलाना में महाराज का वर्षायोग व्यतीत हो रहा था । गले में कैंसर रोग के कारण अन्न का ग्रास लेने में अपार कष्ट होता था । बड़े कष्ट से थोड़ा थोड़ा आहार लेते थे । एक ग्रास जरा बड़ा हो गया , उसे मुह में लेकर खा ही रहे थे, कि वह गले में अटक गया, और उस समय उनके मूर्छा सरीखे के चिन्ह चेहरे पर दिखाई पड़े । चतुर आहार दाता ने दूध से अजुलि भर दी और उस दुग्ध से वह ग्रास उतर गया अथवा वह दिन न जाने क्या अन्तिम दिखाता । यह घटना हमारे साम्हने की थी । वही एक घटना और भयकर हो गई थी ।

महाराज ने अन्न छोड़ रखा था । फलों का रस आदि हरी वस्तुओं को छोड़ लगभग १८ वर्ष हो गए । घी, नमक, शक्कर, छाछ आदि पदार्थों को त्यागे हुए भी बहुत समय हो गया । उस समय चातुर्मास में धारणा का क्रम चल रहा था । कैंसर का रोग अलग त्रासदायक हो रहा था । एक उपवास के पश्चात् दूसरे पारणा के दिन अंतराय आ गया । तीसरा दिन उपवास का था, चौथे दिन अंतराय आ गया पांचवा दिन फिर उपवास का था । छठवें दिन आहार ले पाए थे । ऐसे अन्तराय की भीषण परंपरा दो-तीन अवसर पर आई । इससे शरीर बहुत क्षीण हो गया । डग चलना भी कठिन हो गया । इतने में वर्षा आ गई । शीत का वेग बढ़ गया । शरीर तो दिगम्बर ही ही । दो-तीन बजे रात के जोर की खासी आई और उस समय भीषण स्थिति हो गई । सूर्योदय होने पर हम महाराज के दर्शन का पहुंचे तब महाराज ने कहा—‘आज रात को हमारा काम समाप्त हुआ सा प्रतीत होता था ।’ सुनते ही चित्त घबड़ा गया ।

मैंने पूछा—“महाराज, क्या हुआ ?”

अद्भुत आत्म बल महाराज ने बताया जोर की खासी आई और उसमें ले श्वास बाहर निकली वह कुछ मिनिटो तब खिंची । गाड़ी भी जाती रही, शरीर भी शून्य सा पड़ गया,

समय के उपरान्त सब बातें सुधार के रूप में परिणित हो गईं ।" उस समय महाराज के मुख से कठिनाता से शब्द निकलते थे, किन्तु दीनता या धमड़ाहट या कराहना आदि का लेश मात्र भी नहीं था । आत्मा में अद्भुत बल उस समय दिव्यता था ।

वहाँ मध्याह्न के बाद दो बजे के लगभग दशलाक्षणी का शास्त्र होता, था । शास्त्र वाचन मैं ही करता, था । महाराज ने वहाँ "आज हम शास्त्र में नहीं जा सकेंगे । आप जाकर शास्त्र वाच लेना ।" मैंने कहा 'महाराज । आपकी सेवार्थ ही मैं यहाँ आया हूँ । लोगों को शास्त्र सुनाने नहीं आया हूँ । मैं आप ही के पास रहूँगा ।" उस समय महाराज की कुटी के समक्ष ही मैं शास्त्र का वाचन मैं करता रहा । धीरे धीरे महाराज की प्रकृति में परिवर्तन होता चला, किन्तु उस विपत्ति के समय महाराज की स्थिरता, धर्म की श्रद्धा, तथा आत्मबल कभी भी नहीं भूलाया जा सकता है ।

आश्चर्य जनक अवस्था
शारीरिक सामर्थ्य तक जाने की सामर्थ्य नहीं रही थी । उस समय प्र० जीवराज गीतमचन्द्र जो दोसी महाराज के दर्शनाय आये थे । ब्रम्हचारी जी को महाराज की शरीर स्थिति खतरनाक दिखी और उनमें महाराज को समाधिमरण लेने की सलाह दे दी ।"

महाराज ने कहा,—“तुम्हें हमारे मरने की क्या फिकर होती है ? हम अपना हाल स्वयं जानते हैं तपस्या करते लगभग चालीस वर्ष व्यतीत हो गये । हमारा अन्तिम समय कब निकट आया है, यह हमें स्वयं ज्ञात हो जायगा । सलाह की जरूरत नहीं है ।"

इसके अनंतर दूसरे दिन महाराज ने वहाँ से विहार कर दिया । जो एक दिन पहले चार डग भी नहीं जा सकते थे आज वे दो तीन मील चले, दूसरे दिन बहुत अधिक चले । लोगों को चकित करते हुए महाराज चारामती आ गये और वहाँ के अनुकूल जल पवन से उनका स्वास्थ्य सुधरने लगा ।

मैंने पूछा,—“महाराज जब आप में तनिक भी हिलने की शक्ति नहीं थी, तब आप इतनी दूर कैसे जा सके ?"

महाराज बोले—“भगवान की कृपा है ।"

जब भी कोई बड़ा काम हो जाता है तो वे उस का श्रेय अपने को न

देकर जिनेन्द्र भक्ति को देते हैं। उनकी जिनेन्द्र भक्ति, वीतराग शासन-प्रश्रद्धा अद्भुत है। आत्मबल भी असाधारण है। इन दो पतवारों के द्वारा उनकी जीवन नौका विपत्ति के मध्य से सफुल्ल आगे बढ़ती रही है।

प्रतीत होता है कि स्वामी समतम्र के इस कथन पर उनका प्रगाढ़ विश्वास है "जिनेन्द्र के चरण युगल दुःख रूप समुद्र में तौका का कार्य करते हैं अर्थात् विपत्ति काल में वीतराग प्रभु की भक्ति करने से यह जीव सकट के समुद्र के पार पहुँच जाता है—“बलेशाम्बुधेनो पदे”।

जैसे जैसे महाराज की तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्बन्धा होती थी, वैसे वैसे उनका आत्मबल और प्रभाव बढ़ता जाता था। कोन्नूर में सेठ खुशाल-चन्द जी पहाड़े तथा ब्र० हीरालाल जी श्रमणवेलगोला जाते हुए रास्ते में इन तथोभूति के दर्शन निमित्त रुक गये। आठ दिन तक इनके जीवन का निरीक्षण करते रहे। उस सत्समागम की सुखद स्मृति स्वरूप दोनों सत्पुरुषों ने सुस्वादु अहार का त्याग करके नीरस भोजन का नियम ले लिया। श्री पहाड़े काग्रेस के प्रभावशाली कार्यकर्ता थे। वह समय १९२३ का था जबकि सारे देश में गान्धी जी के द्वारा संचालित अहिंसात्मक असहयोग द्वारा लोक जागृति से अंग्रेजी शासन काप रहा था। उस समय सारे देश के साथ लोक-नेता पहाड़े जी तिरगे झंडे को प्रणाम करते हुए पढा करते थे “इसकी शान न जानें पावे, चाहे जान भले ही जावे।” जब रत्नशय ध्वजधारी महाराज के समीप में आये तब उनका हृदय बोला, “तुम किस जड ध्वज के पीछे जान देने को दौड़ते हो, तुम्हारा सच्चा कल्याण इन मुनिनाथ की शरण में आ, रत्नशय ध्वज को प्रणाम करने में है। वह रत्नशय ध्वज विश्व विजयी है। उसे धारण करने वाला प्राणी त्रिलोकीनाथ बनता है। ऐसे आत्म ध्वज की आन के लिये जान पर खेलना हितकारी होगा।”

दोनों का हृदय इस महान् आत्म चुम्बक से खिंच गया। हृदय में यही निश्चय होता था कि शांति-सिन्धु के पास से कुछ रत्न अवश्य लेना चाहिये। अतःकरण में ऐसी भावना होती थी कि—ऐसे गुण रत्नाकर वा सानिध्य छोड़ दूसरी जगह भटकना अच्छा नहीं है। फिर भी भगवान् बाहुबलि की वदना के लिये निकले हुये थे होनहार भुनि युगल खाना हो गये। भगवान् बाहुबलि की वीतरागता से भरी संप्राण सौ प्रतीत होने वाली मूर्ति ने इन्हे अपूर्व प्रकाश दिया। राग का बधन काटने की समुचित प्रेरणा

प्रदान की। १

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद उनका मनमधुकर महाराज के चरण कमलों के सौरभ की ओर खिंचता जा रहा था। महाराज का जीवन उपसर्गों के सहने से विरागता और आध्यात्मिक दीप्ति का केन्द्र बन रहा था। अग्नि के ताप को सहनकर जैसे स्वर्ण शुद्ध और दीप्तिमान होता है वैसे ही उनकी अवस्था थी। कोन्नूर में सपं का उपसर्ग शान्त भाव से सहन करने की चर्चा जिस किसी व्यक्ति के कान में पड़ती उसका मन इन गुरुदेव की वदना के लिए लालायित होता था। यहाँ आने वाले को महाराज का जीवन कल्पवृक्ष के समान प्रिय और निरंतर आश्रय योग्य लगता था। नाटककार रामचंद्र जी ने ब्रह्मचर्य प्रतिभा ली, और भी व्यक्तियों के परिणाम इन व्रत निधान के पास से समय प्राप्त करने के हो रहे थे। श्री खुशालचंद जी पहाड़ और श्री हीरालाल जी का पुण्य उनको पुनः यहाँ खँच कर लाया। चातुर्मास के बाद जब महाराज बाहुबलि पहुँचे तो खुशालचंद जी ने क्षुल्लक दीक्षा धारण की, उनका नाम चंदसागर रखा गया, हीरालाल जी ने भी क्षुल्लक दीक्षा ली और वे बीरसागर वहे जाने लगे।

समझोली चातुर्मास यहाँ से बिहार करते हुए महाराज सहडोली ग्राम पहुँचे। वहाँ इनने चातुर्मास किया। यहाँ दूर दूर के हजारों व्यक्तियों ने महाराज के दर्शन का लाभ किया। समझोली के पाटील महाराज के बड़े भक्त थे। सघ को वर्षाकाल में कोई कष्ट न हो इसलिये सारी बस्ती में नवीन सड़कों का निर्माण हुआ। वहाँ ऐसा लगता था मानो कोई बड़ा भारी मेला चार माह के लिये लगा हो। बाहर से आने वाले लोगों की सर्व प्रकार से सुव्यवस्था थी। अपना कुटुम्बी मान लींग घामिको का स्वागत करते थे।

इस प्रान्त में यह विशेष बात है कि कोल्हापुर बेलगाव दक्षिणप्रान्त में सागली आदि के आसपास के निकटवर्ती ग्रामों में जैनियों का सख्या बहुत है। हजार घर वाले ग्राम में सहज ही पचहत्तर प्रतिशत जैनियों की सख्या पाया जाना साधारण बात समझी जाती है। यहाँ मुनि जीवन व्यतीत करने के लिये सर्व प्रकार की अनुकूलता पायी जाती है। श्रावक समुदाय प्रायः कृषि-जीवी हैं। वे शुद्ध खानपान किया करते हैं। शुद्ध धी, दूध, जल, भोजनादि की स्वतः अनायास व्यवस्था पायी जाती है। जिस तरह अन्य प्रान्तों में साधु

के आहार कराने के लिए आहार आदि की व्यवस्था करने में लोगों को अपने प्रान्त में फैले शिथिलाचार के जाल के कारण कठिनता मालूम पड़ती है वैसे स्थिति यहाँ नहीं है। यह प्रान्त समशीतोष्ण कटिबंध में है। यहाँ न शीष्म का संताप प्रचंडता दिखाता है और न ठंड का प्रकोप ही असह्य पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में यह भूमि संसार-विरफ्त व्यक्तियों को श्रेष्ठ दिगम्बर मुद्रा धारण करने को सहज प्रेरणा देती है।

इस प्रान्त में विद्यमान लाखों जैनियों की संख्या देखकर यह बात अत्यन्त दुर्घटा पूर्वक कही जा सकती है कि अब तक की जनगणना में दिगम्बर जैनियों की संख्या लगभग ५ या ६ लाख और उतनी ही श्वेताम्बरो की मानना पूर्णतया मिथ्या है। वास्तव में जैनियों की संख्या अत्यधिक है। सरकारी कर्मचारी मसाद स्वार्थ या सांप्रदायिकता के आधीन हो जैनियों को जैन न लिखकर हिन्दू लिख दिया करते हैं। रहन सहन व्यवहार आदि में हिन्दू भाइयों के समान प्रवृत्ति देखकर अनेक जगह जनगणना करने वाला धर्म के स्थान में पहले से ही हिन्दू लिख लिया करता है। इस भूल का भेद पाने के लिये अखिल भारतीय वनन वाली जैन प्रतिनिधि संस्थाओं को स्वयं जैन जन गणना करना चाहिये। यह विषय शांत सुव्यवस्थित सक्रिय सेवा चाहता है। बाजार में वस्तु विक्रेताओं से विज्ञापन बाजी में प्रतिस्पर्धा करने की पद्धति द्वारा साध्य नहीं है। हमारी दृष्टि से कुछ सहृदय उत्साही व्यक्ति और कुछ उदारचेता पुरुष मिल जाय तो इस दिशा में व्यवस्थित कार्य कर सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि चार दिन चमकने वाली क्षणिक कीर्ति की लोलुपता-वश हमारे प्रतिष्ठा प्रेमी कार्यकर्त्ता उन कामों में हाथ लगाना मूल्य कर्त्तव्य मानते हैं, जिसमें सहज ही कीर्ति का भंडार मिल जावे। सच्ची सेवा करने वाले व्यक्ति यश को नगण्य गिनते हुए कार्य की पवित्रता और महत्ता पर ध्यान दिया करते हैं। वर्तमान नवीन सभ्यता के आक्रमण के युग में जिनधर्म के सेवकों का कर्त्तव्य है कि वे नकली सेवा के कांचखंड वा संग्रह कर संतुष्ट न हो। रत्नत्रय की समाराधना के क्षेत्र में तन, मन, धन से प्रयत्न करें। इस जीव का सच्चा कल्याण रत्नत्रय धर्म की समाराधना में है। इसीलिए तो शांतिमागर महाराज ने सम्पूर्ण अंतरंग-बाह्य परिग्रह को छोड़कर वीरमुद्रा धारण की है।

समढोली में वीरसागर जी ने निग्रन्थ दीक्षा ली। श्री नेमप्पा ऐलक महाराज ने भी मुनि पद स्वीकार किया। आज वे उग्र तपस्वी परम

श्री वीरसागर नेमिसागर जी की मुनि दीक्षा शान्त और सरलता की मूर्ति नेमिसागर महाराज के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। जिस समडोली में दो महान् भाग्यो ने समता-पूर्ण निर्गन्ध दीक्षा ली वह समताभाव को जगाने वाली समडोली साधर्मी समुदाय में महिमायुक्त बन गयी। वहाँ चार माह पर्यन्त धर्ममृत की वर्षा होती रही, उसे देख ऐसा लगता था कि वहाँ धार्मिक वर्षा का काल आ गया है।

— महाराज जहाँ चातुर्मास में रहते हैं वहाँ धर्ममृत की वर्षा द्वारा अगणित जीवों का कल्याण होता है। आकाश से मेघमण्डल द्वारा की गई वर्षा चारों ओर हरित वनस्पति का सुन्दर साज सजाती है। इसी प्रकार इन महापुरुषों की कल्याणकारी धर्मवर्षा के द्वारा आत्मकल्याण का उपवन भी हरा भरा हो जाता है। उससे जो जीव का कल्याण होता है उसका मूल्य रिजर्व बैंक की सारी सम्पत्ति से भी अधिक है। अपने स्वरूप को उपलिब्ध का मूल्य यदि महान् न होता तो उसकी प्राप्ति के लिए बड़े बड़े सम्राट् चक्रवर्ती आदि अपने विशाल राज्य का ब्यो परित्याग करते ?

आचार्य-पद

समडोली में शान्तिसागर महाराज ने जो धमण संघ का निर्माण किया, उसके कारण चतुःसंघ समुदाय ने उन्हें आचार्य परमेष्ठी के रूप में पूजना प्रारंभ किया ।

आचार्य पद का स्वहृष । आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में आचार्य पद की बड़ी प्रतिष्ठा है । मूलाचार में लिखा है, " जो निर्ग्रन्थ मुनि ज्ञान, दर्शन, धीर्य तथा तप और चारित्र्य रूप पंच आचारों का निरतिचार पालन करता है, दूसरों को इन पंच आचारों में लगाता है तथा इनका उपदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं ।" घबलाटीका में लिखा है, "जो पंचविधि आचार का पालन करते हैं, दूसरों से पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं ।"

आगम में लिखा है, "जिनकी बुद्धि जिनागमरूप जलधि के मध्य में स्नान द्वारा निर्मल हो गई है, जो शुद्धता पूर्वक छह आवश्यकों का पालन करते हैं, मेरु के समान अकंप है, धीर है, सिंह सदृश्य है, है, तथा श्रेष्ठ है, वे आचार्य कहलाते हैं ।"

"जो देश, कुल तथा जाति से शुद्ध है, सौम्य मूर्ति है, बाह्य तथा अंतरंग परिग्रह उन्मुक्त है, जो गगन के समान निलंब है, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं ।"

"जो संग्रह तथा शिष्यों के दोष दंड द्वारा निग्रह करने में प्रवीण है, सूत्रों के अर्थ चिंतन में विशारद है, विधुत कीर्ति है, जो

१ आचारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो निरदिचारं ।

उवदिसदि य आचारं एसो आचार्यं नाम ॥

४२५ मूलाचार

२ पंचविधमाचारं चरन्ति, चारयन्तीत्याचार्याः ॥

पृ. ४८, भाग १ घबलाटीका

३ पवयण-जलहिज लोयरण्यामल-बुद्धि-मुदछावासो ।

मेरुध्व निप्पकंपो सूरु पंचाणणो वज्जो ॥

४ देसकुल जाइसुद्धो सोमंगो संगमंग उम्मुक्को ।

गयणव्व निव्वलेवो आयरियो एरिसो होई ॥

सारण अर्थात् आचरण करने में, वारण अर्थात् दोषों का निवारण करने में तथा व्रतों की रक्षा करने वाली क्रिया के साधन में निरन्तर रहते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए ।^१

• आचार्य वीरमेन स्वामी ने लिखा है—

जो आचाराग के धारक हों अथवा तत्कालीन जिनागम तथा अन्य शास्त्रों के पारगत हो, मेघ के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान सहनशील हो तथा सागर के समान मल दोषों को दूर करने वाले हो, तथा जो सात प्रकार के भय से रहित हों, वे आचार्य हैं।^२ प्रावृत्त आचार्य भक्तिमें लिखा है—

आचार्य परमेष्ठी उत्तम क्षमा के द्वारा पृथ्वी सदृश है, निर्मल भाव की अपेक्षा स्वच्छ जल समान है । कर्मन्धन के दहन करने से अग्नि रूप है, परिग्रह रहित होने से पवन तुल्य है ।^३

जो गगन के समान निर्लेप है, सागर सदृश अक्षोभ्य है, इस प्रकार गुणों की शक्ति मुनि श्रेष्ठ आचार्य परमेष्ठी के चरणों को शुद्ध हृदय से प्रणाम करता है ।^४

वंशकुल परंपरा की शुद्धता होने पर भावों में उच्चता आती है, इसी कारण सोमदेव सूरि ने अपने यशस्तिलक में लिखा है “दीक्षायोग्यास्वयो वर्णा.” (पृष्ठ ४०५)—मुनि दीक्षा के योग्य श्रैवर्णिक ही हैं । इसी कारण आचार्य की स्तुति में उनकी कुलीनता का उल्लेख करते हुए लिखा है—

“देस कुलजाइ सुद्धा विसुद्ध मणवयण वाय सजुता ।

तुम्हं पाय पयोरुह मिह भगल मत्थु मे निच्च ॥”

१ संगहण-णिग्गहण कुसलो सत्तत्थ विसारओ पहियक्खिती ।

सारण-वारण-साहण-किरिमुज्जुतो हु आइरियो ॥

२ आचारागधरोवा तात्कालिक-स्वसमय-परसमय

पारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिर्विव सहिष्णुः,

सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभय विप्रमुक्त आचार्यः ॥

धवलाटीका भाग १ पृ. ४८, ४९

३ उत्तमक्षमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा ।

कम्मिधण दहणारो जगणी वाळ असंगदो ॥

४ गयणमिव निहवलेवा अक्खोहा सायस्सुव मुणिवसहा ।

एरिस गुणणिलयाण पाय पणमामि सुद्धमणो ॥

“जो देश से शुद्ध है, पितृ पक्ष तथा मातृ पक्ष से शुद्ध है, निर्मल मन, वचन, शरीर युक्त है, ऐसे हे आचार्य परमेष्ठी ! आपके चरणकमल मेरा निरन्तर कल्याण करें ।”

‘महावध के मंगल दलोक में लिखा है, जिनने रत्नत्रय रूपी तलवार के प्रहार से मोह रूपी सेना के मस्तक को विदीर्ण कर दिया है तथा भग्य जीवी का परिपालन किया है, वे आचार्य महाराज प्रसन्न होंगे ।’

आचार्य परमेष्ठी का, वीतरागशासन होता है, जबकि राजाओं का सराग शामग होता है । आचार्य महाराज के शासन में रहने वाला गुण-प्रसाद से स्वर्ग, मोक्ष की सामग्री को प्राप्त करता है किन्तु राजा के प्रसाद में ऐहिक कुछ सामग्री मिल जाती है—‘‘राजा प्रसन्न गज भूमि दानम्,’’ राजा प्रसन्न होने पर हाथी भूमि का दान देता है, किन्तु आचार्य प्रसन्न होते हैं तो वे शिष्य को अपने समान बना लेते हैं । अभी समझोली में वीरसागर जी तथा नेमिसागर जी को निर्गन्ध दीक्षा देकर महाराज ने अपने समान बना ही लिया । इस प्रकार इन आचार्य परमेष्ठी के साथ सत्तुलन करने पर राजा का पद बहुत ही लघु ज्ञात होता है ।^१ इसी से राजा भी इन महाप्रभु के चारणा की रज के द्वारा अपने जीवन को धन्य मानता है ।

आचार्य पद और राजा के विषय में कुलीनता की समान रूप से मायना मानी गई है । नीतिवाक्यामृत में लिखा है—

स्वजातियोग्यसस्कारहीनाना राज्ये प्रव्रज्याया च नास्त्यधिकार ॥

(नीतिवाक्यामृत ६९. पृ २४३)

स्वजाति के योग्य सस्कार हीनो को न राज्य का अधिकार रहता है, न दीक्षा का ही अधिकार होता है । नीच व्यक्ति को अपात्रता के कारण इन दो पदों के अयोग्य कहा है ।

आज लोकतन्त्र के बल पर कोई कहे कि हम नीचों को ही सिर पर बैठा लेंगे, इसमें क्या दोष है ? इस शका का समाधान सोमदेव सूरि इस प्रकार कहते हैं “जिस प्रकार उदर में स्थापित करने परचना

१ तिरयण-श्राग णिहाए णुत्तारिय मोहसेण सिरणिबहो ।

आइरिय राउ पसियउ परिवारिय भवियजिय लोओ ॥

२ महापुराण में निर्गन्ध दीक्षा को वीर दीक्षा कहते हुए कहा सुन्दर

वात संबंधी विकृति को उत्पन्न करता है, तद्वत् अत्यन्त स्नेह करने पर भी नीच अपने सस्कार के अनुसार विकार किए बिना नहीं रहता है ।”

चणका इव नीचा उदरस्यापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥

(नी वा. पृ० २८३-३०)

यहाँ यह भी शका हो सकती है, कि जिस प्रकार राजा को प्रजा के सुखदुःख की निरन्तर चिन्ता रहती है, उसी प्रकार आचार्य को चिन्ता रही तो उनका निग्रहपना विपत्तिपूर्ण हो गया । घर के कुटुम्बियों की चिन्ता छोड़-

कर दूसरों की चिन्ता ले ली । जिसके मस्तक पर मुकुट विराजमान रहता है, वह घेचैन रहा करता है । यह सकट वीतराग आचार्य के शासन में नहीं है। सध के साधुओं को सन्मार्ग में लगाते हुए भी आचार्य की उनके विषय में रचमात्र भी आसक्ति नहीं है । विचारवान सहज ही सोच सकता है, जिस शरीर को योग्य आहार पानादि देते हुए भी जब वे अपनी चैतन्यज्योति को

वर्णन किया है । बाहुबलि के दीक्षा लेने के बाद भरतेश्वर के अन्य वन्धु चक्रवर्ती को प्रणाम नहीं करना चाहते थे, उनसे भगवान् वृषभनाथ प्रभु के चरणों में उपस्थित होकर इस प्रकार प्रार्थना की थी—

“परप्रणामविमुली भयसगविवर्जिताम् ।

वीरदीक्षा वयं धतुं भवत्पादवंमुपागताः ॥” महापुराण ३४-१०९
भगवन् । हम आपके समीप वीर दीक्षा धारण करने की आये हैं, क्योंकि अन्य लोगों को प्रणाम करने से रहित है, भय तथा सग अर्थात् परिग्रह रहित है ।

दूसरों को प्रणाम करने में तुम्हें क्या आपत्ति है इसका उत्तर देते हैं—

“युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्ललितशिरः ।

नान्यप्रणमने देव धृतिवध्नाति जातु न ॥” महापुराण १०४

देव । आपको सदा प्रणाम करने के अभ्यास के रस की आदत युक्त हमारा मस्तक अब दूसरों को प्रणाम करने को तत्पर नहीं होता है । इस वीर दीक्षा को धारण कर वीरसागर महाराज का चरितार्थ हो गया । नैमिसागर महाराज ने भी इस दीक्षा को लेकर भगवान् नैमिसाथ प्रभु के पथ का अनुसरण किया । दोनों मुनिराज आज भी निर्दोष धृति से अपने व्रतों का पालन करते हुए स्वपरहित में सलग्न हैं ।

निरन्तर पृथक् अनुभव करते हैं, तब बाह्यसंपर्क में आने वालों के साथ मोह और भ्रमत्व कैसे हो सकता है ? धर्म के परिवार की वृद्धि करते हुए रत्नत्रय का पोषण करने के कारण आचार्य परमेष्ठी तो अधिक विशुद्धता को प्राप्त करते हैं ।

अब अपनी महान् तपश्चर्या के प्रसाद से सत्पुरुष का आकर्षण कर निग्रंथ मुनि श्री शातिसागर स्वामी ने धर्म की गंगा बहाकर पुण्य तीर्थ का निर्माण कर सत्तार पूज्य आचार्य पद को प्राप्त कर लिया । आचार्य महाराज के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी प्रत्याख्यानवरण कर्मोदय से जो सकल समय के पथ पर चलने में असमर्थ थे, वे महान् तपस्वी गुरुदेव की शरण में महिनो समय देकर अपने जीवन को पवित्र बनाने लगे । जाहार दान देकर पञ्चसूत्र क्रिया में उत्पन्न दोषों की शुद्धि में तत्पर रहने लगे । जो गुरुदेव के सानिध्य में आता वह व्रताचरण रूपी प्रसाद को पाए बिना नहीं रहता था । इस प्रकार जहाँ देश में और बाहर स्थिलाचार था, अन्नती जीव की वृद्धि हो रही थी, वहाँ आचार्य श्री के प्रसाद से बड़े से बड़े घटोर व्रतों को लेने का साहस स्त्री और पुरुषों के मन में जागृत होता था । इस प्रकार महाराज का धार्मिक सघ वेग से बढ़ता जाता था ।

इस दुपमा काल में विषयभोग की सरिता बह रही है । सब उसी में स्वेच्छा से डुबकी लगाते हैं । आगम भी कहता है इस काल की ऐसी ही प्रवृत्ति होगी, फिर भी आचार्य श्री का अपूर्व व्यक्तित्व असाधारण रूप से समय के भावों को जगा रहा था । यह काल असमय पूर्ण है, यह प्रत्येक अनुभव गोचर हो रहा है । ऐसी ही सूचना महापुराणकार के कथना-नुसार चक्रवर्ती भरतेश्वर के स्वप्न से भी प्राप्त हो चुकी थी ।

वात यह है जब भरतेश्वर को सोलह स्वप्न दिखे तब उनसे आदिनाथ प्रभु के समीप जाने का निश्चय किया । उनसे भगवान् के पास जाकर जब प्रणाम किया, तब चक्रवर्ती को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया ।^१

भक्ति पूर्वक भगवान् चृपभनाय के चरण युगल को प्रणाम करते ही भरतेश्वर के विशुद्धियुक्त परिणामों के कारण अवधिज्ञान उत्पन्न

१ भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपङ्कजे ।

विशुद्धि परिणामावसवधिज्ञानमुद्बभी ॥

हो गया ।

चरवर्ती ने अपने स्वप्न भगवान के समक्ष भक्ति पूर्वक निवेदन किए, तब भगवान की दिव्यवाणी द्वारा उनका समाधान हुआ । चरवर्ती ने शुष्क वृक्ष देखा था, उसके विषय में भगवान ने कहा था—

‘पुसा स्त्रीणा च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात्’

‘महापुराण ४१-७९’

शुष्क वृक्ष दर्शन का यह परिणाम होगा कि पचम काल में पुरुषों तथा स्त्रियों के चारित्र में शिथिलता पाई जायगी । इस प्रकार अपर्म का प्रवृत्तिही युग का धर्म है, उसने विरुद्ध पौरुष की वृत्ति को जगत्समय की प्रवृत्ति का प्रसार आचार्य श्री के सातिशाय पुण्य एवं प्रभाव को नूचित करता है । वास्तव में इस सूक्ति में पर्याप्त तथ्य है कि बीर पुरुष अपने पराक्रम के द्वारा नवीन युग का निर्माण कर सकते हैं ।

पुण्यभूमि महाराज का सघ जिस ग्राम नगर में पहुँचता वहाँ धर्म तथा आत्मकल्याण की दीपमालिकासी सज जाती थी । हर प्रकार की सुन्दर से सुन्दर शुभोपयोग की सामग्री महाराज के पुण्य से खिचकर वहाँ आ जाती थी । उत्कृष्ट शास्त्र पचा, तत्त्व प्रवचन, सुन्दर संगीत, कीर्तन आदि के द्वारा ऐसा लगता था कि महाराज के समीप आते ही पाप प्रवृत्तियों पलायन हो जाती हो । विहार करते हुए आचार्य महाराज विक्रम सवत्

१९८१ में चातुर्मास के लिए कुभोज में ठहर गए ।

कुभोज चातुर्मास अब तो जहाँ महाराज का सघ रहे वहाँ आनन्द की आश्चर्यप्रदधारा बहने लगती थी । जगल में भी मन्त्रमुच में मगल हो जाता था । ऐसे आनन्द से समय व्यतीत हुआ कि चार माह चार दिन की तरह बीत गए ।

आचार्य सघ अब कुयलागिरि तीर्थ की ओर रवाना हो गया । मार्ग में अनेक गृहस्थ साथ में हो गये, ताकि पात्रदान का पुण्य लाभ लें और महाराज की अपूर्व सेवा का सोभाग्य भी प्राप्त करें । जब सघ पडरपुर पहुँचा तो वहाँ बहुत बड़ा जन समुदाय एकत्रित हो गया था ।

पडरपुर की तरफ मुनि विहार का यह अवसर बहुत काल के बाद आया था । इससे भय होता था कि कहीं कोई अनिष्ट घटना न हो जाय, कारण वहाँ अन्य संप्रदाय वालों की प्रबलता है । किन्तु महाराज के पुण्य प्रताप से वहाँ खून प्रभावना हुई और जैन धर्म का जयजयकार हो गया ।

इसके अनंतर संघ कुंयलगिरि पहुंचा । देशभूषण कुलभूषण के निर्वाण स्थल की भक्ति पूर्वक वन्दना पूजा आदि के पश्चात संघ सावरगांव पहुंचा । वहां प्रतिभा जी का वज्रलेप हुआ था । उसकी प्राण प्रतिष्ठा का समारंभ होना था । वह अतिशय क्षेत्र है । महाराज के पधारने से वहां का उत्सव भी सम्राण हो गया था ।

इसके पश्चात संघ सोलापुर आया । यहां जैन समाज के समान जनेतरों में भी आचार्य श्री का बड़ी भक्ति पूर्वक हार्दिक स्वागत किया । हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने भी पूज्य श्री के प्रति उच्च भक्ति और सम्मान का भाव व्यक्त किया था । अब महाराज का संघ जिस किसी जगह भी पहुंचता वहां बिना पर्व के पर्व दिखता था, बिना उत्सव के महोत्सव हो जाता था, बिना विशेष प्रयत्न के महान विशुद्धता उत्पन्न होती थी, जिससे बड़े बड़े महत्व के मोक्षोपयोगी तथा जिनैन्द्र शासन की प्रभावना वर्धक कार्य हो जाते थे । महाराज की विवेकपूर्ण प्रवृत्ति से संघ की बात कटु न लग प्रिय और आकर्षक लगती थी । श्रेष्ठ आचरण करने वालों की बात ही निराली है । उनकी मूर्ति भी सदाचरण का जोरदार प्रचार कर हिंसादि पाप प्रवृत्तियों का निमूलन कर रही थी, यह बात उस समय सबके नेत्र गोचर होती थी । अब महाराज अधिक उपदेश नहीं देते थे उनका जीवन ही स्वयं उपदेश देता हुआ लोगों को सत्कामों रत्नत्रय संजीविनी तथा उज्ज्वल चरित्र और प्रेरित करता था । हमें तो आचार्य दाता वैद्य ही एक सिद्धहस्त चिकित्सक के रूप में प्रतीत होते हैं कि जिनके द्वारा दो गई संघम रूपी औषधि मोह रोगों को तत्काल शान्ति प्रदान करती थी । अतः वे पीमूपाणि वैद्य के रूप में दिखते थे । वे रत्नत्रय की संजीविनी देकर रोग दूर करते थे । यह कला महाराज ने जिनैन्द्र की आराधना द्वारा प्राप्त की थी । महाकवि धनंजय ने भगवान् वृषभनाथ प्रभु के स्तोत्र में उनको बाल वैद्य बताते हुए लिखा है—

“भगवन ! अपने दोषों के कारण पीडित होने वाले बालक के सदृश जगत के जीवों को आप बीरोगता प्रदान करते हैं क्योंकि बालक के समान वे भी

१ व्यापीडितं बालमिव त्मदोषैरुल्लाघतां लोकमवापि मत्स्वम् ।

हिताहितान्वेषणमाद्यभाज, सर्वस्मजन्तोरपि बालवैद्यः ॥५॥

अपनी ही अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा विपत्ति प्रद पाप के पथ में प्रवृत्त होने हैं । देव । हित और अहित के खोजने में प्रमादशील सपूर्ण जीवों के लिए आप वालंबेद्य तुल्य हैं ।”

वागभट्ट ने अपने अष्टाग हृदय में भगवान को बड़े सुन्दर शब्दों में अपूर्व वैद्य के रूप में स्मरण कर प्रणाम किया है, क्योंकि भगवान के द्वारा रागादि दोषों का विकार दूर किया जाता है ।

तीर्थंकर भगवान की निरन्तर सेवा से प्राप्त पुण्य के प्रसाद से आचार्य श्री भी विषय पूर्वक भयरोग दूर करने की औषधि दिया करते थे । इस औषधि से आत्मा की शुद्धि होनी थी अतः पहले आचार्य श्री ने स्वयं की वृत्ति को परिशुद्ध बनाया तथा विविधतपो द्वारा विशेष शुद्धिता का संपादन करते रहते थे, इस कारण उनके द्वारा सर्व साधारण का अकथनीय कल्याण होता था । जो भक्ति पूर्वक उन्हें प्रणाम करता था उसके पाप कर्मों की निर्जरा होती थी और पुण्य का लाभ होता था । सतत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अवरिग्रह अस्तेयभाव, योतरागता की श्रेष्ठ आराधना द्वारा ऐसी शक्ति आत्मा में उद्भूत होती थी कि उसके समीप आगत व्यक्ति उनके प्रभाव में आए बिना नहीं रहता था । यही प्रभाव तो सिंहादि शूर जीवों में शक्ति भाव उत्पन्न कर दिया करता है ।

आज का युग पुद्गल के प्रभाव को समझने और उसे प्रकाशित करने के कार्य में लग गया है । उसे आत्मा का प्रभाव कैसे ज्ञात हो सकता है ? कोयले की खदान में काम करने वाले का मुख जैसे श्याम होता है, ऐसी ही पुद्गल की समाराधना के फलस्वरूप कालिमा की वृद्धि हो रही है । वहाँ रत्नों का उज्ज्वल प्रकाश कहाँ से आ सकता है, यदि आत्मा की उज्ज्वल आराधना की जाय तो कितना कल्याण, अनन्द, शांति, और विशुद्धता का लाभ होता होगा, यह बात केवल आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन को देखकर जानी जा सकती है कि एक पवित्र आत्मा ने ग्रहरी की भांति भव्यात्मा का जगाना प्रारम्भ कर दिया तो पंचमकाल रूपी डाकुओं के शासन में भी भव्यजीव अपने रत्नत्रय की सम्हाल करते हुए मुक्तिपुरी की ओर बढ़ते जाते हैं ।

आचार्य महाराज इस युग में एक आश्चर्यप्रद विभूति प्रतीत होते हैं । सब कहते हैं यह कलिकाल है कि तु जहाँ महाराज पहुँचते

धर्मयुग प्रवर्तक थे, वहाधामिकता की अभिवृद्धि देखकर ऐसा लगता था
सत मानो चतुर्थ काल उस जगह छुपा हुआ था जो उनके आते
ही व्यवृत्त रूप में प्रगट हो गया। सब लोग यह कहते हैं कि आज का समय
ऐसा है कि चंचल चित्त को कोई भी स्थिर नहीं कर सकता है। किन्तु पूज्य
श्री ने चित्त को ऐसा स्थिर किया कि उसमें चंचलता का स्थान ही नहीं है। एक
बार मैंने महाराज से पूछा था—“महाराज ! आप निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय
आदि कार्य करते रहते हैं, क्या इसका लक्ष्य मनरूपी वंदर को बाधकर
रखना है, जिससे वह चंचलता न दिखावे।”

महाराज बोले—“हमारा वंदर चंचल नहीं है।”

मैंने कहा—“महाराज ! मन की स्थिरता कैसे हो सकती है, वह तो
चंचलता उत्पन्न करता ही है ?”

महाराज ने कहा—“हमारे पास चंचलता के कारण नहीं है। जिनके
पास परिग्रह की उपाधि रहती है, उनको चिंता होती है, उनके मन में
चंचलता होती है। हमारे मन में चंचलता नहीं है। हमारा मन चंचल होकर
कहाँ जायगा ?” इस बात के स्पष्टीकरण के हेतु महाराज ने एक उदा-
हरण दिया कि “एक पोपट-तोता जहाज के ध्वज के भाले पर बैठ गया।
जहाज मध्य समुद्र में चला गया। उस समय वह पोपट उड़कर बाहर जाना
चाहे, तो कहाँ जायगा ? उसके ठहरने का स्थल भी तो चाहिए, इसलिए
वह एक ही जगह पर बैठा रहता है। इसी प्रकार, घर, परिवार आदि का
त्याग करने के कारण हमारा चंचल मन होकर जायगा कहाँ, यह बताओ ?

हमारा मन अन्यत्र आश्रय न होने से अपने आप आत्मा की
चित्तामुक्त ओर आकर टिकता है।” महाराज कहने लगे—“हम
तो वही भी आत्मा का ध्यान कर सकते हैं, क्योंकि

हमारे मन को बाहर विभ्राम करने का स्थान ही नहीं है।” एक बार
ध्यान के विषय में जब हमने चर्चा चलाई, तब महाराज बोले “हमारे चित्त
में गडबडी तथा चिन्ता नहीं है। हमें मोक्ष पाने की चिन्ता नहीं है।
अनादि काल से-संतार में रहे, तो जल्दी क्यों ? दो चार भवों में घले
जायेंगे, उतावली किस बात की। हमें शास्त्र की भी चिन्ता नहीं है। उसे
‘पढ़ना सुनना जरूरी है’ इसमें पढ़ते हैं, सुनते हैं। पढ़ना ही चाहिए, ऐसी
बात नहीं है। मुख्य रहस्य जब समझ में आ गया, तब दस बार पढ़ने
में या एक बार पढ़ने में क्या बात है ?”

आत्मा के ध्यान के विषय में जब पूज्य श्री से चर्चा चलाई, तब वे महामुनि बोले—“आत्मध्यान में शरीर का भी पता नहीं चलता है, तब

अन्य बाह्य बातों का क्या पता चलेगा ?” उनने कहा—
 आत्म ध्यान की “आत्मा के ध्यान में इन्द्रो का सुख नहीं है, वहा स्थिति पर प्रकाश आत्मा का आनन्द है।” इन्द्रो के विषय जनित सुख के विषय में महाराज ने कहा—“वह तो पागल का सुख है।” कितनी महत्व की बात है यह, सुख का कितना सूक्ष्म विश्लेषण है। सचमुच में स्वरूप को भूलने वाला पागल की भाँति फिरने वाली आत्मा, सुख शून्य बाह्य वस्तुओं में सुख खोजती है, वहा उसका सद्भाव कहता है और मानता है कि मैंने उनमें ही सुख पाया है। यह सुख यथार्थ में पागल का ही सुख है। पागल की प्रवृत्ति और कल्पना म तर्क, युक्ति विचार का संपर्क नहीं होता है। जैसा उसे सूझ जाय, वैसा वह मानता है। मिथ्यात्व के आधीन समस्त प्राणी ऐसे ही सुख के फेर में फसे हुए हैं।

आचार्य महाराज कहने लगे—“मोह की दीवाल तोड़ देने के बाद आत्मा भीतर आता है, बाहर जाता है। भीतर आने पर उसके हिंसा अहिंसा का भी विकल्प नहीं रहता है। दूसरे जीवों के मरने से, या रक्षण से हमारी आत्मा का क्या संबंध है ?” यह कथन सूक्ष्म निश्चयनय की अपेक्षा है। उसी उज्ज्वल प्रकाश में पूज्य श्री कहने लगे—“आत्म ध्यान में अंतर्जल्य भी नहीं होता है। शरीर व्यतिरिक्त आत्मा में लीनता होती है। मोह का बंधन हटे बिना अंतर्जल्य कैसे बन्द होगा ?” सब पदार्थों का संबंध न रखने पर, सब पदार्थों को छोड़ने पर अंतर्जल्य क्यों और कैसे होगा ? उस आत्मध्यान में इन्द्रिय जनित सुख नहीं है, दुःख नहीं है।”

इस चर्चा में निमग्न होकर महाराज के श्रीमुख से निकलते हुए प्रत्येक शब्द अमृतरूप दिखते थे, जिनके ऊपर अनुभव की मुद्रा लगी हो। अकस्मात् उनके मुख से ये शब्द निबल पड़े—“अरे ! जब हमारा के अभ्यास से आत्मा का परिचय होता है, तब उसमें सारा जीवन लगा देने से वह क्यों नहीं होगा ? हम बाजार में भी ध्यान कर सकते हैं। आत्मध्यान में बाजार क्या करेगा ?” महाराज ने कहा,—“ध्यान करते समय कितने मिनिट ध्यान में बैठते हैं, यह भी ध्यान नहीं रहता है।” उनने यह भी कहा था कि “ध्यान करने में आरम्भ में कठिनाई मालूम पड़ती है, पश्चात् वह अभ्यास से सरल हो जाता है।”

ध्यान में क्या होता है, इस संदेह का निवारण करते हुए अपनी अनुभवपूर्ण वाणी में महाराज ने कहा—“ध्याता ज्ञान से ज्ञान को बूढ़ता है। ध्याता भाव मन से बाहर आता है, पीछे वापिस जाता है। आत्मा अपने स्वरूप को छोड़ कर बाहर कहीं जायगी? अभ्यास से सब काम सरल हो जाता है? मार्ग से चलने से सफलता मिलती है। मार्ग छोड़कर चाहे प्राण भी दो, चाहे उपवास करो परमार्थ की प्राप्ति नहीं होगी। कुछ उपवास में आत्मा नहीं है।”

महाराज ने कहा—“जल की गिरती हुई धारा में भी मछली ऊपर चढ़ा करती है, इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने स्वरूप में चढ़ता है।”

मैंने पूछा—“महाराज ! यदि उपवास में आत्मा नहीं है तो क्या व्रत उपवास व्यर्थ है। आप क्यों उपवासादि कठोर तप करते हैं?”

महाराज ने कहा—“अल्प आहार से या उपवास से प्रमाद कम होकर विचार शक्ति बढती है।” इससे उनकी उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। प्रमाद कम हुआ और विचार शक्ति की बुद्धि हुई, तो आत्मा अपनी ओर उन्मुख होने की सामग्री प्राप्त कर लेता है।

मैंने कहा—“महाराज ! एक बड़े अध्यात्मवादी समाज प्रसिद्ध विद्वान से मैंने पूछा था, कि आपकी आत्मा को बहुत शांति का लाभ हुआ होगा,” तब उनने कहा था, “हमें तनिक भी शांति नहीं है। आत्मा में भयंकर अशांति ही अनुभव में आ रही है। आपका अनुभव क्या है?”

महाराज बोले—“हमारी आत्मा में अशान्ति होती ही नहीं। कैसे भी कारण आवें, हमारी आत्मा में हमेशा शांति ही रहती है, क्योंकि हमने अशान्ति के कारणों को हटा दिया है। अशान्ति के कारण नहीं हैं, तब अशान्ति क्यों होगी?” उस समय समझ में आया कि क्यों आचार्य श्री को शांतिसागर कहते हैं। यह भी महाराज बोले—“यह ध्यान आसन्न भव्य जीव के होता है।”

जिस सम्यक्त्व के होने पर संसार का बंधन नष्ट होता है, उसके विषय में पूज्य श्री से चर्चा चली, तब महाराज ने कहा “शुद्ध आत्मा वा अनुभवना सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थ श्रद्धान तो उपचार सम्यक्त्व है।” उनने यह भी महत्व की बात कही, “सम्यक्त्व समझते नहीं तो व्रत करके जाना चाहिए वहाँ से विदेह पहुँचकर तीर्थंकर भगवान के पास

चाहिए । वहां उनकी दिव्यध्वनि से सब कुछ तत्त्व समझ में आ जायगा ।”

आत्मा और महाराज ने कहा—“हम खातरी से कहते हैं कि सम्यक्त्व भगवान दो नहीं है की महिमा ऐसी है कि उससे मोक्ष अवश्य मिलेगा ।

आत्मा की रुचि सम्यक्त्व है । जब आत्मा नहीं मालूम तब किस पर श्रद्धा करोगे ? भगवान की देखे नहीं किस पर श्रद्धा करोगे ? शास्त्र गुरु मूर्ति भक्त हैं । आत्मा अमूर्तीक है, उस पर कैसे श्रद्धा करोगे ? वस्तु आपको मसलूम नहीं है । अरे ! आत्मा और भगवान दो नहीं है । इसे देखा तो उसे देखा । अक्षर में सम्यक्त्व नहीं है ।

आत्म प्रशंसा के लोग महाराज की स्तुति करते हैं, प्रशंसा करते हैं । प्रति उनकी उससे वे संतुष्ट होते होंगे ऐसी जिनकी धारणा है । धारणा वे उनके इन वाक्यों को बाँचे “हमारी मिट्टी की क्या प्रशंसा करते हो ? हमारी कीमत क्या है ?”

शरीर के प्रति अनात्मीयभाव होने से महाराज कहने लगे—“यह मकान दूसरे का है । जब मकान गिरने लगेगा तो दूसरे मकान में रहेंगे ।”

कोरा उपदेशक अपने स्वरूप को बिना जाने जो जगत में चिल्लाकर धोबी तुल्य है उपदेश दिया जाता है, उसके विषय में पूज्य श्री ने बड़े अनुभव की बात कही थी, “जब तुम्हारे पास कुछ नहीं है तब जग को तुम क्या दोगे ? भवभव में तुमने धोबी का काम किया । दूसरों के कपड़े धोते रहे और अपने को निर्मल बनाने की ओर तनिक भी विचार नहीं करते । अरे भाई ! पहले आत्मा को उपदेश दो नाना प्रकार की मिथ्या तरंगों को हटाओ, फिर उपदेश दो । केवल जगत् को धोते बैठने से शुद्धि नहीं होगी । थोड़ा भी आत्मा का कल्याण कर लिया, तो वह बहुत है ।”

आज भगवान का दर्शन यहाँ नहीं है, श्रुतकेवली नहीं है, तब आत्म कल्याण का क्या मार्ग होगा ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए महाराज ने कहा—“भगवान की वाणी का शरण लो उस वाणी में बड़ी शक्ति है । उसके अनुसार काम करो । जो इच्छा होगी वह मिलेगी यह हम खातरी से दृढ़तापूर्वक कहते हैं । मार्ग से चलो, तो मोक्ष सरल है ।”

कोई तत्त्वज्ञ कह सकता है “महाराज ! आपने इंद्रियों के गुण का त्याग किया और आप ही व्रतों का उपदेश दे स्वर्गादि सुन्दर शंका के सुखों को प्राप्त कराते हैं । इस प्रकार आप अपनी

वाणी से साक्षात् नहीं तो प्रकारान्तर से विषय सुखो से सम्बन्ध कराते हैं इससे आप के व्रतों को दोष लगता होगा क्योंकि आपने पाप का मन, वचन, काम, कृत, कारित, अनुमोदना रूप से त्याग किया है अतः आपको व्रत का उपदेश नहीं देना चाहिए ?

ऐसे सदेह को दूर करते हुए आचार्यश्री बोले— “तुम्हें स्वर्ग में सुख मिले और तुम स्वर्ग में खूब विषय सुख भोगो इसलिए महत्त्वपूर्ण समाधान तुम्हें उपदेश नहीं देते हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि व्रताचरण के द्वारा तुम देवगति को प्राप्त करके विदेह में जाकर केवलीभगवान का दर्शन करो। वही तुम्हें भवावलम्बिता बोध होगा। यदि सम्यक्त्व नहीं होगा तो वह तुम्हें केवली के दर्शन से मिल जायगा। इस प्रकार व्रताचरण तुम्हें मोक्ष प्राप्ति का कारण होगा।”

कितना सुन्दर और हृदयग्राही समाधान है यह। इसकाश में उन भाइयों को भी सोचना चाहिए जो व्रताचरण को व्यर्थ की चीज समझते हुए स्वयं उमकी उपेक्षा करते हैं और दूसरे अज्ञ भाइयों को उस पथ से विमुख बनाते हैं। अनादि कुसस्कारवश जीव आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप सत्ता चतुष्टय के अवीन हो आत्मपथ और सयम की ओर आने से डरता है। अन्य पदार्थों में सयम की अनुकूलता नहीं रहती है। सयम का सुवास युक्त अमृत पुष्प मनुष्य भव रूरी भूमि में ही होता है। अतएव सयम को भूल विषयों की ओर जाने का साक्षात् न सही तो प्रकारान्तर से उपदेश देना कैसे मंगल मार्ग माना जाय ? बिना सत्तार के निवृत्त हुए तथा काललब्धि आदि साधनों को प्राप्त किए समयवत्त्व नहीं मिलता है। उतने काल तथा व्रताचरण द्वारा जीव दुर्गतियों में परिभ्रमण के सकट से बचकर क्षातिपूर्वक काल व्यतीत कर सकता है। पूज्यपाद ऋषि ने लिखा है—

“व्रताचरण द्वारा देवपर्याय का लाभ अच्छा है। असयम के कारण नरक के कष्ट भोगना ठीक नहीं है। जो छाया में बँठा हुआ तथा जो घूप में बैठा हुआ अपने मित्रादि की प्रतीक्षा कर रहा है उनमें बड़ा अन्तर है।” जब तक वज्रैवृषभ संहनन आदि निर्वाणोपयोगी पूर्ण सामग्री नहीं प्राप्त होती है, तब तक व्रताचरण की उपेक्षा कर नरकादि में सकट को सहन करने की अपेक्षा सयम की साधना द्वारा दिव्य पद प्राप्तकर निर्वाण के योग्य सामग्री को जुटाना विवेक मानव वा वर्तव्य होगा। सयमी जीवन हर दृष्टि से हितकारी है। यदि सम्पत्त्व है, तो वह सम्यक्त्व की प्राप्ति

समर्थ साधनों का सुयोग प्राप्त कराए बिना न रहेगा । अतः सम्यक्त्व की अत्यधिक भक्तिवश संयम का तिरस्कार करना अपने हाथों अपने पैरों पर कुठाराघात करना है । संयम, व्रताचरण, जिनेन्द्रपूजन आदि के प्रति विद्वेष के भाव जगाना जीव को मीठी जहर की गोली खिलाने सदृश्य है, अतएव आचार्य महाराज अपने विहार में सर्वत्र संयम का मोदक प्रत्येक प्राणी को देते थे (जो मुद अर्थात् आनंद देता है उसे मोदक कहते हैं) । ऐसी आनंददायिनी सामर्थ्य संयम में है । अजितेन्द्रिय, विषयाभिलाषी, भोगोन्मुख जीवन जगत में भी विनिर्दिष्ट होता है । सम्यक्त्व के नाम पर विषय भोग का हलाहल पीना और पिलाना कैसे कल्याणकारी होगा ? अतएव यहां वहां न भटककर आचार्य श्री के चरणों में शान्ति लाभ लेने में कल्याण की प्राप्ति है ।

भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी जिन द्वादशांगों के रूप में निबद्ध की गई है, उनमें प्रथम अंग आचारांग के नाम से प्रख्यात है । आत्मा विषयक शास्त्र आत्मप्रवाद नामक पूर्व के रूप में बताया गया है ।

परमात्म प्रकाश टीका से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर भगवान् से मुख्य प्रश्न कर्ता ने साठ हजार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न आत्मा के विषय में पूछा था । इससे आत्मा की चर्चा बालक्रीड़ा के कन्दुक सदृश समझना या समझाना योग्य नहीं है । परमात्म प्रकाश टीका में महत्त्वपूर्ण शब्द ये हैं "सर्वांगमप्रश्नानंतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छतीति" (पृ. २०) । ऐसे विवाद का निर्णय आचार्य श्री के इन अमूल्य शब्दों से होता है "सम्यक्त्व और चारित्र्य का बड़ा सम्बन्ध है, तब एक की ही प्रशंसा क्यों ?"

एक बार महाराज ने बताया — 'गिरनार जी की यात्रा से लौटते समय कानजी साधू हमको दूर तक लेने गये । सोनगढ में आकर हमने कानजी से एक प्रश्न पूछा—'इस दिगम्बर धर्म में तुमने क्या अच्छा देखा ? और तुम्हारे धर्म में क्या बुरा था ?' इस प्रश्न के उत्तर में कानजी ने कुछ नहीं कहा । आद्य ऋते तक मुख से एक भी शब्द नहीं कहा ।' इस पर आचार्य श्री ने कानजी साधु से कहा —'हम तुम्हारा उपदेश सुनने नहीं आये हैं । हमें तुम्हारा भाव जानना है ।'

इसके पश्चात् क्या हुआ, उसे महाराज ने इस प्रकार बताया— 'कानजी ने पूछा 'महाराज ! समयसार की एक गाथा में कहा है नव पदार्थ भूतार्थ हैं, यह गाथा प्रक्षिप्त मालुम पड़ती है क्योंकि जीव पदार्थ ही भूतार्थ

हो सकता है ?” इसके बाद समाधिक का समय आ जाने से महाराज उठ गए । प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ । महाराज ने कहा “समाधिक के समय मन स्थिर रहता है । उस समय हम विचार करते हैं । सामाधिक के बाद हमने पूर्वापर प्रसंग की गाथाएं देखी, फिर कहा — अज्ञानी किसान को भी सम्यक्त्व खोजना है उसे सम्यक्त्व कहा मिलेगा ? जीव में मिलेगा, यही उत्तर होगा । पुनः प्रश्न होगा, जीव कहां मिलेगा ? इसका उत्तर होगा कि जीव नव पदार्थों में मिलेगा । जीव का संबंध आश्रय, बंध, संवर आदि के साथ है । जीव इकाई के सामान है क्षोभ सब उसके साथ शून्य के समान है । इससे समयसार की गाथा प्रक्षिप्त नहीं हो सकती ।” महाराज के इस विवेचन को सुनकर कानजी चुप हो गए । इस प्रबल तर्क के विरुद्ध क्या कहा जा सकता था ?

व्यवहार निश्चय अनेक विद्वान् बंधुओं ने पूज्य श्री की सेवा में निवेदन
का सुन्दर समन्वय किया—“कि लोग निश्चय तप के नाम पर व्यवहार
धर्म को छोड़ते जा रहे हैं, सो यथार्थ में ठीक मार्ग
क्या है ?”

महाराज बोले—“व्यवहार फूल के सदृश है । वृक्ष में सर्वप्रथम फूल आता है । बाद में उसी पुष्प के भीतर फल अंकुरित होता है और जैसे जैसे फल बढ़ता जाता है, वैसे वैसे फूल संकुचित होता जाता है, और जब फल पूर्णवृद्धि को प्राप्त हो जाता है, जब पुष्प स्वयं पृथक् हो जाता है । इसी प्रकार प्रारम्भ में व्यवहार धर्म होता है, उसमें निश्चयधर्म का फल निहित रहता है । धीरे धीरे जैसे निश्चय तप रूपी फल बढ़ता जाता है, वैसे वैसे व्यवहार तप रूपी पुष्प स्वयं संकुचित होता जाता है, अन्त में निश्चय की पूर्णता होने पर व्यवहार स्वयं घट जाता है । चारित्र्य पालन की अपेक्षा पहले निश्चय, पीछे व्यवहार कहा जा सकता है, कारण पहले मुनिधर्म का प्रतिपादन होता है, उसमें असमर्थ के प्रतिशोधन के लिए पश्चात् व्यवहार कहा जाता है । यह बात चारित्र्य के बारे में ही है । सम्यक्त्व के बारे में नहीं । पहले सम्यक्त्व मिथ्यात्वी जीव के होता है अतः उसके पूर्व में व्यवहार लागू होता है, पश्चात् निश्चय होता है ।”

आचार्य महाराज ने जो व्यवहार को पुष्प और निश्चय को फूल के रूप में समझाया, वह बड़ा सुन्दर कथन है । निश्चय की वृद्धि होने पर व्यवहार स्वयं कम होते होते घट जाता है, छोड़ा नहीं जाता है ।

महाराज ने कहा—“द्रव्यानुयोग मार्ग का निश्चय कराता है। चरणानुयोग पाव सदृश है। मार्ग का निश्चय करके यदि पाव न हिलाए जाय, तो लक्ष्य पर कौन पहुँच सकता है।”

एक दिन महाराज के सामने यह चर्चा चली कि आज का जमाना खराब है, शिथिलाचार का युग है। पुराना रग ढग बदल गया, अतः महाराज को भी अपना उपदेश नए ढंग का देना चाहिए। महाराज बोले—“कौन कहता है जमाना खराब है। तुम्हारी बुद्धि खराब है, जो तुम जमाने को खराब कहते हो। जमाना तो बराबर है। सूर्य पूर्व में उदित होता था, पश्चिम में अस्त होता था, वही बात आज भी है। अग्नि उष्ण थी, जो आज भी उष्ण है। जल शीतल था, सो आज भी शीतल है। पुन की उत्पत्ति स्त्री से होनी थी, आज भी वही बात है। गाय से बछड़ा पहले होता था, यही नियम आज भी है। इन नियमों में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा है, अब जमाना बदल गया है यह कहना ठीक नहीं है। जमाना बराबर है। बुद्धि में भ्रष्टापना आ गया है। अतः उसे दूर करने की पापाचार के त्याग का उपदेश देना आवश्यक है।”

कितना मार्मिक उत्तर है यह। ऐसे ही मार्मिक उत्तर कठिन से कठिन, जटिल से जटिल प्रश्न के समाधान में पूज्य श्री वे द्वारा प्राप्त होते हैं।

इतना होते हुए भी महाराज विवेक के काश में अपने नियमों पर नियमों को ऐसा रखते हैं, जिससे लोगो को कष्ट भी न हो तथा उनके सिद्धांत का व्याघात भी न हो।

एक बार की बात है। महाराज वृत्ति परिसंस्थान तप में वृत्ति परिसंस्थान बड़ी कठिन प्रतिज्ञाएं लेते थे, और उनके पुण्योदय से तप के अनुभव प्रतिज्ञा की पूर्ति होती थी। एक दिन महाराज न प्रतिज्ञा की थी, आहार के लिए जाते समय यदि तत्काल प्रसूत बछड़े के साथ गाय मिलेगी तो आहार लेंगे। यह प्रतिज्ञा उनने अपने मन के भीतर ही की थी और किसी को भी इसका पता नहीं था। अन्तराय का उदय नहीं होने से ऐसा योग तत्काल मिल गया और महाराज का आहार निरन्तराय हो गया।

एक समय उनने यह प्रतिज्ञा की, कि कोई जवाहरात थाली में रखकर पढ़ाहेगा, तो आहार लेंगे, अन्यथा उपवास करेंगे। यह घटना कोल्हापुर की है। उस दिन वहाँ के नगर सेठ के मन में थाली में बहुमूल्य जेवर जवाहरात रखकर पढ़ाहने की इच्छा हुई। अतः यह योग मिल गया। दातार



मुनि श्री वधमान सागर महाराज ।

सेठ को उत्तम पात्र का आहार मिला, इस प्रसन्नतावश और आहार निरन्तराय हो जाय इस चिन्तावश सेठजी को यह ध्यान नहीं रहा कि मे बहुमूल्य आभूषणों आदि को उठाकर भीतर रख दू । वे बाहर के बाहर ही रह गए ज्योंही महाराज का आहार प्रारंभ हुआ, कि सेठजी को अपनी बहुमूल्य सामग्री का स्मरण हो गया । उस समय उनको मानसिक स्थिति अद्भुत थी । यहाँ उत्तम पात्र को मेवा का श्रेष्ठ सोभाग्य था और वहाँ हजारों का धन जाने की आशा का हृदय को व्यथित कर रही थी । आचार्य महाराज की दृष्टि में ये सब बातें पहले से ही थी । उस समय सेठजी की मनोव्यथा देखकर महाराज के मन में दया का जागरण हुआ । अतः भविष्य में उनसे ऐसी प्रतिज्ञान करने का निश्चय किया । आहार के बादही सेठजी बाहर आए तो वहाँ आभूषणों की थाली नहीं थी । इस बीच में क्या हुआ था, जो उपाध्याय वहाँ आया था उसकी दृष्टि सीभाग्य से आभूषणों पर पड़ गई थी अतः उसने अपने विवेक की प्रेरणा से उस सामग्री को पहले ही सुरक्षित स्थान पर रख दिया था, इससे कुछ भी क्षति नहीं हुई ।

उसके अन्तःकरण में दूसरे के दुःख में यथार्थ अनुकम्पा का उदय होता है । एक दिन वे कहने लगे—“लोगों की असंयम पूर्ण वृत्ति को देखकर हमारे मन में बड़ी दया आती है, इसी कारण हम उनको व्रतादि के लिए प्रेरणा देते हैं । जहाँ जिस प्रकार के सदाचरण की आवश्यकता होती है, उसका प्रचार करने की ओर उनका ध्यान जाता है । बेलगाव, कोल्हापुर आदि की ओर जैन भाई ग्रहीत मिथ्यात्व के फेर में थे, अतः महाराज उस घर में ही आहार लेते थे जो मिथ्यात्व का त्याग करता था । उनकी इस प्रतिज्ञा के भीतर आयम के साथ सुसंगति थी । मिथ्यात्व की आराधना करने वाला मिथ्यात्वी होगा । मिथ्यात्वी के यहाँ का आहार साधु को ग्रहण करना योग्य नहीं है । उसके श्रद्धादिगुणों का सद्भाव भी नहीं होगा ।

उत्तर प्रान्त में अब संयम का सूर्य दक्षिणावर्त के बदले उत्तरावर्ण होने सिधिल्लाचार जा रहा था । उत्तर की ओर जो खान पान में सिधिल्ला सुधारने हेतु थी, उसका सुधार किया जाना जरूरी था । प्रायः प्रत्येक प्रतिज्ञा घर में पानी भरने का कार्य जो व्यक्ति करता है वह मास भोजी रहा करता था । उसके घर में और भी अशुद्धताएं हो जाया करती हैं, जिनका उसे अपने हीन कुल के कारण ध्यान नहीं होता है । जैसे चमार के हाथ का पानी पीने वाला ऐसा पानी नहीं प्राप्त कर सकेगा, जिसका

चगड़े से सम्बंध न हो। मूल बात इतनी है, हीन आचरण और हीन संस्कार वाले वर्ग के हाथ का जल यदि भोजनालय में आता है और उससे आहार बनता है तो वैसा अशुद्ध जल निर्मित आहार महावती साधु की श्रेष्ठ अहिंसा की साधना के अनुकूल कैसे होगा - यह बात दूर तक सोचकर महाराज ने आगे यह प्रतिज्ञा की थी कि जो शुद्ध जल का त्यागी होगा, उस जैनी के ही हाथ का आहार लेंगे।

उस नियम का कोई कोई यह सोचते हैं कि साधु को जहां भी योग्य भोजन मिला उसे लेने में आना कानी नहीं करना चाहिये। महत्व यह विचार महावती की श्रेष्ठ वृत्ति के प्रतिकूल है।

जिनेंद्र की भक्तियुक्त तथा जिनवाणी को प्राण माननेवाले व्यक्तिके द्वारा ही शुद्धि रीति से जल-गालन, निर्दोष आहार बनाना आदिका कार्य बनेगा। उसमें ही दाता के सात गुण होंगे, वही नवधामव्रित कर सवेगा। दूसरा आदर्श अपनी भिन्न धार्मिक श्रद्धा तथा आचरण के कारण दाता के गुण से हीन होगा। कदाचित् तर्क के लिये नियमों की लम्बी सूची के द्वारा ऐसी व्याख्या बना भी दें जिससे शुद्ध का नाम न लेना पड़े तो भी कार्य नहीं बनता, कारण सर्वसाधारण में जो प्रचलित अर्थ शुद्ध शब्द से ज्ञात होता है, वह उस लम्बी सूची के द्वारा सिद्ध नहीं होता। गृहस्थ यदि स्वयं अशुद्ध आहार करे और साधु को लक्ष्य करके ही शुद्ध बनावे तो वह भी योग्य नहीं है। अमृतचंदसूरि ने पुष्पायं सिध्युपाय में लिखा है कि थावक "कृतमात्मार्यं मुनये ददाति" (१७४) अपने लिए बनाये गये आहार को मुनिराज को दान करता है। अतः गृहस्थ को शुद्धाहार का भोजी होना आवश्यक है। आहार में सर्वज्ञ व्यापक तत्त्व के रूप में जल ही पाया जाता है, जल का नियम होने से अनेक प्रकार के अशुद्ध पदार्थों के सेवन का संवध अनायास टूट जाता है। ऐसे अनेक कारण थे, जिन पर गहरा मनन चिंतनकर महाराज ने उत्तर की ओर विहार करते समय शुद्ध जल त्याग की प्रतीति। दातार के लिये आवश्यक नियम कर दिया। इसी प्रकार, सुसंस्कारों के प्रचारार्थ यज्ञोपवीत ग्रहण को भी आवश्यक बताया।

आचार्य श्री का प्राण आगम है। आगम तीर्थंकर भगवान की वाणी है। तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ होने पर ही धर्म की देशना करते हैं। उनके निर्दोष आगम के अनुसार आचार्य श्री ने नियमादि का प्रचार किया। किन्तु आज की राष्ट्रीय पद्धति के भक्तों की समझ में यह आए

बिना न रहेगा, कि यह आचरण आचार्य श्री के महान् आदर्श के अनुरूप नहीं है। यह भ्रम है अतः शूद्रों के उद्धार के विषय में पूज्यश्री के विचारों की चर्चा कर देना उचित जवता है, जिससे पता लगेगा कि शूद्रों का सच्चा हितचिन्तक तथा उद्धार करने वाला कौन है ?

• एक बार महाराज से पूछा—“महाराज हरिजनों के उद्धार के विषय में आपका क्या विचार है ?”

हरिजनों के प्रति महाराज कहने लगे—“हमें हरिजनों को देखकर बहुत प्रेम पूर्ण दृष्टि दया आती है। हमारा उन बेचारों पर रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं है। हम गरीबी के कारण वे बेचारे अपार कष्ट भोगते हैं। हम उनका तिरस्कार नहीं करते हैं। हमारा तो कहना यह है उन दीनों का आर्थिक कष्ट दूर करो, भूखों को रोटी दो। तुमने उनके साथ भोजन कर लिया तो इससे उन बेचारों का कष्ट कैसे दूर हो गया? वे तथा अन्य साधु उनसे कहा—“भंगी आदि सब हमारे भाई हैं। सब सभी हमारे भाई पर दया करना जैनधर्म का मूल सिद्धांत है। अन्यमती सभी साधु भी हमारे भाई हैं। हम पूर्व में कई भव हैं नीच पर्याय को धारण कर चुके हैं। हरिजनों के प्रति हमारा द्वेष भाव नहीं है।” उनसे कहा—“तुम कई भंजिलेवाले भदनों में रहो और वे शोषड़ी में पड़े रहें। वे आवश्यक अन्नवस्त्र भी न पा सकें। इसकी फिकर न करके तुम उनके साथ खाने को कहने हो। साथ में खाने से आत्मा का उद्धार नहीं होता है। जीवन का उद्धार होता है, पाप का त्याग करने से। उनको शराब, मांस, मद्य सेवन का त्याग कराओ। निरपराधी जीव की हिंसा का त्याग कराओ। उनकी गरीबी का कष्ट दूर करो। प्रत्येक गरीब को उचित भूमि दो, इसके साथ शर्त हो, कि वह मद्य, मांस, शिमार का त्याग करे तथा निरपराध जीवन का वध न करे।”

शूद्रों का सच्चा महाराज ने यह भी कहा—“बेचारे शूद्रों तथा गरीबों का उद्धार राजसत्ता कर सकती है। वह हमसे पूछे तो उद्धार कैसे हो? हम उसके उद्धार का सच्चा मार्ग बता दें।” महाराज ने जयपुर में जब चातुर्मास किया था, उस समय अस्पृश्योद्धार के नाम पर बड़े बड़े लोगों ने मेहतरों के यहां का मँला एक दिन साफ किया था, उस समय जयपुर का एक चतुर मेहतर कह रहा था—“महाराज ये लोग हमें

कुछ लेते देते नहीं है, और अब हमारी रोजी छीनने को भी तैयार हो रहे हैं ।”

महाराज ने कहा—“जब हम निरन्तर एकेन्द्रिय जीवों तक का रक्षण करते हैं, तब वेचारे पञ्चेन्द्रिय मानव पर्याप्तवाले गरीब भाइयों के हित का ध्यान स्वयं सदा आता है । उनका सच्चा उद्धार उनको सदाचार पथ में लाने में और उनका भूमि देकर अजीविका की व्यवस्था करने में है ।”

पूज्य श्री ने अपने उपदेश द्वारा अनेक हरिजनों का सच्चा उद्धार किया है । पाप प्रवृत्तियों का त्याग ही आत्मा को ऊँचा उठाता है । महाराज के प्रति भक्ति करने वाले बहुत से हरिजन मिलेंगे । उनमें अपनी करुणा वृत्तिद्वारा सभी दौन दुखी जीवों को सत्पथ पर लगाया है ।

लगभग आठ वर्ष पूर्व हमें शोडवाल (रत्नत्रयपुरी) में उद्धार का भाव, जीवन को पवित्र बनाना

आचार्य महाराज का व्रतधारक शूद्र शिष्य मिला था । उसने मद्य मांस आदि का त्याग कर अष्ट मूल गुण लिए थे । वह रात्रि भोजन नहीं करता था यद्यपि आजकल बड़े-बड़े धार्मिक परिवार के लोग लक्ष्मी के मद में आकर इस जैन कुल परम्परागत प्रसिद्ध क्रिया को भूल गये हैं । उस हरिजन भाई का जीवन बड़ा सुन्दर था । वह कहता था मैं अष्टमी चतुर्दशी को व्रत करता हूँ । आज के हरिजन भक्त बनने वाले जैन भाई ऐसे मिलेंगे जिन्हें दूसरों को व्रत पालन करते देख कष्ट होता है । इतने महान अव्रती वे बन गये हैं । हमें अनेक धनी मानी पण्डितों के व्यक्तियों का निकट जीवन देखने का मौका मिला है जो समाज सेवा और लोक के अहंकार का मुकुट मस्तक पर बांधे हुए आनन्दित होते हैं । किन्तु प्राथमिक स्थिति वाले जैन के लिए कुल परम्परागत क्रियायें उनमें विलुप्त होती जा रही हैं । ऐसे लोग इस हरिजन भाई के जीवन को अपना गुरु बनावें तो कल्याण हो ।

जिनने साय खाने पीने तथा वैवाहिक सबंध द्वारा आत्मा का सहभोजन आदि से उद्धार माना है उनकी आत्मा पुद्गल के पक्ष में आवृत्त आत्मा का उत्थान निमग्न प्रतीत होती है, कारण आचार्य अमृतचंद ने तत्त्व को निवृत्ति रूप बताया है । भोग और विषय गानना भ्रम है । सेवन से आत्मा का उद्धार ; इस पागल जीव ने नरक निगोद आदि में अनंत काल बिताना हरिजन भाई यद्यपि अब स्वर्गवासी हो । कथन

आज भी प्रकाश देता है । वह कहता था—“आचार्य महाराज ने मेरा सच्चा उद्धार कर दिया मेरी आत्मा बहुत सुखी है, मेरा उद्धार गुरु महाराज ने ब्रत देकर कर दिया । उनके उपकार को मैं जन्म जन्मांतर में भी नहीं भूलूँगा । मेरी यह जरा भी लालसा नहीं है कि मैं बड़े लोगों के साथ भोजन करूँ या वे मेरे साथ भोजन करें इससे आत्मा का उद्धार क्या होगा ?” ।

यथार्थ में आचार्य श्री का शरीर जिस तरह दिगम्बर है और उस पर कोई आवरण या आड़वर नहीं है इसी प्रकार उनकी प्रवृत्ति और उपदेश में पाखंड, दभ या प्रदर्शन पड़ता नहीं है । उनके कार्य में धृणा या दुर्भाव की कल्पना अज्ञान की बात है । वे सत्य और अहिंसा समर्पित आगमानुसूल कार्य करने में जनता के मत से प्रभावित नहीं होते । सच्चा नेता तो वही होता है जो बीमार जनता की कुश्मि की उपेक्षा कर उसे स्वस्थ बनाने वाली उपदेश रूपी औषधि देने में भय नहीं खाता ।

महाराज ने दक्षिण के लोगों में कुदेव भवित रूपी रोग देव उनके त्याग प औषधिदानद्वारा लोगों की श्रद्धा निर्मल की थी । उत्तर के लोग में शुद्ध आहार पाने में सिथिलता की वृद्धि देख उनने गूद्रजल त्याग करने वाले के हाथ का जल पीने की प्रतिज्ञा लेनवाले के हाथ से आहार लेने का नियम रखा था । इस कार्य में जिन दृढभक्त लोग को कटुता और दुर्भावना का सद्भाव दिखता था उनका भ्रम निवारण आचार्य श्री की वर्तमान प्रवृत्ति से हो जाना चाहिये । आजकल ब्राह्मणों तक में मांस और सुरापान का प्रचार होते देख उनने यह नियम लिया है कि वे जिन भगवान की आराधना करने वाले के हाथ का जल ग्रहण करने वाले से ही आहार लेंगे ।

स्वावलम्बी जीवन के प्रेरणा उनके इस नियम से स्वावलम्बी जीवन की बहुत प्रेरणा दी है । बड़े से बड़े परिवार के नरनारी अपने हाथ से भरकर पानी लाने में लज्जित नहीं होते । झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर परावलम्बी की प्रवृत्ति को बदलकर स्वावलम्बी की उज्ज्वल शिक्षा प्रदान की है ।

इस प्रसंग में एक जापानी वधू की बात लिखना उपयोगी प्रतीत होता है । एक भारतीय बाबू के यह वर्णन भाजने वाला नीतर

जापानी का अनुभव नहीं आया इससे वे बड़े परेतानसे दिख रहे थे। इतने में पड़ोस के जापानी सज्जन उस बाबू के यहाँ आये और अपने हाथ से उसका वर्तन भोजकर कहने लगे, 'कि आपके लिये स्वावलम्बन को भूल सेवक का आश्रय लेना अमंगल रूप है।' उसने कहा, "महाशय! चोरी, दुराचरण आदि बुरे कामों के करने में सकोच होना चाहिए। अपने हाथ से अपना काम करने में सकोच करना बड़ी भारी भूल है, तुम्हारी यह नियत रहती है कि कोई हतभाग्य मिल जाय जो तुम्हारी सेवा करे। दूसरों को दास देखने वाला स्वयं दासतापूर्ण जीवन बिताता है।" अब्राहमलिकन ने यह कहा था "मे दास नहीं बनना चाहता इसलिए मैं स्वामी भी नहीं बनूँगा।"^१ इस दृष्टि से आचार्य श्री की प्रतिज्ञा शरत्चन्द्र के समान चमकती है।

कोई कोई अपने को सर्व विद्या पारंगत मान कहते हैं, महाराज को ऐसी लोकोत्तर बातें वहाँ सूझती हैं शास्त्र, में ऐसी पद्धति नहीं देखने में आती है?"

सयम तथा जिनेंद्र शक्तियों का विकास जिनेंद्र भक्ति और सयम साधना के द्वारा हुआ करता है। सयमी जीवन के प्रशान्त सणों में बड़े महत्व की बातें निर्मल आत्मा में स्वयं प्रकाशित होती हैं जिन्हें बड़े बड़े शास्त्रज्ञ नहीं जानते। भारतीय जीवन में जादूगर के समान जागृति करने वाले गान्धी जो था यह अनुभव महत्व पूर्ण है—

गान्धी जी का अनुभव मैंने अपने जीवन में जो भी अद्भुत कार्य किए हैं, वे तर्कों से प्रेरित होकर नहीं किए हैं, किन्तु निसर्ग प्रवृत्ति (instinct) से वे हुए हैं। सन् १९३० की शाही को नमस् यात्रा को ही लीजिए। मुझे इस बात की तनिष् भी सक्ता नहीं थी, कि नमस् कानून को भंग करने से वह किस प्रकार समाप्त हो जायगा। प० मोतीलाल नेहरू तथा अन्य मित्र घबड़ा रहे थे और वे यह नहीं

१ As I would not be a slave, so I would not be a master, who ever differs from this to the extent of difference is no democrat.

जानते थे, कि मैं आगे क्या करूंगा । मैं भी उनको कुछ नहीं कह सकता था, कारण मुझे भी इस बात का पता न था । किन्तु प्रकाश के सदृश वह विचार आया और तुम्हें मालूम है कि वह सारे देश को एक छोर से दूसरे छोर तक हिला देने में पर्याप्त था” ।

महान तपश्चर्या द्वारा जब अनादि के कर्मों का ध्वंस होकर आत्मा के अनंतगुण अभिव्यक्त हो जाते हैं तब विशेष पदार्थों का बोध हो जाना कैसे आश्चर्यप्रद होगा ? सांख्य दर्शन में सात्त्विक गुण को प्रकाशक कहा है—“सत्त्वं लघुप्रकाशकम्” ।

अहिंसा पूर्ण निर्दोष और श्रेष्ठ तपश्चर्या के क्षेत्र में आचार्य श्री का अप्रतिम स्थान है । कठिन से कठिन स्थिति में धैर्य को धारण करते हुए आत्मत्व के प्रकाश द्वारा जीवन को संस्कृत बनाना उनकी विशेषता है । जयपुर में खानियों की नशियां में पूज्य श्री ने निवास किया था । एक दिन जयपुर में भयंकर नशिया के द्वार को किसी भाई ने भूल से बन्द कर दिया, पवन पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचने से महाराज सकट आने पर को दम घुटने से मूर्छा आ गई । उसके पूर्व में चिल्लाकर अपार स्थिरता दरवाजा खुलवा लेना या बाहर जाने के लिए हो हल्ला करना उनकी आत्मनिष्ठा पूर्ण पद्धति के प्रतिकूल है । अतः भीषण परिस्थिति आने पर प्रतीकार के स्थान में वे आत्म शक्तियों को केन्द्रित करके विपत्तियों का स्वागत करने में सलग्न हो जाते हैं । उनके कोप में विपत्तियों के प्रति नकार रूप शब्द का अभाव है । कुछ काल के पश्चात् जब द्वार खोला गया तब महाराज मूर्छा की स्थिति में पाए गये । ऐसी ही स्थिति समझोली ग्राम में भी हुई थी । ऐसी स्थिति में उनमें धबडाहट

१ “Whatever striking thing I have done in life, I have not done prompted by reason, but by instinct. Take the Dandi salt march of 1930, I had not the ghost of a suspicion how the breach of the salt law would work itself out, Pandit Motilal and other friends were fretting and did not know what I would do, and I told them nothing as I myself knew nothing about it. But like a flash it came and as you know it was enough to shake the country from one end to another.”

L . Fischer : ‘Mahatma Gandhi’ P . 329 .

के व्यक्तियों का देखना, बड़े बड़े लोकसेवकों के स्वागतार्थ लाखों व्यक्तियों के देखने को जाने में और आत्मदांति के लिए शांतिसागर महाराज के पास दर्शनार्थ जाने में बड़ा जतर है। यहाँ दर्शन का भाव चित्तमणि तुल्य विभूति का दर्शन कर आत्मा को अक्षय सुख के पथ में लगाना है।

आचार्य श्री का सघ बढता हुआ अतिशय क्षेत्र दहोगाव तथा नाते-पुते होते हुए फलटण पहुँचा। उनसे यहाँके भव्य जिनालयों का दर्शन किया। फलटण के राजा साहब ने आकर महाराज का दर्शन करके अपने को कृतार्थ माना। धर्म की अच्छी प्रभावना हुई।

कुम्भोज चातुर्मास इसके अनंतर सघ का शुभागमन अतिशय क्षेत्र बडगाँव की तरफ हुआ। वहाँ से चलकर सघ वारामती पहुँचा। उस समय वहाँ पंचवत्स्याणक महोत्सव था। आचार्य श्री के अलौकिक पुण्य से वह महोत्सव चिरस्मरणीय हो गया। पश्चात् कोल्हापुर सागली की तरफ बिहार करते हुए महाराज बाहुबलि, कुम्भोज पहुँचे। वहाँ ही उनमें १९२७ सन् का अपना वर्षायाग व्यतीत किया। बहूसंस्कृत श्रावक, श्राविकाओं ने गुरुदर्शन का लाभ ले पुण्योपाजन किया। अनेक व्यक्तियों ने प्रतिमा स्वरूप व्रत ग्रहण किए थे।

को लेश मात्र भी नहीं था। मेरुवत स्थिरता थी। एक बार ज्येष्ठ की भीषण उष्णता के समय मध्याह्न की सामायिक के पश्चात् महाराज बड़वानी की ओर डामर की सड़क पर लगभग २०० मील पैदल गए थे। पृथ्वी साक्षात् अग्नि स्वरूप प्रतीत होती थी। उस समय वे यही सोचते थे कि कर्मों के सताप की अपेक्षा यह ताप कुछ भी नहीं है। अतः उसकी अपेक्षा करते हुए ये वासनाओं के विजेता आध्यात्मिक बीर शिरोमणि आगे बढ़ते जा रहे थे। इस उष्णता ने उनके चिर-नीरोग शरीर के पीछे नेत्रों में व्याधि उत्पन्न कर दी। किन्तु नेत्रों की व्याधि के स्थान में आत्मा में लगी हुई कर्मों की व्याधि का उन्हें विशेष ध्यान है और इसलिए आत्मा की नीरोगिता के हेतु वे जिनवाणी का रसायन सेवन करते हैं और आत्मा के पोषण को सतत तत्पर रहते हैं। वे किसी भी मूल्य पर आत्मा को निर्वल नहीं बनाना चाहते हैं। आत्मा का पोषण होता है तो वे मृत्यु को परम उपकारी बंधु मानते हैं। उनकी प्रिय वस्तु वही है, जो आत्मा की शक्ति का मवर्धन कर उसे नीरोगिता प्रदान करती है। इसी दृष्टि की प्रधानता वश उनके उत्तर प्रातः के विहार में भयकर शीत तथा उष्णता की व्यथा को बिना मानसिक ध्लेश के सहन किया है।

प्रतापगढ़ में महाराज का चातुर्मास था। शरीर में चर्मरोग हो गया था। 'शरीर व्याधि मंदिरम,' उसमें रोगों को आने का कोई समय या मुहूर्त नहीं है। एक गुरुभक्त ने वाष्प (Steam) के प्रयोग द्वारा चिकित्सा की। वाष्प का वेग मस्तक को स्पर्श कर गया, तत्काल वे मूर्छित हो गए। दृष्टि फिर गई। जिन्हा बाहर निकल आई। सब लोग घबड़ा गए। कुछ समय बाद चैतन्य आया किन्तु महाराज के मुख से कराहना, व्यथा या पीड़ा का सूचक कोई भी शब्द नहीं निकला था। उनकी भेद विज्ञान तथा बेराग्य की धारा इतनी सच्ची और संप्राण है, कि वे सोते, जागते, मूर्छित अवस्था में भी शरीर के प्रति ममता नहीं दिखाते।

इस प्रकार अपनी अद्वितीय आत्मनिष्ठा और महाव्रत की श्रेष्ठ समाराधना के फलस्वरूप उनका अद्भुत विवास हो रहा था। सर्वत्र उनका मुग़ल फैल रहा था। अन्य लोग उनके दर्शन के लिए सर्वत्र लालायित हो रहे थे। यह दर्शन राजनीति के नेताओं का दर्शन नहीं था। यह तरल सारन श्री गुरु की मनोयोग तथा भक्ति पूर्वक वदना थी। राज परिवार

के व्यक्तियों का देखना, बड़े बड़े लोकसेवकों के स्वागतार्थ लाखों व्यक्तियों के देखने को जाने में और आत्मशान्ति के लिए शातिसागर महाराज के पास दर्शनार्थ जाने में बड़ा अन्तर है। महा दर्शन का भाव चित्तमणि तुल्य विभूति का दर्शन कर आत्मा को अक्षय सुख के पथ में लगाना है।

आचार्य श्री का सघ वक्षता हुआ अतिशय क्षेत्र दहीगाव तथा नाते-पुते होते हुए फलटण पहुँचा। उनमें वहाँके भव्य जिनालयों का दर्शन किया। फलटण के राजा साहब ने आकर महाराज का दर्शन करके अपने को वृत्तार्थ माना। धर्म की अच्छी प्रभावना हुई।

कुम्भोज चातुर्मास इसके अनन्तर सघ का शुभागमन अतिशय क्षेत्र बडगाँव की तरफ हुआ। वहाँ से चलकर संघ वारामती पहुँचा। उस समय वहाँ पंचवल्याणक महोत्सव था। आचार्य श्री के अलौकिक पुण्य से वह महोत्सव चिरस्मरणीय हो गया। पश्चात् कोल्हापुर सागली की तरफ बिहार करते हुए महाराज बाहुवलि, कुम्भोज पहुँचे। वहाँ ही उनमें १९२७ सन् का अपना वर्षायोग व्यतीत किया। बहुसरूपक धावक, श्राविकाओं ने गुरुदर्शन का लाभ ले पुण्योपाजन किया। अनेक व्यक्तियों ने प्रतिभा स्वरूप व्रत ग्रहण किए थे।

तीर्थ-यात्रा

शिवर जी की इस अवसर पर वंदई के धर्मात्मा तथा उदीयमान पुण्यशाली सेठ पूनमचंद धासीलाल जी जोहरी के मन वंदना का विचार में आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के सघ को पूर्ण वैभव के साथ सम्मेशिवर जी की वंदनायें ले जाने की मंगल भावना उत्पन्न हुई। उनमें गुरुवरणों में आकर प्रार्थना की। आचार्य श्री ने संघ को शिवर जी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी। वैसे पहले भी महाराज की सेवा में शिवरजी चलने की प्रार्थना की गई थी, किन्तु प्रतीत होता है, कि काललब्धि उस समय नहीं आई थी और यही पुण्य निश्चय की मंगल-वेला थी, इससे आचार्य महाराज की अनुज्ञा प्राप्त हो गई। यह निश्चय जिसे भी ज्ञात हुआ, उसे आनन्द और आश्चर्य दोनों प्राप्त हुए। आनंद होना तो स्वाभाविक है, कारण धार्मिक समुदाय शिवर जी के आध्यात्मिक महत्त्व को सदा से मानता चला आ रहा है क्योंकि वहाँ से सदा तीर्थंकर ने निर्वाण प्राप्त किया है, तथा आगामी भी निर्वाण स्वयं को महत्ता शिवरजी को ही प्राप्त होगी। यह तो हुंडा-वसपिणी काल का प्रभाव है जो चार तीर्थंकर दूसरे स्थान से मुक्त हुए। उनमें वृषभनाथ तीर्थंकर का कैलाश पर्वत से मोक्ष हुआ। जिनसेन स्वामी ने भगवान् वृषभदेव को सहस्रनाम पाठ में महादेव लिखा है:—

“महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मा महाव्रता

महाकर्मारिरात्मज्ञो महादेवो महेशिता”

महामुन्यादिशतम ॥ ७ ॥

हमें तो प्रतीत होता है, कैलाशवासी शंभू महादेव भगवान् वृषभनाथ हैं। हिन्दू पुराणों को वैज्ञानिक तथा समन्वयशील दृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति उक्त कथन का समर्थन करेंगे। अंगदेशीय चपापुरी से वामुपूज्य भगवान् का मोक्ष हुआ। नेमिनाथ प्रभु ने गिरनार को अपना निर्वाण धाम बनाया। महावीर प्रभु ने पावापुरी को निर्वाण भूमि बनाया। शेष बीस तीर्थंकरों तथा अगणित मुनियों ने सम्मेशिवर से मोक्ष को प्राप्त किया। निर्वाण क्षेत्र की पूजा में पड़ते हैं—

“बीसों सिद्ध भूमि जा ऊपर, शिवर सम्मेश महागिरी ऊपर।

एक बार वंदे जो कोई, ताहिनरक पशुगति नहि होई ॥”

यहाँ कोई कोई 'एक बार बंदे' के स्थान में 'भाव सहित बंदे' पाठ रखना ठीक सोचते हैं, किन्तु 'एक बार बंदे' पाठ में 'भाव सहित बंदे' का भाव विद्यमान है। 'वदना' शब्द में पूज्यता की दृष्टि पाई जाती है। जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' शब्द में अन्तर है। दर्शन में भी देखना होता है, किन्तु उसके साथ आदर की भावना भी रहती है। 'मैं नीकर को देख रहा था' के स्थान में कोई भी विचारक यह भाषा नहीं बोलेगा 'मैं नीकर के दर्शन कर रहा था।' इसी प्रकार 'वदना' शब्द के भीतर पवित्रता पूर्ण अन्तःकरण का भाव विद्यमान है।

यहाँ कोई तत्वप्रेमी यह शंका कर सकता है, कि सभी शिखर जी को भूमियाँ समान हैं, शिखर जी को अधिक महत्व देने का विशेष महत्व क्यों? कारण क्या है? जहाँ तक निर्वाण प्राप्त आत्माओं की मंगल स्मृति का सम्बन्ध है, वह कार्य किसी भी शान्त एकान्त स्थल पर संपन्न किया जा सकता है। आचार्य शातिसागर महाराज सदृश मुनिवर तो सदा निर्वाण भक्ति पढ़ते हुए संपूर्ण निर्वाण स्थानों को प्रणाम करते ही हैं, फिर सम्मेलन शिखर जाने का महान आरम्भ किया जाना, धन खर्च होना, मार्ग का कष्ट उठाना क्या महत्व रखता है। अध्यात्म शास्त्र धाले भी बताते हैं "आत्मन् ! तुम्हें बाहर तीर्थों की वदनार्थ फिरने की जरूरत नहीं है, असली तीर्थ तेरी आत्मा ही है।"

यह शंका सार शून्य है। निर्वाण भूमि के द्वारा आत्मा पर विशिष्ट प्रभाव पड़ने का खास कारण है। शिखर जी सदा से सिद्ध भूमि रूप से आगम में प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा-जगत का अनंत उपकार करने वाले धर्म-तीर्थ-करों का उस समय आगमन होता है, जबकि विशुद्धता की परीकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। उस समय उनके परमौदारिक काय होता है।

उनके अतिशयों में बताया गया है—

"योजनशत इक मे सुभिक्ष, गगन गमन मुखचार ।

नहि अदशा, उपसर्ग नहि, नाही कवलाहार ॥"

जिस स्थल में तीर्थंकर केवली का विहार होता है, वहाँ आसपास ही योजन पर्यन्त सुभिक्ष हो जाता है; इसका कारण यही है कि उनके द्वारा परित्यक्त पुद्गल के परमाणुओं में इतनी उच्चता रहती है कि सर्वत्र गुण और समृद्धि की स्रष्टि का ही दर्शन होता है। जो नाम अरबों मन खात (Manure) के द्वारा संपन्न न हो, ट्रेक्टरों की राशि द्वारा

पूरा न हो, तथा जिस समृद्धि को अवतरितकर भू को शस्य-श्यामला बनाने की सामर्थ्य पुरुष प्रयत्न साध्य न हो, वह कार्य परमोदारिद्र्य शरीरधारी तीर्थंकर केवली के परम पवित्र शरीर से विनिर्गत परमाणुओं द्वारा बनायास सिद्ध हो जाता है । उन भगवान की सामर्थ्य और उनके प्रभाव के विषय में समतमद्र स्वामी लिखते हैं कि—

“अवापदाहन्त्यमचिन्त्यमद्भुत, त्रिलोकपूजातिशयास्पदपदम्”

भगवान् पारदर्शनात् तीर्थंकर ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय का नाश करके जो अहन्त का पद प्राप्त किया है, उसकी महिमा अचिन्त्य है—उसका चिन्तन करने की सामर्थ्य हममें नहीं, वह अद्भुत है “उसे देखकर चकित होना पड़ता है तथा वह त्रिलोक के पुण्यवान् प्राणियों के द्वारा वन्दना की वस्तु है ।” इस प्रकार अचिन्त्य और अद्भुत सामर्थ्य सपन्न परमाणुओं का प्रभाव केवल केवलीभगवान् के शरीर रूप परिणत होने से होता है । वह शरीर अयोगकेवली रूप उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् जिस भूमि में रह जाय, तथा जहाँ उसके कण वण समा जाय वहाँ की लोकोत्तरता मानने में कंठे सदेह हो सकता है ? उनके उस परम पूज्य, परिशुद्ध शरीर का अंतिम सत्कार जिस भूमि में सदा से होता आ रहा है, उसकी विलक्षणता को कौन विचारक न मानेगा ? ‘निर्वाण भक्ति’ में लिखा है, कि “भगवान् के निर्वाण होने के पश्चात् देवताओं ने आकर निर्वाण पूजा की तथा अग्निकुमार नामक भवनवासी देवेन्द्रों के मुकुट से उद्भूत अग्नि तथा सुगन्धित चन्दन धूप आदि के द्वारा उनके शरीर का अंतिम सत्कार किया, तथा उस भस्म की पूजा की ।”

एक बात विशेष महत्व की यह है, कि मुनि जीवन की कठिन साधना का एकमात्र लक्ष्य या केन्द्र है निर्वाण को प्राप्त करना । अतएव निर्वाण, निर्वृत्ता, मोक्ष, मुक्त सबधी सामग्री उनकी आत्मा को ध्येय की ओर

१ “परिनिवृत्तं जितेन्द्रबिबुषा ह्यथासु चागम्य ।

देवतहरवत् चन्दनं कालागुरुभृगोशीर्षे ॥१८॥

अग्नीद्राज्जिनदेहं मुकुटानलसुरभिधूपवरमात्यैः ।

अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं ख च वनभवनैः ॥१९॥

निर्वाण भूमि साहस पूर्वक बढ़ने को महान मोनोपदेश देती हुई प्रेरणा
 निर्वाणमुद्राधारी वरती सी प्रतीत होती है । इस दृष्टि से श्रमणों के
 मुनि के लिए विशेष लिए निर्वाण भूमि गमन की असाधारण उपयोगिता
 आलोकप्रद है नहीं भुलाई जा सकती है । जिस भूमि पर निरन्तर
 हिमपात होता है, वहाँ शीतलता के कारण नष्ट हुई वृक्षराशि पुनः नहीं
 बढ़ती है । उस हिमपात के प्रभाव से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति का विपरीत
 परिणाम होता है । इसी प्रकार कषायाम्नि पर वीतराग भाव रूप अनंत
 हिमपात द्वारा कर्मबीज को दण्ड करने वाली श्रेष्ठ आत्माओं के जीवन के
 श्रेष्ठ क्षण जहाँ व्यतीत हुए हों, जहाँ उन्होंने अनंतकल्याणदाता अक्षय शांति
 रस की दिव्यवाणी द्वारा वर्षा की है, तथा जहाँ उनके सिद्ध होते समय
 परमजीदारिद्र्य शरीर का अग्नि में संस्कार किया गया हो, वहाँ वन्दक आत्मा में
 विशेष विशुद्धता उत्पन्न हो, उसका मोह-ज्वर मंद हो तथा आत्मा की
 निरोगता बड़े इसमें क्या आश्चर्य है, क्या असम्भव है क्या अतिशयोक्ति है ?
 ऐसी महत्ता का अनुभव करना विकसित मस्तिष्क का नहीं प्रबुद्ध अंतःकरण
 का कार्य है ।

निर्वाणस्थल निर्वाणभूमि का दर्शन करना मुनियों का कर्त्तव्य भी है ।
 परमार्थतः वीर निर्वाणभूमि परमार्थतः वीर भूमि है जहाँ सिद्ध बनने
 भूमि है । अनंत दुःखों में डुबाने वाली कर्म सैन्य का आत्यंतिक क्षय
 किया है । मुनियों की निग्रंथ दीक्षा को वीर दीक्षा कहते हैं । ये ही
 वीर हैं जो कर्मों के उदय से जरा भी न घबराते हुए रतनशय रूप सङ्ग
 के द्वारा कर्मों के सहार में सतत समुद्यत रहते हैं । महावीरों के
 पराक्रम के श्रेष्ठ क्षण जिन स्थलों पर व्यतीत हुए उस जगह पहुँचकर उनका
 अभिवादन करना, उनकी वीर भक्ति का विशेष अंग माना जायगा ।
 अतः निर्वाणस्थल की चर्या अर्थात् आत्मा अत्यन्त समुज्ज्वल कार्य है । इतना
 अवश्य है कि उस वदना के हेतु जाते समय मन को पापवासनाओं से
 धोकर जाना आवश्यक है । उसके द्वारा यदि जीवन में भयुरता न आई,
 पवित्रता का वसंत जीवन को श्रीसपन्न न बना सका तो कहना होगा
 मछली सिन्धु के मध्य में रहते हुए भी प्यासी की प्यासी ही रही है ।
 इस प्रकरण में हमें एक मुस्लिम हाजी से सुना यह शौर स्मरण आता
 है—

“मक्का गये, मदीना गये, वन कर आए हाजी ।

आदत गई न इस्लत गई, फिर पाजी के पाजी ॥”

गयायें में मोही तथा पापवासनासक्त व्यवृत्ति की यही अवस्था होती है । वे पाजी के पाजी रहते हैं, किन्तु जिनका संसार निवृत्त हो जाता है जो अतःकारण पूर्वक मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं उनको बितना लाभ होता है, यह लिखने की नहीं, अनुभव की वस्तु है ।

‘सागरधर्मामृत’ में लिखा है कि गृहस्थको तीर्थयात्रादि अवश्य करना चाहिये, क्योंकि इससे दर्शन की विशुद्धता होती है । इस दृष्टि से तीर्थयात्रा मुनि जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है, तथा गृहस्थ के लिए भी हितकारी है । निर्वाण भूमि निर्वाण प्राप्त करने की विधासा को जगाया करती है । वहा जाकर विचारक अत्मा हृदय से यही कहेगा—

“खुद को खुद ही में ढूढ़, खुद को तू दे निकाल ।

फिर तू ही खुद कहेगा, खुदा हो गया हूँ मैं ॥”

सपूर्ण बातों को विचार कर ही शातिसागर महाराज ने शिखरजी की ओर संघ के साथ विहार की स्वीकृति दी थी । यह हर्षप्रद समाचार

कातिक कृष्ण प्रतिपदा घोर सवत २४५३, सन, शिखरजी विहार १९२७ में इन शब्दों में प्रकाश में आया “संघ विहार—की विज्ञप्ति

शिखरजी की यात्रा—सपूर्ण दि० जैन समाज को सुनाते हुए आनन्द होता है कि हम कातिक के आप्टान्हिक पर्व के समाप्त होते ही मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका समवेत चतुर्विधसंघ को चलाने वाले हैं । यह संघ कुभोज (बाहुवल पहाड़) कोल्हापुर दक्षिण की तरफ से निकलेगा और शिखरजी की यात्रार्थ प्रयाण करेगा । श्री रत्नत्रयपूत परमशत दशलाक्षणिकधर्म विभूषित १०८ श्री आचार्य शातिसागर महाराज मुनि संघ सहित साथ में विहार करेंगे । इस संघ में तीनचार मुनि, तीन ऐल्लक व एक क्षुल्लक व करीब पांच छह ब्रह्मचारी तथा दो तीन आर्यिकाओं ने विहार करना निश्चय कर लिया है । इनके सिवाय और भी कुछ मुनि ब्रह्मचारी ऐल्लको के इस मुनि संघ के साथ में निकलने का अदाज है । चतुर्युगकाल के मुनीश्वरों का जैसा कुछ स्वरूप था ठीक वैसा ही स्वरूप परमशत आचार्य श्री १०८ शातिसागर महाराज का है । आज पर्यन्त यह संघ दक्षिण में ही विहार करता था, परन्तु भव्यों के पुण्योदय से अब आगे इनका विहार उत्तर प्रांत में होगा । इस कारण सब ही समाज

को धर्म का लाभ होगा। (१) यह संध दक्षिण महाराष्ट्र से श्री शिखर जी पर्यन्त पैदल रास्ते से जायगा। (२) संध के साथ धानेवाले धर्म बांधवों की सर्व प्रकार की व्यवस्था की जायगी। किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो ऐसी सावधानी रखी जायगी। (३) संध रक्षण के लिए पुलिस का इंतजाम साथ रें किया गया है। (४) संध के साथ में श्री जिननेन्द्र भगवान की प्रतिमा का समवशरण रहेगा। (५) संध में धर्मोपदेश तथा धर्मचर्चा का योग रहे, इसलिए विद्वान पंडितों की योजना की गई है। (६) संध में औषधि द्वारा रोग चिकित्सा का इंतजाम रहेगा। (७) संध में भोजन सामान का इंतजाम रहेगा जिससे कि अतिथियों के योग्य शुद्ध सामान भी मिल सके। (८) संध में जो जितने दिन पर्यन्त चाहेंगे, रह सकेंगे। जो पूरी यात्रा करना चाहेंगे, उनका खास इंतजाम किया जायगा। सर्व बांधवों को इस प्रकार से विशेष लाभ होगा समझकर ही ऐसा इंतजाम रक्खा गया है। गरीब बांधवों की भी सर्व प्रकार की तजवीज रहेगी। इसलिए सर्व बांधवों को चाहिए कि वे इस मौके को जाने न दें। पुनः ऐसा लाभ न मिलेगा। संध के साथ यात्रा करने वाले श्रावकों को धर्मोपदेश, सुपात्रदान, तीर्थवदना, आदि अपूर्व लाभ होंगे। त्यागी ब्रह्मचारी जनो को विशेषता से सूचित किया जाता है कि वे संध में आकर शामिल हो, जिससे संध की शोभा बढे। इसी प्रकार विद्वानों को भी संध के साथ शामिल होना चाहिये। यही हमारी प्रार्थना है। समाज सेवक पूनमचन्द घासीलाल जोहरी, जोहरी बाजार, बम्बई न० २।"

यह समाचार महत्वपूर्ण तो था ही साथ में एक नवीन बात का धोतक था। उत्तर की ओर दिगम्बर मुनि संध का बिहार कई पीढ़ों से लोगों के वर्ण गोचर नहीं हुआ था, अतएव ऐसी घका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है, कि स्वाधीन वृत्तिवाले मुनिराज का गृहस्थों के आश्रित संध का बनकर चलने में उनकी स्वाधीनता की क्षति होगी अतः यह कार्य कैसे निर्दोष तथा उज्ज्वल समझा जायगा ?

इसका समाधान यह है कि मुनिराज अपने मूल्य गुणों का बराबर पालन करते जायें यह मुख्य बात है, इसमें दोष नहीं आना चाहिए। संधमें सम्मिलित होकर साधर्मिकता के साथ बिहार करने में रहन्रय धर्म की वृद्धि होती है, जिनधर्म की प्रभावना होनी है, सामुदायिक पवित्र शक्ति के द्वारा

बहुत जीवों का हित होता है, अतः इसमें बाधा की कल्पना अयोग्य है। श्रावको के अधीन मुनिराज की प्रवृत्ति नहीं है। मुनिराज के सुभीते को देखकर ही भक्त, सर्वव्यवस्थापक सेवक के रूप में कार्य करते हैं। स्वामी के रूप में मुनिराज शोभीत होते हैं। धर्मार्त्ता श्रावक तो उनके चरणों का दासानुदास मान सोचता है। जो गृहस्थ अपने को, स्वामी समझ अधिकार दिखाने का प्रयत्न करे, वह विचारवान श्रावक नहीं कहा जा सकता है।

यह सध की पद्धति नवीन नहीं है। शास्त्रों में इसके उदाहरण मिलते हैं। पार्श्वनाथ चरित्र से ज्ञात होता है कि महाराज अरविन्द ने राज्य का परित्याग करके मुनिपदधारण कर लिया था। अपनी आयु थोड़ी जानकर उन्होंने सध को छोड़ कर आत्मशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वे अनेक वैश्यों के साथ जिन मदिरों की वदनार्थ निकले थे। सधस्थ श्रावक में मुख्य श्रेष्ठिकर शशिगुप्त थे। लिखा है—

दयानिधि मुनिराज अरविन्द गुणयुक्त सब को छोड़कर आत्मा को संस्कृत करने के लिए जिन भक्तों की वदना के हेतु श्रीमन्त व्यापारियों के साथ गए।^१

वे मुनिराज पापपक विनाशन करने में समर्थ आगमानुसार धर्म कथा को विनयशील शशिगुप्त आदि वैश्यवरो को कहते थे।^२

पूर्व विदेह की पुडरीकणी नगरी के वैश्यनाथक ने सागरसेन मुनिराज के विहार करते समय साथ दिया था, ऐसा अशग कवि कृत महावीर चरित्र से ज्ञात होता है।

आज के युग में परमार्थ भावना का प्रदीप स्तब्ध का अभाव होने से बुझता जा रहा है। लोग स्वयं नीचयान्त्रा तथा धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में शैथिल्य संपन्न होते जा रहे हैं ऐसे समय पर एक व्यक्ति का विशाल धार्मिक

१ परिहृत्य गुणी गुणान्वय विदधान, पुनरात्मसंस्क्रियाम् ।

जिनवैश्यगृहाम्बिवदिपुः सह सार्थेन ययौ दयानिधि ॥

॥ ३-६२ ॥

२ विनयाचनतामस शशिगुप्त प्रमुखान्वाणिश्वरान् ।

मलवर्द्धम मर्दनशमामशिपद्धम कथा ययागमम् ॥ ३-६४ ॥

‘वादिराज ‘पार्श्वनाथचरित्र’

सब को शिखरजी तक ले जाने का निश्चय अथवा आश्चर्यप्रद होगा। कोई यह मोवते होगा कि सब सचालक बनें करोड़ों के अधिपति होंगे तभी बड़े विशाल संन चलाने के लिए उनमें रुपयों को पानी की तरह बहाया होगा यह कोरी कल्पना ही है। सब सचालक महानुभाव उदीयमान पुण्यशाली जिनधर्म के प्रागढ, थदालु और आचार्य शातिसागर महाराज के चरणों में अनन्य अनुराग रखने वाले थे। उनके पास यदि पूजा थी, तो पुण्य की संपत्ति थी। जिनेन्द्रदेव की स्तुति में कविमनरगलाल ने लिखा है—

“जाके धन तेरे भरन दोय ता गेह कमी कबहू न होय ॥”

सब सचालक का यथार्थ में उस समय सब सचालक सेठ पूनमचंद घासीलाल परिवार का था। उनके पास यही पूजा ही वास्तविक पूजा थी। इस कारण है कि प्रतापगढ से व्यापार निमित्त ये आज से लगभग ४८ वर्ष पूर्व स. १९६० में बवाई जाये थे। उस समय इनके पास शतक प्रमाण भी रजत मुद्राएं नहीं थी। दो वर्ष पर्यन्त चांदी की दलाली के पश्चात् घासीलाल जी ने अत्यन्त भाग्यशाली ज्येष्ठ पुत्र गेंदनमल जी के साथ मुक्ता की दलाली प्रारंभ की। सन् १९६९ में गेंदनमलजी तथा उनके अनुज दाडिमचंद जी केवल दो सहस्र रुपया लेकर मोती लेने की अरबस्तान गए। वहां से आने पर मूलधन द्विगुणित हुआ। इनके मधुर स्वभाव, प्रेमपूर्ण वाणी, सच्चे व्यवहार से मोतीबाजार में लोगों का प्रेम बढ़ता गया। इनकी साख खूब बढ़ती गई। अरबस्तान में भी इन जवेरी बंधुओं का प्रेम, प्रभाव तथा प्रभावितता का स्थान बढ़ता जाता था। जो भी इनके संपर्क में आता वह इनके गुणों के कारण अथवा पुण्य के कारण आकर्षित हो इनका बने बिना नहीं रहता था। व्यापारको चमकने के लिये जो जो साधन आवश्यक माने जाते हैं वे सब यहां थे, इससे इनका विकास हो चला। इनके बढ़ते हुए वैभव की स्थिति प्रारंभिक अल्पतम पूजा की देखने, दृष्टान्त, उत्ति लोगों को विस्मित करती थी। सुभाषितकार वाक्यन अक्षरशः सत्य है ‘व्यापारे वसते लक्ष्मीः’—व्यापारी लक्ष्मी का वास है। अंग्रेज कवि गोल्ड स्मिथ ने इसे बुरा कहा है “जहां धन की बूढ़ि होती है, विलु मनुष्यों के सद्गुणों का हारा होता है।” यहाँ ऐसी स्थिति नहीं थी। देवपूजा, गृहनिर्माण

स्वाध्याय, सधर्म, दान आदि आवश्यक कार्यों में तीनों भाई सेठ गेंदनमल जी, दाडिमचंदजी, मोतीलालजी अतः करण पूर्वक लग्न रहते थे। धन की मादकता ने उन पर कोई असर नहीं डाला था। लक्ष्मी ने उनके विवेक चक्षुषों का बंद नहीं किया था, प्रत्युत लक्ष्मी ही पुण्य सधर्म करने वाले इस धर्मशील परिवार का अनुगमन कर रही थी। जैसे जैसे धन बढ़ता था, वैसे वैसे त्याग, परोपकार, धर्मभक्ति, नम्रता आदि मद्गुण वृद्धिगत होने जा रहे थे। प्रतीत होता है, इनके हृदय में धन के विषय में यह बात घर कर गई थी, कि पुण्यक्षय होने पर लक्ष्मी का नाश होता है, दान देने से धन धर्मो भी नष्ट नहीं होता, अतः सदा पात्र दान करना चाहिये।

मुक्ता के व्यापारी
का मुक्तहस्त हो
मुक्ति के हेतु
मुक्ति के साधक
की मुक्त भूमि
दर्शन की कामना
पूरा करने का
निश्चय

इनने सोचा 'आचार्य शातिसागर महाराज से बढकर विशुद्ध चरित्र, रत्नमालावृत श्रेष्ठ पात्र और धीन मिलेगा? अतः उनकी सेवा में शक्ति की परवाह भी न करके धन को मुक्त हस्त होकर लगा दो।' मुक्ता के व्यापारी होने से मुक्ता मुक्त हस्त तो सदा ही रहा करता था। किन्तु वह मुक्ता के बधनयुक्त रहता है, दान देते समय ही खुला हाथ होने से वह मुक्तहस्त कहा जाता है। धन कमाने का नशा किते नहीं होता है, और बातों का भी नशा दुनिया में देखा जाता है, किन्तु धन खर्च करने का नशा जिन्हें देखने की इच्छा हो, वे गेंदनमल जी को उस समय देखते, जब वे सब बिहार के लिए प्रार्थना करने के पश्चात् नोटा के बटल को ट्रक में रखकर व्यवस्था करने वाले श्रावको को सोपते थे। उस समय वे न नोट गिनते थे और न उन श्रावको से बिल मागते हो, जैसा कि सामान्य तथा धनिकों की शैली होती है। इस प्रकार का खर्चा सधर्म बेहिताब था, गणना रहित था। मालूम होता है, गेंदनमल जी बवाई आते समय देश से लाई मात्र पूजा की अपनी सोचते थे और शेष सबको श्रेष्ठ कार्य निमित्त लगाने की वस्तु मानते थे। रत्नाकर के पास से प्राप्त रत्नों की बमाई को रत्नाकर रत्नमय के आकर महामुक्ति की अर्चा निमित्त व्यय करना वे उचित समझते थे और सोचते थे, "रत्नाकर! त्वदीय वस्तु, तुभ्यमेव समर्पये।"

ऐसे हृदय के धनी गुणचरण भक्त, पंचपरमेष्ठी की सतत आराध-

नामें निरत श्रावकोत्तम सेठ पूनमचन्द घासीलाल जपेरी संप के प्रमुख सेयक थे । सब उमकी सधपति कहते हैं, किन्तु वे अपने को सध का सेवक सोचते थे । उनको संध के पति, प्राण, स्वामी, संधसर्वस्व, आचार्य शातिमागर महाराज दिखते थे ।

चातुर्मास पूर्ण होते ही रत्नत्रय धर्म की प्रभावना करनेवाला धर्म-संध पंचपरमेष्ठियों की वदना कर प्रस्थान करने को उद्यत हो गया । दूर दूर के लोग गुरुदर्शन को आ गए । अब इन तपोनिधि गुरुराज का पुनः कव दर्शन होगा ऐसा दक्षिण की धार्मिक जनता सोचने लगी । इन अकारण बंधु का वियोग बहुत समय के लिए हो रहा है, यह विचार 'कर' उसका हृदय बड़ा दुःखी हो रहा था । अनेक लोग तपण, वृद्ध, नर, नारी, मंगल-मय पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर यही आकांक्षा कर रहे थे, कि पूज्य श्री की यात्रा मित्र संपन्न हो ।

एक वृद्ध पंडित जी की सलाह
 एक नामांकित वृद्ध पंडित जी पूज्य श्री के समीप आए । सभा को प्रणाम कर बड़े ममत्व के साथ कहने लगे,
 "उत्तर की जनता चक्र प्रकृति की है । वहाँ कभी दिगम्बर मुनिधों का विहार हमारे जीवन में नहीं हुआ है, अब आपका संध जाता है, इसको देखकर विद्वेपियों द्वारा विघ्न प्राप्त होगा, तब धर्म पर संकट आ जायगा । अतः यह उचित होगा कि पहले आप किसी देवता को सिद्ध कर लें । इससे कोई भी बाधा नहीं होगी ।"

महाराज बोले—
 महाराज बोले—“मालुम होता है, अब तक आपका मिथ्यात्व नहीं गया, जो हमें आगम की आज्ञा के विरुद्ध सलाह दे रहे हो ।”

भक्तिरस युक्त उत्तर
 पं. जी बोले—“महाराज ! आपका भाव मेरे ध्यान में नहीं आया । स्पष्टीकरण की प्रार्थना है ।” महाराज ने अपने भाव स्पष्ट करते हुए पूछा “क्या महाव्रती अश्रती को नमस्कार करेगा?”

पं. जी बोले—
 पं. जी बोले—“नहीं महाराज, व्रती अश्रती को नमस्कार नहीं करेगा ।”

महाराज बोले—
 महाराज बोले—“विद्या या देवता सिद्ध करने के लिए नमस्कार करना आवश्यक है । देवता अश्रती होते हैं । तब क्या अश्रती को प्रणाम करना महाव्रती को क्या दोषप्रद नहीं होगा ?” पं. जी जब इस युक्तिवाद को सुनते ही चुप हो गए तब महाराज ने कहा—“डरने की

क्या बात है ? हमारा पंचपरमेष्ठी पर विश्वास है । उनके प्रसाद से विघ्न नहीं आया और कदाचिन् पाप कर्म उदय से विपत्ति आ जाय तो हम उसे सहन करने को तैयार हैं ।" महाराज का अदम्य उत्साह, महान् युक्तिवाद और प्रगाढ़ आत्मविश्वास देखकर उन ५० जी का ममत्ववश शकाशील हृदय भी बदल गया और उनकी आत्मा भी कह उठी "प्रभो ।

मगलमय आचार्य
परमेष्ठी के पथ
में विघ्न कैसे
टिकेंगे ?

अच्छा है, अपने विहार से उत्तर की भूमि में धर्म की धारा प्रवाहित कर भव्य जीवों को उपकृत कीजिए । जिनेन्द्र देव के प्रसाद से आपका मार्ग मगलमय हो । जिन आचार्य परमेष्ठी का स्मरण नाम पाठ विघ्न विघातक होता है स्वयं उनके ही मार्ग में अमगल मूर्ति

विघ्न कैसे आवेंगे ? पवन के समक्ष पतंग, मच्छर नहीं आते हैं ? पवन, पतंग विरोध का एक आरूपान प्रसिद्ध है—

कहते हैं एक बार मसार की व्यवस्था में सलग्न विधाता का दरवार लगा हुआ था । उस समय मच्छर महाशय ने अपनी मुसीबत की कथा करण शब्दों में सुनाई, कि पवन हमें सदा सताया करती है । हम किसी जीवित प्राणी के शरीर पर बैठकर अपना रस पान करते हैं, तो यह हमारे रग में सदा भग डाल दिया करती है । हमने इसका कभी भी कोई नुकसान नहीं किया है, किन्तु यह सदा हमारे साथ शत्रुता का व्यवहार करती है ।

विधाता ने वादीप्रतिवादियों को दूसरे दिन उपस्थित होने का आदेश दिया । मच्छर महाशय अपनी सफलता की कल्पना में मस्त हो मन ही मन गायन में मग्न हो बहुत पहले से ही न्यायालय में बैठे थे । इतने में समय हुआ, इनका पुकारा हुआ । मच्छर ने विधाता की प्रणाम

गया । अभी लक्ष्मण स्वयं को पहुँचने में बहुत देर है । यात्रा भी पैदल है, किन्तु पवित्र पर्वतराज की मनोज्ञ मूर्ति महाराज के समक्ष सदा विद्यमान रहनी थी कारण दृष्टि उस ओर थी । सक्त्प भी तद्रूप था । आत्मा पर्वतराज के उन्मुख थी । प्रारम्भ में लगभग दो सौ नर नारियो, साधु साध्वियो समलकृत सघ था । आचार्य श्री शातिसागर महाराज के समान निग्रन्थ मुद्राधारी रत्नत्रय समलकृत मुनित्रयी के भगल नाम नेमिसागर महाराज, धीरसागर महाराज, अनतकीर्ति महाराज थे । पायसागर नाम से भूषित ऐलक पदाधिष्ठित तीन श्रेष्ठश्रावक ऐनापुर, गोकाक तथा शिवापुर के थे । नाम और पद में तीनों ही समान थे । क्षुल्लक मलिसागर थे, गलतमेवाले, पायसागर जी जल्गांव वाले, क्षु० अनतकीर्ति वरवी शिवापुर वाले भी थे। क्षुल्लिका माता शांतिमती, ब्र० क्षु० चंद्रमती, क्षु० अनंत मती नाम की तीन क्षुल्लिकाएँ थी । एक ब्रह्मचारिणी बाई थी । ब्र० दादा घोड़े सांगली वाले, ब्र० अण्ण्यालेाडे ब्र० म्हेसालकर ब्र०. पारिसप्पा घोड़े पायसागर जी उगाकर, य देवप्पा, य देवलाल ग्वालियर, य हजारीलाल एटा, प. नंदनलाल जी बैद्य भी साथ में थे । प नंदनलाल जी बंध बातपित्त वक जग्य रोगों को दूर करने की दवा देते थे । कुछ समय परचात् वे ही महानुभाव निग्रन्थ दीक्षा लेकर रत्नत्रय की ओपधि देकर आत्मा के रोग को दूर करते हुए आध्यात्मिक वैद्य के रूप में सुधर्मसागर महाराज नाम से सर्वत्र विख्यात हुए । प. उलकतरायजी रोहतक वाले, कीर्तनकार श्रीजिगमोडा पाटील मांगूरकर, श्री गगाराम आरवाडे कोल्हापुर, भी साथ में थे ।

अपूर्व आनंद तथा सघ में रहनेवाले कहते थे, ऐसा आनंद, ऐसी सात्विक सदा शुभोपयोग शान्ति, ऐसी भावों की विशुद्धता जीवन में कभी नहीं की प्रवृत्ति मिली, जैसी आचार्य श्री के सघ में सम्मिलित होकर जाने में प्राप्त हुई । आर्तध्यान और रौद्रध्यान की सामग्री का दर्शन भी नहीं होता था । निरंतर धर्मध्यान ही होता था । शुभोपयोग की इससे बढ़िया सामग्री आज के युग में कहा मिल सकती है ? वह रत्नत्रयधारियों तथा उपासकों का सघ रत्नत्रय की ज्योति को फैलाता हुआ आगे आगे बढ़ता जाता था । सघ में सर्व प्रकार की प्रभावक उज्ज्वल सामग्री थी ।

मनोज्ञ जिनबिम्ब, बहुमूल्य नयनाभिराम रजत निर्मित तथा स्वर्णशिल्प सज्जित दैदीप्यमान समवशरण आदि के दर्शनार्थ सर्वत्र ग्रामीणों तथा इतरे

लोगों की बहुत भीड़ हो जाती थी। हजारों व्यक्ति महाराज को देखते ही मस्तक को भूतल पर लगा प्रणाम करते थे। वे जानते थे 'ये नागाबाबा साधु परमहंस हैं। पूर्व जन्म की बड़ी कमाई के बिना इनका दर्शन नहीं होता है।' उन हजारों लाखों लोगों ने महाराज के दर्शन द्वारा असीम पुण्य का वध किया। वध का कारण जीव का परिणाम होता है। शुभ परिणामों से पुण्य का संचय होना स्वाभाविक है।

वैभव सम्पन्न श्रावको से सुसज्जित इस सघ का सध्या को जहा भी विश्राम होता था, वहा बड़े दूर दूर वे ग्रामवासियों के आवागमन का ताता लग जाता था। इससे जगल में मगल की कल्पना साकार बन गई थी। मगलमय उद्देश्य को लेकर मगलात्मक श्रमण समुदाय सुसज्जित सघ अन्वर्षत मगलमय दिखता था।

जहा सूर्य अस्तगत हुआ वहा आचार्य श्री आदि महाव्रती उच्चसाधुगण रुक जाते, अपनी कुटी में बैठकर आत्मध्यान में लीन हो जाते थे। योग्य समय पर विश्राम करते थे। प्रभात में सूर्योदय के प्रकाश से भूतल के आलोकित होते ही उनका विहार प्रारंभ हो जाता था। लगभग सात आठ मील पहुँचकर वे साधुगण शीबादि से निवृत्त होते थे। श्रावक और श्राविकाएँ मोटर द्वारा पहले से वहाँ पहुँचकर आहार की पूर्ण तैयारी कर लेते थे। अस्थायी उपयोग के लिए तबू वगैरह लगे जाते थे। वहा भाग्यवान् श्रावक उत्तम, मध्यम, जपन्य पात्रों की प्राप्ति के हेतु द्वाराप्रेक्षण करते थे। तपस्वियों तथा उच्च श्रावकों आदि की दानरूप धैर्यावृत्य द्वारा सेवा की जाती थी। तत्पश्चात् त्यागी मण्डल मध्याह्न की सामायिक में निमग्न हो जाता था, तथा श्रावक लोग अपने भोजनादि कार्यों को करते थे। सामायिक पूर्ण होते ही महाराज का यज्ञवत् विहार आरंभ हो जाता था। प्रतिदिन लगभग ८ कोस जाने का क्रम रहता था।

कोई कोई यह सोचते हैं, कि साधु को बहुत धीरे धीरे चलना चाहिए। इस विषय में आचार्य महाराज से एक बार मैंने पूछा था कि "महाराज जल्दी चलने से क्या साधु को दूषण नहीं आता है?" महाराज ने कहा—"यत्नाचार पूर्वक चलने से दूषण नहीं आता है।" वे आचार्यों की आज्ञा के विरुद्ध रचमात्र भी प्रवृत्ति नहीं करते थे। दुर्भाग्य की बात यह है, कि उत्तरप्रात में बहुत समय से मुनियों की परंपरा का लोप सा हो गया था, अतः मुनि जीवन सम्बन्धी आगम का अभ्यास भी शून्य सम हो

महाराज की
प्रवृत्ति आगम
सम्मत है

गया, ऐसी स्थिति में अपनी कल्पना के ताने बाने बुनने वाले करणानुयोग, द्रव्यानुयोग शस्त्रों का अभ्यास करने वाले श्रावक मुनि जीवन के विषय में अपनी आलोचना का चाकू चलाया करते हैं। ऐसे ही आलोचक कुछ विद्वानों के सम्पर्क में आकर हमारा भी मन भ्रांत हो गया था, और हमने भी लगभग आठ माह तक आचार्य महाराज सद्गुरु रत्नमूर्ति को काँचतुल्य सामान्य वस्तु समझ बैठा था। पुण्योदय से जब गुरुदेव के निकट सम्पर्क में आने का मुयोग मिला तब अज्ञान तथा अनुभव शून्यता जनित कुकल्पनाएं दूर हुईं। दुःख तो इस बात का है कि तर्क व्याकरण आदि अन्य विषयों की पड़िताई प्राप्त व्यक्ति चरित्र के विषय में अपने को विशेषज्ञ मान उस चरित्र की आराधना में जीवन व्यतीत करने वाले श्रेष्ठ सन्तों के गुरु बनने का उपहास पूर्ण कार्य करते हैं।

एक छोटा सा उदाहरण है। सन १९४७ में पूज्य श्री का चतुर्मास सोलापुर में था। वहावे चार माह से अधिक रहे, तब कुछ तर्कशास्त्रियों का आचार्य श्री की वृत्ति में आगम के अपलाप का सतरा नजर आया, अतः आगम के प्रमाणों का स्वपक्ष पोषक संग्रह प्रकाशित किया गया। उसे देखकर मैंने सोलापुर के दशलक्षण पर्व में महाराज से उपरोक्त विषय की चर्चा की। उत्तर में महाराज ने कहा—“हम सरीखे बृद्ध मुनियों के एक स्थान पर रहने के विषय में समय की कोई बाधा नहीं है।” उनमें हमसे पूछा “यह चर्चा मूलगुण सम्बन्धी है या उत्तरगुण सम्बन्धी है?”

मैंने कहा—“महाराज यह तो उत्तरगुण की बात है।”

महाराज बोले—“मूलगुणों की निर्दोष पालना हमारा मुख्य वस्तु है। उत्तरगुणों की पूर्णता एकदम से नहीं होती है। उसमें दोष लगा करते हैं। पुलाक मुनि के वदचित्त कदाचित्त मूलगुण तक में विराधना हो जाती है।”
उत्तर सुत्कर मैं हुए ही गप्पा। उस समय सम्प्रज्ञ में अफस कि कहीं ऐसी कल्पनाएँ हम वर्तमान मुनि पर लादते हैं और यह नहीं जानते कि आगम परंपरा क्या कहती है? महाराज तो जगत् के तरफ पीठ दे चुके हैं। उनके ऊपर राजनीतिज्ञों सद्गुरु उत्तरदायित्व का भार लाद नेताओं के राजनीतिज्ञों से समान उनके वक्तव्यों को प्राप्त करने की कल्पना वाले भाई भूल जाते हैं कि ये आत्मोन्मुख मुनिराज दुनिया की संशयों को छोड़ चुके हैं जिन राजनीतिज्ञों की गौरव

की वस्तु मान आज लोग उनसे प्रकाश पाने की आकाक्षा रखते हैं। और उनके पथ पर चलने की इन गुरुओं से आशा करते हैं वे बड़े अंधकार में हैं। राजनीतिज्ञों की महिमा को समझने के लिए भारत के प्रधान मन्त्री तथा कांग्रेस के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू सदृश अनुभवी नेता के ये उद्गार ध्यान देने योग्य हैं, इनसे पता लगेगा कि राजनीति के पंक्त से आत्मविकास प्रेमियों को अपना संरक्षण करना आवश्यक है। 'ये राजनीतिज्ञों की नेहरू जी द्वारा खरी आलोचना

नुमायशी मिनिस्टर लोग" चीपेंक निबन्ध में श्री नेहरू ने लिखा था "इंग्लैंड के तीसरे जार्ज का कहना था कि राजनीति तो गुड़ों का पेशा है। शरीफ आदमियों का नहीं; यह तो सच है कि हम सब लोग जिन्होंने इस कीबड़ में हाथ सान लिए हैं, कभी कभी इससे तग आजाते हैं और कभी तो बिल्कुल नफरत और खोश होने लगती है .. राजनीति के पेशे में नेता बनने के लिए किसी भी ट्रेनिंग की जरूरत नहीं है। हर ऐरा-नेरा अपने देशवासियों पर शासन करने के लिए समर्थ समझा जाता है। रामारोला ने यह सुझाव पेश किया है कि युद्ध के खिलाफ आवाज उठाने के बजाय इन युद्ध छेड़ने वालों के खिलाफ आवाज उठाई जाय और इन राजनीतिक नेताओं को निर्वासित कर दिया जाय।" (संगम मासिक पत्र पृ० ८४ दीपावली अक्टूबर वर्ष २००६)

अतः राजनीतिज्ञों के पथपर श्रमणों के चलने की सूझ वालों को यह सोचना धर्मकी छत्र छाया चाहिए कि श्रमणों की छाया में रहने वाले राजनीतिज्ञों में राज्यपुरुषों का कल्याण है अन्यथा राज्यधुरंधरों का भविष्य जीवन-का कल्याण सूर्य के अस्तंगत होने के उपरांत निकृष्ट पर्याय की प्राप्ति के सिवाय अन्य नहीं होता है। नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव ने राज्य को प्रणाम किया है जिसके फल निवर्ग-धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थ है - "धर्मायं काम फलाय राज्यात्मनः" (धर्म समुद्देश पृ. ७)। धर्मानुगामिनी न हो धर्म और धार्मिक सहायिणी होती हो तो राज्य को नरक का कारण कहा है—“अन्यथा पुनर्नरकायैव राज्यम्” (पृ. ४०९ अन्वीक्षिकी समुद्देश सूत्र ४२)। अतः धर्मानुशासन से बाहर जानेवाली राजनीति कहीं जाने वाली किन्तु परमार्थतः व्याघ्र सदृश नीति वालों को धर्मानुशासितों से सदा प्रकाश प्राप्त करते रहना श्रेयस्कर है।

उस राज्य शासन की भक्ति के अतिरेक यश राष्ट्रीय कामों में अपरिमित धन का व्यय किया जाना प्रसन्नता और गौरव का अंग

समझा जाता है, उनके सम्मेलनों में जाकर नेता रूपी प्रभुका दर्शन कर जीवन रत्नत्रय के हेतु कृतार्थ सोचा जाता है, किन्तु रत्नत्रय धर्म की महिमा को विश्व के समक्ष प्रकाशित करनेवाले समारम्भो महोत्सवों आदि को अपव्यय कहा जाता है। आवश्यकता है कि जीवन की विशेषता को सोचते हुए उन सभी

का स्वागत किया जाय, भक्ति की जाय जिसके द्वारा रत्नत्रय के दीप को प्रदीप्त करने योग्य सामग्री प्राप्त होती है। उस प्रिय प्रदीप की प्राप्ति के लिए चन्द्रगुप्त सदृश नरेशों ने विशाल साम्राज्य को भी धूल समझकर छोड़ा और भद्रबाहु स्वामी के निर्भय पय पर प्रवृत्ति की। जैनशासन में कृत कारित, अनुमोदन द्वारा पुण्य पाप का बंध होना बताया गया है। दान कोई देता है, पीड़ा होती है दूसरे के पेट में। अद्भुत बात है। यहाँ सोचने की बात है कि हर व्यक्ति ने अपने श्रम या उद्योग से धन कमाया। उसे वह श्रद्धानुसार मोक्ष मार्ग के काम में लगाता है, तो विलक्षण दृष्टिवाले विचक्षण उसे ऐसी अमनोज्ञ बातें सुनना शुरू करते हैं, कि दूसरे व्यक्ति को कृपणराज की क्षिप्यता स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः मोक्ष मार्ग के साधनों का तिरस्कार, निरादर करना श्रेयस्कर नहीं है।

कुछ समालोचना के शीकीन साधुओं को ही अपनी लोह लेखनी के आक्रमण का केन्द्र बनाते समय यह नहीं विचारते कि समस्त व्यक्तियों में लिपट अत्यन्त दुराचारी दुष्ट व्यक्ति के प्रति उनके मनमें साधुओं के वात्सल्य पैदा होता है, उपगूहन का भी भाव जगता है, आलाचकों का स्थितिकरण की दृष्टि उत्पन्न होती है किन्तु इस भीषण काल में असिधाराव्रत से भी भीतिप्रद दिगम्बर मुनि का जीवन बितानें वाली बीर आत्माओं के प्रति तनिक भी आत्मीयता का भाव उत्पन्न न होकर जन्म जन्मान्तर के शत्रु सदृश व्यवहार करने की कुबुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है। साक्षरों की विपरीत प्रवृत्ति देखकर साधारण समाज अपना मार्ग निश्चय नहीं कर पाती है।

इसे ध्यान में रखकर मैं एकबार आचार्य श्री से पूछा—“शियिला-चरण वाले साधु के प्रति समाज को या समक्षदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए?”

१ साक्षर विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्।

सरस विपरीतश्चेत्सरसत्वं न भुवति॥

शिथिलाचारी के प्रति क्या किया जाय ?

महाराज ने कहा—“ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका स्थितिकरण करना चाहिए।”

मैंने पूछा—“समझाने पर भी यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति न बदले तब क्या कर्तव्य है ? क्या पत्रों में

उसके सम्बन्ध में समाचार छपाना चाहिए या नहीं ?”

महाराज ने कहा—“समझाने से भी काम न चले, तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अग का पालन करो, पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हंसी होने के साथ साथ अन्य मार्गस्थ साधुओं के लिए भी अज्ञानी लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है।” महाराज के यह भी कहा था कि “मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का भयकर दुष्परिणाम होता है, श्रेणिक की नरकायु का कारण निरपराध मुनि के गले में सर्प डाला जाना था। अतः सम्पादक श्रावक विवेक पूर्वक स्थितिकरण उपगूहन, वास्तव्य अग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रों में चर्चा नहीं चलाएगा।”

साधु जीवन खिलवाड़ की वस्तु नहीं है

मैंने कहा—“महाराज एक धनी सेठ जी मेरे पीछे लग गये कि एक मुनिराज उनको ठीक नहीं लगते उनके विरुद्ध आन्दोलन करो, तब मैंने उनसे कहा एक दिगंबर मुनि का जीवन सामान्य वस्तु नहीं है। सर्व साधारण के समक्ष उनके विरुद्ध चर्चा का ढोल पीटना मैं ठीक नहीं सोचता। हा ! एकान्त में उनके विषय में कड़ी भी चर्चा करना उचित होगा।”

मैंने यह भी कहा था—“शरीर पर फोड़ा होने डाक्टर उस पर चाकू मारकर उसके विकार को दूर करने में सकोच नहीं करता है, किन्तु सर्व साधारण रूपी भक्ती उस पर न बैठे और घाव के जहर को न बढ़ावे, इसी कारण उसपर पट्टी बांधकर उपगूहन की दृष्टि का उपयोग लेना लाभप्रद होगा, अन्यथा हानि की संभावना है।”

इस पर महाराज ने कहा—“ठीक है, सम्यक्त्वो श्रावक ऐसा ही कार्य करेगा।”

इस प्रसंग में यह भी चर्चा करना उपयोगी दिखता है कि कभी कभी ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो न शस्त्र जानते हैं, न जिनने स्वाध्याय ही किया है किन्तु वे भी बड़े बड़े शास्त्रज्ञों के गुरु बनकर त्यागी और व्रती व्यक्तियों के चरित्र को दोषी कहते हैं और दूसरे की नहीं सुनते। उनको पूज्य

आचार्य महाराज की बात ध्यान में रखना चाहिये कि इस विषय को सार्व-जनिक चर्चा का विषय न बनाकर योग्य विविक्षा करना चाहिये ।

जिस प्रकार बड़े महत्त्व और सावधानी के साथ कोई अपनी निधि की रक्षा करता है, इसी प्रकार इस उत्तम निधि भूषित आत्मा के विषय में ध्यान रखना चाहिये । आज के युग में इस पथ पर चलना यथार्थ में आग के साथ खेल करना है । दुर्दम्भवासनाओं का दमन करके उनको दास बनाने का काम लम्बी रातें करने से या आज के नेतृत्व की गद्दी पर समासीन होने से या सरस्वती सदन से सम्मान प्राप्त करने से कई गुना कठिन काम है । इस अध्यात्मकाल के कार्य के आगे वैज्ञानिक प्रवीणता तथा आविस्कारण कला नग्न्य दिखती है ।

जिस जिनेंद्र भवतु की दृष्टि में मुनि जीवन निधि से भी बड़ा दिखेगा, वह तो उसके साथ खिलवाड़ न कर उसके विषय में प्राणाधिक सावधानी, सतर्कता रखेगा ।

आशाधर जी ने लिखा है—

“विवेकीगृहस्थ वा वर्तव्य है, कि वह जगत के वधु जिन धर्म की परंपरा को चलाने के हेतु दिगम्बर मुनियों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करे तथा विद्यमान मुनियों के श्रुत ज्ञानादि गुणों के द्वारा उत्तम करने के लिये प्रयत्न करे, जिस प्रकार गृहस्थ अपनी सतति की उत्पत्ति द्वारा वहावश परंपरा चलाने का प्रयत्न करता है, तथा सततान को गुणी बनाने का उद्योग करता है ।” जो व्यक्ति अपने प्रयत्नों को विफलता देखकर उत्साहहीन हो रहे हैं, उनके चित्त में स्थिरता के लिए वे कहते हैं—^१

“पंचमवाल के दाप से मुनियों के गुणों के विकास की सिद्धि नहीं होनी पर भी इस विषय में प्रयत्न क्षील श्रावक श्रेयोभाजन हाता ही है । कदाचित् गुणों के छोटम कार्य में सिद्धि हो गई तो गुणों के छातन करने वाले का, साधर्मि जना का तथा साधारण जनता का महान् उपकार

१ जिनधर्मं जगद्बधु मनुबद्धमपत्यवत् ।

मतीन जनयितु यस्मैत्तयोत्कर्ष मितु गुणैः ॥७१॥

२ श्रयोयत्नवतोस्त्यर्थं कलिदोषाद् गुणद्युती ।

असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥७२॥

‘साधारणमामृत’ अध्याय २

होगा कारण सच्चे त्यागी के कारण ही धर्म की रक्षा, स्थिति, वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इससे त्यागी सहाय के निर्माणार्थ तथा उसे गुण मण्डित बनाने में प्रयत्न करना चाहिये। ”

वासनाओं का वेग बड़े बड़ो को विचलित कर देता है, वासनाओं पर अकुश लगाना सरल नहीं है अतः विचलित होने वालों की बुराईयों के विशापन से अन्य मोक्षापद में प्रवृत्तों का मार्ग विशेष कटिकाकीर्ण हो जाता है, और नवीन मुमुक्षुओं के निर्माण में भयंकर अडचनें होती हैं, अतः विवेक प्रकाश में पूर्वापर विचार कर कार्य करना चाहिये। चिकित्सक रोगी के अंग का क्षति भर सुधार करता है, ज़रूरत पड़ने पर वह सड़े अंग को काट भी देता है, ऐसा ही कार्य प्रायश्चित्त विधि में आचार्य करते हैं। इसलिये इस समस्या को तरणार्थ के जोश में सुलझाने के स्थान में बड़े दूरदर्शी, मानव स्वभाव के पारखी, परमागम के प्रेमी पुरुषों के परामर्श तथा मुनियों या मुनि-तुल्य मानस वालों के साथ विचार कर सुलझाने का उद्योग करना कर्तव्य है। एक विद्वान ने लिखा है—

—“अग्नि और जल के समान वासनाओं की भी स्थिति है। वे हमारे आधीन होने पर अच्छी सेवा करते हैं किन्तु वे अयोग्य स्वामी हैं। वासनाओं की दास बनाना हितकारी है उनका दास बनना अकल्याण प्रद है।”

इस दृष्टि से वासनाओं पर अकुश प्रहार करने वाली उज्ज्वल आत्माओं की महिमा की विषयों का दास सहज ही नहीं समझ पाता है, अतः उनके विषय में विचार करते समय श्रावकों को पूर्ण सतर्कता और सावधानी से कार्य करना चाहिए। जिनका व्यक्तित्व महान होता है, उनके समक्ष बड़े बड़े लोग स्वयं झुकाकर करते हैं। आचार्य महाराज के पवित्र व्यक्तित्व के संपर्क में जो भी पुण्योदयवश आता था, वह आत्मा के लिए अपूर्व प्रकाश पाता था अहिंसा और अपरिग्रह के प्रतीक, महाराज का सध बढता चला आ रहा था। अब सध सागली रियासत में आ गया। मार्गशीर्ष बड़ी सप्तमी को सागली राज्य के अधिपति श्रीमन्त राजा साहब, महाराज के दर्शनार्थ पधारे उनने अवगंनीय

१ “ It is with our passions, as it is with fire and water, they are good servant, but bad masters. ”

आनन्द प्राप्त किया। आचार्य महाराज ने सच्चे धर्म का स्वरूप बताते हुए राजधर्म पर प्रकाश डाला। सच्चे क्षत्रियों को यह जानकर बड़ा हर्ष होता है कि जनधर्म का प्रकाश फैलाने का श्रेय जिन तीर्थंकरों को या वे क्षत्रिय कुलावतस ही थे। अहिंसा के ध्वज को सम्हालने वाले क्षत्रिय वीर हो रहे हैं। इस बात के प्रमाण वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं कि पशु बलिदान का मार्ग ब्रम्हज्ञाता कहे जाने वाले ब्राम्हणों द्वारा प्रोपित था और अहिंसा को परम धर्म बता प्रेम को गंगा प्रवाहित करने का श्रेय पराशरमी क्षत्रिय नरेशों को था। यह महत्व की साथ ही साथ आश्चर्य की भी बात थी, कि जिस वीर हाथ में यम की जिब्हा समान लपलपाती तलवार रहती थी वह जीवन का मूल्य जान जीवों को अभय देता था और जो ब्रह्म की बातें बनाते थे वे जीवों को अग्नि में स्वाहा करने का जाल फैलाते थे। पुराना जाल ग्रथों में जीवित है, उपदेशों के रूप में भी विद्यमान है इस कारण आज भी अगणित जीव धर्म के नाम पर व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पड़े मारे जाते हैं।

दूसरे प्राणियों के प्राणों का घात करते हुए जीव अपने सुखीजीवन का निर्माण करना चाहता है, इससे बड़ी स्वार्थपरता (Selfishness) तथा खुदगर्जीपना (Self-centred) कहा होगा? जिनको दूसरे के दुःख दर्द का जरा भी ध्यान नहीं है वे विशाल हृदययुक्त (Enlarged self) व्यक्ति कैसे गढ़े जा सकते हैं? इस अहिंसा तत्त्वज्ञान को विस्तृत करने के कारण ही बर्ट्रैंड रसेल ने धार्मिक सतों के जावन में स्वार्थपरता, खुदगर्जीपने की दुर्गन्ध का दर्शन किया है।^१

प्रतीत होता है कि रक्त की धारा से परितृप्त मानो विवेकानन्द रामकृष्ण जाने वाली वाली भी भक्ति के कारण ही विवेकानन्द द्वारा मासाहार को सृदश विचारवान व्यक्ति भी निरामिष आहार के विरुद्ध प्रेरणा पक्ष का समर्थन करते थे। श्री धरत् चन्द्रवर्ती न लिखा है कि बेलूडमठ मठिष्य ने स्वामी जी से पूछा था "मछली तथा मांस खाना क्या उचित तथा आवश्यक है?"

स्वामी जी ने कहा—"खूब खाओ भाई। इससे जो पाप होगा वह मेरा। देख! वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और मांस खाने का

^१ Vide 'Among the Great'-Bertrand Russell

विधान है।”

शिष्य ने कहा— “देश में हम दोनों समय मछली भात खाते हैं।”

स्वामी जी बोले— “खूब लाया कर।”^१

श्रीरामकृष्ण परमहंस सम्बन्धी “श्री रामकृष्ण वचनमृत” (पृ० २२५) से ज्ञात होता है कि वे भी अपने शिष्य विवेकानन्द के समर्पण रहे हैं। विवेकानन्द ने एक व्यक्ति के मांस भक्षण के विषय में स्वामी जी से चर्चा की—“इसने (भयनायने) पान और मछली खान, छोड़ दिया है?”

स्वामी रामकृष्ण बोले—“क्यों रे (भयनाय से हसते हुए) यह क्या किया? इससे कुछ नहीं होता। कामिनी-वाँचन का त्याग ही त्याग है।”

अहिंसा की साधना के लिए विश्वविख्यात गांधी जी तपः सी० एक० ऐंड्रूज को जीवों के प्रिय प्राणों के घात से निष्पन्न मांस सेवन करते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसकों में गिनते थे।^२ डा. भिन्न भिन्न दृष्टियों के द्वारा उत्पन्न भ्रांति का निवारण ‘ज्ञानार्णव’ के इस महत्वपूर्ण पद्य से हाता है—

“हिंसा करने वालों की निस्पृहता, बड़प्पन, निरीहृति, कठोरतप, काय क्लेश तथा दान व्यर्थ है।”^३ सम्राट् भरतेद्वर ने राजमंडल के समक्ष अपने उपदेश में बताया था, कि जो जीव रक्षण में उद्यत हैं, वे ही क्षत्रिय हैं। “रक्षणाम्पुछता येऽत्र क्षत्रियाः स्युः।” धर्म के स्वरूप की स्पष्ट करते हुए सम्राट् ने कहा था—“धर्मो ह्यापत्प्रतिनिर्या” (४२-११५) विपत्ति का निवारण करना धर्म है। प्राणों का घात करने से बढकर और बोन विपत्ति हो सकती है। अतः परमधर्म प्राणरक्षण मानना होगा। दूसरे

१ विवेकानंदजी के सग में पृष्ठ, २६७, २६८, २६९

२ यूनान का जगतप्रसिद्ध दार्शनिक सुवरात मृत्पु के एक क्षण पूर्व अपने मित्र से कहता है—“क्रीटो! मैंने एस्किपियस को एक मुर्गा चढ़ाने का प्रण किया है, उसे चढ़ाना तू भूल मत जाना।” क्रीटो ने कहा—“यह हो जायगा।”

‘महात्मा साकृटीज’, पृ० २३५।

३ ‘निस्पृहत्व महत्त्व च नैरास्य दुष्टकर तप।

कायक्लेशश्च दान च हिंसकानामपार्यकम् ॥८-२०॥”

जीव को अभय देने से क्या लाभ होगा इसके विषय में चक्रवर्ती-सम्राट् ने कहा था—

“यह धर्म विपत्तियों से बचाता है, यही धर्म मनोवांछित फलदाता है । यही धर्म आगामी कल्याणकारी है । इस धर्म के द्वारा जीव सुखी होता है ।”^१

राज्यधर्म पर प्रभाव राज्यधर्म के सम्बन्ध में पूज्य महाराज, के बड़े तब शुद्ध विचार हैं । महाराज का कथन है—“रामचन्द्र, पांडव ने राज्य किया था । उनका चरित्र देखो । जब द्रुष्टजन राज्य पर आक्रमण करें, तब शासक को रोक्ना पड़ता है । दूसरे राज्य के अपहरण करने को नहीं जाना चाहिए । निरपराध प्राणी की रक्षा करना चाहिये । राजा का कर्त्तव्य है, कि सकलपी हिंसा बंद करे । निरपराधी जीवों की रक्षा करे । शिकार न ले, न खिलावे । दैवताओं के आगे जीव के बलिदान को बंद करावे । दारु, मांस खाना बंद करावे । परस्त्री-अपहरण को रोके । राजनीति में राजा अपने पुत्र को भी दंड देता है । जुगा, मांस, मुरा, वेश्या, खेड (शिकार) चोरी, परागना परस्त्री के सेवन रूपसात व्यसन है । इन महापापों की रोक्ना चाहिये । सज्जन का पालन वंरता-और दुर्जन का शासन करना राजनीति है । सत्य धर्म का लोप नहीं करना चाहिये । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तथा अतिलोभ ये पांच पाप अधर्म हैं । इनका त्याग धर्म है । अधर्म को ही अध्याय कहते हैं । जिस राजा के शासन में प्रजा नीति से चले, उस राजा को पुण्य प्राप्त होता है । अनीति से राज्य करने पर, उसे पाप प्राप्त होता है ।”

महाराज ने कहा—“राजनीति तो यह है, कि राज्य भी करे तथा पुण्य भी कमावे । पूर्व में तप करने वाला राजा बनता है । दान देने वाला धनी बनता है । राज्य पर यदि कोई आक्रमण करे तो उसको हटाने के लिए प्रति आक्रमण करना विरोधी हिंसा है, उसका त्याग गृहस्थों के नहीं बनता है उसे अपना घर सम्हालना है और चोर, से भी रक्षा करना है । —

सज्जनराजा गरीबों के उद्धार का उपाय करता है । गरीब दो प्रकार के हैं, जो हृष्ट पुष्ट गरीब आजीविकाविहीन हैं, उनको आजीविका से लगाना चाहिये । जो गरीब अगहोर्न हैं, अतिबालक अथवा अतिवृद्ध हैं

१ “धर्मो रक्षत्य पार्थव्यो धर्मो भोष्ट फलप्रदः ।”

धर्मः श्रेयस्करो मुत्र धर्मो नाभिनदधुः ॥ ११६ ॥ महापुराण ॥

जिनमें बमाने की शक्ति नहीं है, उनका रक्षण करना चाहिए।" महाराज ने कहा—“जो पच पाप करता है वह पापी है, जो उसे छोड़ता है वह पुण्यवान है। पचपाप की पुष्टी से राज्य करना अभ्यास है। प्रजा का अपने बन्धे की तरह पालन करना राजनीति है।”

आचार्य श्री का उपदेश सुनकर सागली नरेश की आत्मा बड़ी हवित हुई। धर्म के अनुसार आचरण करने वाले महापुरुषों की बानी का अतस्तल तक प्रभाव पडा करता है, कारण धर्म अतःकरण की वस्तु है। अतःकरण जब धर्माधिष्ठित हो जाता है, तब प्रवृत्ति सागली में सध में भी उसकी अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। संचालक जवेरी सागली के समस्त श्रावकों ने सध संचालक जवेरी बंधु का बंधु का सम्मान सम्मान करते हुए निम्नलिखित अभिनवापत्र भेंट किया—
“श्रीमान जिनभक्ति परायण सेठ पूनमचंद चासीलाल जोहरी मुम्बई के प्रति, हम सागली के समस्त दिगंबर श्रावक मिलकर आपको भारी आनंद के साथ यह मान पत्र देते हैं।

श्री १०८ सातिमागर आचार्य महाराज व उनके सध की साथ में लेकर आप परम पूज्य श्री शिखरजी क्षेत्र की वदना करने को निकले हैं, अपने न्यायोपाजित धन की ऐसे पुण्य कार्यों में सध करते हैं और सातिशय पुण्य की साध रहे हैं, इसको देग हमको अत्यन्त आनंद हो रहा है। इसर कुछ समय से दिगंबर साधुओं के सध दृष्टिगावर नहीं हो रहे

दर्शन श्रीधर ही लीटने पर हों यह जिनेश्वर के समीप हमारी उत्कृष्ट भावना है। चौर संवत् २४५४, मार्गशीर्ष वदी ५, रविवार; समस्त श्रावक सागली" रजत करंडक में अभिनंदन पत्र भेंट किया गया था। श्रेष्ठ गुरु सेवा से सर्वत्र सम्मान और आदर प्राप्त करना धर्म का ही प्रसाद है।

कोल्हापुर के श्रीमंत भूपालप्पा जिरगे ने सागली आकर बहुमूल्य वस्त्रों द्वारा संवपति का सम्मान किया। श्रीमान राज्यमान्य सीमंधर आरवाडे के यहाँ आचार्य जी का आहार हुआ। उक्त आहारदान की विधि से यह स्पष्ट हो जाता है, कि किस प्रकार दिगम्बर मुनि बिना याचना के

गृहस्थ द्वारा योग्य विनय प्रार्थना किए जाने परही आहार ग्रहण

आत्म सम्मान की पूर्णतया रक्षापूर्वक भक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा भाव युक्त विवेकी श्रावक के द्वारा अर्पित सुद्ध आहार लेते हैं। गृहस्थ करुणा भाव से इनको आहार नहीं देता, भक्ति वश पुण्य संचय के हेतु वह इन अहिंसा मृतियों की आत्म साधना में सहायक बनने की दृष्टि से आहार अर्पण करता है। यदि साधु की प्रतिज्ञा के अनुकूल आहार मिला तो वे लेते हैं अन्यथा नहीं। भोजन के प्रति उनकी आसक्ति या लोलुपता नहीं है। दातार उनके चरणों को प्रणामकर, उनकी पूजाकर प्रार्थना करता है, "भगवन ! मेरे गृह को कृतार्थ कीजिए।" अतः उनके आहारग्रहण करने में मिश्रक का भाव नहीं है। वे माँगते ही नहीं है अतः मागने वाले के साथ तुलना नहीं हो सकती है। गृहस्थ उनको अपना श्रेष्ठ आध्यात्मिक अतिथि तथा आर्य साधना के परिवार का प्रमुख कुटुम्बी मानता है। अतएव पाश्चात्य जगत के प्रकाण्ड पंडित रसेल बर्ट्रैंड का बुद्ध के विषय में कहा गया दोष, कि (He lived on the alms of the pious) ("वह धार्मिक पुरुषों की मिश्रा पर जीवन निर्वाह करते थे") जैत मुनि के विषय में चरितार्थ नहीं होता है। श्रावक जब मुनिराज को अपने धार्मिक परिवार का श्रेष्ठ पुष्प मानता है, तो उसका अपने आरमोयजत के प्रति भेंट अर्पण करना उचित है।

कोई यह सोचे कि बिना कुछ दिए हुए मुनि का भोजन लेना गुप्त का माल लेना हुआ, यह भ्रम है। मुनिराज जिस गृह में आहार करने हैं, उसकी आत्मा को इतनी पवित्रता और पुण्य की सामग्री प्राप्त होती है, कि उनके सतुलन में आहार का मूल्य नगण्य रहता है। अतः आध्यात्मिक संपत्ति के लाभ की लालसा से श्रावक

लोग आहार देने के सौभाग्य के लिए बड़ा श्रम करते हैं, महिनो प्रवास करते हैं, विशुद्ध द्रव्य व्यय करके दूर दूर जा इन श्रमों को खोजकर उनको सत्कृत करने का सौभाग्य प्राप्ति निमित्त हृदय से प्रयत्न करते हैं। अर्थशास्त्री का प्राण 'द्रव्य' उनके सामने पानी के समान है। सेवा का सौभाग्य उनके लिए रत्नराशि से बढकर है। अतः अपनी संपत्ति का स्वामी स्वेच्छापूर्वक आध्यात्मिक सत की सेवा में वाछनीय सामग्री समुपस्थित करता है, और सदा सेवार्थ तत्पर रहता है, ऐसी स्थिति में उन स पुरुषों के विषय में असत् आरोप की बात सोचना अभद्र कार्य है।

मिरज नरेश द्वारा सागली सघ सानद प्रस्थान कर मिरज पहुँचा। महाराज के शुभागमन का समाचार मिलने पर वहाँ के नरेश आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारें। महाराज का दर्शन कर सत समागम से उनने अपने को घन्य समझा।

यहाँ से चलकर सघ अथर्णा होता हुआ अतिशय क्षत्रवादानगर पहुँचा। पश्चात् सघ बीजापुर आया। यहाँ सार्वजनिक सभा में मुनि बीरसागर महाराज तथा ऐलक पायसागरजी का प्रभावशाली उपदेश हुआ।

अकाल कोट में वहाँ से चलकर सघ मगसिर सुदी ६ को अकाल कोट शाहीस्वागत तथा पहुँचा। यहाँ सरकारी बाजे द्वारा सघ का भक्ति पूर्वक स्वागत किया गया। दो वज्रें दिन को नेमिसागर मुनि धर्म प्रभावना राज तथा ऐलक नेमिसागर जी का केशलोच हुआ।

उस समय राज्य के उच्च अधिकारी महोदय ने कचहरी की छुट्टी कर दी जिसमें राजवर्मधारी भी केशलोच को देख सकें। सघ के दर्शनार्थ बहुत लोग आए थे। केशलोच को देखकर जैन साधुओं की आत्म-निमग्नता, वीतरागता, निस्पृहता, अहिंसापरता का गहरा प्रभाव हुआ।

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था—“महाराज! आप लोग केशों को उखाड़ते जाते हैं, मुख की मुद्रा में विकृति नहीं आती, मुख पर शांति का भाव पूर्णतया विराजमान रहता है, क्या आपको कष्ट नहीं होता?”

महाराज ने कहा था—“हमें केशलोच करने में कष्ट नहीं भवपूर्ण प्रकाश मालूम पड़ता। जब शरीर में मोह नहीं रहता है, तब शरीर-पीडा होने पर भावों में सत्केश नहीं होता है।”

एक बात और है, निरन्तर वैराग्य भावना के कारण शरीर के प्रति मोह भाव दूर हो जाता है, अतः आत्मा से शरीर को भिन्न देखने वाले इन तप-

स्त्रियों को केशलोच आत्मविकास का कारण होता है। अन्य संप्रदाय वालों के अंतःकरण पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। अहिंसा और अपरिग्रह भाव के रक्षणार्थ यह कार्य किया जाता है। यथार्थ में सुख दुःख का संवेदन मनो-वृत्ति पर अधिक आश्रित रहता है। जब मन उच्च आदर्श की ओर लगा रहता है, तब जघन्य सवटों का भान तक नहीं होता है। इसे देखकर यह भी समझ में आता है, कि मुनिराज जिस प्रकार शरीर से दिगम्बर होते हैं, उसी प्रकार इनका मन भी वासनाओं के अम्बर से उन्मुक्त रहता है।

इसके पश्चात् संघ ने निजाम राज्य में प्रवेश किया। इसके कुछ

समय पूर्व आलंद के सेठ माणिकचन्द मोतीचन्द शहा निजाम राज्य तथा बालचन्द जी कोठारी वकील गुलबर्गा ने निजाम प्रवेश रिमासत के धार्मिक विभाग के पास प्रार्थनापत्र ता: १वह.

१३३७ फ. (मन १६०८ में) दिया, उस पर श्री दिगम्बर आचार्य महाराज के सध को बिहार के लिए स्वीकृति प्राप्त हो गई तथा मार्ग में सध को कोई तक शोक न हो इससे तत्कालीन पुलिस मुप्रिन्टेंडेंट मौलवी मुहम्मद जलालुद्दीन ने दो पुलिस के सिपाहियों को दिगम्बर मुनि संघ के साथ साथ रहने की विशेष आज्ञा सारीख ३ बहमन १३३७ फ० को दी थी। उसमें लिखा था 'मुहम्मद जलालुद्दीन मोहम्मद कांतवाली जिला गुलबर्गा की ओर से मि० बालचन्द कोठारी बी० ए० एल० एल बी० वकील गुलबर्गा निवासी के नाम उत्तर निवेदन है कि आपके प्रार्थना पत्र पर अब्दुल करीमखा और आवाजीराय नामक दो जवान (सिपाही) आज ता ३ बहमन सन् १३३७ फसली को एक माह के लिए रवाना किए जाते हैं अतः समय अवधि की समाप्ति पर दो इम्फन्द-दार सन १३३७ फसली को वापिस कर दिए जावें।

जब सध सागधरी पहुंचा तब वहा स्व. सेठ लीलाचन्द हेमचन्दकी धार्मिक सेठानी राजूबाई ने सारे सध तथा अन्य यात्रियों का बड़े आदर पूर्वक भोजन सत्कार किया। यहा आहार के उपरांत सामायिक हुई। तत्पश्चात् सध आलन्द की ओर बिहार हुआ।

आलंद की जैन समाज ने उत्साह पूर्वक संघ का स्वागत किया। यहा संघ सेठ नानचन्द मूरचन्द के उद्यान में ठहरा था। पहले ऐसी कल्पना होती थी, कि कहीं कुछ सकीर्ण चित्तवाले अन्य संप्रदाय के आलंद में प्रभावना लोग विघ्न उपस्थित करें, किन्तु महाराज घातिसागर जी के तपोबल से ऐसा अद्भुत परिणमन हुआ कि ब्राम्हण, मुसलमान, लिगायत,

हिन्दू आदि सभी धर्म वाले भक्तिपूर्वक दर्शनार्थ आए और प्रसाद के रूप में पवित्र धर्मोपदेशों तथा कल्याणकारी बातें साथ में लेते गए। आलद में सरकारी अधिकारियों और सारी जनता से दिगम्बर मुनियों के दर्शन से अपने जीवन को कृतार्थ किया।

यहां मगासिर सुर्दा १० को चारसागर महाराज का केशलोच हुआ।
 एक दिन कसाई उस समय जनता की बड़ी भीड़ थी। वही के बड़े बड़े
 खाना बन्द किया अधिकारी भी उपस्थित थे। उस दिन शहर का कसाई-
 गया खाना बन्द कर दिया गया था। जिस दिन आचार्य महा-
 राज का आहार सेठ माणिकचन्द मोतीचन्द के यहां निविष्ट
 हुआ उस दिन आनन्द मग्न होकर उन सेठ साहब ने शेटवल अनाथ छात्राश्रम
 को विशेष दान दिए। यह इस बात को सूचित करता है, कि ये साधु जनता
 को कितने प्रिय होते हैं और उनका आहार भार नहीं होता है वह दातार
 की आभारी करता है। वह जीवन भर उन स्वर्ण क्षणों का स्मरण करता है।
 जबकि श्रेष्ठ अहिंसा के आराध्य महापुरुष द्वारा उसका गृह पवित्र किया
 गया था।

आलद से गुंजोटी जाने का मार्ग मोटर के जाने के अयोग्य था, अतः
 गुरुभक्त श्री हीराचन्द माणिकचन्द शहा ने वह रास्ता तुरन्त ठीक कराया।
 गुंजोटी ग्राम की सब गुंजाटी में सेठ देवचन्द धनजी के उद्यान में ठहरा।
 विशेष बात आचार्य श्री का आहार सेठ गुलाबचन्द देवचन्द के यहां
 हुआ। उनमें पांच हजार रुपये शडवाल अनाथाश्रम
 को दान में दिए। गुरु दर्शनार्थ तथा उनके अहिंसाभय उपदेश को सुनने
 जनता और अधिकारी लोग आते थे।

इसके अनन्तर एक विशिष्ट घटना यह हुई कि आचार्य श्री ने आगे
 बिहार का निश्चय कर राध को आज्ञा दे दी जब यह बात जनता और
 राज्य के अधिकारी वर्ग को विदित हुई तब उनमें महाराज से
 अनेक बार रुकने की प्रार्थना की, किन्तु उसका कुछ असर न हुआ, कारण
 महाराज सत्य महाप्रती हैं। जो वाणी मुख से निकल जाय उसका प्राणपण
 से पालन करते हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि ये महापुरुष सदा आत्मा-
 राधन में तत्पर रहते हैं। जनता की भक्ति उसका प्रेम न इन्हे हर्षित करता
 है, और न नीचों का दुष्ट व्यवहार इनको दुःखी ही करता है।

सत्यव्रती मुनि का
वचन पालन

ये वीतराग तपस्वी दोनों अवस्था में साम्य संपन्न मानसिक संतुलन को सम्पन्न प्रवारसे सुरक्षित रखते हैं। व्यापारिक मनोवृत्ति इनको नहीं रहती, अन्यथा लाभ की वत्पना कर पूज्य थी, अपने प्रस्थान के कार्यक्रम को चदल देते। ये सत्य महाव्रती मुनिराज निश्चय पूर्वक जो वचन कह देते हैं उसकी पूर्ति किए बिना नहीं रहते हैं। इस प्रतिज्ञापूर्ति के हेतु प्राणों की आहुति को भी तैयार होते हैं। एक बात और है कि ये गंभीर विचार के उपरांत ही अपना पक्का निश्चय करते हैं। विचारार्थीन बात में फेरफार हो सकता है। इनका निश्चय तो हिमा-चल से भी अधिक दृढ़ होता है। लाभ की लोलुपता लौकिक लोगों को लुभा लिया करती है, किंतु इन संतों का सिद्धांत संरक्षण का ही सदा ध्यान रहता है।

इन श्रमणों के जीवन का निर्यात से निरीक्षण करने पर विवेकी ध्यवित की बोध होगा कि ये आत्मशुद्धि तथा लीन कल्याण में वितने व्यस्त रहते हैं। ये रागद्वेष, मोह, ओध, बलह मायामयी दुनिया के कदम पर कदम न रख आत्मोत्थप के पथ पर चलते हैं। इससे कोई कोई यह सोचते हैं, ये जीवन मग्न से डरकर भागते हैं। अंग्रेज लेखकों का अनुसरण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं—

यथा जैन मुनि 'बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने जीवन से दूर रहने पर जीवन जीवन से दूर से दूर भागने पर जोर दिया है।' मे उद्गार जैन गृहस्थों भागते हैं? के विषय में तनिक भी नहीं लागू होते हैं, कारण गृहस्थाश्रम में लौकिक जीवन यात्रार्थ न्याय पूर्ण प्रवृत्ति का जैन आगम में उपदेश है, तथा यह देखने में आता है कि अपने तथा सार्वजनिक धर्मों में जैन गृहस्थ योग्य भाग लेता है, राष्ट्र और जगत की समृद्धि और सेवा में हाथ बटाता है।

जैन मुनि के विषय में भी यह कथन अशुद्ध है, कारण सच्चे जीवन में उनकी प्रवृत्ति होती है। मोही जगत के समान उनकी जीवन धारा न देखकर उन्हें जीवन के उत्तरदायित्व से दूर भागने वाला बताना

१ " Buddhism and Jainism rather emphasised the abstention from life--running away from life"

Jawaharlal Nehru : 'Discovery of India' p. 83

न्यायोचित नहीं है। उनका मुख्य लक्ष्य है आत्मा से राग, द्वेष, मोह, माया आदि बलको को दूर कर उसे पूर्ण पवित्र, सर्वज्ञ, परज्योति स्वरूप परमात्मा बनाना, अतः उनको मसार के जाल से अपने आपका बचाना आवश्यक है। जिस पुद्गल की आराधना को जहन्नादी, जीवन मानता है, उसे ये महात्मा मुनीन्द्रमत्यु जानते हैं। इनका लक्ष्य अमृतत्व की प्राप्ति करना है, जिस पर बालबली का जोर नहीं चलता है। पाश्चात्यो के यहाँ स्वाधीनता का जो स्थान है, वही स्थान इन श्रमणों की दृष्टि में मुक्ति का है। शत्रु चाहे भीतरी हो या बाहरी उनके वधन में पड़ना ही परार्थीनता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का वधन काटने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इससे ये मुनिगण उन प्रसंगों से दूर रहते हैं जो आत्मा को अत-रम शत्रुओं का कैदी बनाता है।

ये विवेकी वासनाओं की दासता को नरक से भी भीषण वस्तु मानते हैं, अतः वामना-विजय के हेतु ये अपने सांपूर्ण इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों का छोड़कर आत्म शक्ति के श्रेष्ठ उद्यान में सलग्न होने हैं। उस कार्य के लिए ये कम से कम समय निद्रा में लगाते हैं। अल्प सात्विक आहार लेकर निरंतर जागृत रहते हैं। अध्यात्मवाद के सूर्य की देखने का जिन आँखों की अभ्यारा नहीं है, वे चक्षुःगोचर कार्य सलग्नता को ही काम मानते हैं।

डा टेंगोर ने लिखा है—“यूरोप में लगान पहने हुए मरना एक गौरव की बात समझी जाती है।” काम कैसा ही हो, आखिरी जीवन पर्यन्त जोश के साथ हाथ पंर हिलाते हुए मर जाना श्रेष्ठ कार्य सोचा जाता है। इस दृष्टि के विषय में रवि दानू ने लिखा है—“जब किसी जाति को इस कर्म चक्र में घूमने का चसका लग जाता है, तब फिर पृथ्वी में शांति नहीं रह पाती।” बहुत समय पहले व्यक्ति किए कवीन्द्र रवीन्द्र के उपरोक्त उद्गार आज के युग में पूर्ण सत्य प्रमाणित होते हैं।

भोग के रोगी आज का जगत् मथार्य में ज्वाला मुखी के मुख पर बँटा मुनियों की महत्ता हुआ दिखता है। एक चिनगारी कहीं से पहुँची, कि को नहीं समझ पाते बिस्फोट द्वारा प्रलय का दृश्य उपस्थित होने में देर न लगेगी। ये भोग के रोगी स्वस्थ वीतराग सती और सस्कृति के सत्य स्वरूप को अपनी मलिन दृष्टिवश निर्दोष रूप से देख ही नहीं पाते हैं। आध्यात्मिकता के शव पर निर्मित जडवाद का प्रासाद भृश के मंदिर से तनिक भी भिन्न नहीं है। अतः उसे यमालय के सिवाय अन्य उपयुक्त नाम नहीं

आत्म-विद्या की कसौटी पर कसने पर ज्ञात होगा, कि आज की सभ्यता बर्बरता का स्वर्ण संस्करण (Golden Edition) है। नागनाथ और सापनाथ में क्या अंतर है? भोग प्रधान संस्कृति भी विकृति का मोहन रूप है। रवीन्द्र बाबू ने सुन्दर बात कही है, “यह स्वीकार करना होगा, कि संतोष, संयम, शांति और क्षमा ये सभी सर्वोच्च सभ्यता के अंग हैं। इनमें चढ़ा ऊपरी रूपी चमक-दमक पत्थर की रगड़ का शब्द और चिन-गारियों की वर्षा नहीं है।” उनके ये शब्द बड़े अनमोल हैं, “इनमें हीरे की शीतल, शांत ज्योति है। उस रगड़ के शब्द और चिनगारियों की इस स्थिर, सत्य ज्योति से बढ़कर कीमती समझना कोरा जंगलीपन है।”

संस्कृति का आधार-
स्तंभ मुनियों का
जीवन

श्वमणो ने वासनाओं की विजय संस्कृति का आधार स्तंभ माना है। जैसे जैसे वासनाओं की विजय बढ़ती जाती है, वैसे वैसे आत्मा का विकास होता जाता है। उस आत्म विकास के हेतु ही जैन मुनि पर-पदार्थों का त्याग करते हैं और उन वस्तुओं के प्रति आत्मा में छुपी ममता के बीजों के विनाशार्थ निरंतर उद्योग करते हैं ध्यान करते हैं। रवि बाबू के इन शब्दों में कितना सत्य है, “वासना को छोटा करना ही आत्मा को बड़ा करना है। यूरोप मरने को भी राजी है, किन्तु वासना को छोटा करना नहीं चाहता। हम भी मरने को राजी हैं, किन्तु आत्मा को उनकी परम गति—परम संपत्ति से वंचित करके छोटा बनाना नहीं चाहते।” इस वासना विजय के कार्य में संलग्न आत्मा की दौड़ धूप नहीं दिखती है, अतः स्थूल दृष्टि वालो को वह श्रिया शून्यता सी प्रतीत होती है। उनके विषय में वे कहते हैं, “यह निश्चेष्ट भाव या निष्ठलापन नहीं है। संसार की दृष्टि से वह जड़ता जान पड़ती है। परंतु वास्तव में वह जड़ता नहीं है, जैसे पहिये के अत्यंत धूमते रहने पर वह दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही वह अनंत गति निश्चेष्टता सी जान पड़ती है।” (‘स्वदेश’)

इन मुनिजनों के समीप जाकर देखने पर पता चलता है, कि इनका प्रत्येक क्षण अनमोल है। उसका अपव्यय करना वे नहीं जानते। अपने जीवन के क्षणों को निद्रा के लिए देते हुए भी इनको बड़ा संकोच होता है, अतः प्रयत्न करते हैं, कि कम से कम नीद आवे। इससे निद्रा विजय तप की भी साधना करते हैं। आचार्य शांतिसागर महाराज ने इस तप की भी सूत्र साधना की है। एक दिन मेने सात दिसबर तन् १९५१ को सुप्रभात

के समय आचार्य महाराज से पूछा था । “महाराज ! आजकल आप कितने घंटे जाप किया करते हैं ?”

महाराज ने कहा था—“रात को १ वजे से ७ वजे तक, मध्याह्न में तीन घंटे तथा सायंकाल में तीन घंटे जाप करते हैं ।” इससे सहृदय सुधी सोच सकता है, कि इन पुण्य दलोक महापुरुषों का कार्यन्वय कितना व्यस्त रहता है । ये जीवन से भागते हैं यह कथन असत्य की पराकाष्ठा है, जैसे सूर्य को कलंक का पुंज कहना । सत्य कथन तो यह होगा कि ये मृत्यु से, आत्मा को मृत्यु से दूर जाते हैं । It is not escape from life, rather it is escape from death. अतः श्री नेहरू का आक्षेप पूर्णतया अपरिचय मूलक है ।

• प्रबुद्ध मानव की चेष्टा कोलू के बँल के समान जुते रहने सदृश नहीं रहती । पुद्गल की संगति से यह जीव कोलू के बँल सदृश क्रिया-शीलता में जुटा रहता है । उससे उसका कुछ हित नहीं होता है । कविवर बनारसी दास जी ने लिखा है कि मोह के ससर्ग वश जीव की कोलू के बँल के सदृश स्थिति होती है, किन्तु मुनिजन मानव के समान विवेक-पूर्ण किया करते हैं । वे बँल को भला अपना आदर्श क्यों बनावेंगे ? उस बँल का चित्रण कविवर ने इस प्रकार किया है—

पाटी बंधे लोचन सों सकुचे दबोचनि सों,
 • फोचनि को सोच तो निवेदे खेद तनकों ।
 धाड़बोही धंधा अरु कंधा माहि लग्यो जोत,
 बार बार आर सहै कायर हूँ मन को ।
 भूख सहै प्यास सहै दुर्जन को त्रास सहै,
 धिरता न गहै न उतास लहै छिन को ।
 पराधीन घूमै जैसो कोलू को कमेरो बँल,
 तैसोई स्वभाव 'भैया' जगवासी जन को ॥७९॥

नाटक समयसार

उपनिषद् की प्रार्थना में कहा गया है— “तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय”—माता ! हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु से अमृत पद को प्राप्त करा । उसका मार्ग सर्वांगीण अहिंसा का पालन करना है । जब संपूर्ण छोटे बड़े जीवों के प्राणों के प्रति सम्मान का भाव नहीं जागृत होता है, तब तक बकराज की भांति अहिंसा की बाहरी नकल जीव को

श्रयोभाग पर नहीं पहुँचाती है। अपनी दुष्टवृत्ति शोधन किये बिना लोग चिकित्सा सम अहिंसा धर्म रूप औषधि को ही बुरा कहते हैं, जैसे अकुशल कारीगर अपने काम करने के औजारों को बुरा बताता है, इसी प्रकार बप्पनी हीन प्रवृत्तियों को न सुधारकर कल्याण प्रद धर्म को दोषपूर्ण कहने लगते हैं। विवेकी व्यक्ति ऐसे भ्रम जाल में न कसकर सत्य में सलमन रहते हैं। उस श्रयो मार्ग का दर्शन इन श्रमणा की जीवन चर्या में विद्यमान रहता है। इनके द्वारा हिंसादि पापों के परित्याग का जो उपदेश दिया जाता है, वह लोगों के नैतिक स्तर को स्थायी रूप से इतना उन्नत कर देता है जितना राज्य का कठोरतम दंड भी नहीं कर पाता है। दंडनी भीति अन्तःकरण अथवा मनोवृत्ति को नहीं बदल सकती है। किन्तु इन योगियों का विशुद्ध जीवन सत्पात्रों के हृदय का परिवर्तन करने उसे आलोकपूर्ण कर देता है, फिर उसकी आत्मा स्वयं उसके लिए मार्ग दर्शन बन जाती है। इन श्रमणों के निमित्त से लोक कल्याण के लिए अनेक सत्पात्र खुल जाते हैं, गरीबों के हितार्थ बड़े बड़े काम हो जाते हैं। इस प्रकार यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो एक व्यक्ति मुनिपद को धारण कर अगणित व्यक्तियों का लौकिक, नैतिक, तथा आध्यात्मिक हित करता है। उस लौकिक हित का परमार्थ जीवन से परंपरागत सबंध रहता है।

अपने निश्चय के अनुसार गुन्जोटी से समारोह पूर्वक संध का प्रस्थान हो गया। पीप बंदी दूज को सत्रलातूर पहुँचा। यहाँ सेतवाल समाज के भट्टारक विशालकीर्ति जी की गद्दी है। उनसे आचार्य श्री को प्रणामा-जलि अर्पित की तथा—सधपति जी को मानपत्र दिया। वहाँ से चलकर सध १५ दिसम्बर को नादेड पहुँचा। वहाँ स्वागत के जुलूस में जिलाधीश आदि अधिकारी भी सम्मिलित थे। स्टेट के घुडसवार तथा पुलिस सर्व विदमं प्रात में प्रवेश प्रकार की सुव्यवस्था करते जाते थे। चन्द्रसागर जी ने, जो कुछ समय के लिये नादगाव चले गये थे, लगभग दो सौ श्रावको सहित नादेड में आकर सध को वर्धमान बनाया।

एक दिन वहाँ रहकर सध ने १७ दिसम्बर को प्रस्थान किया यहाँ तक ही निजाम की सीमा थी। अतः स्टेट के कर्मचारियों और अधिकारियों ने सद्भावना पूर्वक आचार्य महाराज को प्रणाम किया और वापिस लौट आये। यह आचार्य श्री का आत्मबल था जिससे निजाम स्टेट में से विहार करते हुए तनिक भी गडबडी नहीं हुई, किन्तु

वीतराग गुरुओं का गौरव बढ़ा ।

अब सध स्टेट के बाहर उमरखेड में ता० २० दिसम्बर को पहुँच गया । इसके पश्चात् ता० २१ को संध पुसद के लिए रवाना हुआ । कारजा की धार्मिक मंडली ने प देवकीनन्दन जी व्याख्यानवाचस्पति के नेतृत्व में पूज्य श्री से कारजा होकर बिहार करने की अनुनय विनय की । किन्तु वह रास्ता चक्कर का पड़ता था, इससे उनकी प्रार्थना अस्वीकृत हुई । पुसद में आसपास की बहुत जैन जनता ने आकर गुरुदर्शन का लाभ लिया । इसके पश्चात् ता० २३ दिसम्बर को सध डिगरस आया । दूसरे दिन दाखा पहुँचा । वहाँ लगभग दो हजार श्रावकों का समुदाय एकत्रित हो गया था । आचार्य श्री का उपदेश सुनकर भव्यात्माओं को अवर्णनीय आनन्द मिला था । उनका एक एक शब्द बड़े प्रेम, बड़ी भक्ति और अतिशय श्रद्धापूर्वक सुना गया था ।

इसके पश्चात् सध २६ दिसम्बर को यवतमाल पहुँचा । यहाँ खाम गाव के श्रावकों ने सर्व सध को भोजन कराया । यहाँ प्रधुम्नसाव जी कारजा चाली के यहाँ पूज्य आचार्य श्री का आहार हुआ । रात्रि के समय श्री जिनगीडा पाटील का मधुर कीर्तन हुआ । श्री पाटील गोविंदरावजी ने सध के लिए दूध, लकड़ी, का प्रवचन वर्धा पर्यन्त करके अपनी भक्ति तथा प्रेम भाव व्यक्त किया था । ता० २८ को सध पुलगाव पहुँचा । बालू के बोरे डालकर कृत्रिम पुल बनाने की कुशलता तथा गुरु भक्ति श्री जमनाल जी झाझरी ने प्रदर्शित की । यहाँ सुन्दर जुलूस निकाला गया था । सध ३० दिसम्बर को वर्धा पहुँचा । आचार्य महाराज तथा अन्य त्यागियों का उपदेश हुआ । यहाँ से सध रवाना होकर २ जनवरी सन् १९२८ को नागपुर के समीप पहुँच गया ।

नागपुर और वर्धा के मध्य का मार्ग बहुत खराब था । उसे नागपुर

जैन समाज ने तत्परता पूर्वक ठीक कराया । रत्नश्रय नागपुर भूति आचार्य महाराज ने मुनिग्राम सहित तीन जनवरी

सन् १९२८ को नागपुर नगर में प्रवेश किया । जुलूस तीन मील के लगभग लम्बा था । उसमें छत्र, चमर, पालकी ध्वजा आदि सोने चादी आदि की सामग्री थी, इससे उसकी शोभा बड़ी मनोरम थी । नागपुर नगरवासियों के सिवाय प्रातः भर के लोग जैन अर्जन तथा अधिकारी वर्ग आचार्य श्री के दर्शन द्वारा अपने को श्रुतार्थ करने को खड़े थे । लोगों की

धारणा है कि इतना सुन्दर विशाल भव्य और भक्ति युक्त जनता का जुलूस पुनः नागपुर में अब तक नहीं निकला।

अंजनी से चलकर गुहदेव के सीताबर्डी में पूजा के अनन्तर जुलूस शांतिनगर की ओर चला। यह नवीन स्थान बाहर से अपूर्व स्वागत

आये हुए हजारों जैनियों के निवास के लिए बनाया गया था। आज भी वह स्थान आचार्य श्री के नाम से विख्यात है। जुलूस की शोभा दर्शनीय थी। जहाँ देखो वहाँ भक्त जनता गुहदेव पर सुवास युक्त पुष्पों की वर्षा कर रही थी। भीड़ इतनी अधिक थी कि जब महल के पास श्रीमंत भोंसले सरकार रथों जो महाराज ने जुलूस रोकने लिए प्रार्थना करवायी तब प्रयत्न करने पर भी जनता के प्रवाह को रोकना अशक्य हो गया। अचरणीय वैभव, शोभा तथा उल्लास के साथ जुलूस शांतिनगर में पहुँचा। जहाँ लगभग आठ दस हजार जैन बंधुओं के निवास का प्रबंध था। प्रबंध व्यवस्था सुन्दर थी। बाहर के जैन बंधुओं के लिए हर

प्रकार की सामग्री देने की व्यवस्था समाज ने की थी। शांतिनगर में निवास तीन दिन पर्यन्त वह स्थल सजीव शांतिनगर दिखता था। वहाँ पर आर्तध्यान, रौद्रध्यान के बदले धर्म की धारा प्रवाहित हो रही थी। नागपुर राजधानी का स्थान है किन्तु तीन दिन पर्यन्त लोगों का शांतिनगर का आकर्षण देख ऐसा लगता था कि वहाँ दूसरी राजधानी बन गई है।

महाभारत में लिखा है—“कि नागनरेश श्रमणों के उपासक थे। नाग-कुलीन राजा तत्काल गन्त श्रमण हो गया था।” दिगम्बर मुनियों के प्रति नागपुर प्रतीय जनता की भक्ति ने पुरातन कथन की प्रामाणिकता प्रतिपादित कर दी थी। हमें तो ऐसा लगता है कि नाग युगल को सुर पदवी प्रदान करने वाले भगवान् पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि के दर्शनार्थ जाने वाले न महामुनि तथा उनके संघ के प्रति लोगों ने अपार भक्ति प्रगट की जो इस विचार की पुष्टि करता था कि यह नगर यथार्थ में नागपुर (फणिपुर) ही है। नागमंडल के नायक पद्मावती धरणेन्द्र ने सदा ही प्रभु पार्श्वनाथ की

१ “सोऽपश्यत् नग्न श्रमणं जागच्छन्तम्”

महाभारत आदिपर्व —हिन्दू धर्म समीक्षा पृ. १३५

भक्ति करने वालों की सदा सहायता की है और उनके सकट दूर किये हैं। वास्तव में उस नाग युगल का सीमाग्य अवर्णनीय था। कवि भूषणदास ने जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है -

“नाग युगल के भाग की महिमा कहो न जाय।

जिन दर्शन प्रापति भई मरण समय सुखदाय ॥”

इस अपूर्व उपकार को सदा स्मरण रखते हुये कृतज्ञ जीव, प्रभु पार्श्वनाथ का प्रेम से नाम लेने वालों की वामना पूर्ण करते हैं। इसीलिए भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि काशी वासी एक भवत कवि ने लिखा है—

“वामासुत की सेवा करिये काहे मन में सका धरिये।

पद्मा जाकी दासी कहिये जो जो सुख भागो सो लहिये ॥”

नागपुर का इतवार बाजार, सराफा बाजार तीन दिन पर्यन्त बंद रहे थे। यथार्थ में देखा जाय तो कहना होगा कि इन रत्नत्रय मूर्ति को प्राप्त कर पारलौकिक धनसचय में चतुर व्यापारी निमग्न थे, इसी दृष्टि की प्राधान्य दे उनमें बड़े बड़े दरवाजे बनवाये थे। तोरण, वदनमाला, आदि से सजाया था। इसलिये नगर बड़ा नयनाभिराम लगता था। वहाँ ऐलक चद्रसागर तथा पायसागर ऐनापुर वालों का केशलोच हुआ था। लगभग १५ हजार जनता उपस्थित थी।

धर्म पुरुषार्थ पर उस अवसर पर धर्म पुरुषार्थ के विषय में महाराज का विवेचन मार्मिक उपदेश हुआ। वास्तव में जिनका जीवन धर्म-मय है और जो धर्ममूर्ति हैं, वे ही धर्म के विषय में अधिकारपूर्वक बात कह सकते हैं और उनसे ही श्रोताओं का हृदय मंगल प्रकाश प्राप्त करता है। पापाचरण में निमग्न बुद्धिजीवी व्यक्तियों के मुख से धर्म के प्रतिपादन में संप्राणता नहीं दिखती।

महाराज ने कहा था— “हिंसा आदि पापों का त्याग करना धर्म है। इसके बिना विश्व में कभी भी शांति नहीं हो सकती। इस धर्म का लोप होने पर सुख तथा आनंद का लोप हो जायगा। धर्म का मूल आधार सब जीवों पर दया करना है। यह धर्म, जीवन से भी बहुमूल्य है इसके रक्षण के लिए प्राणों का भी मोह नहीं करना चाहिए। इस धर्म को भूलने वाला जीव कभी भी सुख नहीं पाता। पुण्य, ग्रंथों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इस धर्म का पालन करने वाले छोटे जीवों ने भी सुख प्राप्त किया और उसे भूलने वालों ने दुर्गति में जा दुःख भोगा

है। इस धर्म के द्वारा जीव सुखी होता है, सब प्रकार का वैभव पाता है इसलिए इस धर्म पालन करने में प्रत्येक विवेकी जीव को - लगना चाहिए।" महाराज का यह भी कथन है "यदि धर्म डूबता है तो हमें अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं।" उनका यह पावन पूर्णतया ठीक है। जब भी धर्म और कर्तव्य के मार्ग में विपत्ति आयी है तब उनने प्राणों की बाजी लगायी है और उनकी धर्मभक्ति से विपत्ति को घटा सदा दूर हुई है। उनका यह भी कथन है कि, "समता जैनधर्म का मूल है।

धर्म का मूल दया और समता है। जितेन्द्र की वाणी के अनुसार चलने में बल्याण है। शक्ति के अनुसार धर्म का पालन करो। यदि हिंसादि पंच पापों के त्याग की शक्ति नहीं है, तो एक वा ही त्याग करो। शक्ति के अनुसार त्याग करने में भलाई है। मार्ग को उल्टा करने में बड़ा पाप है। दयापूर्ण अंतःकरण वाला जैन है। जैन जाति नहीं है। जैन धर्म है। जैनधर्म को धारण करने का सबको अधिकार है। जैनधर्म धारण करने का किसी की भी निषेध नहीं है।" चाडाल, धीवरदि ने जैन धर्म धारण कर स्वर्ग लोक पाया है। स्वर्ग की कोई कीमत नहीं है। महत्त्व है मोक्ष का। धूर्त भी देव पद पायगा। ब्रह्मा से भनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त करेगा। जैन धर्म के द्वारा जीव का दुःख दूर होता है।"

सुख के लिए कर्मों का बंध बंद होना चाहिए। एक बार मैंने महाराज के मुख से यह सुना कि जैन धर्म के द्वारा जीव को सुख मिलता है, तब मैंने पूछा, "महाराज ! इस जैन धर्म ने आपको जितना दुःख दिया, उतना किसी दूसरे को नहीं दिया, तब आपका कथन कैसा है कि यह सबको सुख का दाता है?"

महाराज ने मेरी ओर देखकर पूछा,—"तुम्हारा क्या अभिप्राय है, स्पष्ट करो?"

मैंने कहा, "महाराज ! इस जैनधर्म ने आपको गृह, वस्त्र, वैभव, कुटुम्ब आदि से वृथक करा दिया। श्रीमन्त परिवार के मुख्य पुण्य होते हुए भी आपके पास कोई भी सामग्री नहीं है जितसे आप शरीर के कष्ट का निवारण कर सकें। इस जैन धर्म की शिक्षा के कारण आप आठ दस दिन तक भी भूख और व्यास का कष्ट उठाते हैं। इस धर्म के कारण ही आप देन, मशक, नग्नता आदि के भयंकर कष्ट भोगते हैं। यदि आपने इस धर्म को न धारण किया होता, तो आप सब प्रकार सुखी रहते?"

महाराज ने कहा—“इस धर्म ने हमें अवर्णनीय निराकुलता दी है। बड़ी शांति प्राप्त हुई है। बाह्य परिग्रह आदि से सुख पाने का भ्रम है। उनके त्याग से सच्चा आनन्द मिलता है। उपवास आदि हम इस लिए करते हैं कि पूर्व में बाँधे गए कर्मों की निर्जरा हो जाये। अग्नि के ताप के बिना जैसे सुवर्ण शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार तपश्चरण के बिना संचित कर्मों का नाश नहीं होता। व्रताचरण के द्वारा कर्मों का सवर होता है। और कष्ट सहन करने से पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। जैन धर्म ने हमें दुःख दिया यह समझना भूल है। इसने हमें बड़ा सुख दिया, बहुत शांति दी।”

महाराज ने कहा—“सुख के लिए कर्मों का बंध बढ़ होना चाहिए। कर्मों के सवर का उपाय जिन भगवान ने चारित्र का पालन कहा है। पुराने बंध कर्मों का नाश भी आवश्यक है। वह कर्मों के समान है। जब जीव ने कर्जा लिया है, तब उसे चुकाना ही पड़ेगा, चाहे सनता भाव से कर्मों का फल भोगो चाहे सबलेश पूर्वक भोगो। भोगना पड़ेगा अवश्य। अतः हम कर्मों की निर्जरा के लिए कायबलेश आदि करते हैं।”

शांति के बिना महाव्रतों के पालन से उनकी आत्मा को अवर्णनीय त्यागी नहीं शांति है। एक दिन सन १९५० में एक स्थानक वाली साधु महोदय आचार्य महाराज के पास गजपथा तीर्थ पर आए। उनसे कहा—“महाराज ! शांति तो है न ?”

महाराज ने उत्तर दिया—“त्यागी को यदि शांति नहीं तो त्यागी कैसे ?” एक भाई ने पूज्य श्री से पूछा—“महाराज जैनधर्म की घटती का क्या कारण है जबकि उसमें जीव को सुख और शांति देने की विपुल सामग्री विद्यमान है ?”

जैन धर्म की घटती महाराज ने कहा—“दिगम्बर जैन धर्म कठिन है। आजकल का कारण लोग ऐहिक की तरफ झुकते हैं। मोक्ष की चिन्ता किसी को नहीं है। सरल मार्ग पर सब चलते हैं। जैनधर्म की श्रिया कठिन है। अन्यत्र सब प्रकार का सुभीता है। स्त्री आदि के साथ भी अन्यत्र साधु रहते हैं। अन्यत्र साधु प्यास लगने पर पानी पी लेगा, भुख लगने पर भोजन करेगा। ९६ दोषों को टालकर कौन भोजन करता है ?”

महाराज ने कहा—“इसी कारण दि० जैन साधुओं की संख्या लगभग ४० के भीतर है। दि० जैन मुनि प्राण जान पर भी मर्यादा का पालन करते हैं। धूप में बिना जल ग्रहण किए मर गए, तो परवाह नहीं।

किन्तु साधु पानी नहीं पियेगा ।”

समंतभद्र स्वामी
की महत्वपूर्ण
वाणी

इस संबंध में स्वामी समंतभद्र ने युक्त्यनुशासन में लिखा है कि जिनेन्द्र का शासन दया, दम, त्याग, समाधि आदि के प्रतिपादन की अपेक्षा अद्वितीय है, फिर भी जगत उसका पालन क्यों नहीं करता है ? उसके दो कारण हैं। साधारण कारण तो है, काल की विपरीतता। असाधारण कारण यह है कि श्रोताओं का अंतःकरण दर्शन मोहनीय के उदय से आक्रांत है। अतः उनमें धर्म की जिज्ञासा का अभाव है। दूसरा कारण है प्रवक्ता का वचनाशय। सामर्थ्य सम्पन्न, सच्चरित्र, सम्यक श्रद्धावान, वक्ताओं की प्राप्ति दुर्लभ है। इस कारण ताकिक समंतभद्र की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हुए भी जैन शासन का सम्यक प्रसार नहीं होता है। उनका महत्वपूर्ण अनुभव इस पक्ष में व्यक्त किया गया है—

“भगवन् आपके अनेकांत सिद्धांत के एकाधिपत्य लक्ष्मी की प्रभुता की सामर्थ्य के अपवाद का कारण कलिकाल है अथवा श्रोताओं का कलुपित अंतःकरण है अथवा वक्ता का वचनाशय है ।”

व्यावहारिक दृष्टि से विचार इस सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टि से यह भी ध्यात विचारणीय है कि अभी पचम काल के इक्कीस हजार वर्ष काल में से केवल २४७८ वर्ष व्यतीत हुए हैं। अभी १८५२२ वर्ष पर्यन्त जिन शासन का सद्भाव रहेगा, धर्म का लोप नहीं होगा ऐसी सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर भगवान की वाणी है, अतएव समर्थ पुरुष, चरित्रनिष्ठ व्यक्ति उचित रीति से अनेकान्त विद्या का प्रकाश फैलावें, तो अनेक निवृत्त ससारी जीवों का कल्याण कर सकता है। उपरोक्त कथन का भाव यह है कि पहले के समान प्रकाश फैलाने का अब काल नहीं है। ढलते सूर्य के समान स्थित है फिर भी सम्यक्त्वी जीव मार्ग प्रभावना के हेतु पुरुषार्थ करता है, और सफलता न होने पर दुःखी नहीं होता है।

नागपुर में आचार्य महाराज के असाधारण व्यवितत्व के प्रभाव से बहुत धर्म प्रभावना हुई, इससे यह ध्यात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार की निष्कलक चरित्रनिष्ठ आत्मा हो तो धर्म की प्रभावना को कौन रोक

१ “कालः कलिर्वा कलुपाशयोवा। श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।

त्वच्छासनेकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्व शक्तेरपवादहेतुः” ॥ ५ ॥

‘युक्त्यनुशासन’

सकता है ? हजारों श्रावकों ने अष्ट मूलगुणों का धारण करके व्रतों के द्वारा संस्कृत होने के प्रतीकसम यशोपवीत को धारण किया।

भ्रष्टाचार का तीव्र निषेध उस समय शीतलप्रसाद जी ने पुनर्विवाह को शास्त्र सम्भव बता अपने प्रचार का कार्य प्रारंभ किया था, आचार्य श्री के प्रभाव से वह अस्तप्रचार जनता में अपना बिपन फैला पाया। इस प्रकार शील धर्म के रक्षण में लोगों की दृढ़ता और बढ़ी।

नागपुर में धर्म प्रभावना की चंद्रिका प्रकाश दे रही थी, तब एक मयुर समाचार संघपति सेठ पूनमचंद घासीलाल जी जवेरी को बंबई के तार से ज्ञात हुआ कि आपको एक लाख रुपया का लाभ हुआ है। इससे उनको तो हर्ष होना स्वाभाविक है। धार्मिक समाज को भी बड़ा आनंद हुआ, क्योंकि ऐसे धर्मात्माओं और परोपकारी पुरुषों का अभ्युदय कोन नहीं चाहता है?

इस समाचार ने संघपति के चित्त में न अहंकार उत्पन्न किया और न उस द्रव्य के प्रति तृष्णा का भाव ही उनके हृदय में जगा। यद्यपि साधारण मनुष्य में विकृति आए बिना नहीं रहती है। इस प्रसंग में खोन्ड्रनाथ देगौर की यह सूक्ति बड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है—

भीख की झोली रुपये की थैली से बोली "क्या तू यह भूल गई कि हमारा और तेरा एक कुटुम्ब है।"

रुपये की थैली ने कहा—"मेरी थैली में जो कुछ है, वह यदि तुम्हारी झोली में चला जाय, तो तुम भी निश्चय ही परिवारिक संबन्ध भूल जाती।" इस प्रकार धन के द्वारा मनोविकार आना चाहिए था, किन्तु आचार्य श्री के चरणों के सत्संग से उनकी आत्मा में स्वयं ये भाव हुए कि इस द्रव्य को शिखरजी में जिनेंद्र पंचकल्याणक महोत्सव में लगा देना अच्छा होगा। गुदचरणप्रसाद से जो निधि आई है उसे उनके पुण्य

चरणों के समीप ही श्रेष्ठ कार्य में लगा देना चाहिए,

नागपुर में ऐसा उनके चित्त में भाव उदित हुआ। यह पूर्ण तथ्य शिखरजी में पंच स्वाभाविक घात है, मुक्त-स्थल सम्मेलनचल को पहुचने का दृढ़ निश्चय है, मुक्ति के महान आराधक के चरणों का सानिध्य है, तब वे मुक्त हस्त रहे यह आचार्य की बात नहीं है? भवितव्यता के समान बुद्धि होती है। संघपति को महान पुण्य के सिवाय अपार यश को भी

कमाना है, इसलिए उस आय को धर्म का प्रसाद सोचकर इन्होंने शिखर जी में पंचकल्याण महोत्सव में व्यय करने का पक्का विचार किया। किन्तु अभी दो माह में ये महाराज के साथ शिखरजी पहुँच सकेंगे फिर महोत्सव की कैसे दीर्घ व्यवस्था हो सकेगी यह समस्या कठिन दिखती थी।

गुणोदय से सभी अनुकूल वस्तुओं का सानिध्य प्राप्त होता है। जवेरी परिवार ने सेठ राव जी सखाराम जी दोसी सोलापुर वाले के साथ परामर्श किया। नागपुर में उस समय विदर्भ और महाकौशल की बहुत जनता गुरुदर्शन की गई थी। हमारे पिता (सिधई कुवरसेनजी) भी नागपुर से परिवार गुरुदेव के दर्शनार्थ पहुँचे थे। वहाँ उनके साथ परामर्श हुआ कि न्यूनतम समय में श्रेष्ठ कार्य को किस प्रकार सुन्दर तथा भव्य रूप में पूर्ण किया जाय? विचार विमर्श के बाद सेठ दाडिमचंद जी सधपति, सेठ रावजी भाई तथा हमारे पिता जी का पंचकल्याणक व्यवस्था के लिए जैनसमाज कलकत्ता से सहयोग लेने तथा अन्यव्यवस्था के उद्देश्य बलवत्ता एवं शिखरजी जाने का निश्चय हुआ। रावजी भाई के साथ दाडिमचंदजी का सिवनी आना हुआ। यहाँ विशाल मनोश तथा भव्य जिनमदिर की बंदना कर उनको बड़ा आनंद प्राप्त हुआ। यहाँ से पिताजी को साथ ले वे कलकत्ता गए। वहाँ प्रबन्ध व्यवस्था की योजना तथा कार्य का आवश्यक प्रबन्ध कर वे वापिसी में कारी आए थे। हम उस समय वहाँ न्यायशास्त्र का अध्ययन करते थे। वहाँ पंचकल्याणक की वार्ता विदित हुई थी।

अब तैयारी विद्युत वेग से आरम्भ हुई। सिवनी के महान दानशील श्रीमत् सेठ पूरनसाहजी ने सन १९०९ में शिखरजी पर जो मुक्त हस्त हो दान देकर महिमा शाली पंचकल्याणक कराया था, जिसमें भारतवर्ष के जैन बंधु आए थे और श्रेष्ठ प्रबन्ध सबके प्रशंसा की वस्तु रहा, उसका निकटतम अनुभव हमारे पिताजी का रहने से इस १९२८ के फाल्गुन मास के महोत्सव के लिए उनका मार्गदर्शन योजनाएँ एवं सहयोग बड़े महात्वास्पद रहे।

नागपुर समाज ने चांदी के पत्र में उत्कीर्ण सस्वृत में लिखा गया मान पत्र सधपति को सेठ मोतीसाब गुलाबसाब के हाथ से भेंट कराया था।

रत्नत्रय मूर्ति का धर्मसंध तीन दिन तक धर्मामृत वर्षा के उपरांत ता. ६ जनवरी को भंडारा के लिए रवाना हो गया। यदि सध रामटेक, सिवनी के मार्ग से जाता तो विशेष धर्म लाभ होता, भव्यों का कल्याण भी होता

किन्तु वह रास्ता कुछ लम्बा सोचा गया, अतः दूसरे मार्ग से रवाना हुआ।
 भडारा के पश्चात् सभ साकोली पहुँचा। वहाँ सेतवाल
 जैन कलारो का भाइयो ने सभ का दर्शन किया तथा दस चारह स्त्रियो
 स्थितिकरण ने पुनर्विवाह न करने की प्रतिज्ञा ली कारण इस समाज
 में पुनर्लग्न की कुपृथा कुछ काल से आ गई थी। ऐसा ही दक्षिण प्रात में
 हुआ। आचार्य महाराज के उपदेश के प्रभाव से लाखों व्यक्तियों ने पुनर्विवाह
 की हीनता का कारण स्वीकार करते हुए उसका प्रचार बंद करने की सुदृढ़
 प्रतिज्ञा की। साकोली में बहुत से जैन कलार भाइयो ने महाराज का
 दर्शन किया। ये लोग पहले जैनी थे, जैसा उनके नाम से स्पष्ट होता है,
 किन्तु उपदेश न मिलने से और जैन तत्वों का परिचय न होने से वे अपने
 धर्म को पूर्णतया भूल गए। कुछ जैन कलारो ने महाराज से व्रत नियम
 लिए थे।

छत्तीसगढ़ प्रात के भयंकर जंगल के मध्य से सभ का प्रस्थान हुआ।
 अगणित ग्रामीणों दूर दूर के ग्रामीण लोग इन महान मुनिराज के दर्शनायें
 का व्रतदान द्वारा आते थे। महाराज ने हजारों को मास, मद्य आदि का
 त्याग कराकर उन जीवों का सच्चा उद्धार किया था।
 उद्धार पाप प्रवृत्तियों के परित्याग से आत्मा का उद्धार होता है।
 कुछ लोग सुन्दर वेशभूषा सहभोजनादि को आत्मा के उत्कर्ष का
 अंग सोचते हैं, यह योग्य बात नहीं है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए अतः
 कारण वृत्ति का परिमार्जन किया जाना, परिष्कृत बनाया जाना आवश्यक
 है। आचार्य महाराज का कथन यही है कि गरीबों का सच्चा उद्धार तब
 होगा, जब उनकी रोटी की व्यवस्था करते हुए उनकी आत्मा को माता-
 हारादि पापों से उन्मुक्त करोगे। इसी सम्बन्ध में वर्षा में सन १९४८ के
 मार्च माह में मैं वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी से मिला था,
 लगभग डेढ़ घंटे चर्चा हुई थी। उस समय हरिजन
 पाप त्याग द्वारा सेवक पत्र के संपादक श्री मधुबाला भी उपस्थित थे।
 ही जीव का थी विनोद भावे से भी मिलना हुआ। मैंने कहा था
 उद्धार होता है कि गरीबों के हितार्थ कम से कम धर्म के नाम पर
 किया जानेवाला पशुओं का बलिदान बन्द करने के विषय में प्रचार कार्य
 होना चाहिए। सर्वोदय समाज की भी इसमें त्रियात्मक सहयोग देना
 चाहिए, किन्तु यह भगल योजना कार्यान्वित करने में उनमें अपने की

असमर्थ बताया।

यही चर्चा सन १९४९ में मुंबई के गृहमंत्री श्री मोरार जो देसाई से चलाई गयी, तब उनसे कहा था कि सरकार की बात जनता सुनती नहीं है।

मौलिक सुधारों के स्थान में पत्तों के सींचने द्वारा वृक्षों को लहलहाता, हराभरा देखने की लालसा आजकल के लोक सेवकों के मन में स्थान कर गई है, अतः उसका जलबारी मूल्य और परस्पर प्रगति के विषय में 'अहोहृषं, अहोध्वनिः' सदृश धन्यवाद-प्रदान और आभार

आदान से अधिक महत्त्व नहीं है। पत्र सिंचन भी कभी इष्ट साधक हुआ है? सच्चे लोक कल्याण की आकांक्षा करने वालों को आचार्य महाराज से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए था, किन्तु उनकी दृष्टि में इतनी महान् आत्मा नहीं दिखाई पड़ती है। मोहान्धकार वश ऐसा ही परिणाम होता है।

इस प्रसंग में हमें महापुराण का एक कथानक स्मरण आता है। एक राजा अरविन्द थे। उसके शरीर में भयंकर दाह-व्यथा उत्पन्न हो गई। उसके अनुभव में आया कि यदि रक्त पूर्ण वापिका में वह स्नान करेगा, तो उसकी पीड़ा शान्त हो जायगी। अरविन्द अरविन्द नरेश का नरेश ने राजकुमार को बुलाकर आदेश दिया कि पथानसुरण्ठीक पास के वन हरिणों को मारकर उनके रक्त से वापी नहीं है।

भरवाकर स्नानार्थ तैयार करवाओ। जब युवराज वन में पहुंचा तो वहां दया के देवता दिगम्बर जैन गुरु का दर्शन मिल गया। गुरु चरणों में उसने प्रणाम किया। मुनिराज के अवधिज्ञान था। उसके द्वारा विचार कर उनसे कहा "अरविन्द राजा की शीघ्र ही मृत्यु होनी है। तुम हरिणों का घातकर उनके रक्त द्वारा वापिका भरने का पापकार्य मत करो।" राजपुत्र के विश्वास कराने के लिए उनसे कहा "तेरे पिता की विभगावधि हो गई है। अतः जिस प्रकार उसे जंगल के हरिणों का ज्ञान हो गया, उस प्रकार उससे पूछो, कि वहां कोई मुनिराज भी दिखते हैं या नहीं।" राजपुत्र ने पिता से पूछा, तो उसने कहा "वहां हरिण ही मुझे दिखाई देते हैं।" अतः मुनि वचन को सत्य जानकर राजपुत्र ने लाक्षा रस से वापिका भरवाई। उसे रक्त मानकर हृषित हो राजा अरविन्द उसमें धुसा और जब उसे लाक्षा का स्वाद आया तो क्रुद्ध पुत्र के वध को तलवार ले झपटा और गिर मर गया।

ऐसे ही आज दिन हिंसक प्रयोग तो समर्थ पुरुषों को श्रेयस्कर दिखाते

है, किन्तु महर्षि मुनिवर के महान अनुभव से लाभ लेकर मानवता को बलक मुक्त बनाने की बात उनके दृष्टि पथ में नहीं आती। बताया जाने पर भी नहीं दिखाती हैं। “सच्चा कल्याण पाप परित्याग है” इस आचार्य वाणी पर जब भी ध्यान चला जायगा, तब ही कल्याण की प्राप्ति होगी।

आगे राजनादगाव रियासत आई। वहाँ के श्वेताम्बर भाइयों ने भी दिगम्बर वधुओं के साथ पूज्यश्री के सघ का स्वागत, अभिषेक दिया। दीवान आदि बड़े अधिकारी लोग भी जुलूस में रहे, तथा महाराज का उपदेश सुनने को भी आए थे।

यहाँ से चलकर सघ ताः १३ को दुरग पहुँचा। यहाँ जहाँ भी जंती भाई मिले, उनको अष्ट मूलगुणधारण पूर्वक यज्ञोपवीत दिया जाता था। कारण “सस्वारात् द्विज उच्यते” सस्कार के कारण त्रिवर्णवाला को द्विज कहते हैं। बिना सस्कार के शास्त्र की परिभाषा के अनुसार उच्चकुल वाले भी शूद्र सजा को प्राप्त करते हैं। महापुराण में जिन मोक्षगामी पुण्यावा चित्रण किया गया है, उनके शरीर में यज्ञोपवीत का वर्णन किया गया है। यह व्रत चिन्ह है ‘व्रतचिन्हं दधत्सूत्रम्’ (महापुराण)। इसी से आगम की आज्ञा को प्रामाण्य मानने वाले सघ के तत्वावधान में यह कार्य हुआ। इससे लाखों लोगों ने व्यवस्थित रूप से अष्ट मूलगुणों का नियम लिया। आत्मा के उत्कर्ष के लिए थोड़ा भी व्रत कारण हो जाता है। यमपाल चाडाल ने जरा सा अहिंसा व्रत लेकर देवताओं के द्वारा पूजा प्राप्त की। प्रतीत होता है उत्तर भारत में यवना के शासन काल में अत्याचार बश बहुत कियाए लुप्त हो जाने से इस कर्तव्य कर्म में विमुखता हो गई।

और उसने कोई विघ्न नहीं किया। महाराज के पुण्य प्रसाद से विघ्न का पहाड़ सत्प्रयत्न की फूँक मारने से उड़ गया। कुशलता से कार्य करने पर जो वस्तु प्रारंभ में अगुली से टूट जाती है, वही चीज अयोग्य व्यक्तियों का आश्रय पाकर कुठार से भी अछेद्य हो जाती है।

इस दिगम्बरत्व के विषय में मुनि जीवन अध्याय में विशेष प्रकाश न्याय निर्माताओं डाला जा चुका है, अतः इसके सर्वध में अधिक लिखना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। दिगम्बरत्व के विषय में तर्कों को तर्जनी उठाने वालों को यह जानना जरूरी है कि आत्मतल्लीनता तथा शरीर के प्रति निष्पृहभावना के कारण वस्वधारण की मनोवृत्ति ही नहीं रहती है। कहते हैं कि जब आर्कमिडीज ने विशिष्ट गुरुत्व (Specific Gravity) सिद्धांत को खोजा, तब उसे इतना असौम्य आनन्द हुआ था कि वह स्नानागार से नग्न ही निकल पड़ा और बाहर बहता रहा कि मुझे मेरी वस्तु मिल गयी। इस वैज्ञानिक जगत में प्रख्यात उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है, कि जब साधारण लौकिक पदार्थ की खोज के द्वारा हर्षित मानव अपने शरीर की सुध बुध भूल सकता है, तब साक्षात् अमृत और आनन्द के भंडार रूप आत्मत्व की उपलब्धि होने पर उस व्यक्ति की शरीर के प्रति अत्यन्त उपेक्षा होना नैसर्गिक बात है। ऐसे आत्मज्ञ सत्पुरुष को शरीर की समाराधना करना, उसे राजाना तथा उसकी निरंतर सेवा करना मुक्ति के शत्रु की भक्ति करने सदृश लगता है। आत्मध्यान द्वारा चैतन्य भय, आनन्द पुंज आध्यात्मिक विभूति की उपलब्धि होने के कारण दिगम्बर धमणी का ध्यान देह आदि की ओर नहीं जाता। यथार्थ में चित्त वृत्ति उस ओर जाकर लीन होती है, जहाँ उसे अच्छा लगता है। जैसे लौकिक कार्यों में लगे हुए लोग लाभ की लालच से शरीर आदि की सुध नहीं लेते इसी प्रकार आत्म रूप में निमग्न साधु लोग आत्म कृपा तथा आत्मचित्त की बातों के सिवाय अन्य विषयों में नीरसता का अनुभव करते हैं। सूर्योदय होने पर जैसे चंद्र और तारिकाओं का समूह विलीन हो जाता है, इसी प्रकार निर्मल आत्मा की अनुभूति होने पर शरीर आदि को सुख देनेवाली सामग्री का ध्यान नहीं रहता। इन आध्यात्मिक विभूतियों के जीवन से न्याय निर्माताओं को प्रकाश प्राप्त करना था, किन्तु इसे भूल कोई कोई उनके सिर पर अपने कानून का

अकुश रत्नने की बालोचित चेष्टा करते हैं ।

सन् १९५१ की बात है । नीरा जिला पूना में नवनिर्मित सुन्दर नादिरशाही आर्डर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा के समय हजारों जैन बंधु बाधे थे । उस समय आचार्य शांतिसागर महाराज भी वहां विराजमान थे । पूना के जिलाधीश ने विवेक से काम न ले आचार्य शांतिसागर महाराज के विहार पर बंधन लगा दिया जिससे भयंकर स्थिति उत्पन्न होने की संभावना थी । उद्योगपति सेठ लालचन्द हीराचन्द सदस्य केन्द्रीय परिषद तथा मोतीचन्द भाई बान्देवट्टर वम्बई ने गृहमन्त्री श्री मोरार जी भाई का समक्ष उक्त जिलाधीश के विवेक शून्य आदेश की ओर ध्यान दिलाया । इसलिए गृहमन्त्री महोदय, ने जिलाधीश को विशेष आदेश देकर नादिरशाही आर्डर को वापस लेने की सूचना दी ।

सन् १९३८ में निजाम राज्य में मुनि विहार के विरुद्ध राज्याधिकारियों ने आदेश निवाला था उस समय आचार्य महाराज के आदेशानुसार हमें हैदराबाद जान का अवसर मिला था । एक जैन प्रतिनिधि मंडल निजाम की कार्यकारिणी के तीन सदस्यों से चौदह सितम्बर को मिला था और उसने जैन मुनिया की पवित्र वृत्ति तथा उज्ज्वल जीवन चर्चा आदि को समझाया था । जैन प्रतिनिधि मंडल की बातों से निजाम सरकार का भ्रम दूर हुआ था, इसलिए २ नवंबर सन् १९३८ को विशेष फरमान द्वारा मुनि विहार प्रतिबंध के आदेश को रद्द किया ।

रायपुर में धर्म प्रभावना के उपरान्त सध २० जनवरी को रवाना होकर आरग होते हुए सभलपुर पहुंचा । वहां से प्रायः जंगली मार्ग से सध को जाना पड़ा । उस जगह इन दिगंबर गुरु के द्वारा सरल ग्रामीण जनता का कल्याण हुआ । रास्ते भर हजारों लोग इन नागा बाबा के दर्शन को दूर दूर से आते थे । इन्हें भगवान सा समझ के लोग प्रणाम करते थे तथा इनके उपदेश से मांस खाना, शराब पीना, शिकार खेलना, आदि पापाचारों का त्याग करते थे । जहाँ देखो वहाँ दर्शन प्रेमियों का मेला सा लग जाता था । इस प्रकार सच्चा लोक कल्याण करते हुये आचार्य महाराज का सध १२ फरवरी को राची पहुंचा । वहां बहुत लोगो ने अष्टमूलगुण धारण किये । वहाँ के सेठ रायबहादुर रतनलाल सूरजमलजी ने धर्मप्रभावना के लिये बड़ा उद्योग किया था । आचार्य सध के द्वारा यज्ञोपवीत गृहण करने का

उपदेश सुनकर कुछ लोगों ने शंका की कि महाराज यह तो वैदिक संस्कृति का चिन्ह है जैनियों को यज्ञोपवीत लेने का क्या कारण है ? आचार्य महाराज ने समझाया कि "आगम में यज्ञोपवीत संस्कार बताया गया है, वह रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है। दान पूजा का अधिकार उसे प्राप्त होता जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ हो।" महापुराण में द्विज उसे बताया है जिसका माता के गर्भ से तथा क्रिया से जन्म हुआ हो इस प्रकार संस्कार के द्वारा जन्म वाला द्विज कहलाता है।

हरिवंश पुराण में लिखा है कि भगवान् ऋषभनाथ के कंठ में यज्ञोपवीत था। महापुराण में चक्रवर्ती भारत के यज्ञोपवीत धारण करने का वर्णन है। भ्रमचक्षु लोग जैन क्रिया को वैदिक क्रिया मान बैठे हैं। आचार्य महाराज के उपदेश से लोगों को संतोष हुआ तथा बहुतों ने जनेऊ लिए।

सम्मेलन शिखर

फाल्गुन सुदी तृतीय
को शिखर जी की
पहुंचना

संघ हजारीबाग पहुँचा तब वहाँ के समाज ने बड़ी भवित प्रगट की। ऐलक पद्मालाल जी संघ में सम्मिलित हो गये वहाँ से चलकर संघ फाल्गुन सुदी ३ को तीर्थराज शिखरजी के पास पहुँच गया। उस समय सब को अवर्णनीय आनन्द की प्राप्ति हुई।

सम्मेलनशिखर का दर्शन होते ही प्रत्येक यात्री के अंतःकरण में आनन्द का रस छलका सा पड़ता था। अगणित सिद्धों की सिद्धि के स्थल शिखरजी का सम्मरण जब पुण्य भावनाओं को जागृत करता है तब साक्षात् दर्शन के हर्ष का वर्णन कौन कर सकता है ?

शिखर जी में भव्य
पुरी का निर्माण

उस समय संघ का प्रत्येक व्यक्ति हृदय से आचार्य महाराज के प्रति कृतज्ञता प्रगट कर रहे थे, जिन गुरुराज के निमित्त से यह तीर्थ वंदना का सुयोग मिला था।

मधुवन में पहुँचते ही वहाँ के सुन्दर जिन मंदिरों के दर्शन से यात्रा यात्री को अपूर्व शांति तथा स्फूर्ति प्राप्त होती है। आचार्य संघ के पदार्पण के पहले ही भक्त भक्तियों का समुदाय वहाँ पहुँचा था इससे वह स्थल भव्यपुरी समान दिगता था। निर्वाण भूमि का दर्शन, पंच कल्याणक का लान होने के साथ श्रेष्ठ रत्नत्रयमूर्ति आचार्य महाराज का दर्शन मिलेगा, इसलिए लाखों लोगों ने शिखरजी आकर एक विशाल धार्मिक नगर का दृश्य उपस्थित कर दिया। उस समय सभी द्वेनो में अपार भीड़ थी। स्पेशल ट्रेनें पारसनाथ स्टेशन को

जल्दी जल्दी आ रही थी। जैन समाज अल्पसंख्यक है, यह बात उस समय समझ में नहीं आती थी। रेलवे के टिकट बाढ़ का कहना था, कि एक लाख बीस हजार टिकटें उसके हाथ में आभी थी। मोटर आदि वाहनो द्वारा पहुँचने वालों की गणना करना कठिन था। देखने में वह स्थान धर्मपुरी या अहिंसा नगर के रूप में प्रतीत होता था। इस नगरी का प्रत्येक व्यक्ति पवित्र अहिंसा, सिद्धांत के अनुसार प्रवृत्ति करता था। इस पुरी के प्राण तथा आराध्य देव सतराज आचार्य शांतिसागर महाराज थे।

समयपति मुक्ता की कमाई को मुक्त भूमि में मुक्ति के हेतु मुक्तहस्त हो व्यय करने में सलान थे। जंगल में लाखों लोगों का प्रबन्ध करने में वास्तव में पानी की तरह खर्च होने वाले पैसे की ओर दानी बन्धुओं का ध्यान न था। वे बड़े विवेकी और कुशल थे। उन्हें विश्वास था कि कल्पवृक्ष के समान आचार्य महाराज के उदार चरणों का जब आश्रय मिल गया है तब किस बात की कमी हो सकती है ? उस धर्मपुरी में सभी लोग धर्म पुरुषार्थ की कमाई में लगे थे। आधीरात से हजारों नरनारी बाल बच्चों के साथ एक एक लालटेन ले भगवान पारसनाथ की जय बोलते हुए पर्वत पर जाने की उद्यत होती थे। लगभग दस कोस की यात्रा भगवान की भक्ति, श्रद्धा तथा आत्मबल के प्रसाद से अशक्त लोग भी प्रसन्नता पूर्वक पंदल करके आते थे। पर्वत पर घना जंगल होने से वहाँ जंगली जानवरों के निवास को कौन रोक सकता है ? किन्तु प्रभु पारसनाथ का नाम वहाँ गूँजते रहने से कभी भी किसी यात्री को किसी प्रकार का भय नहीं हुआ। भीषण जंगल में जाते हुए ऐसा लगता है मानो नगर के बगीचे में ही जा रहे हो। जिन चिन्तामणि तुल्य पारस प्रभु का नाम दूर देश में जपने वालों का सकट क्षण में दूर होता है तब उन देवाधिदेव के निर्वाण स्थल में धार्मिक भक्तों को कैसे कष्ट हो सकता है ? जैसे जैसे यात्री पर्वत पर चढ़ता जाता है वैसे वैसे उसके परिणाम भी उज्ज्वल और उन्नत होते जाते हैं। लाखों आदमियों की कौलाहल युक्त इस भन्जपुरी में रहते हुए भी आचार्य महाराज पूर्ण शांति भाव से आत्मदर्शन करते थे। मंगलधाम गिरिराज ने उनकी आत्मा में विलक्षण विशुद्धता उत्पन्न कर दी थी। इससे असंख्यात् गुण-श्रेणी रूप से कर्मों का क्षय होता जा रहा था।

मंगल प्रभात का आगमन हुआ। प्रभाकर निकला। सामायिक आदि

पूर्ण होने के पश्चात् आचार्य महाराज वंदना के लिये रवाना हो गये । ये धर्म के सूर्य तभी विहार करते हैं जब गगन मंडल में पीद्गलिक प्रभाकर प्रकाश प्रदानकर ईर्ष्या सिमिति के रक्षण में सहकारी गंधर्व और सीता प्रकाश प्रदानकर ईर्ष्या सिमिति के रक्षण में सहकारी नाला स्याद्वाद होता है । महाराज भूमि पर दृष्टि डालते हुए जीवों की दृष्टि के प्रतीक रक्षा करते पर्वत पर चढ़ रहे हैं । विशेष अभ्यास और शक्ति के कारण वे शीघ्र ही गंधर्व नाला के पास पहुँच गये । कुछ काल के अनंतर सीता नाला मिला । वह जल प्रवाह कहता था - “जिस तरह मेरा प्रवाह बहता हुआ लौटकर नहीं आता इसी प्रकार जगत् के जीवों का जीवन प्रवाह भी है” । ये दोनों निर्झर स्याद्वाद शैल से बहती हुई द्रव्य पर्याय रूप दृष्टि युगल के प्रतीक लगते थे । मार्ग की कंकर पत्थरों की पर्वाह न करते हुये महाराज शैलराज के शिखर पर पहुँचते जा रहे हैं । कुछ घंटों के उपरान्त भगवान् कुन्धनाथ स्वामी की टोंक (निर्वाण स्थल) आ गई । उस स्थल पर विद्यमान सिद्ध भगवान् को प्रणाम करते हुये अपनी ज्ञान दृष्टि के द्वारा वे स्थल के ऊपर सातराजू की ऊँचाई पर सिद्ध शिला पर विराजमान सिद्धत्व को प्राप्त भगवान् कुन्धनाथ आदि का ध्यान कर रहे थे । उन महामुनि का ध्यान-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनने अपने ज्ञानोपयोग द्वारा मुक्तात्माओं का साक्षात्कार कर लिया हो ।

शिखरजी शैल स्वामी समंत भद्र ने लिखा है कि जिस स्थान से भगवान् पर आचार्य का मोक्ष होता है उस स्थल पर इंद्र महाराज, चिन्ह बना दिया करते हैं । भगवान् कुन्धनाथ की टोंक ज्ञानवर कूट महाराज के नाम से प्रतिष्ठ है । वहाँ से मुक्त होने वाली छयास्रवे कोडा कोड़ी, छयास्रवे करौड़ बत्तीस लाख, छयास्रवे हजार सात सौ ब्यालीस मुनियों ने सिद्ध पद प्राप्त किया । ऐसे स्थान पर सिद्ध पूजा की जयमाल कितनी शांतिप्रद लगती है, यह प्रत्येक सहृदय सोच सकता है । वहाँ सिद्धों की प्रणाम करते हुये ये पद बड़े प्रिय लगते हैं:-

“विराग सनातन शांत निरश निरामय निर्भय निर्मल हस ।

सुधाम विदोष निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥

इस प्रकार भावमय सिद्धों का गुण स्मरण आत्मा को आनंद विमोह वगाता है । आज हजारों मील पैदल चलकर शैलराज पर विराजमान बीस तीर्थंकरों के चरण चिन्हों का प्रणाम करते हुए तथा अगणित मुक्त आत्माओं

को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए श्रमणराज शातिसागर महाराज को जो शांति मिली, जो प्रकाश प्राप्त हुआ उसका अनुमान राग रोगी आत्मा कैसे कर सकती है। कषायों का अभाव हुए बिना उस निर्मलता को वीन जान सकता है? अघा आदमी नेत्र वाले के रूप, ज्ञान का वर्णन कैसे कर सकता है?

इस थोड़ा तीर्थ पर थोड़ा मुनि को देखकर सुरराज का मन भी उन्हें प्रणाम करने को तत्पर होता होगा। किसी चित्र के लिये उपयुक्त पृष्ठ-भूमि का होना आवश्यक है, आचार्य शातिसागर की चरणपूजा के लिये यह स्थान अन्वर्तत पार्श्वभूमि रूप है। सचमुच में यह शैलराज पार्श्व-तीर्थकर की भूमि ही तो है।

बदना बैठते हुये अत में पारसनाथ भगवान की सुवर्ण सुवर्ण भद्रकूट भद्रकूट मिली। वहा से व्यासी करोड, चौरासी लाख, पैंतालीस हजार, सात सौ ब्यालीस मुनियो ने मोक्ष प्राप्त किया था। वहा आकर भव्यात्मा पढ़ता है—

“जुगल नाग तारे प्रभू पार्श्वनाथ जिनराथ ।

सावन सुदि साठे दिवस लहे भुक्ति शिवराथ ॥”

वहा श्रान्त यात्री को शीतल समीर प्रेमपूर्वक भेंट करती हुई महान शांति तथा नवस्फूर्ति प्रदान करती है। वहा ऐसा मन लगता है कि जाने की इच्छा ही नहीं होती। कितनी पवित्र, मनारम, आनन्ददायनी यह निर्वाण-भूमि लगती है जहा ‘गजराज’ के जीव ने रत्नत्रय के द्वारा ‘जगराज’ का पद प्राप्त किया था। इस स्थल पर वादिराज आचार्य रचित पार्श्वपुराण का सुन्दर चित्र मनोमदिर के समक्ष उपस्थित होता है जिसमें मुनि अरविन्द मरुभूति के जीव गजराज को इस प्रकार समझाते थे “हे गजेन्द्र! सुषुप्त सम्यक्त्व रूप हस से शोभायमान मानस में— मानसरोवर में प्रेम कर अणुवत् रूप पद्म के आकर, सरोवर में अवगाहन कर प्रिय और पुण्य जल को पी।” इस उपदेश ने उस जीव को जो प्रेरणा दी उससे वह आत्मा विकसित हो पार्श्वनाथ तीर्थकर बन भुक्ति मदिर में पधारी। महान आत्मा बनने वाले जीव में समय की ज्योति बहुत पहले से पहुचकर असमय के अधिकार को दूर किया करती है। आज का मनुष्य जिन नियमा

१ कुरु कुजर मानसे रति दृढ सम्यक्त्व मरालराजिते ।

त्वमणुवत् पद्म सद्यनि प्रियपुष्काम्बु निगाह्य पीयताम् ॥ ३-१० ॥

को पालन करने में डरता है वे नियम भगवान पारसनाथ ने गज की पर्याय में पाले थे। कवि भूधरदास कहते हैं—

“अब हस्ती समय सार्ध, अस जीव न मूल विराधे ।
सम भाव छिपा उर आने, अरि मित्र बराबर जाने ॥
काया कसि इन्द्री दण्डै, साहस धरि प्रोपध मढे ।
सूखे तृण पल्लव भच्छै, परमदित मारण गच्छे ॥
हाथी गन डोल्हो पानी, सो पीवे गजपति ज्ञानी ।
बिन देखे पाव न राखे, तन पानी पक न नाखे ॥
निज शील कभी नहिं खोवे, हथिनी दिति भूल न जावे ।
उपसर्ग सहै अति भारी, दुरध्यान तर्ज दुखकारी ॥”

जिस धर्म के प्रसाद से तिर्यंच पर्याय तक के जीवों का उद्धार हुआ, वे जैनी बने और अंत में जयशील होते हुए जिनेन्द्र सिद्ध परमात्मा बने उस धर्म की शरण लेने वाला विवेकी मानव किस सिद्धि और सफलता को नहीं पायेगा ? आज तो भगवान पार्श्वनाथ का नाम सचमुच में सम्पूर्ण सिद्धियों और सफलताओं को प्रदान करता है। उनका नाम धारण करने वाला पापाण पारस पापाण बनकर लोह को गुवण बनाता है तो जो पुण्यात्मा उनका नाम विवेक पूर्वक लेता रहेगा वह क्या न कर्मों का नाश कर अविनाशी शांति को प्राप्त करेगा ?

पार्श्वनाथ भगवान की टाक में पूर्णशान्ति तथा स्फूर्ति प्राप्त करने के पश्चात् महाराज ने पर्वत से उतरना प्रारंभ किया। उस समुन्नत टीक पर चलते और उतरते हुए मुनियों की शोभा बड़ी प्रिय लगती है। उद्यान की शोभा पुष्पों से होती है, जलायश का सौंदर्य कमला से होता है, गगन की शोभा चंद्र से होती है, इसी प्रकार पुण्य भूमि की सुंदरता महामुनियों से होती है। उस प्रकृति के भंडार शैलराज पर चलते हुए आचार्य महाराज की निर्ग्रन्थ मुद्रा उन्हे प्रकृति का अविच्छिन्न अंग सा बताती थी।

अब प्रभात का सूर्य आकाश के मध्य में पहुँच गया, इससे आचार्य शान्तिसागर महाराज एक योग्य स्थल पर आत्म ध्यान में बैठ गये। आज की सामायिक की निर्मलता और आनन्द का वीर वर्णन कर साता है, जब कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ? आज वीर तीर्थंकर की निर्वाण भूमि की वदना करके निर्वाण मुदाचारी मुनिराज आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के चिंतन में निमग्न है। आज ही निर्मलता था—

धारण है। समता अमृत से आत्मा को परितृप्त करने के पश्चात् उन मुनिनाथ ने पुनः मधुवन की ओर प्रस्थान किया। उस समय उनकी पीठपर्वत की ओर थी किन्तु उनके अंतःकरण के समक्ष तीर्थंकरों के चरण अवश्य आते थे। महाराज की स्मरण शक्ति भी तो सामान्य नहीं है। आज भी उनकी स्मृति वदना के संस्मरण सुस्पष्ट जागृति बर लेती है, तब उस समय की सुस्पष्टता का तो क्या कहना है? उतरते समय एक गधर्व नाला मिलता है। ऊपर से नीचे आने में व्यवहार पथ का ही अवलंबन होता है, इस बात को वह एक निश्चर सूचित करता हुआ प्रतीत होता था। आगे मधुवन के समीप आने पर भील आदि जगली लोगों का मधुर गीत सुनाई देता है। वे गा रहे थे—

“तुम तो भला विराजा जी।

सावरिया पारसनाथ शिखर पर भला विराजाजी ॥

देस देस का जतरी आया पूजा भाव रचाया।

आठ दरवलें पूजा कीनो मनवोछित फल पाया ॥ टेक ॥

नीचे आ जाने पर हृदय पुनः उस पुण्यधाम को प्रणाम करना चाहता है, जहाँ चरण चिह्न को प्रणाम करके वदना नीचे आया है, अतः वह इन शब्दों द्वारा वदना करता है—

“प्रथम कुमुजिन धमं सुमति अष्ट शांति जिनदा। विमल सुधारस
अजित पार्श्व मेटे भव फटा।

श्री नमि अरहजुमल्लि श्रेयास सुविधि निधि कथा प्रभु महाराज
और मुनिमुव्रत चदा ॥

शीतलनाथ अनंत जिन सम्भव अभिनदन जी। बीस टोक पर बीस जिनेश्वर
भाव सहित नित वद जी ॥

मधुवन के जिन विम्बों की वदना करके आज की तीर्थ वदना पूर्ण हुई। इसके पश्चात् महाराज चर्या को निकले। भाग्यशाली दातार को आज आहार दान का श्रेष्ठ सौभाग्य मिला। उसने अपने को कृतार्थ माना सो स्वाभाविक है। दर्शकों को जब महान् आनंद आता है, तब अतिथि सत्कार करने वाले दातार को क्यों न अपार हर्ष होगा? कारण, महाराज सद्गुरु सर्व गुण संपन्न अतिथि का दर्शन आज दुर्लभ है।

दक्षिण में निर्गुण मुनि परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, इससे जैन क्रियाओं का सुव्यवस्थित पालन होता चला आ रहा है।

कई ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनको लिखना कठिन प्रतीत होता है और उनका प्रत्यक्ष प्रयोग देखकर समझना सरल कार्य होता है ।

सूक्ष्म चर्चा एक दिन महाराज ने कहा—“कोई कोई मुनिराज कमण्डलु की टोटी को साम्हने मुह करके गमन करते हैं, यह अयोग्य है ।”

मने पूछा—“महाराज ! इसका क्या कारण है, टोटी आगे हो या पीछे हो । इसका क्या रहस्य है ?”

महाराज ने कहा—“जब संध में कोई साधु का मरण हो जाता है, तब मुनि टोटी आगे करके चलते हैं, उससे संध के साधु के मरण का बोध हो जायगा । वह अनिष्ट घटना का संकेत है ।”

मने पूछा—“महाराज ! टोटी साम्हने करके यदि चला जाय, तो और भी कोई दोष आता है ?

महाराज ने कहा—“टोटी साम्हने करके चलने से छोटे कीड़े टोटी के छिद्र द्वारा भीतर घुस जावेंगे, और भीतर के पानी में उनका मरण हो जायगा । टोटी पीछे करके चलने में यह बात नहीं है ।”

इस उत्तर को सुनकर आचार्य महाराज की सूक्ष्म विचारपद्धति और तात्त्विक दृष्टि का पता चला कि वे कितनी बारीकी से वस्तु के स्वरूप के विषय में विचार करते हैं । उनका ऐसा समाधान होता है कि वह अतः कारण को पूर्ण सतोष प्रदान करता है ।

महाराज की सिद्ध अभी सन् १९५१ के वारामती चातुर्मास में आश्वनि मास भक्ति में महाराज के दर्शनार्थ देश विदेश में अपने वाणिज्य विषयक चातुर्य के लिए विख्यात सेठ बालचंद हीराचंद बंबई वाले आए । इतने महान व्यक्ति को कर्म चक्र के विशेष उदय युक्त देखकर आश्चर्य होता था, कि उनसे पास करोड़ों रुपया है और कैसे आज उस धन को सर्व शक्तिमान कहते हैं । वाशिंगटन ने सर्व शक्तिमान डॉलर, ‘विश्व की पूजा का महान पात्र’ शब्द द्वारा अमेरियन सिक्के डॉलर की महिमा बही थी । वह धन उनके तनिक भी काम में नहीं आ रहा था । वे बोल नहीं सकते थे । हाथ पैर सब अकड़ गए थे । रोटी भी हाथ से नहीं खा सकते थे । ज्ञाचार्य

१ “The Almighty Dollar, that great object of universal devotion.”

स्पष्ट शब्द न निकले ।

उस समय मैंने कहा—“सेठ जी ! आपका बड़ा भाग्य है जो आप श्रेष्ठ महात्मा का दर्शन कर रहे हैं । आपने करोड़ों रुपया कमाए, धी के दर्शनार्थ आए । प्रणाम करने की शक्ति नहीं, घोलने में देश विदेश का पर्यटन किया । जहाज, हवाई जहाज, मोटर का कारखाना खोला बड़े बड़े काम किए, किंतु ये सब आत्मा के लिए कुछ भी कल्याण साधक न हुए । आपके समस्त उद्योग करते हुए भी घन वैभव आपके शरीर की व्यथा को दूर नहीं कर सका, अतः आप महाराज, वो प्रणाम कीजिए और ‘णमो अरिहंतार्य,’ आदि पंच नमस्कार मंत्र की मन में जाप दीजिए । आचार्य महाराज का जब बने तब आकर दर्शन कीजिए ।”

यह सुनकर महाराज बोले—“हम जानते हैं, इनको । सेठ जी को केवल ‘णमो मित्रार्य’ का जाप करना चाहिए । यह सरल होगा और यह श्रेष्ठ भी है । इससे सब दुःख दूर होते हैं ।” सेठ बालचंद ने अपने अस्पष्ट शब्दों द्वारा गुरु वाणी को स्वीकार किया ।

इसमें यह भी ज्ञात हुआ कि महाराज की भक्ति सिद्ध भगवान पर अत्यधिक है । वह सिद्ध भक्ति ही तो उनकी सिद्ध क्षेत्र पर ले आई जिसके प्रसाद से शिखरजी में लाखों लोग आ गए । कुबकुद स्वामी ने समयसार के भंगलाचरण में इन्हीं सिद्धों को नमस्कार किया है ।

महाराज के आने के बाद अगणित मनुष्यों ने मधुवन के जंगल को एक विशाल नगर का रूप दे दिया । जहा देखो, वहा आदमी ही आदमी दिखता था । सब स्वान भर गए थे । व्यवस्थापकों को आशा नहीं थी कि इतने लोग आवेंगे किन्तु आचार्य महाराज के नाम का जादू था । लोग सोचते थे तीर्थराज की बंदना होगी । पंचकल्याणक महोत्सव होगा और पंचमंगल में चतुर्युगक के साधुओं सदृश आत्मतेजधारी आचार्यदेव का दर्शन भी करेंगे । जन समाज के प्रमुख श्रीमान, विद्वान, त्यागी, लोकसेवक, कलाकार पहुंचे थे ।

चारों ओर जिन धर्म की ही महिमा सुनाई पड़ती थी । काल्गुन का मास होने से ऋतुराज ने धनश्री को सौन्दर्य समन्वित कर दिया था । निम्न निम्न देश के व्यक्तियों के विविध वर्णों की वेदभूषा से नेत्रों को प्रिय अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ था । प्रभात का काल और भी मनोरम

प्रतीत होता था। हजारों व्यक्तियों के मुख से जागरण के समय 'णमोअरिहंताण' आदि मंगलमंत्र का उच्चारण होता था। कहीं कहीं कोई लोग बड़े लय और राग के साथ प्रमाती पड़ते हुए चौबीस तीर्थंकरों का गुणगान करते थे—

वंदों जिन देव सदा चरण कमल तेरे । चरणकमल तेरे चरणारविंद तेरे ।
 श्याम अजित संभव अभितंदन गुण केरे मुमति पद्य श्री सुपार्श्व चंद्राप्रभु केरे ।
 पुण्यदत्त शीतल श्रेयांस प्रभु मेरे, वासुपूज्य विमलनंत धरम जस उजेरे ॥
 भाति कुंभ अरह भल्लि मृनिमुत्रत मेरे, नमि नेमि पार्श्वनाथ घोर घोर मेरे
 लेतनाम अष्टधाम छूटतभाव केरे जन्म पाय जादुराय चरनन के चेरे ॥ टेक ॥

प्रभु नाम स्मरण ब्रैला में विविध गीतों के द्वारा वह धर्म महोत्सव सजीव दिखता था। प्रभात में गाया जानेवाला यह पद कितना सुन्दर है—

“प्रात भयो सुमर देव पुण्य काल जात रे ॥
 चूकत यह अवसर फिर पाछे पछतात रे ॥ टेक ॥
 लाभ औ अलाभदोष मेट सके नाहि कीय ।
 होनहार होन सोय काहि सटपटात रे ॥ टेक ॥
 पुत्रादिक दूरदूर चित्तते उतारि नार ।
 नीदड़निवार के ध्यान कीं भुलाव रे ॥ टेक ॥
 कान जे कुरग जान, चंचल मन रुचि विछान ।
 याके बस आन तेरो कलो खेत खात रे ॥ टेक ॥
 जगताराम प्रभु को नाम जपो जो विचार काम ।
 सर्व सिद्ध होय काग, गुरुजी बतात रे ॥ टेक ॥

पर्वत पर जाने वाले यात्रियों के मुख से जिन स्तुति से पर्वत मुखरित होता हुआ जिन गुण गान में प्रवृत्त सा दिखता था। कोई पारस प्रभु की भक्ति में यह पढ़ते थे—

“शामलिया महाराज दूरहि से आये तेरे दर्शन को ॥ टेक ॥

दर्शन दीजे थावा लागू थारे पाँय, जन्म जन्म के पातक जाहि ॥

कवाड़ प्रान्त वाले कबई में, महाराष्ट्र प्रान्त वाले मराठी में जिन स्तवन करते जाते थे, कोई संस्कृत में प्रभुवदन पढ़ते थे। इस प्रकार विविध भाषाओं में जिनेन्द्र पुण्य नाम स्मरण सुनाई पड़ता था। वहाँ तो यह प्रतीत होता था, कि लोगों के आगे उस समय धर्म सचय का ही कार्य मुख्यतम बन गया। बिना धर्ममय हुए कर्मों का बंधन नडेगा भी

कैसे ? पूजन भी बड़े वैभव के साथ होती थी । अपार जन समुदाय होने के कारण जन-रव विपुल था । हजारों व्यक्ति भिन्न भिन्न स्थानों पर खड़े खड़े अष्ट द्रव्य से पूजा करते थे । कोई साथ में राग रामनियो सहित पूजन पढ़ते थे । अष्ट द्रव्य से पूजन करने को कोई कोई लोग अर्वाचीन वस्तु कहते थे, और प्रमाण में बताते थे कि देवता लोग दिव्य गंध, पुष्प धूप, चूर्ण वस्त्र तथा स्नान द्वारा भगवान की पूजा करते हैं । इस भ्रम का निराकरण तिलोत्पण्णति से हो जाता है क्योंकि नदीश्वर द्वीप में देवता लोग अष्ट द्रव्यों से ही पूजा करते थे । यथा—

एक अंजनगिरि, चार दधिमुख, और आठ रतिकर पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक एक जिनेन्द्र मंदिर है ।^१

इन मंदिरों में देवगण जल, गंध, पुष्प, तदुल, उत्तम नैवेद्य, फल वीप, धूपादिक द्रव्यों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुतिपूर्वक पूजा करते हैं।^२

तिलोत्पण्णति सद्गुण प्राचीन आगम के आधार मिल जाने से शोध के नाम पर बनाया जाने वाला हवाई किला समाप्त हो जाता है ।

देवता लोग भगवान की दिव्येण वासेण—दिव्य वस्तु से पूजा करते हैं । इसका स्पष्टीकरण आचार्य यतिवृषभ ने किया है कि नदीश्वर में देवता लोग दिव्य चंदोवा आदि के द्वारा भगवान की पूजा करते हैं । वे देव विस्तीर्ण तथा लटकते हुए हारों से सयुक्त तथा नाचते हुए चमर व किकिणियों से युक्त अनेक प्रकारके चंदोवा आदि से जिनेश्वरकी पूजा करते हैं।^३

महान जैन शिखरजी में जिनेन्द्र पंचकल्याणव महोत्सव में बड़े वैभव के साथ जिन भगवान की महापूजा होती थी । महोत्सव भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का उत्सव इन्दीर के धन कुबेर सर राव राजा दानवीर सेठ हुकुमचंद जी की अध्यक्षता में बड़े उत्साह और उत्साहपूर्वक पूर्ण हुआ था । उस समय भीड़ अपार थी ।

१ एवम—चुडकवट्ट जण दहिमुह रइयर गिरीण-सिहरम्मि ।

चेट्टदि-वर रणमओ एक्केक्क-जिणिंद पासादो ॥५-७०॥^१

२ जल-गंध-कुसुम-तदुल-वरचरु-फल-दीव-धूप-पहुदीप ।

अच्चते धुणमाणा जिणिंद पडिमाणि देवाण ॥५-७२॥

३ णच्चतचमर किकिणि विविह वित्ताणादिद्याहि वित्ताहि ।

ओलपिद हारेहि अच्चति जिणिसुर देवा ॥५-११२॥

लाउडस्पीकर का उस समय अपने देश में आगमन न हुआ था, अतएव महोत्सव में लोगो का हल्ला ही हल्ला सुनाई पड़ता था। दिगम्बर जैन महासभा का नैमित्तिक आधिवेशन व्यावर के धार्मिक सेठ तथा आचार्य श्री के परमभक्त मोतीलाल जी रानो वालो के नेतृत्व में हुआ था। उस समय समाज के बंधन तिथिल करने वाले विधिवा विवाहादि आन्दोलनो के निराकरण रूप धर्म तथा समाज उन्नति के प्रस्ताव पास हुए थे। महोत्सव की स्मृति में शिखर जी पर एक सस्कृति में शिलालेख लगाया गया है उसमें महोत्सव का सब हाल संक्षेप में ज्ञात होता है तथा आचार्य महाराज के सप का भी विवरण विदित होता है।

(संस्कृत लेख का सार)

श्री शातिसागरदिगवराचार्यसवः ।

श्रीदिगवरजैनधर्ममुद्योतयन् महाप्रतापिदिगन्तवीतिपचमजार्जनाम्नो
वृटिशसम्राजः शासने प्रवर्तमाने नाशोनिकटवर्तिनः श्रीसिद्धमहाक्षेत्रसम्मेदा-
चलस्याधित्यकाया समागत ।

दक्षिणमहाराष्ट्रराजधानी-कोल्हापुरान्तर्गतस्य निवटवर्तिनो भोजप्रा-
मस्य पाटील भीमगौडा-सत्यवतीति जनकजनन्योरस्य महात्मा श्रीशातिसागर
समजनि ।

दीक्षित्वा चैकदा पर्यटन् तत्क्षोणीप्रदेशमवर्णनीयानेकगुणमण्डितत्वा-
चचतुर्विधेन सधेन मिलित्वाऽऽचार्यपदत्वमध्यारोपित । निवटवर्तिनो बाहुबलि-
नामपर्वतस्याधित्यकामूमो वीरनिर्वाणसवत्सरस्य २४५४ तमस्य वर्षायोग
सजग्राह । एतद्वर्षायोग समाप्य मार्गशीर्षशृष्णतृतीयादिने ततः सिद्धक्षेत्राण
वदितुं सधेन सह उत्तरस्या दिशि विहारमारेभे ।

एव कोल्हापुर, सागली, भिरज, अयणी, बीजापुर, अक्कल्कोट,
आलद, लातूर, नागपुर, रायपुर, बिलामपुर, राची, हजारीबाग, इत्यादीन्
राजधानीनगरखेडादीननेकान् पर्वतान् नदीश्च लङ्घयन् तथा च कोल्हापुर-
फलटण-सागली-भिरजादिनगरनाथ निजामराज्याधिपति-नब्बात्रमहोदयश्च
सम्मानित सन् तत्र तत्र च धर्मोपदेशेन लोकान् मोक्षमार्गे दृढयन् स्वसर्ग
च तत्र नियोजयन् सधेन सह सार्धत्रयमासेषु सम्पेदण्वर्तमानजगाम, वीरनिर्वाण
२४५४ विक्रमाब्द १९८४ ख्रिष्टाब्द सन् १९२८ तमे शकाब्दा च २८५०
तमे फाल्गुनमासे शुद्धतृतीयादिने ।

एतत्फाल्गुनस्य चाष्टाहिकमहापर्वपर्यन्तमेव भूमिमलचकार । सद्योऽयं मुवापुरीप्रवासिना प्रतापगढनगरवास्तव्येन रत्नव्यापारिणा दिगम्बर-जैनधर्मपरायणेन श्रेष्ठिना घासीलालेन अनेकधर्मपरायण थावकश्राविका-समुदायं सधेन सहाऽऽहारादिविविधवैयावृत्य गृहस्थधर्मस्यावश्यक परिपाल-यितुमादाय तत्समुदायस्यावश्यकता प्रकटयितुं नानाविधावश्यकसामग्रीरक्षार्थं राजकीयान् कर्मचारिणः (पोलिस) श्रीमज्जिनेन्द्रवन्दनार्थं श्रीजिनसम-सारणमश्वनृपभशवटीतैलशकटीप्रभृतिगृहस्थजनोपयोगिवाहनसमुदायं च गृहीत्वा सर्वविधनिजद्रव्यं श्रीजिनधर्मप्रपूर्णभनिततोऽङ्गीकृत्य प्रोत्साह्यानीत ।

पिताऽस्य नाम्ना पूनमचन्द्र श्रेष्ठी माता च जडावबाई ।

त्रयोऽस्य पुत्रा नाम्ना गेदनमलो दाडिमचन्द्रो मोतीलालश्च एतेऽपि च संघसेवारताः पितुराज्ञया सहैव गश्वदासन् ।

। सप्तपरिचयः ।

संघेऽस्मिन्नाचार्यवर्यान् श्रीशातिसागरपरमेष्ठिन सेवमानाश्रयो दिग-म्बरा मुनिश्रेष्ठा शिष्योत्तमा श्री १०८ परमपूज्यो वीरसागरौनेमिसायरी अनन्तकीर्तिश्चेत्यासन् । चन्द्रसागरादयश्चत्वार ऐलकगधरास्तथाज्ये च आयिकाक्षुल्लकब्रह्मचारिप्रभृत्तयो गृहविरतास्तपस्विन पञ्चदश सहासन् । गृहविरतास्तु थावका श्राविकाश्च शतशो धनिनश्च प्रयाणप्रारम्भाद् गुरुं सेवमानाः सहाजग्मुः ।

देवाधिदेवस्याहंत्प्रभो समवसरणयुक्ताः प्रतिमाः श्रावकाणां देवपूजा-कर्मनिर्वाहार्थं सधेन सहानीताः ।

तद्वचवस्थापनाय कोल्हापुरात् स्वस्तिश्री उगारकर-पायसागरस्वामी सहागताः ।

तत्रत्यकार्यविवरणम्—

श्रीशातिसागराचार्यवर्यैः षट्द्रव्य-सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-अहिंसा स्याद्वादादि-संज्ञातिकविषयेषु तथाऽष्टादशदोषविनिर्मुक्तसर्वज्ञानोपदिष्ट-रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गमक्षुण्ण रक्षितुं सज्जातिविधायक आगमविहित अनादि-सिद्धवर्जव्यवस्था-शीलधर्म-उच्चकुलभेद-व्यवस्थादिविषयेषु च सततमत्र धर्म उपदिश्यते स्म । एतेषामुपदेशादेव सप्तपतिनाऽयं विपुलधनं यथोक्त्य अहं प्रभो पञ्चवल्यानकमहो सवपूर्वकं फल्गुनशुद्ध-दशमीदिने प्रतिष्ठा कारिता । श्रीसम्मदशैलस्थोपरि प्रत्यहं दिगम्बरजैनैरभिषेकपूजनादिविधानं सततं नियतेस्म ।

अखिलभारतवर्षीय दि० जैन महासभाया दि० जैनशास्त्रिपरिषदश्चात्र महासम्मेलने सघपतिनाऽधिवेशने कारिते । तत्र धर्मसमाजरक्षणोपायाअनेके निर्णीता ।

अस्मिन् महामहमहोत्सवे दक्षिण कर्नाटक द्राविड महाराष्ट्र बम्हाड बुन्देलखंड मारवाड गुजराथ राजपूताना पंजाथ वगाल आसाम आगरा दिल्ली कलकत्ता मुम्बई-प्रमुखेभ्यः सर्वप्रातेभ्यो दिगम्बरजैनसमाजी लक्षावधि समागत्य सगत आसीत् ।

एतत्समये अखिलभारतवर्षीयदिगम्बरजैनमहासभाया सघसचालननिर्वहणतज्जनिताखिलजनधर्मलाभप्रदानेन वृत्तज्ञता प्रदर्शयितुमखिलजनसमर्थ-नानुमोदनपूर्वकं श्रेष्ठो घासीलालस्तत्पुत्राश्च त्रयोपि (गेंदनमलो दाडिमचन्द्रो मोतीलालश्च) "सघभक्तशिरोमणिः" इति पदव्या समलकृताः ।

एतन्मुनिसघेन चतुसघसमन्वितेन दिगम्बरजैनधर्मस्य वर्णनातीता महती प्रभावना सजातित्यखिलविदितमास्तामिति शम् ।

जित समय सघ शिखर जी पहुंचा था, उस समय दक्षिणप्रात में अनेक जगह पर भगवान की पूजा, अभिषेक आदि करके लोगो ने हर्ष प्रगट किया था । लोगो को इस प्रकार दिगम्बर मुनि सघ के विहार की वार्ता कई पीढियो से अज्ञात थी, अत मार्ग विघ्नो के आने का बडा भय सोचा था । एक प्रमुख पण्डित महोदय ने सद्भाववश आचार्य जी से विद्या सिद्धि को कहा ही था, किन्तु वह कुछ न वह करके सर्व सिद्धि के अधिनायक भगवान जिनैन्द्रदेव की भक्ति का अविलंबन ले सघ सानन्द अपने लक्ष्य स्थान पर आ गया, और कोई सकट न होवर अवर्णनीय धर्म प्रभावना हुई । यह सब आचार्य सातिसागर महाराज की अप्रतिभ भक्ति, प्रगाढ जिन धर्म पर श्रद्धा तथा परम विशुद्ध चरित्र के द्वारा सानन्द सपन्न हो गया । अब तो वह महोत्सव पवित्र स्मृति की वस्तु है । सभी प्रात के श्रावकोने आचार्य महाराज से अपने विहार द्वारा अन्य प्रातो को पवित्र करके जिन सासन की प्रभावना करने की प्रार्थना की । लोक त्याग तथा दि० जैन धर्म की प्रभावना का विचार कर आचार्य महाराज ने अब तीर्थ'वदना के साथ साथ सर्वत्र धर्म प्रभावनार्थ विहार करने का पवित्र निश्चय किया ।

आष्टाह्निक महापर्व सम्मेदाचल के सानिध्य में व्यतीत करने के उप-रान्त चैत्र वदी १ को सघ ने शिखरजी से प्रस्थान कर दिया । इतने

शिखरजी से
प्रस्थान

दिनो से शिखरजी के दर्शन की उमंग थी, वह पूरी होगई इससे सिद्ध उद्देश्य हो अन्य तीर्थों के दर्शनार्थ रवाना होकर महाराज बड़ाका नदी पर दो दिन ठहर कर तीसरे दिन गिरखी पहुँचे । सघ वहाँ तीन दिन ठहरकर वासुपूज्य भगवान के निर्वाण स्थान चपापुर के लिए रवाना हुआ । रास्ते में वेंगाबाद में क्षत्रियो का महासम्मेलन था । उस समय क्षत्रिय समाज ने आचार्य महाराज का बड़े आदर भाव से दर्शन किया और अमूल्य आशीर्वाद तथा कल्याणप्रद उपदेश प्राप्त किया ।

चैत्र बदी त्रयोदशी को सघ मदारगिरि के निकट पहुँचा । सघ यहाँ तीन दिन ठहरा, पश्चात् विहार कर चैत्र सुदीतीज को भागलपुर आया ।

वहा नाथनगर के पास चपापुर में वासुपूज्य भगवान के चरण चिन्ह हैं, प्रतिमा जी भी बड़ी भव्य हैं । उनके दर्शन कर सबने बड़ी शांति चपापुर वासुपूज्य प्राप्त की । यहाँ से वासुपूज्य भगवान ने निर्वाण प्राप्त भगवानकीनिर्वाण किया था । पचवालयति तीर्थकरो म वासुपूज्य भगवान भूमि का सर्व प्रथम नाम स्मरण किया जाता है । बालब्रह्म चारी तीर्थकरो में वासुपूज्य भगवान के विषय में कवि कहते हैं—

‘वासुपूज्य वसुपूज तनुज पद वासव सेवत आई ।

बालब्रह्मचारी लख तिनको शिवतिय सन्मुख पाई ॥”

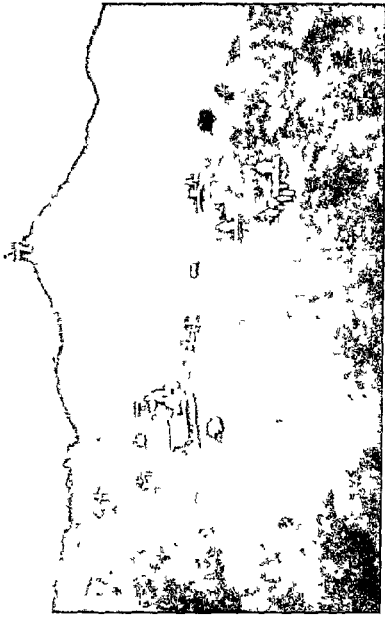
वहा से चलता हुआ सघ राजगृही आया । भगवान महावीर प्रभु के सम-वसरण में मुख्य प्रश्न वर्त्ता का गौरव जिन श्रेणिक महाराज (विम्बसार) को प्राप्त हुआ, उनकी राजधानी यही स्थान थी । यहा पच पहाड़ी की बटना की जाती है । राजगृही के पूर्व में चतुष्कोण आकार वाला ऋषि शैल है । दक्षिण में वैभार गिरि, नैऋत्य दिशा में विपुलाचल में दोनों निकोण हैं, पश्चिम, वायव्य तथा उत्तर दिशा में धनुपाकार छिन्न नाम का पर्वत है । ईशान दिशा में पाडु पर्वत है । पाचो ही पर्वत कुश समूह से वेष्टित है ।

यहा वासुपूज्य भगवान के सिवाय दाय २३ तीर्थकरी का समवसरण

१ “वासुपूज्य जिनाधीशादितरेषा जिनेशिनः ।

सर्वेषा समवस्थानं पावनोऽस्वनातराः ॥ ३-५७ ॥

‘हरिवंश पुराण’



श्री तीर्थ मम्मेदशिखर जी की पार्श्वनाथ भगवान की टाक (निर्वाण स्थल) जिसके दर्शनार्थ महाराज ने हजारों मील पैदल यात्रा की थी।

आया था । हरिवंश पुराण में लिखा है —

“पंचशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना” (३-५२)

यह पंच शैलपुर राजगिरि भगवान् मुनिसुव्रत के जन्म के द्वारा पवित्र है । भगवान् महावीर तीर्थंकर को ऋजूकूला नदी के तीर पर, जो जूँमिक ग्राम के पास थी, वैसाख सुदी १० को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था । इसके पश्चात् ६६ दिन तक भगवान् की दिव्य ध्वनि नहीं हुई । भगवान् को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद धर्मतीर्थ की उत्पत्ति होनी चाहिये थी, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी ।

इस सम्बन्धमें जयधवला टीका में लिखा है—

प्रश्न—छपासठ दिन तक भगवान् की दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी ?

उत्तर—गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी ।

प्रश्न—गीधर्मन्द्र ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही गणधर को क्यों नहीं लाए ?

उत्तर—नहीं, काललब्धि के बिना गणधर को लाने की शक्ति के अभावमें ईन्द्र असमर्थ था ।

प्रश्न—जिसने अपने पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है ?

उत्तर—ऐसा स्वभाव है । स्वभाव के विषय में तर्क नहीं किया जा सकता है, अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं रहेगी ।”^१

भगवान् महावीर स्वामी ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहाँ दिया ?

इसके समाधान में जयधवलाटीका में लिखा है—

विपुलाचल पर वीर प्रभु का समवसरण	जब महामंडलीक श्रेणिक महाराज अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथ्वीमंडल का उपभोग करते थे, तब मगधदेश के तिलक के समान राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में स्थित, सिद्ध तथा चारणों के द्वारा सेवित विपुला-

१ “दिव्य ज्जुणीए किमट्ठं तत्था पडत्ती ? गणिदा भवादो । सोहम्मिदेण तवरणे चैव गणिदो किण्ण ढोइदो ? ण, काललब्धीए विना, असहेज्जस्स देविदस्स तट्ठोयण सत्तीए अभावादो । सगपाद मूलाम्मि पडिषण्ण महव्वयं मोत्तूण अण्णमुट्ठिमय दिव्वज्जुणी किण्ण पमट्ठदे ? साहाविमादो । णच सहाओ परपज्जणिओगाह हो, अव्ववत्था वत्तीदो ।” जयधवला पृ० ७६

चल पर्वत पर बारह गणो-सभाओ से वेष्टित भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का कथन किया । तिलोय पण्णत्ति में लिखा है—

देव और विद्याधरो के मन को हरण करने वाले, सार्यक पचशत नगर-राजगृही में पर्वतो में श्रेष्ठ विपुलाचल पर श्री वीर जिनेन्द्र क्षेत्र की अपेक्षा परभागम रूप अर्थ के कर्ता हुए ।^१

भगवान की ६६ दिन पर्यन्त वाणी नहीं खिरो । अन्त में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रभात में विपुलाचल पर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति हुई ।^१ हरियश पुराण में लिखा है—

भगवान ६६ दिन पर्यन्त अनेक बार मौन के साथ विहार करते हुए जगत में विख्यात राजगृह नगर को प्राप्त हुए । वहा वे विपुल श्री संपन्न विपुलाचल पर्वत पर लोगो को उपदेश देने के लिए चढे, जंसे सूर्य उदयाचल पर आरोहण करता है ।

राजगिरि आते ही जैन सस्कृति के ज्ञाता के चित्त म महावीर भगवान के विपुलाचल पर समवशरण आने की तथा धर्मानृत वर्षा की आगमोक्त बात स्मृति पथ में आए बिना नहीं रहती है ।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है “कि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर सभी जिनो का परमोदारिक क्षरीर पृथ्वी से पाच हजार धनुष ऊपर चला जाता है । उस समय सौधर्मेन्द्र भी आज्ञा से कुवेर वित्रिया शक्ति के द्वारा सभी तीर्थ करो के समवशरणो की विचित्र रूप से रचना करता है ।

उस समवशरण में चढने के लिए आकाश में चारो दिशाओ में से प्रत्येक दिशा में ऊपर ऊपर बीस हजार सुवर्णमय सीढिया होती है । वे सीढियाँ एक हाथ ऊंची और एक हाथ विस्तार युक्त थी ।”^२

१ सुर-खेमर-मणहरणै गुणणामे पचसेलणयरम्मि ।

विडलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठवत्तारो ॥ १-६५ ॥

२ वासस्स पक्कमासे सावणणामम्मि बहुल पट्ठयाए ।

अभिजीणवसत्तम्मि य उपत्ती धम्मतिट्ठस्स ॥ ६९ ॥ तिलोयपण्णत्ति

३-इससे ज्ञात होता है कि भगवान का समवशरण बीस हजार हाथ ऊचाई पर आकाश में रहता है । यह ५ मील ५ फलौग तथा १०० गज प्रमाण होता है । इतने ऊचे समवशरण होने से भव्य जीव ही वहा दर्शनार्थ जाते होंगे । पापी जीवो की भावना ही उस तरफ नहीं होती होगी। ऐसा प्रतीत होता है ।

विपुलाचल की मधुर स्मृति विपुलाचल पर चढ़ते ही मन में विविध प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगते हैं। आगम के अनुसार समवशरण द्वादश सभा, समानायक महाराज ध्येनिक, रानीचेलना, गीतग गणघर आदि का जो वर्णन पड़ा है सुना है, उसकी पवित्र ओर मधुर स्मृति आ जाती है और आत्मा को आनंद विभार कर देती है।

इस पंचपहाड़ी पर जब आचार्य महाराज सध सहित चढ़े, तब बहुतों को स्मरण आया होगा कि इस पहाड़ीपर स्वयं चढ़ते समय विकट रास्ता होने से जब कष्ट होता है, तब शीतिसागर महाराज गृहस्थावस्था में यहाँ आए थे उस समय उनने किस प्रकार एक व्यक्ति को पीठ पर रखकर वात्सल्य भाव से पर्वत पर चढ़ाया होगा। उससे उनके महान बल का अनुमान लोगों को बहुत स्पष्टता से हुआ होगा।

राजगिरि की वदना के पश्चात् सध ने महावीर भगवान् की निर्वाण भूमि के निर्वाण से पुनीत पावापुरी की ओर प्रस्थान किया। जब पावापुरी का पुण्य स्थल समीप आया तब वहाँ की प्राकृतिक शोभा मनको अपनी ओर आकर्षित करने लगती। जलमंदिर में भीतर भगवान् महावीर प्रभु के चरण बिन्दु विराजमान हैं। तालाब लगभग आधा मील लम्बा तथा उतना ही चौड़ा होगा। उस सरोवर में सदा मनोहर कमल शोभायमान होते हैं। मध्य का मंदिर श्वेत सगमर का बड़ा मनोज्ञ मालुम होता है। पूर्णिमा की चादनी में उसकी शोभा और भी प्रिय लगती है। सरोवर के कारण मंदिर का सौन्दर्य बड़ा आवर्धन होता है। भगवान् का अतरंग जितना सुन्दर था, उनका शरीर जितना सौष्ठव संपन्न था, उतना ही बाह्य वातावरण भी भव्य प्रतीत होता है। सरोवर में बड़ी बड़ी मछलियाँ स्वच्छद क्रीड़ा करती हैं, उन्हें भय का लेश भी नहीं है, कारण प्राणी मात्र को अभयप्रदान करने वाली वीर प्रभु की अहिंसा की शुभ खद्विका छिटक रही है। मंदिर के पास पहुचने के लिए सुन्दर पुल बना है। विदेशी भी पावापुरी के जल मन्दिर के सौन्दर्य की स्थायी स्मृति फोटो के रूप में साथ ले जाया करते हैं।

पावापुरी की वदना से बढ़कर सुखद और कौन निर्वाण स्थल होगा? यहाँ पहाड़ीकी चढाईका नाम निशान नहीं है, लम्बा जाना नहीं है। शीतल गर्मोत्त सयुक्त जल मन्दिर जाने के बाद मध्य में वहाँ से निर्वाण पद प्राप्त करनेवाले प्रभु वर्धमान जिनेन्द्र के चरण चिह्न विद्यमान हैं, जो निर्वाण स्थल के स्मारक हैं। आचार्य यति वृषभ ने लिखा है कि "वीर भगवान् ने वातिक

कृष्णाचतुर्दशी के प्रभात काल में स्वाति नक्षत्र रहते हुए पावापुर से अकेले ही सिद्धपद प्राप्त किया था, उनके साथ में और कोई निर्वाण काल तथा आसन मुनि मोक्ष नहीं गए। भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के साथ में छत्तीस मुनियों ने श्रावण सुदी सप्तमी को सध्या प्रदोष काल में संमैदाचल से मोक्ष प्राप्त किया था।

भगवान् ऋषभदेव ने चौदह दिन पूर्व, महावीर स्वामी ने दो दिन पूर्व, शेष बावीस तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व, योग से विनिवृत्त होने पर मुक्ति को प्राप्त किया है। भगवान् ऋषभनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ, पत्त्यक वद्ध आसन से तथा शेष इक्कीस तीर्थंकरों ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया था। इससे जलमंदिर में जाकर सिद्ध पद प्राप्त महावीर भगवान् के विषय में चितवन करते समय उनकी कायोत्सर्ग आसन का ध्यान करना उचित है।

वर्धमान भगवान् के सातप्रंथों में से पूर्वधर, तीन सौ, शिक्षक अर्थात् उपाध्याय निन्यानवे सौ, अवधिज्ञानी, तेरह सौ, केदली, सात सौ विनियोग ऋद्धिधारी नौ सौ, विपुलमति वाले पांच सौ, और वादी मुनि चार सौ थे। छत्तीस हजार आर्यिकाओं की संख्या कही है। प्रमुख आर्यिका चंदना थी।

वास्तविक सिंह-भूमि वासुपूज्य भगवान् की भाति मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वीरनाथ जिन भी बालब्रह्मचारी तीर्थंकर हुए हैं। पावापुरी का पुण्यस्थल पीरप्रभू की पवित्र स्मृति को जागृत करते हुए बताता है, कि यथार्थ में ये पूर्ण सिंह निकले जो संपूर्ण कर्मों का नाशकर वहाँ से सिद्ध स्थल में विराजमान हो गये। उन वीर प्रभू की अचिन्त्य महिमा है। आचार्य कहते हैं:-

“ये वीर पादौ प्रणमंति नित्यं ध्यानस्थिताः समयोगयुक्ताः।

ते वीतशोका हिमवन्ती लोके ससारदुर्गं विषमं तरंति ॥”

जो जीव ध्यान में स्थित होकर तथा रायम और योग से संयुक्त होते हुए वीर भगवान् के चरणों की सदा प्रणाम करते हैं, वे जगत में वीतशोक होते हैं तथा विषम संसार के संकटों के पार पड़वाते हैं। आज उन्ही वीर प्रभू का तीर्थ प्रवर्तमान है। उन प्रभू की सुन्दर शब्दों में इस प्रकार स्तुति की गई है:-

“वीरः सर्वं मुरामुरेद्रं महितो वीर बुधाः संधिताः।

वीरेणाभिहृतः स्वकर्म निचयो वीराय भवत्या नमः ॥

वीरातीर्थमिदं प्रवृत्तामनुल वीरस्य घोर तपः ।

वीर श्री धृतिकाति कीर्ति धृतयो हे वीर ! भद्र त्वयि ॥”

“वीर भगवान् सकलसुर सुरेन्द्रो के द्वारा स्तुत हैं, महान् ज्ञानी पुरुष वीर का आश्रय लेते हैं, वीर के द्वारा अपने कर्मों का समुदाय नाश किया गया, वीर के लिए भक्ति पूर्वक नमस्कार हैं । यह अतुल तीर्थ वीर से उत्पन्न हुआ, वीर की तपश्चर्या घोर है, वीर में श्री अहिंसा, धर्म, क्रान्ति, है । हे वीर ! आप में कल्याण का निवास है । यहां समस्त कारकों द्वारा वीर भगवान् का वर्णन करते हुए उनके गुणों का वर्णन किया है ।

वीर में महाराज आचार्य महाराज की वीर भगवान् में बड़ी भक्ति तथा की भक्ति श्रद्धा है । एक दिन मैंने पूछा—“महाराज ! आपकी तपस्या आत्म तेज के ही कारण बड़े बड़े असंभव दिखनेवाले काम संभव हो जाते हैं ।”

महाराज बोले— “ इसमें हमारा कुछ नहीं है । यह सब महावीर भगवान् की कृपा है ।”

गया पहुंचना उन तीर्थंकर महावीर प्रभु की निर्वाण भूमि की साक्षात् वदना करके सप्त गुणादा आया और उसने भगवान् के मुख्य गणनायक गौतम स्वामी के निर्वाणस्थल की सभक्ति वदना की और उनकी अद्भुत, आध्यात्मिक, विकासपूर्ण जीवन का स्मरण कर सिद्ध पद प्राप्त आत्मा को प्रणाम । किया पश्चात् संघ बढ़ता हुआ वैशाख सुदी ९ को हिन्दुओं के मुख्य तीर्थ गया पहुंचा । जैन, अजैन जनता ने बड़े प्रेम और भक्ति पूर्वक सप्त का स्वागत किया । गया हिंदू सभा ने महाराज के शुभागमन की सूचना की विज्ञप्ति प्रगट कर नगरवासियों से उनके स्वागतार्थ प्रेरणा की थी । महाराज के उपदेश से हिन्दू, मुसलमान आदि अन्य धर्म के लोगों ने भी बहुत लाभ उठाया, मद्य, मांस का बहुतो ने त्याग किया ।

इस समय शीतल गर्मी पड़ती थी । किन्तु महाप्रती साधुओं के नियम जीवन भर को अटल रहते हैं । इस काल में पानी पीते ही क्षण भर में उदराल्पि द्वारा भस्म हो जाता था, फिर भी मुनीश्वर आहार के समय ही जल पीते थे और फिर उष्णकाल में विहार भी करते जाते थे । गरम पवन आग की लपटों का स्मरण करती थी । लोग घबड़ा उठते थे । किन्तु महाप्रती मुनिराज अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए समस्त भाव पूर्वक कष्टों को सहन करते थे । इससे पूर्ववत् कर्मों की निर्वण होती है ।

सोनभद्र मार्ग में विशाल सोनभद्र नदी मिली। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में सोनभद्र को नद लिखा है। इसके दोनों तरफ रेलवे स्टेशन है। एक सोन ईस्ट बैंक और दूसरा सोन वेस्ट बैंक कहलाता है। सोन के एक तट पर डेहरी नामक बस्ती है, उसे डेहरी आन सोन कहते हैं। अब उसके पास ही एक औद्योगिक नगर 'डालमिया नगर' नाम का बस गया है। वैसाख सुदी पष्ठी को सध ससराम नामक ऐतिहासिक नगर के समीप पहुँचा। यहाँ बहुत जनता ने गुरुदेव के दर्शन किये और अहिंसादि के नियम लेकर मद्य, मांसादि का त्याग किया। सध बस्ती से तीन मील दूरी पर एक आम्रवन के नीचे ठहरा था। यहा चंद्रसागर जी का केशलोच हुआ था।

वाशी वैशाख सुदी चौदस को सध मुगलसराय पहुँचा। पूर्णिमा को संध से लोग काशी पहुँचकर भेतुपुरा की धर्मशाला में ठहर गया। जेठ प्रतिपदा के प्रभात में मुनिराजो ने वाशी के लिए प्रस्थान किया। बड़े बंधव के साथ हजारों लोगो ने महाराज का स्वागत किया। गाजे बाजे के साथ जुलूस निकला। काशी तो भारत की सांस्कृतिक राजधानी है। वहाँ के बड़े बड़े विद्वानों तथा तपस्वियों ने महाराज का दर्शन करके तथा उपदेश सुनकर आनंद प्राप्त किया। मुनिगण आहार के लिए नगर में जाते थे। कभी कभी मैदागिनी के मदिरो का दर्शन भी किया करते थे। इन दिग्बर श्रमणों को राजपथ से जाते जाते देखते हुए वाशी के वैदिक विद्वानों तथा सब हिन्दू भाइयों को बड़ा हर्ष होता था, कि आज दिन भी ऐसे निर्विकार परमहंस वृत्ति वाले तपस्वी लोग भूतल को पवित्र कर रहे हैं।

पारस-सुपारस की काशी को शिवपुरी कहते हैं। 'शिव' शब्द कल्याण का जन्मभूमि होने से धोतक है। महाकवि बनारसीदास इस नगरी को भगवान सच्ची शिवपुरी सुपाश्वंनाथ तथा पादश्वंनाथ स्वामी की जन्मपुरी होने के कारण सचमुच में शिवपुरी मानते हैं और इस सम्बन्ध में अन्य धारणाओं को कल्पना कहते हैं।

अपने 'अधकथानक' में उनसे प्रारम्भ में लिखा है:—

"पानि-जुगल-पुट सीस धरि, मानि अनपौ दास ।

आनि भगति चित्त जानि प्रभु, कबो पास सुपास ॥१॥

गग माहि आइ घसी द्वै नदी बरना बसी ।

बीचि बसी बनारसी नगरी बखानी है ॥

कतिवार देस मध्य गाउ जाते काशी नाँउ ।

श्री सुपास पास की जनमभूमि मानी है ॥
 तहाँ दुह जिन शिवमारण प्रगट कीनी ।
 नव सेती शिवपुरी जगत म जानी है ॥
 ऐसी विधि नाम धरे नगरी बनारसी वै ।
 और भाति वहाँ सो मिथ्यामत वाली है ॥ २ ॥

इसी काशीनगरी में महाराज विश्वसेन के यहाँ माता वामादेवी के गर्भ से भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु का पीप कृष्ण एकादशी को जन्म हुआ था । वहाँ भी है—

"जनमें विभुवन सुखदाता, एवादसि पीप विष्णुदाता
 इयामा तन अद्भुत राजै, रवि कोटिक तेज गुलार्ज ॥"

भगवान् जब आठ वर्ष के हुए उस समय का वर्णन करते हुए कवि उनके जीवन पर इस प्रकार प्रकाश डालता है—

'भयो जब अष्टम वर्ष कुमार धरे अणुवत्त महा सुखवार ॥
 पिता जब आन धरी अरदास, करो तुम व्याह वरो मम आस ॥
 करी तब नाहि वहे जगचद, किए तुम नाम कयाय जुमद ॥
 चढे गजराज कुमारन सग, सु देखत गग तनी सुतरग ॥"

प्रभु गंगा के तट पर से जा रहे थे, और उसवे सौंदर्य को देख रहे थे, कि उनकी दृष्टि एक पंचाग्नि तन—करने वाले साधु पर पड़ी यह कमठ का जीव था । उसे देख कुमार के मन में दया आई उनने कहा 'ऐसा हिंसा का तप मत करो ।' जब उस तपस्वी ने न सुना, तब इतन एक लकड़ी के भीतर जलते हुए नाग नागनी को दिखाया । इसको कवि ने इन शब्दों में चित्रित किया है—

"लख्यो इक रक् करै तप धोर, चहू दिसि अग्नि बलै अति जोर ।
 वही जिन नाथ अरे गुन भात, करे बहु जीवन की मतघात ॥
 भयो तब बोध वहे कित जीव, वहे तब नाम दिखाय सजीव ॥",

उनको जलते हुए नाग युगल पर करुणा आई, अतः उन करुणा—निधान पार्श्व प्रभु ने मरणासन्न नाग युगल को जिननाम सुनाए, इससे उन जीवों का उद्धार हो गया । कवि कहता है —

"जिन्ह के वचन उर धारत जुगल नाग भए, घर्णेन्द्र पद्मावती पलक में ।
 जाकीनाम महिमा सो कुधातु वनक करै, पारस पाखान नामी भयो है खलक में ॥

जिनकी जनमपुरी के प्रसाद हम आपको सत्सुख लख्यो भानुसो भलक में ।
छोईप्रभु पारस महारस के दाता, अब दीर्ज मोहि साता दृगलीला की ललक में ॥
(नाटक समयसार)

इस तपस्वी का क्रूर तप तथा नाम युगल का तड़फ तड़फकर भरण देख कुमार के हृदय में जगत के विषय में विविध विचार लहरिया उठने लगी, अन्त में उनने सब वैभव का त्याग करने का निश्चय करके पीप कृष्णा एकादशी को दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की ।

“कलि पीप इकादशी आई, तब बारह भावन भाई ।

अपने कारलोंच सु कीना, हम पूजे चरण जजीना ॥”.

प्रयाग तीर्थंकर युगल के जीवन से पुनीत काशी में कुछ काल व्यतीत कर आचार्य संघ ने ज्येष्ठ वदी चौथ को प्रयाग के लिए प्रस्थान किया । काशी और प्रयाग के बीच १२० मील का अन्तर है । ज्येष्ठ वदी नवोदशी को संघ प्रयाग पहुँचा और गंगा के तीर पर ही ठहरा । चौदस को गाजे बाजे के साथ संघ का जुलूस शहर से होता हुआ तथा जिन मंदिरों के दर्शन करता हुआ धर्मशाला में ठहरा । इस नगर का प्राचीन नाम तो प्रयाग ही है, किन्तु मुगलों ने अपने शासनकाल में इसे इलाहाबाद नाम से कहना आरंभ किया ।

यहाँ चार दिन से आचार्य शातिसागर महाराज को ज्वर आने लगा इससे उनका शरीर क्षीण हो गया । इस कारण संघ को दस दिन तक ठहरना पड़ा । ज्येष्ठ सुदी चतुर्थी को मुनि वीरसागर जी तथा मुनि नेमिसागर जी का केशलोच हुआ । हजारों लोगों ने केशलोच देखा और जैन साधुओं की निस्पृहता तथा उत्कृष्ट तपश्चर्या की मुक्त कंठ से प्रशंसा की । ऐसा कौन वज्र हृदय होगा, जिसकी आत्मा ऐसी तपस्या देख कर भक्ति से नम्र न हो ? प्रयाग जैन संस्कृति का अत्यन्त प्राचीन काल से केन्द्र रहा आया है ।

भगवान् ऋषभनाथ की नीलाजना अप्सरा की मृत्यु देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ ।^१

१ नीलाजना का नाम हरिवंश पुराणमें तथा त्रिकोपपण्णत्ति में 'नीलाजसा' आया है
“जादवेरगा...उसही नीलाजसाए मारणाओ” ॥ ति. प. ४-६१०॥
सोय नीलाजसा द्रष्टुवा नृत्यन्तीमिन्द्रनर्तकीम् ।
बोधस्यापिनिबोधस्य निविवेदोपयोगतः ॥९-४७॥
सेव्यमानः सुरैरीशः सिद्धार्थं वनमापसः ॥ हरिवंशपुराण ॥९-९२॥

पश्चात् उनने प्रयाग के अरण्य में दीक्षा ली थी, ऐसा कवि वृन्दावन ने लिखा है—

“कियो कचलौच प्रयाग अरण्य चतुर्थम जान लह्यो जगधन्य ॥”

तिन्नीयपण्णति में लिखा है कि चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान् नेमिनाथ द्वारावती नगरी में और शेष तीर्थंकर अपने अपने जन्म स्थानों में जिनेन्द्र दीक्षा को ग्रहण करते हैं ।

“भगवान् ऋषभदेव चैत्र कृष्णा नवमी के तीसरे पहर उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सिद्धार्थ वन में पष्ठ उपवास के साथ दीक्षित हुए ।” (अध्याय ४-श्लोक ६४३ तथा ६४४)

प्रयाग की पूज्यता भगवान् का जन्म स्थान अयोध्यापुरी थी । दीक्षाधारण नेमिनाथ भगवान् के सिवाय शेष तीर्थंकरों का जन्म-पुरी में हुआ था, ऐसा उपरोक्त आर्थ है, इससे प्रतीत होता है कि अयोध्या नगर प्रयाग तक विस्तृत रहा होगा और प्रयाग अयोध्या का अंग रहा होगा । प्रतीत होता है जैसे काशी की पवित्रता का जैन सस्कृति के अनुसार कवि बनारसीदास ने वर्णन किया है, इसी प्रकार प्रयाग की पूज्यता का कारण आदिनाथ प्रभु का वहाँ के अरण्य में दीक्षा ग्रहण करना रहा है, किन्तु अब सांस्कृतिक सघर्ष यश वैदिक सस्कृति के श्रेष्ठ तीर्थ के रूप में उसकी प्रसिद्धि हो गई और जैन दृष्टि लुप्त प्रायः प्रतीत होने लगी । वस्तुतः काशी के समान प्रयाग को भी जैन सस्कृति का मुख्य स्थल मानना होगा । वैदिक वाङ्मय काशी, कौशल, मगध को अहिंसात्मक विचार धारा का केन्द्र बनाता ही है ।

प्रयाग, गंगा यमुना के सगम के रूप में विश्वमान्य है । यह इस बात का सूचक है कि भारतीय दृष्टि में पार्थक्य की नहीं, ऐक्य की पूज्यता थी, इसका प्रतीत सगम का समादर है । महत्त्व की वस्तु में धर्म का तत्त्व लगा देने की वैदिक पद्धति रही है ।

प्रयाग से ज्येष्ठ सुदी अष्टमी, ता: २७ मई को संघ ने रोवा राज्य की ओर प्रस्थान किया ।

सघ असाढ़ बंदी सप्तमी, १० जून सन् १९२८ को रोवा पहुँचा । सरकारी हाथी, घोड़े, बैड आदि के साथ जनता ने बड़ा भव्य स्वागत करते

हुए सघ का जुलूस नगर में निवाला । कांई ताकिव पूछ सकता है कि इन निस्पृह, चीतराग मुनियों को जुलूस से क्या प्रयोजन है ?

यह सत्य है कि इनको इन वस्तुओं की जरूरत नहीं है, न इनके आने में इनका कृत, चारित्र्य, अनुमोदना, मन, वचन वाय से सम्बन्ध है; किन्तु इसका लोक कल्याण के साथ सहज सम्बन्ध है । हजारों, लाखों जीव इन चीतराग महर्षियों के जुलूस को देखकर प्रणाम करते हैं, इनके चरण रज को मस्तक पर रखते हैं और अपनी पवित्र श्रद्धाजलि अर्पित कर पुण्य का संघय करते हैं । अतः इसका आध्यात्मिक महत्व बहुत है । लोगों में आध्यात्मिक तत्व की अभिवन्दना का उत्साह तथा उमंग उत्पन्न होती है।

बहुत लोगों ने आचार्य देव के पास से व्रत नियमादि ग्रहण किए थे। महाराज तो व्रत की निधि सर्वत्र बांटते थे, जिससे प्रसाद से यह जीव ऐसे वैभव को प्राप्त करता है, जिसकी बड़े बड़े नरेन्द्र प्रणाम करते हैं देवेन्द्र तक जिसकी पूजा करते हैं । समय के द्वारा क्या नहीं प्राप्त होता है ?

इसलिए ये महासंयमी जगत भर के जीवों को समयको समर्पित पिलाते हुए तथा उनके मोह ज्वर को दूर करते हुए आगे बढ़ते जाते थे । लोक कल्याण तथा राष्ट्र हित की अगणित वितरण सकल योजनाओं द्वारा जीवों का जितना हित हो सकता है, उससे असंख्यात गुणित आत्म-कल्याण का पवित्र कार्य इन महापुरुष के निमित्त से हुआ तथा होता जायगा । जितेन्द्रिय संयमी तथा अहिंसा महाव्रती मानव के द्वारा आत्मकल्याण के साथ सहज ही इतना जनकल्याण और जीव हित हो जाता है, जितना कभी भी पाई नहीं सोच सकता है ।

ता: ११ जून सन १९२८ को रीवा समाज ने सघ-भक्त - शिरोमणि परिवार की अपनी कृतज्ञता अथवा अपने वास्तव्य भाव का प्रतीक एक सन्मान पत्र भेंट किया था । उसमें लिखा था "यद्यपि आज तक अनेकों दानवीरों ने लाखों रुपये के द्वारा धर्मायतन, तीर्थरक्षा, धर्मशालाएँ तथा शिक्षा प्रचारादि अनेक शुभकार्य कर पुण्य एवं सुयश प्राप्त किया है तथापि इस तरह अनुपम एवं अद्वितीय कार्य द्वारा अपनी कीर्ति को चिर स्मरणीय करने का श्रेय आपको ही है । आप ही की कृपा से हमसे अज्ञानाधिकार में डूबते हुए अल्पज्ञों को आचार्य श्री शातिसागर महाराज का सघ सहित दर्शन तथा सदुपदेश का लाभ हुआ है ।"

रीवा रियासत के पश्चात् सत्र तारीख १६ जून को मँहर राज्य में पहुँचा । आगे पलासवाड़ा ग्राम मिला । उसके समीप एक गृहस्थ महाराज के समीप आया । उसने भक्तिपूर्वक इनको प्रणाम किया । वह समझता था, ये साधु महाराज हमारे धर्म के नागा बाबा सदृश होंगे, जो गाँजा, चिलम, तमाखू पीते हैं । हिन्दू नागा महाराज के प्रति बाबा खानपान में यथेष्ट प्रवृत्ति करते हैं । तमाखू पीते समय वे यह कहा करते हैं, कि भगवान भी चिलम पीते थे ।

बुराग

“कृष्ण चले वैकुण्ठ में राधा पकड़ी बाँह ।

यहाँ तमाखू खाय लो वहाँ तमाखू नाँह ॥”

कैसी कैसी विचित्र कल्पना मोह वश जीव कर लिया करता है । इन्द्र ने ब्रम्हदेवसे पूछा—‘हे चतुरानन ! इस भूतल में थोड़ा वस्तु क्या है ?’ तब चारों मुखां से चतुरानन ने कहा—‘तमाखू ही ।’ इस कलिकालमें सत्य का सूर्य मोह और मिथ्यात्व के मेघों से आच्छन्न है, अतः विषयवासनाओं की पुष्टि करनेवाले जीव के हितप्रदर्शक तथा परम आराध्य माने जाते हैं । इसी धारणावश यह भक्त महाराज से बोला—‘स्वामी जी ! एक प्रार्थना है, अजं कहे ?’ महाराज ने कहा—‘क्या कहना है, कहो ?’

वह बोला—‘भगवन् ! थोड़ा सा गाँजा मंगवा देता हूँ, उसको पीने से आपका मन चगा हो जायगा ।’

गाँजा पीने की प्रार्थना

महाराज ने कहा—‘हमारा मन सदा चगा ही रहता है । हम लोग गाँजा नहीं पीते हैं ।’ यह सुनते ही वह चकित हुआ । उसने कहा—‘महाराज ! सब साधु पीते हैं, आप क्यों नहीं पीते ?’

महाराज ने उस भोले प्राणी को समझाया—‘वि मे मादक पदार्थ है, इनके सेवन से जीव के भावों में मलिनता उत्पन्न होती है, इससे बड़ा पाप होता है, सच्चे साधु की तो बात ही दूसरी है, किसी भी मनुष्य को गाँजा आदि मादक वस्तुओं को नहीं लेना चाहिए ।’ गाँजा, भाग, चरस, मदिरा सब मादक द्रव्य की अपेक्षा भाई बंधु ही हैं । यह बात उस गृहस्थ के ध्यान

१ बिहीजा पुरा पृष्ठवान्पद्योनि धरित्रीतले सारभूत विमस्ति ।

चतुर्भि. मुखैरित्पबोचद्विरचि स्तमाखुस्तमाखु स्तमाखु स्तमाखुः॥

में आ गई। फिर भी गुरुदेव की भक्ति करना चा, भतः प्रेम वसा बोला,
“महाराज ! थोड़ी मिठाई ला देता हूँ। उसे ग्रहण कर मुझे वृत्तापं कीजिए।”

महाराज ने कहा—“साधू के भोजन का नियम कठिन होता है, वह जैसा तैसा भोजन नहीं करता है।” उसके प्रेम को देखकर महाराज ने सोचा यह भद्र जीव प्रतीत होता है, अतः उसे उपदेश दिया। उसकी स्त्री ने जीवन भर के लिए अनछने जल का त्याग कर दिया और पुरुष ने परस्त्री त्याग व्रत लिया।

आज पढ़े लिखे लोग अनछना पानी पीने में अकल्याण नहीं देखते हैं किन्तु धर्म के सिवाय विज्ञान का भी समर्थन छने जल को प्राप्त है। अनछने जल में चलते फिरते अगणित वस्तु जीव यंत्र से दिखते हैं, उनकी रक्षा के हेतु छना जल पीना आवश्यक है। मनुस्मृति में जो हिन्दू समाज का छनेजलके विषय में मान्य ग्रंथ है, लिखा है—

“दृष्टि पूतन्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।” देखकर पांव रखे, और छानकर पानी पिए। कहावत है,—“गुरु कीजे जान, पानी पीजे छान।” अगालित जल में बहुत छोटे कीड़े पेट में चले जाते हैं जो मर्यकर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। प्राचीन भारत में छने जलका आम रिवाज रहा प्रतीत होता है इसी कारण न्यायशास्त्र में घट के साथ पट का भी उदाहरण दिया जाता है। शब्द साम्य की दृष्टि से घट के साथ पट का भी मेल हो सकता है, हमें तो प्रतीत होता है कि घट और पट की समीपता के कारण ही न्याय शास्त्र में अन्योन्याभाव भाव आदि के उदाहरण में, “घटः पटो न” कहा जाता है।

सन १९५० में हम राणाप्रताप के तेजस्वी जीवन से सम्बन्धित चित्तौड़ गढ़ के मुख्य द्वार पर पहुंचे तो वहा एक घट को वस्त्र सहित देख मन में संका हुई कि यहां घट पट का सम्बन्ध कैसे आगया तब हमें बताया गया कि वहा लोग प्रायः पानी छानकर पीते हैं। जैन संस्कृति की वर्णा मूलक प्रवृत्ति का यह विशिष्ट सूचक भी है, किन्तु इस कार्य में बड़े बड़े विद्वान तक शिथिलता दिखाते हैं।

एक काशी के आचार्य जैन पंडित जी को अनछना पानी पीते देखकर धार्मिक लोगों में संस्कृत शिक्षण के विरुद्ध गहरी प्रतिक्रिया दिखाई दी। कई कहने ही लगे “ऐसे विचित्र रत्नों को उत्पन्न करने को ही क्या धार्मिक समाज का द्रव्य लगाया जाना चाहिए?” पानी छानने के महत्व

को ध्यान में देखकर ही आचार्य महाराज ने उस भद्र महिला को पानी छानकर पीने को कहा ।

आजकल रात्रि भोजन की बीमारी भी जैनसमाज में बड़े बड़े

छनापानी तथा
दिन का भोजन
जैन परंपरा
के संज्ञान में
अंग

नगर निवासियों में बढ़ती जा रही है । जिस व्यक्ति के पास थोड़ी ही लक्ष्मी की कृपा हुई कि उसने रात्रि को भोजन करने में सगर्व कदम बढ़ाया । एक कोशाधीश जैन श्रीमान को मैंने देखा वे सब साधन संपन्न होते हुए भी रात्रि को भोजन करने लगे थे, और न करने वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे ।

ऐसे लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि थोड़े दिन पुण्य के फलरूप लक्ष्मी का लाभ ले लें, पश्चात् नीच पर्याय में जा कर्मों की ठोकरें खाना पड़ेगा, अतः नरजन्म को सफल करने के हेतु पापाचरण से विमुख रहना हितकारी है ।

एक श्रृंगाल ने रात्रि को भोजन छोड़ा था, उसके फल से उसने देव-पद प्राप्त किया था, तब मानव उस श्रृंगाल से भी पिछड़ा रहा आवे, यह अच्छी बात नहीं दिसती है । गांधी जी रात्रि को भोजन नहीं करते थे, चाहे राष्ट्र हित का कितना ही बड़ा काम हो । एक बार काशी विश्व-विद्यालय में वे भाषण दे रहे थे । संघ्या समीप होने से पं० मदनमोहन मालवीय ने लोमो के समक्ष कहा था, "हमारे भाई गांधी जी रात्रि को भोजन नहीं करते हैं, इससे सभा समाप्त की जाती है ।" जो अत्यंत तुच्छ बातों के बहाने रात्रि को भोजन करते हुए अपने जैन कुल के गौरव की परवाह नहीं करते हैं उनको विवेक के प्रकाश में अपनी प्रवृत्ति को सुधारना चाहिए । प्रमुख जैन ही जब संस्कृति को विकृत करेंगे, तब उनका शुद्ध रूप कैसे रहेगा ?

कोई कहते हैं संस्कृति का खान पान से क्या सम्बन्ध है ? इसके उत्तर में कहना होगा कि शुद्ध आचार विचार का ही नाम तो संस्कृति है । पवित्र आचरण और पवित्र मनोवृत्ति से जीवन की मलीनता दूर होकर वह परिशुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित बनता है । इसे ही संस्कृत जीवन कहते मीठी मीठी, लच्छेदार घातें बनाना संस्कृति नहीं है । वह तो पथिक को फंसाने वाली ध्याघ्न की बात है जो कहता था "इदं सुवर्णं कंकणं गृह्यताम्" किन्तु इस मानुष के अन्तस्तल में नैसर्गिक क्रूरता का भाव छिपा हुआ था ।

अतः विचारों की निर्मलता के संपादनार्थ आहार की शुद्धि आवश्यक

है, इसी से आचार्य महाराज जीवन के वत्याणार्थ उसका उपदेश देते हैं और भद्रात्मा उनसे उपदेश को स्वीकार करते हैं।

आचार्य सघ जंगल के बीच से जा रहा था। एक वृद्धा की दृष्टि साधु महाराज पर पड़ी। उसकी तीव्र इच्छा हुई, कि इन बाबा के दर्शन अवश्य करूंगी। महाराज आगे थे, वह लाठी टेवती हुई उस ओर बढ़ती जा रही थी। उसकी दृढ़ता और भक्ति देव संधपति सेठ गेंदनमल जी आचार्य जी के पास पहुँचे, और अर्ज की, कि महाराज एक वृद्धा दर्शनार्थ आ रही हैं आपके दर्शनो की उसकी उड़ी तीव्र लालसा है। उस समय थोड़ा थोड़ा पानी बरसना प्रारम्भ हुआ था, किन्तु फिर भी महाराज कुछ समय को रुक गए और उसके आने पर उसे भद्रात्मा देख आशीर्वाद देते हुए आगे बढ़े।

संध्या हो रही थी, उसी समय दो शिकारी मिले। उन्हें शिकार न खेलने को लोगो ने कहा। आचार्य महाराज के आगमन की वार्ता सुनाई। महाराज का दर्शन कर बिना शिकार विये वे लोग वापिस चले गए। आचार्य ही तो महान् आत्मा हैं। उनके प्रभाव से समक्ष में हिंसा न हो सकी, यह बड़ी बात नहीं है। उनके चरण सेवक जिनेन्द्र के वचनो में श्रद्धा शील श्रावको में बहुत सामर्थ्य पाई जाती है। देहली के एक धार्मिक जैन भाई तीन वर्ष पूर्व अमेरिका गए थे। वहा कुछ अमेरिकन साथी इनके द्वारा मछली न मारने की प्रार्थना करने पर भी अपनी आदत से लाचार हो मछली मारने एक सरोवर पर गए। जैन महाशय भी वहा खड़े खड़े जिनेन्द्र का नाम जपते रहे और यही आकाशा वर रहे थे, कि आज मछलियो को अभय प्राप्त हो। वे इनके जाल में न फँसें। काफी देर तक उन लोगो ने मछली मारने का प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल रहा आया। उनकी समझ में आ गया कि श्री जैन की करुणामयी प्रार्थना की उपेक्षा करने से वे विफल मनोरथ रहे हैं, अतः उनके चित्त में जैन-वधु के प्रति विशेष सम्मान की भावना उत्पन्न हो गई। वास्तव में देखा जाय, तो जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धा रखकर यदि हम काम करें तो अवश्य पवित्र कार्य में सफलता मिलेगी।

प्रभावना

कटनी चातुर्मास वसाढ सुदी तीज को सध कटनी से चार मील दूरी पर स्थित चाका ग्राम पहुँच गया। वहाँ के स्कूल में सध को ठहराया गया। महाराज के उपदेश से प्रभावित हो मुसलमान हेडमास्टर ने मासाहार का त्याग कर दिया और भी बहुतों ने मासाहार का त्याग किया।

मध्याह्न की सामायिक के उपरांत कटनी की जैन समाज का एक जुलूस, जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान भी शामिल थे, आचार्य सध के स्वागतार्थ आया। बड़े हर्ष के साथ जुलूस ने नगर में प्रवेश किया। दोनों जिन मंदिरों की उनने बंदना की। पश्चात् नवीन छायावात को आचार्य श्री ने अपने चरणों से पवित्र किया। इसी कारण उसे शान्ति-निकेतन यह अन्वय नाम प्राप्त हुआ। सा० २० जून सन १९२८ को आचार्य महाराज तथा नेमिसागर महाराज का केश-लोच हुआ, पश्चात् भगवान का पंचामृत अभिषेक हुआ तथा पूजन की गई। आचार्य महाराज को भी पूजा की गई। आचार्य महाराज का त्याग धर्म पर मार्मिक उपदेश हुआ। इसके पश्चात् दूसरे दिन तारीख २३ को सेठ गेंदनमल जी सपरिवार मुंबई वापिस चले गये। कटनी समाज ने सधपति का योग्य वस्त्रादि द्वारा सम्मान कर वात्सल्य भाव का परिचय दिया। उनको मानपत्र भी दिया था। सधपति ने जिस प्रकार आठ माह का समय गुरुसेवा में दिया, इसी प्रकार गुरुचरणों के भवत दक्षिणके ओर भी भाई थे, वे सब अपने अपने स्थान को चले गये। कारण अब उनने देख लिया कि महाराज की उत्तर भारत की यात्रा कर धर्म की प्रभावना करना है और अब उत्तरप्रान्त के भाई गुरुसेवा का पवित्र उत्तरदामित्व उठाने को तैयार हैं, अतः अपने लौकिक कार्यों के हेतु उनको जाना पड़ा।

उत्तरभारत में सर्वे प्रथम आचार्य शांतिसागर महाराज के सध के चातुर्मास का सौभाग्य कटनी को प्राप्त हुआ। आचार्य श्री के जीवन को जिनने निकट से देखा, उनका अतःकरण उनके प्रति भवितपूर्ण बने बिना नहीं रहा। शिखर जी के महान् उत्सव में इतना अधिक जनसमुदाय था और उस विशाल भीड़ के कारण ऐसी स्थिति थी, कि आचार्य श्री के जीवन के निकट निरीक्षण का सौभाग्य बहुत कम लोगों को मिला। वे तो

महान सन्त है, जिन्हें अपने जीवन का विज्ञापन कभी भी इष्ट नहीं रहा है, अतः सब सामान्य कीर्ति के सिवाय निवृत्त से उनको देख सकें, ऐसा प्रयत्न अवसर उत्तर भारतवाला वो कटनी में प्राप्त हुआ। कुछ शास्त्रज्ञ ने मूढमता से आचार्य श्री के जीवन की आगम की कसीटी पर कसते हुए समझने का प्रयत्न किया। उन्हें विदवास था कि इस बलिकाल के प्रसाद से महाराज का आचरण भी अवश्य प्रभावित होगा, किन्तु अन्त में उनको ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज में सबसे बड़ी बात यही नहीं जा सकती है, कि वे आगम के वधन में बद्ध प्रवृत्ति करते हैं और अपने मन के अनुसार स्वच्छद प्रवृत्ति नहीं करते हैं। स्थानीय लोग की प्रारम्भ में कुछ कम इच्छा थी, कि चातुर्मास का महान् भार हम कटनी वालों पर पड़े, किन्तु चातुर्मास समीप आ जाने से दूसरा योग्य स्थान पास में न होने से कटनी की ही चातुर्मास के योग्य स्थान चुनने की बाध्य होना पड़ा।

सधपति ने ऐसे लोगों को कह दिया था— 'आप लोग चिन्ता न करें, यदि आपकी इच्छा न हो, तो आप लोग सहयोग न देना, सर्व प्रबन्ध हम करेंगे, अब चातुर्मास तो कटनी में ही होगा।' इस निश्चय के ज्ञात होने पर सहज सौजन्यवश प्रारम्भ में उन शकाशील भाइयों ने महाराज के पास जाना प्रारम्भ किया। उन्हें ऐसा लगने लगा, जिसे हम काँच सरीखा सोचते थे, वह स्फटिक नहीं, वह तो असली हीरा है।

उस समय उन्हें—अपने भाग्य पर आश्चर्य होता था, कि किस प्रकार अद्भुत पुण्योदय से उनको अनायास ही नहीं, अनिच्छापूर्वक ऐसी अपूर्व निधि प्राप्त हो गई। वस अब उनकी भक्ति का प्रवाह बढ़ चला। जो जितना प्रबल विरोधी होता है, वह दृष्टि बदलने से उतना ही अधिक अनुकूल भी बन जाता है। इद्रभूति ब्राह्मण महावीर भगवान के शासन का तीव्र विरोधी था, किन्तु उसने प्रभु के जीवन को सौन्दर्य देखा और उसमें अपूर्व सौरभ और प्रकाश पाया। अतः इतना प्रबल भक्त बन गया कि प्रभु के उपदेशानुसार निर्ग्रन्थ भुनि बन कर भगवान के भक्त शिष्यों का शिरोमणि बनकर गौतम गणधर के नाम से विख्यात हो गया। भावों की अद्भुत गति होती है। कटनी की समाज में आंतरिक भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा, इससे आनन्द की अविच्छिन्न धारा भी बह चली।

बड़े सुख, शांति, आनन्द और धर्म प्रभावना के साथ बहा का समय व्यतीत होता जा रहा था।

मैंने भी आचार्य श्री के जीवन का निकट निरीक्षण नहीं किया था। अतः मेरे पूर्णतया श्रद्धा शून्य था। मार्तण्ड के अष्टाङ्गिका के समय काशी अध्ययन निमित्त जाते हुए एक दिन के लिए यह सोचकर बटनी ठहरा कि देखें इन साधुओं का जीवन कैसा है ?

पास में पहुँच कर देखा, तो मनको ऐसा लगा, कि कोई बलशाली चक्रवर्त्ति को खेंच रहा है। मैंने दोष को देखने की दुष्ट वृद्धि से ही कार्य लेने का प्रयत्न किया था, किन्तु रचमात्र भी सफलता नहीं मिली।

आचार्य महाराज को देखकर आखें नहीं धकती थीं। उनके दो बोल कानों में अमृत घोल देते थे। उनकी तात्त्विक-चर्चा अनुभव पूर्ण एवं मार्मिक होती थी। वहाँ से वाशी जाने की इच्छा नहीं होती थी। हृदय में यही बात आती थी, जब सच्चे गुरु यह विराजमान हैं, तो इनके अनुभव से सच्चे तत्वों को समझा जाय।

पूरा अष्टाङ्गिका पर्व वहाही व्यतीत हो गया। महाराज का जीवन तो हीरे के समान ही दीप्तिमान था। उस समय उनके दर्शन से ऐसा ही आनंद आता था, माना अधे को आखें मिल गई हों, दरिद्र को निधि प्राप्त हो गई हो।

हृदय में यह भाव बराबर उठते थे, कि मैंने कुसंगतिग्रस्त बयो ऐसे उत्कृष्ट साधु के प्रति अपने हृदय में अश्रद्धा के भावा को रखने का महान पातक किया ? सध के अन्य साधुओं का जीवन भी देखा, तो वे भी परम पवित्र प्रतीत हुए। 'सीना जानिए कैसे, आदमी जानिए दसे'—सुवर्ण की परीक्षा कसीटी पर कैसे बिना नहीं होती है, आदमी की जाँच के लिए उसके साथ कुछ काल तक बातचीत होना आवश्यक है। जीवन तो आत्मा का गुण है, वह पुद्गल लेखनी के द्वारा कैसे बताया जा सकता है ? प्रत्यक्ष संपर्क से ज्ञात हो जाता है, कि इस आत्मा में कितनी पवित्रता और प्रकाश है ? मेरा सीभाग्य रहा जो मैं आचार्य श्री के चरणों में आया और मेरा दुर्भाव धुल गया।

उस समय कटनी में महाराज की तपश्चर्या बड़ी प्रभावप्रद थी। सभी सध के साधु ज्ञान और वैराग्य की मूर्ति थे। पार्मिकों के लिए तो वे अमृत-तुल्य लगते थे, हा, विषय लोलुपी लोगों के लिए वे विष तुल्य अवश्य दिखते होंगे। आचार्य श्री कम बोलते थे, किन्तु जो बोलते थे, वह अधिक गंभीर तथा भावपूर्ण रहता था। पूजन, भजन, तत्त्वचर्चा,

घर्मोपदेश में दिन जाते पता नहीं चला ।

वर्षायोग समाप्ति का दिन आ गया । अब कल सष का कटनी से विहार होगा, इस विचार से लोगो के हृदय पर व्यापात सा होता था । कितनी शांति, सुख, सतोषपूर्वक समय व्यतीत हुआ, इसकी घर पर में चर्चा होती थी ।

विहार अगहन वृष्णा एवम वा दिन आया । आहार के उपरांत महाराज ने सामायिक की ओर जदलपुर की ओर विहार किया । उस समय आचार्य महाराज में कटनी के प्रति रचमात्र भी मोह का दर्शन नहीं होता था । उनकी मुद्रा पर वैराग्य का ही तेज अंकित था । हजारो व्यक्ति, जिनमें बहुसरयक अर्जन भी थे, बहुत दूर तक महाराज को पहचाने गये । महाराज अब पुनः कटनी लौटने वाले तो थे नहीं, क्या ऐसा सौभाग्य पुनः मिल सकता है ?

कटनी की समाज के हृदय पर महाराज का आज भी शासन विद्यमान है । जब कभी वहा के श्रावको के समक्ष चर्चा आ जाती है तो वे आनन्द मान होकर उन पुण्य दिवसो का स्मरण कर लेते हैं । विषुद्ध जीवन के बिना ऐसा स्थायी पवित्र प्रभाव कैसे हो सकता है ? महाराज को आहारदान का सौभाग्य मिल जाय, इससे कटनी से श्रावको की मडली सष के साथ खाना हो गई ।

दूसरे दिन बिलहरी ग्राम पहुँचे । वहा सष का दो दिन वास्तव्य रहा । आसपास महाराज के श्रेष्ठ आध्यात्मिक जीवन की प्रसिद्धि हो चुकी थी । अतः उस ग्राम में सरकारी अधिकारियो ने और बिलहरी में चमारो जनता ने गुरुदेव के निमित्त से बहुत लाभ लिया । क्या द्वारा मासाहार कभी कोई सोच सकता है कि चमार लोग मासाहार त्याग छोड़ सकेंगे ? आज तो बड़े बड़े उच्च वंशवाले मासाहार तथा अडे खाने की ओर बढ़ रहे हैं, तब आचार्य श्री के उपदेश से चमारो का मास भक्षण त्याग करना बहुत बड़ी बात है । सुसंस्कृत और समुन्नत आत्मा का जीवन पर ऐसा अद्भुत असर पड़ता है, कि जिसकी स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती, वह बात सरलतापूर्वक प्रत्यक्षगोचर हो जाती है ।

आज तो अहिंसा के प्रसाद से जन्म धारण करने वाला

मानव समाज में
मांस भक्षी गिद्ध
तुल्य अमंगलरूप
है

भारतीय शासन मासाहार प्रचार को अपना विशेष
वर्तव्य मान बैठा है। वह देखे कि चर्मकार तन मांस का
स्वाग कर सकते हैं, तो अपने में चहप्पन् का अहंकार
करने वालों की ओर चमारों से अपने को बड़े मानने
वालों की सोचना चाहिए कि इस विषय में वे चमारों से आगे रहना चाहते हैं
या पीछे? यथार्थ बात यह है कि जो आत्मा अहिंसा से भूषित है, वह महान है,
जो हिंसा में निमग्न है, वह कथमपि उच्च अथवा महान नहीं मानी जा सकती
है। गो की महत्ता को मांस-जीवी गिद्ध वही प्राप्त कर सकता है? मांस
भक्षी तो गिद्ध के समान अमंगल सूचक होता है, जैसे किसी घर पर गिद्ध
आदि मांसभक्षी जानवरों का बैठना अकल्याण की सूचना देता है।

पिपरीद के रास्ते
में सर्प राज का
आतंक महाराज
के प्रसाद से
दूर हुआ

१४२

सध ने खिलहरी से पिपरीद की ओर प्रस्थान किया, तो
एक यात्री ने कहा— “महाराज रास्ते में एक भोषण
सर्प है, वह जाने वालों का पीछा करता है, अतः वह
रास्ता खतरनाक है।” सब लोग चिन्ता में पड़ गए।
लोग यही चाहते थे, कि महाराज दूसरे रास्ते से चलने की
आज्ञा दें। क्रुद्ध सर्प के रास्ते पर चलकर प्राणों के साथ
खिलवाड़ करने से लोग डरते थे, किन्तु उनमें ऐसे महान पुरुष के चरण
पकड़े थे, जो जीवन भर निर्भीक रहा। अनेकों बार घटी सर्पराज जिनके
दरार पर काफी उपद्रव करके परीक्षा ले चुके, किन्तु उन क्षाति के सागर
में अर्थाति का लेश न पाया।

आचार्य महाराज ने कहा—“धबड़ाओ मत और वे तो उरी रास्ते
पर बढ़ते चले। महाराज के पुण्य प्रताप से सर्पराज वास-विडे पर सो रहा
था, इससे निष्कटक रास्ता बट गया। जिनेन्द्र भगवान के ध्वजों पर श्रद्धा
रखने वालों का संकट ऐसा ही टल जाता है। मानवुंग मुनिराज ने
लिखा है:—

“हे भगवान्! जिस पुरुष के हृदय में आपके नाम रूपी नाग दमनी
औषधि विद्यमान है। वह भया रहित हो स्वतः नेत्र बाले, समद कीदल के
कठ समान श्याम वर्ण वाला, क्रोधमुक्त, कण उठाकर आते हुए सर्पराज को
अपने पैरों से लाप जाता है।”

बारामती के श्रेष्ठ चद्रलाल सराफ से हमने पूछा था—“आप

गुरुभक्तोंके महाराज महाराजकी सेवा में प्राय रहते हैं। क्या विदोषता उनके बारे के प्रभाव से सदा में देखने में आई?" उनने कहा था—"महाराज के साथ में सकट दूर हुए हैं। कभी भी कष्ट नहीं हुआ। कभी कोई सकट नहीं आया। भयवर से भयवर जंगल में पड़े रहे, कभी भी चोरी नहीं हुई। कभी बीमारी की विपत्ति नहीं भोगने में आई।"

वे कहने लगे—"बदाचित्त सकट का समय आया और हम लोगो ने आचार्य महाराज पुण्य का स्मरण किया, तो उनका नाम लेते ही सकट दूर हुआ है।"

राहुरी में जल उनने एक घटना सुनाई। और भी अनेक लोगो ने उसका समर्थन किया। बबई प्रान्तो में प्रसिद्ध अहमद नगर की तरफ जब महाराज का विहार हो रहा था। तब रास्ते में राहुरी स्टेशन मिलता है। महाराज ने विहार किया। सध्या हो चली थी। उस समय हम पास के ग्राम में रहना चाहते थे, किन्तु महाराज ने हम लोगो की प्रार्थना की परवाह नहीं की और वे दूर तक आगे बढ़ गये। लाचार होकर हमका भी उनकी सेवार्थ बहा पहुचना पडा। कुछ समयके पश्चात उस ग्राम के पास ऐसी भीषण वर्षा हुई, कि वहाँ कोई घर न बचा।"

पूर में सब बह गये। इस सम्बन्ध में मैंने महाराज से पूछा था—"महाराज! ऐसे प्रसंग पर आप क्यों उस गाँव के आगे बढ़ गए? क्या आपको वर्षा का ज्ञान हो गया था?"

महाराज ने कहा—"ऐसे अवसर पर हमारी आत्मा वहा रहने को नहीं धोल्ती थी। हमारी आत्मा जैसी बोलती है, वैसा हम करते हैं। किसी के कहने से कुछ नहीं करते हैं।" ऐसी पवित्र आत्मा का शरण लेने वाले को कहा विपत्ति होती है? शिखर जी में सघपति ने पञ्च इन महामुनि के चरणों की सेवा से कल्याणक महोत्सव में लाखों खर्च किए। सघ के साथ समृद्धि लाभ बहुत समय व्यतीत किया, इससे उनके पास की सम्पत्ति कम हो गई होगी, ऐसा कोई सोच सकता है, किन्तु यह भ्रम है; आचार्य धातिसागर महाराज के चरण पकड़ने वालो का ऐसा विकास और अभ्युदय हुआ, कि जिसे देखकर लोग चकित हो जाते हैं।

एक बार एक उच्चकोटि के ज्योतिषशास्त्र के विद्वान को आचार्य महाराज की जन्म कुडली दिखाई थी। उसे देखकर उनने कहा था, जिस

व्यक्ति को यह कुण्डली है, उसके पास तिलतुप मात्र भी संपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु उस आत्मा की सेवा करने वाले लखपती, करोड़पति होना चाहिए। उनसे यह भी कहा था, कि इनकी शारीरिक शक्ति गजब की होना चाहिए। बुद्धि बहुत तीव्र बताई थी और उन्हें महान सत्यज्ञानी भी बताया था। दुर्भाग्य की बात है कि वे ज्योतिषी जी श्रम नहीं है, अन्यथा उनके द्वारा किया गया साधारण (ज्योतिष शास्त्र की अपेक्षा) विवेचन महाराज के जीवन को समझने में विशेष लाभ प्रद होता। महाराज के चरणों का आश्रय लेने से विपत्ति नहीं आती, यह साथ के लोगों ने भी देख लिया। उनको संकटमुक्त होने का हर्ष तो था ही, साथ ही महाराज के प्रति श्रद्धा और भी बलवती हो गई।

आगे चलकर संघ ने पिपरीद ग्राम में रात्रि व्यतीत की। मध्याह्न की सामायिक के उपरान्त संघ ने तिहरी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ सघ दो दिन ठहरा। साथ में दो गाड़ी लेकर लाड़नू के सेठ बच्छराज जी भी सपरिवार गुरु सेवा में दत्त चित्त थे। सेठ बच्छराज जी के भाई सेठ तुलाराम जी अभी इस वर्ष सन १९५१ के भादो के बाद आचार्य महाराज की सेवा में वारामती आए थे। वे महाराज की सेवा में सपरिवार कुछ दिन ठहरे थे। आज वे सभी भाई कोट्याधीश हैं। महाराज ने उनसे कहा था,—“तुमने अभी जो धन पाया, वह पूर्व पुण्य से प्राप्त किया है। पुरुषार्थ से इतना धन नहीं मिला है। अब आगे भी ऐसा धन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते?” महाराज की बात ऐसी मधुर, मार्मिक तथा कल्याणप्रद रहा करती है।

इसके बाद संघ सलीमनाबाद आया। प्राचीनकाल में यह स्थान दि० जैन संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र रहा है, क्योंकि यहाँ के जंगल में बहुत श्रमणों में जैन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ अच्छा मंदिर है। जगन्नाथ दत्त घर जैनियों के हैं। वहाँ से चलकर सघ सिहोरा आया। सिहोरा के पार्श्व में तीन मील दूरी पर एक गाँव है, वहाँ के श्रावकों ने संघ से धर्म प्रभावना की प्रार्थना की, अतः आचार्य महाराज ने पार्श्ववर्ती ग्राम के लिए पार्श्वकीर्ति जी को दो दिन के लिए वहाँ जाने की आज्ञा दी थी; पश्चात् वे संघ में सम्मिलित हो गए थे। जब सघ आगे बढ़ा, तब भीषण वर्षा के सर्वचिन्ह दिखने लगे। उससे सब गृहस्थाँ को बड़ी चिन्ता होने लगी, कि वर्षा हो जाने से परिवार के बाल बच्चों को बड़ा आस होगा,

सर्वों भी भीषण हो जायगी। यह देख आचार्य श्री ने करुणाभाव से बाल बच्चों वाले श्रावको को साथ में न ले जाने को कहा, किन्तु उनके हृदय में गुरु चरणों के प्रति भक्ति थी, उनका साथ छोड़ने को जी नहीं हो रहा था, अतः वे साथ में ही रहे। उनने सोचा मेघों के डर से ऐसी आत्मा की सेवा का सौभाग्य छोड़ देना महा मूर्खता होगी; इससे वे चरणों के पीछे लगे ही रहे। जब योग्य स्थान पर सघ पहुँच गया और सघ के लोगों के ठहरने की व्यवस्था हो गई, तब वर्षा ने भूतल को जलमय कर दिया। लोगों को कष्ट नहीं हुआ।

आगे चलकर सघ गोलपुर आया। वहाँ हिरन नामकी नदी पड़ती है। उसे पार करने के लिए नौका चलाने वालों ने पैसा नहीं लिया। उनको पैसा लेने को बहुत कहा, किन्तु वे बोले—'ये तुम्हारे ही गुरु नहीं हैं ये महात्मा हम सबके गुरु हैं। उनकी सेवा करने के पैसे हम कदापि नहीं लेंगे।' 'यथार्थ में सभी लोग इनको अपना गुरु कहते हैं। मन् १९५१ में नासिक कांग्रेस के महाअधिवेशन में श्री अजित प्रसाद जी जैन पुनर्वास मंत्री भारत सरकार आए थे। उनके साथ भारतीय पार्लियामेंट के सदस्य श्री बालकृष्ण शर्मा भी थे। मिनिस्टर जैन से चर्चा के प्रसंग में मैंने कहा 'यहाँ से पास ही अपने आचार्य शांतिसागर महाराज हैं।' श्री बालकृष्ण शर्मा बोलने लगे, 'जैन लोग सोचते हैं कि आचार्य शांतिसागर महाराज हमारे हैं, किन्तु यह बात ठीक नहीं है। आचार्य महाराज सबके हैं। उनके चरणों पर जितना जैन का अधिकार है, उनका ही हमारा भी अधिकार है। वे तो विश्व की विभूति हैं।'

इन वाक्यों के भीतर गहरी सचाई छिपी है। संसार में जितने बेपभूपा हैं, वे मनुष्य मनुष्य में भेद पैदा करती हैं। परिग्रह का आवरण ही संसार का जाल फैलाना है। जब इन महान् मुनिराज ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली, तब ये सूर्य और चन्द्रमा के समान प्राकृतिक रूप में आ गए। सूर्य और चन्द्रमा को कौन नहीं अपनाता है, अपना ही मानता है, उनसे अपना कल्याण साधन नहीं करता है? इसी प्रकार वे आध्यात्मिक विभूतियाँ प्रसुप्त मोही मानव को जगाती हुई कल्याण के मंदिर में प्रवेश के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। सच्ची सस्कृति को बूटन कि के माया जाल से निराल्पर देना जाय, तो ज्ञान होगा, कि इन्हीं नवतम चरणों में विश्व सस्कृति का मार्ग छुपा हुआ है। दुनिया के कोने को

सर्वोदय का पथ
इनका जीवन है
मैं हिसक लोग एकत्रित होकर सांस्कृतिक
समुत्थान की कर्णप्रिय बातें करते हैं । उसे सुनकर
'नी' सी झूठे खाकर बिल्ली हज्ज करने चली है', यह
सूचित याद आती है । भला वहाँ क्या संस्कृति की ज्योति होगी,
जहाँ मांस भक्षण, मदिरा पान तथा जीव वध सदृश पाप कृत्यों में जरा
भी दोष नहीं दिखता है ? यहाँ तो संस्कृति का शव भी नहीं है । वह
तो विगुद्ध पाखंड है । सर्वोदय का पथ इन्हीं सतों के जीवन में है, उपदेश
में है, प्रवृत्ति में है । अहंकार को छोड़कर सच्चे कल्याण के प्रेमियों को
इनसे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए ।

गोसलपुर में विमानोत्सव हुआ । मुनि नेमिसागर महाराज का
केशलोच भी हुआ । बहुसंख्यक ग्रामीणोंने गुरु दर्शन द्वारा पुण्य का बंध किया ।

यह २ नगरों में लाखों आदमियों की भीड़ इकट्ठी होती है । उसे
देखकर बड़ी प्रभावना की कल्पना होती है, किन्तु परिग्रह के जाल में
जकड़े हुए लोगों में एक कान से सुनने के बाद दूसरे कान से उड़ा देने की
अपरिहार्य आदत होती है । अतः वहाँ की प्रभावना प्रायः ऊसर भूमि में
वर्षा सदृश होती है । ग्रामीणों में दिए गए उपदेश का ऐसा ही असर
होता है, जैसे खेत के भीतर पानी के बरसने का होता है । दिगम्बर
मुनिराज की पैदल यात्रा के द्वारा इतने जीवों का कल्याण होता था, जिसका
घर बैठे आदमी अनुमान नहीं कर सकता है । भोले लोग इन सतों के पास
आते हैं । उन्हें बातें बताना नहीं आता है । इनका विगुद्ध जीवन देखकर
वे सहर्ष कुछ द्रत ले लेते हैं । श्रद्धापूर्वक दृढ़ता के साथ पालन करते हैं
और आगामी उज्ज्वल जीवन के योग्य अपार पुण्य का संचय करते हैं । इन
सतों की महिमा यथार्थ में भव्य जीव ही जानते हैं ।

आचार्य महाराज की आत्मा तपश्चर्या के द्वारा अत्यन्त पवित्र हो
चुकी है, इससे उनकी आत्मा भविष्य के सम्बन्ध में महत्व की बातें प्रायः
पहले से ही बता देती है । लोग पहले उस कथन को सामान्य वचन
समझते हैं, किन्तु सत्य प्रमाणित होते देख महाराज के पूर्वकथित शब्द स्मरण
में आ जाते हैं ।

भविष्य की बातों
की पूर्व ही दर्शन

सन् १९४७ में महाराज ने वर्षायोग सोलापुर में व्य-
तीत किया था । मैं भी गुरुदेव की सेवा में यहाँ मैं
पहुँचा था । एक दिन यहाँ के समय पूज्य श्री के मुख

से निकला "ये रजाकार लोग हैदराबाद रियासत में बड़ा पाप, बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। इनका अत्याचार सोमा को लाघ रहा है। इनको अब खतम होने में तीन दिन से अधिक समय नहीं लगेगा।"

महाराज के मुख से ये शब्द सुने थे। उसके दो चार रोज बाद ही सरदार वल्लभभाई पटेल के पथ प्रदर्शन के अनुसार हैदराबाद पर भारत सरकार ने पुलिस कार्यवाही (Police Action) रूप आक्रमण कर दिया, और तीन दिन के भीतर ही हैदराबाद ने भारत सरकार के समक्ष घुटना टेक दिया।

इसके अनंतर मैंने आचार्य महाराज से कहा—"महाराज! उस दिन आपके मुख से हैदराबाद का जो भविष्य निबला था, यह पूर्णतया ठीक निकला। यह बताइये, इसका कैसे पता चल गया, आप तो राजनीति आदि की खबरों से अत्यन्त दूर रहते हैं।"

महाराज ने कहा—"हमारा जैसा हृदय बोला, वैसा हमने कहा था।"

यथार्थ में जैन धर्म में ज्ञान के विकास के लिए मोहनीयकर्म के क्षय को प्रथम स्थान दिया है, वह महत्व को बात है। मोह शत्रु को जीतने से आत्मा में सहज विशुद्धता उत्पन्न होकर अद्भुत ज्ञान-ज्योति व्यक्त होती है, जैसे मेघ का आवरण दूर होने पर सूर्य का प्रकाश प्रगट हो जाया करता है।

एक बार सुन् १९४८ की जनवरी में आचार्य महाराज ने विहार करते हुए सिप्य मंडली से कहा था—"हमें हमारा हृदय कहता है कि देश में कोई भयंकर अनिष्ट शीघ्र ही होगा।" महाराज के इस कथन के दो चार रोज बाद ही गोडसे ने गांधीजी को निर्मम हत्या की थी। उस समय सब बोले, "महाराज के ज्ञान में भारी घटनाओं की विशेष सूचना प्रायः स्वतः आ जाया करती है।"

संघ के निमित्त से गौसलपुर समाज को अपार आनंद आया। जीवन में ऐसे पवित्र और मांगलिक अवसर कब कब आया करते हैं? अतः वहां श्री जी को विमान पर विराजमान कर जल-विहार उत्सव हुआ।

यहां मुनिराज का केश लोच भी हुआ था। यहां के पश्चात् सप् १६ दिसम्बर को पनागर पहुंचा। वहां जैनियों के ५० घर हैं। सातित्नाथ भगवान की ऊंची और मनोह्र मूर्ति है। पहले यहां भट्टारक की गद्दी रही है। ता: १७ दिसम्बर को आचार्य सातित्नाथ महाराज ने केश लोच किए।

केशो का शरीर से अलग करना कलक मोचन सरीखा कार्य है। यह अत्यंत तुच्छ काम है किन्तु यही तुच्छ कार्य तपस्विनियों की तपस्या का अंग बन जाता है और वे मशीन आदि के बिना हाथ से ही उखाड़े जाते हैं, तो दर्शकों की आत्माओं को भी प्रभावित करते हैं और सभी लोग सोचने लगते हैं कि सच्चे साधु महात्मा तो ये लोग हैं, गाँजा चरस पीने वाले व्यर्थ में साधु का नाम लगाकर उस पद को दूषित करते हैं। ऐसे व्यसना में लिप्त साधुओं से तो सदाचारी गृहस्थ लोग अच्छे हैं। जब तक इन्द्रिय जय नहीं होता है, तब तक साधु महाराज प्रायः स्वादु महाराज कहे जाने के पात्र हैं। आचार्य महाराज का केशलोच बड़ा अद्भुत होता है। उसमें अधिक समय नहीं लगता है। उसे देखकर ऐसा लगता है, कि यह पूर्व जन्म का अभ्यस्त सरीखा है। तिनका के तोड़ने के समान केशो का लाच प्रतीत होता है, किन्तु केश लोच किन्तनी साधना और मनोनिग्रह का काम है, इसके परीक्षण के लिए अपने सिर के बालों को खँचकर अनुमान हो सकता है। अभी वाराणसी चातुर्मास में आचार्य शान्तिसागर महाराज का केशलोच देखकर मैंने पूछा था—“महाराज ! केशलोच में आपको कष्ट तो होता होगा ?”

महाराज बोले—“लगभग ४० वर्ष हो चले, तब से यह कार्य बर रहे हैं, अब कुछ नहीं मालुम पड़ता है।” यथार्थ में आचार्य श्री का इन्द्रिय दमन अपूर्व है।

पनागर के समारंभ में जबलपुर की बहुत सी समाज भी आ गई थी। इससे वहाँ की शोभा और बढ़ गई थी। सध का पनागर आना ही जबलपुर के भाग्य उदित होने के उप-बाल सद्गथा।
घामिक लोग सोच रहे थे, यहाँ कब सध आना है ?

शनिवार के प्रभात में सध जबलपुर के लिए रवाना हुआ।

जबलपुर के अपारताल के पास लोगो ने योगिराज का भव्य स्वागत किया। सध ने आकर मिलौनीगज के मंदिर की वदना की। पश्चात सध गोलबजार की तरफ रवाना हुआ। हजारों नर नारियों का समुदाय इन संतराज के स्वागतार्थ इकट्ठा हुआ था। बटनी के बाद से अब आचार्य महाराज एक दिन के अतराल से आहार लिया करते हैं। बटनी में तो उनका त्याग बड़ा कठिन रूप में था। पाँच पाँच छह छह उपवास करना साधारण सी बात थी। यह होने हुए भी घामिक कार्यों में प्रमाद का रेश

नहीं था। महाराज का सघ जैन बोर्डिंग गोलबजार में विराजमान था। मुनियों के आहार के बाद जैन व्यापारी अपनी अपनी दुकानें खोलते थे। जब धर्म पुस्तकें का लाभ हो रहा है, तब चतुर समाज ने यही सोचा, कि अमूल्य अवसर पर उस धर्म निधि का संचय करना ठीक होगा। 'धर्म' सुखस्य हेतुः—“यही धर्म ही तो सुख का हेतु है।”

२९ दिसम्बर को जवलपुर के नागरिकों के विशाल समुदाय के समक्ष नेमिसागर मुनिराज का केशलोच हुआ था। सघ के साधुओं द्वारा सदा धर्माभूत की वर्षा हुआ करती थी। आचार्य महाराज की आदत वचनगुप्ति की विशेष रहती है। अतएव लोग उनके उपदेश के थोड़े से शब्दों को बड़ा ध्यान देकर सुना करते थे। उनके प्रत्येक शब्द के पीछे अनुभव और गंभीर चिंतना का भाव प्रगट होता था। महाराज की वाणी में यह बड़ी बात है कि वह तत्काल अंतःकरण को शांति और आनंद प्रदान करती है। लोगों के मन में यही लगी रहती है, कि महाराज के मुख से कब शब्द सुनने में आते हैं। आचार्य महाराज सदा आगम के अनुसार ही कथन करते हैं। श्रुत का अभीक्षण अभ्यास रहने से अंतराकरण, विचार, बुद्धि अत्यंत परिष्कृत हो गई है। अतः वे कभी भी आगम के विरुद्ध एक शब्द नहीं कहेगे। एक बार महाराज ने मुझसे कहा था—“हम

जिन वाणी की भक्ति एक अक्षर भी आगम के विरुद्ध नहीं बोलते हैं। जिन धर्म, जिन वाणी में हैं। उस जिन धर्म से तुम्हें सर्व पदार्थ प्राप्त होंगे।

जिन वाणी के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। प्रायः देखा जाता है, परिस्थिति देखकर तथा लोगों को अनुरजित करने के लिए लोगों के मुख से ऐसी बात निकल जाया करती है कि शास्त्र पुराने जमाने में लिखे गए हैं, आज की स्थिति दूसरी है। आज वे रचे जाते तो उनका रूप दूसरा होता। ऐसी आगम के विषय में आचार्य महाराज की श्रद्धा नहीं है। उनकी अधिकतर श्रद्धा है कि जो कुछ आगम में लिखा है, वह सर्वज्ञ की वाणी है, अतः पूर्णतया सत्य, निर्दोष तथा अबाधित है।

उच्च मार्गव भाव आचार्य महाराज का प्राण आगम है, उसके विरुद्ध न वे एक शब्द बोलेंगे, और न विपरीत प्रवृत्ति ही करेंगे। इतने बड़े आचार्य की नम्रता की कोई सीमा है जब वे कहते हैं—“यदि हमें एक क्षण भी आगम साक्षर बतलावेगा, कि हमने भूल की है, तो हम तुरन्त अपनी भूल को सुधारेंगे।” एक बार महाराज ने कहा था—

“यदि हम आगम के विरुद्ध बोलेंगे, तो हमें दोष लगेगा। इससे हम सदा आगम के अनुकूल ही कहेंगे।” सत्य महाव्रत की भावना में अनुवीचि भाषण आगम परंपरा के अनुसार कथन करने का जो उल्लेख आचार्य उमास्वामी ने किया है; वह आदेश उनके हृदय में विद्यमान है। इससे प्राण जाने पर भी वे आगम के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहते हैं।

मधु भक्षण में एक दिन मैंने पूछा—“महाराज आज कल लोग मधु खाने की ओर उद्यत हो रहे हैं, क्योंकि उनका कथन है, कि अहिंसात्मक पद्धति से जो संसार होता है, उसमें दोष नहीं है।” महाराज ने कहा—“आगम में मधु को अगणित दस जीवों का पिण्ड कहा है, अतः उसके सेवन करने में महान पाप है।”

मैंने कहा, “महाराज सन् १९३४ में मैं वहाँ आश्रम में गांधी जी से मिला था। उस समय वे करोड़ पाव भर सहद खाया करते थे। मैंने गांधी जी से कहा था कि—‘आप अहिंसा के बारे में जिन महावीर भगवान के उपदेश को श्रेय देते हैं, उनसे अहिंसा के प्राथमिक आराधकों के लिए मांस, मद्य के साथ मधु को त्याज्य बताया है, अतः आप जैसे लब्ध प्रतिष्ठ अहिंसा के भक्त यदि सहद सेवन करेंगे तो आपके अनुयायी भी

इस विषय में आपके अनुसार प्रवृत्ति करेंगे।” इस पर मक्खी का वमन गांधी जी ने कहा था—“पुराने जमाने में मधु निकालने मधु है। वमनभक्षण की नवीन पद्धति का पता नहीं था, आज की पद्धति से करना अयोग्य है। निकाले गए मधु में कोई दोष नहीं दिखता है।” इस चर्चा को सुनकर आचार्य महाराज बोले—“मक्खी पुष्पो के भीतर के छोटे २ कोड़ी को और उनके रस को खा जाती है। खाने के बाद वह आवश्यकता से अधिक रस को वमन कर देती है। नीच गोत्री विकलप्रय जीव का वमन खाना योग्य नहीं है। वमन में जीव रहते हैं। वमन खाना जैन धर्म के मार्ग के बाहर की बात है। मूक का खाना अनुचित कार्य है।” महाराज ने यह भी कहा था “जो बात केवली के ज्ञान में श्लक्ष्णी है, वह साइन्स में नहीं आती।”

महाराज के संघ ने आधुनिक शिथिलाचार पूर्ण प्रवृत्तियों की आलोचना करके समाज का कुमार्ग में पतन रोका था। महाराज जो कहते थे, वह किसी के कहने से नहीं, हृदय की प्रेरणा से कहते थे। वे इतने उच्च ज्ञान धान हैं कि बड़े बड़े विद्वान उनके ममक्ष चर्चा करते समय खवाब हो

जाते हैं। वे महाराज के प्रश्नों और युक्तिवाद का उत्तर नहीं दे सकते हैं, अतः उनको प्रभावित किये जाने की जो बात सोचते हैं, उनमें सत्य का अंश भी नहीं है। आगम के प्रमाण बनाकर कोई भी व्यक्ति आचार्य श्री को प्रभावित कर सकता है और आगम के विरुद्ध विघाता भी आकर उनकी श्रद्धा को विचलित नहीं कर सकता।

आज के युग में सामाजिक संगठन और सदाचार रक्षणार्थ सज्जातित्व की रक्षा को आवश्यक बताते थे। शीलधर्म के प्रचार को महाराज ने बहुत प्रेरणा दी। उनके महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का और उपदेश का प्रभाव है, कि दक्षिण प्रान्त में जो धरेजा, पाठ, या पुनर्विवाह की कुछ समय से पुरा प्रचार में आई थी, उसका प्रचार बहुत मात्रा में न्यून हो गया, तथा उत्तर प्रान्त में जो बाबा शीतल प्रसाद जी के प्रयत्न से विधवा विवाह का व्यवस्थित आंदोलन आरंभ हुआ था, उसका भी तत्काल मूलोच्छेद हो गया। इस प्रकार आचार्य श्री ने स्वयं तथा संघ के साधुओं के द्वारा शील सदाचार का पोषण करके मोक्षमार्ग की उज्ज्वल प्रवृत्ति को लाञ्छन रहित रखा। लोक रक्षि को देखकर लोक कल्याण को लक्ष्य में रखकर उपदेश देते थे। उनके हाथ से कटु औपधि भी लोगों को अच्छी लगती थी।

लोक रक्षि नहीं, आचार्य सोमदेव ने लिखा है “जो वक्ता श्रोताओं की लोक कल्याण को इच्छानुसार उपदेश देता है, वह कलिकाल के अंग सदृश है। देखकर उपदेश मार्ग दर्शक सन्मार्ग का दर्शन करने में प्रशंसा प्राप्ति के बदले कल्याण को विशेष रूप से विचारता है। पं.

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है। ‘‘यदि कोई व्यक्ति नेता है तो उसका कर्तव्य है कि वह मार्ग प्रदर्शन करे, न कि जनता की आज्ञा का पालन करे।’’ मार्ग दर्शक का कार्य चिकित्सक के सदृश समाज की नीरोगता का संपादन, संरक्षण तथा संवर्धन रहा करता है। प्रायः देखा जाता है अत्यन्त विवेकी व्यक्ति भी रोगाकुल हो अपत्य सेवन की लालसा करता है। चिकित्सक रोगी को झूठ के विषय लंघनादि, कटु और कठोर उपाय बताता है और कहता है, यदि तुमने हमारे कथनानुसार प्रवृत्ति न करके स्वच्छंदता दिखाई तो तुम्हारे जीवन की रक्षा

१ If he is a leader, he must lead and not merely follow the dictates of the crowd.

Mahatma by Dr. Tendulkar, forward Pt. Jawaharlal Nehru. P. XI

न होगी। इसी प्रकार भोग, मोह, तथा विषयान्ध व्यक्तियों को आचार्य महाराज आगमोक्त ओपधि देते हैं, उनका कष्टना पूर्ण हृदय यही चाहता है कि इस जीव का कल्याण हो तथा साथमें समाज मोक्षमार्ग में संलग्न हो जावे। ऐसे अवसर पर एक विचित्र बात देखने में आती है। बीमार व्यक्ति डाक्टर या वैद्य के पास जाता है और उसकी राय के अनुसार काम करता है। रोग के विषय में वह किसी वकील, जज या प्रोफेसर के कथन को महत्व नहीं देता है, कारण यह जानता है, कि ये शरीर शास्त्र में निष्णात नहीं हैं। अतः उस विषय में ये प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। यही नियम आगम के विषय में लगना चाहिए, किन्तु उसमें अधिकार की बात तो दूसरी, उस विषय से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति उस विषय में जीवन भर साधना करने वालों के गुरु बनकर उसको ज्ञान देने का साहस करते हैं तथा अपनी विषयों के वशवती मनोवृत्ति के अनुसार चलने का आग्रह करते हैं। वहाँ ये भूल जाते हैं, कि जिस विषय का हमें तनिके भी परिचय नहीं है, उसके बारे में अपने को विशेषज्ञ मान अभिमत देना सत्य के प्रवाश में अन्याय होगा।

कई लोग अखबारों के पाठी वन अपने को द्वादशांग का पाठी सामान तत्त्वतः निरक्षर भट्टाचार्य के भाई होते हुए भी गुरुकी वाणी को अपने अनुभव तथा अध्ययन क्षूण्य ज्ञान की कसौटी पर कसकर अयोग्य बताने का साहस करते हैं और भक्ति लोगों को भ्रम में डालते हैं। ऐसे लोगों का तो आज बोल वाला दिखता है।

एक कवि कहता है—

“फूटी आख विवेक की भला करै जगदीस।

कंचनिया को तीन सी घनीराम को तीस ॥”

ऐसे अवसर पर जनता के प्रमाण पत्र या प्रशंसा की तनिक भी परवाह न कर आगम के मार्ग का प्रतिपादन करना महापुरुषों का काम है। लघु आत्मा बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर उस काम को ही करती है, जिसमें उसको प्रशंसा (Cheap Publicity) मिले। सत्पुरुष कष्ट सहते हुए भी न्याय के मार्ग पर चलना कल्याणप्रद मानते हैं। अतएव आचार्य संघ के द्वारा लोक कल्याण, सामाजिक सुव्यवस्था एवं सदाचार के रक्षणार्थ पश्चिम की पवन के विरुद्ध विधवा विवाहादि के निषेध का जोरदार

प्रचार किया जाता था। शील के पथ पर चलकर ही सती सोता नारी जाति के गौरव की निधि बनी। उसी पथ पर चलने से मातृजाति का हित है। महाराज के संव द्वारा व्यवहार और निश्चय दोनों धर्मों का उपदेश दिया जाता था। साधारण जन समाज के लिए व्यवहार चरित्र, शील, सयम, सदाचार का उपदेश दिया जाता था; तत्त्वज्ञों के लिए उच्च चर्चा की सामग्री गुरुदेव तथा सध के ज्ञानी, अध्ययनशील, चित्तक साधुओं द्वारा प्राप्त होती थी।

जबलपुर बड़ा नगर है। जैनियों की संख्या भी लगभग पाँच छह हजार है। उनमें उच्चकोटि के विश्वविद्यालयों की उपाधिधारी भी अनेक व्यक्ति हैं। वे लोग स्वतंत्र विचार तथा आचार को पसंद करने वाले होते हैं। उनके हितार्थ चंद्रसागर महाराज, वीरमागर महाराज आदि धर्म की मार्मिक देशना करते थे। आचार्य श्री की वाणी तो दुग्ध में से घृत के समान छार चाट की कहती थी। महाराज की प्रकृति कम बोलने की, अधिक ध्यान, मनन, चिंतन करने की रही है। विशेषज्ञों के आने पर वे सूक्ष्म चर्चा जी खोल कर करते हैं, साधारण लोगों के समक्ष वे अपने शिष्यों द्वारा तत्वोपदेश दिलाते हैं, और बीच में कभी कभी अपनी अमृत वाणी से अनुभव की मधुर चर्चा करते हैं, जिनसे श्रोताओं का सशय टिक नहीं पाता।

जो आचार्य महाराज के निकट आता है, उसे ज्ञात होता है कि वे अत्यन्त सुलझे हुए, प्रशान्त, निस्पृह, श्रेष्ठ जीवन वाले चित्तक तथा अप्रतिम अहिंसक सन्त हैं। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ अहिंसा के भाव से भूषित हैं। कुछ लोग शांति सिंधु के समीप न आकर आदत से लाचार होने के कारण लोगों को भ्रमजाल में फंसाया करते हैं, जैसे समवसरण के पास रहने वाले तीव्र मिथ्यात्वी जीव लोगों को कहते हैं, यह सब इंद्रजाल है, यहाँ आपको नहो जाना चाहिए। 'स्वभावो दुरतिक्रमः' स्वभाव का बदलना सावग्य बात नहीं।

‘नीम न मोठी होय खाओ जो घी अरु गुड मे’

जबलपुर में महाकौशल प्रांत के जैनियों का सदा आना जाना लगा रहता है, इससे वहाँ सध के बिराजने से प्रांत भर के लोगों ने लाभ लिया।

मिवनी के जिनालय की चर्चा एक दिन मैंने आचार्य महाराज को मिवनी के विशाल जैन मंदिरों का चित्र दिखाया। उस समय आचार्य श्री ने कहा—“जबलपुर से यह कितनी दूर है?”

मैंने कहा—“महाराज ९५ मील पर हैं ।”

महाराज बोले—“हम जब जबलपुर आए थे, तब तुमसे परिचय नहीं था, नहीं तो सिक्की अवश्य जाते ।”

मैंने कहा—“महाराज ! उस समय तो मैं काशी में रहकर विद्याभ्यास करता था, इसीसे आपसे वहाँ पधारने की प्रार्थना करने का सौभाग्य नहीं मिला ।” मैंने मंदिर के चित्र को जब बताया था, तब अधिक प्रकाश न था, इस कारण एक व्यक्ति ने मुझे कहा—“आप महाराज को ‘दुवारा अच्छे उजड़ेले में यह सुन्दर फोटो बता देना । मैंने ऐसा ही किया, तब महाराज बोले—“बार बार क्या बताते हो । हम जिस चीज को एक बार देख लेते हैं, उसे कभी नहीं भूलते हैं ।” तब स्मरण आया, कि इसी कारण महाराज को अनेक शास्त्रों की असाधारण धारणा हो गई है । महाराज एक बार बताते थे “हम रात्रि को तत्वों के बारे में खूब विचार करते रहते हैं ।” उसी तत्त्वचिंतन के पश्चात् जो अनुभवपूर्ण वाणी महाराज की निकलती है, वह बड़े-बड़े विद्वानों को मुग्ध कर देती है ।

एक बार महाराज जबलपुर के विशाल हनुमानताल के बारे में कहते थे, “बड़ा मंदिर किले के सदृश है” । मढ़ियाजी के प्रशान्त वातावरण की भी उनकी स्मृति बराबर विद्यमान है ।

जबलपुर में जिन धर्म की प्रभावना के उपरान्त विहार कर महाराज ने सहजपुर ग्राम को अपने चरणों से पवित्र किया । वहाँ फाल्गुन वदी तेरस को ऐलक पार्श्व कीर्ति का, जिनको मुनि होने पर लोग कुशुसागर महाराज के नाम से याद करते हैं । सज्जातित्व आदि पर विवेचन हुआ ।

कोई व्यक्ति यह कहे, कि उनकी तो आत्मा की चर्चा करनी चाहिए थी, इन सामाजिक विषयों में साधुओं को पढ़ने की क्या जरूरत है?

यह भ्रम पूर्ण विचार है । जिन समाज हित की बातों का धर्म से सम्बन्ध है, उनके विषय में यदि प्रभावशाली सन्मार्ग का प्रदर्शन न कर, तो स्वच्छदाचरण रूपी व्याघ्र धर्म रूपी यत्स का भक्षण किए बिना न रहेगा । इन सन्मार्ग के प्रभावक प्रहरियों के कारण ही समाज का शील और सयम रूपी रत्न कुशिक्षा तथा पाप-प्रचार रूपी डाकूओं द्वारा लुटे जाने में बच गया ।

स्वच्छदाचरणरूपी व्याघ्र से समाज के रक्षक

यह भ्रम पूर्ण विचार है । जिन समाज हित की बातों का धर्म से सम्बन्ध है, उनके विषय में यदि प्रभावशाली सन्मार्ग का प्रदर्शन न कर, तो स्वच्छदाचरण रूपी व्याघ्र धर्म रूपी यत्स का भक्षण किए बिना न रहेगा ।

इन सन्मार्ग के प्रभावक प्रहरियों के कारण ही समाज का शील और सयम रूपी रत्न कुशिक्षा तथा पाप-प्रचार रूपी डाकूओं द्वारा लुटे जाने में बच गया ।

किसी नगर में प्लेग की बीमारी फैली हो, तो वहाँ बीणा लेकर वादन करने में मग्न होने वाले गायक को कहा जायगा, इस समय आप बीणा के तारों को विधाम करने दीजिए, यह समय गायन का नहीं है। रोगी व्यक्तियों को औषधि देकर उनके क्षुब्ध निवारण का काल है, इसी प्रकार जन उच्छ्वसलता की लपटें संयम के सदन को दग्ध करने को, स्फुल्लिग पीकना शुरू करें, तब उस अग्नि को प्रशान्त किमे बिना श्रेयोमार्ग कहा मिलेगा ?

एक समय था, जब गृहीत मिथ्यात्वी जिनेन्द्र के शासन पर आक्रमण करत थे, उस समय समन्तभद्र अकलंक सदृश तार्किकों ने अपने तर्क-चक्र के प्रहार से जैन संघ का रक्षण किया। अब वह समय बदला और जैन संस्कृति और सदाचरण पर अपने ही भाइयों द्वारा प्रहार होना आरंभ हुआ, तब आगमज्ञ परम हितैषी आचार्य महाराज की दृष्टि में यही बात उचित लगी, कि इस समय समाज में घटते हुए शिथिलाचार को रोकने का उद्योग करना चाहिए।

सहजपुर में सहज ही में अच्छी प्रभावना हुई। अन्य लोगों ने मद्य मांसादि का त्याग किया। बहुत से मुसलमानों ने हिंसा का त्याग किया। समर्थ आत्मा का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस सन्मार्ग के उपदेश द्वारा भव्य जीवों को महाराज वह निधि दे रहे थे, जिससे यह जीव ब्रह्म की अनादि कालीन मरतन्त्रता के बंधन को काटकर एक दिन मृत्यु का विजेता हो शाश्वतिक, शान्ति और अनंत शक्ति का स्वामी बनेगा। यह कार्य भौतिक स्वाधीनता प्रदान के गौरव से अनंत गुणा महत्त्व रखता है। कारण, यह पुद्गल की परतन्त्रता को दूरकर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य का मार्ग बताता है। इस परा विद्या के प्रकाश के आगे तीन लोक का राज्य तुच्छ है। आचार्य श्री के द्वारा वही प्रकाश प्राप्त होता है, जो हिये की आखें खोल देता है; तब आत्मदर्शन से बढकर और कोई बात चित्त को नहीं लगती है।

सहजपुर के बाद सहपुरा का भाग्य जगा। सारे गांव के लोग आराध्य देव के स्वागतार्थ लगभग दो मील पहले से इकट्ठे हो गये थे। सबने इन संतो की चरण-रज से अपने को पवित्र किया और उनके दयामय उपदेश को माना। बहुत प्रभावना हुई।

संघ इसके बाद वाढ़ी वाढ़ा आया। वहाँ संकटों व्यक्तियों ने शिकार,

सराव, माँसाहार आदि का त्याग किया। अनेक ग्रामों के जीवों का कल्याण करता हुआ संघ गोटेंगाँव पहुँचा। यहाँ लहुरीसेन भाई आए और उनसे स्त्री पुनर्विवाह पृथा के समर्थन में चर्चा चलाई तथा उनसे समानाधिकार के बारे में प्रश्न किए, जिनका समाधानकारी उत्तर दिया गया। मुक्ति के साथ आगम का आधार इन प्रश्नों को समझने में सहायता देता है। दिगंबर जैन धर्म में सर्वत्र शील धर्म की ही प्रतिष्ठा स्थापित की गई है। विधवा विवाह नीतियों का कार्य बताया गया है। जिन व्यक्तियों का कषायोदय से शील के उज्ज्वल पथ से पैर फिसल गया है, उनको आगामी अपनी असत् प्रवृत्ति का समर्थन तथा प्रचार नहीं करना चाहिए। जितना भी पाप से बचा जाय उतना ही कल्याण होगा। जितना संयमपूर्ण जीवन व्यतीत किया जायगा, उतना ही सुख और शांति का लाभ होगा। जिन सामाजिक कुप्रथाओं से आगामी धर्ममय जीवन को धाधा आती है, उनके सुधार करने में हित ही होगा। जो रीति रिवाज धर्म की अभि वृद्धि करते हैं वे सदा सर्वत्र मान्य होने चाहिए। जो ऐसे न हों, वे कैसे आदर के पात्र होंगे ?

इसके पश्चात् संघ ने आसपास के अनेक ग्रामों में जा हजारों व्यक्तियों को मद्य माँसादि का त्यागी बनाने का प्रशस्त कार्य किया। जब संघ 'बेलखेरा गाँव' में आया, तब वहाँ के ब्राह्मणों आदि ने इन परम हंस सद्गुरुओं का पुण्योद्देश सुनकर अनेक निमम लिए और अपनी जैन धर्म के प्रति विद्वेष की भावना का परित्याग किया। इससे कभी न निकल सकने वाला श्री जी का विमानोत्सव बड़े उमंग, उत्साह तथा प्रेमपूर्वक हो गया।

यहाँ से संघ ने पिपरिया के लिए प्रस्थान किया, किन्तु रास्ते में कुछ खेरा ग्राम की अर्जुन जनता द्वारा स्वागत की प्रेमपूर्वक तैयारी होने से संघ को कुछ देर वहाँ ठहरना पड़ा। ऐलक पार्श्वकीर्ति मूद्रादि द्वारा मध्य महाराज के उपदेश हुए। बड़ा प्रभाव पड़ा। माँसादि सामादिक त्याग त्याग का नियम शूद्र भाइयों ने लिया। बहूनों ने अनेक प्रकार के वस्त्र लिए। इससे जीवों का सच्चा हित होता है। अगणित लोगों का कल्याण हो जाना है और दुनियाँ को पता नहीं चलता है, कारण यह मेवा का कार्य अथवा उपकार का काम दिखाने से पूर्णतया शून्य रहता है।

राजनीतिज्ञों का संसार इससे विलक्षण होता है। वहाँ कार्य गूँथ होते हुए भी श्रोताओं की शीर्ष गणना को ही शीर्ष स्थान दे चक्का की सफलता का निश्चय किया जाता है और इसी की चतुर्दिक में बुद्धि बजाई जाती है। नैतिक जीवन को समुन्नत करने के विषय में राजनीतिज्ञों का प्रयास नहीं होता और यदि सामान्य शैली में उसका उल्लेख कर भी दिया तो जनता का अन्तःकरण उससे प्रभावित नहीं होता है। यही कारण है जो हम स्वतंत्र भारत में भ्रष्टाचार का जनता में प्रवेश पाते हैं और उन बड़े बड़े राजनीतिज्ञों तथा उनके पार्श्वचरों में भी उसी पाप प्रवृत्ति को वृद्धि गत रूप में देखते हैं।

यथार्थ में जीव का कल्याण आचार्य की सदृश वीतराग परम तपस्वी संतों को अमृत वाणी द्वारा होता है। साधारणतया रूपया पैसों की दृष्टि पय में रखते हुए कोई कोई कहते हैं, जो कम से कम मूल्य की वस्तुता है और अधिक से अधिक मूल्य की सामग्री देता है वह साधु है। यह परिभाषा किसी तर्क की नींव पर अवस्थित नहीं है, यह तो (arbitrary) स्वेच्छानुसार की गई है। फिर भी इस दृष्टि से देखा जाय, तो इन संतों द्वारा जो कुछ जगत को प्राप्त होता है, वह तो अनमोल है। रत्नों की राशि से भी उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती है। कारण इससे प्राणी को सच्चा जीवन प्राप्त होता है। जैसे कोई वैद्य वृक्ष की जरा सी छाल लाकर मरणोन्मुख राजा का प्राण बचाता है, तो राजा उसका मूल्य लाखों देता है, उस छाल का मूल्य उसके द्वारा संपादित कार्य की श्रेष्ठता के कारण बढ़ जाता है, इस दृष्टि से इन मुनीश्वरों के द्वारा हुआ आत्म कल्याण इतना कीमती है, कि उनका एक उपदेश भव भव तक में कृतज्ञ जीव को उद्धार नहीं कर पाता है।

सर्प युगल को पार्श्वनाथ भगवान ने मरते समय सात्वता के चार शब्द ही कहे थे, किन्तु उस जिनेन्द्र की वाणी से उस युगल ने देवपर्याय पाई, प्रभु पर कमठ ने जब उपसर्ग किया, तब उसे दूर किया, तथा आज भी जो पार्श्व-प्रभु का हृदय से स्मरण करता है, उसके संकट निवारण के लिए सहायता प्रदान करने को यह देवदंपति तत्पर रहा करता है। इस अपेक्षा से संतों द्वारा दिया गया उपदेश इतना मूल्यवान रहता है, कि विद्वत् बैंक की संपत्ति द्वारा भी उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती। इतनी बड़ी वस्तु देते हुए भी वे समाज से कुछ भी नहीं मांगते।

मुनियों का आयाचना श्रत रहता है । भक्तिवश लोग उनकी सेवा में आवश्यक वस्तुएं अर्पण कर कृतार्थता का अनुभव करते हैं । इस सभ द्वारा जो जीवों का कल्याण हो रहा है, वह बड़ी विश्व कल्याण कान्फ्रेंसो, निस्वार्थ भाव वाले सम्मेलनों द्वारा सपन्न नहीं होता है । सच्चे कल्याण का महानदाता प्रकाश वहा ही प्राप्त होता है, जहा ऐसे अहिंसक, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठ, सतजनों का वास होता है । राजनीति का क्षेत्र स्वयं पकिल है । उसमें सलग्न लोगों को इन आदर्शों को देखकर अपने मुख तथा हृदय की मलिनता का शोधन करना आवश्यक है । वे भला कल्याण कहां से दे सकते हैं ? वेचारा अधराज पथ प्रदर्शन का कार्य किस भाति कर सकता है ? अतः सच्चा कल्याण चाहने वाली और मानवता की रट लगाने वाली नेतागिरी को इन सच्चे मानवों से प्रकाश पाना चाहिए । इसके निवाय मंगल मंदिर में प्रवेश का उपायान्तर नहीं है ।

यहाँ से चलकर सभ पिपरिया पहुचा । वहा २० घर परवार समाज वे हैं । विमानोत्सव हुआ । भगवान का महाभिषेक हुआ । इसके पश्चात् सभ कटरा ग्राम आया । वहां के ठाकुर साहब आदि बहुत लोगों ने मद्य, मांसादि का त्याग किया । आगे चलकर कोनी ग्राम मिला । वहा के सहस्रत्र वूट चंत्या-कोनी क्षेत्र दर्शन लय तथा बड़े २ मंदिर मन का खेंचते है । इसी कारण सभ ने वहा तीन दिन निवास किया । आजकल कोनी में मेला लगना प्रारंभ हो गया है । ऐसे धार्मिक निमित्तों से जीव को पुण्य सचय का अनायास सौभाग्य प्राप्त हो जाता है । ये मंदिर भट्टारक नरेन्द्र भूषण के निमित्त से बने थे । आज कोनी में थावको के घर नहीं है, किंतु वहा के जिन मंदिर बताते है, कि जैनियों की अच्छी सहवा रही होगी । आज इस बात की आवश्यकता है कि अपने प्राचीन धर्मायतना, तीर्थों, मूर्तिया की सम्यक् व्यवस्था निमित्त धर्मिता भाई द्रव्य का व्यय करें । लोवरुडि आदि के नाम पर तो हजारों रुपया व्यय करते हर्ष होता है, किन्तु धर्म के कार्य निमित्त उसका शतांश भी निकालने में कष्ट होता है । यह आवश्यक है कि धर्म प्रभावना तथा जीर्णोद्धार के हेतु अधिक द्रव्य व्यय किया जाय ।

यहाँ से चलकर सभ पाटन ग्राम में दो दिन ठहरा । यहाँ करीब २५ घर जैनिया के है । लोगों ने बड़ी भक्तिपूर्वक गुरुआ की सेवा की । अन्य जनता को भी बहुत लाभ पहुचा । जैसे आवाश से वर्षा हानी है, तो सभी खेतों को लाभ होता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज से सभ

से यदि लाभ होता है, तो जैन तथा अन्य सभी भाइयों का हित होता है । महाराज की दृष्टि में सब मनुष्य एक से हैं । इतना ही नहीं सभी प्राणी उनको एक बराबर प्रतीत होते हैं । इसी से वे सब जीवों की रक्षा का उपदेश देते हैं । छोटे छोटे जीवों को भी वे अपना बन्धु मानते हैं और उनके प्रति वधु का व्यवहार करते हैं । निरन्तर पिछ्छी के द्वारा ही उन छोटे जीवों का रक्षण करते हुए वन्धुत्व की भावना को कार्यान्वित करते हैं ।

जब सध का एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार होता था, तब मध्यवर्ती ग्रामों के हजारों जैन भाई-बहिन गुरुदेव के प्रति बड़ी भक्ति प्रदर्शित करते थे । अजैन लोग इन महात्माओं को अपने गुरु से भी बड़कर पूजनीय मान बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करते थे और हिंसा आदि पापों का त्याग करते थे । कटगी पहुँचने पर समाज ने बड़ी भक्ति प्रदर्शित की । लोगों के भाग्योदय से सध ने चार दिन वहाँ धर्माभूत वर्षा की । आगे जब सध सिंगरामपुर पहुँचा तो वहाँ विमानोत्सव किया गया ।

वैमनस्य दूर कर जवेरा में जब सध के चरण पड़े, तब वहाँ की समाज
सौमनस्य स्थापन का वैमनस्य दूर होकर ऐक्य स्थापन हो गया । हाईकोर्ट
भी जिस काम को न कर सके, वह काम इन मुनिराज
के दर्शन मात्र से होता है । उच्च न्यायालय शासन सत्ता के बल पर
अपने आर्डर-आज्ञा को लोगों पर लागू करता है, हृदय की बपायों को
धोना उसकी शक्ति के बाहर की बात है, किन्तु आचार्य शांतिसागर
महाराज के प्रसाद से वैमनस्य दूर होकर सौमनस्य का निर्माण होता है ।
हृदय निर्मल हो जाता है, वैर-विरोध दूर होकर एक अपूर्व स्नेहमयी
सृष्टि हो जाती है । तपश्चर्या का प्रभाव बड़ा विचित्र होता है ।
जवेरा समाज ने अपने में ऐक्य स्थापन करके बड़े उमंग के साथ श्री
जी का जल विहार उत्सव किया । जिस ग्राम, नगर में आचार्य सध का
पदार्पण होता है वहाँ धर्म का उपवन एकदम हरा-भरा हो जाता है,
सब लोग और कार्यों को गौण कर धर्मनीति के सचय में समुद्यत हो
जाते हैं । गाँव के बड़े बड़े प्रतिष्ठित ठाकुरों आदि ने हिंसादि के त्याग
का नियम लिया ।

यहाँ से चलकर सध नोहटा गाँव पहुँचा । यहाँ का मंदिर जीर्ण
स्थिति में था । इस गाँव के बाहर एक प्राचीन मनोशक्तिप्रतिमा जी अष्ट

प्रातिहार्य मुक्त अविनय की स्थिति में पड़ी थी। आचार्य श्री के उपदेशानुसार वह मूर्ति मंदिर जो में लाई गई। जिन भगवान की मूर्ति जिनेन्द्र समान पूज्य है। कवि बनारसीदास लिखते हैं—

“जाकी भगति प्रभाव सो कीनो ग्रथ निवाहि ।

जिन प्रतिमा जिन सारखी, नमें बनारसि ताहि ॥”

जिन प्रतिमा के विषय में महाकवि का कथन बहुत सुन्दर है—

“जाके मुख दरस सो भगति के नैननि को,

थिरता की बानी चढ़ी चंचलता बिन सी ।

मुद्रा देखे केवली को मुद्रा यादि आवे जहाँ,

जाके आगे इद्र की विभूति दिखे तिन सी ॥

जाको जस जंपत प्रकाश जगे हिरदे में,

सोई सुद्धमती होई दुती जो मलिन सी ।

कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,

सोहे जिनकी छवि है विद्यमान जिनसी ॥”

दुःख है कि ऐसी पूज्य प्रतिमाओं के संरक्षण में लोगों का शोचनीय उपेक्षा का भाव है। अभी अभी प्राचीन धारा सभा के एक सदस्य ने बताया था, कि उनको कटनी तथा जबलपुर के बीच में अनेक स्थलों पर इतनी अधिक जिन मूर्तिया मिली, कि जिनको सामान्य पापान सदृश सोचकर कहीं वही लोगो ने अपने मकानों में लगा रखा है। यदि

प्राचीन मूर्ति समाज एक प्राचीन मूर्ति संग्रहालय बनाने का कार्य बने, तो धर्म की सेवा के साथ पुरातत्व प्रेमी समाज का ज्ञान सर्वधर्म भी होगा। जबलपुर के पास मडिया जी के स्थान में आचार्य शांतिसागर महाराज रहे थे। वहाँ ही यदि मोहटा की प्राचीन मूर्ति के प्रति आदर भाव को आदर्श बना उक्त संग्रहालय का कार्य किया जाय, तो श्रेयस्कार होगा। आज सरकारी कानूनों का रूप रंग ऐसा दिखता है, कि उनसे मंदिरों का धन समाज के हाथ में संगृहीत नहीं रह पायगा, ऐसी स्थिति में जिन धर्म के आयतनों में विवेकपूर्वक उस द्रव्य का उपयोग का करना चतुरता का कार्य होगा।

बिन्ही लोगो की समझ ऐसी है, कि मंदिर की संपत्ति का स्कूल, पाठशाला आदि के काम में व्यय करना चाहिए। छात्रों को छात्रवृत्ति देना

चाहिए। गरीब जनों को सहायता देना चाहिए। इस विषय में मैंने एक बार आचार्य महाराज से पूछा था—“महाराज ! मंदिर के द्रव्य का छात्रवृत्ति दान, गरीब जनों की सहायता आदि के कार्य में उपयोग करना क्या उचित है ?”

धर्मादि की रकम महाराज ने कहा—“उन कामों में द्रव्य देना योग्य नहीं है। मंदिर की संपत्ति को जो भी श्रावक खायेंगा, उसका का किसी काम में अहित होगा।” महाराज ने बताया था—“मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्य में यदि द्रव्य का व्यय करो, तो

धर्म का रक्षण होगा”। धर्मादि के द्रव्य के उपयोग के बारे में जोशीले तरुण मनमानी व्यवस्था सोचते हैं, किन्तु इस सवध में आगम के प्रकाश में ही प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर होगा। कई पंडित नामधारी भाई भी लोकमत का समर्थन करके यश लूटने में कृतार्थता का अनुभव करते हैं। आगम की आज्ञा का लोप होकर दुर्गति का भय उनको नहीं रहता है। ऐसे प्रसंग पर आचार्य महाराज से समाज को प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। जिन कुदकुद स्वामी के प्रति समाज अत्युत्कट भक्ति दिखा अपने को कुद कुदान्वय वाला कहती है, तथा ऐसा ही लेख प्रतिमाओं में वाचती है, उन महर्षि की वाणी इस सम्बन्ध में क्या कहती है, उसे बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिए और सान्त्व भाव से विचारना चाहिए, कि लोक-प्रवाह पतन की ओर ले जाने वाला है, या कल्याण की ओर। उनमें रयणसार में लिखा है—^१ “जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिन पूजा, तीर्थ वदना विषयक धन को जो भोगता है, वह जिनैन्द्र के ज्ञानगोचर नरकगति के दुःख को भोगता है।”

ऐसे दुःखों से न पचायनों का प्रस्ताव बचा सकेगा, और न कुछ पंडितों या दूसरों का दिया गया प्रमाण पत्र ही काम आएगा। अन्य संप्रदाय वालों के समान जैन धर्म में कर्मों के भोगने में कोई भी सिफारिस काम नहीं आती है। अतएव लोग विचारकर सोचें, कि मंदिर के द्रव्य को उपरोक्त कामों के विपरीत मनके अनुसार कामों में खर्च करने में

१ जिष्णुद्धार-पविष्टा-जिणपूजा-तित्थवदुण-विरोधघण ।

जो भुजइ सो भुजइ जिणदिट्ठणिरयगई दुवख ॥३२॥”

उनको कितनी बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ेगी । हमें लोकवाणी के स्थान में जिनेन्द्र की वाणी को मानना चाहिये ।

जो भाई धर्मादा की रकम को अपने काम में लाते हैं, और समाज के बीच विषमता तथा विस्वाद के कारण बन जाते हैं उनको महर्षि कुदकुद स्वामी की यह चेतावनी भी वित्त में लाना चाहिए—

“भगवान की पूजादान आदि सम्बन्धी द्रव्य को लेने वाला व्यक्ति पुत्र तथा स्त्री से रहित हो जाता है, दरिद्र, पंगु, मूक, घधिर, अधा तथा चांडालादि नीच पर्यायो में उत्पन्न होता है ।” एक धर्मादा भाई कहते थे, “जब हमारे पास धर्मादा का द्रव्य था, और हमने उसके हिमाय की सफाई नहीं रखी, तब बहुत कष्ट उठाते हुए भी हमारा व्यापारिक जीवन हीन ही रहा आता था, किन्तु जबसे हमने मंदिर की द्रव्य को जलते हुए अंगारे की भाँति समझकर उसका अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध रचमात्र भी नहीं रखा, तबसे जिस काम में हाथ लगाते हैं, श्री जी की कृपा से सफल मगोरप होता है ।

कुदकुद भगवान की यह वाणी भी धर्मादा की रकम में सम्बन्ध रखने वालों को हृदय में रखना चाहिये—

“पूजा-दान में अंतराय कर्न का फल क्षय रोग कुण्ड, मूलव्याधि, शूल, लूत, भगदर, जलोदर, खिसिर, शीत तथा उष्ण की बाधाएँ हैं ।”

इन आगम के प्रकाश में समाज, विद्वज्जन तथा अन्य शिक्षित लोग विचार लें, कि धर्मादा का द्रव्य मन के अनुसार स्वार्थ साधन करने योग्य नहीं है । वह परमार्थ की वस्तु है । जैसे बाहर लगाने वाली औषधि को यदि कोई खा जाय, तो कभी कभी वह रोग मुक्त करने के बदले में रोगी को ही समाप्त कर देती है; इसी प्रकार देव द्रव्य का मन-माना उपयोग विपत्ति का कारण होगा ।

एक दिन मैंने आचार्य श्री से पूछा था—“महाराज ! जब देव द्रव्य पर सरकार की शान दृष्टि पड़ी है, ऐसी स्थिति में उसका क्या उपयोग

१ “पुतबलताविहूरो धारिहो पंगुमूकजहिरपौ ।

चांडालाइ कुजादो पूजादाणाइद्वय हरो ॥३३॥”

२ “क्षयपुट्टमूल मूलो लुनिमयंदर जलोदरखिसिरो ।

सीदुपह्वाहिराई—पूजादानतराय कर्मफल ॥३६॥”

हो सकता है ?”

महाराज ने कहा था—“अपने ही मंदिर में उसका उपयोग करने का मोह छोड़कर अन्य स्थानों के भी जिन मंदिरों को यदि आत्मीय भाव से देखकर उनका रक्षण, व्यवस्था, जीर्णोद्धार आदि में रकम का उपयोग करोगे, तो विपत्ति नहीं आयगी।”

धर्मादा की रकम का ठीक ठीक उपयोग करने से मनुष्य समृद्ध होता है, वैभव संपन्न बनता है। उसी द्रव्य को स्वयं हज़म करने लगे, तो संपत्ति को क्षय रोग लगता जाता है, आदमी पनपने नहीं पाता है। जिन प्रान्तों में मंदिर के द्रव्य को जैनी भाई खाते हैं, वहाँ उनकी दरिद्रता की स्थिति देखकर दया आती है। अतः इस विषय में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति रखना श्रेयस्कर है।

कभी २ बड़े २ व्यापारी लोग धर्मादा के नाम से लोगों से द्रव्य लेते जाते हैं और उसका स्वार्थ साधनार्थ उपयोग करते हैं। यह पद्धति बिल्कुल उल्टी है। वह द्रव्य पारमायिक कार्यों के लिए अमानत के रूप में तुम्हारे पास है। उसके प्रति बेईमानी करना बहुत बड़ा पाप है। अमानत की वस्तु को खा जाने से राजदण्ड भी मिला करता है। अतएव समझदार व्यक्तियों का कर्तव्य है, कि जीर्णोद्धार आदि आवश्यक कार्यों के हेतु विपुल क्षेत्र विद्यमान है, उसकी उपेक्षा करके स्कूल, कालेज आदि पूर्णतया लौकिक कार्यों में परमार्थ सम्बन्धी द्रव्य का उपयोग करना उन दानियों के प्रति प्रामाणिक व्यवहार के प्रतिकूल है, जिनने उस कठिन कमाई के पैसे को मोक्ष मार्ग के हेतु अर्पण किया था। जिन्हें लौकिक कार्यों को प्रोत्साहन देना है, वे नवीन दान की धारा को उस ओर से लगवा सकते हैं, किंतु पूर्व प्रदत्त द्रव्य को आज बहुमत के बल पर रत्नत्रय के साधनों में लगाना अच्छा है वा नहीं है, यह भगवान् कुंदकुंद स्वामी कथित परमाणम के प्रकाश में स्वयं विचार लेवे। हमें प्रतीत होता है, लोगों की आखें खोलने का भी महान् कार्य आगम की आज्ञा से आचार्य श्री ने नोहटा ग्राम के बाहर की प्रतिमा जी को डरना चाहिये मंदिर में विराजमान करने के उपदेश द्वारा संपन्न किया है। दुःख है कि कभी २ तरुण मडली, जो आजकल प्रायः शास्त्रों का स्वाध्याय न करने में प्रवीण होती जा रही है, आगम पक्ष के समर्थकों की बात सुनना तो दूर उनके प्रति तिरस्कार का व्यवहार करती हैं। यह कार्य बड़ा अनर्थ पूर्ण है। आगम-प्रेमियों का

कर्तव्य है, कि वे रचमात्र भी भय न करके सन्मार्ग का प्रतिपादन करें। जिनेन्द्र की आज्ञा से डरना चाहिए, लोगों से डरने से क्या प्रयाजन सिद्ध होगा ?

यहाँ से रवाना होकर सय अमाना ग्राम पहुँचा। यहाँ आचार्य शातिसागर महाराज का केशलोच ज्ञात कर लगभग तीन हजार श्रावको का समुदाय दूर दूर के ग्रामों से आ गया। सब भाइयों के भोजनादि की सुव्यवस्था गाव के मालगुजार सेठ डालचंद गुलाबचंद जी दमोह की ओर से हुई थी। श्री जी का विहार हुआ था। आचार्य महाराज का केशलोच देखकर लोगों के अंतःकरण पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। महाराज की पुण्यमूर्ति कुछ ऐसी अद्भुत है, कि उनकी तपश्चर्या का प्रत्येक कार्य हृदय को खींचता है। उनके व्यक्तित्व में असाधारण आकर्षक है। विलक्षण परमाणुओं से उनके शरीर की रचना हुई प्रतीत होती है। हमने देखा है, महाराज चुप बैठे हैं, किसी से कुछ नहीं कहते, फिर भी सैकड़ों व्यक्ति उनको देखने की ही बँटें रहते हैं। सभा में महाराज आये, तो ऐसा लगता है कि जीवन आ गया, बाहर गए, तो ऐसा लगता है, चेतना बाहर चली गई हो। उनके निमित्त से सहज ही धर्म की ओर भाव झुकते हैं।

आचार्य श्री के आदेश को पाकर चंद्रसागर जी तथा पार्श्वकीर्ति ऐलक महाराज के भाग्य हुए। उनसे उस समय प्रचलित विवाद की बातों पर—स्त्री पुनर्लग्न तथा असवर्ण विवाह के दोषों पर प्रकाश डालते हुए शील-धर्म की महत्ता पर जोर दिया।

चरित्र हीनो की उन्नति क्षणिक होती है

आज वर्णभेद प्रवृत्तिवाले पश्चिम के गुरुओं के तत्वा-वधान में शिक्षित आर्य-भू-प्रसूत लोग भी अपनी सत्प्रवृत्तियों तथा उच्च आचार को छोड़ वहाँ की विषयों तथा इद्रियों का पोषण करने वाली हीन प्रवृत्तियों को आदर्श मानने लगे हैं, क्योंकि पश्चिम की आधिभौतिक उन्नति देखकर वे चकित हो गए हैं और अपने आध्यात्मिक विचार तथा आचार को उपेक्षा योग्य सोचते हैं। श्रावको का कर्तव्य है, कि सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थंकर परम-देव द्वारा प्रकाशित पथ पर प्रवृत्ति करें। कुछ क्षण पर्यन्त पूर्व पुण्योदय वंश हीन प्रवृत्ति वालों की उन्नति भी दिखे, किंतु उसे क्षणिक जान मार्ग से भ्रष्ट नहीं होना चाहिये। हीन प्रवृत्ति सदा हीन ही रहेगी यदि वा कथन है—

“कोटि जतन फोऊ करो परै न प्रवृत्तिहि नीच।

नल बल जल ऊँचे चढे, तउ नीच को नीच॥”

ध्यागम, युक्ति तथा अनुभव के प्रवाश में किया गया विवेचन समाज को सदेह मुक्त करने में बड़ा उपयोगी रहा। अमाना से लगभग ६ मील पर पिपरिया ग्राम मिला। यहाँ जिन मंदिर हैं। यहाँ तीस, चालीस व्यक्तियों ने हिंसा, मद्य, मांस का जीवन पर्यन्त त्याग दिया। बड़े आनंद वैभव के साथ भगवान का अभिषेक तथा पूजन संपन्न हुए। यहाँ से तीन मील पर वादनपुर ग्राम है। यहाँ समाज ने विमानोत्सव किया। नैमिसागर महाराज का वेशलोच हुआ। वहाँ से चलकर तिनगी ग्राम के जिनालय के दर्शन करके सब पटेरा ग्राम में आया।

कुडलपुर यहाँ से अतिशय क्षेत्र कुडलपुर तीन मील लगभग है।

यह बड़ा सुन्दर क्षेत्र है। ६४ जिन मंदिर हैं। कुडला कृति पर्वत है। यात्रा बहुत सरल तथा सुखद है। यहाँ महावीर भगवान की पचासन प्रतिमा बड़ी भव्य, नयनामिराम तथा प्रभावोत्पादक है। १४०० वर्ष प्राचीन है। उचाई लगभग १२ फुट है। मूर्ति यक्ष यक्षी सहित है।

ऐसी प्रसिद्धि है कि यवनराज औरगजेव की शूर दृष्टि इस मूर्ति पर पड़ी और उसने इस मूर्ति ध्वंस के लिए कर्मचारियों को आदेश दिया, किन्तु कुछ चाभत्कारिक घटनाओं ने उस अत्याचारी शासक के अंत वरण में मूर्ति के प्रति आदर भाव जागृत कर दिया। ऐसी जन-श्रुति है कि जब मूर्ति तोड़ने को अगुली पर छैनी का निर्मम प्रहार हुआ, तो मूर्ति से दुग्ध की धारा निकल पड़ी। इससे वह विस्मित हो गया था। दूसरी घटना यह हुई कि मधु मक्षिकाओं के प्रचण्ड आक्रमण से सैन्य दल भी घबड़ा उठा, इससे यह मूर्ति सौभाग्यवश आज तन सुरक्षित रह सकी। मूर्ति की श्रेष्ठ कला शिल्पी को अमर कर गई। स्थापत्य कला कौविदों के लिए भी कुडलपुर ऐसा ही तीर्थ है, जैसा कि वह आध्यात्मिक शांति प्रेमियों के लिए बदनीय पुण्य स्थल है। पर्वत पर का प्राकृतिक वातावरण मूर्ति की प्रशान्त, दिग्मन्वर तथा ध्यानमय मुद्रा के आनंद को अत्यन्त उद्दीप्त कर देता है। मूर्ति को बड़े-बाबा के नाम से पुकारते हैं। जन साधारण में बड़े बाबा की भक्ति का चमत्कार अतिशय के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति में अद्भुत आकर्षण है। एक बार दर्शन करने से जो नहीं भरता, पुनः पुनः दर्शन करने की पुण्य लालसा जागृत होती है।

बुदेलखंड केशरी महाराज छत्रसाल महावीर भगवान

महाराज छत्रसाल के बड़े भक्त थे । उनके वंशज पन्ना नरेश आज भी
की महावीर कुडलपुर को अपनी भक्ति का विशिष्ट स्थल मानते
भगवान के प्रति हैं । महाराज छत्रसाल के द्वारा भेंट में अर्पित एक बड़ा
भक्ति

पाल मंदिर के भंडार में विद्यमान है । मंदिर के बहि-
द्वार पर छत्रसाल महाराज के समय का एक शिला-लेख खुदा हुआ है ।
विक्रम संवत् १७५७ में जो मंदिर के जीर्णोद्धार के उपरांत महापूजा हुई
थी, उस समय उस समारंभ में महाराज छत्रसाल पधारे थे । इस क्षेत्र के
सर्वधर्म के लिए समर्थ श्रीमानों तथा दानवीरों का ध्यान जाना आवश्यक
ह । आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विकास के लिए यह अपूर्व स्थल है । महावीर
प्रभु की मनोज्ञ मूर्ति, क्रूर, निर्दय, निर्मम मानव में भी पवित्र तथा विमुक्त
भावों को जागृत किए बिना न रहेंगे ।

इस क्षेत्र की वदना से सध को अपूर्व आनंद तथा बड़ी शांति मिली ।
आचार्य महाराज के आकर्षण से हजारों जैन यात्री इकट्ठे हो गये थे ।
फागुन सुदी चौदस को महावीर भगवान का महाभिषेक पूजन हुआ ।
धर्मोपदेश, तत्व-चर्चा, गुरुदर्शन आदि के द्वारा वह अष्टान्तिका का उत्सव
चिरस्मरणीय हो गया । ऐसा महत्त्वपूर्ण सत्समागम जीवन में फिर सुलभ
नहीं है । सबके हृदय में आचार्य श्री के प्रति अगाध भक्ति थी । अतः उन
पर संघ के धर्मोपदेशों का अच्छा प्रभाव पड़ा । जिनके भाव शिष्याचारी
बन रहे थे, उनकी शकाओं का निराकरण होने से उनकी श्रद्धा सुदृढ़ हुई ।
यह यात्रा बहुत मंगलदायिनी हुई । अच्छी धर्म प्रभावना हुई ।

इसके पश्चात् सध दमोह आया, वहां के दर्शन के उपरांत, वह ओरसा
ग्राम गया । वहाँ एक विशिष्ट घटना हो गई ।

आचार्य महाराज को वहां कष्ट न हो, इसलिए दमोह के सेठजी ने
एक घर को साफ कराया था । महाराज के आने पर उनसे कहा "महाराज
ओरसा ग्राम में यह घर आपके लिए ही हमने साफ करवाया है ।" विशेष
कर अपने निमित्त से उद्दिष्ट किए गए घर में ठहरने
दश-मशक परीपह पर गृहस्थ द्वारा किए गए सावध कर्म का दोष इन सर्व
की सन्म्यभाव से सावध त्यागी मुनिराज पर आया । इससे महाराज ने
सहन करना उस घर को अपने ठहरने के अनुपयुक्त समझा, अतएव
वे रात भर बाहर की जगह में ही ठहरे । दिगम्बर शरीर पर ढास मच्छरों
की बाधा का अनुमान किया जा सकता है । जब एक मच्छर भी अपने दश

प्रहार और भनभनाहट से हमारी नींद में बाधा पहुँचा सकता है, तब अगणित डास और मच्छर दिगम्बर शरीर को कितना न त्रास देते होंगे ? महाराज ने उस उपद्रव को साम्य भाव से सहन किया । यह दिगम्बर मुनि श्री की श्रेष्ठ चर्या हैं । इसमें जरा भी शिथिलाचरण को स्थान नहीं है । यही कारण है, कि इस सिंह वृत्ति को धारण करने में जगत के बड़े बड़े वीर डरते हैं । महावीर प्रभु के चरणों का असाधारण प्रसाद जिन महाभक्तों को प्राप्त हुआ है, वे ही ऐसे कठार एवं भोषण वष्ट सकुल श्रमण जीवन को बर्मे निर्जराका अपूर्व कारण मान सहर्ष स्वीकार करते हैं । वे अपने हाथ से मच्छरों, डासों को भगति भी नहीं दें ऐसा करने से उनकी हिंसा होती है, अतएव वे डास शरीर का खून चूसते रहे, और ये निर्विवार भाव से इस वष्ट को सहन करते रहे, माना ये शरीर उनका न हो । वास्तव में भेद विज्ञान की ज्योति के बिना महाप्रती की जीवन यात्रा सानन्द नहीं हो सकती । भेद-विज्ञान के प्रकाशमें शरीर का चैतन्य पिण्ड आत्मा से पूर्णतया पृथक् अनुभव करत वाले त वदशीं महात्मा की शरीर की बाधा आने पर भी, सकलेश नहीं होता । ऐसे विपत्ति के क्षणों में स्थिरता देखकर ही आत्मा की उच्चता का अब बाध होता है ।

यहाँ से चलकर बासा ग्राम में सष एक दिन ठहरा । वहाँ लगभग बीस घर श्रावकों के हैं । बहुत से अर्जनों ने मासादि के त्याग का नियम लिया । यही प्रतिज्ञा बरखेडा के ५०-६० लोगों ने ली ।

चार अप्रैल सन् १९२९ को सब गढाकोटा पहुँचा । यहाँ जैनियों के लगभग ५० घर हैं । छह मंदिर हैं । समाज धार्मिक है । लोगों ने बड़ी भक्ति दिखाई तथा गुरुदेव के चरणों की पूजा करके अपने नगर को कृतार्थ अनुभव किया ।

आगे सध उबरा गाँव पहुँचा । यहाँ का मंदिर सुंदर है । यहाँ से चलकर सध शाहपुर पहुँचा । यहाँ चैत्र सुदी १ स १९८६ मेचैत्र सुदी चौथ पर्यन्त सब रहा । अर्जना ने भी जैन भाइयों के साथ सन्तो के समादरम भाग लिया । यहाँ श्रीजी का विमान भी निकाला गया था । लगभग तीन सहस्र श्रावक आए थे । सध के साधुओं के बड़ धार्मिक प्रवचन होते थे । बीरसागर महाराज न सप्त व्यसना के त्याग पर बड़ा प्रभाव शाली उपदेश दिया था । यहाँ से संध का पचमी को विहार हुआ । वह पिडरिया डुगरासा, बमोरी में धर्म प्रभावना तथा उपदेश दान करता हुआ सप्तमी को सागर पहुँचा ।

महाकौशल प्रात में जबलपुर के पश्चात् दूसरे तम्बर का नगर सागर में शांति के सागर ही है । यहाँ कई हजार जैन पाए जाते हैं । यहाँ परवार, गोलालारे, गोलापूरव जैनों की ही बहु-लता है । इतर जैन उपजातियों का महाकौशल प्रात में एक प्रकार से अभाव सदृश ही है । सागर में संस्कृत जैन विद्यालय के समीप ही संघ ठहरा था । प्रतिदिन संघ के द्वारा लोगों की शका का सनाधान तथा अनेक प्रकार के संदेहों का निराकरण किया जाता था । संघ के प्रचार कार्य द्वारा बहुत लोगों का धर्म मार्ग में स्थितिकरण हुआ था । देवारे भोले लोग उच्छंखल प्रवृत्ति वाले अथवा चालाक लोगों द्वारा कुमार्ग में गिराए जाते हैं । मीठी २ बातें करके उनका मन खेंचा जाता है, जैसे छोटे बालक को मिठाई खिलाने के बहाने उसके आभूषण छीन लिए जाते हैं और कभी भी प्रिय प्राणों से बालक को हाथ धो बैठना पड़ता है ।

हिन्दू पुराणों में कहा है, कि सागर में विष वास करता था, वहाँ अमृत भी था । प्रतीत होता है, इस स्थल में पहले धार्मिक तथा धर्म पोषक मर्यादाओं के उच्छेदक अनेक लोग शिथिलाचार रूपी विष पिलाने की प्रवृत्ति में तत्पर थे, किन्तु आचार्य श्री के समागम ने जनता को धर्माभूत पिलाया तथा विविध प्रतिज्ञारूप रसायन देकर पुष्ट किया । उस समय हिन्दू पुराणों की कथागत बात याद आती थी, कि सागर में विष के साथ अमृत भी वास करता है । आचार्य शांतिसागरजी ने अमृत पान कराकर जीवों का अकथनीय कल्याण किया ।

जहाँ आचार्य महाराज का निवास था, वहाँ ही समीप में सप्तम प्रतिमाधारी एक ब्रह्मचारी जी का आवास था । वे संघ के दर्शन को न पहुँचे । एक दिन आचार्य महाराज ने वात्सल्यभाव से उनकी पास में बुलवाया और कहा—“हमने सुना है, आप जैन-धर्म के शांता अच्छे विद्वान हैं, त्यागी हैं, हम आपके नगर में आए, किन्तु आप का हमारा वार्तालाप नहीं हुआ ।”

ब्रह्मचारी जी ने कहा—“मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं मुनियों को नमस्कार नहीं करूँगा ।”

महाराज ने कहा—“हम कब कहते हैं कि तुम हमें नमस्कार करो । अन्य संप्रदायवाले हमें प्रणाम नहीं करते हैं, तो क्या हो गया ? हम नमस्कार

के भूखे नहीं हैं। तुम्हारा मन जिसमें संतुष्ट होवे, वैसा करो।” महाराज ने उनसे कुछ पूछना चाहा, किन्तु उनने महाराज के ज्ञान की गहराई देखने की तथा गौरव की क्षति पहुँचाने की भावना से न्याय शास्त्र की कोई शंका बढ़त लोगो के साम्हने ला दी। आचार्य महाराज की प्रतिभा, विराल अध्ययन आदिका उनकी पता नहीं था। साक्षात्कार भी नहीं हुआ था। अतः ज्ञान-मत्त मन को विश्वास था, कि मेरे न्याय के प्रश्न का उत्तर तो नहीं मिलेगा; किन्तु वे सचमुच में आश्चर्य के सिंधु में निमग्न हो गए जब आचार्य महाराज का यथार्थ उत्तर उनके समक्ष आ गया।

इसके बाद महाराज ने लोगो के जानेके बाद एकान्त में एक मार्मिक प्रश्न किया, तो वे चुप हो गए। उनके पास उत्तर न था। महाराज ने कहा—“हमने तुमसे एकान्त में पूछा, जिससे तुम्हारे गौरव की क्षति न हो।” महाराज के निवट-सपर्क ने उनके चित्त में गहरी प्रतिक्रिया पैदा कर दी। उनके विचारों में भूचाल सा आ गया। उनके ध्यान में भी आया, कि आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण है। उस सर्पक से धीरे धीरे उनके जीवन में उच्च समय की प्रेरणा उत्पन्न हुई। उनने दशमी प्रतिमा के व्रत लिए थे, और ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ, तब चौबीस घंटे में भोजन के साथ पिए गए जल के सिवाय पुनः जल न मिलने से सुहुमार शरीर को अपार कष्ट होने लगा, उस समय उनके ध्यान में मुनि-जीवन की महत्ता पूर्ण रीति से आ गई। अब तो उनके मन में यह लालसा तक उत्पन्न हो गई है, कि कब शातिसागर महाराज द्वारा ग्रहण की गई जिन-पुद्गा द्वारा नरमव की सफल वृद्धि। अब वे ही परोक्ष में इन श्रमण-राज को प्रणाम करते हैं।

ऐसी ही अनेक व्यक्तियों की कथा है। अभी कुछ दिन पूर्व बर्बई में एक अहंकारी वृद्ध साहित्यिक मिले थे। वे बोले—“आप लोग तो आचार्य महाराज को सर्वज्ञ बताया करते हैं, यह बिल्कुल अयोग्य है।” मने कहा

अपरिचित शिक्षितों को अकल्याण की ओर ले जाते हैं। ऐसे विचार वाले बहुत जीवों का भ्रम दूर हुआ और उनकी समझ में आया, कि स्तनत्रय धारी इन महामुनिराज की शरण में अब तक न पहुँचकर हमने भयकर भूल की।

सागर की जनता के अधिक अनुरोध से संघ ने वहाँ अधिक समय दिया। शांति के सागर आचार्य श्री के चरणों के प्रति सागर की जनता का विशेष प्रेम होना स्वाभाविक ही है। 'स्वपक्षदर्शनात् वस्य न प्रीतिरपजायते। वहाँ से चलकर राघ वैशाख सुदी द्रोणागिरि क्षेत्र एकम को द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र पहुँचा। इसे ही रेशदीगिरि के नाम से भी कहते हैं। यहाँ हजारों भाइयों ने दूर दूर से आकर गुरुदर्शन का लाभ लिया। महाराज पर्वत पर जाकर जिनालय में ध्यान करते थे। उनका रात्रि का निवास - पर्वत पर होता था। प्रभान होते ही लगभग आठ बजे महाराज पर्वत से उतरकर नीचे आ जाते थे। एक दिन की बात है कि महाराज समय पर न आए। सोचा गया कि सभवतः वे ध्यान में मग्न होंगे। दर्शनाधिकियों की लालसा प्रबल हो चली। साढ़े आठ, नौ, साढ़े नौ बजे और भी समय व्यतीत हो रहा था। जब विलम्ब अमह्य हो गई, तब कुछ लोग पहाड़ पर गए। उसी समय महाराज वहाँ से नीचे उतर रहे थे। लोगों ने महाराज का जयघोष किया। चरणों को प्रणाम किया और पूछा—“स्वामिन! आज तो बड़ा शेर का बहुत काल तक महाराज के पास बैठना विलम्ब हो गया, क्या बात हो गई?” वे चुप रहे। कुछ उत्तर नहीं दिया।” लोगों ने पुनः प्रार्थना की। एक बोला महाराज यहाँ शेर आ जाया करता है। कहीं शेर तो नहीं आ गया था? अतः मैं स्वामी जी का मौन खुल ही पड़ा और उनमें बताया कि ‘सञ्चा से ही एक शेर पास में आ गया। वह रात भर बँठा रहा। अभी थोड़ी देर हुई वह हमारे पास से उठकर चला गया।’ प्रतीत होता है वनपति यतिपति के दर्शनार्थ आया था।

उस घटना के विषय में विचार करते हुए हमें निम्न लिखित समाधान समझ में आता है।

जब हम सन १९४७ में बवई, मंदिर-प्रवेश-कानून के विषय में वैरिस्टर सर जागा से परामर्श लेने पहुँचे, तब प्रसंगवश सातितसागर महाराज शब्द सुनते ही उसके दिमाग में यह बात आई, कि ये किसी राज्य के महाराज

होगे । इससे वह बोल उठा "महाराज के केस की फीस कम नहीं होगी ।" उसे योग्य फीस देकर परामर्श का कार्य तो हुआ, किन्तु तब से मेरे मन में यह बात थी, कि क्यों इनको सभी लोग महाराज कहते हैं ? इस वनराज आदि के प्रकरण को लिखते समय यह विचार आया कि यथार्थ में वे महाराज ही तो हैं । वन-राज व्याघ्र जिनके पास शात भाव से आवे और जो शांत रहे आवें, सर्पराज देह से लिपट जाय, फिर भी जिनका धर्म न टिगे, ऐसे पशु जगत् के जीवों के द्वारा विघ्न होने पर भी जो अपने स्वयं को अचल रखते हैं, यथार्थ में राजाओं के राजा ही तो हैं । वनराज, सर्पराज आदि भी जिनके पास आकर शात हो गए, वे उन सबके राजा ही तो माने जायेंगे । नरो में श्रेष्ठ, नरपतियों के द्वारा पूज्य तथा मोह राजा के द्वारा भी पूज्य चरण होने के कारण क्यों न ये महाराज कहे जावेंगे ?

व्याघ्रराज देर व्याघ्रराज इनके पास बहुत देर तक क्यों बैठा, इस प्रश्न का हमारी दृष्टि से यह उत्तर होगा, कि मृग-पति ने तब क्यों बैठा ? नरपति को देखकर सद्भावना व्यक्त की होगी । किसी नरेश की दूसरे नरेश से भेंट होने पर सहज सौजन्यवश मंत्री का व्यवहार व्यक्त किया जाता है । दूसरी बात, वह तो व्याघ्र था, किन्तु ये थे नृसिंह । इन नृसिंह के चरणों के समीप सादर शेर का बैठना उपयुक्त दिखता है । गूण भद्र स्वामीने मुनियों को नृसिंह लिखा है:-

"जिनने सर्व परिग्रह को छोड़कर एकाकीपने का नियमधारण किया है, जो सर्व प्रकार के संकटों को सहन करने की सामर्थ्य समन्वित है, आतिथ्य शरीर को सहसा अपना सहायक सोचा था, इस विचार के सहसा आ जाने से जिनके चित्त में किंचित् लज्जा का भाव उत्पन्न हो गया है, जो अपने आत्म शोधन के कार्य में तत्पर है, वरुण रूप शरीर के निवारण के हेतु जिनने पर्याप्त आसन बाँध ली है, जिनने मोह का ध्वंस कर दिया है, ऐसे नरो में सिंह सदृश महापुरुष पर्वत की गहन गुहा, अथवा एकांत स्थान में आत्मा का ध्यान करते हैं ।"

१ एकान्तत्व प्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वसहृत्वात् ।

भ्रातृयाधिनृत्वाः सहायं तनुमिव सहसाऽलोच्य किंचित्सलज्जाः ।

सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगम-विधिं बद्धपत्यवपधाः ।

ध्यायति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहा मुखमेहे नृसिंहाः ॥ २५८

२ Those who having renounced all, have taken the

एक बात और चित्त में आती है, कि इनके प्रेम का शासन प्राणी मात्र पर चलता है, क्रूर जीव भी जब इनके प्रति प्रेम करते हैं तब यह स्पष्ट होता है, कि इन महामुनिराज ने उनकी भी अनुरजित कर लिया है, अतः 'महाराज' शब्द का उपयोग बड़ा सामयिक और युक्ति-युक्त दिखता है। ऐसे विशुद्ध जनक स्थल पर आचार्यश्री ने बहुत शक्ति प्राप्त की और कर्मों की खूब निर्जरा की। महाव्रतियों की विशुद्ध प्रतिक्षण बढ़ती जाती है उसके ही कारण चिरकालीन कर्मों का क्षय हुआ करता है। द्रोणागिरि में श्री जो का बड़े वैभव के साथ अभिषेक-मूजन हुआ।

संघ-वैग-स मुदी सष्टमी को बिजावर स्टेट के गोरखपुर ग्राम में पहुँचा। अष्टमी को घुहारा आया। इस प्रकार के विहार से हजारों लोगों को अहिंसादि व्रत ग्रहण का लाभ होता है। हिंसात्मक प्रवृत्तियों का परित्याग कराकर अहिंसा धर्म का प्रतिष्ठा अतःकरण में अवित्त कराना संतो का महान कार्य है। उनका जगत् को यही आशीर्वाद है।

कभी कभी कहने में आता है, कि ये महापुरुष लोक-सेवा करते हैं। यहाँ 'सेवा' के स्थान में 'हित' शब्द का प्रयोग करना उचित जंचता है, कारण ये जिनेन्द्रदेव और जिनके सिवाय बाणी दूसरों की सेवा नहीं करते हैं। जिसकी सेवा की जाती है, उसमें पूज्यता माननी पड़ती है। रत्नत्रयधारी महाव्रती साधु अव्रती की सेवा करेगा, यह कैसे सम्भव होगा? दुखी प्राणी के दुःखों को दूर करेगा, कल्याण मार्ग में लगाएगा। दूसरी दृष्टि से विचारे, तो कहना होगा, साधु लोगों से लोकहित स्वभाव बश हो जाता है, जैसे सूर्य प्रकाश प्रदान करता है, ऐसा उसका स्वभाव है, ऐसे ही पर-हित-निरत होना ही संतो का स्वभाव है। जनता उनकी सेवा

vow of solicitude and are capable of enduring every thing , are somewhat ashamed on suddenly feeling that they erroneously considered the body to be a help-mate , those whose greatness is inconceivable , who are prepared for their work, who have adopted the seating posture (palyank-asana) for the purpose of getting rid of the (body) who have renounced delusion , meditate on a mountain , in a deep cave or in a concealed place (are brave) men like lions .

करती है और आशीर्वाद के रूप में मेवा पाती है । जिन जिन जीवों का सौभाग्य था, उनने गुह्यदर्शन का लाभ उठाया और शत से नर जन्म को भूपित किया । प्रीष्मक्तु की भीषणता होतेहुए भी आचार्यश्री प्रीष्म

की तपश्चर्या, उपवास आदि का प्रम पूर्ववत् ही रहता था, जहाँ जल के बिना क्षण भर भी चैन नहीं पड़ती है, वहाँ आचार्य महाराज कई दिन तक अन्न जल आदि का त्याग करते थे, और फिर घूप में पैदल विहार भी करते जाते थे । यह तपश्चर्या अन्य जीवों को चकित कर देती थी ।

दिन जाते देर नहीं लगती । अब वर्षा ऋतु निकट आ रही है, इससे सप्त ने ललितपुर की भूमि को अपने चातुर्मास द्वारा पवित्र करने का निश्चय किया ।

यहाँ रेलवे स्टेशन के समीप क्षेत्रपाल नामका स्थान ललितपुर है । वहाँ सुन्दर जिनमंदिर है । उद्यान भी है । आचार्य श्री ने इसस्थान को चातुर्मास के लिए सर्व दृष्टि से उपयुक्त समझा । ललितपुर में जैनियों की संख्या भी लच्छी है । इस चातुर्मास में धार्मिक मेला सा लग गया था । जी. आई. पी. रेलवे की मैन लाइन पर यह स्थान होने से सभी प्रांत के श्रावकों के आने की सुविधा थी । कटनी चातुर्मास की अपेक्षा यहाँ आचार्य महाराज की तपश्चर्या पापान को भी द्रवित करने वाली थी । कटनी चातुर्मास के समय महाराज ने बहुत उपवास भिखे थे । यहाँ लगभग छह माह प्रमाणकाल में लगभग चार माह से अधिक का समय उपवासों में बीता था । उनने दशलक्षण पर्व में दश दिन को आहार छोड़ दिया था ।

भारतवर्ष में लम्बे उपवास करने वाले व्यक्तियों में गांधी का विशिष्ट स्थान रहा है, किन्तु उनके उपवासों में दिगंबर मुनियों सदृश चतुर्विध आहार का त्याग नहीं रहता था । सन १९४२ में गांधी जी ने लाइलिनलियस वायसराय के समय पर जो १० फरवरी को इक्कीस दिन

१ Gandhi had been taking water without salt or fruit juice, Nausea plagued him. His kidneys began to fail and his blood became thick. On the thirteenth day of the fast the pulse grew feeble and his skin was cold & moist, Kasturbai knelt before a sacred plant and prayed. She thought his end was near. Finally the Mahatma was persuaded to mix

का अनशन किया था, उस समय गांधीजी पहले केवल जल लिया करते थे, किन्तु जब तेरहवें दिन उनका शरीर ठड़ा पड़ चला, नाड़ी क्षीण हो चली, तब गांधीजी ने पानी के साथ ताजी मोसंबी का रस लिया था। दो भाचं को गांधी जी ने ६ औंस प्रमाण नारंगी का रस जल में मिलाकर लिया था। इसके आगे भी वे नारंगी का रस लेते रहे थे। गांधीजी ने वायसराय लिनलियमो को अपने पत्र में लिखा था "सामान्यतया अपने उपवासों में जल के साथ थोड़ा नमक मैं लेता रहा हूँ, किन्तु अब मेरी प्रकृति जल को सहन नहीं कर सकती है इससे उसके साथ थोड़ा सा सतरे का रस (Juice of citress fruit) लेने का विचार है, ताकि पानी पिया जा सके—"

ललितपुर आने पर आचार्य महाराज ने सिंह निःक्रीडित तप किया था। यह बड़ा कठिन व्रत होता है।

सिंह निःक्रीडित तप इस उग्र तप से आचार्य महाराज का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। लोगो की आत्मा उनको देख चिन्तित होती थी, कि किस प्रकार आचार्य देव की तपश्चर्या पूर्ण होती है। सब लोग भगवान से यही प्रार्थना करते थे कि हमारे धर्म के पवित्र स्तम्भ आचार्य श्री की तपः साधना निर्विघ्न पूरी हो। आचार्य महाराज के न जाने कब के बंधे कर्मों का उदय आ गया। उस तपश्चर्या की स्थिति में १०४, १०५ डिग्री प्रमाण ज्वर आने लगा। इस भीषण स्थिति में केवल केवल अहंत का ही नाम शरण था। वह जिन नाम हो उनका एक मात्र आश्रय था। विवेकी व्यक्ति थोड़ी देर के लिए उस स्थिति की विचारे कि कम-कम से उपवास करते हुए सौ के लगभग सह्या हो जाने से शरीर क्षीण

few drops of fresh moossambi fruit juice with the drinking water on March 2nd. Kasturbai handed him a glass containing six ounces of orange juice diluted with water. He sipped it for twenty minutes. He lived on orange juice for he next four days.

L. Fisher : the life of M. Gandhi P. 418-519.

Usually during my fasts I take water with the addition of salt but now a days my system refuses water. This time, therefore I propose to add juice of citress fruit to water drinkable. (Ibid page 47)

हो गया हो, शरीर में १०५ डिग्री ज्वर हो, और फिर भी शरीर को एक बूद जल न देकर आगे पन्द्रह उपवास करने का सकल्प हो, साथ में धार्मिक क्रियाओं का पूर्णतया पालन भी हो । आज के बलिकूल में असंप्राप्ता-सृपाटिका-सहन में ऐसी तपश्चर्या की कौन कल्पना कर सकता है ? जहाँ आज के युग में विगम्बर मुनि के सद्भाव के विषय में चित्त शक्ति हो जाता था, वहाँ इतनी महान तपश्चर्या पूर्ण सावधानी और अप्रमत्त स्थिति का रहना इस बात के द्योतक है, कि उनकी आत्मा कितनी उच्च है ? ऐसे तपस्वियों को लक्ष्य करके ही प्रतीत होता है, कि कुरुकुद स्वामी ने आज भी रत्नत्रय धारियों के लोकान्तिक देव होने की बात लिखी है, जहाँ से चयकर जीव नियमतः निर्वाण को प्राप्त करता है ।

लोकान्तिक देव लोकान्तिक होने वाले देवों के विषय में तिलोत्पण्णति
कौन होते हैं ? में लिखा है—“इस क्षेत्र में बहुत काल तक बहुत प्रकार
के वैराग्य की भावना करने योग्य से युवत मुनिराज
लोकान्तिक देव होते हैं । सम्यक्त्व युवत जो श्रमण स्तुति और निदा में,
सुख और दुःख में, तथा बंधु और रिपु वर्ग में समान है, वही लोकान्तिक होता
है । जो देह के विषय में निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारभ और निरक्ष
है, वे ही श्रेष्ठ श्रमण (मुनि) लोकान्तिक देव होते हैं । जो श्रमण संयोग
और विप्रयोग में, लाभ और अलाभ में तथा जीवित और मरण में सम
दृष्टि होते हैं, वे ही लोकान्तिक देव होते हैं ।

“सयम, समिति, ध्यान एव, समाधि के विषय में जो निरंतर श्रम
करते हैं, तथा तीव्र तपश्चर्या को करते हैं, वे श्रमण लोकान्तिक होते हैं ।”
॥६५०॥ पाँच महाव्रतों से सहित, पाँच समितियों का चिरकाल तक
आचरण करनेवाले और पाँचो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त ऋषि लोकान्तिक
होते हैं । (अध्याय ८, पैलोक ६४६ से ६५१)

भयकर तप और उस दुर्धर तपश्चर्या के समय शरीर अत्यन्त क्षीण हो
ज्वर में तेजोमय गया था, उसका एकमात्र अवलंबन अन्न और जल भी
भुख मडल जय न मिले, तब वह कैसे शक्ति-संपन्न होगा ? भीषण
ज्वर बढ़ा है, फिर भी महाराज के मुख मडल पर एक
अदभुत आत्मतेज था । अग्नि में दाह से जिस प्रकार स्वर्ण की विशिष्ट
दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही तपाग्नि में तपाया गया उसका शरीर

तेजपूर्ण दिखता था। आचार्य लिखते हैं—

“जो जीव अज्ञान से अत्यन्त भीषण पाप कर्म का बंध करता है, वह उपवास से उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि के द्वारा ईन्धन”। उस समय वे आत्मचिंतन में मग्न रहते थे। आहार त्याग देने से मन विषयो की ओर नहीं जाता था। मन तो उनके अधीन पहले से ही था। अब वह अत्यन्त एकाग्र हो आत्मा या परमात्मा का अनवरत चिंतन करता था।

लम्बे उपवासों के ऐसी स्थिति में बाह्य वस्तुओं की ओर से मन को दूर करने के लिये वे यही सोचते थे “मेरे लिए भगवान् महावीर प्रभु का ही शरण है” “भगव शरणो महावीरो”।

एक बार मैंने पूछा था “महाराज ! ऐसे लम्बे उपवासों के करते हुए आपकी निद्रा का क्या हाल रहता था ?”

महाराज ने कहा—“ऐसे समय में नींद नाम मात्र की आती थी।”

मैंने पूछा—“तब महाराज ! आप क्या सोचते थे ?”

महाराज—“उस समय हम आत्मा का ही विचार करते थे। और पदार्थों की तरफ चित्त स्वयं नहीं जाता है। हम आर्तघ्यान, रौद्रघ्यान उत्पन्न न हो इसकी सावधानी रखते थे।”

दो सप्ताह लम्बे उपवास के अनंतर पारणा का दिन आया, और उसके बाद पुनः दो सप्ताह लम्बा उपवास होना था। अतः यह आहार बड़ा महत्व का था। लेकिन यह भोजन महाव्रती मुनि का है, जो ४६ दोष और ३२ अंतराय को टालकर तथा खड़े होकर करपात्र में ही होगा। इस नियम में जरा भी अंतर नहीं आ सकता है, प्राण भले ही चले जाय। मुनि-राज आगम की आज्ञा का त्रिकाल में भी उल्लंघन नहीं करेंगे। मुनिजीवन को इसी से लोकोत्तर कहा गया है।

पारणा का प्रभात आया। आचार्य श्री ने भक्ति पाठ वदना आदि मुनिजीवन के आवश्यक कार्यों को बराबर कर लिया। अब चर्या को खाना होना है। सब लोग अत्यन्त चिन्ता समाकुल हैं। प्रत्येक नर नारी प्रभु से यही प्रार्थना कर रहा है कि आज का आहार निर्विघ्न हो जाय। क्षीण शरीरों

१ यदज्ञानेन जीवेन कृतं पापं सुदारुणम् ।

उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

खड़े होने की भी शक्ति नहीं दिखती, चलने की बात दूसरी है; और फिर खड़े होकर आहार का हो जाना और भी कठिन दिखता है। ऐसे विशिष्ट क्षणों में घोर तपस्वी महाराज उठे। आत्मा के बल ने शरीर को सामर्थ्य प्रदान की, ऐसा प्रतीत होता है।

अब वे चर्या के लिए निकले। एक गृहस्थ ने पडगाहा। विधि मिलने से महाराज वहाँ ही खड़े हो गए। उस समय उस गृहस्थ के पाव डर से कापने लगे कि कहीं अंतराय हो गया तो क्या स्थिति होगी? उस समय एक एक क्षण बड़ा महत्वपूर्ण था। ऐसे अवसर पर चंद्रसागर महाराज की विचारकता ने कार्य किया। उनसे तत्काल ही एक अपने परिचित दक्षिण के कुशल गृहस्थ से कहा— “क्या देखते हो, तुरन्त सम्हालकर आहार दान की विधि को संपन्न करो।” तदनुसार आहार दिया गया। वह भोजन क्या था? थोड़ी सी और गंठी-आंवले की कढ़ी तथा अल्प प्रमाण में धान्य दिया गया। थोड़ा सा उष्ण जल खड़े २ ही उनसे लिया, और तत्काल वे बैठ गए।

यस अब आहार पूर्ण हो गया। अब इस अल्प आहार के बाद आगे लगभग एक पक्ष के बाद ये उग्र तपस्वी मुनिराज आहार लेंगे। इस आहार के निर्विघ्न हो जाने से लोगों को अपार हर्ष हुआ।

इस प्रकार लम्बे उपवासों के बीच में ही प्रायः ललितपुर का चातुर्मास पूर्ण हो गया। बहुत कम लोग उनको आहार देने का सौभाग्य लाभ कर सके। जैनो के सिवाय जैनतरों में जैन मुनिराज की तपश्चर्या की बड़ी प्रसिद्धि हो रही थी। आचार्य महाराज की अपने व्रतों के पालन में तत्परता देखकर कोई नहीं सोच सकता था, कि इन योगिराज ने इतना भयंकर तप किया है। दूर दूर के लोगों ने आकर घोर तपस्वी मुनिराज का दर्शन किया। घोर २ वे तपः पुनीत पुण्य दिवस पूर्ण हो गए। अब चातुर्मास समाप्त होने को है। ललितपुर सभाज ने कार्तिक सुदी नवमी से पूर्णिमा पर्यन्त रथोत्सव कराया। हजारों की संख्या में लोग आए। पूर्णिमा को रथ क्षेत्रपाल से वस्ती की ओर निकाला गया। उस समय आचार्यश्री का शरीर बहुत कमजोर था, किन्तु आत्मा के बल से वे भी जुलूस में सम्मिलित हो गए और उनसे शहर के मंदिरों की वंदना की, परब्रह्म क्षेत्रपाल आए। यथार्थ में महाराज में असाधारण शक्ति है।

दो वर्ष हुए गजपंथा में व्रतों में महाराज का धारणा पारणा चल

रहा था। अन्न छोड़े हुए लगभग दो वर्ष हो चुके थे। तेरस तथा अनंत चौदस को उपोषण था। महाराज ने कहा—“आज हन गजपथा पर्वत की बदना को जायगे।” उस अवसर पर मैंने महाराज के पैरों की कुछ क्षण दाबने का प्रयत्न किया, ताकि उनकी पर्वत पर चढ़ने का कष्ट न हो, तब महाराज बोले—“वृद्धि जी! अभी हमारी भावना तो एकबार पुनः शिखर जी की बदना करने की होती है। क्या करें, नेत्रों में काचकिन्दु रोग है, जो चलने की गर्मी से आँखों की ज्योति को क्षीण करता है, नहीं तो हम वहाँ जाते।” इतना कहते हुए वे उठे और उन पर्वत की ओर प्रस्थान किया। घर्मशाला की कुटी से वह स्थान लगभग दो मील होगा। महाराज ने चलना प्रारम्भ किया। विश्वास था मार्ग में विधाम करेंगे, किन्तु वे रुके नहीं। पर्वत पर चढ़ना प्रारम्भ किया। बहुतों की साँस भर जाती थी। वे रुक जाते थे। किन्तु महाराज बिना वही रुके ऊपर पहुँच गए। तब यह कोई कैसे मानेगा कि महाराज की अवस्था अस्सी की हो रही है, और इनका शरीर अन्नाहार न मिलने से क्षीण हो गया है? ऐसी शक्ति उनमें ऐसे क्षणों में दिखती है, जब कि दूसरा मजबूत आदमी चलना फिरना अपने लिए विपत्ति रूप ही समझेगा। महान् तप करते हुये भी महाराज के अमूल्य उपदेश सुनने का सीमाव्य भव्य जीवों को मिल जाया करता था।

प्रस्थान

जब सध ने मगसिर वदी पचमी को ललितपुर छोड़ा, तब लगभग चार, पाँच हजार जनता ने दो, तीन मील तब महाराज के चरणा का न छोड़ा। अन्त में सवने गुरुचरणों को प्रणाम किया, और अपने हृदय में सदा के लिए उनकी पवित्र मूर्ति अकितकर वे वापिस आ गये। उस दिन धार्मिक जनता को ऐसा लगता था, मानो आज वहाँ सूनापन छा गया हो। लगभग पाँच सौ व्यक्ति तो सिरान ग्राम पर्यन्त गुरुदेव के पीछे पीछे गए। प्रस्थान करते समय का दृश्य चिरस्मरणीय था। अकारण अधु विश्व जितकर सत्ता के चिरविमोह की कल्पना से हजारों नेत्रों से आसू वह रहे थे। चार माह का समय जो आचार्य महाराज के चरणों से अवर्ण

नीम शक्ति से बीता था, वह अब जनता को पुन दुर्लभ है। इससे ऐसा लगता था, मानो हृदय पर वज्रपात हो गया हो। सत्ता के समागम में यही विशेष बात है, कि उनके बिछुड़ने पर बड़ी असह्य पीड़ा होती है। इस अवसर पर कोई आचार्य महाराज के तरफ दृष्टि डाले, तो वहाँ

रत्नमात्र भी खेद नहीं है। वे तो परम वीतराग हैं। वे ससार को एक वृक्ष तुल्य देखते हैं, जिस पर पक्षी गण आकर बैठते हैं, प्रभात होते ही वे भिन्न भिन्न स्थान को चले जाते हैं। वैराग्य के प्रकाश में मिलने का न सुख है और बिछुड़ने का दुःख है।

हमने अनेक बार देखा, सैकड़ों हजारों व्यक्ति दूर दूर से महाराज के दर्शनार्थ आते हैं। उनको जाते देखते हुए उनके वैराग्य युक्त मुख पर राग की जरा भी रेखा नहीं दिखती है। यथार्थ में जो वैराग्य हृदयगत रहता है उस पर बाह्य वस्तुओं का संयोग तथा वियोग क्या असर कर सकता है? ललितपुर का दृश्य देखनेवाला यह कहे बिना न रहेगा, कि ऐसे सतों के चरण जहाँ पड़ेगे, वहाँ चतुर्थकाल आकर बलिकाल को दूर भगाए बिना न रहेगा, अन्यथा एक दिगम्बर अकिंचन श्रमण के प्रति हजारों नरनारी समाज का इतना अनुराग क्यों? क्यों वे इनको परम इष्ट मान इनके वियोग से व्यथित हो रहे हैं?

अब आचार्य देव सिरगन पहुँच गए। आज उस ग्राम वालों का भाग्य सूर्य जगा है। दूर दूर के ग्रामीणों ने आकर महाराज को प्रणाम किया, व्रत लिए और अपने भाग्य को सराहा। गाँव वाले श्रावकों ने अपने को कृतार्थ माना, कि हमारे छोटे से ग्राम में सुरेन्द्र वद्य ऋषिराज के चरण पड़ गए। इसके अनंतर आचार्य श्री न बुदेलखण्ड के अनेक तीर्थों के दर्शन किए। पपीरा, चन्देरी, धूबोन, देवगढ़ आदि अनेक महत्वपूर्ण तथा कलात्म्य तीर्थ बुदेलखण्ड के अतीत वैभव, धर्म प्रेम, तथा सुखी सस्कृत आध्यात्मिकता पर प्रकाश डालते हैं। सभी पुण्य स्थलों की वदना द्वारा

टीकमगढ़ नरेश सध ने अवर्णनीय आनन्द प्राप्त किया। पपीरा जाते हुए पर प्रभाव टीकमगढ़ में महाराज ठहरे थे। टीकमगढ़ नरेश से आचार्य श्री का वार्तालाप हुआ था। उससे टीकमगढ़

नरेश बहुत प्रभावित हुए थे। आचार्य महाराज में बड़ी समय सूचकता है। किस अवसर पर, किस व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार उचित और धर्मानुकूल होगा, इस विषयमें महाराज सिद्ध-हस्त हैं। टीकमगढ़ स्टेटमें जैनगुरु और जैनधर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। बुदेलखण्ड अपने गजस्थों के लिए प्रसिद्ध रहा आया है वहाँ के पचकल्याण महोत्सवों से अर्जन लोग बहुत प्रभावित हैं। उस भूमि में आचार्य महाराज जैसी आध्यात्मिक सेजस्वी मूर्ति का विहार करना बड़ा प्रभाव वर्धक हो गया। लोग तो

यही कहते सुने गए कि जीवन में ऐसा आनंद फिर कभी नहीं आयागा और न कभी ऐसे सच्चे दिग्गजर मुनिराज के इस कलिकाल में फिर से दर्शन भी होंगे ।

बुदेलखंड के चंदेरी की प्रतिद्ध चोब्रोती का मशहूर राज ने दर्शन दिया । जिस प्रकार का वर्ण जिन भगवान का कहा गया है, वही वर्ण उन तीर्थंकर की मूर्ति का है, यह विशेषता है । प्रतिमाएं विशाल तथा मनोज्ञ भी हैं । धूवोन जी की विशाल मूर्तियों की हृदय से एक बार आरती उतार कर पुन उन्हें कौन भूलेगा ? ऐसे पुण्य स्थलों के दर्शन से आचार्य श्री को अचणनीय आनन्द प्राप्त हुआ । आज का वैभव शाली, अहंकार पूर्ण मानव जब बुदेलखंड में यत्र तत्र बिखरे जैन वैभव को देखता है, तब उसे उस भूमि की गौरव पूर्ण अवस्था समझ में आती है और वह नतमस्तक हो जाता है ।

आज जिन लोगों का मंदिर के भंडार के रुपया भारी लगते हैं, वे यदि उस संपत्ति का उपयोग ऐसे स्थल के जिन बिम्बों, जिनालयों के उद्धार तथा व्यवस्था में लगावे, तो उनके प्रति ससार कृतज्ञता प्रगट करेगा । अहारजी क्षेत्र में अत्यन्त मनोज्ञ भगवान शातिनाथ की मूर्ति को देख कर बड़े बड़े धर्मद्रोहिया तब का माथा झुक गया, मानो वे चक्रवर्ती कामदेव तीर्थंकर शातिनाथ का साक्षात्कार कर रहे हों । लोग अपने मंदिर के प्रति जिस प्रकार आत्मीयता का भाव रखते हैं, वैसा ही प्रेम अन्य जिनालयों के प्रति हो जाय, तो स्थिति काफी सुधर जाय । बुदेलखंड के बड़े बड़े स्थान वाले ही यदि अन्य मंदिरों का भी अपने मंदिर का कुटुम्बी सा अनुभव करें, तो शीघ्र ही महत्वपूर्ण कार्य हो जाय । इसे भूलकर मंदिर की रकम को ऐसे कामों में लाने में उत्साह दिखाते हैं, जिनके लिए परमागम आज्ञा नहीं देता है । अब भी अवसर है । सुबह का भूला यदि शाम को घर आ गया तो उसे भूला हुआ कोई नहीं कहता है । बुदेलखंड के जैन सांस्कृतिक स्थलों को जब जनेतर कलाकार देखता है, तब उसे आश्चर्य

१ श्री कुदेन्दु-नुबारहार-धवली द्वाविन्द्रनील प्रभो ।

द्वो बधूक-सम-प्रभो जिनवृषी द्वौच प्रियगु-प्रभो ।

शेषा षोडश-जन्म-मृत्यु रहिता सतत हैम-प्रभात्

ते सज्जन दिवाकरा सुरनुता सिद्धि प्रयच्छन्तु न ॥

होता है, कि जो समाज अपनी शान के कामों में लाखों खर्च कर देती है, जिसके बड़े बड़े पंजीपति अपने कुटुम्ब की प्रतिष्ठा के हेतु लाखों खर्च कर देते हैं, उन माई के लालों के हृदय में यह भाव नहीं हुआ, कि इन तीर्थों का सवित्र सुन्दर परिचय सहित एलबम (चित्र-संग्रह) तो प्रकाशित करें, जिससे आज का उदार जगत् उन मूर्तियों, मंदिरों की वदना करता हुआ उन दानियों के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करे। यह काम बिना दृष्टि में उदारता लाए नहीं बन सकता है। सस्कृति के पुजारी धीमानों की सुश्रुति के योग्य यह विषय है। एक महोत्सव को ठाठ के साथ संपन्न करने में, या एक शानदार इमारत बनाने आदि में जितना द्रव्य लगता है, उतना दान का निर्वार कदाचित् ऐसे स्थल पर वह जाय, तो न जाने कैसा सांस्कृतिक कलामय उपवन हरा हो जाय, और वह कितने विश्व के ज्ञान भ्रमरों का मधुर गुजन के हेतु स्वयं वहां न खेंचेगा ? यह प्रभावना आगम समर्थित है, सद्बिचार के अनुकूल है और आज के जगत् के द्वारा वदनीय भी है।

बुदेलगड के सांस्कृतिक स्थलों में अकिंचनता का साम्राज्य है। उसका दर्शन करते हुए इन महान महात्माओं की भी हमारे प्रमाद पर अवश्य दया आई होगी। अस्तु भवितव्य को विचारते हुए यह सत् समुदाय आगे बढ़ता जाता था। व्रतदान, धर्मोपदेश का कार्यक्रम तो सत्र चलता ही है, जैसे सूर्य का उदय होकर अधिकार को दूर करने का कार्य सदा चलता रहता है।

सोनागिरि अब सब अगहन सुदी द्वादशी को पवित्र निर्वाण भूमि

सोनागिरि जी आ गया। निर्वाण काण्ड में लिखा है—^१

सुवर्णगिरि के शिखर से नगकुमार अनगकुमार आदि साढ़े पाँच कोटि मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया, उनको हमारा प्रणाम है। भैया भगवतीदास ने लिखा है—

नग अनगकुमार सुजान पाँच कोटि अरु अर्ध प्रमाण।

मृजित गए सोनागिरि शीश ते वदो त्रिभुवनपति ईश ॥

सोनागिरि दतिया राज्य के सोनागिरि रेल्वे स्टेशन से लगभग दो मील की दूरी पर स्थित तीर्थ है। लगभग ७८ जिनमंदिर बड़े भव्य मालुम

१ नगानगकुमारा कोडी पचढ मुजिवरा सहिया ।

सुवर्णागिरिवर सिंहरे निव्वाण गया पमा तेसि ॥

पड़ते हैं। हं वे पहाड़ी पर, विन्तु पहाड़ी, पहाड़ी सदृश नहीं दिखती। वदना करने में शरीर को कोई कष्ट नहीं होता। मन्दिर बिल्कुल पास पास होने से वदना में समय भी नहीं लगता। मंदिरों का समुदाय बड़ा मनोहर लगता है। सौन्दर्य अपूर्व दिखता है।

भगवान् चद्रप्रभु का मंदिर विशेष महत्वास्पद माना जाता है। जिस प्रकार शिखर जी ने पार्वनाथ भगवान् की टोंक यात्री का विशेष ध्यान आकर्षित करती है, उसी प्रकार यहाँ चद्रप्रभु भगवान् का मंदिर विशेष रम्य लगता है। उस मंदिर को विशेष अतिशय सम्पन्न भी मानते हैं। कैसा व्यक्तित्व, चिन्तित, भग्न मनोरथ व्यक्ति एक बार पर्वत पर पहुँच जाय, तो उसके चित्त में सहज ही शांति का भाव उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। एक मान-स्तम्भ चद्रप्रभु के मंदिर के आगे बन जाने से क्षेत्र का सौन्दर्य वृद्धित हो गया है। यहाँ बड़ी विशाल धर्मशालाएँ हैं, जिनमें हजारों यात्रियों को स्थान मिल जाता है। सोनागिरि में धनिकों का प्रिय सोना तो नहीं दिखता है। हाँ ! सयमी आमाओ तथा मुमुक्षुओं को सारा पर्वत सोन का क्या, रत्नों से भी अधिक महत्त्व का प्रतीत होता है। परिग्रह का त्याग करने वाले मुनियों के लिये सोनागिरि हो, रत्नगिरि या पापागिरि हो, सभी समान हैं। इसको सोनागिरि कहने का कारण सम्भवतः यह रहा होगा, कि यहाँ आकर नगकुमार अनगकुमार आदि मुनियों ने अपने जीवन को सुवर्ण के समान ऐसा शुद्ध बना लिया, कि आत्मा भी उनमें कर्म रूपी कालिमा का सम्पर्क नहीं होया।

यहाँ से मुनियों का जीवन सुवर्ण सम शुद्ध बना
आचार्य सध ने जब इस निर्वाण भूमि का दर्शन किया तब सभी मुनियाएँ एवं श्रावकों को बड़ा आनन्द आया तथा महान् शांति प्राप्त हुई। सध के पधारने से हजारों नरनारियों से क्षेत्र में बड़े भारी धार्मिक समारम्भ का आनन्द दिखाई दे रहा था। सोनागिरि में कोई विशेष समारम्भ जब कभी होता है, तो लगभग पन्द्रह-बीस हजार जैन भाइयों का समुदाय इकट्ठा हो जाना साधारणनी बात हो जाती है। बुन्देलखण्ड, ग्वालियर आदि के समीपवर्ती जैन वंशु ऐसे अवसर में आकर पुण्य सचय करने को सदा अग्रसर रहा करते हैं, तब फिर जहाँ दिग्गज गुरुओं का सध आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश गुरुदेव के साथ पहुँचा है उस सोनागिरि में अपार जन समुदाय का आ जाना साहजिक है।

चार व्यक्तियों की निर्वणि दीक्षा आचार्य श्री की सोनागिरि यात्रा धार्मिक इतिहास की चिरस्मरणीय वस्तु बन गई, कारण अगहन सुदी पूर्णिमा को नी बजे सवेरे ऐलक चंतुष्टय—श्री चंद्रसागर जी, श्री पायसागर जी, श्री पाश्वंकीति जी, श्री नमिसागरजी को आचार्य महाराज ने निर्वणिदीक्षा—निर्ग्रन्थपद प्रदान किया । पाश्वंकीति जी का नाम मुनिराज कुशुसागर रखा गया था । चार महाभाग्यों का एक साथ दिगम्बर दीक्षा धारण करना इस पंचमकाल की वर्तमान स्थिति में चौथे काल का दृश्य उपस्थित करता है ।

कोई शंका शील बंधु कदाचित् यह सोचे, क्या लगता है, किसी को भी वस्त्र छोड़ने की दीक्षा दे दी; यह सदेह इस प्रसंग में अयोग्य है । आचार्य महाराज के पास से दीक्षा पाना बड़ा कठिन काम है । अनेक लोग उनके पास उत्साह लेकर व्रत मागने आते हैं, किन्तु महाराज पात्र की योग्यता देखकर ही व्रत देते हैं, अन्यथा इंकार कर देते हैं ।

एक समय मेरे समक्ष एक धर्मात्मा भाई महाराज के पास आया । उसने जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत मन, वचन, काय से ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की । विनयपूर्वक व्रत मांगा । आचार्य श्री ने उसके विषय में विचारकर व्रत देते समय काय से कुशील त्याग का ही व्रत दिया । एक तरुण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेने उनके पास पहुंचा । अत्यधिक आप्रह होने पर महाराज ने उसे केवल एक वर्ष को ही व्रत दिया ।

एक व्यक्ति मुनि की दीक्षा मांगने आए । उस व्यक्ति के चरित्र से वे परिचित थे, अतः उनने उनको मुनि दीक्षा नहीं दी ।

इससे यह पता चल जाता है, आचार्य श्री के पास से दीक्षा का पा लेना सफल जीवन का निश्चामक होता है । अंग्रेजी शिक्षा लेने कोई लदन जाता है और यदि उसके पास केम्ब्रिज या आक्सफोर्ड का प्रमाण पत्र होता है, तो उसकी योग्यता के विषय में सन्देह नहीं किया जाता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज से दीक्षा प्राप्त करने का जिस निवृत्त-भय आत्मा को सौभाग्य मिलता है, उसके विषय में भी पूर्ण विश्वास उत्पन्न होता है ।

सोनगिरि में जिन महानुभावों को निर्ग्रन्थ दीक्षा दी गई, उनने ऐलन के रूप में मुनिपद के लिये पर्याप्त पात्रता प्राप्त कर ली थी । जब

आचार्य महाराज ने उनके जीवन को तपे सोने के समान निर्मल, पवित्र तथा प्रिय पाया, तब सुवर्णसम जीवन वालों को सोनागिर में ही श्रमण दीक्षा से संस्कारित किया ? उन चारों मुनियों ने महाव्रती के रूप में कितना स्वपर कल्याण किया । कुयुसागरजी ने बड़े बड़े राज्यों में जाकर कौंसो धर्म प्रभावना की है, यह गुजरात के जैनियों से पूछो, अर्जुन बड़े अधिकारियों और विद्वानों से पूछो ।

कुयुसागर जी के विषय में आचार्य महाराज का कथन एक दिन आचार्य महाराज कुयुसागर जी के द्वारे में बताते थे "जब यह पहले आया था, तब इसको कुछ शास्त्र का बोध नहीं था । धीरे-धीरे पढ़ने का योग लगाया । बुद्धि अच्छी थी । बहुत शीघ्र होशियार हो गया । संस्कृत में कविता करने लगा । भाषण देने लगा था ।" आज श्री कुयुसागर जी के सहसा जीवन प्रदीप बुझ जाने से प्रत्येक धार्मिक हृदय में मनोव्यथा पैदा होती है ।

चंद्रसागर महाराज का विशुद्ध चरित्र और आगम भक्ति को कौन भूल सकता है ? उनका भी स्वर्णवास धार्मिक समुदाय को सताप प्रद रहा । सौभाग्य से पायसागर महाराज हैं । वे दक्षिण में अपने सुमधुर भाषण तथा तत्त्व प्ररूपणा द्वारा हजारों जीवों का कल्याण कर रहे हैं । मुनि तमिसागर जी महाराज कठोर तप करने में प्रसिद्ध हैं और उत्तरभारत तथा पंजाब प्रांत में धर्म प्रभावना कर रहे हैं ।

सोनागिरि में दीक्षा लेने के वाले चारों मुनियों का जीवन तपे हुए सोने के समान निकला और विपत्ति की कसीटी पर कसे जाने पर उनकी दीप्ति बढी, घटी नहीं । ये चारों ही मुनि प्रारंभ से ही महान नहीं थे । इनमें महानत्ता का बीज था । ये उस सुवर्ण पाषाण के सदृश थे, जिसमें कीट कालिमा आदि लिप्त थी । रत्नपरीक्षक के रूप में महाराज ने इनको देख लिया । धीरे-धीरे अपने सपकों द्वारा उनका जीवन इतना अधिक विकसित कर दिया, कि उनमें मनुष्य जीवन की श्रेष्ठ-निधि निर्गुण परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की । सोनागिरि के इतिहास में यह सन १९२९ की आष्टाह्निक महापर्व की फाल्गुनी पूर्णिमा स्मरण योग्य बन गई, जब चार उज्ज्वल आत्माओं ने महाव्रती बनकर अपने षो, जगत की, और जैन संस्कृति को मंगलदय बनाया ।

अब सध में सात मुनिराज हो गए । उनके बीच गुरु

आचार्य महाराज शोभायमान होते थे । सातो ऋषिराज परमागम प्रसिद्ध सात मुनिवरो का स्मरण कराते थे ।

सूर्य का प्रकाश होने पर ताराओं की ज्योति का पता नहीं चलता है, इसी प्रकार जिस निर्वाण भूमि सोनागिरि में अनेक सतो ने निर्वाण दीक्षा धारण की, वहा अन्य व्रत धारण करने वालों की भी सूर्या बहुत होते हुए भी उत्तका पृथक् उल्लेख नहीं होता । अधिक धर्म की प्रभावना तथा 'चारित्र्य खलु धम्मो' का प्रचार हुआ । उस दिन धर्मात्मा पुरुषों ने देखा कि चरित्र रूपी सुवर्ण प्राप्ति में प्रेरणा देने के कारण यथार्थ में वह सोनागिरि है । श्रमणसमन्वित होने से उसे श्रमण गिरि के रूप में भी स्मरण करना अच्छा और युक्ति युक्त भी लगता है । आजकल यह क्षेत्र अधिक समुन्नत दिखता है ।

यहा एक जैन पाठशाला चलती थी । वह क्षेत्र की शोभा थी तथा ऐसे पुण्य केन्द्रों में रहने वाले छात्रों के जीवन में सांस्कृतिक भावनाओं को अंकित करने में कारण रूप होती थी । छोटे स्थानों की पाठशालाओं के छात्रों में जो धर्म के सस्कार प्राप्त होते हैं, अब वे सस्कार बड़े बड़े नगरों के विद्यालयों में रखे गए छात्रों में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, कारण वहाँ वे लोग विद्या के अम्भार से अधिक उत्तति की लालसा के लोभ का संवरण नहीं कर पाते हैं, इस प्रकार उनका चित्त धर्म शास्त्र के अध्ययन की ओर धर्म विद्या के नहीं लगता है । कठिनाता से मनको लगाकर परीक्षा शिक्षण योग्य केन्द्र पास की जाती है और ऐसा अवसर देखा जाता है, जबकि धर्म शास्त्र के अध्ययन को भुला किसी विनिष्ट शिक्षण केन्द्र में जा ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लें, जिससे किसी राजकीय दफ्तर में या अन्य लौकिक स्थान में नौकरी कर ले । यही कारण है, कि अब समाज हितार्थ योग्य विद्वानों का निर्माण बंद सा हो गया है । यदि यही क्रम रहा, तो जिस प्रकार पंडित प्रवर श्री गोपालदास जी वरैया के पूर्व में उच्च शास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों का दर्शन दुर्लभ था, उसी प्रकार की स्थिति आज भी निकट भविष्य में उत्पन्न होती हुई दिखती है । अतएव जैन संस्कृति के संरक्षण की दृष्टि से सांस्कृतिक शिक्षण के सम्बन्ध में गंभीर विचार आवश्यक है ।

ऐसा सोचा जाता था, कि संस्कृत की पढाई के साथ अंग्रेज़ों का संयोग करना लाभप्रद होगा । इस विचार को प्रयोग के रूप में स्याद्वाद

महाविद्यालय काशी ने विशेष रूप में अपनाया । लगभग २० वर्ष के अनुभव ने यह बताया, कि उच्चकोटि के शास्त्र का पूर्ववत् सुधचि और श्रद्धापूर्वक अध्ययन नहीं होता, और छात्रगण लोकविद्या के लिए मुख्यता न दे रुचि सहित धर्मपर विश्वविद्यालयों में भर्ती होते हैं और ऐसी जगह पर सेवा वृत्ति स्वीकार कर लेते हैं, जहां धार्मिक संस्कार का प्राय विस्मरण हो जाता है । यह देखने में आया है, कि इन्हे जिन-दर्शन भारी लगने लगता है । तन्नि भोजन, अभ्यस्यभक्षण, अगालित जल का त्याग आदि अष्टमूलगुणों के स्थान में उनसे विपरीत वृत्ति को, ये नवीन संस्कृति को निहाल कर देने वाले लाल अपनाते हैं, और शिक्षाचार वाला की असंयमी प्रवृत्ति का पोषण करते हैं । कोई कोई इन धार्मिक कार्यों से इतने विमुख हो जाते हैं कि विशिष्ट स्थिति में भी जैन संस्कृति की सेवार्थ अपने मूल्यवान समय को देना अपरिग्रह मानते हैं । इससे ऐसा दिखता है, कि श्रुतज्ञान रूपी जो जल विषयो की आग बुझाने को सचय किया था, यह स्वयं तेल का काम कर रहा है । यह शास्त्र का दोष नहीं है, आधार का दोष है । अतएव हमारी राय में यह आवश्यक है कि आजीविका विहीन गृहस्थ की सतिता होने मात्र से ही किसीको सांस्कृतिक रत्नागार के सरक्षणार्थ शास्त्रों में निपुण करने की समता को कम किया जाय । बहुत छात्रों का नाम दिखाने का लोभ दूर किया जाय, और ऐसे सुसंस्कृत परिवारों के बालकों को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त किया जाय, जिनके घराने में धार्मिकता की कलरलना बड़ी है, जो जिन शासन के अभ्यास को चित्तमणिरत्न समान मानते हैं, और जिन्हें शास्त्र स्वाध्याय सहित गरीबी का जीवन अधिक आनंद दायी लगता है, जो सदाचरण को ही सच्चा धन जानते हैं तथा जिनके अंतःकरण में जिन धर्म के प्रति बड़ा समत्व है, उकट अनुराग है, श्रेष्ठ भक्ति है ।

नोवेलिस नामका विद्वान लिखता है—“तत्त्वज्ञान हमारा भोजन नहीं बनायेगा, किन्तु वह हमें हमारी आत्मा को प्रदान करता है, वह हमें स्वर्ग प्रदान करता है, वह ही उन महान सत्य तत्वा का बोध प्रदान करता है, जिनका हमारे अमर जीवन से सम्बन्ध है ।”

इस सम्बन्ध में अनुभवी शिक्षा विशेषज्ञ जेम्स मूड का कथन विचार-

१. Philosophy will bake no bread, but it gives us our souls, it gives us heaven, it gives us knowledge of those grand truths, which concern us as immortal beings ”

पूर्ण है ।

“किन्तु ये उच्च आदर्श-पूर्ण बातें थोड़े व्यक्तियों को लक्ष्यकर ही कही जा सकती हैं, तथा इससे भी अल्प लोगों का उन पर चलने का साहस होगा । यदि विश्वविद्यालय केवल इस विषय की ही शिक्षा देने में दृढ़ विचार बद्ध है, जिसे मानवीय तत्वों का शिक्षण कहते हैं, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि गाढ़े वस्त्र, कड़े बिस्तर तथा साधारण भोजन द्वारा जीवन व्यतीत करने पर जोर देवे ।”

उपरोक्त विशेषक्षों के कथन में हमें अपनी शिक्षण संख्याओं के विषय में पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है । जिनका लक्ष्य संस्कृति की सेवा द्वारा जीवन को समलंकृत करना है, उनको अर्थ की अध आराधना या दूसरों के समान उसे आराध्यदेव या मुख्य लक्ष्य मानना छोड़ना होगा । वीतराग

धर्म प्रचारकों की आत्मा में धर्म का प्रकाश संस्कृति के विकास के लिए अतःकरण जितना अविचलत्व की भावना से परिपूर्ण तथा परिपुष्ट होगा, उतना ही कार्य बुद्धिगत हो-सफल मनोरथ करेगा । धर्म प्रचार करने वालों की आत्मा में स्वयं धर्म का प्रकाश जरूरी है ।

बुझा दीप दूसरे दीपक को कैसे प्रकाश प्रदान करेगा ? वीतराग संस्कृति के प्रचारक के लिए सच्चा अर्थ रत्नत्रय दिखना चाहिए । जिसके हृदय में जिनेन्द्र भक्ति रहती है, उसको अभीष्ट वस्तुओं का अनायास लाभ होता है । सबट हरण विनती में वृन्दावन जी ने लिखा है :-

इक सेठ के घर में किया दारिद्र ने डेरा,
भोजन का ठिकाना भी न था साहस सबेरा ।
उस वक्त तुम्हे सेठ ने निज ध्यान में घेरा,
घर उसके में तुरतई किया लछमी ने बसेरा ।
हो दीनबन्धु, श्रीपति करुणा-निधान जी ।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी ॥

कई धनिक धर्मात्मा बताते हैं, पहले हम अत्यन्त निर्धन

१ “But such high counsels as these are addressed only to few and perhaps fewer still have heart to follow them. If a university persists in teaching nothing, but what it calls the Humanities, it is bound to insist on rough clothing, hard beds and common food.” Froudes Essays p. 63.

वीतराग की ये, किन्तु जबसे वीतराग प्रभु की पूजा, अभिप्रेत आदि भक्ति से दरिद्रता का कार्य किया, तब से श्री की दया से मनोवांछित वस्तु दूर भागती है मिलने लगी। अतः धार्मिक जीवन वाला व्यक्ति यदि अर्थ के संकट में ग्रस्त हो भी जावे, तो जिन भक्ति उसके संकट का निवारण किए बिना न रहेगी।

ईसाई धर्म ने इस युग में अपना प्रचार कार्य करके विश्व में अपना विशेष स्थान बनाया। उसका कारण उसके प्रचार की प्रवीणता है। एक दिन मैंने प्रख्यात गांधीवादी तपस्वी प्रोफेसर भंसाली भाई से पूछा था, कि उनके जीवन पर किसकी छाप पड़ी, तब उनसे बताया था "मे बंबई के विल्सन कालेज में था। वहाँ के पादरियों के सेवा भावी जीवन को देखकर मेरा जीवन प्रभावित हुआ। उन पादरियों के ये नियम मुख्य आकर्षक लगें 'vow of service, vow of chastity, vow of poverty' सेवा का नियम, शील का नियम और अकिंचनता—गरीब रहने की प्रतिज्ञा। यथार्थ में ये नियम मनुष्य को लोक प्रिय बनाते हैं और उसका जनता के मानस में मान होता है। जैन सत्सृष्टि के प्रचार हेतु काम करने वाले विद्वानों के लिए पूर्व में अकिंचनता का नियम आवश्यक है, अन्य व्यापारी वर्ग के होने से प्रत्येक व्यक्ति को धनाकांक्षा मर्यादातीत होती है, मिलता उतना ही है, जितना लाभान्वित रहता है, किन्तु तृष्णा पर कोई भी नियंत्रण नहीं रहता है। शिक्षार्थी से पूछा जाय, पाठशाला अथवा विद्यालय में पढ़ने के उपरान्त तुम क्या करोगे, तो शायद ही कोई नहेगा कि हम तीर्थंकर महावीर प्रभु के शासन को प्रकाश में लाने में सेवाएं अर्पण करेंगे।"

धन को साध्य इसमें संदेह नहीं है कि धन का भी अपना महत्व है। बनाने में संकट वह धन साधन के स्थान में जब साध्य बन जाता है, तब आता है श्रृंष्ट कार्यों को संपन्न करने में विपत्ति का पहाड़ खड़ा हो जाता है। आज जो जगत की दुर्दशा हो रही है, उसका कारण सुवर्ण का सीमातीत सम्मान तथा सिंहासन पर समासीन होना है। एक कवि कहता है:—

"सुवर्ण शृंगुओं के बीच धूना को उत्पन्न करता है, कुटुम्बों में विवाद पैदा करता है, मित्रों में भिन्नता को उत्पन्न करता है, तथा नागरिकों में कलह

को उत्पन्न करता है।”

अतएव आचार्य शातिसागर महाराज ने सोनागिरि पर्वत अध्ययन का लक्ष्य पर जिस चरित्र रूपी सपत्ति का वितरण कर चार क्या हो ऐलको को मुनि बना दिया, उस समय रूप सुवर्ण पर अनुराग रखने वालों के द्वारा ही धर्म का उद्योत होगा। शास्त्राध्ययन का क्या लक्ष्य हो, इसके विषय में एक जैन आचार्य कहते हैं, ज्ञान का लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य इन्द्रियो की दासता से मुक्त हो। उन इन्द्रियो पर अपना अकुश लगा सके। उस समय का ध्येय हो आत्मत्व की उपलब्धि।

सयमाय श्रुत घत्ते, नरो धर्माय सयमम् ।

हमारे धार्मिक विद्याश्रमों का लक्ष्य उपरोक्त प्रकार का होना चाहिए। जहाँ शिक्षा का लक्ष्य समय के स्थान पर उच्छिखल तथा असयमी जीवन होता है, वहाँ शिक्षा मगलदीप के स्थान में दवागिनी की भीषणता को धारण कर लेती है।

एक दिन शातिसागर महाराज के पास जैन शिक्षण सस्थाओं के विषय में चर्चा निवली, कारण उस समय मेरे ऊपर रामटेक के श्री शातिनाथ गुरुकुल की सर्व व्यवस्था का उत्तरदायित्व था। आचार्य श्री बोले “तुम लोग, जो शिक्षा सस्था चलाते हो, उसका सयमी जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखते हो, अतः वहाँ से निकलकर किसी के भी परिणाम श्रेष्ठ सयम के पथ पर जाने के नहीं होते।” महाराज ने कहा “तुमने दूसरा के बच्चे को लिखा पढ़ाकर, बमाने खाने योग्य बना दिया, तो तुमने धाय के समान काम किया, जैसे धाय दूसरों के बच्चे को दूध पिलाकर पोषण करती है। तुमने जैन सस्कृति तथा धर्म का क्या काम किया? आज सरकार स्वयं राजकोष से सबको शिक्षित करने को रणगा लगाती है। तुमने अपनी शक्ति का उसमें उपयोग करके बीनसा मोक्षोपयोगी काम किया?”

१ . Gold begets in brethren hate,
Gold in families debate,
Gold does friendship separate
Gold does civil wars create

२ Knowledge should be for sense control and that sense control should aim at self-realisation,

मैंने कहा—“महाराज ! तब फिर आपके विचार से शिक्षण संस्थाओं का क्या लक्ष्य होना चाहिए ?”

महाराज बोले—“पढ़ने वाले विद्यार्थियों में रत्नप्रय धारी बनने की भावना उत्पन्न होवे, ऐसी शिक्षा चाहिए। कम से कम रत्नप्रयधारी गुणियों की वैयावृत्त्य, सेवा, परिचर्या के योग्य भाव तो होवे।”

आचार्य श्री का भाव यही है कि शिक्षा का लक्ष्य सयमी जीवन होना चाहिए। जो महाव्रत धारण नहीं कर सकते, उनके अंतःकरण में सर्व विरति की लालसा होना तो आवश्यक है। जिसमें सकल संयम या सकल संयमी का अनुराग न हो, वह धावक भी तो नहीं कहा जा सकता है। इस कमीटी पर कसकर देखा जाय, तो ज्ञात होगा, कि वहाँ सुवर्ण सदृश शिक्षा है, और बहानकली शिक्षा है। आचार्य महाराज ने जो शिक्षा का लक्ष्य बताया, उसका अभाव अधिकांश में देखकर प्रतीत होता है, कि हमारा कार्य कम सफल नहीं हुआ है।

एक बड़ी संस्था में शिक्षित शास्त्री विद्वान सिवनी आये थे। एक क्षुरलक महाराज ने उनसे कुछ अध्ययन करने की इच्छा प्रगट की थी, तो वे शास्त्री महोदय थोड़ी देर के शिक्षण के अंधाधुन्ध रूपमा भांग बैठे, फलतः उनसे काम नहीं लिया गया। ऐसे ही अनेक विद्वानों का अनुभव मिला। आज ऐसे ही विद्वान शास्त्र विक्रय के द्वारा अपनी आजीविका चलाने लगे, जिसको अकलंक स्वामी ने ज्ञानावरण के आसव का हेतु बताया है।

आगम के विरुद्ध प्रवृत्ति वाले का जीवन सुखी नहीं देखा जाता है। परम पवित्र बुद्धि से यथोचित मूल्य न लेकर लोभी बनकर जितवाणी के द्वारा अपनी आजीविका चलाने वाले के लम्बे जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा, कि वे परमार्थतः सुखी नहीं हैं। उनकी आगामी क्या गति होगी यह तो भगवान ही जाने ?

एक बात और है, जो हमारी संस्थाओं के स्वाभाविक विकास में बाधक उनके और स्वतंत्र विकास में कुठाराघात करती है, वह है सिर पर धनिकाँ धनिकों का संस्थाओं के सिर पर सवार हो, उनकी इच्छानुसार संचालन किया जाना। दान देने का आसिन उनका पदचात भी दातार उस धन के प्रति अपना ममकार कम नहीं करता है और धनवाला होने से स्वयं को सर्व गुणी का आगार सोच लिया करता है। हमें रामटेक गुरुकुल का खूब अनुभव है। एक

बार हमारे पास शिकायत आई थी, कि जब एक श्रीमान गुरुकुल में पहुँचे तो लड़कों ने उन्हें प्रणाम नहीं किया। मैंने कहा "वेचारे बच्चे आपको क्या पहिचाने कि आप कौन हैं, अतः उनमें आपका यथोचित सम्मान न किया होगा। इससे संस्था की क्या बुराई हो गई। आपने कभी यह भी पूछा है कि छात्र क्या पढ़ते हैं क्या नहीं पढ़ते?" इस पर वे सज्जन चुप हो गए।

लक्ष्मी का लाड़ला ऐसा ही अर्थ के हाथ में सर्व अधिकार (all rights) देव सरस्वती सेवक मुझे अनर्थ होता हुआ प्रतीत हुआ। इसका फल हुआ कि मुझे उस उद्यान को छोड़ देना पड़ा, जिसके वृक्षों को जानता कठिनता से लगाकर माली की भाँति सम्हाल कर मैं कार्य कर रहा था। मेरी यही धारणा है, कि संस्कृति संरक्षणार्थ संचालित संस्था में छात्रों के गुण (quality) पर मुख्य ध्यान जाना चाहिये, संख्या पर (quantity) गौण दृष्टि होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है, कि छात्रों का स्वाभाविक विकास होना चाहिये। मैंने कुछ संस्थाओं के छात्रों को देखा है, जिन पर जबरदस्ती आचार का भार लादा गया है किन्तु उसे उनकी आत्मा नहीं चाहती। फलतः उनका आगामी जीवन प्रतिश्रियावश संयम का शत्रु बनता है। अतएव आवश्यकता है कि शिक्षा संस्थाओं के विषय में आचार्य श्री सद्गुरु महर्षि के चरणों के समीप इस जिनेन्द्र संस्कृति के विकास के विषय में सोचा जाय। धनिकों की मनोवृत्ति के विषय में विख्यात लेखक बर्ट्रैंड रसेल ने लिखा है—

"यदि तुम चाहते हो, कि धनी लोग अपना धन दें, तो वे अपनी शर्तों अवश्य लादना चाहेंगे? बताओ, क्या वे नहीं चाहेंगे? इसका मतलब यह हुआ, कि वे शिक्षण पद्धति के निर्धारण में हस्तक्षेप करने का आग्रह करेंगे और क्या ऐसा करना खतरनाक नहीं होगा?"

वीतराग प्रभु की संस्कृति का संरक्षण तथा संवर्धन ऐसे लोगों के तत्वावधान में हो, जिनके हृदय में उस संस्कृति के प्रति पूर्ण श्रद्धा हो, जो ज्ञान के धनी हो और सम्यक्चारित्र्य की जो अपना प्राण मानते हैं। बिना

"If you want the rich men to come out with their donations, they will want to impose their own conditions, won't they? That's to say, they will insist on having their way in the regulations of the educational policy and won't that be disastrous?" (Among The Great" P. 123)—

चरित्रवात व्यक्तियों के पय-प्रदर्शन के केवल पढ़े लिखे का कपन हृदय पर असर नहीं करता है।

आज हम देखते हैं, कि हमारे शास्त्री लोग भगवान की पूजा, अभिषेक का खूब महत्व बोलते हैं, किन्तु उस ओर प्रवृत्ति में प्रायः पूर्णतया पराङ्मुख रहने हैं। ऐसी स्थिति में लोगों का ध्यान सस्थाओं से विमुख होने लगा है। अतएव सोनागिरि सदृश सांस्कृतिक केन्द्रों में ऐसे सुसंस्कृत व्यक्तियों के तत्त्वावधान में सत्पात्रों को परमागम में निष्णात करने का प्रथम हितप्रद होगा; तब ही ऐसे व्यक्ति बनेंगे, जैसा कि आचार्य शातिसागर महाराज चाहते हैं, अथवा उन्नति के स्वप्न का साकार रूप कैसे होगा ?

गवालियर सोनागिरि में धर्माभूत की वर्षा करता हुआ संघ गवालियर

पहुँचा, जहाँ पीप शुक्ला तृतीया को मुनि नेमिसागर महाराज का केशलोच हुआ। गवालियर प्राचीन काल से जैन संस्कृति का महान केन्द्र रहा है। गवालियर के किले में चालीस, पचास-पचास फीट ऊँची खड्-गासन दस, पन्द्रह मनोज दिगम्बर प्रतिमाओं का पाया जाना तथा और भी जैन वैभव की सामग्री का समुपलब्ध होना इस बात का प्रमाण है, कि पहले गवालियर का राजवंश जैन संस्कृति का परम भक्त तथा महान आराधक रहा है। एक किले की दीवारों में बहुत सी मूर्तियों का पाया जाना इस कल्पना को पुष्ट करता है, कि यह स्थल संभवतः तीर्थ जैन संस्कृति का स्वरूप रहा होगा। गवालियर में जो स्थान तानसेन नामक प्रसिद्ध गायक से संबंधित बताया जाता है, वह पहले जैन महान केन्द्र मंदिर रहा है। गवालियर रियासत तो जैन मूर्तियों

तथा जैन कला पूर्ण सामग्री का अद्भुत भण्डार प्रतीत होता है। गवालियर के जिनालय भी सुन्दर है। नगर में एक शातिनाथ भगवान की मूर्ति बड़ी मनोज, अति उन्नत तथा खड्-गासन है। जैनियों में प्राचीन नाम गवालियर का गोपाचल प्रचार में रहा है, कारण वहाँ के भट्टारक जी के तत्त्वावधान में अनेक स्थानों की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। भट्टारक जी के रहने के स्थान पर शासन देवताओं की कलामय मूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

गवालियर की धार्मिक समाज ने संघ के आने पर खूब धर्म प्रभावना की। जहाँ जहाँ आचार्य महाराज का संघ पहुँचा, वहाँ वहाँ के लोग यही कहते हुए पाये गए कि ऐसा आनंद, ऐसी प्रभावना कभी नहीं हुई। अजैन जनता भी जैन ऋषियों के श्रेष्ठ चरित्र से प्रभावित होती हुई जैन

संस्कृति के प्रति आदर भाव व्यक्त करती थी । अपूर्व जागृति तथा अध्यात्मिक प्रभावना हुई ।

यज्ञोपवीत धारण करना जैन संस्कृति का अंग न होकर ब्राह्मण संस्कृति का चिन्ह है, ऐसी कुछ लोगों की शिकाएँ थी । उनका आग्रह के प्रभाव में निराकरण किया गया था । ब्राह्मणों में पाई जाने वाली सभी बातों के निषेध रूप में जो जैन संस्कृति का स्वरूप समझते हैं, वे दोनों संस्कृतियों के प्रति न्याय नहीं करते हैं । चक्रवर्ती भारत ने ब्राह्मण वर्ग की स्थापना की थी । उस पर आदि जिनेश्वर ने कहा था —

हे आयुष्मन् ! जो तुमने इन ब्राह्मण रूप से गृहस्थों की रचना की है, वे जब तक चतुर्पंकाल हैं, तब तक उचित प्रवृत्ति—युक्त रहेंगे ।^१ किंतु कल्मषुग में इनकी प्रवृत्ति निपरीत हो जायगी और वे 'सन्मार्गं परिपन्थिन प्रवत्स्यंति'—सन्मार्ग के शत्रु रूप में परिणित हो जायेंगे । यह कथन बहुलता जैन दृष्टि हिंदू की अपेक्षा किया गया है । दक्षिण कर्णाटक आदि दृष्टि में अतर प्रांतों में जैन ब्राह्मण भी पाए जाते हैं, जो जिनागम के अनुसार क्रियाकांड में निपुण हैं । अतः जैन विचार और हिन्दू धर्म के विचारों में अन्तर है । यहाँ यज्ञोपवीत को सम्यदर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य का प्रतीक मानते हैं । यह बात हिन्दुओं के यहाँ नहीं है । हिन्दुओं में यज्ञोपवीत मान्य होने से यदि उसे जैन संस्कृति का अंग ओंकार के स्वरूप न माना जायगा, तब तो बहुत गड़बड़ी हो जायगी । ओंकार की हिन्दुओं में भी मान्यता है, अतः क्या इससे जैन संस्कृति से ओंकार को भी पृथक् कर दिया जायगा ? शब्द साम्य होते हुए भी अर्थगत भिन्नता है । जैन ओंकार को पंच परमार्थों का वाचक माना है ।

अरहत, अक्षरीर (सिद्ध) आचार्य उपाध्याय मुनि के प्रथम अध्याय से ओंकार की निष्पत्ति होती है (अ + अ + आ + उ + म् = ओम्)^२ ओं के

१ आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिन ।

ते तावदुचितान्वारा यावत्कृतमुगस्थिति ॥

महापुराण पर्व ३६

२ अरहता—अक्षरीरा—आश्रिया तह उवज्झया मुणिणो ।

पडमक्खरणिप्पण्णणो ओकारा पचपरमेद्धी ॥ इत्यमरः

विषय में छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है^१ ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इसकी उपासना करना चाहिये ।^२ इस पर शकराचार्य की टीका में लिखा है, ॐ यह परमात्मा का सबसे निकटतम नाम है ।^३ इसका प्रयोग किए जाने पर वह प्रसन्न होता है । जैसे जन साधारण अपना प्रिय नाम ग्रहण किये जाने पर प्रसन्न हुआ करते हैं । उपनिषद् में लिखा है कि 'निश्चय ही जो उद्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है । इस प्रकार यह, सूर्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव है, क्योंकि यह सूर्य ही ॐ ऐसा उच्चारण करता ही गमन करता है ।'^४ सूर्य के द्वारा उच्चारण किए जाने वाले ॐ शब्द की ध्वनि उपनिषद् भक्त ही शायद सुन सकता होगा, क्योंकि वैज्ञानिक विचार वाला ऐसा शब्द नहीं सुनता है । उसे तो वह एक मधुर मल्पना ही प्रतीत होती है । यहा यह बात विचारणीय है, कि वैदिक संप्रदाय ने 'ॐ' का अवैज्ञानिक प्रतिपादन किया है, इसलिए जैन विचार भी उसी प्रकार होगा, यह धारण न्याय सगत नहीं है । इसी प्रकार यज्ञोपवीत के विषय में ज्ञातव्य है । जैन दृष्टि में वह यज्ञोपवीत रत्नत्रय घमं का प्रतीक है, इसलिए तत्त्वज्ञ उसका आदर करता है । आचार्य श्री के युक्ति तथा अनुभवपूर्ण उपदेश से लोगो ने यज्ञोपवीत को जैन शास्त्र की आशा जान अंगीकार विषा ।

ग्यालियर राज्य में प्राचीन जैन वैभव की विपुल सामग्री को देख कर विस धार्मिक के हृदय में वेदना उत्पन्न न होगी, कि समाज के प्रमाद से उन महत्वपूर्ण स्थलों को उचित व्यवस्था अब तक भी न हो सकी । यदि कोई विवेकी दानी व्यक्ति अथवा संस्था इन संपूर्ण वैभव-स्थलों का सचित्त विवरण प्रकाश में लावे, तो जैन गौरव के प्रति जगत के अतःकरण में उज्ज्वल सकलन प्रकाशन आवश्यक भावनाएँ जगे बिना न रहेगी । आज दान देने वाले व्यक्तियों में इस बात का ध्यान रखने वाले लोग कम

१ ओमित्येतदक्षरमुद्गीथं मुपासीत (अ० १. खंड १)

२ ओमित्येतदक्षरं परमात्मानोभिधानं नेदिच्छम् । तस्मिन्निह प्रयुज्माने स प्रसीदति प्रियनामं ग्रहणं इव लोक ।

३ अथ सल्लु य उद्गीथः स प्रणवो, यः प्रणव स उद्गीथ,

इत्यसी वा आदित्य उद्गीथ एव प्रणव ओमिति ह्येव स्वरश्रोति (अ. १. खण्ड ५) छ. उप.

हैं। जो दान देने के साथ द्रव्य की सुव्यवस्था की बात सोचते हैं। कहीं कहीं दातार सर्पराज सदुदा प्रहरी के निरीक्षण में अपने द्रव्य की व्यवस्था छोड़ देते हैं। उससे सम्यक्त्व के अंगो का पोषण न होकर प्रहरी की स्वच्छवृत्ति की पुष्टि होती है। इसलिए विवेक के प्रकाश में दानवीरो को कार्य करना चाहिए। आखिरी बन्द कर द्रव्य देने मात्र से हित की साधना कैसे हो सकती है ?

ग्वालियर नरेश
का जैन धर्म तथा
संस्कृति से
अनुराग

ग्वालियर के नरेश जैन धर्म से प्रभावित रहे हैं, यह बात वहाँ की इतिहासिक जैन सामग्री से स्पष्ट होती है। स्व० महाराज माधोराव शिन्दे ने अशोक के समान धार्मिक उदार नीति को अपनाया था। जब कोलारस ग्राम में बृहत् उपद्रवी ग्राहणों ने जैन रथ यात्रा में भयकर उपद्रव किया था, उस समय ग्वालियर महाराज ने पूर्णतया न्याय का संरक्षण करते हुए उपद्रव करने वालों को कठोर दंड दिया था और जैन धर्म के गौरव की रक्षा की थी। उस समय मगरोनी के जैन सेठ राजाराम जी ने बड़ा पराक्रम दिखाकर बहुत से धर्मान्ध अत्याचारियों को तलवार के घाट पर उतारा था। जब महाराज ग्वालियर को उबत वीर बणिक का वर्णन विदित हुआ, तब उनसे सेठ राजाराम को विशेष सम्मान पूर्वक पुरस्कार प्रदान किया था। वर्तमान नरेश श्री जयाजीराव महाराज आज मध्यभारत के राजप्रमुख के रूप में अपने विचारवान प्रजा-वत्सल पिता का पदानुसरण कर रहे हैं। उनकी जैन संस्कृति के प्रति आदर भावना सुनी जाती है। सन १९५१ ई. में रावराजा सरसेठ हुकुमचंद जी इंदौर के सम्मान समारम्भ के अवसर पर महाराज जयाजीराव ने अपने महत्वपूर्ण भाषण में कहा था—“आज चारों तरफ युद्ध का आतंक छाया हुआ है और सत्य, शांति व अहिंसा की सद्भावनाएँ आज धूमिल पड़ गयी हैं। जितनी कि आज विषमता तथा हिंसा के बीच हमें महापि महावीर के सत्य, शांति और अहिंसा के आदर्शों और सिद्धान्तों की जीवन में आवश्यकता है, उतनी कमी नहीं रही है। इस कारण आज उनके अनुयायियों का प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने समाज को सगठित करें और विश्वशांति के कार्य में ज्योतिर्धर का कार्य करें।”

जैन इतिहास के सम्बन्ध में उनसे कहा था—“अब जबकि देश को स्वतंत्रता मिल गई है, और परिस्थितियाँ बदल गई हैं, तो श

(विद्वेदियों की) भ्रांतिमें और केवल मतों के आधार पर निमित्त अटकलों का अंत हो जाना चाहिए। इसलिए मैं महासभा के उत्साही व्यवस्थापकों से निवेदन करूंगा, कि वे अपने प्राचीन इतिहास, उससे संबंधित घटनाओं और महापुरुषों के संबंध में शोध करवायें व प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध करें। जिससे सत्य का प्रकाश उन महाविभूति के जीवन पर पड़ सके, जिनसे कि युगों से आप प्रेरणा और स्फूर्ति पाते रहे हैं। धार्मिक नीति के विषय में उनसे कहा था— “मेरे पूज्य पिताजी की सदैव यही नीति रही थी, कि शासक को जाति विशेष की कृपा या विद्वेष से ऊपर रखा जाय और न्याय निष्पक्ष होकर किया जाय, इन्हीं विचारों का समा-दर कर उनसे कोलारस में विमान तथा रथ-यात्रा निकालने की आज्ञा प्रदान की थी। मैंने भी अपने शासक काल में उनके पद चिन्हों पर चलने का प्रयत्न किया है। मेरे शासन काल में जब पछार में विमान तथा रथ यात्रा निकालने का प्रश्न मेरे सामने प्रस्तुत किया गया, तो मैंने प्रत्येक धर्म की स्वतंत्रता की मान्यता देते हुए वहाँ भी विमान तथा रथ यात्रा निकालने की आज्ञा प्रदान की थी।”

मुरेना

यहाँ से चलकर संघ माधवदी दूज को प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन धर्म प्रभावक पं० गोपालदास जी वरैया की

निवास भूमि मुरेना पहुँचा, जहाँ उनके द्वारा स्थापित जैनसिद्धांत विद्या-लय विद्यमान है। पहले इस विद्यालय की जैन समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह जैन समाज में धर्म विद्या के शिक्षण के लिये आवश्यक अथवा केम्पिज के विद्या मंदिर सदृश माना जाता था। स्व० वरैया जी प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उनके प्रबल तर्क के समक्ष प्रमुख आर्य समाजी विद्वान् दर्शनानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित होना पड़ा था। कलकत्ते के प्रकाण्ड वैदिक विद्वानों ने उनके तर्कपूर्ण भाषण की बहुत प्रशंसा की थी। वे त्यागी तथा निस्पृह आदर्श चरित्र विद्वान् थे। वे बिना पारिश्रमिक लिये धर्म के भगत्ववश शिक्षा देते थे। वे धन तथा धनिकों के दास नहीं थे। उनका जीवन बड़ा प्रामाणिक था। समाज के श्रेष्ठ विद्वानों में उनकी गणना होती थी।

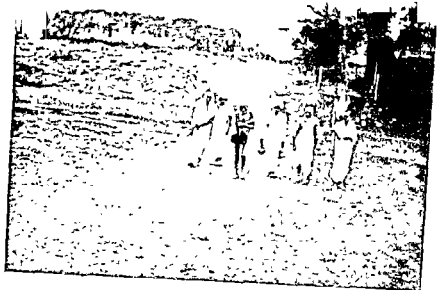
उनकी कीर्ति से आकर्षित होकर निल्लीकार (दक्षिण) से एक

निर्ग्रन्थ मुनिराज १०८ अनतकीर्ति महाराज ज्ञान-लाभ के हेतु सन १९१९ के लगभग मुरैना पधारे थे, किन्तु दुर्दैव-वश उनकी कामना पूर्ण न हो पाई और शीघ्र ही उनका वहा स्वर्गवास हो गया।

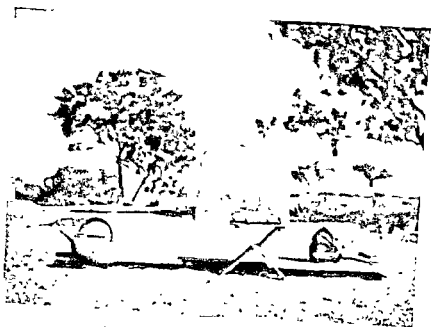
वह घटना भी बड़ी विचित्र थी। मुरैना की मिट्टी में रेत का अंश होने से वह गर्मी में भीषण उष्ण हो जाती है और ठंड में अत्यन्त शीतल होती है। उस जमाने में दिगम्बर मुनिराज का उत्तर भारत में कभी किसी को दर्शन नहीं हुआ था, अतः एक अज्ञ भक्त भाई ने सोचा, सर्दी की भीषणता से जब हमें असह्य पड़ा होती है, तब इन दिगम्बर गुरु महाराज को बहुत कष्ट होता होगा, इससे उसने जिस कमरे में महाराज का निवास था, वहा एक सिंगडी जलते हुए कोयलो से भरकर रख दी और कमरा बन्द कर दिया। उसने मन में सोचा, इसमें जो दोष होगा वह मुझे लग जायगा। रात्रि का समय है। महाराज ध्यान में है, कुछ बोलेंगे नहीं। कल कुछ बहेगे तो देखा जायगा।

किसी को पता न था, कि मुनिराज को पुगना मृगी का रोग था, अग्नि का सपर्श पाकर अपस्मार का वेग हो गया। उससे मूर्छित होकर वे गिर गए और उनका पैर सिंगडी की अग्नि के भीतर पड़ गया। पैर से जो रक्त की धारा बही, उसने उस अग्नि को बुझाया। होश में आने के बाद मुनिराज ने सच्चे महावीरो के समान दृढ मनोवृत्ति का परिचय दिया तथा शांत भाव से द्वादश अनुप्रेक्षाओं के चिंतन पूर्वक उस असह्य वेदना को सहन किया। कोई हल्ला नहीं किया, चुपचाप मौन ही रहे आए। प्रभात हुआ। दर्शनार्थी आए। भीषण दृश्य देखकर घबड़ा गए। सब समाज बड़ी दुःखी हुई, लेकिन एक का दुःख दूसरा कही बाट सकता है ? समय-अविरोधी उपचार किए गए, किन्तु वे फलप्रद न हुए। प्रायः मुनि जीवन में सयमी रहने से रोग आता नहीं है, और यदि कोई बीमारी असाता के उदयवश आई, तो शरीर को समाप्त होते में विलम्ब नहीं लगता है।

अनतकीर्ति महाराज के शरीर से अनुर्जित रोग से अक्रमण किया। लोग किंवर्तव्य विमूढ थे। बड़े बड़े विद्वान थे, किन्तु कामों के प्रचण्ड प्रहार के आगे पड़िताई क्या करेगी ? उस रोग के कारण वे महाराज मूर्छित हो जाते थे। सारा पैर जला है। उसकी वेदना शांत भाव से सहन करते थे। अब नया भीषण रोग आ गया। उस अवस्था में उनके मुख से कोई शब्द निकलते थे, तो "अरिहता सीमधरा।" उसे समय वे दुःखी श्रावको को उल्टा साहस



महाराज के गमन का भव्य दृश्य ।



आचार्य श्री का आसन, कमंडलु, पिछड़ी तथा शस्त्र ।



कुछ ग्रामवासियों के साथ आचार्य महाराज ।



आचार्य श्री जैन मंदिर के निर्माण की चर्चा करते हुए (लोणद में) ।

देते हुए कहते थे; "तुम क्यों घबड़ाते हो, धारीरू नहीं चलता, उसे छोड़ देना, रत्नत्रय धर्म नहीं छोड़ना" यह कहकर पुनः "अस्थिता सीमंधरा" उच्चारण करते थे। उनको स्थिरता, निष्पृहता, वैराग्यभाव आदि देखकर आदमी चकित हो जाता था। ऐसी स्थिति में दिगने लगता है कि इस आत्मा में भेद-विज्ञान का किना उज्ज्वल प्रकाश है? मूर्छा आने पर चुप हो जाते, अन्यथा 'अस्थिता, सीमंधरा' शब्द कुछ देर तक मुनार्द देता था।

अब प्रभु का नाम लेते-लेते प्राणों ने उर्ध्वलोक को प्रयाण कर दिया। देखा तो जात हुआ कि महाराज ने स्वर्गारोहण कर दिया। ऐसी विशुद्ध आत्मा का दाह संस्कार वस्ती के बाहर एक योग्य-स्थल पर किया गया था। इस कारण मुरैना अनंत कीर्ति मुनिराज की समाधिभूमि क्षेत्र के रूप में मान्य है।

पूज्य ५० गोपालदास जी वरैया के दिवंगत होने के बाद भा कुछ समय पर्यंत विद्यालय का गौरव वर्धमान रहा। ५० वंशीधरजी न्यायालवार, ५० देवकीनंदनजी सिद्धांत शास्त्री, ५० मार्णिकचंदजी न्यायाचार्य सदृश उद्भट विद्वान शिक्षक थे।

उन दिनों में हमें भी वहाँ दो वर्ष विद्याभ्यास करने का सौभाग्य मिला था। उस समय शिक्षा प्राप्त विद्वान आज भी समाज के सेवकों में अपना विशेष स्थान बनाए हुए हैं। कार्य सचालको की नीति में अन्तर आने से १९२२ में देवकीनंदनजी वारजा आश्रम में चले गए। ५० वंशीधर जी न्यायालवार ने १९२३ में स्थान बदल दिया। इस तरह श्रेष्ठ गुरु

भक्त विद्वानों को बाध्य होकर जब बाहर जाता पड़ा, ५० वरैया जी तब संस्था की स्थिति में अन्तर पड़ चला, और आज पुरुष पारस थे दिन यह कहना पड़ता है कि अब वह बात नहीं रही। वह सौरभ जाता रहा। गुरु गोपालदासजी के अनुराग वश धर्मात्मा दानी लोग आज भी संस्था को सहायता देते हैं।

प्रायः देखा जाता है, कि जब पुरुष पारस चला जाता है, तो उसके बाद उस स्थान के गौरव की रक्षा कठिन वस्तु हो जाती है। कवीन्द्र रवीन्द्र के दिवंगत होने के बाद शान्तिनिकेतन प्राणहीन सा दिखता है। गांधीजी के निधन के पश्चात् सेवाग्राम भी ऐसा ही प्रतीत होता है। गुरु गोपालदास जी के बाद मुरैना विद्यालय की छाप लगाने की अब विद्वानों को जरूरत नहीं है। हमें याद है एक बड़े विद्वान को रैना

जाकर कुछ दिन इसीलिए रहना पड़ा था, कि वे लोगो से यह कह सकें हों माई! हम मुरैना पड़ आए हूँ ।" वे दिन अब कहा हूँ ?

जिस विद्यालय में सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन करने का हमें सौभाग्य मिला, उसके विषय में उपरोक्त शब्द हमें सत्यानुरोध से लिखने को विवश होना पड़ा । सुन्दर रीति से चलती हुई संस्था के पतन में प्रायः दो कारण दृष्टि गोचर होते हैं । एक तो यह कि वहाँ न्याय की प्रतिष्ठा नहीं रहती है अथवा सदाचरण के लिए स्थान नहीं होता है । समाज में अपनी दलबन्दी के बल पर संस्था की उन्नति की आवाज उठाने को कौन रोक सकता है ? किन्तु संस्था की शुभकीर्ति के सिवाय परीक्षा फल देखने से पता चल जाता है, कि इसमें सत्याश कितना है और प्रचारपटुता (Advertisement) कितनी है । आज भी अच्छे धार्मिक बंधु संस्था के अभ्युदय के हेतु उद्योग करें, और निर्मल होकर कटकों को दूर करें, तो स्याद्वाद-चारित्र्य, न्याय वाचस्पति पं० गोपालदास जी वरैया का पुण्य-स्मारक वीतराग संस्कृति की विकृति के मध्य चमका सकता है ।

जब आज असंयम, उच्छृंखलता, भोग लिप्सा वषणमुक्त हो ससार को अपने आधीन बनाकर विचित्र विपदाओं का जाल बना रहे है तब आचार्य शांतिनागर महर्षि ने अपनी सिंह गर्जना से असंयम की तर्जना करते हुए समाज के उज्ज्वल चरित्र निर्माण में आदर्चयप्रद उन्नति दिखाई है । इसी प्रकार गुरुजी के स्मारक के संवर्धन का उपाय किया जाय, तो संस्कृति सेवी सच्चरित्र शास्त्रज्ञों की वृद्धि होना असम्भव नहीं है । जिसके हृदय में समाज की शैक्षणिक स्थिति के विषय में दर्द हो, उसे यदि समर्थ समाज-सेवियों का सहयोग प्राप्त हो जाय, तो संस्था शिक्षण क्षेत्र में ज्योतिर्मदिर की प्रतिष्ठा को पा सकती है । गुरु गोपालदास जी के अवर्णनीय उपकारों को स्मरण करते हुए उद्योग का किया जाना आवश्यक है ।

आचार्य श्री के मोरेना पधारने पर शास्त्रीय परिषद का उत्सव शु० ज्ञानसागर जी के नेतृत्व में हुआ । विद्यालय का अधिवेशन ग्वालियर राज्य के शिक्षण विभाग के अधिकारी रायबहादुर मुले की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ । श्री जी को विराजमान कर रख निकाला गया था । राज्य के सुप्रबल के कारण किसी प्रकार का विघ्न नहीं आया । समाज के लगभग तीन हजार व्यक्ति रवोत्सव में थे । अजमेर के प्रख्यात दानी और महान धर्म सेवक रायबहादुर सेठ टीकमचन्द जी सोनी भी मुरैना पधारे थे । पढ़ह

दिन पंचमंत मुरैना में सम्पन्नचारित्र रूप अमृत की धर्या करके आचार्य सध ने माघ सुदी एकम को धौलपुर के लिए प्रस्थान किया। धौलपुर की जनता ने संध का बड़े आदर भाव से स्वागत किया। इस ओर कभी दिगम्बर साधु का विहार किसी ने न देखा और न सुना। सध के पहुंचने से जैन धर्म की बहुत प्रभावना हुई।

राजाखेड़ा-कांड वहा से संध चला और ६ फरवरी सन् १९३० को राजाखेड़ा पहुँच गया। यहाँ भी धार्मिक समाज ने खूब स्वागत किया। जिनमंदिर के समीपवर्ती भवन में आचार्य महाराज सप्तर्षि शिष्यो सहित ठहरे। उसके साम्हने के चबूतरे पर सब त्यागी लोग ध्यान, अध्ययन, सामायिक करते थे। एक सभा मंडल पास में बनाया गया था, जहाँ तीन दिन तक धर्म प्रभावना हुई। कोई विघ्न का लेश भी न था। उस समय आचार्य महाराज के अंतःकरण ने विहार करने की प्रेरणा की, किन्तु आगत अनेक पंडितों आदिके आग्रह का विचार कर उनमें विहार नहीं किया। चौथा दिन भी सानंद व्यतीत हो गया। पाँचवा दिन आया। राजाखेड़ा में कुछ पापी लोग, जो सभवतः बलि के वंशज होंगे, जन्मतः न सही, तो प्रकृति की अपेक्षा ही सही, संध पर सक्क का पहाड़ पटकने के पाप-प्रयत्न में जोर से संलग्न थे। इसी से आचार्य श्री के पवित्र अंतःकरण ने प्रस्थान करने का परामर्श किया था, किन्तु सद्भावना वश लोकानुरोध का विचार कर दे' सक गये थे।

अब पाँचवा दिन आया, किसे कल्पना थी, कि आज कल्पनातीत उपद्रव होगा, किन्तु सुयोग की बात कि उस दिन आचार्य महाराज चर्या के हेतु कुछ पूर्व निकल गए थे। आहार की विधि भी शीघ्र सम्पन्न हो गई। सब त्यागी लोग चबूतरे पर सामायिक करने का विचार कर रहे थे, कि आचार्य श्री ने आकाश पर दृष्टि डाली और उन्हें कुछ मेघ दिखाई दिए। यचार्य में वे जल के मेघ नहीं, विपत्ति की घटा के सूचक बादल थे। उनको देखकर आचार्य श्री ने कहा "आज सामायिक भीतर बैठकर करो।"

गुरुदेव के आदेश का सब ने पालन किया। सब मुनिराज आरम्भ में ध्यान में मग्न हो गए। सर्व जीवों के प्रति हमारे मन में समता का भाव है, यह उनमें अपने मन में पूर्णतः चिंतवन किया और तत्कालीन प्रारम्भ किया। अन्य श्रावक लोग अतिथि-सविभाग के पदधातु अपने २ भोजन में लगे।

इतने में क्या देगते हैं, लगभग पाच सौ गुंडे गयी चमचमाती तलवार लेकर मुनि सघ पर प्रहार करने के हेतु छिद्दी ब्राम्हण के साथ वहां आ गए।

मुनिराज आज बाहर ध्यान नहीं कर रहे हैं, इससे उनकी आश्रमण करने की पाप भावना मन के मन में ही रही आई। उन नीचों ने जैन श्रावकों पर आश्रमण आरम्भ किया। श्रावकों ने यथायोग्य साधनों से मुकाबला किया। श्रावक लोगो ने जोर की भार लगाकर उन आतताइयो को दूर भगाया था, किन्तु शस्त्र-सज्जित होने के कारण वे पुन बढते आते थे, ताकि जैन साधुओं के प्राणों के साथ होली खेलें। श्रावक भी गुरुभक्त थे। प्राणों की परवाह न करते हुए उनसे खूब लड़े। किसी का हाथ बटा, किसी की अंगुली बटी, जगह जगह चोट आई।

इतने में सध्या की रियासत की सेना आई, तब यह नरपिशाचों का वा उपद्रव रुका। छिद्दी ब्राम्हण पकड़ लिया गया। उस उपद्रव के समय सघ के साधुओं में भय का लेश भी नहीं था, वे ऐसे उठे थे, भानो कोई चिंता की बात ही न होवे। उनने अद्भुत आत्म समग्र का परिचय दिया। उस समय मेवो ने भयकर वर्ण कर दी थी, इससे उपद्रवकारियों का मनोरथ सफल न हो पाया।

पुलित के बड़े अधिकारी मुनि महाराजों के पास आए। उनके दर्शन कर उनके मन में उपद्रवकारियों के प्रति भयकर क्रोध जागृत हुआ। वे सोचने लगे, ऐसे महात्मा पर जुल्म करने की उन नरपिशाचो ने चेष्टा कर बड़ा पाप किया। उनको कड़ी से कड़ी सजा देंगे।

प्रभात का समय आया। आचार्य महाराज ने यह प्रतिज्ञा की थी, कि जब तक तुम छिद्दी ब्राम्हण को हिरासत से नहीं छोडोगे, तब तक हम आहार न लेंगे।

पुलित अधिकारियों ने कहा— "महाराज ! बदमाशों के प्रति दया की बात आप क्यों कहते हैं ?"

महाराज ने कहा— "हमारा उनके प्रति जरा भी विद्वेप नहीं है। हमारे निमित्त से वे कष्ट पाय, यह देखते हुए हम कैसे आहार करें?" साधु थक था आग्रह देखकर उस समय उनको छोड दिया, शायद यह सोचकर कि पीछे न्याय के अनुसार इन पर कार्यवाही की जायगी। अभी तो इन तपस्वियों का आहार हो जाने दो। उस समय लोग उन पापी लोगोको धिक्कार देते थे,

प्राणातकारी शत्रु पर भी प्रेमभाव
उनका अतःकरण भी स्वयं उनको भिक्कार देता था।
सच्ची अहिंसा की प्रतिष्ठा तो ऐसे ही मुनियों में होती
है। प्राण-घातक के लिए भी भाई को भावना आज की
दुनिया में कौन रख सकता है। आचार्य महाराज को अब कर्मों के सिवाय
और कोई भी शत्रु नहीं दिसता है।

गांधी जी के ये शब्द आचार्य शातिसागर महाराज के विषय में
बित्तने उपयुक्त दिसने हैं “वधुत्व से यह मतलब नहीं है कि जो तुम्हारा
वधु बने और तुमसे प्रेम करे, उसके तुम वधु बनो और उससे तुम प्रेम करो।
यह तो सौदा हुआ। वधुत्व में व्यापार नहीं होता और मेरा धर्म तो मुझे
यह सिखाता है, कि वधुत्व केवल मनुष्य मान से ही नहीं, बल्कि प्राणी मात्र
के साथ होना चाहिए। हम अपने दुश्मन से भी प्रेम करने के लिए तैयार
न होंगे, तो हमारा वधुत्व निरा ढोंग है। दूसरे शब्दों में कहें, तो जिसने
वधुत्व की भावना को हृदयस्थ कर लिया है वह यह नहीं कहने देगा कि
उसका कोई शत्रु है।”

शत्रु की मुख्यता आचार्य श्री के व्यवहार को देखकर यौन रहेगा, कि
या उदाहरण इनकी दृष्टि में भी कोई शत्रु नाम की प्राणधारी मूर्ति
है ? अपने अनन्त प्रेम से ये समस्त विश्व की मंगलमय
बनाते हैं।

मैंने सन् १९४९ में कबलाना में महाराज से दैव और पुरुषार्थ पर
बर्चा छोड़ी थी। उस प्रसंग में धौलपुर की घटना का उल्लेख करते हुए उनसे
कहा था—“धौलपुर के राजाखेड़ा ग्राम में छिद्दी ब्राम्हण पांच सौ आदमी
लेकर हमारे प्राण लेने आया था। उसके आने से एक घंटा पहले हम
बाहर के बंदे भीतर सामायिक करने बैठ गये थे। बाद में मूसलबार
बर्षा आ गई। इसके अन्तर पुलिस के आने से वे लोप भाग गए।”
इस घटना के द्वारा वे पुरुषार्थ के एकान्तवाद का निराकरण करते हुये
कहने लगे “ऐसी स्थिति में दैव बलवान है”। काम करना हाथ में
नहीं है। हाथ में होगा भी तो हम प्रतीकार न करेंगे। शेर मार्ग में आता है। वह
खापगा, तो भी हम हटेंगे नहीं। हमारा कर्म पर दृढ़ विश्वास है। कर्म
प्रतिकूल न होगा, तो समुद्र में भी फंके जाने पर कुछ नहीं होगा।”

महाराज ने यह भी कहा था—“कोई गाली देता है, कोई प्रशंसा करता
है। सब अपना अपना काम करते हैं। आत्मा को भी अपना कास करना

चाहिये, तब कल्याण हो। धर्म मार्ग पर चलोगे, तो मोक्ष मिलेगा। इसमें शका क्या? भगवान ने सड़क बताई है।”

एक दिन महाराज कहने लगे—‘हमारी भक्ति करने वाले को जैसे हम आशीर्वाद देते हैं, वैसे ही हम अपने प्राण लेने वालों को भी आशीर्वाद देते हैं। उनका कल्याण चाहते हैं।” इन बातों की साक्षात् परीक्षा राजा-खेड़ा के समय हो गई। ऐसे विवट समय पर आचार्य महाराज का तीव्र पुण्य ही संकट से बचा सका, अन्यथा कौन शक्ति थी, जो ऐसे व्यवस्थित पद्धति से जीवन की रक्षा कर सकता?

इस प्रसंग पर ब्राह्मण वर्ण के विषय में भगवान् ऋषभदेव का कथन किसे स्मरण न आया, कि इस कलिकाल में ब्रह्म का दर्शन करने वाले कुलों में प्रभूत पुण्य परमहंस वृत्ति वाले श्रेष्ठ संतों के तथा उनके शासन के प्रति अत्यन्त निर्दय व्यवहार करेंगे? शिकारी हरिणों के प्रति बिना कारण विद्वेष धारण करते हैं, इसी प्रकार पापी जीव भी अकारण साधुओं के प्रति दुर्भावधारण करते हैं। कदाचित् आचार्य महाराज का विहार हृदय की प्रेरणा के अनुसार हो गया होता, तो राजाखेड़ा काण्ड नहीं होता, बल्कि भविष्य अमिट है। और भी जगह देखा गया है, भक्त लोग महाराज से अनुरोध करते हैं और कष्टनाश से वे लोगों का मन रखते हैं, तब गडबड़ी हुई है। जब महाराज ने आत्मा की आवाज के अनुसार काम किया है, तब कुछ भी बाधा नहीं आई है।

एक दृष्टि से राजाखेड़ा काण्ड का बड़ा महत्व है। कमठ के उपसर्ग से भगवान् पार्श्वनाथ की महिमा अति विवक्षित हुई थी, इसी प्रकार इस संकट के द्वारा आचार्य श्री की आत्म-सामर्थ्य अधिक प्रकाशमान हुई। धौलपुर स्टेट ने तत्परता पूर्वक कर्तव्य पालन किया। साधुओं का मार्ग दूसरा है और शासकों का कर्तव्य पथक है। महापुराण में आचार्य जिन सेन स्वामी ने लिखा है—

“नरेश यदि दण्ड धारण करने में शैथिल्य दिखावे, तो ‘प्रजा में मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बड़ा मत्स्य छोटे को खा जाता है, इसी प्रकार बलवान् व्यक्ति निर्बल को बिनष्ट कर देगा।

आगरा राजाखेड़ा से चलकर संघ ता. १३ फरवरी सन् १९३० को आगरा पहुंचा। बड़ा शानदार स्वागत दिया गया था। १५ फरवरी को बेलनगज के मंदिर जी से रथोत्सव निकला था।

आचार्य शांतिसागर महाराज अपने सप्त दिगम्बर सिंघों सहित रथ के आगे आगे थे। जुहूस कचेरीघाट, जुम्मा मसजिद, जोहरी बजार आदि मुख्य रास्तों पर से बड़े वैभव के साथ निकला था, कारण सोने चांदी का बहुमूल्य सामान होने से उसकी शोभा अधिक वृद्धिगत हो गई थी। हजारों आदमी 'जैन धर्म की जय', 'आचार्य शांतिसागर महाराज की जय'—रोप कर रहे थे। फाल्गुन वदी चौदस को भोतीकटरा में आचार्य महाराज का वैद्य लोच हुआ था। लगभग पंद्रह हजार जनता इकट्ठी हुई थी।

आगरे में जैन समाज की अच्छी सख्या है। इससे महाराज के उपदेश से बहुतों ने लाभ लिया। महाराज के आसाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से कठिन से कठिन नियम लेना भी लोगों को सरल लगने लगता था। यह तो महाराज के पास आने पर अनुभव में आता है, कि कड़ी प्रतिज्ञा लेने में उसकी वदुता नहीं दिखती। मेरा अंत बड़ा है, मैं बड़ा ब्रती हूँ, यह अहंकार नहीं होता है। महापुराण में लिखा है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर पटखड की विजय करते हुए जब वृषभावल पर्वत पर अपनी विजय प्रशस्ति लिखने, गए तो उनका मान जाता रहा, कारण पर्वत पर पूर्व में पटखड विजेता अगणित चक्रवर्तियों के नाम अंकित थे। इससे चक्रवर्तियों की यह धारणा बदल गई, कि मैं ही अकेला पृथ्वी का स्वामी नहीं हूँ। मेरे सदृश अगणित हो चुके हैं। पश्चात् चक्रवर्तियों ने नाकिणी रत्न की लेकर पर्वत पर लेख लिखा, कि नाभिराज महाराज के पीता तथा भगवान् वृषभनाथ के पुत्र ने पटखड से मंडित इस पृथ्वी को अपने अधीन किया है। महापुराणकार के महत्वपूर्ण शब्द ये हैं —

“चक्रवर्ती भरत ने नाकिणी रत्न को लेकर जब लिखने की इच्छा की, तब उनकी दृष्टि हजारों राजाओं के नामों पर पड़ी। असह्यता कीटि कल्पकाल में जो नरेश हो चुके हैं, उनके नामों से नाकिणी पर्वत को देख चक्रवर्ती अंकित हुए। इस कारण उनका मान कुछ ढीला पड़ा और वे कुछ लज्जित से हुए, यह भरत क्षेत्र अब दूसरों ने शासन के आधीन नहीं रहा है, ऐसा भ्रम दूर किया। उन्होंने स्वयं किसी एक चक्रवर्ती का नाम मिथ्याकर यही सोचा कि संसार में सभी लोग अपने अपने स्वार्थ में परायण रहा करते हैं। (महापुराण सर्ग ३२)

पर्वत पर उनमें अपने लेख में लिखा था “श्री नाभिराज के नाती श्री वृषभनाथ के पुत्र ने पटखड से मंडित इस पृथ्वी पर शासन किया।

सर्वं नरेन्द्रो वे विजेता ने लक्ष्मी को जानेवाली मानकर तथा जगत् में विसर्पण शीला नीति को इस पर्वत पर अचल बनाया ।”

वृषभाचल पर जैसे चन्द्रवर्ती का अहंकार दूर होता है, मन में मार्दव भाव जागता है, इसी प्रकार उग्र तपस्वी आचार्य महाराज को देखते ही बड़े-बड़े तपस्वियों का अहंकार दूर होता है, और ऐसा लगता है, कि मैं तो समय के शिशु वर्ग में हूँ । अभी तो मुझे बहुत मजिल तप करनी है । अपने व्रत के बाँझों के हल्केपन की कल्पना हो जाने से उसका भार नहीं लगता है । सम्भवतः यही मनोवैज्ञानिक कारण होगा, जो आचार्य श्री के समीप उपवासादि व्रतों को ग्रहण कर पालन करने में भारीपन नहीं लगता, व्यथा नहीं होती । उनकी अचल और स्थिर प्रकृति को देखकर मनुष्य अपने मनमें सोचता है, “देखो इतनी धीरे तप करते हुए भी ये अडिग रहते हैं । मैं जरा सा नियम लेकर भी क्या डिग जाऊँगा ? मैं भी मानव हूँ । गुरुदेव का आदर्श स्मरण करते हुए अवश्य प्रतिज्ञा पालन में उत्तीर्ण होऊँगा ।” यह सोचकर बहुत लोगो ने महाराज के पास से विविध समय ग्रहण किए । उनमें नियम लेने वाले बड़े सुखी देखे गए । नागपुर में मत्त १९२६ के जनवरी में पधारने पर एक कामठी के ग्वाले ने दूध में पानी न मिलाने की प्रतिज्ञा कर ली थी, आज वह बहुत समृद्ध तथा सुखी है । ऐसा बहुत लोगो का अनुभव है । इसके विपरीत कहने वाले भी कोई कोई विषय लोलुपो होंगे, किन्तु वे नगण्य हैं ।

डरकर बैठने से जीवन के अमूल्य क्षण व्यतीत होते हैं, न जाने किस समय धारणा की शरण यमराज आकर गला दबा दे, अतः विषयी लोगो प्रेरणा की चक्करदार बातों के भ्रम में न फसकर समी जीवन की ओर सबको प्रवृत्त होना चाहिए । महाराज के जीवन द्वारा ही यह शिक्षा प्राप्त होती है । उनके सपक में रहने वाले कई भाई पहले त्याग शून्य थे, अब वे बढ़ते बढ़ते बड़े से बड़े त्यागी हो गए । एक मुनिराज मुनाते थे, कि हम पहले आचार्य महाराज का कमण्डलु हाथ में लेकर साथ में ही चलते थे, फिर उनके सत्संग से थोड़ा थोड़ा समय पालने लगे, और अब हमारे हाथ में ही वह कमण्डलु आ गया ।

• आचार्य महाराज को सार रूप वस्तु रत्नत्रय दिखती है । उसके सिवाय पुद्गल का वैभव (पूर्णतया सार रहित दिखता है) । पुद्गल का वह रूप उनके मन को अचता है, जो वीतरागता की विमल ज्योति को जगता

है । इसी से वे तीर्थङ्गरो आदि की चरण रज से पवित्र पर्वतो की वदना के हेतु हजारों मील पैदल यात्रा को निकले हैं, किन्तु रागरजित पुद्गल का वैभव उनके मन को नहीं खेंचता है । इसलिए उनसे कलापूर्ण आगरा के २२ जिन मंदिरों का घ्रान से दर्शन किया, किन्तु जगत में विद्ययात ताजमहल देखने का इच्छा भी न की, शाहजहा के किले को देखने की तनिक भी आकांक्षा न की, और भी कलामय कृतियों की ओर उनका मन नहीं गया । इसका क्या कारण है ? क्या वे ललित कलाओं से द्वेष करते हैं ? इसका यह कारण नहीं है कि आत्म सौन्दर्य को दर्शन करने से पुद्गल का वैभव उन्हें सारशून्य दिखता है, क्षणिक प्रतीत होता है तथा राग द्वेष के विकारा का सर्वथा होने के कारण आत्म सौन्दर्य का संहारक दिव्यता है ? जिस इद्रधनुष को जगत देख दृष्टि होता है, कविगण विविध कल्पनाओं द्वारा जिसे अदभुत सौन्दर्य का पुञ्ज मानते हैं, वही इद्रधनुष वैज्ञानिक की दृष्टि में साधारण वस्तु बन जाता है कारण वह उसके अतस्तत्त्व को जान चुका है कि वह इद्र का धनुष नहीं है । जल कणों के भीतर से सूर्य किरणें निकलने से यह वर्ण परिवर्तन होता है, इसी प्रकार आत्म विज्ञान वाले महामुनियों को बाह्य रागवर्धक सामग्री आवर्षण तथा आराधना की वस्तु नहीं दिखती है । उन्हें वीतरागता पूर्ण साधन सामग्री प्रिय लगती है । शाहजहा को कामिनी की स्मृति में खड़ा किया गया ताजमहल उनके मन में दर्शनेच्छा को नहीं जगाता, हा, थमण बेलगोला में बाहुबलि भगवान के चरण अवश्य उनके चित्त को खेचते हैं । विश्व पर्यटक और विख्यात लेखक प्रघान मन्वी प० जवाहरलाल नेहरू ९ 'जुलाई सन १९५१ को बाहुबलि स्वामी के दर्शनार्थ पहुँचे थे । उनसे लिखा है । "मे आज यहाँ आया और इस आश्चर्यजनक मूर्ति को देखा और प्रसन्न हुआ ।" बाहुबलि के चरणों में जाने से वीतरागता के भाव जगते हैं, मोह उबर मन्द होता है, आत्म कल्याण का भाव उनके चरणों की आराधना से जगता है । ये बातें आगरे के मक्बरे में कहा है ? वहाँ शाहजहाँ की अपनी रमणों के प्रति अत्यन्त उत्कृष्ट भक्तित्व का चित्र समझ आता है । रोगी पुरुषों के लिए वह सौन्दर्य का भंडार दिव्यता है, वीतरागी के लिए वहाँ सौन्दर्य का एक क्षण भी नहीं है ।

मुनियों को पीदगलिक होते हुए भी नदीश्वर द्वीप के अष्टत्रिंश जिनद्विन्द्वों की परोक्ष वदना करने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह

दूसरी वस्तुओं में नहीं आता है। चानतराय जी ने लिखा है :-

‘कोटि शशि भानुदुति तेज छिप जान है।

महा वैराग्य परिणाम ठहरात है।

वदन नहीं कहें लखि होत सम्पद् धरम्।

भवन चावन्न प्रतिमा नमा सुख करम् ॥ ९ ॥”

नदीश्वर भक्ति में उन जिनेन्द्र विम्बा को अप्रतिम-अतुलनीय कहा है-^१

ऐसी आत्म सौन्दर्य को विकसित करनेवाली तथा अनंत सुख की जननी सामग्री की ओर ही मुनिया का मन जाता है, और अनंत दुःखा को उत्पन्न करने में कारण भूत रागाग्नि को प्रदीप्त करनेवाली वस्तुओं में उनका मन विश्रान्ति नहीं पाता है। कदाचित् ऐसी वस्तु का सानिध्य हो जाय तो ये वैराग्य के प्रकाश में उस वस्तु के स्वरूप को विचारते हुए अपनी निर्मलता को अक्षुण्ण रखते हैं, जैसे विप की भस्म बनाकर योग्य अनुपान से सेवन करने पर वह विचार नहीं करता है। इसी प्रकार वीतरागता की दृष्टि से देखे गये पदार्थ विकृति नहीं पैदा करते हैं। श्रेयस्कर मार्ग यही है, कि अपनी निर्मलता वर्धक वस्तुओं का ही आश्रय लिया जाय।

इस कारण आगरा पहुँचकर विश्व विख्यात सौन्दर्य तथा कलामय यहाँ बड़े बड़े जैन स्थलों को न देखने वाले ये आत्मदर्शी महापुरुष क्या स्वयं आश्चर्य के आगार नहीं हैं ?
विद्वान् हो चुके हैं सष आगरा में पीर कल्याणी की नशिया में ठहरा था। आहार के लिए बेलनगज आदि मुख्य मुख्य भागों में मुनिराज जाते थे। सष द्वारा आगमोक्त विषयों पर उपदेश हुआ करता था। इस आगरा का प्राचीनकाल में बड़े बड़े जैन कवियों से बड़ा संबंध रहा है। पद्म मंगल पाठ बनाने वाले कवि रूपचन्द जी, उज्ज्व कवि भूधरदासजी आदि यहाँ के ही निवासी रहे हैं। प० गोपालदासजी के गुरु प० बलदेवदासजी भी आगरा में रहा करते थे।

हिन्दी जगत् के उज्ज्वल आध्यात्मिक कवि बनारसीदास जी भैया भगवतीदासजी आदि का आगरे से घनिष्ठ सम्बंध रहा है। आगरा के

भव्य जीवों को धर्माभूत के द्वारा परितृप्त करते हुए सप्त नं जैन धर्म की खूब प्रभावना की। आगरे में संघ की एक ही बात आकुलता उत्पन्न करती थी कि मुनि पायसागर जी गोवाक वालों की प्रकृति बिगड़ गई थी और उनका शरीर क्षीण होने लगा था। अतः आचार्य महाराज ने एक ब्रह्मचारी तथा मुनि नमिसागर जी को उनकी परिचर्या के हेतु आगरे में छोड़ा था। मुनि के बीमार होने पर वैद्यावृत्य की बात तो सबको महत्व की दियेगी, किन्तु श्रावक की भी प्रकृति बिगड़ने पर आचार्य श्री का ध्यान प्रवचन-वत्सलता के कारण विशेष रूप से जाता है। आचार्य श्री श्रेष्ठ पुरुष होते हुए भी अपने को साधुओं में सबसे छोटा मानते हैं।

एक बार कवलाना में १९४६ में ब्रह्मचारी फतेचन्द जी परिवार भूपण नागपुर वाले बहुत बीमार हो गये। उस समय आचार्य महाराज उनके पास आकर बोले “ब्रह्मचारी! घबड़ाना मत, अगर यहाँ के श्रावक लोग तुम्हारी वैद्यावृत्य में प्रमाद करेंगे, तो हम तुम्हारी सम्हाल करेंगे।” जब ब्रह्मचारी जी से कवलाना में भेंट हुई, तब उनसे आचार्य श्री की सात्वता और वात्सल्यभाव की बात कही। उससे ज्ञात हुआ कि महाराज गुणों के रत्नाकर हैं। उनके हृदय में अगणित विशेषताएँ छिपी हुई हैं।

यहाँ मुनि नमिसागर महाराज को पायसागर जी की परिचर्या के लिए छोड़कर आचार्य महाराज पूर्णतया निश्चिन्त होगये, कारण वैद्यावृत्य करनेवाले को जितना दृढ़ प्रकृति का होना चाहिये, वह बात उनमें खूब है। एक बार लगभग तीन वर्ष पूर्व अजमेर में नमिसागर महाराज के दर्शन हुए। वहाँ सर सेठ भागचंद जी सोनी के यहाँ विधान महोत्सव में हमने चर्चा की, तब वे बोले, “नमिसागर बड़ी कड़ी प्रकृति का हैं।” उनकी कड़ी प्रकृति का उदाहरण इससे अच्छा और क्या होगा, कि आँखों की पीड़ा होने पर वे लाल मिर्च के पिसे हुए बीजों को आँखों में आजते थे, और दाह होते समय जरा भी नहीं घबड़ाते थे। मैंने नमिसागर महाराज से पूछा था, “आप यह क्या गजब करते हैं, इससे चोट नहीं होता है।” महाराज बोले, थोड़ी देर बाद नेत्रों में बहुत शीतलता आ जाती है।” उनकी उग्र तपस्या की उत्तरभारत के लोगों में पर्याप्त प्रसिद्धि भी है।

योग्य परिचर्या आदि होते हुए भी जब पायसागर जी की प्रकृति

नहीं सुधरी, तब कुछ दक्षिण के भाई आगरा आए और उनको अपने साथ बोलहापुर ले गए थे ।

आगरे से विहार करता हुआ आचार्य संन्यसित ६ को फिरोजाबाद के मेले में पहुँचा था । यहाँ जैन समाज अच्छी मर्यादा में है । पंडित गोपालदास जी वरेया के समान जैन धर्म के प्रभावक विद्वान् प० पद्मलाल जी न्याय दिवाकर फिरोजाबाद निवासी ही थे । वे व्यापकार के अद्वितीय पंडित थे, शास्त्रार्थ करने की कला में पूर्ण निपुण थे । उस समय भारतवर्ष के जैनियों में उनका आदर था । अन्य धर्मों के विद्वान् भी उनके नाम से घबड़ाते थे । यहाँ सात जिनमंदिर हैं । यहाँ भगवान् चंद्रप्रभु स्वामी की एक हाथ ऊंची बड़ी मूर्ति एक सतिशय प्रतिमा है । उनका दर्शन करते ही समस्त भद्र स्वामी का यह पद्य स्मरण में आए बिना नहीं रहेगा:—

"चन्द्रमा की किरणों के समान गौरवर्ण, जगत् में अत्यन्त रमणीय दूसरे चन्द्रमा के सदृश, हृदय में विद्यमान कणाय के बधन को जीतनवाले, महान् पुत्रों के द्वारा अभिवन्द्यो, मुनीन्द्र, जिन भगवान् चंद्रनाथ स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ ।"

यह वही पद्य है, जिसे समस्त भद्र स्वामी ने पढ़ा था और शिवगिरी फट कर चंद्रप्रभु भगवान् की मूर्ति प्रगट हुई थी ।

एक समय दक्षिण में आचार्य श्री के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि समस्त भद्र स्वामी के प्रणाम करते समय भगवान् चंद्रप्रभु की ही मूर्ति प्रगट हुई, अन्य तीर्थंकरों की मूर्ति क्यों नहीं प्रगट हुई ? स्वयंभू स्तोत्र में तो चौबीसो भगवान् का स्तवन है—

इस प्रश्न का उत्तर सामान्यतया अन्य विद्वान् यही देंगे कि यदि शीतलनाथ भगवान् की मूर्ति होती, तो भी शक्य उस विषय में उपस्थित की जाती ? अतः उक्त प्रश्न का कोई महत्त्व का नहीं है ।
भामिक समाधान आचार्य महाराज ने ऐसा समाधान नहीं दिया था । उनमें अगने उत्तर के साथ सुन्दर युक्तिवाद दिया था । महाराज ने वहाँ—
"चौबीस तीर्थंकरों के विशेष भक्त चौबीस यक्ष यक्षी कहे गये हैं । भगवान्

१ चंद्रप्रभु चंद्रमरीचिगौर चंद्र द्वितीय जगतीवकान्तम् ।

२ वदेर्जिभवेय महता मृगीन्द्र जिन जितस्वान्त कणायवधम् ।

चंद्रप्रभु की पक्षी ज्वालामालिनी हैं । ज्वालामालिनी मक्षी ने अपने विशेष आराध्यदेव चंद्रनाथ स्वामी की मूर्ति प्रगट करके जगत में उनके नाम का जयघोर कराकर आनन्द का अनुभव किया । उस स्तोत्र में बीजाक्षर 'बन्दे' हैं । जिस क्षण बन्दे शब्द स्वामी समस्तभद्र के मुख से निकला, उसी समय चंद्रप्रभु भगवान की अपूर्व प्रतिमा प्रगट हुई थी । आचार्य श्री के समाधान से उपस्थित उद्भट विद्वान् उनके विशिष्ट अनुभव और क्षयोपशम से प्रभावित हो गए थे ।

वही से चलकर सध एटा आया । बाद में जलेसर पहुँचा, पश्चात् हाथरस में धर्म प्रभावना तथा लोक कल्याण करता हुआ अलीगढ़ पहुँचा ।

अलीगढ़ में संध का भण्ड्य स्वागत हुआ । सूबे धर्म मयूरा चातुर्मास प्रभावना हुई । बर्षाकाल समीप आ जाने से सध ने मयूरा पहुँचकर चातुर्मास करने का निश्चय किया । मयूरा नगर प्राचीन काल से ही जैन मत्तु की का केन्द्र रहा है ।

ममाज में यह प्रसिद्ध है कि अंतिम अनुवद्ध केवली जम्बू-स्वामी का निर्वाण चौरासी मयूरा से हुआ है । कवि राजमल्ल ने जम्बू-स्वामी चरित में लिखा है -

“भाष शुक्ल सप्तमीके शुभ दिन में विपुलाचल पर्वत के शिखर से पुधर्म केवली ने मोक्ष प्राप्त किया । उस दिन भगवान् जम्बू-स्वामी मुनि-राज को, जब दिन का आधा पहर बाकी था केवल ज्ञान प्राप्त हुआ ।”

इसके पश्चात् गंध कुटी में विराजमान होकर उन महाप्रभु ने मगध आदि बड़े बड़े देशों में तथा मयूरा आदि नगरों में विहार किया । इसमें केवली भगवान् ने १८ वर्ष पर्यंत धर्मापदेश देते हुए लोगों को आनन्द प्रदान किया । इसके अनंतर उन केवली भगवान् का विपुलाचल पर्वत से मोक्ष हो गया । वे अष्ट कर्मा से मुक्त होकर अविनाशी अनंत सुख के स्वामी हो गये ।

१ तपोमामे सिते पक्षे सप्तम्या च शुभेदिने ।

निर्वाण प्राप सौधमो विपुलाचलमस्तकात् ॥११०॥

तत्रैवाहनि यामार्धे व्यवधानवति प्रभोः ।

उत्पन्न केवलज्ञान जम्बूस्वामि मुनेस्तदा ॥१११॥

२ विजह्य ततोभूमी श्रितो गंधकुटी जिह ।

इस कथन से यह ज्ञात होता है कि जबूस्वामी वा मोक्ष मगध देश की राजधानी राजगृही के समीपवर्ती विपुलाचल पर्वत से हुआ था। जब स्वामी ने अनेक देशों में अठारह वर्ष पर्यंत विहार किया था, उनमें मथुरा का भी उल्लेख है। अतः गध कुटी वा आगमन मथुरा में मानना होगा; निर्वाण स्थल मानना असम्भव है।

“मथुरा में वीर भगवान को, अहिच्छत्र में पादर्वनाय स्वामी को मे नमस्कार करता हूँ। जबूवन के मध्य से मोक्ष प्राप्त करनेवाले जबू मुनीश्वर की वदना करता हूँ।” हरिवंशपुराण में विपुलाचल पर्वतको विपुल श्रीयुक्त लिखा है—“आरुरोह गिरितत्र विपुल विपुलश्रिय” (३-६-२) अतः वहां पर ही जबू वृक्ष का वन रहा होगा, यह मानना सगत दिखता है, कारण जबू स्वामी चरित्र में लिखा है—“ततो जगाम निर्वाण केवली विपुलाचलात्। इस कारण मथुरा को जबूस्वामी की निर्वाण भूमि मानना आगमोक्त बात नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि मथुरा ने जैन धर्म की प्राचीनता को प्रमाणित करनेवाली अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान की है।

जैन संस्कृति का मथुरा के ककाली टीला की खुदाई में डा फुहरर ने अत्यन्त प्राचीन अनेक महत्वपूर्ण जैन मूर्तियां प्राप्त की थी, जो लखनऊ केन्द्र के संग्रहालय में हैं। मथुरा के संग्रहालय में लगभग ९० दिगम्बर मूर्तियां हैं। हाल की खुदाई में और भी जैन मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, किन्तु वे सब प्रायः खंडित हैं। मथुरा की खुदाई में एक भी श्वेताम्बर मूर्ति नहीं प्राप्त हुई है। सभी दिगम्बर जैन मूर्तियां ही हैं।

मगधादि-महादेश-मथुरादि-पुरीस्तथा-॥११९॥

कुर्वन् धर्मोपदेश स केवलज्ञानलोचनः ।

वर्षाष्टदशपर्यन्त स्थितस्तत्र जिनाधिप ॥१२०॥

ततो जगाम निर्वाण केवली विपुलाचलात् ।

कर्माष्टकविनिर्मुक्त शाश्वतानन्दसौख्यभाक् ॥१२१॥

जबूस्वामीचरित्र-सर्ग १२

१ मथुराए अहिच्छिते वीर पास तहेव वदामि ।

जबू मुण्डो वदे णिवुइपत्तो वि जबूवणगहणे ॥

प्राकृतनिर्वाणकाव्य

मथुरा में एक देवनिर्मित बौद्ध स्तूप मिला है, जो शक सम्वत् ७९ का अर्थात् ईस्वी सन ७९४-७८=१५७ का है। उसकी भाषा प्राकृत है और लिपि है ब्राह्मी। उस टोले में ११० जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो प्रायः कुशान वंशी राजाओं के समय के हैं। स्मिथ महाशय उनको ईसा की प्रथम तथा द्वितीय सदी का मानते हैं। एक खड्गासन जैन मूर्ति पर लिखा है। यह अरहनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा ७९ सम्वत् में देवों के द्वारा निर्मित इस स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।”

महत्वपूर्ण स्तूप इस स्तूप के विषय में फुह्रर साहब लिखते हैं “यह स्तूप इतना प्राचीन है, कि इस लेख की रचना के समय स्तूप आदि का वृत्तान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपि की दृष्टि से यह आदि लेख इंडोसिथियन संवत् (शक) अर्थात् १५० ईस्वी का निश्चित होता है। इसलिए ईस्वी सन से अनेक शताब्दी पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा। इसका कारण यह है कि यदि उसकी इस समय रचना की गई होती, जब कि मथुरा के जैनी सावधानों पूर्वक अपने हाल को लेखबद्ध कराते थे, तो इसके निर्माताओं का भी नाम अवश्य ज्ञात रहता।”

इस विषय में स्मिथ महाशय का भी यही वयन है। अतः

१ ‘The stupa was so ancient that at the time, when the inscription was incised, its origin had been forgotten. On the evidence of its character the date of the inscription may be referred with certainty to the IndoSythian era and is equivalent to A.D., 150. The stupa must therefore have been built several centuries before the beginning of the Christian era, for the name of its builders would assuredly have been known, if it had been erected during the period when the Jains of Mathura carefully kept record of their donations.’

यह सम्भव है कि ईसवी सन् के पूर्व उसका निर्माण हुआ होगा और वह कम से कम प्राचीनतम बौद्ध स्तूप के बराबर प्राचीन रहा होगा।

ईसा से दो सदी मथुरा संग्रहालय की दूसरी रिपोर्ट में लिखा है, कि पूर्व की जैन मथुरा के कंकाली टीला में ईसा से दो सदी पूर्व की महत्व-सामग्री पूर्ण जैन सामग्री उपलब्ध होती है।^१ रिपोर्ट के पृष्ठ

३९० ईस्वी सन १६२ की जैन तीर्थंकर वृषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है जो कि एक कुटुम्बिनी ने विराजमान की थी, तथा जिसने अपने पति, स्वमुर तथा गुरु के नाम का उल्लेख किया है।^१

इत देव निर्मित स्तूप के विषय में यशस्तिलक चम्पू की कथा विशेष महत्व पूर्ण है। उसमें बताया है, कि मथुरा नरेश की महादेवी उमिला रानी ने अष्टाह्निका महापर्व के आगमन पर सदा की भाति मथुरा में जिन धर्म के रथ निकाले जाने में सपरनी बुद्धदासी द्वारा विघ्न का जाल रचा देखा, तब चिन्तित हो महारानी ने सोमदत्ताचार्य के समीप जाकर कहा "भगवन् मैंने प्रतिज्ञा की है यदि आज से दो, तीन दिनमें होने वाले अष्टाह्निका की पूजामें पूर्व कन के अनुसार जिन भगवान की पूजा के हेतु मेरा रथ निकलेगा, तो मेरे शरीर स्थिति में कारण रूप वस्तुओं के प्रति मेरे मन में अभिलाषा है अर्थात् तब मैं अन्न-जल लूगी, अन्यथा मेरी अभिलाषा नहीं है।"^२

वज्रकुमार द्वारा उक्त समय उपस्थित श्री वज्रकुमार मुनिनाथ ने कहा- धर्म प्रभावना का "माता आप चिन्ता न करो, हम सरीखे आपके बालक के होते हुए अर्हन्त भगवान की पूजा में विघ्न नहीं आयागा।" इसके पश्चात् वज्रकुमार मन्त्रिराज द्रव

१ A famous jain establishment existed in kankalitila from the 2nd century B. C

२ Along the opposite wall of the rectangle in front of Bay No 2 is installed, the image of Jain Tirthankar Rishabhanath (B, 4) dedicated in the year 84 (A D 182) of Kushan king Vasudev by Kutambani who mentions the name of her husband, father-in-law & spiritual teacher.

३ "कि यद्येतस्मिन्द्वित्रि दिन भाविन्यष्टमहामहे पूर्वभमेण जिन पूजार्थ मथुराया मदीमो रथो भविष्यति तदा मे देहस्थिति हेतुपु वस्तुपु सामिलाषमनः अन्यथा निरभिलाषम्."

गति से विद्याधरपुर में पहुँचे और भास्वर देव विद्याधर आदि को अपने आगमन का वारण मथुरा में जिनेन्द्र के रथ के विहार कराने की आवश्यकता बताई ।

पश्चात् दैविक चमत्कार तथा वैभव के साथ मथुरा भगवान् जिनेन्द्र के रथ का विहार हुआ और उनके निमित्त से मथुरा में अहन्त भगवान् की प्रतिमा युक्त एक स्तूप की स्थापना हुई "मथुराया चक्रचरण परिभ्रमम्पार्हत् प्रतिविम्बाकितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठत् ।" अतः आज भी उस तीर्थ की देव निमित्त नाम से स्मृति है । "अतएवाधापि तत्तीर्थं देव निमिनाक्षयया प्रयते ।" (मत्ति पृ. - ३१४-३१५ अध्याय ६ कल्प १८.) इसी कारण प्रभावनाग में वज्रकुमार का नाम समतमद्र स्वामी ने अपने रत्नकरद श्रावका चार में लिखा है । इस वर्णन में आगत अद्यापि शब्द में विदित होता है कि सोमदेव मूरि के समय पर दसवीं सदी में वह स्तूप विद्यमान था । इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा की सामग्री का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और उससे जैन धर्म की प्राचीनता पर महान् प्रकाश पड़ता है ।

रेवती रानी अमूढ दृष्टि जग में प्रसिद्ध रानी रेवती मथुरा के नरेश मथुरा की ही थीं महाराज वरुण की रानी थीं । मथुरा के आसपास के टीलों में और भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री छिपी हुई है । इससे मथुरा की जैन संस्कृति का महान् केन्द्र मानना पड़ता है, किन्तु जन्म स्वामी की निर्वाण भूमि माने जाने का आधार नहीं मिला । चौरानी मथुरा में जब स्वामी के चरणा का पूजा में कोई बाधा नहीं है मुक्ति लाभ करने वाली आत्माओं के चरणों की स्थापना दूसरी जगह भी हो सकती है । चरण तो मूर्ति का खण्ड होने में पूज्य नहीं होगा, अतः चरण चिन्हों की ही स्थापना की जाती है, और की जानी चाहिए । रेवती-द्वारों में चरणों की स्थापना करके पूजा करते हैं । शिखर जी का मुकुटमा जब प्रीति-कौन्सिल में लदने गया था, तब वहाँ चरण और चरण चिन्ह पूजा का भेद उपस्थित हुआ था ।

महा तपस्या चातुर्मास में आचार्य शांतिसागर महाराज मथुरा में रहेंगे, इससे ऐसा लगा मानो वृष्णपुरी मथुरा में पुनः चातुराग शासन की प्रभावना का पुष्प-पुग अवनीर्ण हो गया हो । दूर दूर के हजारों लोगो ने आकर जीवित तीर्थ का दर्शन कर अपने को धन्य

माना था । आचार्य महाराज ने घोर तप करना प्रारम्भ कर दिया, सात सात, आठ आठ उपवास पूर्वक आहार लेना साधारण बात हो गई थी। देखने वाले जैन अर्जन सभी लोग चकित होते थे । जो मथुरा पाँच पाचसेर मिष्टान्न उड़ाने वाले बहुभोजी वर्ग के लिए विख्यात है, वहा आठ आठ दिन तक अन्न कण भी न ले और जल की बिन्दु भी न ग्रहण किए आध्यात्मिक साधना में बनी साध्यानी के साथ सलग्न आचार्य श्री को देख किसके अन्तःकरण पर प्रभाव नहीं पड़ेगा ? मुनि नैमिसागर जी न वसतश्चोदर व्रत प्रारम्भ किया था । श्री नमिसागर मुनि ने लघुसिंह नि श्रीडित व्रत किया था । और भी तप के साधु महान तपश्चर्या में समुद्यत थे । लोगो को ऐसा लगता था, कि हम इस प्रसिद्ध मथुरापुरी में पुराण प्रसिद्ध सप्तऋषियो का ही तो दर्शन नहीं कर रहें हैं । महान तपश्चर्या, धर्म ध्यान में सलग्नता, पडावश्यक पालन पटुता आदि बातें उक्त भावना को प्रबुद्ध करने में विशेष कारण थी । ऐसी प्रभावना ऐसा उत्साह और तपस्वियो का समागम मथुरा के इतिहास में आदर पूर्वक स्मरण किया जायगा । आगम में धर्म की प्रभावना के कारणों में तपश्चर्या को भी हेतु बताया है । ऐसे उग्र तपस्वियो के द्वारा बड़ी प्रभावना हुई । दशलक्षण पर्व के पश्चात् आश्विन वदी तृतीया को मथुरा नगर में बड़े वैभव के साथ जिन भगवान का रथ निकला था । जहा मथुरा में पहले से वर्षों न होने से मूलापन था वहा तपस्वियो के चरण पड़ते ही विपुल वर्षा द्वारा हरियाली लहलहाने लगी । साधारण जनता इसी प्रभाव से प्रभावित और आनन्दित थी । हजारों अर्जन भाईयो ने भी रथोत्सव देखकर अपना जन्म सफल किया । विद्वेपी जन जब तक जिन विम्व का दर्शन नहीं करते हैं, तब तक तो उनकी दुष्ट भावना जीवित रहती है किन्तु जिनके नेत्र ध्यानपूर्वक जिन भगवान का दर्शन कर लेते हैं, तो वे भगवान की शांत वैराग्य युक्त मुद्रा को देखकर मन में पछताते हैं कि क्यों हमने विद्वेष करने का पाप किया ।

एक बार एक प्रख्यात ब्राम्हण एडवोकेट हमसे कहते थे 'हमारे घर के पास जैन मन्दिर था । बचपन में हमने सुन रखा था, 'हस्तिना पीड्य मानोपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम् ।' इससे जैन मन्दिर वर्म न गए । एक बार जैन मूर्ति का दर्शन अकस्मात् हो गया । देखते ही भ्रम दूर हुआ । मन में बड़ा प्रेम पैदा हो गया ।" उक्त द्वेषमूलक कियदाती का मूल यह

प्रतीत होता है कि जब समर्थ जैन श्रमणों और लोक सेवकों के प्रभाव से सर्वत्र जैनधर्म की वैजयंती फहराने लगी तब ग्रामीण भाइयों को उस प्रभाव से बचाने के लिए इस कहावत का जाल रचा गया, ताकि लोग जैन मंदिर में जाने से डरें। आज भी जहाँ कहीं भ्रमभाव विद्यमान है उसका कारण प्रत्यक्ष-परिचय (direct knowledge) का अभाव है। शिवपिंडी की पूजा करने वालों का दिगम्बरत्व के प्रति विरोध 'गुड खाएँ गुलगुले से परहेज करें' सदृश बात है।

आचार्य शातिसागर महाराज की सपश्चर्या के प्रभाव से निविघ्न रथोत्सव निकला और विघ्न श्रिय लोगों ने अपने मन को बदल कर प्रेम से जिन मुद्रा के दर्शन द्वारा नेत्रों को सफल किया।

जैन महासभा की इस युग के जैन समाज के प्रमुख नेता राजा लक्ष्मणदास जी. आई. ई. मयुरावाली का नाम भारत भर में गौरव के साथ लिया जाता रहा है। इनके ही पूर्वजों ने चौरामी का विशाल जैन मंदिर बनवाया था, जो एक जवरदस्त किले के समान दिखता है। इनके ही नेतृत्व में समाज हितार्थ दिगम्बर जैन महासभा का जन्म मयुरा में हुआ था, जिसकी स्वर्ण जयंती गत वर्ष इंदौर में वैभव के साथ मनाई गई थी, तथा जिसका उद्घाटन मध्यभारत के राजप्रमुख श्रीमंत महाराजा जयाजीराव शिंदे गवालियर ने किया था।

इस महासभा में पहले सभी दिगम्बर जैन सम्मिलित हुआ करते थे। पहले इस महासभा का समाज में इतना अधिक गौरव था कि इसके उत्सव में लोग बड़ी भक्ति और श्रद्धा से भाग लेते थे। एक एक वार्षिक उत्सव पंचकल्पाणक का आनंद प्रदान करता था।

सन १९२२ के लगभग दि० जैन परिषद नाम की एक और सत्या स्थापित हो गई। उसमें नई रोशनियों के लोगो ने भाग लेना प्रारम्भ किया। इस विभाजन से महासभा का चल काम अवश्य पड़ा, किन्तु आगम के अनुकूल ही इसने सदा प्रवृत्ति की है। यदि गुटबन्दी का रोग इसे न लगा होता और यह सुयोग्य विचारवान व्यक्तियों के हाथ से सेवा लेती, तो महत्वपूर्ण धर्म तथा समाज की सेवा होती। फिर भी इतना सन्तोष का विषय है कि विपत्ति के क्षणों में महासभा भले ही पूर्ण त्रिपाशील न रही हो, किन्तु इसने धर्म तथा आगम के विरोध में अपना कदम नहीं उठाया है। यदि इसको धर्म का सहारा न होता, तो संकट के क्षणों में जीवन

वचानां सभवं न या । आज भी यदि यह पक्षपात की भावना त्याग
जिनशासन के भक्त तथा सुयोग्य पुरपों से सेवा का कार्य लेवे, तो
सचमुच में समाज का प्रेम, ममत्व और विश्वास को प्राप्त कर सकत
महासभा की स्वर्ण जयंती के समय पर मैंने आचार्य शान्तिसागर मह
से महासभा के विषय में उनके विचार पूछे, तब महाराज ने कहा
“दि० जैन धर्म सरक्षणी महासभा को हमारा आशीर्वाद है, क्योंकि वह
मकट में नहीं डिगी है । आगे भी वह धर्म से नहीं डिगी ऐसी
आशा है ।”

इस महासभा ने आगम के ज्ञाताओं को उत्पन्न करने के उद्देश
एक महाविद्यालय मयुरा में स्थापित किया था । योग्य व्यवस्था न ह
वह लगभग १५ वर्ष से बन्द पड़ा हुआ है । सभा के और भी विभाग गति
स्थिति में है । जिन भगवान के प्रसाद से वह सस्था समृद्धिशील हो
शासन की महिमा को बढ़ावे, यह मनोकामना है । अभी इस सस्था
द्वारा जो समाज की सेवा हुई है उसका श्रेय रावराजा सर सेठ हुकु
जी के महान प्रभाव तथा हादिक सहयोग को है । उनके विषय में अ
महाराज ने ये शब्द कहे थे “हमारी अस्ती वर्ष की उमर हो गई, हिन्दु
की जैन समाज में हुकुमचद सरीखा वजनदार आदमी देखने में
आया । राज-रजवाड़े में हुकुमचद सेठ के बचनों की मायता है ।
निमित्त से जैनो का संकट बहुत बार टला है । उनको हमारा आशीर्वा
वैसे तो जिन भगवान की आज्ञा से चलने वाले सभी जीवों को हा
आशीर्वाद है ।”

हुकुमचद जी के विषय में एक समय आचार्य महाराजने कहा था, ‘
बार संधपति गेंदनमल और दाडिमचद ने हमारे पात से जीवन भर के
ब्रम्हचर्य व्रत लिया, ता हुकुमचद सेठ ने इसकी बहुत प्रशंसा की ।
समय हमने हुकुमचद सेठ से कहा ‘तुमको भी ब्रम्हचर्य व्रत लेना चाहि
हुकुमचद ने तुरन्त ब्रम्हचर्य व्रत लिया और कहा था ‘महाराज ! आगामी
में भी ब्रम्हचर्य व्रत मिले । लौकान्तिक का पद पानर पुन मनुष्य भ
भी ब्रम्हचर्य का पालन करूँ । हुकुमचद का ब्रम्हचर्य व्रत पर ।
प्रेम है ।”

दि० जैन महासभा को अपनी महत्वपूर्ण सेवाओं द्वारा अलकृत
वाले और तन, मन, धन से काम करने वाले धर्मवीर सरसेठ भा

जी सीनी बजमेर वाले हैं जिनकी वेश परपरा से वीतराग धर्म की श्रद्धा पूर्वक सेवा का उज्ज्वल कार्य होता आया है। जिनधर्म की सेवा तथा आचार्य, शांतिसागर महाराज सदाश गुप्त की भक्ति करते समय इनको इस बात का अहंकार तनिक भी नहीं सताता कि मैं कोट्याधीश हूँ। आज महासभा का अस्तित्व मुख्यरूप से इन दोनों महानुभावों के कारण है। आज आवश्यकता है ऐसे जीवन की, जो गौरवपूर्ण हो, और बातों के जमा खर्च के बदले अच्छी सेवा की संपत्ति से संपन्न हो।

समाज को उन्नत करने तथा जिन धर्म की प्रभावना का कितना बड़ा क्षेत्र पड़ा है। लाखों जैनी सराक, जैन कलार आदि के रूप में अपनी धर्म क्रियाओं को भूल चुके हैं, उनको धर्म में स्थिर करने का उपाय जरूरी है।

मथुरा का चातुर्मास मधुर स्मृति में से परिपूर्ण है। सप्तपदियों ने समाज को सामायिक धर्मोपदेश देकर सुमार्ग पर लगाया। इस प्रकार चातुर्मास पूर्ण हो गया। अपार जन समुदाय ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से सध के विहार के वियोग की व्यथा को सहन किया। जहाँ महाराज का एक दिन की वास हो जाता है, वहाँ के लोग उनके चरणों को छानना नहीं चाहते, तब फिर निरंतर चार माह पर्यंत उनके चरणों का आश्रय पाने बागों की वियोग की व्यथा होना स्वाभाविक ही है।

जब सध कोमीकला पहुँचा, तब वहाँ बड़ा हार्दिक स्वागत किया गया। दि० जैनमहासभा का अविवेक्षण किया गया। खूब प्रभावना हुई। आचार्य श्री के उपदेशों से बहुत धर्म लाभ हुआ, बहुत लोगो ने व्रत लिए। अब संघ प्रस्थान करके समाज में प्रयात नगर खुरजा आ गया। वहाँ पहले सेठ पंडित मेवाराज जी प्रतिद्ध धर्मात्मा और लोकसेवक तथा अन्य धर्मान धीमान सत्पुरुष हो गए हैं। उस परिवार के सेठ शांतिलाल जी रानीवालों के सुन्दर उद्यान में सध ठहरा। पीर वदी द्वितीया को रथोत्सव भी हुआ। पहले गुरजा में जब रथोत्सव हुआ था, तब अन्य धर्मियों ने उपद्रव किया था। उग समय जैनियों ने तन, मन धन से रथ निकालने का प्रयत्न किया था। तब बड़े वैभव के साथ रथोत्सव निकला था। गुरजा के रथ की लावनी बनी हुई है। वह ऐसी ही वीर रस पूर्ण है जैसे मगठा के पवाड़ होते हैं। यहाँ के मंदिर विशाल है तथा प्रतिमाएँ मनोमह हैं।

भारत की
राजधानी देहली
में प्रवेश

खुरजा को अपने अमृत उपदेश से उपकृत करते हुए
सघ ने प्रस्थान कर सिक्न्दराबाद में निवास किया।
इसके अनंतर गाजियाबाद, तथा गहादरा होते हुए
पौष सुदी दशमी को सघ ने भारत की राजधानी

दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली में जैनियों की संख्या पंद्रह बीस हजार
के करीब है। वहां धार्मिक प्रकृति के लोग बहुत हैं, इसलिए सघ के आने पर
दिल्ली समाज के राम रोम से आनंद व्यक्त होता था। राजधानी के योग्य
गौरव पूर्ण जुलूस द्वारा आचार्य शांतिसागर महाराज के प्रति भक्ति
व्यक्त की गई। बड़े बड़े प्रतिष्ठित तथा विचारशील नागरिक तथा उच्च
अधिकारी लोग आचार्य श्री के दर्शनार्थ आते थे, अनेक महत्वपूर्ण
प्रश्न करते थे, तथा समाधान प्राप्त कर रहित होत थे।

एक दिन एक विचारवान भद्र स्वभाव वाला अग्रज आया। उसने
पूछा था—‘महाराज आपने ससार क्यों छोड़ा, क्या
एक तत्व प्रेमी ससार में रहकर आप शांति नहीं प्राप्त कर सकते?’
अग्रज का शब्द महाराज ने समझाया कि “परिग्रह के द्वारा मन में
ममाधान चंचलता, राग, द्वेष आदि विचार होते हैं। पवन के
बहते रहने से दीपशिखा कपन रहित नहीं हो सकती है। पवन के आघात
से समुद्र में लहरो की परंपरा उठती जाती है। पवन के शान्त होते
ही दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, समुद्र प्रशान्त हो जाता है, इसी
प्रकार राग द्वेष के कारण रूप, धन, वैभव, कुटुम्ब आदि को छोड़ देने
पर मन में चंचलता नहीं रहती है। मन के प्रसन्न रहने पर आत्मा शांत
हो जाती है।

विषय भोग की आसक्ति के द्वारा इस जीव की मनोवृत्ति
मलिन होती है मलिन मन पाप का संचय करता हुआ दुर्गति में जाता
है। परिग्रह को रखते हुए पूर्णतया अहिंसा धर्म का पालन नहीं हो
सकता है, अतएव आत्मा की साधना निर्विघ्न रूप से करने के लिए
विषय भोग का त्याग आवश्यक है। विषय भोगों से शांति भी तो नहीं
होती है। आज तक इतना खाया, पिया, सुख भोगा, फिर भी क्या
तृप्णा शांति हुई? विषयों की लालसा का रोग कम हुआ? वह तो
बढ़ता ही जाता है।

इससे भोग के बदले त्याग का मार्ग अंगीकार करना कल्याणकारी है। ससार का जाल ऐसा है कि उसमें जाने वाला मोहवश कैदी बन जाता है। वह फिर आत्मा का चितवन नहीं कर पाता है।

दूसरी बात यह भी है कि जब जीव मरता है, तब सब पदार्थ यहाँ ही रह जाते हैं, साथ में अपने कर्म के सिवाय कोई भी चीज नहीं जाती है, इससे बाह्य पदार्थों में मग्न रहना, उनसे मोह करना अविचारित कार्य है।”

इस विषय में आचार्य की मार्मिक अनुभव पूर्ण बातें सुनकर हर्षित हो वह अग्रेज नत मस्तक हो गया। बड़े बड़े जज, बैरिस्टर, प्रोफेसर आदि भी आते थे। एक दिन एच डिस्ट्रिक्ट जज महोदय आये। उनसे मुनि चन्द्रसागर महाराज से बहुत देर तक सूक्ष्म चर्चा की। अपने सदेहों का निवारण कर तथा गुरुदेव को प्रणाम कर चले गये।

उस समय सन १९३० में लाउड स्पीकर नवीन ही वस्तु थी। एक दिन भाषण के समय उसका भी उपयोग किया गया था। आज उसका महत्व नहीं ज्ञात होता, किन्तु जब वह आरम्भ में सबके समक्ष आया था, तब लोग चकित थे, विज्ञान के इस अद्भुत आविष्कार पर, जिसने मदध्वनि वालों की बातों को भी सबके पास तक पहुँचाने में सहायता की। इसके पहले बड़ी सभाओं में वही वक्ता सफल हो पाता था, जिसकी आवाज जोरदार होती थी। अब इस यंत्र ने आवाज कुत विशेषता के महत्व को दूर कर दिया।

मुनि सध का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। बहुत से मुसलमाना आदि ने माँस तथा मदिरा का त्याग किया था। चमार भगों आदि हरिजनो का महाराज ने सच्चा कल्याण किया था। बहुत से गरीब साधु महाराज के दर्शन को आते थे। महाराज प्रेममय बोली में समझाते थे, “भाई, जीवों की दया पालने से जीव सुखी होता है।” दूसरे जीवों को मारकर खाना बड़ा पाप है। इससे ही जीव दुखी रहता है।” महाराज के शब्दों का बड़ा प्रभाव होता था। तपश्चर्या से वाणी का प्रभाव बहुत अधिक हो जाता है। सैकड़ों हजारों हरिजनो आदि लोगों ने जराब तथा मास सेवन का त्याग किया था तथा और भी ब्रत लोग लेते थे।

आचार्य श्री की भक्ति इतनी बढ़ रही थी, कि लगभग सत्तर अस्सी चीजें लगा नरते थे। बिना दूध जल का आजीवन त्याग किए कोई आहार नहीं दे सकता था। आज की परिस्थिति में छोटे से नियम का निर्वाह करना

सरल काम नहीं है, फिर वह नियम देखने में छोटा है, किन्तु उसका पालन करना बड़े नगर में पर्याप्त मनोबल तथा ब्रष्ट सहिष्णुता के बिना नहीं बन सकता है। महाराज की आहार देने के अपूर्व सीमाय के आगे नियम की कठिनाता कुछ भी नहीं दिखती थी। आज नियम लेने वाले कहते हैं, कि इस छाटी सी प्रतिज्ञा ने हमारा अशुद्ध भोजन से पिण्ड छुड़ा दिया अतः यह आत्मकल्याण के साथ साथ शरीर की नीरोगता का भी कारण बन गया। इसन स्वावलम्बी जीवन को भी प्रेरणा दी। राजनैतिक क्षेत्र में मन्मथजी के कथनानुसार चरखा कातने से जैसे देशसेवा के क्षेत्र में झुकाव होता था, वैसे ही जल के नियम से यहाँ भी आध्यात्मिकता की ओर प्रगति होती थी।

देहली तथा पंजाब प्रांत में यवनों के सप्तवंश अत्यधिक शिथिल-चार पाया जाता है। आचार्य सन के प्रसाद से उसमें बहुत कुछ सुधार हुआ था।

वसंत पंचमी को आचार्य महाराज का कैदालोच देखने को अपार जनसमुदाय इकट्ठा हुआ था। उस समय महान सयमी के केशो की कीमती एक धर्मात्मा जोहगी ने की। ११०१) की नम्र भेंट देकर उनसे उन केशो को बड़े समारोह पूर्वक यमुना नदी में क्षेपे।

केशलोच के दूसरे दिन विहारकर सधन शहादरा, खेकड़ा, आदि स्थानों में हजारों जीवों का कल्याण करते हुए बड़ोत में धर्म प्रभावना की। वाणीभूषण ५० तुलसीराम जी काव्यतीर्थ अध्यापक जैन हाई स्कूल ने आचार्य श्री की स्तुति में एक सुन्दर कविता बनाकर संस्कृति में पढ़ी थी। आज बड़ोत का हाई स्कूल जैन कॉलेज के रूप में वृद्धिगत हुआ है।

फाल्गुन सुदी तीज को सध जुहोड़ी आया, पदचात् मुल्हेडा पहुँचा। यहाँ बड़े आनन्द से रयोत्सव हुआ था। हजारों भाई बाहर से आये थे। आचार्य चरणप्रसाद से समाज में एका की वृद्धि हुई। सरपन्ना होते हुए, सध मेरठ आया। यहाँ भी अच्छी धर्म प्रभावना हुई। समाज ने सुन्दर मंडप बनाया था, जिसमें विराजमान होकर गुप्तों का दिव्य उपदेश जनता ने सुना था। पंच सुदी नवमी को सध हस्तिनापुर आ गया।

हस्तिनापुर क्षेत्र यह स्थान जैन संस्कृति के प्राचीनतम स्थानों में है।

आदि तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव छह मास के उपवास के उपरान्त विविध स्थानों में विहार करते हुए वैशाख सुदी तृतीया को

यहा आए थे । उस समय जनता में बड़ी हलचल उत्पन्न हो गई थी । कर्मभूमि के आरम्भ काल में किसी को यह पता नहीं था, कि भगवान् मौन रूप से विहार क्यों कर रहे हैं । हस्तिनापुर के नागरिकों को प्रभु के आगमन का जब पता चला, तब लोग कहने लगे, 'भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर प्रभु प्रतीत होता है हमारे पालन हेतु महा पधारे हैं । की भूमि चलो, शीघ्र चलकर उन देवाधिदेव का दर्शन करें, तथा भक्ति पूर्वक पूजा करें ।

कोई कोई कहते थे, श्रुति में सुनते थे, कि इस जगत के पिता यह है । हमारे देव से उनका, सनातन प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया । इनके दर्शन से नेत्र सफल होते हैं, इनकी चर्चा सुनने से कर्ण कृतार्थ होते हैं । इन प्रभु का स्मरण करने से अज्ञ प्राणी भी पुण्यान्तःकरण बन जाता है ।^१

इतने में विशाल जन समुदाय, हस्तिनापुर के नरेश महाराज सोम प्रभ, महाराज श्रेयास के राज-प्रासाद के समक्ष, इकट्ठा हो गया । तत्काल सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने भगवान् का आगमन नरेश यधु से विदित किया । क्षण भर में दिगम्बर मुद्राधारी आदिप्रभु का दर्शन हुआ ।

भगवान् के रूप का दर्शन होते ही श्रेयास महाराज को जाति स्मरण हो गया । अतः पुरातन संस्कार के प्रभाव से दान देने की बुद्धि उत्पन्न हो गई । उनको स्मरण हो गया, कि हमने चारण ऋद्धिधारी गुनि युगल को श्रीमती और वज्र जंघ के रूप में आहार दिया था । इस पुण्य स्मृति की सहायता से श्रेयास महाराज ने इक्षुरस की धारा के समर्पण द्वारा एक वर्ष के महोपवासी जिनेंद्र आदिनाथ प्रभु के निमित्त से अपने भाग्य को कृतार्थ किया । इस अक्षयदान के कारण 'अक्षय तृतीया' पर्व अक्षय तृतीया

परम मांगलिक अवसर माना गया । किसी भी मांगलिक कार्य करने में 'अक्षय तृतीया' को स्वतः सिद्ध पवित्र दिन माना जाता है ।

१ श्रूयते यः श्रुतश्रुत्या जगदेकपितामह ।

स नः सनातनो दिष्ट्या यात. प्रत्यक्ष-सन्निधिम् ॥४९॥

दृष्टेस्मिन् सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् सफले श्रुती ।

स्मृतेऽस्मिन् जन्तुरज्जीपि ब्रजत्यन्तः पवित्रताम् ॥५०॥

महापुराण पर्व २०

इस दान के कारण चक्रवर्ती भरतेश्वर अयोध्या से इसी हस्तिनागपुरमें पधारे थे, और उनने महाराज श्रयास की स्तुति करते हुए कहा था 'हे कुरुराज! आज तुम भगवान् वृषभदेव के समान पूजनीय हो, कारण श्रयास', तुम दान तीर्थ के प्रवर्तक हो, अतः तुम महान् पुण्यशाली हो।'^१

। यह हस्तिनागपुर दान-तीर्थकरकी भूमि होने से परम आदरणीय है। हरिवंश पुराण में लिखा है "जब धर्म तीर्थ कर भगवान् नृपमदेव की पूजा हुई और वे तप की वृद्धि के हेतु वहाँ से चले गए, तब देवताओं ने दान-तीर्थकर श्रयास की अभिप्रेक पूर्वक पूजा की थी।"^२

भगवान् शातिकुयु
अरहनाय की
जन्मभूमि

इस हस्तिनागपुर की भूमि पर श्रेष्ठ वैभव अपनी पवित्र लीला दिखा चुका है। अपनी पुण्य भावना के द्वारा वदक व्यक्ति उस पुरातन पुराणगत इतिहास का स्मृति पथ से उतार सकता है। इस भूमि को भगवान् शातिनाथ कुयुनाथ, अरहनाथ इन तीन तीर्थकरों ने अपने गर्भ जन्म तथा तप कल्याण के द्वारा पवित्र किया था।

महाकवि बनारसीदास ने सबत १६५७ में इस पुण्य स्थल पर पहुँच कर चक्रवर्ती तीर्थकर त्रय की पूजा की थी, उनने लिखा है।

अहिच्छता हथिनापुर जात चले बनारासि उठि परभात ।

माता और भारजा सग रथ बँडे धरि भाउ अमग ॥ ५८० ॥

पचहत्तारे पोह सुम धरी । अहिछते की पूजा करी ।

मिलिए हथिनापुर तहा । शातिकुयु अर पूजे तहा ॥ ५८१ ॥

शांति—कुयु—अरनाथ को, कीनों एक कवित्त ।

ताको पढे बनारसी, भाव भगति सी चित्त ॥ ८५२ ॥

थी विससेन नरैस, सूर, नृपराय सुदसन ।

अचिरा सिरिया, देवि, करहि जिस देव प्रससन ॥

१ भगवानिब पूज्योसि कुरुराज त्वमद्यन. ।

एव दान-तीर्थकृत श्रयास एव महापुण्यभागसि ॥

आदिपु० २८-२१७

२ अभ्याचिन्ते तपोवृद्धं धर्म-तीर्थ-करे गते ।

१६ दानतीर्थकर देवा साभिप्रेकमपूजयन् ॥ १९६, सर्ग ९

तैसु नंदन सारग, छाग, नदावन लछन ।^१

चालिस, पैतिस, तीस, चाप काप काया छवि कचन ॥

सुखदासि बनारसिदास मनि, निरखत मन आनदई ।

हथिनापुर, गजपुर, नागपुर, शाति, कुथु, अर घदई ॥५८३॥

शातिनाथ भगवान की माता ऐरादेवी थी, कुथुनाथ स्वामी की जननी

श्रीमती थी, अरजिन की माता मित्रा थी ।

मनरंगलाल ने अरजिन की पूजा की जयमाला में लिखा है—

जय मित्रादेवो के सुनद, मुख शोभित तुम अकलकचद

शाति, कुथु तथा अरजिन चक्रवर्ती भी हुए हैं। ये तीनों वामदेव पद के धारक भी हैं। अक्षय तृतीया पर्व का सम्बन्ध जिस प्रकार हस्तिनागपुर से है, इसी प्रकार रक्षावधन पर्व भी इसी नगर से सम्बन्धित है। हस्तिनागपुर का शासन पद्म नरेश के हाथ में था। उनके छोटे भाई महामुनि विष्णुकुमार थे। यहाँ अकपनाचार्यादि सात सौ मुनियों के सघ ने चातुर्मास किया था।^१

वहाँ ही गरमेश यज्ञ के नाम से मुनियों के विनाश का पाखण्ड रचने

रक्षावधन पर्व का बाले मन्त्री ने सात दिन का शासन प्राप्त कर रखा था, किंतु भी जन्मस्थल विष्णुकुमार मुनिराज के पुष्पार्थ से श्रावणी पूर्णिमा को वह धर्म सकट दूर हुआ था। बलि को अपने पापवर्म

१ भगवान अर तीर्थंकर का चिन्ह नदावर्त बनारसीदामजी के समान भैया भगवतीदास जी ने भी लिखा है "नंदवर्त सुलच्छन सोहैं" किन्तु निर्वाण भक्ति में उनका चिन्ह मछली 'पाठीन' लिखा है। मनरंगलाल कृत अरजिन की पूजा में 'पाठीन लक्षण' लिखा है। तिलोय पण्णत्ति में तगरकुमुम (४-६०५) लिखा है। 'अरजिन के पद चिन्हजुमीन' पाठ प्रसिद्ध है।

भैया भगवती दास अरनाथ की माता का नाम अर्जुनदेवी, पिता का नाम दक्षिणराय लिखते हैं।

अर्जुन माठ मही सब जानें, पिता जामु हैं दक्षिणराय ।

श्री अरनाथ नगर गजपुरवर, विदे भव्य जिनेश्वर पाय ॥

(ग्रन्थविलास पृ० ९७)

इस भिन्न प्रतिपादन का कारण विचारणीय है।

२ अगत्याकपनाचार्यस्तदा नागपुर शनैः ।

मुनीनाम ग्रहीद् योग चातुर्मास्या वर्षेव वहि ॥ सर्ग १९-२०

के कारण निन्दा प्राप्त हुई थी, और वह देश के बाहर निकाला गया था। इस दृष्टि से जैसे यह स्थल दान तीर्थंकर, धर्म-तीर्थंकर की मूर्ति है, उसी प्रकार वात्सल्य भाव के उज्ज्वल आदर्श विष्णुकुमार की भी जन्मभूमि रही है। पुराणों के परिशीलन से ऐसी विपुल सामग्री मिलेगी, जो इस भूमि का जैन वैभव के साथ सबध बतावे। भारतवर्ष में सभी लोग इसे महा-भारत के महासमर की भूमि के रूप में जानते हैं। महाभारत महाकाव्य का प्रमेय इसी भूमि ने प्रदान किया है।

अक्षय तृतीया का पुण्य पर्व सघ ने यहां ही व्यतीत किया। उस दिन जिस घर को आचार्य महाराज ने आहार-ग्रहण द्वारा पवित्र किया वह महाराज श्रेयास के अक्षयदान की स्मृति कराता था। समाज भी उसी भावना से अपने को वृत्तार्थ मानता था। यहाँ सघ ने सवा माह निवास किया था। उतने समय पर्यन्त आसपास के लोगों का आना जाना लगा रहा। उससे वहां मेला सदृश लगता रहा।

यहां से स्वपरोपकार करते हुए आचार्य महाराज ने वैशाख सुदी दिल्ली में चातुर्मास चौदस को विहार किया। खतौली होते हुए ज्येष्ठ सुदी नवमी को सघ मुजफ्फरपुर आया। यहां अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

इस प्रकार अनेक स्थानों के भव्य जीवों का कल्याण करते हुए दिल्ली की समाज के सौभाग्य से पुनः सघ वहां आ गया। सघ ने चातुर्मास करने का निश्चय यहाँ का ही किया। सघ का निवास दरयागुज में हुआ था। पहले गुरुदेव के वियोग से जिन लोगों को सताप पहुंचा था, उनके आनंद का पारावार न रहा जब उनको यह ज्ञात हुआ, कि अब दिल्ली का भाग्य पुनः जग गया, जहां ऐसे महान मुनिराज का चार माह तक धर्मोपदेश होगा।

वहां श्रावण वदी चौदस को आचार्य श्री का केशलोच हुआ। खूब प्रभावना हुई। हजारों जैन अर्जुनों ने उस तपश्चर्या को देखकर अपने जन्म को सफल समझा। बहुत लोग तो प्रभु से यह प्रार्थना करते थे, कि कभी हमारी आत्मा भी इस महान तपस्या करने के योग्य बन जावे। महापुराण में श्रावण के सस्कारों का वर्णन करते हुए नीलकर्म में यह भज आया है "निर्ग्रन्थ मुडभागी भव।" इसका भाव यह है, हे शिशु अभी तो तेरे केशों को नाई द्वारा दूर कराया है, किन्तु आगामी तू निर्ग्रन्थ दीक्षा

धारण कर केशो के लोच द्वारा मुडित मस्तक वाला बने ऐसी अकांक्षा है। यहाँ तो केश लोच से सस्कृत आचार्य श्री का मस्तक उस मंत्र को वर्तमान में चरितार्थ करता था।

लोगो के मन में आशंका होती थी, कहीं राजधानी में मुनि विहार पर प्रतिबन्ध न आ जावे, किन्तु आचार्य श्री के साम्हने भय का नाम नहीं है। वे तो पूर्णतया निर्भय हैं। मृत्यु से भी सदा जूझने को तैयार रहते हैं। उनको किस बात का डर होगा। हाँ ! जिनेन्द्राज्ञा के उल्लघन से सदा डरते हैं। वे यही ध्यान रखते हैं कि कहीं कदाचित् जिनेन्द्र भगवान के आदेश का भग हमसे न हो जावे।

समस्त देहली में मुनि सघ दरघागंज में स्थित था, विन्तु सघ के साधु आहार के लिए दिल्ली शहर के मुख्य मुख्य राजपथों से आया जाया करते थे। कहीं भी कोई रोक टोक नहीं हुई। यह उनके सघ का महान तेज ही था, जो सात दिगम्बर मुनियों का सत्र निर्विघ्न रीति से भारत की राजधानी में भ्रमण करता रहा। बड़े बड़े राज्याधिकारी, न्यायाधीश आदि महाराज के दर्शन करके अपने को धन्य मातते थे। दिगम्बर मुनियों का विहार न होने से कई लोगो को दिगम्बरत्व वयार्थ में 'अधे की टेढी खीर' जैसी समस्या बन जाया करता है, विन्तु प्रत्यक्ष परिचय में आने वाले लोगो को वह परमा-राध्य, सर्वदा वदनीय और मुक्ति का अनन्य उपाय प्रतीत होता है।

आश्विन मास में आचार्य महाराज ने वैदवाडा में आकर निवास किया। आज वहाँ आचार्य श्री की स्मृति में श्री सातिसागर दि० जैन मन्द्या शाला चल रही है। कुछ समय तक सघ पहाड़ीधीरज नाम के मुहल्ले में रहा और आसपास सर्वत्र विहार करता रहा। कुछ बाल पर्यन्त सत्र ने धर्मपुरा में निवास किया था। आश्विन सुदी अष्टमी को वैदवाडा में आचार्य महाराज का केशलोच हुआ था। वहा आचार्य श्री के द्वारा सभी लोगो को महान साति तथा आनन्द प्राप्त हुआ था। सघ के देहली चातुर्मास का स्मारक एक लघु स्तंभ लाल किले के साम्हने वाले लालमंदिर के वहिर्भाग में विद्यमान है, उसमें सघस्थ साधुओं का जीवन परिचय संक्षेप में दिया गया है।

अपूर्व धर्म
प्रभावना

आचार्य श्री के देहली प्रान्त में विहार करने से जन्मा में अपूर्व धामिक् जागरण हुआ। लोगो को यह विश्वास हुआ, कि गुरुदेव हमारे पुण्योदय से अभी विद्यमान हैं।

उनका चरित्र इतना उज्ज्वल है, कि उसके समकक्ष मूर्ति का विश्व भर में दर्शन नहीं होता है। जगत में साधुत्व को स्वीकार करते हुए भी परिग्रह पिशाची से किसका पिंड छूटता है ? कुछ लोग परिग्रह धारण करते हुए अपने बुद्धि कौशल से अपने को अपरिग्रही कहते हैं, किन्तु ऐसी वृत्ति से न आत्मा का सच्चा हित होता है, और न निर्विकल्प जीवन का स्वाद ही आता है। आज के दुःखी विश्व को अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रकाश इन श्रमणा के जीवन से प्राप्त हो सकता है।

आचार्य महाराज के द्वारा अत्यधिक समय, द्रव्य, नियम का प्रचार हुआ। लोग श्रावक के कर्तव्य पालन में कटिबद्ध हो गए। बरनाल, आदि बहुत स्थानों में विद्वेप भाव दूर होकर वात्सल्य की मधुर धारा बहने लगी। इस प्रकार शिथिलाचार के स्वच्छंद प्रचार की भूमि में आचार्य महाराज ने धर्म की पुण्यवारा प्रवाहित करने का लोकोत्तर कार्य किया। देहरी प्रातः अत्यधिक ठंडा है। उष्ण काल में भी बड़ा भयंकर रहता है। दोनों ऋतुओं की भीषणता को साम्यभाव से सहन करते हुए इन मुनियों ने यह प्रमाणित कर दिया, कि हीन सहनन में भी आत्म विश्वास और जिनेंद्र भक्ति के अवलंबन से ऐसी तपस्या हो सकती है, जो चतुर्थ कालीन मुनिया की तप साधना का स्मरण करा देवे।

दिल्ली के विशाल, बहुमूल्य, बलापूर्ण अनेक जिनालय बड़े मनोज्ञ हैं। वे जैनियों की उज्ज्वल जिनभक्ति तथा समुन्नत स्थिति का परिचय कराते हैं। धर्मपुरा के मंदिर में श्री जी के सिंहासन की कारीगरी अपूर्व है। ताजमहल की कला से भी सूक्ष्म और सुंदर कला का उसमें दिग्दर्शन कराया गया है। नदीश्वर द्वीप की रचना वाला मंदिर बड़ा भव्य मालूम पड़ता है। लालकिले के ऐतिहासिक तथा महत्वपूर्ण स्थान के साम्हने विद्यमान लालमंदिर जैन गौरव का द्योतक है। अनेक महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी दिल्ली में हैं। इस वैभव के साथ आचार्य सघ के आवास होने से देहली में सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ हुई थी।

धर्म ध्यान में सानंद समय बीतते न मालूम पड़ा और चातुर्मास पूर्ण हो गया। अरबी में एक कहावत है "पानी एक स्थान पर रहने से बदबूदार हो जाता है। दीज का चंद्र यात्रा में रहने से पूर्ण चंद्र बन जाता है।" यदि साधु लोग विहार न करें, तो अन्य स्थान के जीवों का किस प्रकार हित होगा ?

देहली से बिहार) अतः वीतराग साधुओं ने देहली का ममत्व न करके वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अगहन सुदी तृतीया को गुडगाव पहुँच कर जनता को कृतार्थ किया। यहाँ महाराज का केशलोच हुआ था। लगभग दो हजार प्रतिष्ठित नागरिकों ने जैन मुनि की तपश्चर्या देखकर धर्म की महत्ता को समझा। इस ओर कभी ऐसे महापुरुषों का पदार्पण नहीं हुआ था। अतः महाराज वे बिहार से इस तरह अद्भुत जागृति हुई। अघेरी दुनिया में आध्यात्मिक ज्योति जग गई।

सन् १९४३ के सितम्बर के अंतिम सप्ताह में आचार्य व्यक्तिगत अनुभव महाराज शङ्खाल में विराजमान थे। मैं वहाँ उनके चरणों में दर्शनार्थ पहुँचा था। वहाँ मुनिराज धर्मसागरजी का केशलोच हो रहा था। उस समय आचार्य महाराज ने मुझे पास में बुलाकर कहा—“देखो। यह केशलोच की क्रिया बहुत कठिन होती है। इसकी कठिनायता तब तक अनुभव में आती है, जब तक शरीर में एकाग्र बुद्धि रहती है।”

मैंने पूछा—“महाराज। भेदबुद्धि हीने से कष्ट कैसे दूर रहेगा?”

महाराज ने कहा—“चूल्हे में लाठी लगाने से तुम्हारा शरीर जलता है क्या?”

मैंने कहा—“नहीं जलता है।”

महाराज ने कहा—“इसी प्रकार शरीर को पीड़ा होने पर आत्मा का क्या विगडता है?” महाराज ने एक बात बचाई थी, कि एक झुल्लक ने ऐलक व्रत धारण किया था, किन्तु बेशलाच की कठिनायता सह्य न होने के कारण ऐलक पद को छोड़कर पुनः झुल्लक पद को धारण किया था।

एक बार भयंकर शीतः पड़ रही थी, क्या मुनि को देने वाली थह हवा चल रही थी, तब मैंने शीतादि का अनु- पूछा था—“महाराज। शीत ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु में, भव होता है? विगम्बर साधु को वेदना होती है या नहीं? क्या ठंड या गर्मी का अनुभव नहीं होता है?”

महाराज ने कहा—“शीत का अनुभव होता है, उष्णता का अनुभव होता है, किन्तु साधु बुद्धि नहीं होता है किष्ट सहन करता है।”

गुडगाव से बिहार करता हुआ सप्त फर्रुखनगर पहुँचा। वहाँ सप्त पंद्रह दिने ठहरा। अपूर्व प्रभावना हुई। श्री जी का बिहार कराया गया

था। पोप सुदी'चौथ को सध रिवाडी आया, वहा १८ दिन तक संघ अलवर राज्य में रहा। पश्चात् बिहार नरसे हुए आचार्य संघ अलवर-नहर में आया। राज्य की ओर से अच्छी व्यवस्था की गई थी। यहा बहुत धर्म प्रभावना हुई। बड़े बड़े राजकर्मचारी, श्रीमान धीमान महाराज के पास आकर चर्चा करते थे, और शका समाधान से सन्तुष्ट होबर जाते थे। फागुन सुदी दशमी को अलवर में भगवान् [को रथ में चिराजमानवर नगर बिहार हुआ था। अलवरमें एव ब्राह्मण प्रोफेसर महाशय आचार्य श्री के पास भक्तिपूर्वक आए और पूछने लगे

महत्त्वपूर्ण शका समाधान "महाराज ! दूध क्यों सेवन किया जाता है ? दुग्धपान करना मूत्रपान के समान है ?"

महाराज ने कहा—“गाय जो घास खाती है, वह सात घातु उप-घातु रूप बनता है। पेट में दूध का कोठा तथा मल—मूत्रका कोठा जुदा-जुदा है। दूध में रस, मांस का भी सम्बन्ध नहीं है। इससे दुग्धपान करने में मल, मूत्र का संबंध नहीं है।” इसके पश्चात् महाराज ने पूछा—“यह बताओ ! आप लोग गंगाजल को प्रेम से पीते हो या नहीं ?”

प्रोफेसर महाशय ने कहा—“हां पीते हैं, और उसे बहुत शुद्ध भी मानते हैं।”

महाराज ने कहा—“अच्छा तो यह बताओ कि तालाब, नदी आदि में मगर, मछली आदि जलचर जीव रहते हैं, या नहीं ?”

प्रोफेसर ने कहा—“हां ! महाराज वे रहते हैं, वह तो उनका घर ही है।”

महाराज ने कहा—“अब विचारो जिस जल में मछली आदि का आदि जीवों का मल मूत्र मिश्रित रहता है, उसे आप पवित्र मानते हुए पीते हो, और जिसका कोठा अलग रहता है, उस दूध को अपवित्र कहते हो, यह न्यायोचित बात नहीं है।”

इसके पश्चात् महाराज ने कहा—“हम लोग तो पानी को छानते हैं, किन्तु जो बिना छाना पानी पीते हैं, उनके पीने में मलादि का उपयोग हो जाता है।”

यह सुनते ही वे विद्वान चुप हो गए। सदेह की शल्य निकल जाने से मन को बड़ा संतोष होता है। पुनः महाराज ने यह भी कहा—“जो यह सोचते हैं कि बच्चे के लिए ही दूध होता है, वह भी दोष युक्त

कथन है। बच्चे की आवश्यकता से अधिक दूध होता है।" आचार्य श्री को इस अनुभव पूर्ण उक्ति से उन पठित पुष्टो की भांति भी दूर हो जाती है, जिनने दूध ग्रहण को क्रूरता पूर्ण समझ रखा है। चीनी लोग दूध लेने को पसंद नहीं करते। वे समझ बैठे हैं कि इससे गोवत्स के प्रति निर्दयता का प्रदर्शन होता है।

आश्चर्य है, कि जो चीनी, जापानी आदि लोग अहिंसावादी बुद्धदेव की चर्चा करते हुए छिपकिली, साँप, विच्छू सदृश भीषण जन्तुओं तक को अपनी उदर दरी में पहुँचा देते हैं, वे निर्दोष दूध में भी हिंसा की कल्पना करते हैं।^१ इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन हमने इस ग्रन्थ के उत्तर खंड में किया है। बच्चे मर जाने पर भी गाय भैंस दूध देती है। महाराज ने कहा था—“भगवान की वाणी के आगे मिथ्या विचारों का निराकरण हो जाता है। यदि दूध ग्राह्य न होता तो उसे भगवान वा अभिषेक के योग्य प्रायः सभी प्रतिष्ठा ग्रथों में क्यों बताया है? “अतएव”

महाराज ने कहा—“आगम के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।”

आगम की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य महाराज ने कहा था—“जगत् में लोग सरकारी मुहर (Stamp) को देखकर नोटों तथा अन्य कागजातों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, भले ही वह लेख तीव्र रागी, द्वेषी व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो; क्योंकि वह राजमुद्रा से अंकित है, तब फिर सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवान की वाणी वीतराग आचार्यों द्वारा परंपरा से प्राप्त हुई तथा स्पष्टाद्वा मुद्रा से अंकित होती हुई क्यों न मान्य और आराध्य होगी?”

अलवर राज्य में वीतराग शासन की प्रभावना के अतिशय क्षेत्र
महावीर जी उपरान्त विहार करता हुआ सद्यः अतिशय क्षेत्र महावीर जी आ गया। यह है तो अतिशय क्षेत्र, किन्तु इसकी

१ “Milk, even at the present day, is regarded as disgusting and unfit for food in China, Korea, Japan, and Indochina, Despite the fact that they were surrounded by milk-using Turkish and Mongol peoples, the Chinese looked down upon milk-users and maintained that it was cruel to deprive a calf of its mother's milk—”

भक्ति उत्तरभारत के जैनियों द्वारा खूब होती है। निर्वाण स्थलों के प्रति जन साधारण की भक्ति का स्तर कुछ कम, दिखता है, किन्तु महावीर जी क्षेत्र के प्रति अवर्णनीय, आकर्षण और श्रद्धा देखी जाती है। लाखों अजैन भी महावीरजी की मूर्ति के दर्शन करते हैं। मीना भूजर जाति के अजैनो में महावीरप्रभु की भक्ति जितनी है उतनी अन्य के प्रति नहीं है। उनके दुःख में सुख में, आराध्य महावीर भगवान ही हैं। चैत्र सुदी के अंत में जो प्रतिवर्ष मेला भरता है उसमें लाखों अजैन आकर महावीर प्रभु की भक्ति करते हैं, तथा सकल मनोरथ हुआ करते हैं। हमने महावीरजी जाकर कई प्राणीपत्नी से पता चलाया तो ज्ञात हुआ, कि भक्ति करने से उनकी कामना पूर्ण होनी है। इस क्षेत्र की इसी शताब्दी से प्रसिद्ध प्रारंभ हुई है। इसका इतिहास भक्ति को जगाने वाला है।

महावीर स्वामी की प्रतिमा पद्यासन लगभग डेढ़ हाथ इतिहास

‘की मटीले वर्ण की चादनपुर ग्राम में एक टीले के भीतर दबी थी। एवं ग्राम जब उस टीले के वहाँ जावे तब उसके स्तन से दूध वहाँ धीरे धीरे टपक जाता था। अतः जब वह ग्वालों के घर आवे तब दूध नहीं देवे। इस कारण चितित हो ग्वाले ने पता चलाया तो टीले पर दूध के अपने आप झर जाने का अपूर्व दृश्य देखा। उसने धीरे धीरे टीले को खोदा तो वहाँ महावीर भगवान की मूर्ति का दर्शन हुआ। प्रतिमाजी टीले के बाहर निकाली गई। उस ग्वाला ने प्रभु की भक्ति भाव से पूजा की, गाँव वालों ने दर्शन किए। उनका दुःख दूर होने लगा। गाँव में सबके दिन सुघरने लगे, इससे भक्ति बढ चली। श्रावको को पता चला कि जयपुर के पास पाटादा ग्राम से चार मील पर महावीर भगवान की दिगंबर प्रतिमा प्राप्त हुई है जो बहुत चमत्कार पूर्ण है। इससे वहाँ लोग आए। दर्शन किये। दानिया के योग से मंदिरजी का निर्माण हुआ। अब क्षेत्र निरंतर वर्धमान हो रहा है। इसे देखकर भगवान का नाम वर्धमान भी है, यह सब के समक्ष में आ जाता है।

इस क्षेत्र की समृद्धि के विषय में यह प्रतिष्ठा है कि एक बार जयपुर राज्य के मंत्री पर राजा का कोप हो गया था। मंत्री महोदय की भक्ति महावीर प्रभु पर थी, प्रभु की निरंतर भक्ति में तल्लीन रहने से मंत्री का सक्कल दूर हो गया। भक्त राज मंत्री ने विशाल जिन मंदिर बनवाया, तब से क्षेत्र की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो गई।

अब क्षेत्र में हजारों आदमियों के ठहरने योग्य धर्मशालाएं बन गई हैं । नल बिजली की व्यवस्था हो गई है । नीरोगता प्रद जल-पवन हैं, बड़ी शांति मिलती है । इससे पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, मध्य भारत आदि के लाखों लोग दर्शन करते हैं, और कामना पूर्ण होने पर कृतज्ञता के रूप में लक्ष्मी की वहा वर्षा करते हैं । महावीर जी में ऐसे हजारों लोग आते हैं जो अपने नगर में कभी भी भगवान का दर्शन नहीं करते हैं, किन्तु महावीरजी ने तन्मय होकर बड़ा भक्ति भाव दिखाते हैं । बड़े बड़े पानों में घी भरकर आरती होती है । सोने चांदी के चबूतर छत्रों को लोग खूब चढ़ाया करते हैं । अरूजा लिखा है”

इक दिन मंत्री को लगा दोष, धरि तोष कही नृप खाद दोष ।
तुमको जब ध्याया बहा वीर, गोला से डाट बच गया वजीर ॥
मंत्री नृप चादन गाव आय, दर्शन करि पूजा की बनाय ।
करि तीन शिखर मंदिर बनाय, कचन कलशा दीने धराय ॥
यह हुक्म कियो जयपुर नरेश, सालाना मेला हो हमेश ।
अब जुडन लगे बहु नरि उ नार, तिथि चंत्र सुदी पूर्णो मझार ॥
मीना गूजर आवें विचित्र, सब वरण जुड़े करि मन पवित्र ।
बहु निरत करत गावें सुहाय, कोई-कोई घृत दीपन रहो चढाय ॥
कोई जय-जय शब्द करे मंभीर, जय जय जय हे श्री महावीर ।
जैनी जन पूजा रचत आन, कोई छत्र चबूतर के करत दान ॥
जिसकी जो मन इच्छा करत, मनवाछित फल पावे तुरन्त ।
जो कहै बचना एक बार, सुख पुत्र संपदा हो अपार ॥

महावीर जी क्षेत्र पर सदा मेला भरा रहता है । अहिंसा धर्म प्रभावना तथा धर्म सेवा का अपूर्व स्थान विद्या के प्रचार के लिए यह सुन्दर केन्द्र बन सकता है । जो शक्ति पारस्परिक विद्वेष के नाशों में क्षीण हुआ करती है, वह यदि अनेकान्त शासन के प्रचार धार्य में सुव्यवस्थित ढंग से लगाई जाय तो बड़ा हित हो सकता है । तीर्थस्थान तो आत्म शुद्धि तथा लोकसेवा के स्थान हैं । इनमें उत्तरदायित्व का आसन लेने वालों को अहंकार को विष के समान मान प्रेम तथा सेवा की मूर्ति बनना चाहिये । देखा यह जाता है, कि कुर्सी पर आदमी बैठा और उसकी दृष्टि में विविध परिणमन होता है । किन्तु राज्यासन की वास्तविकता की

ध्यान में रखकर वीर नेपोलियन कहता है—

“लकड़ी के टुकड़े को मलमल से ढाक दिया, उसे ही सिंहासन कहते हैं।” इस प्रकाश में बेचारी कुर्शी की कीमत तो और कम हो जाती है। उत्तरदायित्व के पद को पावर सेवा के सुयोग से अपने आपको वंचित रखना बड़ी भारी भूल है। साधमी भाइया के प्रति हादिक स्नेह रखना सम्यक्त्व का अंग होते हुए तीर्थंकरत्व का भी कारण बताया गया है।

प्रायः यह भी देखा जाता है, कि लोग व्यक्ति की यथार्थ योग्यता, पात्रता का बहुत कम ध्यान कर कभी तो जातिगत मोहवश, कभी पक्ष की ममता आदि नगण्य निमित्तों से अयोग्यों को श्रेष्ठ सेवा के अधिकार से वंचित करते हैं और नैतिकता में धर्म तथा सत्सृष्टि की दृष्टि के बारे में जरा भी नहीं विचारते। अपने व्यक्तिगत कार्यों में जैसे रिश्तेदारों, जातीयता आदि का ख्याल न कर योग्यता के आधार पर आदमी को रखकर काम लेते हैं, ऐसी विषुद्धि दृष्टि धार्मिक सस्थाओं के संचालकों के चुनाव के बारे में जरूरी है। जिस सस्था में धर्मात्मा सेवाभावी भाई पर जिम्मेदारी रहती है, वहां उन्नति होती है, धर्म की वृद्धि होती है, प्रेम भाव बढ़ता है। धर्म के कार्य में यदि हमने पवित्रता का धरिर्क्षण न किया, तो भगवान जाने हमारी क्या गति होगी? इन विषयों का वस्तुस्थिति से निवृत्त परिचय के आधार पर ही यह प्रकाश डाला गया है। इस निरंतर उदीयमान क्षेत्र की उच्च व्यवस्था के द्वारा धर्म तथा समाज की बड़ी सुन्दर सेवा हो सकती है। दर्शनार्थ आने वाले भाइयों को धार्मिक तत्त्व बताये जावें तो प्रभु के दर्शन करते हुए यह प्रार्थना की दीनवृत्ति, कि मैं तेरे द्वार भोज मागने आया हूँ, मुझे पुत्र दो, धन दो, स्त्री दो, बदलकर वीतरागता की ओर बढ़ने लगेंगी। हजारों व्यक्ति पूजन, स्वाध्याय, समय आदि के कार्य में लगकर आत्मकल्याण करेंगे। अच्छे चरित्रवान व्यक्तियों को बुलाकर उनके द्वारा धर्म के उपदेश की व्यवस्था हो, तो लोग भूल को दूर करके आत्मकल्याण में प्रवृत्त होंगे। सस्था वाले जैसे लोग से द्रव्य प्राप्त करके समुष्ट होते हैं, वैसे ही उनको आध्यात्मिक आनन्द की सामग्री जुटाकर—

ही संतोष मानना चाहिए । तब ही कर्तव्यपरायणता कही जा सकती है । जीर्णोद्धार तथा अन्य तीर्थों का रक्षण भी कमेटी का लक्ष्य रहना चाहिए ।

आचार्य महाराज का संघ महावीर जी में लगभग दो माह रहा । हजारों लोगो ने आकर गुरुदेव के उपदेश से अपने जीवन को कृतार्थ किया था । महाराज का उपदेश यही होता था, कि तुम सब विभाव का त्याग कर स्वभाव को प्राप्त करो, जिस प्रकार भगवान महावीर ने किया था । जैन धर्म कहता है, प्रत्येक आत्मा महावीर भगवान बन सकता है, कर्मों के आगे भिक्षा मागने से कुछ कार्य नहीं होता है । समयी बन स्वावलम्बी जीवन से जीव अपने निर्वाण को प्राप्त करता है ।

जयपुर सच ने यहा से ज्येष्ठ माह में जयपुर की ओर बिहार

किया । असाढ़ की अष्टान्हिका के समय संघ जयपुर पहुंच गया । जयपुर में बहुत अधिक जैनसमुदाय है । जयपुर की धार्मिक समुदाय की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने उत्तर भारत में पाचवाँ वर्षायोग व्यतीत करने की स्वीकृति जयपुर के लिए प्रदान कर दी । सेठ वनजी ठोल्या सदृश जोहरी परिवार के व्यक्ति सेठ गोपीचन्द जी, सेठ सुन्दरलाल जी आदि रत्न परीक्षकों ने आचार्य श्री के जीवन को चित्तामणि रत्न के रूप में परखा, अतः उनसे अधिक से अधिक लाभ लेने के लिए उनकी आदर्शसेवा, भक्ति, वैयावृत्य की । भादो सुदी दशमी-सुगंध दशमी के दिन सेठ गोपीचन्द जी जोहरी के यहाँ आचार्य महाराज का निरन्तराय आहार सपन्न होने की खुशी में उनने ग्यारह हजार का दान कर आचार्य महाराज के नाम से एक ओपधालय खोला, ताकि महाराज का पवित्र नाम निरन्तर स्मरण होता रहे ।

बड़े-बड़े विद्वानों का स्थान पहले लोग जयपुर को जैनपुर भा सोचते थे । दु'दारी

हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखने वाले बड़े बड़े विद्वान जयपुर में हुए हैं । हिन्दी जैन जगत में अत्यन्त आदर से वाचे जाने वाले ग्रंथ सदा मुखजी का रत्नकरंड भाषा वचनिका, पं० टोडरमल जी का मोक्षमार्ग प्रकाश, गोमट्टसार की टीका, पं० जयचन्द्र जी की सर्वार्थसिद्धी वचनिका, समयसार की टीका आदि की रचना इसी जयपुर में हुई है । यहा के विशाल, समुन्नत, भव्य जिनालय बड़े सुन्दर है । मूर्तिया भी मनोज्ञ हैं । ९० चैत्यालय तथा ५४ मंदिर हैं । जिस प्रकार की महिमाशाली धर्म की सामग्री जयपुर -तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में है

पर लोगो का ध्यान नहीं गया होगा । शास्त्रों में नवदेवता कहे गए हैं —
 “इतिपेक्ष महापुरुषा प्रणुताः जिनधर्म—वचन—चेत्यानि ।

चेत्यालयाश्च विमला दिशन्तु बोधिबुधजनेष्टाम् ॥”

:(दशभक्ति पृ ३०६):

इस प्रकार अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी रूप पंच महापुरुषों की स्तुति की गई । वे पंचमहापुरुष, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनविम्ब तथा जिनालय, बुधजनों की प्रिय निर्मल बोधि को प्रदान करें । अभिषेक जिनविम्ब का होता है, केवली भगवान का अभिषेक नहीं होता है । दूसरी बात यह भी है, कि इस विषय में आगम को देखा जाय, तो ज्ञात होगा, कि जिनविम्ब का जल, घी, दूध, दही तथा रस के द्वारा अभिषेक करना कर्त्तव्य कर्म है । गुमानपथी भाइयों को सोचना चाहिए कि आचार्य परंपरा किस बात को बतاتی हैं । बाहुरलि भगवान का श्रमणवेलगोला में जो अभिषेक घी, दूध, दही आदि से होता है, वही आगमोक्त पद्धति है । प्रायः सभी प्रतिष्ठा ग्रंथों में पूजा के पूर्व में किए जाने वाले अभिषेक का यही स्वरूप कहा गया है ।

सांस्कृतिक महत्त्व जयपुर के शास्त्र भण्डार में महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का संग्रह है । जैन संस्कृति के लिए उपयोगी विपुल सामग्री जयपुर पूर्ण केन्द्र में विद्यमान है । उसका वर्णन स्वयं एक ग्रंथ का रूप धारण कर ले । इस नगर में बड़े बड़े धर्मात्मा पुरुष हुए हैं । अमरचंद जी दीवान जैसे धार्मिक पुरुष, यहाँ ही हुए, जिनने शेर की मांस नहीं खिलवाया । उस क्षुधित शेर के समक्ष मधुर मिष्ठान्न से भरी थाली रखवा कर कहा था— “भृगराज, यदि भूत शांत करना है तो यह मधुर भोजन लालो, यदि मांस की लालसा है, तो मेरे अमरचंद दीवान, शरीर से उसे पूर्ण करो, मैं दूसरे का मांस खिलवाकर व टोडरमल जी दुर्गति को नहीं जाना चाहता हूँ । मेरा शरीर चाहते हो, तो मैं तैयार हूँ ।” एक आत्मवान् तेजस्वी की भूमि ।

व्यक्ति की, वाणी से भृगराज प्रभावित हुआ और उसने थाली से भरी हुई मिठाई को चुपचाप खा लिया । आत्म-तेज विभूषित आत्माओं के प्रभाव से ऐसे कार्य बन जाते हैं, जिनके विषय में सर्व शास्त्र की प्रतिज्ञा हतप्रभ हो जाया करती है ।

ऐसी प्रसिद्धि है कि टोडरमलजी की प्रतिभापर मुग्ध हो इन दीवान

साहब ने उनको आजीविका की चिन्ता से मुक्त करके जैन साहित्य की सेवा में ही संलग्न रहने की सामग्री उपस्थित की थी । इससे थोड़े जीवन में टोडरमल जी महान कार्य कर गए । उनके पिता जोगीदास और माता रंभा देवी थी । उनने अपने प्राण व शरीर के विषय में इस प्रकार परिचय दिया है ।

रंभापति स्तुत गुन जनक जाको जोगीदास ।

सोई मेरी प्राण है धारं प्रकट प्रकाश ॥१॥

मैं आत्म अष्ट पुद्गल खंघ, मिलकं भयो परस्पर बंध ।

सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुषनाम कहाय ॥

मात गर्भ में सो पर्याय, करि कं पूरण अंग सुभाय ।

बाहर निकसि प्रगट जब भयो, तब कुटुम्ब की भेली भयो ॥३॥

नाम धर्यो तिन हर्षित होय, टोडरमल्ल कहे सब कोय ।

ऐसी यह मानुष पर्याय, बंधत भयो निजकाल गमाय ॥४॥

अपनी निवासभूमि जयपुर के बारे में लिखा है:-

देश दुंडा डह माहि महान, नगर सवाई जयपुर धान ।

तामं ताको रहतो घनों, घोरो रहतो ओडे बनी ॥५॥

तिस पर्याय विपै जो कोय, देखन जानन हारो सोय ।

मैं हूं जीव द्रव्य गुन भूष एक अनादि अनंत अरुप ॥६॥

कर्म उदय को कारण पाय,, रागादिक हो हैं दुःखःदाय ।

ते मेरे औपाधिक भाव, इनको बिनशं में शिवराव ॥७॥

उनकी रचना से यह स्पष्ट झलकता है, कि वे जल से भिन्न कमल वृत्ति वाले महान आत्मा थे । यदि आज के समान उस समय आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश श्रेष्ठ आत्मा का सुयोग मिलता, तो वे अवश्य अपने मुनि अंतःकरण को जिनमुद्रा से अलंकृत करते । उनने नग्न मुनिराज की कितने सुन्दर शब्दों के अभिवदना की है:-

मैं नमो नग्न जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन ।

मैं-न मान-बिन, दान-धन एन हीन तन-छीन ॥

मैं नग्न तन वाले, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन में लीन जैन जन-मुनिराज को प्रणाम करता हूँ, जो अहंकार रहित है, मान रहित दान देने में मेघ समान पापरहित तथा क्षीण शरीर मुक्त है । टोडरमल जी सदृश प्रतिभाशाली जैन विद्वान का जीवन जैन धर्म विद्वेषी ब्राह्मणों को सह्य

नहीं हुआ, अतएव पड़यन्त्र रचकार शिव पिंडी के ध्वंश का दोष टोडरमल जी पर रखा जिससे क्रुद्ध राजा ने जैनियों को तो कैदी कर लिया था तथा टोडरमल जी को हाथी के पैर के नीचे कुचलकर मरवा डाला था ।
पं० वसंतराम शाह के बुद्धि-विलास ग्रंथ में लिखा है—

तब ब्राह्मणनु मती महारियो, दि उठान की टोना दियो ।

तामें सबे थावगो कैद, करिके डंड किये नृप कैद ।

गुरु बतेरह-पधिनूं को भ्रमी, टोडरमल नाम साहिमी ।

ताहि भूप भारयो पल माहि, गाडयो मद्धिगंडगी, ताहि ॥

धर्म चर्चा का पं० टोडरमल जी की सहित्य-साधना में प्रेरक बाल
महान केन्द्र ग्रंथचारी धर्मात्मा रायमल जी थे । उनमें लिखा है—
रायमल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक ।

सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज भयो ॥

जयपुरनगर धार्मिक चर्चा का प्राचीन काल में बड़ा केन्द्र था । समय
प्रामुख्यता की प्रशस्ति में पं० जयचंद्र जी ने लिखा है—

जैपुर नगरमाहि तेरापंथ शैली बडी,

बड़े बड़े गुनी जहा गड़े ग्रंथ सार हैं ।

जयचंद्र नाम में हूँ तिनमें में अभ्यास करूँ,

कियो बुद्धि साध धर्मराग तें विचार है ।

यहां टोडरमल जी ने गोमटसुआर की भाषाटीका विक्रम संवत् १८१८ में पूर्ण की थी, और जयचंद्र जी ने समयसार की टीका १८६४ में समाप्त की थी । इस प्रकार जयपुर का हिंदी जैन साहित्य के निर्माण तथा विकास में बड़ा स्थान था । धार्मिकों का अच्छा समुदाय था, आज का जयपुर देखकर लोगों को आश्चर्य होगा; किन्तु कुछ ऐसे धार्मिक परिवार फिर भी मिलेंगे, जो जिनधर्म की अनन्य भाव से आराधना करते हैं ।

अनेक लेखों से ज्ञात होता है, कि जयपुर तेरापंथ का बड़ा भारी केन्द्र रहा है । वहां आचार्य शातिसागर महाराज का संघ पहुंचा । कोई कोई सोचते थे, सब तो तेरापंथ के विरोध में बीस पथ का प्रचा करता है । यह भ्रम की बात है । प्राचीन ग्रंथों में तेरह, बीस का भेद स्पष्ट मात्र भी नहीं दिखता है । प्रतीत होता है उत्तर भारत में यवन काल में भट्टारकों ने जब अपने पद के गौरव के अनुसार अपनी प्रवृत्ति नहीं रखी, तब उनकी चिकित्सा

करनें को तेरह पथ नाम का सघ उत्पन्न हुआ । दक्षिण में गुरु परंपरा परिग्रहधारी भट्टारका के हाथ में न रहकर दिगम्बर मुनियों के अधीन रही आई, क्योंकि वहाँ दिगम्बर मुनि की परंपरा अक्षुण्ण रीति से चली आ रही है, अतएव उत्तर सदृश दक्षिण में चिकित्सा के हेतु सघ स्थापना की अवश्यता नहीं हुई । मोक्षामिलापी व्यक्ति का कर्तव्य है कि आगम के अनुसार प्रवृत्ति करे । आगम सर्वज्ञ भगवान की वाणी है । जो बात अनेक ग्रंथ कारा को रचना में पाई जाय उसे पथ के नाम पर कैसे उड़ाया जा सकता है, जैसे घी, दूध आदि के द्वारा अभिषेक को बड़े बड़े प्रमाणिक आचार्यों की कृतियों में देखकर उसे न मानना कैसे उचित होगा ? तेरह पथ के नाम पर कई बातें ऐसी भी प्रचार में आई थीं, जिनको आज मानना कठिन पड़ता है, जैसे रात्रि को मंदिर जी में प्रकाश नहीं करना । आज आवश्यकता पथवाद के स्थान में आगम के अनुसार प्रवृत्ति करने में है । तेरह और बीस पथों में प्रचलित जो जो क्रियाएँ आगम में न हों, उनको छोड़ने में सकोच न होना चाहिए । आचार्य शातिसागर महाराज ने आगम के अनुसार धर्म का उपदेश दिया है । उनका एक ही पथ है, वह है निर्ग्रन्थ पथ ।

आगम पथी बनना
कल्याणकारी है,
पक्षाधता सुखद
नहीं ।

रुडि— परंपरा के बीच में निमग्न व्यक्ति को सम्यक्पथ पर लाना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है । यह तो आचार्य महाराज की असाधारण आत्मशक्ति तथा प्रभाव है, जो उनमें सर्वत्र आगमोक्त पद्धति का प्रचार करा दिया है । पथ भेद के झगड़े के अवसर पर महाराज से कोई मार्ग पूछे तो वे आगम का मार्ग भर बता देते हैं । उस निमित्त से सकलेश की सामग्री नहीं इकट्ठी करते । वे सूर्य के समान वर्तव्य-अकर्तव्य पथ का प्रदर्शन कर देते हैं । आत्मकल्याण के प्रेमी तत्काल उनके वचन को शिरोधार्य करते हैं ।

जो जयपुर धार्मिकता का किला था, वह क्षिणिलाचार प्रचुर होता जा रहा था । उस समय आचार्य महाराज ने अपनी सन्मार्ग देशना द्वारा बहुतेको को धर्म मार्ग में स्थिर किया । विघ्नों के विपश्चर से वे विचलित नहीं हुए । सदाचार को लुप्त करने वाली प्रवृत्तियों के विरोध में उनमें निर्भय होकर उपदेश दिया, प्रचार किया । उनके समक्ष जनता के सत्ताप और प्रसन्नता के स्थान में आगम की आज्ञा का पालन करना मुख्य कार्य है । आज महाराज के युक्ति पूर्वक वचन तथा अपूर्व प्रभाव यथा जो जयपुर

तथा अनेक स्थानों के लोगों ने गुड़ खानपान की प्रतिज्ञा ले ली है, उसके कारण मुनियों तथा उच्च श्रावकों को प्रत्येक स्थान में अनुकूलता दिखाई पड़ती है, अन्यथा आज के होटल के युग में शुद्ध प्रवृत्ति वाले परिवारों का प्राप्त करना बड़ी समस्या रहता । दिल्ली चातुर्मास के समान जयपुर में भी आचार्य श्री का संघ धोरडी का रास्ता, पाठीदी का मंदिर आदि विविध स्थानों में रहा था, इससे उस विशाल नगर की यत्र तत्र बिखरी हुई समाज को धर्म लाभ हो सका ।

नूतन धारा

जयपुर चातुर्मास
के समय का समय
लोपी राष्ट्र का
वातावरण

जयपुर चातुर्मास के समय गांधी जी का शूद्राशूद्र भेद निवारक आंदोलन उग्ररूप में था। उस समय जयपुर के अनेक राष्ट्र भक्त जैन तर्कणों ने चमार, मेहतर आदि के साथ भोजन किया था। उनकी दृष्टि में जो भी वस्तु गांधी जी से मिलती है, वह आखिरी मीचकर शिरोधार्य थी।

इसीलिए राष्ट्र धर्म के गुरुदेव की आज्ञानुसार उच्च कुल तथा सम्कार वाले सैकड़ों लोगों ने हजारों घरों में जाकर एक दिन मेहतरो का पाटें पूरा करने के हेतु पाखाना साफ किया था। उस समय उनका उत्साह देख ऐसा मालूम होता था, अब यह काम शायद सदा करेंगे। श्रेष्ठ कार्य क्या एक दिन के लिए हो होता है ?

प्रवाह की कथा अद्भुत होती है। उस समय विचार शक्ति दब जाती है। जैसे देश में जब साम्प्रदायिक उन्माद फैला था, तब हिन्दू को देख मुस्लिम के मन में, सहार का भाव पैदा होता था, और यवन को देख हिन्दू के चित्त में उसके विनाश की भावना उत्पन्न होती थी। उस आंदोलन के समय सारा वातावरण उस प्रकार के भावों से आपूर्ण रहने के कारण बहुत कम व्यक्ति हैं जो स्वतंत्र विचार से प्रवाह के निर्णय के विपरीत विचार सकें। देश में असहयोग आंदोलन की लहर जब उठी थी, तब विदेशी वस्त्रों की दाह, क्रिया को कल्याणकारी समझा जाता था, भले ही आज का विचारक उस वस्तु के औचित्य के बारे में सदेह करें या उस कार्य में विवेक-न्यूनता के बीज देखें, किन्तु प्रवाह के समय टिकने की क्षमता विरले व्यक्तियों में पाई जाती है। ऐसे प्रवाह के समय पर जनता की दासता का ध्यान न करके अपने पवित्र सिद्धान्तों पर सुदृढ़ रहना ही लोकोत्तर पुरुष का कार्य है।

सीता को धनदास देते समय रामचन्द्र के निश्चय के विरुद्ध अयोध्या की जनता का माता सीता की भक्ति वश क्या कम विरोध था ? किंतु न्याय मूर्ति राम ने उसके विरोध का कोई मूल्य न करके अपने विवेक के अनुसार कार्य किया। इसी प्रकार जयपुर चातुर्मास के समय भगी-भक्ति की भग ने देश के मस्तिष्क में एक अद्भुत असर उत्पन्न कर दिया था, उसने जयपुर के जैन तर्कणों पर भी अपना प्रभाव दिखाया। मांस-भक्षी,

मद्य-सेवी भंगी, चमारों के साथ जैन युवकों का सहभोज हो, वे ही तद्वत् अपने घर के चौको में आकर आहार करें, तब उन चौको में आचार्य शांतिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ अहिंसा धर्म की पालक आत्मा की निर्दोष आहार विधि किस प्रकार सफल होगी। इस समस्या ने आचार्य महाराज को गंभीर विचार के लिए प्रेरणा दी।

महाराज का शूद्रों का उद्धार आचार्य महाराज भी करना चाहते हैं, विश्वास है कि शूद्र करते हैं, और किया भी है, किंतु राजनैतिक सत्ता में कीर्ति लूटने के लिए नहीं, उन दीन दुखी आत्माओं के जीवन में पवित्रता प्रतिष्ठित करने के लिए करना चाहते हैं। वे ऐसा उपाय सोचते हैं, कि यह जीव फिर कभी जन्म जन्मांतर में भी शूद्र न हो, और धीरे २ बढ़ते २ ब्राम्हण क्षत्रिय, शूद्र आदि के विकल्पो से मुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर ले। खानपान एकता से आत्मा का उद्धार होना आत्म दर्शी श्रेष्ठ महा-त्मा के दिव्य ज्ञान में विनोद प्रद कार्य प्रतीत होता था। हिंसादि पापा-चारों से सबव विच्छिन्न हुए बिना आत्मा का उद्धार सामाजिक व्यवहार द्वारा सफल मानना आचार्य महाराज की दृष्टि से योग्य कार्य नहीं था।

एक आदमी के पेट में फोड़ा हो गया है। उसकी नीरोगता के लिए सुनकर वस्त्रों, आभूषणों का धारण करना, अथवा उसकी करोड़ों व्यक्तियों द्वारा पाद पूजा के द्वारा क्या कार्य सफल होगा? भला इन बाह्य वस्तुओं का भीतर क्या असर होगा? फोड़ा को ठीक करने के लिए जनता के पास न बैठकर चतुर चिकित्सक के पास जाकर चाकू चलाने की प्रार्थना करना होगा, तब उस व्यक्ति को सुख शांति तथा नीरोगता की प्राप्ति होगी, किन्तु यह कार्य स्थूल दृष्टि से मधुरता पूर्ण नहीं दिखेगा, यद्यपि उसके कल्याण का एक मात्र यही उपाय है। इसी प्रकार जगत में जीव की अनंत परणतियां उसके द्वारा पूर्ण उपाजित कर्मों का फल हैं। उन कर्मों के भेद उच्च गोत्र के उदय से जीव श्रेष्ठ कुलो में जन्म लेता है। नीच गोत्र कर्म के उदय से शूद्रादि की पर्याय में जन्म धारण करता है। यह वस्तु स्थिति है। इसे भूलकर दोनों को एकान्त रूप से एक समझना विवेक विरुद्ध होगा।

एक बार बंबई सरकार के हरिजन मंत्री श्रीपुत तपासे 'से बंबई मंदिर प्रवेश कानून के विषय में हमारी फलटण के तीन चार जैन वकीलों के

साथ चर्चा हुई थी। मिनिस्टर तपासे ने कहा— “जैन धर्म में तो शूद्र का भेद ही नहीं है। जैन धर्म-सिद्धांत के अनुसार हरिजनो का भेदभाव नहीं मानना होगा।” मैंने पूछा— “यह आप किस आधार पर कहते हैं, क्या यह आपकी व्यक्तिगत राय है या आप जैन शास्त्रों का विचार वह रहे है।” मिनिस्टर महोदय बोले— “जैन शास्त्र के आधार से मैं ऐसा कह रहा हूँ ?” मैंने कहा— “तत्त्वार्थ सूत्र जैन समाज का अत्यंत मान्य ग्रंथ है। उसमें वर्मा के आठ भेदों में एक भेद गोत्रवर्म कहा है। उसके उच्च गोत्र, नीच गोत्र दो भेद बड़े गए हैं। अतएव उच्च और नीच सम्बन्धी भिन्नता शास्त्र सगत है। भले ही वह आज की राजनीतिक विचारधारा से प्रतिकूल हो।”

सन १९३२ में पृथक् निर्वाचन पद्धति (Separate electorate) के अनुसार भारतवर्ष का चुनाव होगा-यह घोषणा प्राइम मिनिस्टर रेमजे मैगडोम्लड ने १७ अगस्त को की थी। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने विरोध म २० सितम्बर से आमरण अनशन आरम्भ किया था। कारण वे हिन्दुओं और हरिजनो में पृथक् चुनाव के द्वारा भिन्नता को राष्ट्रीय ऐक्य के लिए घातक सोचते थे। गांधी जी का जीवन राष्ट्र के लिए अत्यंत मूल्यवान था। उस समय देश में अस्पृश्यता के प्रति ऐक्य प्रदर्शन की प्रचंड आँधी आई थी। बड़े २ हिन्दू मंदिर हरिजनों के लिए खोले गए थे। बट्टर हिन्दुओं ने मह-तरो के साथ साकर अपना प्रेम व्यक्त किया था। उस उथल-पुथल के तूफान का जयपुर के आधुनिकता के अनुरागी कुछ युवकों पर असाधारण अमर हुआ, इससे उनमें शूद्रों के साथ सहभोज आदि किया था।

ऐसे अवसर पर जबकि सारे देश में अस्पृश्य भक्ति व्यवस्था की जा रही हो, आचार्य शांतिसागर महाराज का अपनी प्रतिज्ञा पर मेरु की भांति अडिग रहना साधारण बात न थी। उस समय जयपुर की गुरु चरणानुरागी पचासत ने यह निश्चय किया था, कि जिन २ लोगों ने भगियो के भोजन में भाग लिया था, उनमें समाज अपना व्यवहार छोड़ती है। इस प्रकार उस आंदोलन की दावागिरी से धार्मिक समाज ने धार्मिक प्रवृत्ति का रार-क्षण किया था। जो लोग धार्मिक विषयो में राजनीतिज्ञो को गुरु मानते हैं, वे तीर्थंकरों की छाणी के भक्त किस प्रकार माने जावेंगे ? लौकिक, राजनीतिक कार्यों में ऐक्य नहीं है। हजारों व्यक्ति हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं। मोटर में जाने पर ड्राइवर मार्ग-दर्शक होता है। अस्पताल में

डाक्टर पथ प्रदर्शन करता है। न्यायालय में न्यायाधीश मार्ग प्रदर्शक होते हैं। ऐसी विविध प्रवृत्तियों में जो र जाता है, वह हमारा क्या सभी का मार्गदर्शक (guide) होता है, किन्तु मोक्षमार्ग में ऐसे व्यक्ति का पथप्रदर्शन कैसे हितप्रद होगा, जिसके पान सम्यक्त्व का प्रकाश ही नहीं आया है ?

धर्म के क्षेत्र में जैन धर्म में गुरु का पद उस महापुरुष को प्राप्त होता है जो रत्नत्रय से भूषित हो। उसके चरणों को अस-सच्चा मार्ग प्रदर्शन करने वाले रत्नत्रय के द्वारा वक्ष्य चक्रवर्ती प्रणाम करता है।

देवा के इद्र प्रमाण करके भक्ति व्यक्त करते हैं। ऐसे रत्नत्रय धारियों में आचार्य महाराज हैं। राष्ट्र के नेता को धर्म के क्षेत्र में भी नेतृत्व देना ऐसा ही अद्भुत काम है, जैसे बलगाड़ी वाले के हाथ में वायुयान चलाने के लिए 'पाइलट' (Pilot) का उत्तरदायित्व सौंपना। मोक्षमार्ग का नेतृत्व अनंत राजनैतिक नेतृत्व और लौकिक श्रेष्ठ पद पाने पर भी नहीं मिलता। इस जीव ने अनंतवार अंतिम प्रवेयर के सुखों को प्राप्त किया, वहां की अहमिद्र रूप पदवी पाई, फिर भी रत्नत्रय की आत्म ज्योति से वंचित रहा। अतएव आत्मकल्याण के क्षेत्र में आत्म विद्या से अपरिचित व्यक्ति से प्रसिद्धि के आधार पर नेतृत्व पाने का उद्योग श्रेयस्कर नहीं हो सकता। राजनैतिक क्षेत्र के अत्यंत आदरणीय नेता को जिन शासन का पथ-प्रदर्शक मानना भयंकर भूल भरा कार्य है। धर्म और राजनीति का क्षेत्र एकान्त एक नहीं हो सकता है।

जैन तीर्थंकरों के मधु को मांस और मद्य के साथ त्याग्य बताया है, किन्तु वह गांधीजी की अत्यंत प्रिय वस्तु रही है। सन १९३२ के उपवास को आरंभ करते समय गांधीजी ने गरम पानों के मांस नीचू का रस तथा सहृद लिया था। मधु के सत्रय में मैंने गांधीजी से प्रत्यक्ष चर्चा की थी, कि अहिंसा की साधना के लिए तीर्थंकर महावीर ने मधु का त्याग आवश्यक गृहस्थ को सख्ती कहा है, किन्तु उनका मधु का सहृद नहीं था। यह तो पाने पीने की बात हुई। अब अहिंसा के बारे में भी उनका मार्ग दर्शन तीर्थंकरों की शिक्षा में टक-राता है। जैन धर्म में विरोधी हिंसा का गृहस्थ

१ "Gandhu took his last meal It consisted of lemon juice and honey with water"

परिहार नहीं कर सकता है। सकलपी हिंसा का त्याग करना आवश्यक है गांधीजी का अनुभव सकलपी हिंसा में अहिंसा का दर्शन करता है। सन १९२६ में अहमदाबाद के मिल मालिक सेठ अम्बालाल साराभाई ने साठ कुत्ताको मरवा दिया था, जो सेठ जी के मिलके आसपास फिरते थे। इसकी हत्या का गांधीजीने समर्थन करते हुए कहा था 'what else could be done?' उनकी हत्याके सिवाय और क्या किया जा सकता है? समर्थ व्यक्ति उनकी चिकित्सा की व्यवस्था कर सकते हैं। एक मिल ने मालिक के पास जय शोषण द्वारा बरोडा की संपत्ति आती है, तो क्या गाठ जीया के रक्षण का कार्य असंभव हो सकता है? इन विचारा के स्थान में गांधीजी का तर्कवाद यह कहता था।^१

कुत्तो के बर का समर्थन करते हुए गांधीजी ने लिखा था, "फिरते हुए कुत्ता वा कोई मालिक न होने से वे समाज के लिए खतरनाक हैं। यदि लोगो में सचमुच में धार्मिकता है तो लोगो को अपने आग को कुत्तो का मालिक बनाया चाहिए।" यह विवाद काफी चला, किन्तु गांधीजी कुत्ता-बध पक्ष से जरा भी पश्चात् पद न हुए। कुत्ता यदि निर्दाय है, तो उसका मारना सक्ती हिंसा है। यदि वह आक्रमण शील हो जाता है, और उसके सुधार का उचित उपाय नहीं है तो उस स्थित में उत्तर दायित्व वाले व्यक्ति द्वारा अनिवार्य घात किया जाना विरोधी हिंसा होगी, जिससे स्थूल बध त्यागो गृहस्थ नहीं बचा है। जैन क्षत्रिया ने न्यायपक्ष के समर्थन में युद्ध स्थल में जाकर भीषण युद्ध किए हैं, उनमें अगणित नरसंहार हुआ है, किन्तु निरर्थक रूप से वे ही क्षत्रिय छोट से भी जीव के घात से बचे हैं। सकलपी हिंसा सबसे खतरनाक है, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल प्राण घात है। कानून भी (intentional injury.) सकलपी हिंसा को अपराध मानता है।

गांधीजी की अहिंसा की अग्नि परीक्षा कुत्ता बाण्ड से हुई थी। किन्तु इन विचारों पर दूसरों के काटने दोष लगाया जा सकता था। कुत्ते को बदनाम करके मार डालना दुनिया में अपराध नहीं माना जाता है। प्रसिद्ध नीति ही है 'Give a dog bad name and hang it'

१ "A roving dog without owner is a danger to society
If people were really religious, dogs would have owners "

अब दैवयोग से अत्यन्त निर्दोष गोवत्स का प्रसंग आ गया गांधी जी के आश्रम में एक बछड़ा बीमार हुआ । उसे इजेंवसन दिलवाकर गांधीजी ने मरवा डाला, कारण उनने उसका इलाज करके यह देखा कि इसका वचना अब शक्य नहीं है, मानो गांधीजी को कंबल्य हो गया हो । उस कार्य को करते हुए उसका औचित्य गांधीजी ने सिद्ध करने में सारी शक्ति खर्च कर दी थी ।

अब मांस भक्षण को ही लीजिए । अहिंसा की वैशिका परीक्षा के लिए मांस भक्षण का त्याग अनिवार्य तीर्थंकरों ने बताया है । सिंह की पर्याय तक में महावीर बनने वाले जीव को मांसाहार का त्याग कराया गया है, किन्तु गांधीजी श्री सी एफ एंड्रूज को मांस खाते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसा का पदक प्रदान करते थे । उनने अपने लेख में चर्चा करते हुए कहा था कि उनसे बढकर अहिंसक और कौन हो सकता है ?

ब्राम्ह के क्षेत्र में भी उनका मार्ग दर्शन पश्चिम की प्रतिकृति पूर्ण था । बाअविधवाओं का विवाह करना माता पिताओं का वे वर्तव्य मानते थे । इसलिए उनका पथ प्रदर्शन निर्मल शीलके लिए भी वज्र प्रहार-रूप था । उनकी महत्वाकांक्षा थी, कि वह दिन उनकी दृष्टि में घम्य होगा, जब जातियों की समाप्ति हो जायगी तथा ब्राम्हण महतरानियों से शादी करेंगे ।

गांधीजी हरिजन, ब्राम्हण आदि के भेद भाव को हिंसा कहते थे । कुत्तो को मारना अहिंसा, बछड़े को मरवा डालना अहिंसा, मांस का खाना अहिंसा, शहद का खाना अहिंसा, विधवाओं का विवाह करना अहिंसा, किन्तु अपनेको ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कहना हिंसा है । यह उनका तत्त्वज्ञान है ।

† A young heifer in the ashram fall ill. Gandhiji tended it and watched it suffer and decided it ought to be put to death. Kasturbai objected strenuously. Then she must go and nurse the animal, Gandhi suggested. She did and the animals torment convinced her. In Gandhu's presence a doctor administered an injection which killed the heifer.

L. Fisher- 'Life of Mahatma Gandhi'

२ "He yearned for the day, when there would be only one caste and Brahmins would marry Harijans."

Ibid. p 457

क्या असमानता हिंसा है ? मैं सामाजिक क्रांतिवादी हूँ । समानता के अभाव में हिंसा होती है, समता में अहिंसा होती है । इस अहिंसा की परिभाषा का तर्क की कसौटी पर बसा जाय, तो बड़ी विचित्र स्थिति हो जायगी, कारण विश्व में अनंत प्रकार की असमानता में है, उसमें एकान्त समानता का समावेश कैसे किया जा सकता है, नाम, रूप, गुण, धर्म, देश, काल आदि की अपेक्षा भेद तो पंडित लोग बतावेंगे, साधारण आदमी तो पाचो अंगुलियों में असमानता देखता है । दोनो हाथों में एकान्त समानता नहीं है । पागल, बुद्धिमान, गरीब, अमीर, दुबला, पतला, अंधा, लूला, बालक, बूढ़ा, गोरा वाला आदि भेदा को मानना कैसे हिंसा होगा ? गांधीजी की अहिंसा सत्य की पैटी है । अतः सत्य के प्रकाश में प्रगट होने वाला भेद बेटी अहिंसा के कैसे प्रतिकूल होगा ? कर्म कृत भिन्नता को कैसे भुलाया जा सकता है ?

गांधीजी की सत्य निष्ठाको सभी स्वीकार करते हैं । सौभाग्यकी बात है कि वे अपने को कच्चा अहिंसक मानते हैं, अतएव मुमुक्षु का कर्तव्य है, कि कि पक्के अहिंसा वाले तीर्थंकरों के आगम से प्रकाश प्राप्त करें । सरल अन्तर्करण वाले बापू ने लिखा है—“मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता आया हूँ । सत्यमय बनने के लिये अहिंसा ही एक राज मार्ग है । मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है । ” (आत्मकथा—अध्याय ४४ पूर्णहृति)

इस प्रसंग में अमेरिकन लेखक लुईफिशर के साथ गांधी जी का सन १९४६ में हुआ चार्तालाप बोधप्रद है । लुईफिशर ने कहा—मेरी समझ से आप आजार्डहिद फीज तथा सुभाषचंद्र बोस (जो उस सेना के नायक हैं तथा जो दूसरे महायुद्ध में जर्मनी तथा जापान प्रवृत्ते थे ।) के प्रभाव से भयभीत हैं ? उसने युवकों के मन में प्रवेश कर लिया है और आप उससे परिचित हैं और उस भावना से डरते हैं । गांधी जी ने कहा था—“उसने सारे देश का ध्यान अपनी ओर नहीं खींचा है । देश बड़ा व्यापक साध है । देश के

एक वर्ग के युवकों तथा स्त्रियों का ध्यान उसने खींचा है, जो उसके अनुयायी हैं। परमेश्वर ने भारतवर्ष के लिये सौम्यता सुरक्षित रखी है। 'शान्त हिन्दू' शब्द का प्रयोग निंदा के रूप में होता है, किन्तु मैं इसे सम्मानप्रद मानता हूँ जिस प्रकार चंचिल का मेरे लिए प्रयुक्त 'नग्न फकीर' शब्द। मैंने तो उसे अपने लिए प्रशंसा के रूपा में लिया है तथा इस सम्बन्ध में चंचिल को लिखा था। मैंने चंचिलसे कहा है कि मैं नग्न साधु बनना चाहता हूँ, किन्तु अब तक बैठा नहीं बन पाया हूँ—

लुई शिफर— "क्या उनका उत्तर आया ?"

आचार्य श्री सद्गुरु गांधी जी— "हां! उनसे नम्रतापूर्वक वायनराय द्वारा दिगम्बर पद के मेरे पत्र की पर्तुच दी थी।"
 लिए गांधी जी इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधीजी की आन्तरिक तीव्र लालसा थी लालता दिगम्बरत्व की थी, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का सर्वांगीण विकास होता है। परिग्रह आत्मा की विदुद्धता को उसी प्रकार प्रगट नहीं होने देता है, जैसे मेघ पटल सूर्य के प्रकाश को रोकता है।

१ "L. F. I think you are afraid of the spirit of the Indian National Army of Subhash chandra Bose- (its hero, who went of Germany and Japan during the Second world war) He has captured the imagination of the youth and you are aware of it or you fear that mood "

Gandhi: "He has not captured the imagination of the country. It is too-wide a term, but a section of the youth and of the women follow him. ..The almighty has reserved mildness for India, "The mild Hindu" is used as a term of reproach. But I take it as a term of honour, just like Churchill's "Naked Fakir" I appropriated it as a compliment and even wrote about it to Churchill. I told Churchill I would love to be a naked fakir but I am not one yet....

L. F.: "Did he answer ?"

Gandhi, "yes, he acknowledged my letter through the Viceroy in a courteous manner.

The life of Mahatma Gandhi P. 473.

शूद्रों के साथ स्नान-पान में क्या बुराई है इसके विषय में आचार्य ने कहा कि— “वे लोग मांस हड्डी खाने वाले हैं। उनको काम करने का विवेक नहीं है। परंपरा से ही आचार होने से उनका देह पिण्ड शुद्ध नहीं है।

कोई २ यह सोचते हैं डेडों के हाथ का आहार ग्रहण करने में साधुओं को क्या बाधा है ? उस भोजन में वह मद्य, मांस नहीं मिला देता है।

यह बात ठीक नहीं है। जैन आगम कहता है ‘मांस’ शब्द सुनने से साधुओं को आहार छोड़ देना चाहिए। भंगी के स्पर्श हो जाने पर अस्नान रूप मूल गुण के होते हुए भी मुनि को दण्ड स्नान की आज्ञा है। महाराज ने कहा— ‘हम तो पाप से डरते हैं। शूद्रों के लिए स्नान पान आदि की आगम की आज्ञा नहीं है।’

मनोवैज्ञानिक विचार इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि शूद्रों का परंपरा से मांस, मद्य सेवन

जीव वध आदि हिंसक कार्यों से संबंध रहा है। उनसे सदा से कृष्णा की खेल को एक बूँद प्रेम जल नहीं दिया है, बड़े मनुष्यों के समक्ष वे नम्रता दिखाते रहे हैं, किंतु अन्य जीवों के सहार में उन्हें जरा भी व्यथा नहीं हुई है; अतः जिनने हिंसा राक्षसी को सदा रक्त की बलि दी है जिनकी कुल परंपरा में भी वही काम किया गया है, अतः क्रूरता के संस्कार पितृ परंपरा से जिनके पास आये हैं, उन क्रूर संस्कार वालों का संपर्क उच्च आध्यात्मिक साधना के लिए भयंकर क्षतिकारक हो जाता है। क्षयरोगी के ससर्ग से दूसरे में उस रोग का संक्रमण होने से वह रोगी बन जाता है, इसी प्रकार हिंसादि हीन कार्यों में परंपरा से संलग्न जीव-क्षय करनेवाले व्यक्ति के संसर्ग होने से उज्ज्वल भावनाओं पर एक ऐसा आघात पहुँचता है, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते हैं। वह अतीन्द्रिय-यर्षी योगियों के ज्ञान गम्य है। यदि ऐसी बात न होती, तो परम कारुणिक तीर्थंकरों के उपदेश द्वारा सर्व साधारण के लिए मुनिपद का मार्ग उन्मुक्त रहता; किन्तु दिगंबर आर्य साहित्य चरणानुयोग के ग्रंथ यह बताते हैं, कि नीच कुलवालों को मुनिदीक्षा का अधिकार नहीं है।

भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर ने शूद्रवर्ण का कचन किया है। अतएव मोक्षाभिलाषी आत्मा जिन शासन के आदेश को मानेगा, कच्ची और बधूरी अहिंसा की साधना वाले को मुक्ति पथ में मार्गदर्शक नहीं मानेगा। जैन

संसार को जीतना सरल है, लोक में असाधारण मान पाना कठिन नहीं है। कठिन है अतरंग विकारो पर आत्मा का नियंत्रण स्थापित करना। गांधी जी ने लिखा है— “मैं तो मन के विकारो को जीतना सारे संसार को अस्त्र शस्त्र के बरत पर जीतने की अपेक्षा भी कठिन समझता हूँ।” उनसे यह भी लिखा था “आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन करना भी सर्वथा असंभव है। चूँकि अशुद्धात्मा परमात्मा का दर्शन करने में असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन पथ के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धि की आवश्यकता है।” (आत्मकथा पृ० ३४३, ४४ शीर्षक पूर्णाहुति) ।

ऐसी स्थिति में जो सत्यनिष्ठ सत्पुरुष अहिंसा का मन, वचन, काम कृत, करित, अनुमोदना से पालन करता है, जो अहिंसा के प्रकाशदाता तीर्थंकरों की वाणी का ही सतत अभ्यास तथा परिशीलन करके उससे आत्म प्रकाश तथा शक्ति प्राप्त करता है, बाल्यजीवन से ब्रम्हचर्य का पूर्ण पालन धर्म मूर्ति आचार्य हो, लगभग ४० वर्ष जिसे दिगम्बर पद की धारण कर धर ही तत्त्वपथ अनुपम विभूति शातिसागर महाराज के द्वारा धर्म का बता सकते हैं। तत्त्व समझना और मंगलमय जीवन का पवित्र पथ प्राप्त

करना विशेष हितकारी, युक्ति युक्त तथा निर्दोष होगा। कभी २ बुद्धिमान पुरुष तक निधि को पास में रखकर बाहर खोजते हैं, इसी प्रकार अहिंसा की साधना के लिए आचार्य श्री से तत्त्व का स्वरूप जानना चाहिए, जो धर्म कोरी बात नहीं करते हैं, किंतु जिनका धर्ममय जीवन स्वयं धर्म की को बताता है।

आचार्य महाराज ने बताया था कि मनुष्यों में सामान्य दृष्टि से अभेदपना है, किंतु विशेष अपेक्षा उनमें शूद्रादि रूप भेद पाया जाता है। यदि भेद न माना जाय, तो स्त्री जाति की अपेक्षा समान होते हुए स्त्री, बहिन, बेटों में भेद क्यों मानते हो? वृक्षत्व की अपेक्षा सभी वृक्ष कहलाते हैं, किंतु आम आदि को ग्राह्य कहते हैं; वच्छनाग वृक्ष को नहीं खाते हैं उसे अग्राह्य बताते हैं। सब जानवर एक हैं तो गाय के समान व्याघ्र सिंह को पास में क्यों नहीं रखते?” महाराज ने कहा— “यदि सब मनुष्य सर्वथा समान हैं, तो सब पशु भी समान होंगे; ऐसी स्थिति में गाय के दूध को पीने हो, तो झूकरी का भी दूध क्यों नहीं पीते? वहाँ भी पशुपता समान भावसे देखा जाता है।”

शूद्रों के साथ खान-पान में क्या बुराई है इसके विषय में आचार्य ने कहा कि— 'वे लोग मांस हड्डी खाने वाले हैं। उनको काम करने का विवेक नहीं है। परंपरा से ही आचार होने से उनका देह पिण्ड शुद्ध नहीं है।

कोई २ यह सोचते हैं डेडो के हाथ का आहार ग्रहण करने में साधुओं को क्या बाधा है ? उस भोजन में वह मद्य मांस नहीं मिला देता है।

यह बात ठीक नहीं है। जैन आगम कहता है 'मांस' शब्द मुनने से साधुओं को आहार छोड़ देना चाहिए। भगी के स्पर्श हो जाने पर अस्नान रूप मूल गुण के होते हुए भी मुनि को दण्ड स्नान की आज्ञा है। महाराज ने कहा— 'हम तो पाप से डरते हैं। शूद्रों के लिए खान पान आदि की आगम की आज्ञा नहीं है।'

मनोवैज्ञानिक विचार इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि शूद्रों का परंपरा से मांस, मद्य सेवन

जीव वध आदि हिसक कार्यों से सबंध रहा है। उनमें सदा से कृष्णा की बलि को एक बूद प्रेम जल नही दिया है, बड़े मनुष्यों के समक्ष वे नम्रता दिखाते रहे हैं, किंतु अन्य जीवों के सहार में उन्हें जरा भी व्याधा नहीं हुई है, अतः जिनने हिसा राक्षसी को सदा रक्त की बलि दी है जिनकी कुल परंपरा में भी वही काम किया गया है, अतः क्रूरता के संस्कार पितृ परंपरा से जिनके पास आय है, उन क्रूर संस्कार वाले का संपर्क उच्च आध्यात्मिक साधना के लिए भयंकर क्षतिकारक हो जाता है। क्षयरोगी के ससर्ग से दूसरे में उस रोग का संक्रमण होने से वह रोगी बन जाता है, इसी प्रकार हिसादि हीन कार्यों में परंपरा से संलग्न जीव-क्षय करनेवाले व्यक्ति के ससर्ग होने से उज्ज्वल भावनाओं पर एक ऐसा आघात पहुंचना है, जिसकी हम बर्त्पना नहीं कर सकते हैं। वह अतीन्द्रिय-दर्शी योगियों के ज्ञान गम्य है। यदि ऐसी बात न होती तो परम कारुणिक तीर्थंकरों के उपदेश द्वारा सर्व साधारण के लिए मुनिपद का मार्ग उन्मूलित रहता, किंतु दिगंबर आर्ष साहित्य चरणानुयोग के ग्रंथ यह बताते हैं, कि नीच कुलवाला को मुनिदीक्षा का अधिकार नहीं है।

भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर ने शूद्रवर्ण का वचन किया है। अतएव मोक्षाभिलाषी आत्मा जिन शासन के आदेश को मानेगा, कच्ची और अधूरी अहिंसा की साधना वाले को मुक्ति पथ में मार्ग दर्शक नहीं मानेगा। जैन

धर्म की सूक्ष्म विचारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक तत्त्व व्यवस्था उन महामुनियों की तपस्या का प्रसाद है, जिनकी अहिंसा परिपक्व, निर्दोष तथा पूर्ण रही है। अतएव जैन आगम का उपासक तीर्थंकरों के उपदेश को अपना मार्ग दर्शक मानेगा।

इसी कारण आचार्य महाराज १९३२ के हरिजनोद्धार आंदोलन के प्रचंड तूफान उठने पर भी मेरुवत अचल रहे। चतुर नाविक तो वही है, जो भयंकर तूफान आने पर नौका को सावधानी से चलाते हुए डबने से बचावे। शिथिलाचार तथा भ्रष्ट प्रवृत्ति के तूफान के समय पर्वनों को भी हिलाने वाले तूफानों के आने पर मोक्ष वचल वृत्ति मार्ग की नौका को सुरक्षित रखते हुए तीर्थंकर महावीर के मार्ग पर खड़े की कुशलता तथा वीरता का कार्य आचार्य महाराज ने किया है। यदि उन जैसी प्रबल आत्मा का पथ प्रदर्शन न होता, तो बीतरागोक्त विरुद्ध अहिंसात्मक संस्कृति की सुरक्षा असंभव थी।

यह धारणा कि किसी को नहीं छूने से विद्वेष भाव टपकता है तथा जहाँ विद्वेष का विष है, वहाँ अहिंसा की कल्प-शुद्धता का आधार लता बँसे रह सपत्नी है अय्यार्य है। छूने से प्रेम विवेक है, विद्वेष और न छूने से द्वेष मानना अज्ञान तर्क है। एक दूसरे पर छुरी चलाने वाले सजातीय शत्रुओं में अस्पृश्यता नहीं का अभाव रहते हुए भी हिंसा पाई जाती है, कारण वहाँ विद्वेष दृष्टि गोचर होता है। अशुद्ध स्थिति में मातृ जाति का स्पर्श न करना उच्च जातियों में पाया जाता है, उसके भीतर विद्वेष का लेश भी नहीं है, केवल शुद्धता का संरक्षण उस प्रवृत्ति का मूल कारण है। कुटुम्ब के भीतर किसी की मृत्यु हो जाने पर लोग दूसरों के स्पर्श को बचाते हैं। भगवान की पूजा नहीं करते, मुनि आदि सत्पात्रों को दान नहीं देते और गुनि-राज ऐसे घरों का मर्यादित समय तक आहार नहीं करते। इसके मूल में विवेक है, जो शुद्ध तथा अशुद्ध का संपर्क नहीं कराता है। शुद्ध और अशुद्ध को मिलाने से अशुद्ध वस्तु बनती है। एक सेर दूध में एक बूँद रबन की डालने पर रबन में शुद्धता नहीं आती बल्कि सारा दूध ही रबन के समान-शुद्धि-शून्य हो जाता है। इसी प्रकार, वंश-परंपरा से हिंसादि कार्यों के करने के कारण जिनके खूनी हाथों की अशुचितता नहीं गई है,

उनका स्पर्श वचाना अहिंसा का रक्षक है। नेत्रों के आधार पर एकान्तत श्रुतिता या अश्रुतिता की भिन्नता का बोध नहीं हो पाता है। एक मिट्टी का वर्तन है। उससे क्षय रोगी ने जल पिदा, निरोग व्यक्ति घश्मा लगाकर भी उसमें क्षय के जन्तुआ के सन्मरण को नहीं जान सकता है, किन्तु यदि वह नेत्रों के द्वारा उन विपावत जन्तुओं का दर्शन न होने से उस पात्र के जल को पीता रहे, उसके साथ सहभोज करता है, तो वह उस सह भोज से क्षय रोगी का उद्धार नहीं करेगा, बिना अपने भी उस विकृति को बुलाकर आप भी क्षय रोगी हो जायगा। इससे क्षय रोग की सरया बढ़ेगी, घटेगी नहीं। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर जिन जीवों ने जन्मान्तर में हिंसा, कुशील, मांस भक्षण, शिकार खेचना, डाना डालना, परस्त्री अपहरण करना आदि कार्य किये हैं तथा जिनने अपने हाथों को सदा निरपराध जीवों के रक्त से रजित किया है, उन सस्वार हीन जीवों का जन्म ऐसे परिवार में होता है, जहाँ तत्काल पूर्ण आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। जैसे म्यादी ज्वर का बीमार तत्काल ही रोग मुक्त होकर स्वस्थ व्यक्ति के सामान प्रवृत्ति नहीं कर पाता, इसी प्रकार निरपराध जीव-बध आदि क्लृपित कार्य करने वाले परिवार में जन्म धारण करने वाला जीव तब तक विशुद्ध आत्म-विकास नहीं कर पाता, जब तक कि उससे विद्यमान विषेय दोषों का क्षय नहीं होता। एक व्यक्ति की आत्मा में लगे हुए परमाणु दूसरे जीव पर प्रभाव दिखाते हैं।

स्थूल दृष्टि से तो इस विषय का रहस्य ज्ञात नहीं होता, किन्तु दिव्य ज्ञानी जैनचार्यों ने बताया है कि हिंसा आदि कुसंस्कारों में पोषित आत्मा के निकट संपर्क से दूसरे व्यक्ति की आत्मा का विकास नहीं होना। जिस तरह प्लेग के बीमार के संपर्क में आने पर उस सत्रामक रोग के द्वारा निरोग व्यक्ति भी बीमार बन जाता है, इसी प्रकार हिंसा आदि हीन कार्य में परपरा से प्रवृत्ति करने वाले परिवार के पुरुष के संपर्क से दूसरे व्यक्ति में उचित आत्म-विकास नहीं हो पाता।

जो सर्वत्र एकता के स्थापन का विचार धारण करते हैं, वे प्रतीत होता है नगर पालिका के कचराघर को अपना आदर्श बनाए हुए हैं, यथा कि वहाँ सब पदार्थों का समान रूप से प्रेम पूर्वक स्वागत किया जाता है, ऐसी समानता तीर्थंकरों के शासन में वर्तमानवारी नहीं मानी गई है।

एकान्त रूप से समानता मानना भी नहीं बनता जबकि जग में समानता की भांति भेद का भी वैभव दृष्टिगोचर होता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सर्वथा समानता युक्त कोई भी दो पदार्थ नहीं मिलेंगे। विश्व की विविधता ही एकान्त साम्य के भवन को धराशायी कर देती है, अतः समानता में अहिंसा है और विविधता में हिंसा ये विचारधारा तर्क संगत नहीं हैं।

जिस व्यवस्था के मूल में जीवरक्षा का भाव है, कष्टना की वृत्ति का पोषण होता है, वह व्यवस्था हिंसा पूर्ण नहीं हो सकती। जहां जीव वध आदि-पापी का नग्न ताण्डव होता है, उस समता की हिंसा राक्षसी का परिवार मानना होगा। धवल वस्त्रधारण करने से अथवा मधुर सम्भाषण द्वारा शुचिता की कल्पना करना विवेकी मानव का कर्त्तव्य नहीं है। जैन शास्त्र वैदिकों के समान शूद्रों के प्रति धृणा भाव का उपदेश नहीं देने। जैन धर्म में जाति के अहंकार मानने वाले के नवज्ञान का क्षय बताया है। वह अहंकार ही इस जीव को शूद्र पर्याय अथवा पशु योनि आदि में ले जाता है। अस्पृश्यता के निवारण का उपाय राजसत्ता द्वारा विषय कानून का बनाना नहीं है। मद्य, मांस, शिकार, परस्त्री सेवन आदि पापाचारों का परित्याग करने से यह जीव अस्पृश्यता के जनक नीचगोत्र कर्म को दूर कर उच्च वंश में उत्पन्न करने वाले उच्च गोत्र कर्म का वध करता है। अतएव अस्पृश्यों का उद्धार उनमें सदाचार तथा पवित्र नियमों का प्रचार करना है।

जैन कर्म व्यवस्था पूर्णतया वैज्ञानिक है। उसका आचार शास्त्र भी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अवस्थित है। सम्यक्त्वो जीव जाति, कुल, विद्या आदि का अहंकार नहीं करता है। इसका कोई-कोई यह मतलब निकालना चाहते हैं, कि सम्यक्त्वो जाति-पाति तोड़कर पक्ष का सदस्य बन जाता है, यह नितान्तपूर्ण भ्रमपूर्ण बात है। जाति, कुल का वर्णन जिनागम में है। सप्त परम स्थानों में सज्जातित्व का प्रथम स्थान महापुराण सदृश आगम शास्त्र में चत्वार्षष्टम है। अण्ण को प्रण पानने वाला, जिन चरणों का दाम कैसे सज्जातित्व लोप की बात को स्वीकार करेंगे? रानी रेवती ने पच्चीसवें तीर्थंकर का दृश्य दिखाने पर भी अपनी दृष्टि में मूढ़ता नहीं आने दी, कारण आगम में पच्चीसवें तीर्थंकर का कथन नहीं है, तब आज की राजनीतिज्ञों के उद्गारों को आदर देकर वह आगम की अवहेलना कभी भी नहीं करेगा।

आगम-प्राण
महाराज

आगम प्राण महाराज ने भी कहा था "हम जिनेन्द्र की आज्ञा के सिवाय दूसरे की आज्ञा नहीं मानते । जिन धर्म की आज्ञा का पालन करते हुए मर जाना ठीक है । आज्ञा भग से मरे तो, गृहस्थ भी नहीं रहे, मुनि की तो बात ही दूसरी है ? शूद्र के हाथ का अन्न-जल लेने की महावीर भगवान ने आज्ञा नहीं दी है । हमें जीवन जी परवाह नहीं है । कल जाना हो, तो हम अभी जाने को तैयार हैं । धर्म रहा, तो जीवन रहेगा, धर्म गया तो रहकर क्या करना ? यदि वर्ण व्यवस्था न मानने वाला सम्यक्त्व रहित होता

है, तो उसका अहंकार करने वाला भी अपने तत्वेज्ञान का क्षय करता है । अतएव जैन व्यवस्था में दुर्भाव की कटुता का जहर रच मात्र भी नहीं है । जो धर्म संप्रतक से ध्यार का पाठ सिखाता है वह मानव से प्रेम करने का निषेध कैसे करेगा ? यह सहज विवेक की वस्तु है । तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है—

दूसरे की निन्दा करना, अपनी बड़ाई करना, दूसरे के गुणों को छिपाना, और उसमें झूठे दोषों को लगाने से जीव नीच गोत्र का वध करता है ? इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि नीच बनना हमारे ही बर्णों का फल है । नीचता के अभिशाप से बचकर उच्च बनने का उपाय कानून का आश्रय ले सब पर दबाव डालना और कहना कि तुमने किमी को भी अस्पृश्य कहा, तो तुम्हें दण्ड दिया जायगा, जैन शासन का पय नहीं है । कानून के बल पर आत्मा का सुपार नहीं होता है । उसका उपाय जैन गुरुओं ने बताया है । अस्पृश्यता का मूलोच्छेद होकर जीव में उच्चता का अवतरण किस प्रकार होता है, इस विषय में सूत्रकार उमास्वामी महाराज ने लिखा है — "दूसरों की निन्दाके स्थान में दूसरों की प्रशंसा तथा आत्म प्रशंसा के स्थान में अपनी निन्दा करना, गुणवान व्यक्तियों के समक्ष नम्र वृत्ति धारण करना तथा अहंकार नहीं करने से जीव के उच्च गोत्र का आस्रव होता है ।" इस वृत्ति से नीच की अस्पृश्यता दूरकर होकर उच्च कुल में जन्म होता है । साबुन से वस्त्र का मैल दूर होता है, आत्मा के मैल घोने को अहिंसायुगी वस्तु का उपयोग जरूरी है । बाह्य वस्तुओं का आश्रय लेकर

१ परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छनोद्भावने च नीचर्गोत्रस्य ॥ ६-२५

२ तद्विषयमो नीचैर्व्यत्यनुत्सेको चोत्तरस्य ॥ ६-२६ ॥

भी आत्मा के उत्थान का उपाय किया जाता है । योग्य बाह्य पदार्थ आत्म विकास में निमित्त रूप होते हैं ।

इस प्रसंग में कोई व्यक्ति कह बैठता है, भगवान् जिनेन्द्र समवशरण में के समवशरण में छोटे बड़े सभी जीवा को प्रवेश प्राप्त वैवाणिक का ही होता है । वहा जव शूद्र जाते हैं, तब शूद्रों के सपर्क के प्रवेश होता है विषय में विचार करना योग्य नहीं है, यह कवन काल्प निक है । हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि शूद्र समवशरण के बाहर रहते हैं । उनका कथन है -

‘वहा बाहनादिक सामग्री को बाहर छोड़कर उत्तम भवित वाले उत्तम पुरुष, विशिष्ट वाकुद सहित ही मानस्तभकी प्रदक्षिणापूषक वदना करके सनातन पद्धति के अनुसार भीतर प्रवेश करते हैं, किन्तु पापी, निन्द्यकर्म वाले, पाखण्ड रूप पीलिया रोग युक्त अगहीन, विक्लेन्द्रिय, उन्मार्ग-गामी तथा शूद्र उसके बाहर घूमते हैं ।’”

एक भाई श्लोक १७१ में आगत ‘तजवाह्ये’ शब्द का अर्थ ‘गध कुटी के बाहर’ करके शूद्रों का समवशरण प्रवेश सिद्ध करने का प्रयास करते हैं किन्तु यह श्रम विफल है, कारण “बाहनादि परिच्छद परित्यज्य अतः प्रविशति” शब्द खीचा-तानी द्वारा अन्य अर्थ के निकालने को रोकते हैं । हाथी घोड़े रथ आदि का समवशरण के बाहर छोड़ा जाना सगत होगा, उस सामग्री का समवशरण के भीतर जाकर गधकुटी के बाहर छोड़ा जाना अयोग्य बात होगी । हरिवंश पुराण कार का भाव यह है कि उत्तम जन समवशरण के बाहर हाथी घोड़ा आदि को छोड़कर मानस्तभकी वदना करके भीतर जाते हैं और शूद्र आदि लोग समवशरण के बाहर ही रहते हैं ।

१ तजवाह्ये परित्यज्य बाहिनादि-परिच्छदम् ।
 विशिष्टैर्ककुर्दयुक्ता मानपीठ परीत्यते ॥ १७१ ॥
 प्रादक्षिप्येन वदित्वा मानस्तभमनादित ।
 उत्तमा प्रविशत्यत रुत्तमाहितभवत्यय ॥ १७२ ॥
 पापशीला विनर्माण शूद्रा पापडपाडवा ।
 विक्लान्देन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियति बहिस्तत ॥ १७३ ॥

जिन मंदिर और समवशरण में एकान्त ऐक्य मानना असंगत है दूसरी बात यह विचारणीय है कि समवशरण में साक्षात् अर्हन्त तीर्थंकर विराजमान रहते हैं, जिनके तपः प्रभाव से जन्म विरोधी जीवों में मैत्री उत्पन्न होती है, ऐसा नियम क्या प्रतिकृति रूप जिन मंदिर में चरितार्थ हो सकेगा ? क्या जिनेन्द्र की मूर्ति के प्रभाव से वे विल्ली चूहे आदि में भक्ष्य भक्षण भाव को दूर सकेंगे ? जब ऐसा असंभव है, तब मंदिर समवशरण की पूर्णतया एकता की धारणा धराशायी हुए बिना नहीं रहती है !

एक विद्वान् कहते हैं जब शूद्र मुनि बन सकते हैं, तब उन शूद्रों को द्विजों के समान सभी धार्मिक अधिकार मानना आगम मंगत है । अपने प्रमाण में वे दर्शन मोहनीय के आस्त्रव के विषय में लिखित सूत्र, 'केवल-श्रुत संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य "६-१३, की टीका का आश्रय लेते हुए कहते हैं "संघ का अवर्णवाद है मुनियों के विषय में शूद्रत्व तथा अशुचित्व आदि दोषों का कथन करना-"शूद्रत्वाशुचित्वाविनिवर्तनं सघावर्णवादः" यदि मुनियों में शूद्र न होने तो उनके अवर्णवाद का कथन कैसे होता, अतः इससे शूद्रों का मुनि होना पूर्णतया निर्वाध सिद्ध है ।"

यह कथन भ्रम मूलक है । अवर्णवाद का अर्थ है 'असद्भूतमलोद्भावनम् "अविद्यमान दोषों का लगाना ।" इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो शूद्र नहीं हैं, उनको शूद्र कहना, जो रत्नत्रयालंकृत होने के कारण सदा शुचि है, उसको अशुचिरूप कहना अवर्णवाद होगा । शूद्र को शूद्र कहना अवर्णवाद नहीं कहा जा सकता है । अतः यह तर्क तो गत प्राण हो जाती है ।

शूद्र साम्य के अनन्य अनुरागी एक शास्त्री जी पूज्यपाद आचार्य के शब्दों में संघ की परिभाषा इन शब्दों में पाकर अपने साध्य की सिद्धि देखते हैं "चातुर्वर्ण-धर्मण-निवहः संघः" इसका सामान्य अर्थ यही दिखता है कि "चारों वर्णों के अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण वाले धर्मणों-मुनियों का समुदाय संघ है," यह अर्थ का अर्थ है । मुनियों के चार भेद कहे गये हैं, श्रुषि, यति, मुनि, अनगार । इन चारों का समुदाय संघ है । वर्ण शब्द का इस प्रकरण गत अर्थ छोड़कर ब्राह्मणादि रूप अर्थ करने में पूज्यपाद आचार्य के कथन से विरोध आता है । अपनी जैनेन्द्र-प्रक्रिया व्याकरण में उनसे समाप्त वा वर्णन करते हुए एक सूत्र

लिखा है—“वर्णेनार्हद्-रूपायोग्यानाम्-(१-४-८६) अर्हतरूप-जिनमुद्रा के अयोग्य पद का उल्लेख करते हुए उनसे शूद्र को अर्हत् रूप के अयोग्य बताया है जैसा कि भाष्यकार सोमदेव के शब्दानांश के इन शब्दों से स्पष्ट होता है ।

“वर्णेन-जाति विशेषेण अर्हद्रूपस्य नेत्रेभ्यस्य अयोग्याना इन्द्रः एक-वद्भवति । तक्षावस्वारम्, कुलालवकटम्, रजकतन्तुवायम्; वर्णेन इति किम्? मूकवधिरौ । अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम्? ब्राह्मणक्षत्रियौ (५ ३५)”

अतएव वर्ण शब्द का अर्थ ऋषि यति मुनि अनगार रूप चतुर्विध मुनियों का करना होगा । जनागम में शब्दों का भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयोग देखा जाता है । दर्शन शब्द का अर्थ देखना प्रसिद्ध होते हुए ‘सम्यग्दर्शन’ में आगत दर्शन का अर्थ श्रद्धा करते हैं । दर्शन मोहनीय और दर्शनावरण इन दोनों में आगत दर्शन शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न है । मोहनीय सर्वथा दर्शन श्रद्धा का द्योतक है और दर्शनावरण में आगत दर्शन अवलोकन का वाचक है । इसी प्रकार वर्ण शब्द का योग्य अर्थ लेना होगा ।

मुनि धर्म का मुर्यता से प्रतिवाद न करने वाले शास्त्रों में शूद्र को मुनि दीक्षा का स्पष्ट निषेध है । अकलक देव रचित प्रायश्चित्त ग्रन्थ में लिखा है “ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य जिन दीक्षा के योग्य हैं । नीचकुल को जानते हुए गोरव से अथवा शिष्य मोह से जो दीक्षा देता है अथवा लेता उन दोनों के धर्म में दूषण आता है ।”

“जिनने दीक्षा के योग्य कुलों में जन्म धारण नहीं किया है, जो विद्या-शिल्पद्वारा जीविका करते हैं, उनके लिए उपनयन आदि संस्कार नहीं कहे गये हैं ।”^१ चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का बहुत स्पष्ट वर्णन महापुराण

१ महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने स्पष्टतया लिखा है कि दीक्षाहँकुले जाता विद्या-शिल्पोप-जीवितः ।

एतेषामुपनीत्यादि-संस्कारो नाभिसम्मतः ॥४०-१७०

२ ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे

कुलहीने न दीक्षास्ति जिनेन्द्रोद्दिष्ट शासने के ॥१०६

दीक्षा नीचकुल जानन् गोरवात् शिष्यमोहतः ।

यो ददात्यर्थं च गृह्णाति धर्मोद्वाहो द्वयोरपि ॥१०७॥

प्रायश्चित्त ग्रन्थ

कार जिनसेन स्वामी ने किया है। दुःख है कि पक्ष-मोहवश उस ग्रन्थ की भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित प्रथम भाग की भूमिका में जिनसेनाचार्य के विचारामृत में स्वच्छदवृत्ति वश विषय पोला गया है। आजकल कई महर्षि के ग्रन्थों की भूमिका में अपने विचारों को भर देने की प्रक्रिया चल गई है। आगम के विरुद्ध कार्य करने से क्या दुर्गति होगी, इस बात का भय पक्ष मोह तथा लोकानुरजन की दृष्टि वश भुला दिया जाता है। प्राचीन लेखकों में यह बात नहीं पायी जाती है। हमारी दृष्टि में ग्रन्थकार के भावों का मिथ्या रूप से प्रकाशन करता अत्यन्त निकृष्ट कार्य है, और विद्वत्ता के लिए अमिट कलक है।

अतएव दिग्गजर जैन आगमवे परिशीलन द्वारा यही बात निकलती है, कि शूद्रों के सम्बन्ध में अहिंसा विद्या के अप्रतिम साधक जैन मुनीश्वरों ने भिन्न प्रकार का अधिकार कहा है। उसको ध्यान में धर्म सौदा की वस्तु नहीं, आत्म कल्याण का साधन है। वह आत्म कल्याण का साधन है। महाराज श्री ने बहुत से शूद्रों को हिंसा का त्याग कराया है। वे भी उनके प्रिय शिष्य हैं।

एकवार याचार्थ महाराज से पूछा था—“महाराज। नीच गोत्री पशुओं का छूते हैं, वे समवसरण में जाते हैं तब नीच गोत्री मनुष्य को भी वे अधिकार क्यों नहीं हैं? उनको भी छूना चाहिए। वे मनुष्य पशुओं से उच्च हैं ही।”

महाराज ने कहा था—“शूद्रों के विषय में जैसी भगवान की आज्ञा है, वैसा करना चाहिये।”

आत्मा की उन्नति तो भोगों के त्याग में है। इसलिये शूद्रों का सच्चा कल्याण पाप पक्ष में निम्न मार्गदर्शकों के द्वारा बताया गए अन्यकार मय मार्ग में नहीं है। उनका सच्चा कल्याण साधुराज शांतिसागर महाराज सदा सदा द्वारा प्रकाशित पथ में प्रवृत्ति करने में है। जो राजनीति धर्म के अनुशासन में न रह कर विषय तृष्णा द्वारा प्रदर्शित मार्ग में जाती है, उससे आत्मा का पतन ही होता है। इसलिए इस सम्बन्ध में राज-सत्ता के आतंक से हार कर सत्पथ का परित्याग नहीं करना चाहिए।

धर्म की छत्र छाया में अविनाशी आनन्द मिलता है, इसलिये कल्प-

वृक्ष को छोड़कर बबूल वृक्ष सदृश कोरी राजनीति का आश्रय लेने की बात मन में भी नहीं आने देना चाहिये । धर्म के मार्ग में राजनीति की वाणी ऐसी ही है, जैसे दीपक को दीप्तिमान रखने के लिए प्रचंड पवन का प्रहार है । इसलिए गांधी जी की यह आलोचना कि जिस दिन ब्राह्मण लोग मेहतरानियों को अपनी पत्नी बनावेंगे वह मंगलमय काल होगा कैसे यथार्थ में कल्याण कारिणी होगी ? अशयमकी ओर जीव की प्रवृत्ति कराने वाला उपदेश सच्ची शांति का कारण नहीं बन सकता ।

जयपुर में चातुर्मास व्यतीत करके आचार्य सध ने रत्न चातुर्मास का कार्य त्रय धर्म का खूब उद्योत किया तथा अनेक निकट भव्यो
वार्य को समय सुधा का पान कराया । अब तक के चातुर्मासों के वर्णन से तथा श्री गुरुदेव के पुण्य विहार की वार्ता से यह स्पष्ट होता है कि वे पाप प्रवृत्तियों का उन्मूलन करते हुए उज्ज्वल आचार विचार को नवजीवन प्रदान करते थे । जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मिमाला द्वारा विश्व के अन्धकार को दूर करता हुआ उसे आलोक प्रदान करता है, उसी प्रकार आचार्य श्री द्वारा मोहान्धकार का निष्कासन होते हुए बीतराग भावना का प्रकाशन होता था । यही कार्य उनमें आगामी विहार तथा चातुर्मासों द्वारा सम्पन्न किया है । एक महाकवि का कथन है 'महान् आत्माओं का जन्म लोक के अभ्युदय के हेतु होता है ।' आचार्य महाराज का कार्य आत्मसाधना तथा प्राणियों को कल्याण पथ प्रदर्शन का सतत चलता जाता है । यही तो उनके जीवन का व्रत है ।

जयपुर के समान उनका उत्तरप्रात में छटवा चातुर्मास व्यावर में सम्पन्न हुआ । व्यावर में दि. जैन महासभा का अधिवेशन हुआ था । यहाँ वर्तमान मुनि समतभद्र जी ने उस समय महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ली थी । भोग दीक्षा वाले भ्रेजुष्ट तो सर्वत्र सुलभ हैं । बीतराग दीक्षा वाले ऐसे सत्पुरुष कहा है ? सेठ चम्पालाल जी रानीवालो ने सपरिवार आचार्य सध की अपूर्व भक्ति की थी । रायबहादुर धमेचौर सेठ टीकमचन्द्रजी सोनी गुरु भक्ति से आकर्षित होकर प्रतिदिन अजमेर से व्यावर आकर आहार की विधि लगाते थे । आहार के उपरांत वे प्रतिदिन स्वधाम को वापिस जाते थे । ऐसी गुरुभक्ति करने वाले विरले ही भाग्यवान् होते हैं ।

आचार्य सध के द्वारा राजस्थान में अच्छी धर्म-प्रभावना हुई । आचार्यश्री का आगामी चातुर्मास उदयपुर में सम्पन्न हुआ । वहाँ भी

उनके द्वारा रत्नत्रय धर्म का महान प्रचार हुआ ।

उदयपुर चातुर्मास के बाद महाराज ने धर्म प्रभावना करते हुए ईडर से सात मील दूरी पर गोरल स्थान में सन १९३६ में चातुर्मास किया था । वहाँ ब्र. ककुर्वाई ने क्षुल्लिङ्ग दीक्षा ली थी । उनका नाम जिनमती रखा गया था । आप प्रख्यात बौद्धाधीश उद्योगपति सेठ बालचन्द्र हीराचन्द्र की बहिन थी । आचार्य महाराज के पवित्र प्रभाव से बड़े बड़े लोगो ने समय को सच्ची महत्ता का कारण जानकर उसकी शरण ली ।

चारित्र्य चन्द्रवर्ती इससे अनन्तर महाराज ने सधपति गेठ पूनमचन्द्र घासी-
पद लाभ लाल के निवास स्थान प्रतापगढ़ में चातुर्मास किया । यहाँ
आचार्य महाराज के सध में महाराज के सबसे छोटे
भाई ब्र. कुमगोडा पाटील भी थे । दोपहर के समय ब्र. कुमगोडा का उपदेश
हुआ करता था । यहाँ से विहार कर महाराज का सध बड़वानी सिद्धवर
बूट होता हुआ मुक्तागिरि पधारा । इसके अनन्तर महाराज ने गजपथा की
ओर विहार किया । वहाँ के चातुर्मास में बड़ी धर्म प्रभावना हुई । गजपथा
में पंच कल्याणक महोत्सव बड़े आनन्द के साथ हुआ था । यहाँ पर आचार्य
महाराज को समस्त जैन सध ने 'चारित्र्य चन्द्रवर्ती' पद से अलङ्कृत कर अपने
को धन्य समझा । इस अवसर पर हम भी पहुँचने का मौभाग्य मिला था ।
नागपुर के धनिक त्यागी श्रीमान फत्तेचन्द्र जी ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की
थी । उक्त ब्रह्मचारी जी ने अपने जीवन में मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र के जीर्णो-
द्धार का महत्वपूर्ण कार्य किया ।

महाराज ने वारामती में सवत १९९५ अर्थात् सन १९३९ का चातुर्मास
व्यतीत किया । यहाँ पर्यूपण पर्व में आचार्य श्री के समीप पहुँचने का हमें
सौभाग्य मिला था । इसके अनन्तर विहार करते हुए आचार्य महाराज
मुक्तागिरि पधारे थे । पश्चात् वे इंदौर आये थे । यहाँ रायराजा सर सेठ
हुक्मचन्द्र जी ने आचार्य श्री से ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया गया था ।

सिद्धवरबूट की बंदना के उपरांत सध ने प्रतापगढ़ में पुनः चातु-
र्मास किया ।

इसके पश्चात् विहार करने हुये सन १९४१ में कोरोची चातुर्मास
किया । यह पूना से १८३ मील पर है । इसके बाद द्विगत्र में चातुर्मास
हुआ । आगामी चातुर्मास कुन्पलगिरि में हुआ । यहाँ धर्म-प्रभावना के
अनन्तर महाराज फलटन पधारे ।

इसके अनन्तर विहार करते हुए वे सन् १९४६ में बबलाना पहुँचे । सन् १९४६ के अगस्त में बम्बई में हमने जैन राजनैतिक स्वत्व रक्षक समिति की विशेष बैठक बम्बई में बुलाई गई थी जिसमें इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार हुआ था कि कैबिनेट मिशन (Cabinet Mission) के द्वारा भारतवर्ष की स्वराज्य प्रदान करने की योजना को दृष्टिपथ में रखते हुए जैन समाज को अपने स्वतंत्र अस्तित्व के विषय में पूर्णतया सतर्क रहना चाहिए, जिससे बहुसंख्यक वर्ग में उसका विलीनीकरण होकर अस्तित्व समाप्त न हो जाय ।

इस महत्वपूर्ण बैठक में निर्णीत प्रस्ताव के उत्तर में सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अपने पत्र द्वारा जैन समाज को यह विश्वास दिलाया था कि भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर प्रत्येक धर्म की स्वतंत्रता को बाधा नहीं पहुँचेगी । बम्बई की मीटिंग के उपरान्त हम अपने छोटे भाई सुधील कुमार दिवाकर के साथ बबलाना आचार्य श्री के दर्शनार्थ पहुँचे थे । वहाँ उनसे महत्वपूर्ण चर्चा द्वारा अपूर्व प्रकाश प्राप्त किया था ।

इसके अनन्तर सन् १९४७ का चातुर्मास सोलापुर में हुआ था । वहाँ दशलक्षण पर्व में हमें पढ़चने का सौभाग्य मिला था । यहाँ शास्त्र पढ़ने की आज्ञा आचार्य श्री ने हमें दी थी । मूक्ष्म तत्त्व चर्चा द्वारा अपूर्व आनंद आया था । यहाँ पर ही आचार्य महाराज के नेत्रों में काचविन्दु रोग का पता चला था । डाक्टर ने आँख के आपरेशन की सलाह दी थी किन्तु उसे महाराज ने पसंद नहीं किया था । नेत्र विशेषज्ञ डाक्टर सर देसाई ने कहा था—“कि आपरेशन करने पर कुछ प्रयोग असफल हो जाते हैं, जिससे नेत्रों की ज्योति चली जाती है ।” इस पर महाराज ने विचारा कि यदि डाक्टर के प्रमाद आदि के कारण कदाचित् असमय में ज्योति चली गई, तो तत्काल समाधिमरण लेना पड़ेगा; क्योंकि आँखों के चले जाने के बाद यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । ऐसी स्थिति में महाराज ने आपरेशन के अवलंबन को दूरदर्शी रूप में अनुभव करके उसे नहीं कराया ।

प्रतिज्ञा

सोलापुर के अनंतर महाराज का चातुर्मास फलटण में हुआ। यहा ही महाराज ने धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लोकोत्तर त्याग किया था।

इन संबन्ध में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। बम्बई सरकार ने हरिजनों के उद्धार के लिए एक हरिजन मंदिर प्रवेश कानून सन् १९४७ में बनाया। उसके नियम नं. २ ब में लिखा था कि 'हिन्दू' शब्द में जैन का समावेश है। इस छोटे से नियम ने अनेक उपद्रवों के उत्पन्न होने के योग्य वातावरण उत्पन्न कर दिया। जब जैनियों में हरि अर्थात् विष्णु के आराधक हरिजनों का अभाव है, तब वस्तुतः इस उपधारा का कोई वास्तविक उपयोग नहीं है, फिर भी सुधार के जोश में यह कानून जैनियों पर भी लादा गया।

इस कानून का आश्रय लेकर सांगली के हरिजन सेवा संघ के मंत्री ने ४ अगस्त सन् १९४८ को कुछ महतरों चमारों आदि को इकट्ठा कर जैन मंदिर में जबरदस्ती ले जाने का जाल रचा।

फलटण में पहले धर्मान्ध कुछ हिन्दुओं ने एक ऐतिहासिक जैन मंदिर को हड़पकर उसे हिन्दू मंदिर बना लिया और उसे जगद्गुरु का नाम दे दिया। उस मंदिर के बाहर के भाग में कुछ जैन मूर्तियां आज भी विद्यमान हैं; फिर भी वह मंदिर जैनियों के हाथ से निकल गया। कोल्हापुर का प्रसिद्ध जैन मंदिर आज हिन्दू बनकर ब्राह्मणों के अत्याचार का सजीव उदाहरण है। वहा तेमिनाथ भगवान के स्थान में शेषशायी विष्णुदेव विराजमान है। मैसूर का चामुण्डी पर्वत पहले जैनियों का तीर्थ था। आज वह भी हिन्दू मंदिर हो गया है। दक्षिण भारत के वृद्ध जैन यह बात जानते हैं कि उन पर धर्मान्ध वैदिक वर्ग ने कब और कैसे अत्याचार किये। सैकड़ों जैन मंदिरों में जिनेन्द्र की मूर्तियों का निर्दयता पूर्वक अपहरण अथवा विनाश करके रक्त वर्ण रंजित पाषाण पिण्ड स्थापन कर उन्हें हिन्दू मंदिर बनाने का कार्य किया गया। बहुमूल्य जैन शास्त्रों का विनाश किया गया। ऐसे ही अत्याचारी धर्मान्ध वर्ग ने दक्षिण में अपने दुष्ट भावों को द्योतित करने के लिए "साप सोडावा पण जैन मारावा"—"साप को भले ही छोड़ दो किन्तु जैनियों का अवश्य संहार करो," यह कहावत बना डाली है। यह दृष्टि "हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मंदिरम्"

को अपेक्षा अधिक भीषण और कटूता पूर्ण है। ऐसे ही धर्मान्धों के कारण ऐसे चिन्तक वर्ग का जन्म हुआ, जो उन्नति का प्राथमिक कदम ऐसे धर्मों से छुटकारा पाने को मानता है।

सर्व परिस्थिति का पर्यालोचन कर अत्यन्त अनुभवी आचार्य महाराज ने सोचा, अन्तर्आत्मा ने उन्हें कड़ा कदम उठाने की प्रेरणा की। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि यदि चुपचाप बैठे रहे, तो अत्याचारी लोग 'प्रत्येक जैन मंदिर में हरिजन-मंदिर-प्रवेशाधिकार के नाम पर घुसंगे और अवसर पड़ने पर महत्वपूर्ण जिन मंदिरों को हजम कर लेंगे। उन्होंने किसी से परामर्श नहीं किया। इमरमन ने लिखा है—'Every great man is unique'

भीष्म-प्रतिज्ञा "प्रत्येक महापुरुष अपूर्व होता है," इसलिए इन लोकोत्तर महात्मा ने जिनेन्द्र भगवान को साक्षी करके प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक पूर्वोक्ति बंबई कानून से आई हुई विपत्ति जैन धर्म के आयतनों—जिन मंदिरों से दूर गही होती है, तब तक मैं अन्न नहीं ग्रहण करूंगा।"

इस समाचार ने देश भर में फैलकर जैन समाज मात्र को चिंता के सागर में डुबा दिया। फलटन से हमारे पास तार से समाचार आने पर आखों के सामने अंधेरा छा गया। शीघ्र ही बंबई में अगस्त सन .१९४८ के अतिग सप्ताह में प्रमुख जैन वंशुओं को एक बैठक हीराबाग के धर्मशाला में हुई। इसके अनंतर एक सितम्बर को सरसेठ भागचंदजी सोनी, सेठ राजकुमारजी इंदौर, श्री तलकचंद शाह बकील के साथ हम फलटन पहुँचे।

सबने महाराज से प्रार्थना की, कि राजनीति का यत्र मंद गति से चलता है। कायदे की बात का सुधार वैधानिक पद्धति से ही होगा। यह बात बहुत समय साध्य है। अतः आप अन्न ग्रहण कीजिए। सारी समाज आपकी इच्छानुसार उद्योग करेगी।

महाराज ने कहा—“हमने जिनेन्द्र भगवान के सामने जो प्रतिज्ञा करली है क्या उसे भंग कर दें?” हम सब लोग चुप हो गये। हजारों धर्मान्धों का व्यक्तिगत आचार्य श्री की प्रतिज्ञा पूर्ति पर्यन्त अनेक संयम सबधी नियम लिए। जो लोग यह यह सोचते थे कि भूमियों को राजनीति में न पड़कर आत्म-हित करना चाहिए उनको

महाराज कहते थे, "जैन धर्म के मुख्य अंग जैन मंदिर के संरक्षण निर्मित उद्याग करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि इस विषय में गृहस्थ लोग चुप होकर बैठ गये। धर्म पर राजनीति का हस्तक्षेप कैसे उचित कहा जा सकता है। शासन सत्ता का धर्म पर आक्रमण न रोका जाय, तो भविष्य में बड़ी विपत्ति आये बिना न रहेगी।"

कोई यह सोचे कि धर्म तो आत्मा का गुण है, उसे कौन धक्का लगा सकता है, इस पर महाराज ने कहा—“जब तक मंदिर है तब तक जैन धर्म है प्रतिभा जी हमारा प्राण है। धर्म का लोप देखते हुये महाराज का दृष्टिकोण हम कैसे चुप रहें? गृहस्था ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया, इससे हमने धर्म के वास्ते अन्न त्याग किया है। हम आज ही चारा प्रकार का आहार छोड़कर सल्लेखना करने का तैयार हैं। यद्यपि हमें नगवान की जरूरत नहीं है, क्योंकि वे हमारे हृदय में हैं, किन्तु हमें अपने दूसरे त्यागी भाइयों का ध्यान है। जब जैन मंदिर के विषय में अन्य लोगों के हाथ में सत्ता दी जाने लगी, तब भी क्या चुप बैठना? धर्म पर आक्रमण होते देख डरकर बैठ जाना ठीक नहीं है। हम तो एकान्त में भी बैठकर मूर्ति की आराधना कर लेंगे, वहाँ कौन आ जायगा? किन्तु हमें अपने त्यागी भाइयों की फिकर है।”

कोई कोई यह सोचते हैं “महु सल्या से मिलकर रहो, अपने स्वार्थ का ख्याल करते हुए चतुरतास्वाथ सिद्धि तथा लाभ इसी में है। यश भी इसी में है, कि अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को हिन्दू नाम में ऐसे ही विलुप्त हो जाने दो, जैसे भारत शासन में देशी रजवाड़े विलीन हो गये। अपने को जैनी कहने से बड़ी बड़ी आफतें आ जायगी। देखते नहीं हो, जमाना कैसा खराब आ गया है।” ऐसे डरने वाला की उपेक्षा करते हुए इन मनस्वी महात्मा ने कहा—“जैन धर्म स्वतन्त्र है। अतः जैन मंदिर हिन्दू मंदिर नहीं है। इससे हिन्दुओं का चाहे वे हरिजन हों या हरिजन न हों जैन मंदिर से क्या संबंध है?” अपने को जैन कहने में भीत होने वाला का भ्रम निवारण करते हुए उनमें कहा था—“हमें अपने बाप का नाम लेने में फासी दी जाती है और गोली मारी जाती है तो हमें वह स्वीकार है, मगर डरकर दूसरे को बरना बाप नहीं बोलेंगे। इससे व्यभिचार जातपनेका दोष आयागा। जो धक्कावर यह सोचते थे, कि आचार्य महाराज की इच्छा तीन जन्म में भी पूरी नहीं हो सकती है,

अप तो हरिजनों का ही राज्य है । जैन समाज की कौन मुत्तने वाला है , उनके निराशा के अंधकार को दूर करते हुए महाराज का कथन था—“अभी जैन धर्म का लोप नहीं होगा । ऐसी भगवान की वाणी है । वह भिम्मा नहीं है । हम सातरो से बहते हैं, कि यह अष्टाचार अधिक दिन नहीं टिकेगा । हमारा विश्वास है कि अभी धर्म का लोप नहीं होगा । जब जैन धर्म का लोप होगा तब दुनिया से सबके धर्मों का भी लोप हो जायगा ।

अद्भुत आत्म-
विश्वास

जो यह सोचते हैं मंदिर में कोई भी आवे, उसमें क्या हानि है, उसके विषय में महाराज का कथन है “मंदिर जैनों के आत्म-धर्म साधन का स्थान है । वह अजैनों के आराम धर्म साधन का स्थान नहीं है, इसलिए उनको वहां आने का प्रयोजन भी नहीं है ।” महाराज ने एक दिन कहा था, “यदि यह धर्म संकट दूर न हुआ तो इस जन्म में हम अन्न ग्रहण न करेंगे । हमारा इसी तरह शरीरान्त हो जायगा।”

मैंने कहा, “महाराज! यदि आप इस जन्म में अन्न-ग्रहण न करेंगे, तो दूसरे जन्म में भी आपका अन्न ग्रहण नहीं होगा; कारण महाव्रती जीव देव पर्याय को प्राप्त करता है, वहां अन्नाहार नहीं है ।”

जैन समाज में अन्न त्याग से भीषण चिन्ता का बादल छा गया । सभी लोग अपना अपना प्रयत्न करते थे । अधिकारियों से मिलते थे, किन्तु कार्य फल-प्रद नहीं हो रहा था । जब हमने डा. राजेन्द्र प्रसाद जी वर्तमान अध्यक्ष भारतीय गणतंत्र शासन को तार देकर सब परिस्थिति स्पष्ट की, तब डाक्टर सा. ने हमें इस प्रकार उत्तर दिया था । ‘

कैम्प, पिलानी (जयपुर राज्य) ३० अगस्त १९४८

प्रिय सुमेरचंद जी, आपका तार मिला, किन्तु अस्वस्थ होने के कारण मैं उसपर पहले विचार न कर सका । मैंने उसे राजकीय मंत्रिमंडल के पास उचित जाव तथा कार्यवाही निमित्त भेज दिया है ।

आपका विश्वसनीय राजेन्द्र प्रसाद

इसके अनन्तर २९ अक्टूबर सन १९४८ में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद

Camp:- Pilani, Jaipur State; August 30, 1948.

Dear Mr. Sumarchand,

I received your telegram but could not attend to it earlier on account of indisposition. I forwarded it for
(Continued.)

जो जबलपुर में पधारे थे । उस समय हम राजा गोकुलदास के महल में उनसे मिले थे । हमारे साथ हमारा अनुज चि० अभिनदन कुमार दिवाकर भी था । राष्ट्रपति से भेंट के लिए हमने २८ अक्टूबर को जबलपुर के महाकौशल कांग्रेस के अध्यक्ष श्री गोविंददास जी के पते पर जवाबी तार दिया था । किन्तु कांग्रेस को कलकित करने वाले कलुपित लोगों के कर में वह तार आ गया इससे कहते हैं, वह छूपा दिया गया । दूसरे दिन पुनः जवाबी तार दिया जिसमें पहले तार का उल्लेख किया गया था ।

सौभाग्य से यह तार राजेन्द्र बाबू के हाथ में पहुच गया । इसलिये सर्व प्रथम भेंट के लिए हमें अवसर प्राप्त हुआ । उस समय इस प्रात के मुख्यमंत्री तथा गृहमंत्री भी उपस्थित थे । राष्ट्रपति के समक्ष आचार्य महाराज के अन्न त्याग से उत्पन्न परिस्थिति पर प्रकाश डालकर भारत सरकार के सहयोग को चर्चा की । उसे सुनते ही सचिन्त हो राजेन्द्र बाबू ने कहा—
“आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिये, तथा अन्न ग्रहण करने का

necessary inquiry and action to the state Ministry .

yours sincerely

(Sd) Rajendra prasad

Shri Sumerchand Diwaker

Hony. Secretary All India Jain Political Rights Preservation Committee Seoni.

१ Rashtrapati Rajendra prasadji care Govinddasji Jubbulpore Reply-paid Telegram. Reference your letter form. Pilani our reply-paid telegrams. Bombay temple entry act still includes Jains under Hindoos although Jainism is independent. His Holiness Acharya Shantisagerji's fast trangressed seventy days. Jain Samaj worried beyond expression. Request few minutes interview. Pray wire earliest time. All India Jains shall be obliged .

Sumerchand Diwaker. Secretary all India Jain Political Committee, Camp Jubbulpore 28-10-48

Next telegram sent to him reads thus:— Reply-paid.
“Reference our yesterday's telegram. No reply received yet. Pray communicate earliest interview time. Sumerchand Diwaker. ”

अनुरोध करिये। जैन धर्म पर कभी सक्कट नहीं आयागा। वबई कानून के विषय में हम विचार करेंगे।”

जब हम श्री तलवन्दे वकील के साथ वबई सरकार के गृहमंत्री श्री मोरार जी देसाई से मिले थे, तब उन्होंने कहा था कि—“आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिए तथा अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना कीजिये।” सरकारी दृष्टिकोण उनसे इस प्रकार स्पष्ट किया था—“जैन मंदिर के विषय में हरिजनो को उतने ही अधिकार प्राप्त होते हैं, जितने जैनियों को प्राप्त हैं। यदि जैनी मूर्ति का स्पर्श करके पूजा करते हैं, तो ऐसा हरिजन भी कर सकेंगे।” उस समय समझ में आया कि वबई कानून की ओर में जैनियों के अधिवारो को स्वाहा करने का भीषण जाल रचा गया है। इसी लिए आचार्य महाराज ने अपने दिव्यज्ञान से उस कुचक्र को जानकर उसके विरुद्ध अपने प्राणों की बाजी लगा दी है।

श्री देसाई की चर्चा से वबई शासन के अपवित्र अंत करण का स्पष्टीकरण हुआ। उस समय आचार्य महाराज का स्वास्थ्य बहुत क्षीण होता जा रहा था। इससे सभी जैन समाज की चिंता की सीमा नहीं थी। लोकमत को जगाने के लिए हमने सार्वजनिक पत्रों में चर्चा चलाई। जून सन् १९४९ के बिल्डज नाम के अंग्रेजी पत्र में हमारा समाचार प्रगट हुआ था। हमने पंडिता चदाबाई आरा को पून देकर प्रेरणा की, कि उनके धार्मिक परिवार के प्रयत्नों से आचार्य श्री की प्रतिज्ञा पूर्ति का सफल

१ Appeal by Jains to save life of Holy monk now on hunger strike, by S C Diwaker shastri. Jains all over India are worried over the fast undertaken by His Holiness Charitra Chakrevarty Acharya Shri Santisagarji swami the great Jain monk at Gajpantha Hill near Nasik (Bombay)

They are depressed at the indifference of the Central and Bombay Governments towards his ten month's old hunger strike started in order to get the Bombay Harijan Temple Entry Act 1947 amended so as to exclude Jain Temples from its application as has been done by the CP and Berar Government in view of the fact that there are no Harijans in the Jain fold

According to the latest

from Nasik

from

12 3

1

उद्योग हो सकता है, क्यों कि सन् १९४२ में जब हम डा. राजेन्द्र प्रसाद जी से मिले थे तब उनके द्वारा बाबू निर्मल कुमार जी रईस आरा का स्नेह पूर्ण शब्दों में उल्लेख सुना था ।

राजेन्द्र बाबू साधु स्वभाव व्यक्ति हैं । इसलिए उनके द्वारा एक महान साधु के जीवन का सघट दूर करने का उद्योग सफलता प्राप्त करायेगा ऐसी आशा होती थी । उक्त बाबू साहब की एक महत्व की कृति जैन समाज के लिए चिरस्मरणीय हो गयी है । हमने सन् १९४२ में उनसे भेंट की थी । उस समय उनसे कहा था—“बाबू साहब हम कुछ वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश के गर्वनर सर हेनरी ट्वाइनम से महावीर जयन्ती की छुट्टी के विषय में मिले थे ।

तब उन्होंने हमसे पूछा था—“जब अन्य प्रांतों में भी जैनी हैं तब मध्य प्रदेश सरकार इस विषय में क्यों प्रारम्भिक कदम उठावे ? ” इस प्रश्न की राजेन्द्र बाबू के समक्ष चर्चा करते हुए मैंने कहा—“भगवान महावीर बिहार प्रांत की विभूति थे । इसलिए बिहार प्रांत के रत्न से मैं नम्रता पूर्वक पूछता हूँ, कि क्यों न बिहार प्रांत की सरकार अपने भगवान महावीर के सार्वजनिक सम्मान निमित्त छुट्टी घोषित करे ? ”

उन्ने कहा—“हमारे हाथ में अभी क्या है ? हम तो शीघ्र ही गिरफ्तार होने वाले हैं । ”

मैंने कहा—“आज नहीं तो कल शासन सत्ता आपके हाथ में आयगी, इसलिए उम समय हमारी बात को पूर्ण कीजिए । वे चुप हो गए । मोन सम्मति लक्षणम् ।

जल से छूटने के उपरांत काप्रेस के हाथ में शासन सूत्र आया । मैंने उक्त वार्तालाप की याद दिलाई । कुछ समय बाद यह ज्ञात हुआ, कि बिहार प्रांत की सरकार ने चैत्र सुदी त्रयोदशी को महावीर-जयन्ती की छुट्टी घोषित कर दी । इससे आशा होती थी, कि साधु-हृदय राजेन्द्र बाबू

of swamiji is causing great anxiety since he is having fever and fits Swamiji is now 78 years old If the Provincial and Central Governments do not immediately intervene, it is feared a most precious life will be lost to the country in general and to Jains in particular ”

Nagpur, June 4, 1949.

Blitz-Bombay

के प्रयत्न से जैन गुरु का सक्कट दूर होगा।

पडिता चदाबाई अपने भतीजे बाबू चक्रेश्वर कुमार जी को साथ लेकर बम्बई रवाना हुईं। उनका तार पाते ही हम भी बम्बई पहुँचे। मुख्य-मंत्री श्री बी० जी० खेर से चर्चा हुई, किन्तु अंतःकरण की सुदृढ़ता न होने के कारण स्थिति में कोई सुधार न हुआ।

इसके अनंतर पडिता चदाबाई ने बाबू चक्रेश्वर कुमार जी के साथ दिल्ली जाकर राष्ट्रपति आदि से भेंट कर बहुत समय तक प्रयत्न किया। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि कुछ स्वच्छंदता प्रेमी जैन पंडित नामधारी व्यक्तियों ने राज्य के उच्च अधिकारियों के पास भ्रम वर्धक समाचार भेजकर जैन गुरु के मार्ग में काटे बिछाने की अधम चेष्टा की थी। विपत्ति के समय ही सच्चे मित्र की परीक्षा होती है। कुछ श्वेताम्बर भाइयों ने भी उक्त पंडितों की तरह अनर्थ का पथ पकड़कर परिस्थिति को जटिल बनाने का प्रयत्न किया। दिगम्बर जैन परिषद ने जनता के तीव्र विरोध की उपेक्षा कर अद्भुत नीति का आश्रय ले बम्बई कानून का समर्थक प्रस्ताव पास हुआ बतकर वर्तमान शासन के प्रति सच्चे सेवक की नीति दिखाई। यह सब स्थिति होते हुए भी तपस्वी आचार्य महाराज के प्रभाव से उनकी प्रतिज्ञा पूर्ति के हेतु प्रयत्न हो रहा था।

उस समय बड़ा विचित्र वातावरण था। महाराज के समक्ष अपनी भक्ति की दुहाई देने वाले अनेक धनी मानी लोग परोक्ष में यही कहते थे, कि महाराज ने व्यर्थ में अन्न त्याग करके बज्र तुल्य शासन से सिर रगड़ने का कार्य किया।

ऐसे लोगों से मुझे अनेक बार मिलने का मौका मिला। मैं बड़ी दृढ़ता पूर्वक उन शिथिल मनोवृत्ति वाले सज्जनों से कहता था, "कि आप साथ दें अथवा साथ न दें, हम तो आचार्य श्री का अन्न ग्रहण कराने के उद्योग में पीछे न हटेंगे। यदि शासक अत्याचारी बनकर धर्म पर आक्रमण करता है, तो हम उसके विरोध में अपनी आवाज को उठाये बिना न रहेंगे। अत्याचारी के कार्य की कभी भी हम अनुमोदना नहीं करेंगे। मैंने अपने सभी सार्वजनिक कार्यों की बद कर इसी क्षेत्र में सारी शक्ति लगाकर उद्योग आरंभ किया था। इसीलिए मैंने रामटेक गुरुकुल के सचालन से त्यागपत्र दे दिया था। इस बीच मैं मैं राष्ट्र के श्रेष्ठ अधिकारियों से मिला। उच्च विधान शास्त्रियों आदि से भी भेंट की। विरोधी लोग

हमारे कार्यों को ज्ञात कर उपद्रव और उत्थात करेंगे, इसलिये हम प्रयत्न पूर्वक अपने कार्यों को समाचार पत्रों में प्रगट होने से बचाते थे।

बबई कानून के समान कानून तो मध्यप्रदेश में भी आया था, किंतु हमने एक जैन शिष्ट-मंडल ले जाकर प्रांतोयसरकार के समक्ष निवेदन किया, तो बुद्धिमान मन्त्रिमंडल ने जैनियों को कानून के भार से मुक्त कर आभारी किया तथा एक विशेष पत्रक निकालकर भ्रम का निवारण भी किया।^१

मध्यप्रदेश की विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री घनस्यामसिंह गुप्त से अनेक बार परामर्श किया। एक बार उनसे आवश्यक परामर्श निमित्त ज्वर की स्थिति में हम उनके निवास स्थान दुर्ग पहुँचे थे। इस प्रकृति के विरुद्ध प्रवृत्ति के फल स्वरूप लगभग २ माह पर्यन्त हम बीमार रहे।

डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने एक महत्वपूर्ण पत्र द्वारा सरदार वल्लभ भाई पटेल से उचित कार्य करने के लिए प्रेरणा की थी। श्री सेठ चाल्चद हीराचद बबई ने भी महत्वपूर्ण उद्योग किया था। इस प्रकार धार्मिक बहुसंख्यक जैन समाज आचार्य महाराज की इच्छापूर्ति के विषय में शक्ति भद्र प्रयत्न कर रही थी और दूसरे विचार वाले थोड़े से व्यक्ति सुवार के नाम पर महाराज के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने में लगे थे।

आचार्य शान्तिसागर महाराज की शरीर स्थिति चिंताजनक होती जा रही थी, किंतु उनका निश्चय मेढ़ सदृश अचल था। महाराज ने कहा—'कि

१ Entry into Jain Temples. Nagpur, 12th Dec 1947

A press note says - " Government have received a number of representations from the Jain community requesting that the provisions of The C P & Berar Temple Entry Authorisation Act 1947 should not be applied to the Jain temples Section 2 B of the Act defines the word "Temple" clearly enough to show that the Act applies to Hindu temples only and Jain temples are not therefore effected by the Act Nagpur English Daily The Hitvada of 14-12 47

गिज्जा में प्रोटेस्टेंट नाम के दूसरे वर्ग को कोई अधिकार नहीं है भले ही बहुमत उनका समर्थक हो । विधान शासन के प्रकाश विद्वान तथा देशबंधु श्री सी. आर. दास के छोटे भाई प्रसन्नरजन दास को हमने पत्र देकर उपरोक्त दृष्टिकोण को प्रश्नोत्तर के रूप में भेजकर उनका विचार जानना चाहा । उस समय उन्होंने हमारे प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताते हुये आगामी अवकाश मिलने पर उत्तर देने का वचन दिया था ।^१ एक बार भारत सरकार के मुख्य वकील (Attorney General) श्री मोतीलाल सीतलवाड से लगभग आधा घंटे तक चर्चा हुई थी । मेरे साथ छोटा मेरा भाई अभिनदनकुमार भी था । श्री सीतलवाड से ज्ञात हुआ था कि इस संवध में सार्विकरण के लिये सुप्रीम कोर्ट—सर्वोच्च न्यायालय में कार्यवाही की जा सकती है । साधारण वकील लोग यही सोचा करते थे कि यह मामला हाइकोर्ट में भी नहीं पेश हो सकता है, इसलिये मैंने श्री सीतलवाड से पूछा—“कि सुप्रीमकोर्ट में इस संवध में कैसे विचार हो सकता है ?”

तब उनसे बताया था कि “यह प्रश्न मौलिक अधिकार (Fundamental rights) से संबंधित है, इसलिये यह सीधे सर्वोच्च न्यायालय में पेश हो सकता है । उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि चार पाच सप्ताह में में निर्णय हो सकता है । उनसे सरकारी वकील होने के कारण अपना अभिमत नहीं बताया था ।

इस प्रकार विविध साधनों के द्वारा भारतीय संविधान के नियमों को अपने अनुकूल ज्ञान कर हमने जैन प्रमुख लोगों के समक्ष कानूनी कार्यवाही करने की सलाह दी । इस संवध में दिगंबर जैन महासभा की विशेष बैठक होकर एक उपममिति का निर्माण हुआ तथा कानूनी कार्यवाही करने का निश्चय भी हो गया ।

इस के अनन्तर एक अद्भुत घटना हो गई । २८ नवंबर सन १९५०

१ Patna 6th Sep. 1950.

Dear Mr. Diwaker, I am at present too much busy to answer the very important question which you have put to me I shall have no time till the middle of October. If you should then write to me, I shall endeavour to do my best to give you a satisfactory reply. Sd/-P. R. Das.

राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री श्री नेहरू इस प्रकार की सूचना निवाले दे वि जैन मंदिर में दूसरे धर्मवाले स्थानीय जैन पचायत की आज्ञा लेकर ही जा सकेंगे तथा बिना अनुज्ञा प्राप्त किये उनको अधिकार न होगा।" इस संबंध में जब मैंने राष्ट्रपति को ५ अगस्त सन् १९५० को पत्र लिखा था। राष्ट्रपति जी की ओर से २१ अगस्त को यह उत्तर प्राप्त हुआ, "इस विषय में राष्ट्रपति की हैसियत से वे प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं कर सकेंगे। इस संबंध में आपकी भारत सरकार से निवेदन करना चाहिये।"

२६ जनवरी सन् १९५० में भारतीय संविधान गणतंत्र भारत में प्रचलित हुआ। उसके नियम न. २५ (२ब) तथा नियम न. २६ तथा २९ के अनुसार हम इस निर्णय पर पहुंचे कि भारतीय संविधान के अनुसार जैन मंदिर में इतर संप्रदाय वाले को कोई अधिकार नहीं प्राप्त होना है। इस संबंध में जब हमने कांग्रेस अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से दिल्ली पहुंचकर कांग्रेस भवन में चर्चा की, तब उनने कहा—“मंदिर कोई क्लब या खेल का स्थान नहीं है जहां हर कोई आने या जावे। मंदिर तो आराधना का स्थल है। शिव मंदिर में शाक्त संप्रदाय वाली को घुमने का कैसे अधिकार होगा? इसी प्रकार जैन मंदिर में दूसरों को वभी भी अधिकार नहीं हो सकता।” अनेक हार्डकोर्ट के न्यायाधीशों से हमने चर्चा की। उसमें हमारे दृष्टिकोण का ही समर्थन प्राप्त हुआ।

एक प्रमुख न्यायाधीश ने कहा—“जिस संप्रदाय की पूजा का स्थान है, वहां दूसरे संप्रदाय वाले को अधिकार नहीं हो सकता। इंग्लैंड में ऐसे मामले चल चुके हैं। उनमें यह निर्णित हुआ कि रोमन कैथलिक वर्ग के

२ Government House, New Delhi. 21st August 1950.
Dear sir, your letter dated the 5th August 1950 has been received by the President. He regrets very much that it is not possible for him to issue the kind of statement which you want him to do. It is a matter with which as President he cannot directly deal. If anything has to be done you have to approach the Government

Yours faithfully, Sd/-CharkradharSaran Private Secretary
To, Shri S.C. Diwaker, Hony. Secretary Jain Political
Rights Preservation Committee Seoni (Madhyapradesh).

गिरजा में प्रोटेस्टेंट नाम के दूसरे वर्ग को कोई अधिकार नहीं है भले ही बहुमत उनका समर्थक हो । विधान शास्त्र के प्रकाश विद्वान तथा देशबंधु श्री सी आर दास के छोटे भाई प्रसन्नरजन दास को हमने पत्र देकर उपरोक्त दृष्टिकोण को प्रश्नोत्तर के रूप में भेजकर उनका विचार जानना चाहा । उस समय उन्होंने हमारे प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया हुये आगामी अवकाश मिलने पर उत्तर देने का वचन दिया था ।^१ एक बार भारत सरकार के मुख्य वकील (Attorney General) श्री मोतीलाल सीतलवाड से लगभग आधा घंटे तक चर्चा हुई थी । मेरे साथ छोटा मेरा भाई अभिनंदनकुमार भी था । श्री सीतलवाड से ज्ञात हुआ था कि इस सवध में स्पष्टीकरण के लिये सुप्रीम कोर्ट—सर्वोच्च न्यायालय में कार्यवाही की जा सकती है । साधारण वकील लोग यही सोच करते थे कि यह मामला हाइकोर्ट में भी नहीं पेश हो सकता है, इसलिये मैंने श्री सीतलवाड से पूछा—“कि सुप्रीमकोर्ट में इस सवध में कैसे विचार हो सकता है ?”

तब उनसे बताया था कि “यह प्रश्न मौलिक अधिकार (Fundamental rights) से सम्बंधित है, इसलिये यह सीधे सर्वोच्च न्यायालय में पेश हो सकता है । उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि चार पांच सप्ताह में में निर्णय हो सकता है । उनसे सरकारी वकील होने के कारण अपना अभिमत नहीं बताया था ।

इस प्रकार विविध साधनों के द्वारा भारतीय संविधान के नियमों का अपने अनुकूल ज्ञान कर हमने जैन प्रमुख लोगों के समक्ष कानूनी कार्यवाई करने की सलाह दी । इस अवध में दिगंबर जैन महाराभा की विशेष बैठक होकर एक उपसमिति का निर्माण हुआ तथा कानूनी कार्यवाही करने का निश्चय भी हो गया ।

इस के अनन्तर एक अद्भुत घटना हो गई । २८ नवंबर सन १९५०

१ Patna 6th Sep 1950

Dear Mr Diwaker, I am at present too much busy to answer the very important question which you have put to me I shall have no time till the middle of October If you should then write to me, I shall endeavour to do my best to give you a satisfactory reply Sd/-P R Das

अकलूज काण्ड को अकलूज पहुँचकर सोलापुर के कलेक्टर ने रात्रि के समय दि० जैन मंदिर का ताला छुड़वाकर उसके भीतर महंतों तथा चमारों आदि का प्रवेश कराया तथा जिन जैन वन्धुओं ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई उनको गिरफ्तार कर लिया। इससे सारी ममाज में सनसनी फैल गयी।

जवरदस्ती मंदिर में प्रवेश कराना तो गांधी जी को भी प्रिय न था। उनने १९३२ में २३ दिसंबर को पूना के यरवदा जेल से श्री अमृतलाल सूरजमल जवेरी मंत्री जैन युवक सभा को तार भेजा था “आपका तार मिला मुझे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं है कि मंदिर में जवरदस्ती किसी को ले जाना योग्य नहीं है। विशेष कर ऐसे लोगों को ले जाना कदापि उचित नहीं है, जो उस संप्रदाय के नहीं हैं; जिनके लिए वह मंदिर बनाया गया है।”^१

गांधी जी के इस तार का कलेक्टर की कानूनी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहा। इससे उन लोगों का भ्रम दूर हुआ जो ५० जवाहरलाल नेहरू के इस पत्र को पाकर कि “जैन धर्म, हिन्दू धर्म का भेद नहीं है,” इससे आचार्य महाराज को अन्न ग्रहण कराने की प्रेरणा कर रहे थे।

२८ दिसंबर सन १९५० को बंबई में जैन महासभा की विशेष बैठक में ११ व्यक्तियों की विशेष उपसमिति इस संबंध में कार्य निमित्त बनाई गई। उस उपसमिति में कानूनी सलाह प्राप्त करने के अनंतर कानूनी कार्यवाही करने का अधिकार दिया गया था। इस संबंध में जो खर्चा लगेगा, उसे देने की प्रतिज्ञा कलकत्ता निवासी सेठ गजराज जी गंगवाल ने आचार्य श्री के समक्ष की थी। हम भी उस समिति के सदस्य थे।

दिल्ली में परिषद ने अकलूज काण्ड से उत्पन्न परिस्थिति तथा आचार्य महाराज के पन्द्रह अगस्त सन १९४८ से प्रारंभ में किए गये अन्न त्याग

१ Poona Dated A. M, 23 September 1932 “Amritlal

Surajmal Javeri Secretary Jain Yuvak Sabha Patan. Your wire, I have no doubt that forcible entry into Jain temples by any body is unwarranted and certainly by those who do not belong to those for whom temple built. Gandhi.”

के कारण उत्पन्न चिन्तापूर्ण अवस्था को विस्मृत करके हरिजन मंदिर प्रवेश का प्रस्ताव बढ़ी चालाकी से पास करने का अभिनय किया गया था। जनता के प्रचंड विरोध की परवा नहीं की गयी थी। जनता आचार्य महाराज के चरणों की भक्त थी। उसके रोप की सीमा नहीं थी। परिपद के प्रमुख लोगों के प्रभाववश ही प्रतीत होता है कि पुलिस ने कड़ी कार्यवाही की। साधर्म्य भाइयों पर पुलिस का लाठी प्रहार हुआ। कई जैन भाई गिरफ्तार हुए। समाज के वयोवृद्ध नेताओं को उस समय उनके धर्ममूर्ति पूर्वजों की स्मृति आ रही थी जिनके कुल दीपकों के द्वारा जैन संस्कृति तथा उसके प्राण आचार्य श्री के जीवन की उपेक्षा करते हुए विरुद्ध दिशा में कदम उठाया गया था। उन्हें यह मालूम था कि ४ सितंबर सन १९४९ को कवलाना चातुर्मास के समय महाराज का शरीर १५ मिनट तक ठंडा पड़ गया था। सांस रुक गयी थी। करवट तक बदलना कठिन हो गया था। इससे सारे भारतवर्ष के प्रमुख श्रीमान तथा धीमान महाराज के पास पहुँचे थे। उस समय सभी विद्वानों ने आचार्य महाराज के समक्ष कहा था कि "दिगंबर जैन शास्त्रों में 'शूद्रों' के जिन मंदिर के भीतर प्रवेश करने की आज्ञा नहीं है।"

इस प्रकार आगम की सुदृढ़ भूमि पर अवस्थित महाराज के निश्चय को जानते हुये भी परिपद ने असमय में ऐसा मार्ग अंगीकार किया; जिसकी स्वप्न में भी आशा न थी। गुरु चरणों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए १५ अगस्त सन १९४९ को उनके अन्न त्याग के वर्ष पूर्ण होने पर दिगंबर जैन समाज ने भारत व्यापी हड़ताल द्वारा यह स्पष्ट कर

१ फेडरल कोर्ट के न्यायाधीश सर एम० वरदाचार्य के विषयमें सर मारिस ग्वायर प्रधान न्यायाधीश फेडरल कोर्ट ने अमेरिकन पत्रकार लुई-फिशर से कहा था, "जई डिस्ट्री में अकेले वरदाचार्य ही एक मान राजनीतिक दार्शनिक थे।" उक्त विद्वानसे जब लुई फिशर से अस्पृश्यता के संबंध प्रश्न किया, तो व्यायमूर्ति वरदाचार्य ने कहा था, "यदि आप आत्मा के आगमन में विश्वास करते हैं तो आपको मालूम होना चाहिए कि यदि किसी आत्मा ने एक जन्म में कुकर्म किये हैं तो दूसरे जन्म में उसका हरिजन के घर में जन्म हो सकता है।"

लुई फिशर— एक महान नैतिक चुनौती। पृ० १६८-१६९।

गयी है। कभी कभी उत्तर दायित्व सम्हालने वाले लोगों के प्रेमाद से सार्वजनिक सेवा करने वालों को बड़ा कष्ट हो जाया करता है। ये लोग तो इतना कहकर अपने कां चिंता-मुक्त मानते हैं, कि हमने आप को चिट्ठी डाल दी। बारबार तार देने वाले अवसर पर चिट्ठी का आश्रय लेते हैं; इससे वस्तु स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। ऐसी ही स्थिति का अनुभव हमें जैन महासभा की दो एकवार दिल्ली में मीटिंग के विषय में भी हुआ था। हमारी तो यह धारणा है कि धार्मिक उत्तर दायित्व का काम प्रदर्शन-पटु व्यक्तियों के बदले कार्यकुशल तथा धार्मिक व्यक्तियों के ऊपर सौंपा जाना चाहिये।

हम बंबई से चलकर १२ जुलाई को अपने छोटे भाई शातीलाल दिवाकर के साथ आचार्य महाराज के पास पहुँचे। उस समय महाराज को केसकी विशेष चिन्ता थी क्योंकि जैन पक्ष के वकील सर इन्जीनियर यूरोप में थे और दास बाबू के आने का पक्का समाचार नहीं था। सैठ गजराज जी के पास तीन तार गये, रजिस्टर्ड पत्र भी गया किंतु उत्तर न आने से महाराज के मन में ऐसा लगा कि इस सद्यः ने कही हमें भ्रम में तो नहीं डाला गया है। मैंने कहा—“महाराज गजराजजी बाहर होंगे, इसने उत्तर नहीं आया।” पश्चात् मैंने गजराज जी को तार भेजा किन्तु इस विषय में महाराज से कुछ भी परामर्श नहीं किया था।

तार में लिखा था, “कि आचार्य महाराज मामले के बारे में बहुत चिन्तित हैं, क्या आप बैरिस्टर दास को लेकर पेगी पर बम्बई पहुँचेंगे? उत्तर में १३ जुलाई सन १९५१ को कलकत्ते का तार मिला।”

आचार्य महाराज से कहा, इस प्रकार का तार कलकत्ते से आया है, “दास की व्यवस्था हो गई है। वे ता. २३ को केस में शामिल होंगे। ता. १७ को दिल्ली के इंपीरियल होटल में परामर्श होगा। मैं सालीसिटर के साथ ता. १७ को दिल्ली पहुँच रहा हूँ। आप तथा तलकचन्द जी अवश्य ता. १७

१ Sumer chand Diwakar c/o Chandulal Joti-chand Baramati Arranged with Das. Will Join cas e 23 rd. Consultations will be held New Delhi Imperil Hotel on 17th with Das. Myself with solicitor going Delhi on 17th. You and Talakchand must reach 17th Delhi. for consultations. Gajraj.

दिया था कि बहुमर्याद जैन वंग आचार्य महाराज के चरणों का अनुगामी है। समस्त जैन समाज दिल्ली के नाम से प्रकाशित विज्ञप्ति में लिखा है "कि परिषद को रैठक के दूसरे दिन २५ दिसंबर सन् १९५० को दोपहर के समय पड़ाल में सिर्फ थोड़े से आदिमियों के मित्रों किसी को भी न धुमने दिया गया। स्वागत समिति के अध्यक्ष, प्रतिनिधि व जनता का हजारा का समुदाय पड़ाल के बाहर पुलिस द्वारा रुकवाकर अंदर बैठकर प्रस्ताव पास कर घोषित कर दिया, जबकि जनता इसके विरुद्ध विलाप करती थी। अक्लूज कांड होने पर बम्बई के बैरिस्टर सर एन० पी० इजीनियर बम्बई के द्वारा दरखास्त बनाकर बम्बई हाइकोर्ट में पेश कर दी गयी। उपसमिति के परामर्श के अनुसार हम १० फरवरी सन् १९५१ को पटना में बैरिस्टर पी० आर० दाम से उनके स्थान प्रतिनिधित्व में मिले।

पटना में परामर्श के उपरान्त प्रस्थान कर प्रभात में पारसनाथ (शिखर जी) पहुँचे। बदना करव वापिस आये तथा बहा होन वाले पंच करपाणक महोत्सव के ज्ञान पर्याणक समारोह में सम्मिलित हुए।

हजारा लोग उपस्थित थे। उनसे हमसे अपने भाषण में बम्बई मंदिर में प्रवेश कानून के मध्य में की गई कार्यवाही तथा आचार्य महाराज के स्वास्थ्य इत्यादि के विषय में स्पष्टीकरण की इच्छा व्यक्त की। अन्य साधु हमसे सब बातों पर प्रकाश डालते हुए सभी श्रावकों से तथा विघ्न वर्ग से अनुरोध किया था कि वे जिनन्द्र भगवान की आराधना द्वारा भगवान निवारण के कार्य में बड़ी सहायता कर सकते हैं क्योंकि जिनन्द्र की भक्ति अचिंत्य सिद्धियों की जननी है।

गद्य चिंतामणि में आचार्य वादीभंसिंह ने लिखा है "जिन भगवान के चरण कमल की भक्ति का शीकर (जलकण) मुरेन्द्र तथा असुरन्द्र के पदों को प्राप्त कराता है।" हमारी तो यह धारणा है कि जब भी जैन धर्म पर सकट आवे, तब समाज के धार्मिक व्यक्तियों को समुदाय रूप से जिनन्द्र की आराधना पूजा, जाप आदि करना चाहिए। इस अंग की अपेक्षा के कारण ही अनेक उद्योगों में असफलता का दुःख भोगना पड़ा है। इस कारण हम जहाँ भी गए और धार्मिक बन्धुओं से मिलना हुआ, वहाँ हमने पंचपरमेष्ठी की आराधना करने की ही प्रेरणा की।

हमें बम्बई की सूचना मिली, कि हाई कोर्ट में ९ जुलाई सन् १९५१ को पेशी है। वहाँ पहुँचने पर ज्ञात हुआ है कि पेशी ता० २३ की हो

१ यदीय पादाम्बुजभक्तिशीकर सुरासुराधीन-पदाय जायते ॥

गयी है। कभी कभी उत्तर दायित्व सम्हालने वाले लोगो के प्रमाद से सार्वजनिक सेवा करने वालो को बड़ा कष्ट हो जाता करता है। ये लोग तो इतना कहकर अपने को चिन्ता-मुक्त मानते हैं, कि हमने आप को चिट्ठी डाल दी। बारबार तार देने वाले अवसर पर चिट्ठी का आश्रय लेते हैं; इस से वस्तु स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। ऐसी ही स्थिति का अनुभव हमें जैन महामा की दो एकबार दिल्ली में मीटिंग के विषय में भी हुआ था। हमारी तो यह धारणा है कि धार्मिक उत्तर दायित्व का काम प्रदर्शन-गट्ट व्यक्तियों के बदले कार्यकुशल तथा धार्मिक व्यक्तियों के ऊपर सौंपा जाना चाहिये।

हम बंबई से चलकर १२ जुलाई को अपने छोटे भाई छातीलाल दिवाकर के साथ आचार्य महाराज के पास पहुँचे। उस समय महाराज को केसकी विशेष चिन्ता थी क्योंकि जैन पक्ष के वकील सर इन्जीनियर यूरोप में थे और दास बाबू के आने का पक्का समाचार नहीं था। सेठ गजराज जी के पास तीन तार गये, रजिस्टर्ड पत्र भी गया किन्तु उत्तर न आने से महाराज के मन में ऐसा लगा कि इस संबंध में कही हमें भ्रम में तो नहीं डाला गया है। मैंने कहा—“महाराज गजराजजी बाहर होंगे, इससे उत्तर नहीं आया।” पश्चात् मैंने गजराज जी को तार भेजा किन्तु इस विषय में महाराज ने कुछ भी परामर्श नहीं किया था।

तारमें लिखा था, “कि आचार्य महाराज मामलेके बारे में बहुत चिन्तित हैं, क्या आप बैरिस्टर दास को लेकर पेसी पर बम्बई पहुँचेंगे? उत्तर में १३ जुलाई सन १९५१ को कलकत्ते का तार मिला।”

आचार्य महाराज से कहा, इस प्रकार का तार कलकत्ते से आया है, “दास की व्यवस्था हो गई है। वे ता० २३ को केस में शामिल होंगे। ता. १७ को दिल्ली के इंपीरियल हॉटल में परामर्श होगा। मैं सालीसिटर के साथ ता. १७ को दिल्ली पहुँच रहा हूँ। आप तथा तलकचन्द जी अवश्य ता. १७

१ Sumer chand Diwakar c/o Chandulal Joti-chand Baramati Arranged with Das. Will Join case 23 rd. Consultations will be held New Delhi Imperial Hotel on 17th with Das. Myself with solicitor going Delhi on 17th. You and Talakchand must reach 17th Delhi, for consultations. Gajraj.

को दिल्ली परामर्श के लिए पहुँचें । 'गजराज'

तार को गुनते ही आचार्य श्री की ओर से आदेश मिला, "जब तक केस पूरा नहीं होता है, तब तक तुम सिवनी मत जाना और केस का ही धाम करना ।" गुरुदेव के आदेश को मन में शिरोधार्य किया ।

१५ जुलाई असाढ़ सुदी एकादशी रविवार को आचार्य महाराज का तथा नेमिसागर महाराज का केशलोचन स्वर्ण दिन को बारामती के मंदिर की धर्मशाला में सपन्न हुआ । अर्जन लोग भी बहुत थे । केशलाचन ने पूर्व आचार्य महाराज ने बारामती में चातुर्मास करने की प्रतिज्ञा की थी । यद्यपि पूर्णिमा को अभी चार दिन शेष थे, किन्तु पचास को देखकर आगे शुभ मुहूर्त न होने से एकादशी को यह निश्चय किया । ऐसी अपूर्व विचारकता अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती है ।

असाढ़ सुदी एका- इस असाढ़ सुदी एकादशी का जैन श्रुत परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान है । धवल ग्रंथ में लिखा है कि "धरसेन आचार्य ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभवार में भूतबलि और पुण्यदत्त मुनियों को पटलडागम सूत्र का प्रमेय पढ़ाना प्रारम्भ किया । इस तरह क्रम से व्याख्यान करते हुए धरसेन स्वामी से उन दोनों ने अपाढमुदी एकादशी के पूर्वाह्न काल में ग्रंथ समाप्त किया । विनयपूर्वक ग्रंथ समाप्त हुआ । इससे सतुष्ट हुए व्यतर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्पावलि से तथा सख और तुर्य जाति के बाह्य विशेष के नाद से व्याप्त बड़ी भारी पूजा की । उसे देखकर धरसेन भट्टारक ने उनका भूतबलि नाम रक्खा । जिनही देवों ने पूजा की है और अस्तव्यस्त दत्त पक्ति को दूर करके जिनके दांत समान कर दिये हैं, ऐसे दूसरे का पुण्यदत्त नाम रक्खा ।" (पृष्ठ ७०)

यह महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य सौराष्ट्र देश के गिरिनगर नाम की शहर की चंद्रगुफा में सपन्न हुआ होगा, कारण धरसेन स्वामी उसी गुफा में रहते थे ।

मुनि लोग भी ध्येष्ठ कार्यों के हेतु योग्यकाल, मंगल मुहूर्त, पुण्यवेला को देखा करते हैं । आचार्य महाराज एक बार कहते थे "हमें भी ज्योतिष को देखना पड़ता है । किसी को दीक्षा देते समय स्थिर लग्न तथा शुभ मुहूर्त देखने की शास्त्राज्ञा है । अयोग्य मुहूर्त में दी गई दीक्षा को खंडित होते हमने देखा है । यह विद्या भगवान की याणी से प्राप्त हुई है ।" आज जो इस विषय में लोगों की उपेक्षा होती जाती है, इसका कारण इस विद्या का

उचित परिचय पाए बिना उसके ज्ञाता बनने का ढोंग रचा जाना है । विशेष पक्षों द्वारा सम्यक् मार्ग दर्शन होता है । इस विद्या की ओर लोगों का लक्ष्य नहीं रहा, किन्तु आचार्य सोमदेव इस विषय को महत्वपूर्ण कहते हैं ।

यसस्तिलक में लिखा है—^१

“परोक्ष अर्थ जानने में समर्थ बुद्धिधारी ज्योतिष शास्त्र, मंत्रशास्त्र, निमित्तशास्त्र के ज्ञाता, कर्तव्यकर्म के ज्ञाता, पात्र जैनियों द्वारा माननीय है । यदि ऐसे ज्ञानवान नहीं हो तो दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा आदि के कार्य कैसे बनेगे ? इन कार्यों के लिए अन्य लोगों से पूछने पर जैन शासन की उन्नति कैसे होगी? अतः समय-योक्तव्य विद्वानों का भी सम्मान करना चाहिए ।”

सिद्धांत शास्त्र की शिक्षा में धवलित असाढ़ सुदी एकादशी की रात्रि को वारामती से चलकर हम राहा चकील बम्बई पहुँचे । वहाँ हमारे छोटे भाई अभिनंदनकुमार का बड़ा चिन्ताप्रद पत्र मिला कि वृद्ध पिता जी को मंदिर में पूजा करते समय चक्कर आ गया । वे गिर पड़े, मस्तक पर गहरी चोट आई । इसके साथ में यह भी दुःखद समाचार था, कि हमारी छोटी बहिन कमलाबाई भयंकर बीमार हैं और डाक्टरों ने उसे प्लूरिसी का रोग बताया है । इस पत्र के वाँचते ही अद्भुत परेशानी सामने आ गई । कुटुम्ब का ममत्व सिवनी को वाधुयान तक से दौड़ने को कहता था, तो आचार्य महाराज की आज्ञा धर्म सेवा को स्मरण कराती थी । कुछ क्षणों में मोह का भाव दवा और मंगलमय आचार्य परमेष्ठी की आज्ञानुसार धर्मसेवा का ही निश्चय किया । हमने यही सोचा कि बीतराग शासन के प्रसाद से आकुलता दूर होगी । हुआ भी ऐसा ही । कुछ काल के बाद संतोषप्रद संवाद प्राप्त हुआ । यथार्थ में धर्म की भक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य है । तीर्थंकर का शरण लेने से कभी भी दुःख नहीं टिक सकता । वहाँ हम लोगों ने हाईकोर्ट में जाकर पता लगाया तो ज्ञात हुआ, कि पेशी ता० २३ के स्थान में ता० २४ जुलाई श्रावण कृष्णा पष्टी, दिन मंगलवार को रखी गई है । कई लोग सोचते थे, सर एन० पी० इजीनियर बैरिस्टर की

१ ज्योतिर्मंत्र निमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु ।

मान्यः समधिभिः सम्यक् परोक्षार्थसमर्थधीः ॥ १ ॥

दीक्षा-यात्रा-प्रतिष्ठायाः क्रियास्तद्विरहे क्लृप्तः ।

तदर्थं परपूच्छार्थां कथं च समयोन्नतिः ॥ २ ॥

प्रतीक्षा करना आवश्यक है। किन्तु आचार्य महाराज का हृदय कहता था देर नहीं होना चाहिए। उनके हृदय की प्रेरणा के अनुसार पेशी समीप ही रही। अब देहली पट्टचकर बैरिस्टर दास से परामर्श करने की बात थी। पटना में दास बाबू की श्री दाहा बकील तथा हमने सांगी ज्ञातव्य बातें कह दी थी, अतः अब यदि परामर्श योग्य स्थान बम्बई है, जहाँ श्री दास बाबू पेशी के पूर्व आवें तो वहाँ के बकील श्री मालतीबाला, श्री बोरा बैरिस्टर तथा श्री रमणलाल, गोठारी मालीमिटर नदलाल एण्ड कम्पनी के साथ सम्पर्क परामर्श हो।

यही सोचकर हमने सर सेठ भागचंद की पेढी जुहार पेल्लेम पर जाकर उनके प्रमुख मुनीम मुन्दगलाल जी से परामर्श किया। उन्होंने वहाँ मैंने अभी थोड़ी देर पहले अजमेर में सेठ साहब से बात की थी, आप उस समय आ गए होते तो बड़ा अच्छा होता। अस्तु फिर उन्होंने फोन किया, तो वहाँ की लाईन में गड़बड़ी हो गई। अब फोन जाना है। थोड़ी देर में आता हूँ। ऐसी प्रतीक्षा में एक घंटे से अधिक समय व्यतीत हो गया। बंदानित फोन मिल जाता तो हमलोगों का दिल्ली पहुँचना शायद स्थगित हो जाता, किन्तु उम भूमि के स्पर्श का निमित्त था अतः अपने ठहरने के स्थान पर आते ज्ञात हुआ कि अजमेर से सर भागचंद जी का हमारे नाम पर फोन आया था। वे दिल्ली के लिए रवाना हो गए और दानों की रात्रि के वायुमान से आने को कहा है। हवाई जहाज की टिकट आ गई। हम रात का डेढ़ बजे रवाना हो गए। प्रभात में ५११ बजे दिल्ली के वेलिंगटन एरोड्रोम में उतर पड़े।

बम्बई शीतल वातावरण युक्त था और दिल्ली में भीषण गर्मी थी। वहाँ पट्टचकर पता चलाया तो ज्ञात हुआ कि सेठ गजराज जी को कारणवश विलम्ब हो गया है। वे मालीमिटर के साथ ता० १८ के प्रभात में आए। ता. १८ को बैरिस्टर दास से केस पर चर्चा हुई। वहाँ दास बाबू ने कहा कि आप लोगों को तुरंत बंबई पहुँच कर योग्य साक्षी तैयार करना चाहिए। हाईकोर्ट साक्षी कौन लेगी? यदि साक्षी (evidence) की स्थिति आई, तो न्यायालय इस मामले को नीचे की अदालत में भेजे बिना न रहेगी। यह जानते हुए भी बड़े बकील की बड़ी बात विचार कर ता. १८ की रात्रि को सीट बुक करने के लिए फोन से बात की, तो एरोड्रोम दफ्तर से कहा गया केवल दो सीट बाकी हैं शीघ्रता कीजिए नहीं तो ता. १९ को

सोट मिलेगी।

हमने साहू वकील से कहा अपने लिए ही वे स्थान मुरखित प्रतीत होते हैं। वायुयान से हमने दिन में ही अनेक बार प्रवास किया है। उसकी दुर्गन्धाओं का वर्णन पत्रा द्वारा प्रगट होने से रात्रि के प्रवास के प्रति कुछ कम डचछा होती थी, वित्तु हमने यही सोचा धर्म का थोड़ा कार्य करते हुए विपत्तिका क्या भय और यदि कदाचित्त वह आई तो श्रेष्ठ सेवा करते रहने में भविष्य की भी भीति नहीं है।

दिल्ली में मुनिराज श्री नमिसागर महाराज, तथा अन्य महान तास्त्रिया के दर्शन किए। उन लोगों ने आचार्य सातिसागर महाराज के समान एकादशी को चातुर्मास का निश्चय न कर पूर्णिमा को ही एकत्रित होकर देहली चातुर्मास का निश्चय किया। खूब समुदाय था। आचार्य सातिसागर महाराज के स्वास्थ्य आदि की बातें सुनकर सबको सतोष हुआ। हमने सबसे यही अनुरोध किया, कि धर्म सफ़ट निवारणाथ अधिक ग अधिक जिनेंद्र-स्मरण करें।

हम लोग मध्य रात्रि को दिल्ली से चलकर विमान में सोते हुए मगरे ता १९ को पुनः उम्बई आ गए। अब पेशी को पांच दिन शेष हैं। कार्य बहुत अधिक था। बम्बई की धार्मिक समाज ने क्षुल्लक सूरिसिंह जी के नेतृत्व में जाप की विशिष्ट विवि चद्रप्रभु-जिनालय भूलेश्वर में की। सभी धार्मिक लोग जितेंद्र स्मरण करने में सलग्न थे।

जितेंद्र देवकी स्तुति करने से विघ्नो राशि की दाविनी, भूत सर्प दूर हो जाते हैं, विप भी निविपना को धारण कर लेता है। उस अवसर पर हमने अपने भाषण में कहा था, जो भाई और बहिन जाप में बैठने में असमर्थ हैं भी वे अपने अपने स्थानों में ही महामन्त्र का जाप करें। आज के शासन में धर्म की प्रतिष्ठा का कार्य सामान्य नहीं है।

ता २१ सनिवार को दाम बाबू के आने पर उनके निवास स्थान पर सध्या काफ़ी परामर्श होना रहा। हम, मर सेठ भागचन्द जी सोनी, सेठ रतनचन्द होराचन्द जी, सेठ राजकुमारसिंह जी और श्री फूलचन्द कोठडिया बकाल पूना अम्बूज के लोग आदि उपस्थित थे। दास बाबू ने वेम को तैयार किया। वैरि पालाँवाला, वैरि चाहरा, श्री रमणलाल वाठारी सालीसिटर, श्री साहू वकील आदि सभी लोग यथा-शक्ति प्रयत्नशील थे। बम्बई में निरन्तर कार्य में सलग्न रहने से समय के बीतने का पता नहीं चलता था।

अब सा. २४ जुलाई का मंगलमय मंगल दिवस आया । हमने बड़े आनन्द से भगवान की पूजा की । तैयार होकर हाईकोर्ट में काफी समय पहले पहुँच गए, क्योंकि टाईम्स आफ इंडिया आदि दैनिक पत्रों में केस का वर्णन आ जाने से बड़े बड़े लोगों की दिलचस्पी जागृत हो उठी थी । पचासों वकील बैरिस्टर दास बाबू की महम मुनने की आ गए थे ।

११ बजे चीफ जस्टिस श्री चागला, तथा जस्टिस श्री गजेन्द्रगडकर आ गए । उनके साम्हने की पक्ति में बैरिस्टर पी. आर. दास तथा उनके सहयोगी बैरिस्टर थे, दूसरी ओर सरकारी वकील बैरिस्टर आमीन तथा एडवोकेट जोशी आदि थे ।

न्यायाधीशों के आते ही अखंड सभाटा हो गया । चीफ जस्टिस ने पिछले एक मामले का फंसला पढ़ना प्रारम्भ किया । वह शायद पचास पृष्ठ लम्बा था । करीब करीब उतना ही नहीं, तो उसका छोटा भाई सरीखा दूसरा फंसला जस्टिस गजेन्द्रगडकर ने वाचना प्रारम्भ किया । प्रतीक्षा के कारण एक एक मिनट गिनते गिनते डेढ़ बज गया । दास बाबू भी काफी थान्त दिखने लगे । सत्तर वर्षों से अधिक उनकी अवस्था भी हो गई है । यह प्रतीत होता था कि नास्ता (Lunch) के बाद ही केस लिया जायगा । षष्ठी में पीने दो हुए कि प्रधान न्यायाधीश श्री चागला ने पूछा (well what is your case ?) कहिए दास बाबू आपका क्या मामला है ।”

एकदम गम्भीर वातावरण हो गया । दास बाबू ने केस की क्या प्रारम्भ, की, कि अकलूज जिला सोलापुर में एक स्थान है, वहाँ के जैन मंदिर का ताला सोलापुर के कलेक्टर ने तुड़वाकर वहाँ अर्जुन को जबरदस्ती घुसेडा है । यह कलेक्टर का कार्य अन्याय पूर्ण है ।

श्री दास अपनी बात कह ही रहे थे, कि जज गजेन्द्रगडकर महाशय ने पूछा—“श्री दास ! यह बताइये क्या आप वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं या नहीं ? इस प्रश्न का भाव यह था कि यदि आप वर्णाश्रम धर्म मानते हो तो आप अस्पृश्यों के प्रति मंदिर प्रवेश प्रतिषेध की नीति को मानते अवश्य होंगे ”।

दास बाबू ने उत्तर दिया “मैं तो जैन नहीं हूँ, मुझे नहीं मालूम

जैन लोग वर्णाश्रम व्यवस्था मानते हैं या नहीं ?”

दास बाबू ने आगे यह कहा “हमने जैन मंदिर में घुसनेवालों को अजैन समझकर रोका है, हम नहीं जानते वे हरिजन हैं या सवर्ण हैं।” अपने विषय को स्पष्ट करते हुए उनसे पटना हाईकोर्ट के एक पुराने मुकदमे का उल्लेख करते हुए कहा “एक बार बिहार प्रांत के राजगिर ग्राम का मानसा अदालत में पहुंचा। बात यह थी कि राजगिर में जो गरम पानी के झरने हैं, वे हिन्दुओं के अधिकार में हैं। मुसलमान लोग वहां अधिकार जमाना चाहते थे। अतः उनसे अपनी ओर से प्रमाण पेश किए थे, कि हम लोगों ने बिना रोक रोक के कुंडों में स्नान किया है। उसके जवाब में हमने कहा था “नहाने वालों के मुख पर मुसलमान नहीं लिखा था, जिससे हम यह जानते कि ये मुसलमान लोग वहां आए हैं। हमने उनको हिन्दुओं के समान ही समझ कर प्रवेश करने दिया था। इसी प्रकार जैन मंदिर में यदि कभी हिन्दू भी गए हैं तो हमने उनको जैन समझकर ही जाने दिया है। अजैन जानकर नहीं! इस पर जस्टिस गजेन्द्रगड्गकर ने कहा—“श्रीयुक्त दास ! यह बात वहां नहीं लागू होती है। अकलूज एक छोटी सी बस्ती है। वहां सब लोग एक दूसरे को पहचानते हैं, कि कौन किस जाति का है आदि, अतः अकलूज के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रवेश करने वाले अजैनों को हमने जैन जानकर ही आने दिया।”

श्री दासने अपना विषय स्पष्ट करते हुए कहा “यदि हिन्दू लोग किसी विशेष जन मन्दिर में अधिकार अथवा रिवाजपूर्वक आते रहे हैं तो वह अधिकार हरिजनों को भी प्राप्त होगा यह बात हमें मान्य है। किन्तु यदि इस मन्दिर में हिन्दुओं को भी अधिकार नहीं रहा है तो हरिजनों को भी अधिकार नहीं रहता है।”

गंभीर स्थिति इस प्रकार बहस चल रही थी, कि न्यायाधीश जलपान के लिए दो बजे उठ गए। उस समय न्यायाधीश का रगड़ग ऐसा दिखता, कि अब मामला खारिज होने में देर नहीं है। जजों के प्रश्नों के आगे जैनो के तरफ का उत्तर असरकारी नहीं दिखता था। संकड़ों जैन भाइयों के चेहरो पर उदासी छा गई। हमारे मन में इस बात की चिन्ता थी, कि कहीं अपने विरुद्ध निर्णय हुआ, तो इसका आचार्य महाराज पर अच्छा असर नहीं पड़ेगा। उस समय पास में बैठे हुए उसी दिन वाराणसी से आये

क्लेक्टर को जैन मन्दिर का ताला तोड़कर ८ बजे रात को हरिजनों को मन्दिर में ले जाने का अधिकार किसे दिया था ?” क्या उसके हाथों कानून आ गया था। उसे केवल इतना ही अधिकार था कि रोकने वालों पर दावा दायर करता, किन्तु मन्दिर का ताला तोड़कर घुसने का तरीका तो बहुत बड़ी ज्यादाती थी।”

हाईकोर्ट का
निर्णय

इसके अनन्तर ही चीफ जस्टिस ने कहा हम निर्णय घोषित करते हैं। उनसे जस्टिस गजेन्द्रगडकर से पूछा “क्या आप फैसला बोलते हैं ? उनसे कहा “आप ही बोलिए”। श्री जस्टिस चागला ने फैसला बोलना आरम्भ किया। कि “बम्बई कानून का लक्ष्य हरिजनों को सर्व्व हिन्दुओं के समान मन्दिर प्रवेश का अधिकार देना है। जैनियों तथा हिन्दुओं में मौलिक बातों की भिन्नता है। उनके स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उनके धर्म के सिद्धांतों के अनुसार शासित होने के अधिकारों के विषय में कोई विवाद नहीं है ; अतः हम एडवोकेट जनरल की यह बात अस्वीकार करते हैं कि कानून का ध्येय जनों तथा हिन्दुओं के भेदों को मिटा देना है।

“हमारी बात यह है कि यदि कोई हिन्दू इस कानून के बनने के पूर्व किमी जैन मन्दिरों में पूजा करने के अधिकार को सिद्ध कर सके, तो वही अधिकार हरिजन को भी प्राप्त हो सकेगा। अतः हमारी राय में प्राथियों का (petitioners) यह कथन मान्य है कि जहां तक इस सांलापुर जिले के जैन मन्दिर का पदन है, हरिजनों को उसमें प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नहीं है, यदि हिन्दुओं ने यह अधिकार कानून, रिवाज या परम्परा के द्वारा सिद्ध नहीं किया है।”

“क्लेक्टर का कार्य भी कानून के अनुसार ठीक नहीं था। कानून के नियम के नियम नं० ४ के अनुसार क्लेक्टर को इस बात का सन्तोष हो जाय, कि इस अकलूज के जैन मन्दिर में हिन्दुओं को कानून, रिवाज या परम्परा के अनुसार अधिकार था, तो उसे यह करना उचित होगा कि उस जैन पर कार्यवाही करे जो इस कानून के द्वारा प्रदत्त अधिकार में बाधा डालता है। किन्तु नियम नं० ४ के विधाय क्लेक्टर को ताला तोड़ने का अथवा हिन्दुओं को मन्दिर में प्रविष्ट कराने में सहायता देने का अधिकार नहीं था।”

निर्णय के पश्चात् इस निर्णय को सुनते ही मद्रास आश्रय आ। कानून के विदोष चरित हुए कि जहाँ मामले में पराजय की स्थिति

थी, वहा धर्म पक्ष की पूर्णतया विजय हो गई। उस समय इस प्रसंग में जिसको जितना अधिक धर्म उठाना पड़ रहा था, उसके आनन्द की मात्रा उतनी ही अधिक थी। धार्मिक जैन समाज के हर्ष की सीमा नहीं।

वर्तमान हरिजनोद्धार की मुख्यता देने वाले शासन में जिनेंद्र की आज्ञा की पूर्ण रक्षा होना अलौकिक बात है। हम तो इस प्रसंग में संपूर्ण बातों से परिचित रहे हैं। उस निवृत्त परिचय के आधार पर यह कहना पूर्णतया सत्य है, कि इस सफलता का श्रेय उन पूज्य चारित्र्य चक्रवर्ती ऋषिराज को है, जिनने जिन शासन के अनुरागवश तीन वर्ष से अन्न छोड़ रखा था। यह उनकी प्रवचन भक्ति तथा प्रवचनवत्सलत्व भावना का प्रभाव था, तथा हजारों, लाखों नर नारियों की पंचपरमेष्ठी की भक्ति का प्रसाद था, जो धर्म की नौका मंशधार में डूबते र बच गई। उस समय आचार्य महाराज के जिन शासन में प्रगाढ़ भक्ति पूर्ण शब्द समझ में आए, जो उनने कई बार कहे थे, कि 'अभी धर्म-ध्वंस का समय नहीं आया है। अभी हजारों वर्ष पर्वन्त जैन धर्म जीवित रहेगा।' उनके मुख से ये भी शब्द सुने थे, कि इस सकट को दूर होते देर न लगेगी। इस धार्मिक सफलता पर जिन्हे आनंद हुआ, उनने पुण्य का संचय किया होगा। कुछ ऐसे भी व्यक्ति रहे जिनको असह्य वेदना हुई। किन्तु अब यह ऐसी वस्तु नहीं है, जो कोई नेता या और दूसरों के द्वारा बदली जा सके, या अलवारी आंदोलन के द्वारा उलटाई जा सके। उन श्रावक कुल सभूत व्यक्तियों की वृत्ति पर दया आती है, जो आचार्य परमेष्ठी के विरोध में जाल बुनते रहे थे, किन्तु स्वयं वे उसमें ही आकात हो गए। जिनागम में जो बात कही गई है, उसे जिनागम का अंग बताना श्रुत का अवर्णवाद है जिससे दर्शन मोह का आस्त्रव होता है।

ऐसा भाव अनुभव में आता है, कि किन्ही व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण सदा शासन सत्ता की हा में हा मिलानेवाला वर्ग तैयार हुआ करता है। धर्म भक्ति से पराड मुख हो राष्ट्र भक्ति वाले भ्रात भाइयों ने अपने ही धर्म के कार्य को नष्ट करने को क्या र विनिन्दित कर्म नहीं किए। यह देख कलिकाल की महिमा माद आ जाती है। इस विकट परिस्थिति में आचार्य महाराज की आध्यात्मिक साधना तथा अन्य जिन-धर्म सेवकों की भक्ति ने सकट से जिनमंदिरों की शुद्धता की रक्षा की। ५० आशाधर जी ने जिन-मंदिर की विशेषता लिखा है—'दलितकलि-त्रीला-विलसितम्' इनके

द्वारा कलिकाल की लीला का विलास नष्ट हो जाता है । बहुत से विनवारी तो वे लोग थे, जो कभी जिन मंदिर जाकर दर्शन नहीं करते थे ।

सफलता का श्रेय आचार्य महाराज की बेस की सफलता का तार भेज दिया गया । ता: २४ जुलाई की राति वे बबई के श्री चंद्रप्रभु जिनालय में सभा हुई । उसमें अनेक धर्म वधुओं ने भाषण द्वारा सेवा करने वाले भाइयों के कार्य की सराहना की । हमने कहा था—कि इस महानकार्य की सफलताके मुख्य कारण रत्नत्रय मूर्ति आचार्य शातिसागर महाराज हैं और फिर ज्ञात-अज्ञात मेवक हजारों लाखों नरनारी हैं, जिनने व्रत धारण किए जाप किए तथा आध्यात्मिक साधना द्वारा सफरना का उद्योग किया । यह सोचना ठीक नहीं है, कि जो व्यक्ति सामने आते रहे, उनमें ही सब कुछ किया ।

उस भाषण में हमने आचार्य महाराज के एक महत्वपूर्ण स्वप्न का उल्लेख किया, जो आचार्य महाराज ने अमावसी दशमी ता: १४ जुलाई सन् १९५१ को बताया था । स्वप्न में महाराज ने देखा कि एक मुर्दा उनके पास आ रहा है । उसका सब लोग ने ईंधन डालकर दाह किया, किन्तु वह पूरा नहीं जला, इससे महाराज ने उसमें लकड़ी डाली और वह भस्म हो गया । इस स्वप्न का अर्थ वारामती में समझ में नहीं आ पाया था, किन्तु फंसला होने के बाद ज्ञात हुआ कि वह सकट का शव था । सबके उद्योग करने पर भी वह विपत्ति बनी रही । अतः में आचार्य महाराज ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा योगदान किया । इससे उस सकट की समाप्ति हो गई । स्थूल भाषा में वह हरिजन मंदिर प्रवेश कानून द्वारा लाई गई विपत्ति का शव था । शव इसलिए था, कि वह प्रारम्भ से ही मृतक सदृश था ।

ता. २४ की राति की दक्षिण की बहुत सी मडली के साथ हम आचार्य श्री के पास वारामती चलने की रवाना हुए । बार बार यही विचार मन में आता था, कि जब तक आचार्य श्री ने अन्न ग्रहण नहीं किया, तब तक सफलता नहीं मानी जायगी । अपना हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट तो महाराज का निर्णय है ।

महाराज के पास पहुँचे, तो उनकी पूर्ण चिंता तार आने पर भी दूर नहीं हुई थी ।

वे बोले “तार में तुम्हारे मा दाहा वकील के दस्तपत्र न होने से हमें पूरा सतोष नहीं हुआ और सदेह बना रहा।” इससे शांत आ वि आचार्य महाराज भावावेश से भूलावे में आने वाले व्यक्ति नहीं हैं।

हम लोगो ने कहा—“महाराज सफलता का तनिक भी रूप पहले नहीं था, किन्तु सहमा न्यायाधीशो ने ही सच्चे वकीलो का काम किया। गजेन्द्र-गडकर जज विप्रराज होने से अपनी ससृष्टि के प्रति वन्न भावना वाले थे। उनका भग था। वे ही सरकारी वकील को अपने प्रश्ना द्वारा अवाक कर देते थे। यह सब आपके चरणों का प्रसाद है।”

आचार्य महाराज ने कहा—“हमारा कुछ नहीं है। सब महावीर भगवान की कृपा है। हमने कह दिया था, मह सकट अधिक दिन तक नहीं रहेगा।”

हमने तथा उपस्थित मडली ने महाराज से विनय की—“महाराज सेवा करने वाला काम पूरा करने पर अपनी मजदूरी माँगता है। आपके १९४८ अगस्त से अन्न त्याग से हमने सभी बायो को बंद कर दिया था, अब काम पूरा हो गया। इससे आपसे हमें अपनी मजदूरी चाहिए। मजदूरी वही है, वि आप अब अन्न ग्रहण करें।”

महाराज बोले—“यह बच्चा का खेल नहीं है। अभी हम हार्डकोर्ट का सील लगा फैसला देखेंगे, और विचारेंगे। सुप्रीम कोर्ट की अपील की अवधि को भी समाप्त होने दो।” उस समय म्याद आदि के प्रश्नों की ध्यान में रखते हुए हमें रक्षावधन का दिन आहार के लिए उपयुक्त दिखा। हमने सोचा रक्षावधन की पुनरावृत्ति सी हो जायगी कारण इस युग में अधर्म के आतंक के समक्ष अकपित रहने वाले आचार्य महाराज भी अकपन आचार्य तुल्य लगते हैं। अभी हार्ड कोर्ट निर्णय समक्ष नहीं था, इसमें हम लोगो को चुप होना पड़ा। तीन चार रोज आचार्य महाराज के चरणों के समीप में वारामती पुन रहने का सोभाग्य मिला। हमने देखा, अब आचार्य महाराज की आस्था पूर्णतया तिद्धेन्द्र हो गई। उनके मन में बड़े उद्वल विचार आने लगे।

तीन सप्ताह के प्रवास के पश्चात् सिवनी आना हो गया, किन्तु बार बार मन में यही लालसी थी, कि वह दिन धन्य होगा, जब ये महान तरुणी आहार ग्रहण करेंगे। हार्डकोर्ट के निर्णय की कापी भी देख ली। उसमें आचार्य श्री की प्रतिभा की पूर्ति देखकर हमने वारामती श्री चद्र

लाल जी सराफ आदि को लिखा, कि महाराज से आहार के लिए प्रार्थना करें, तो उत्तर निराशा पूर्ण मिला। हमने श्री फूलचंद कौठडिया वकील पूना तथा तलकचंद जी वकील को पत्र देकर आग्रह किया कि महाराज आप लोगों के अत्यन्त समीप हैं, आप उनके चरणों में जाकर आग्रह कीजिए कि आपका आहार न ग्रहण करना ठीक नहीं है। सारे भारतवर्ष की समाज चिन्ता-युक्त हैं। रक्षाबंधन का दिन बड़ा श्रेष्ठ होगा।

दोनों धार्मिक वकीलों ने गुरु चरणों में पहुंचकर प्रार्थना की, लोगों ने भी अत्यधिक आग्रह किया।

तब महाराज ने कहा "हमें अपनी तो फिकर नहीं है, किंतु १६ अगस्त सन १९११ का हमारे निमित्त से हजारों व्यक्तियों ने जो त्याग कर रखा है, उनका विचार कर हम कल आहार कर लेंगे। यह बात रक्षाबंधन ता० १५ अगस्त की संध्याको ज्ञात कर वारामती के भाइयों को अपार आनन्द हुआ। हमें ता० १६ के प्रभात में तार मिला "Acharya

Maharaj taking Anna today." इसे पाते ही अवर्णनीय आनन्द मिला, किन्तु शंकाशील मन में यह विचार आया, कि अंग्रेजी की कहावत "There is many a slip between the lip and the cup." के अनुसार अभी भी अन्तराय आ सकता है। "आचार्य महाराज आज अन्न ग्रहण करेंगे"। 'करेंगे' के स्थान में 'किया' देखने की लालसा थी, कि चन्दूलालजी सराफ का दूसरा तार आया उसमें लिखा था, "आचार्य महाराज ने अन्न ग्रहण कर लिया।" उस समय जो आनन्द आया, वह लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता, वाणी द्वारा भी प्रकाश्य नहीं है।

कालिदास ने लिखा है:- "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते" किसी कार्य के करने में अपार कष्टों को भोगते हुए सफल हो जाने पर क्लेशों की व्यथा दूर हो जाती है। तीन वर्षों में बम्बई, दिल्ली आदि बड़े-बड़े नगरों में कितने नहीं चक्कर काटे, कितना नहीं कष्ट भोगा, क्या २ कष्ट सहन नहीं किया, यद्यपि बिघ्न सन्तोषी सत्पुरुषों के भय से यह चार्ता पत्रों में नहीं आई थी, वे सब शूल फूल रूप में परिणित हो गए। हमने परोक्ष रूप से आचार्य देव की प्रणाम किया। सब लोग धन्य २ कह उठे। ऐसी तपस्या रत्नत्रय-धर्म-रक्षण निमित्त इस युग में कहा देखी जा सकती है।

वारामती का आनन्द तो अपूर्व था, जहां रक्षाबंधन के दिन इस

युग के अकपन ऋषिराज सातिसागर महाराज ने तथा उनके अतिशयभद्र थीतराग, तपस्वी शिष्य मुनि नेमिसागर जी ने अन्नाहार लिया । आचार्य महाराज का अन्नाहार ११०५ दिनों के पश्चात् हुआ था । रोगी व्यक्ति को जब दो चार दिन को भी अन्न नहीं मिलता है, तो वह निरंतर अन्न को ही तरसता है । “अन्न वै प्राणाः” अन्न को प्राण कहा है । वैदिक साहित्य में अन्न को तो ब्रह्म कहा गया है, उस अन्न का प्रतिज्ञापूर्ति पर्यन्त त्याग करके प्रतिज्ञापूर्ण होने पर ११०० दिन से अधिक काल व्यतीत होने के उपरान्त आहार करना असाधारण स्थान रखता है ।

वारामती में एक पण्डाल में बड़ा चौका बनाया गया था । उसमें ही महाराज का आहार हुआ था, जिससे सभी लोगों को इस मंगल प्रसंग पर उत्तम पात्र की सेवा का अपूर्व सौभाग्य मिल सके । आहार के मंगल मय ऐतिहासिक अवसर पर आकाश से थोड़ी जल बिन्दुआ की वर्षा हो रही थी, मानो मेघकुमार जाति के देव अपना आनन्द व्यक्त कर रहे हों । अद्भुत दृश्य था वह । प्रकृति भी पुलकित हो रही थी । महान तपस्वी को ११०० दिन बाद पूर्ण हुई सफलता पर आसपास के सभी लोगों में चर्चा थी । लोग महान आचार्य श्री के तप-पूत जीवन के प्रति श्रद्धा पूर्ण उद्गार व्यक्त करते थे । बम्बई आदि बड़े बड़े नगरों के विचारक वर्ग बातें करते थे, तपस्वी का नाम ले इन्द्रियों का पोषण करने वाले साधु दुनिया भर में मिलते हैं, किन्तु ऐसे महात्मा कहा है, जिनने अपने पवित्र धर्म और संस्कृति के संरक्षणार्थ प्रिय प्राणों की परवाह नहीं की, किन्तु जिन के पुण्य से उनकी तपस्या सफल हुई और जैन धर्म की पवित्रता अक्षुण्ण रह गई । वे वीरानुयायी ऐसी वीरता न दिखाते, ता भविष्य बड़ा भयकर होता, अतीत इतिहास के घूनी पृष्ठों को देखकर भविष्य की कल्पना हो सकती है, कारण ‘history repeats itself,’ इतिहास में अतीत की पुनरावृत्ति होनी है । लाखों सन्निव संस्कृति के सम्पराधकों ने साधु शिरामणि को शतशः परोक्ष प्रणाम किया । हमारी भी इन महान ज्योतिर्धर की सफल तपस्या को प्रणामाजलि है । इस धर्म-संरक्षण के कार्य में बदलाना, गजपपा के दो चानुर्मास व्यतीत हुए तथा वारामती के १९५२ के चानुर्मास की सफलता का श्रेय प्राप्त हुआ ।

आगम

अब आचार्य श्री की दृष्टि आत्मा की ओर अधिक केन्द्रित हो गई। उनसे कहा था—“धर्म का संकट दूर हो गया है अतः अब हमें कोई भी विकल्प नहीं है। धवल मिद्धान्त के ९३ वे सूत्र में संजद शब्द न रखने का भी विकल्प नहीं है। अब आनन्द से भगवान का नाम लेना है और आत्म का ध्यान करना है। अब हमें और क्या करना है।” पट्टसङ्गागम सूत्र में संजद शब्द के विषय में आचार्य श्री ने कहा कि क्यों इस शब्द के बारे में उनसे विशेष ध्यान दिया ? वे कहने लगे—“हमने फतेचंद ग्रन्थचारी के द्वारा तुमको पत्र भिजवाया कि तुम महाधवल ग्रंथ के सूत्रों की नकल करने भेज दो। तुम्हारा पत्र आया, कि महाराज ! चालीस हजार श्लोक प्रमाण सारा ग्रंथ सूत्र रूप ही है। उसमें चार पांच हजार श्लोक प्रमाण ग्रंथ नष्ट हो गया है।” इस समाचार को प्राप्त करके हमें ऐसी ही चिन्ता हुई, जिस प्रकार श्रुत संरक्षण के लिए घरसेन स्वामी को हुई थी। उस दिन राशि को हमने बहुत विचार किया कि भगवान महावीरजी की वाणी इन सूत्रों में थी, यदि वह चार पांच हजार श्लोक प्रमाण नष्ट हो गई है तो आगे हमको किस प्रकार रक्षा की जाय ?

दूसरे दिन हमने श्रावको से कहा हमारे मन में ऐसी इच्छा होती है, कि सिद्धांत ग्रंथों के रक्षण के लिए उनको ताम्र पत्र में सुदवाया जाय। उस समय संघपति श्री गेंदनमल ने कहा—“महाराज यह काम मैं कर दूंगा। हमने गेंदनमल से कहा—“यह काम सबके तरफ से होना चाहिए। एक पर बोझा न हो। इतना कह हम सामायिक हो चले गए। वाद में आने पर लोगो ने धडाबड चंदा करके लाख डेढ़ लाख का फंड तुरंत कर दिया। हमने कभी किसी से रुपया देने को नहीं कहा। हमने जिदगी में कभी किसी से रुपया नहीं मांगा। हमारी ऐसी आदत नहीं है।”

पुनः महाराज ने कहा—“सब पूछो तो इस कार्य में तुम निर्मित हो। तुम्हारे कारण से यह ताम्र पत्र का महान कार्य हुआ।”

मैंने कहा—“महाराज ! मेरे निमित्त से यह बड़ा काम कैसे हो सकता है ?”

महाराज ने कहा—“क्या हमें मिथ्या बात करना है। जो सत्य बात है, वह कहते हैं। तुम्हारे पत्र के कारण ही हमें प्रेरणा मिली और यह काम महा-वीर भगवान की कृपा से हो गया। अब काम बराबर हो रहा है, इसकी भी अब हमें कोई चिन्ता नहीं है। हमें पूरा विश्वास हो गया, कि यह काम पूर्ण हो जायगा। आगे महाराज ने कहा—“घवल ग्रंथ की जो प्रतिया छपी और उत्तर भारत में प्रचार में आई, उन सब में तेरानवे सूत्र में संजद पद नहीं रहा। हमारी प्रेरणा से ग्रंथ का ताम्र पत्र का कार्य हुआ। इससे संजद शब्द जोड़ने की लोगो को कल्पना हुई। रत्नी के द्रव्य से यदि संजद-पना प्रसिद्ध हुआ, तो इसके कारण हम ही हुए, अथवा पूर्व के छपे ग्रंथ से द्रव्य रत्नी के संजदपने का अभाव ज्ञात होने से दिग्भर आगम परंपरा का लोप नहीं होता था। हमने आगम रक्षा के उद्देश्य से कार्य करवाया, और उसका फल दिग्भर परंपरा का ही उच्छेद होने लगा। अतएव इसका दोष हम पर आता है, इसलिए हमने इस प्रश्न पर बरसों विचार किया है। बड़े बड़े विद्वानों से चर्चा की है। पूर्वापर विचार किया है। यह सोचना बिल्कुल भूल है, कि हम किसी के कहने में आ गए हैं। हमारी प्रकृति स्वतंत्र है। पूर्ण विचार के बाद हम अपनी राय बनाते हैं। गत वर्ष अर्थात् सन १९५० में घवल सिद्धांत ग्रंथ को ताम्रपत्र में उत्कीर्ण करने का कार्य पूर्ण हुआ।

उस समय हमको ग्रंथ समर्पण करते समय तलकचंद शहा वकील ने गज पंथा में आधा घंटे तक भाषण दिया और समाज की ओर से हमसे अप्रह किया कि हम संजद पद के विवाद के विषय में अपना भाव प्रगट करें, कारण पंडित लोग एक मत नहीं हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में हमारा निर्णय सबको मान्य होगा। उस समय वहाँ भाव पक्ष वाले तथा द्रव्य पक्ष वाले विद्वान भी मौजूद थे, उनमें कोई विरोध नहीं किया और न यह कहा, कि आप अभी निर्णय मत कीजिए कारण हम लोगो का इस संबंध में विरोध है। जिनवाणी—जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टी तथा सदस्य लोग हमारा निर्णय मान्य करेंगे, उनको दुनिया भर के लोगों के विवाद से प्रयोजन नहीं है।” ऐसी बात शहा वकील ने नहीं।”

“हमने सोचा, कि समाज के विद्वानों में एक मत नहीं है। दोनों

पक्ष में समाज के बड़े बड़े विद्वान हैं, ट्रस्टी लोग हमसे आग्रह करते हैं, कि हम निर्णय दें, कि दोनों पक्ष के विद्वानों के कथन को पूर्ण रीति से विचारने के बाद किस प्रश्न की बात धर्म तथा आगम परंपरा के अनुकूल हमको जचती है। ऐसी स्थिति में हमने यह निर्णय दिया था, कि उभय पक्ष के विद्वानों के कथन पर पूर्ण रीति से विचार किया, तथा मूल सूत्रों पर भी ध्यान दिया, तो हमें यही प्रतीत हुआ, कि सूत्र न० ९३ में द्रव्य-स्त्री का कथन है। द्रव्यस्त्री के पांच ही गुण स्यान् होते हैं, वह महाप्रती नहीं होती है, इससे सूत्र में सजद शब्द नहीं बताने वाला पक्ष ठीक है। "इसके बाद समाज में बहुत विवाद उत्पन्न हुआ, तब हमने दो-दो बार यह समाचार प्रगट करवाया, कि यदि कोई विद्वान हमारे पास आकर हमारी बात को दोष-युक्त बतावेंगे, तो हम अपनी भूल को सुधारेगे, तथा अपनी भूल का प्रायश्चित्त भी लेंगे किन्तु हमारे पास कोई भी विद्वान नहीं आए और न आंदोलन ही रहा।" अब हम सजद चर्चा के विषय में कुछ नहीं बोलना चाहते। इस सबध में हमारा कोई विकल्प भी नहीं है। जिनवाणी-जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टी लोगों को अधिकार है कि वे अपनी इच्छानुसार जैसा उचित जचे, वैसा करें। हम अपना निर्णय दे चुके; अब हम इस विचार में नहीं पड़ना चाहते हैं।"

महाराज की सरलता आचार्य महाराज के पास हठवाद नहीं है। वे बालक की युक्ति युक्त बात को मानने को तैयार हैं। इस प्रसंग में वे भूल सुधार कर प्रायश्चित्त तक लेने की घोषणा कर चुके, फिर भी दूसरे पक्ष के लोग नहीं आए? इसका क्या कारण है? आचार्य श्री की विद्वत्ता, अनुभव विख्यात है। उनके समक्ष आकर चर्चा चलाना साधारण कार्य नहीं है। पत्रों में लेख लिख देना बात दूसरी है किन्तु समक्ष में पूर्वापर विचार कर प्रश्नों का उत्तर देते समय पता चलता है कि कौन कितने पानी में हैं। आचार्य श्री की दृष्टि यह है, जो सत्य है, वह हमारा है, न कि जो हमारा कथन है वही सत्य है।

सन १९५१ के आश्विन मास में वाराणसी में सजद शब्द के विषय में कई दिन तक सूक्ष्मचर्चा चलती रही। उस समय उपस्थित विद्वान आचार्य श्री की असाधारण विचार शक्ति, धारणाशक्ति, पटुतागम सूत्रों का गम्भीर चिंतन आदि देखकर प्रभावित हुए थे। भाववेद की अपेक्षा सजद शब्द रखना ठीक है ऐसे भाव पक्ष के समर्थक विद्वान पंडित जगमोहनलाल

जी को भी आचार्य जी का युक्तिवाद अनुकूल लगा और उनने आचार्य श्री का समर्थन किया ।

इस चर्चा के विषय में जनसाधारण में यह भ्रम उत्पन्न किया गया है कि भूतबलि पुष्पदन्त स्वामी द्वारा लिखित मूल प्रति के पाठ में परिवर्तन किया जा रहा है । यह बात मिथ्या है । मूलप्रति मिथ्या भ्रम नष्ट हुए एक हजार वर्ष से अधिन हो गए । अभी मूडविद्री में जो प्रति ताड़ पत्र पर लिखित है, वे लगभग चार-पाच सी वर्ष प्राचीन है । उनमें भी अनेक जगह पाठ त्रुटिपूर्ण है । कही न्यून, कही अधिक और कही अशुद्ध पाठ पाया जाता है । ताड़पत्र की प्रति के अनुसार की गई तथा दो विद्वानों द्वारा तुलना की गई महावध की प्रतिलिपि के भीतर अनेक अशुद्धियों का मद्भाव हमें ग्रंथ का अनुवाद तथा संपादन करते समय ज्ञात हुआ ।

यदि प्रतिलिपि में शोधक की विवेक दृष्टि न रखी जाय तो बड़े बड़े संपादक विद्वानों को नियुक्त करने का क्या प्रयोजन रहता है ? 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' की नीति से बड़ा अनर्थ हो जाता है । धवल शास्त्र की आरा की प्रति में तिर्यंचो के 'सजद' शब्द का उल्लेख आया है । तो क्या पशुओं को चौदह गुणम्यान्वर्ती मान लेना होगा ? धवलग्रंथ की अमरावती में मुद्रित प्रति में सम्यक्त्व निर्माण का वर्णन करने वाले १३४ नंबर के सूत्र में क्षायिक सम्यक्त्वी का पाठ नहीं लिखा है—

‘यथा मणुसा असंजद—सम्माइट्टि—सजदासजद—संजदट्टाणे
अत्थि सम्माइट्टि वेदस्—सम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी’

पाँच प्रकाण्ड विद्वानों की तीक्ष्ण दृष्टि से संपादित ग्रंथ के मूल प्रकाशन में त्रुटि हो सकती है, तो ऐसी भूल अन्यत्र हो जाना क्या सम्भव नहीं है ? जब ताड़ पत्र की प्रति में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं, तब सूत्र न० ९३ में सजद शब्द की त्रुटि का होना असम्भव नहीं है ।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठेगा, कि संजद शब्द के मानने में क्या बाधा है ? इस सम्बन्ध में आचार्य महाराज ने सूक्ष्म विचार किया । वहाँ चिन्तन किया है । अनेकों रात्रियाँ इस विचार में निमग्न हो निद्रा हीन व्यतीत की है । उनका कथन है कि “पट्खडागम के सूत्रों में

द्रव्य तथा भावका वर्णन है । एकेन्द्रियो का कथन दो, तीन आदि इन्द्रिय वाले जीवों का कथन है । जब इनका कथन है, तब द्रव्य स्त्री का कथन कर्मेवाला सूत्र बताओ । तीर्थंकर की माता सदृश स्त्रियो का वर्णन ग्रन्थभूल जाय और निर्गोदराशितक का कथन करें, यह बात सम्भवनीय नहीं है । यदि ग्रन्थ में द्रव्य स्त्री का वर्णन वही और आया होना, तो ९३ में विवाद ही नहीं होता । वही महत्त्व का सूत्र है, जिसमें द्रव्य का कथन है । टीकाकार वीरसेन स्वामी ने द्रव्य भाव का वर्णन अपनी टीका में किया है, इससे उनके कथन के विषय में भ्रम नहीं रहता, किन्तु मूत्रकार के शब्दों में द्रव्यस्त्री का कथन यदि न माना जाय तो ग्रन्थकारका अपूर्ण वर्णन कहा जायगा और यदि द्रव्य स्त्री का कथन मानते हों, तो सजद शब्द का सद्भाव मानना दिग्गम्बर सत्सृष्टि के प्रति बूल है । स्त्री के दिग्गम्बरत्व नहीं होता है फिर भी द्रव्य स्त्री के सत्यतपना माना जाय, तो सबस्य मुक्ति माननी पड़ेगी । इसमें दिग्गम्बर धर्म का लोप हो जाता है ।

तर्क की अपेक्षा यह भी कहा जाय, कि ९३ नम्बर के सूत्र से सजद शब्द नहीं निकालना था, कारण वहा भाव की अपेक्षा वर्णन था, 'तो कोई विशेष तत्त्व का घात नहीं होता कारण भाव स्त्री के चौदह गुणस्थानों का वर्णन अनेक जगह आ गया है । अतः सिद्धांत का जरा भी लोप नहीं होता है । यदि दीर्घ है, तो रचना है, किन्तु यदि वह वर्णन द्रव्य की अपेक्षा कहा और वहा सजद शब्द नहीं होना था, किन्तु प्रतिलिपिकार के प्रमादवश वह आ गया और विद्वान् सशोधको ने भी उसे रख दिया, तो गर्दन कटने सदृश बात हो गई, कारण मूलमूत्रकार की दृष्टि में द्रव्य स्त्री को निर्वाण मानना होगा, ऐसा होने से सत्यधर्म का लोप हो जायगा ।

अतएव यह विषय साधारण नहीं है । उस पर सम्स्कृति के जीवन मरण की बात निर्भर है ।

इस विषय में हमने विशेष प्रकाश 'सिद्धांतिक चर्चा' नामक दि० जैन समाज बम्बई की ओर से प्रकाशित पुस्तक में "आचार्य महाराज के आदेश पर एक दृष्टि" निबन्ध में की है । अतएव उस पर विशेष विवेचन यहां करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है ।

हमारी दृष्टि से आचार्य महाराज का निर्णय मूलसूत्रकार के कथन

आवश्यक था, कारण कैयली के समुद्रात काल में अपर्याप्तपना भी पाया जाता है। इस का उल्लेख नहीं होना भी इस बात का निश्चायक है, कि यह प्रकरण द्रव्यस्त्री का ही है। आचार्य महाराज के द्वारा जैसे हरिजन मंदिर प्रवेश संबंधी भ्रम दूर हुआ, संजद शब्द के विषय में प्रकाश प्राप्त हुआ, इसी प्रकार और भी बातों पर महत्त्वपूर्ण समाधान प्राप्त होता है।

एक दिन आचार्य महाराज कहते थे, “अब हमारी निद्रा बहुत कम हो गई है।”

मैंने पूछा महाराज— “तब आप क्या करते हैं।”

महाराज ने कहा—“हम तत्त्वों का विचार करते हैं। या जाप करते हैं। उनसे यह भी कहा था कि “जब लम्बे उपवास करते हैं, तब तत्त्व महाराज की जाप चिंतन में चित्त बहुत लगता है।” महाराज ने कहा था का ध्येय? “हम जाप अपने रोग दूर करने की नहीं करते हैं। रोग शरीर में है। शरीर हमारा नहीं है, अतः रोग की क्या चिंता करना?”

महाराज ने कहा—“यह शरीर ही रोगमय है, शास्त्रों में एक कथा आई है। एक मुनि के शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न हो गया था, इससे असह्य दुर्गन्ध निकला करती थी। उस समय एक विद्याधर दंपति का वहाँ आना हुआ, विद्याधर ने मुनि शरीर पर अत्यंत सुवास सपन्न केशर का लेप करके अपने इष्ट को प्रस्थान किया।

वापिस लौटते समय उनके मन में मुनिराज के पुनः दर्शन की लालसा उत्पन्न हुई, तो यहाँ अद्भुत दृश्य देखते हैं। उस सुवास के कारण अनेक भ्रमरों ने आकर शरीर को बहुत पीड़ा पहुँचाई। अतः उन्होंने केशर की राशि बाहर एक जगह डाल दी, इससे भ्रमर पकित वहाँ गुँजार करने लगे; इस प्रकार उनका उपसर्ग दूर हुआ और तत्काल वे केवलज्ञानी बन गए।”

मन्त्रकृत्व के अंगों का सद्भाव आचार्य महाराज का जीवन लोकोत्तर है। निकट से निरीक्षण करने पर सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का अस्तित्व सुस्पष्ट रूप से उनके जीवन में दिखाई जाता है। निःशंकित अंग तो स्पष्ट है। जितेन्द्र के कथन में न तो रचमान सदेह है और न किसी प्रकार का भय विद्यमान है आकाशा भी नाम निशान नहीं

हैं। श्रद्धा को विचलित करने के अनेक प्रसंग आए, किन्तु उनकी दृष्टि अमूढता से अलंकृत रहो है। जुगुप्सा ग्लानि का भी उनमें दर्शन नहीं होता है।

सुन्दर वस्तु में अनुरक्त नहीं, असुन्दर वीभत्स पदार्थ में ग्लानि नहीं। उनकी संतुलित दृष्टि पुगल के परिणमनो को देखती हुई राग तथा द्वेष की विकृति-विमुक्त दिखती है।

एक दिन वारामती में जाकर मैंने देवा महाराज-जैसे हैं। एक बच्चे ने पास की भूमि को ही गदा बर दिया है। मैं पास से जरा दूर सरक गया। मेरे मन में तो ग्लानि का भाव जगा, किन्तु आचार्य महाराज ने उस पर ध्यान नहीं दिया और न ग्लानि ही प्रदर्शित की। स्थान तो तत्काल ही स्वच्छ कर दिया गया, किन्तु इस प्रसंग ने निर्विचिकित्सा अग वा प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

साधनियों पर अपार वात्सल्य है। दूसरे के दुःख दूर करने को वे एक क्षण भी नहीं करते हैं। दया का अधग भंडार उनके पास है।

धर्म प्रभावना की तो वे साक्षात् मूर्ति हैं। सिंह निःश्रोणित सदृश तपस्वियों द्वारा उनसे कितनी प्रभावना की थी, कि उमें देख लोगों को ऐसा लगता था कि मानो महाराज के जीवन में चतुर्थ वाली न भगल प्रवृत्तिया तथा अद्भुत शक्तिया चिद्यमान हैं। कितने धर्म के महोत्सव इन विभूति के साधुत्व अंगीकार करने के अनंतर हुए, इसकी गणना करना बठिन है। उनकी साक्षात् मूर्ति की बात दूसरी; उनकी सौम्य मुद्रा युवत चित्र के दर्शन से बड़े बड़े लोगों का मन उनकी ओर खिंचता है, तथा हृदय उनकी अभिवदना करता है।

महान प्रभावपूर्ण जीवन सन १९५० के भाद्रपद में मैंने देखा, कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य तथा भारत सरकार के मंत्री श्री गुलजारीलाल नंदा महाराज की सेवा में आए। अत्यन्त भक्ति से प्रणाम किया। आन्तरिक समाधान को प्राप्त कर चले गए। बम्बई सरकार के अर्थमंत्री स्व० दीवान बहादुर ए० वी० लट्टे एक बार महाराज की सेवा में आए। उनके जीवन में गंभीर विचार उत्पन्न हुए और उनसे पंच अनुव्रत ग्रहण कर महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया।

जयपुर चातुर्मास के समय एक मजिस्ट्रेट ने आकर आचार्य महाराज से पंचम, प्रतिमा के व्रत लिए थे। उनको धर्म पत्नी ने भी संयम धर्म



लेखक द्वारा संपादित तथा अनुवादित प्राकृत का प्राचीनतम दिगवर जैन कर्म साहित्य का महान ग्रंथ 'महाधवल' का आचार्य श्री को समर्पण का दृश्य (सोलापुर में) ।

धारण करने में पतिदेव का अनुकरण किया। अजमेर के ट्रेंजरी आफीसर बाबू मागीलालजी दोशी ने सातवीं ब्रम्हचर्य प्रतिमाली थी महाराज के पास से क्षुल्लक ऐलक बनने वाले मुनिपद को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति पहले भी अपना असाधारण प्रभाव रखते थे। इस तरह आचार्य श्री तथा उनके जीवन द्वारा धर्म की अद्भुत प्रभावना तथा जागृति हुई है। यदि बाध्यात्मिक वह कहा जाय, कि लोगो ने ऐसी प्रभावना करने वाली कलाकार दूसरी आत्मा न देखी और न सुनी तो तनिक भी अत्युक्ति नहीं होगी।

सयम से गिरते हुए व्यक्ति को किस प्रकार धर्म में स्थित करना, यह कला तो सच्चे कलाकार इन गुरुचरणों में ही सीखी जा सकती है। आज के युग में किसीमें थोड़ा सा दोष देखा तो अलवारों में लेप द्वारा महा ढोल बजने लगता है। कई पत्र वाले ताजे समाचार जानकर उसको स्थान देते हैं, कई संपादक संयम से ऐसा ही बैरभाव रखते हैं, जैसे व्याघ्र गोबरा से। अतः वे उनमें भसाला लगाकर समाचार प्रवाहित करते हैं, किन्तु आचार्य महाराज अपने प्रेममय शासन द्वारा कुपथ जाने वालों को धर्म मार्ग में स्थिर करते हैं। उनके विशाल संघ में विलक्षण प्रकृति के कोई कोई व्यक्ति थे, जब तक वे संघ में रहे तब समाज में कमी नहीं रही। इनका साथ छोड़ते ही अन्यथा परिणाम हुआ।

जीवन में भूल देखकर उपगूहन अग पालन करते हुए उस जीव का कल्याण करने में भी आचार्य महाराज का असाधारण स्थान है। किसी साधु में जरा सा दोष दिखा, कि हमारे मन में उमक। हल्ला मचाने का शोक पैदा हो जाता है। आचार्य महाराज की पद्धति भिन्न है। सदाचार में शिथिलता देख आज जो समाज में ढोल पीटने की जीवित धर्मरूप प्रवृत्ति है वह ठीक नहीं है। आचार्य महाराज एक दिन कहते थे —“भूट साधु को एकान्त में समझाना। शान्तता पूर्वक समझाने पर भी वह न माने तो उसकी भक्ति करना छोड़ दो, किन्तु इसका आदोलन नहीं करना। ऐसा करने से सम्मत्त्य की हानि होती है, उपगहन अग नहीं पलता है।” उनके पास जाने पर ऐसा लगता है, मानों हम जीवित जिनधर्म के शरण में पहुंच गए हैं।

एक बार रोडवाले में आचार्य महाराज के मुख से सम्मत्दर्शन का

इस कथा में यह रहस्य है, कि जब तक ससार निवट नहीं रहता, तब तक विवेक का भाव नहीं जागता है।”

स्वामिकांतिकेयानुपेक्षा में लिखा है—

नर, तिर्यंच, देव, नारकी इन चारों गति वाला, भव्य, संजी सुविशुद्ध, जागृत, पर्याप्तक तथा ससार के तट के निकट वाला जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । मरीचिकुमार का ससार तट निकट नहीं आया था, इससे धर्मतीर्थकर आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर सदृश तत्त्वज्ञानी के सस्कार संस्कृत गृह में जन्मधारण करते हुए भी उस जीव को बोधि का लाभ न हुआ, और संसार का तट निकट आ जाने पर क्रूरता की मूर्ति मृगेन्द्र बनने पर वह दया का सागर बन गया और उसने महावीर बनने का पराक्रम प्रारम्भ करके कुछ ही भवों में महति महावीर वर्धमान की महिमा को प्राप्त किया, जिनके पुण्य तीर्थ की छाया में आज सभी लोग विद्यमान हैं । ससार से निकलने की समीपता यदि कुछ कम हो, तो जीव के हाथ में आया हुआ सम्यक्त्व रत्न भी छूट जाता है । ऐसे अवसर एक दो चार बार नहीं आते, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व असह्य बार तक आते हैं, अपनी ज्योति दिखाते हैं और फिर छोड़कर चले जाते हैं । कार्तिकेय स्वामी ने कहा है—यह जीव अधिक से अधिक असह्य बार तक उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व, अनतानुबन्धी कषाय के विनाश तथा देशव्रत को प्राप्त करके छोड़ दिया करता है । सम्यक्त्व के साथ जब तक चारित्र्य का पूर्ण योग नहीं होता है, तब तक जीव को निःश्रेयस का लाभ नहीं होता है ।

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था “महाराज ! आज लोग चारित्र्य को व्यर्थ की वस्तु सोचकर सम्यक्त्व को ही सार रूप बताते हैं । मोक्ष का उपाय क्या है ?”

महाराज ने “कहा सम्यक्त्व के होते हुए भी जीव मोक्ष नहीं पाता है । ज्ञान की स्थिति निराली है ।

‘वह तो गया गए गंगादास, जमना गए जमनादास’ के समान श्रद्धा के अनुसार अपना रंग पलटता है । वही ज्ञान सम्यक श्रद्धा सहित सम्यक्ज्ञान हो जाता है, और उसके अभाव में वही ज्ञान मिथ्या हो जाता है । इसलिए ज्ञान का भी मूल्य नहीं है ।

१ गिण्हदि मुचिदि जीवो वे सम्मत्ते असखवाराओ ।

पढमकसायविणास देसवय कुणइ उक्किट्टु ॥

सम्पत्त्व पर
प्रकाश

अनुभूति पुरस्तर बड़ा मार्मिक और अत्यन्त सुन्दर विवेचन सुना था। महाराज ने कहा था—“जब तक जीव का ससार तट निकट नहीं आता है तब तक वह आत्मा के हित में प्रवृत्त नहीं होता है। ससार के निकट आते ही वह मोक्षमार्ग में लग जाता है। आसन्न भव्यता ससार से छूटने में बड़ा कारण है। महाराज ने इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाई थी। एक वैश्य पुत्र एक श्रेष्ठि कन्या पर आसक्त हो गया। कमाई करने के हेतु वह वैश्य पुत्र विदेश गया। उस समय यह बात निश्चित हुई थी, कि यदि वह बारह वर्ष के भीतर वापिस आ जायगा तो उस श्रेष्ठि कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया जायगा, अन्यथा नहीं।

कुछ ऐसी विषम परिस्थिति आ गई कि बारह वर्ष के भीतर वह न लौट सका। इसलिए वह कन्या दूसरे व्यक्ति से विवाही गई। पश्चात् प्रवासी वणिक् आया। उसे बड़ी निराशा हुई, तथा भयकर विद्वेष अग्नि उसके अतःकरण को जलाने लगी। एक दिन उसने द्वेष वश उस दम्पति को मार डाला। रागवश जो कन्या उसकी आसक्ति तथा ममता का केन्द्र थी, वही उसकी द्वेषाग्नि का निशान बनी। भावों का विचित्र परिणमन होता है। वे स्त्री और पुरुष मर कर जन्मान्तर में पति पत्नी होते रहे तथा एक बार वे देव पर्याप में पहुँचे। इस वणिक् पुत्र ने मरण कर पीछा किया, और प्रत्येक पर्याप में पूर्व वैर के कारण विनाश का कार्य करता रहा। इस जीव ने एक बार सत्समागम को प्राप्त कर महाव्रत धारण किया। घोर तप किया। एक बार इन मुनिराज के दर्शन की वे देव देवी आए। मुनिराज को पूर्व वैर विरोध की बात स्मरण कराई, तो इन मुनीश्वर ने उस दुष्कृत्य के प्रति खेद भाव व्यक्त किया। इसके अनन्तर उन दोनों सुरदंपति ने पुनः प्रश्न किया “भगवान्! यदि वे विरोधी जीव आपके समीप आ जावे, तो आप क्या करेंगे?” मुनिराज ने कहा—“हम उनसे क्षमा माँगेंगे।” उनने कहा “हे स्वामिन्! वे जीव और कोई नहीं, हम ही हैं, तब मुनिराज ने उनसे अपने अपराधों की क्षमा माँगी। अब वे शल्य रहित हो गए। उनने घोर तपस्या की और मोक्ष पदवी प्राप्त की।

१ चतुर्गदि भव्यो सण्णी सुविमुद्धो जगमाणा पञ्जतो ।

ससारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत ॥३०७॥

इस यथा मे यह रहस्य है, कि जब तक संसार निकट नहीं रहता, तब तक विवेक का भाव नहीं जागता है।”

स्वामिकांतिकेयानुपेक्षा में लिखा है—

नर, तिर्यंच, देव, नारकी इन चारों गति वाला, भव्य, संजी सुविशुद्ध, जागृत, पर्याप्तक तथा संसार के तट के निकट वाला जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । मरीचिकुमार का संसार तट निकट नहीं आया था, इससे धर्मतीर्थंकर आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर सवृक्ष तत्त्वज्ञानी के संस्कार संस्कृत गृह में जन्मधारण करते हुए भी उस जीव को बोधि का लाभ न हुआ; और संसार का तट निकट आ जाने पर क्रूरता की मूर्ति मृगेन्द्र बनने पर वह दया का सागर बन गया और उसने महावीर बनने का पराक्रम प्रारम्भ करके कुछ ही भवों में महति महावीर वर्षमान की महिमा को प्राप्त किया, जिनके पुण्य तीर्थ की छाया में आज सभी लोग विद्यमान हैं । संसार से निकलने की समीपता यदि कुछ कम हो, तो जीव के हाथ में आया हुआ सम्यक्त्व रत्न भी छूट जाता है । ऐसे अवसर एक दो चार बार नहीं आते, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व असंख्य बार तक आते हैं, अपनी ज्योति दिखते हैं और फिर छोड़कर चले जाते हैं । कांतिकेय स्वामी ने कहा है—यह जीव अधिक से अधिक असंख्यात बार तक उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व, अनंतानुबन्धी कषाय के विनाश तथा देशव्रत को प्राप्त करके छोड़ दिया करता है।^१ सम्यक्त्व के साथ जब तक चारित्र्य का पूर्ण योग नहीं होता है, तब तक जीव को निःश्रेयस का लाभ नहीं होता है ।

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था “महाराज ! आज लोग चारित्र्य की व्यर्थ की वस्तु सोचकर सम्यक्त्व को ही सार रूप बताते हैं । मोक्ष का उपाय क्या है ?

महाराज ने “कहा सम्यक्त्व के होते हुए भी जीव मोक्ष नहीं पाता है । ज्ञान की स्थिति निरासी है ।

‘वह तो गया गए गयादास, जमना गए जमनादास’ के समान श्रद्धा के अनुसार अपना रंग पलटता है । वही ज्ञान सम्यक श्रद्धा सहित सम्यक्ज्ञान हो जाता है, और उसके अभाव में वही ज्ञान मिथ्या हो जाता है । इसलिए ज्ञान का भी मूल्य नहीं है ।

१ गिण्टि मूचदि जीवो वे सम्मत्ते असख्वाराओ ।

पडमकतायविणासं देसवयं कुणइ उक्किट्ठं ॥

मैंने कहा—“तब फिर मूल्य किसका है ?”

महाराज ने कहा—“मूल्य है सम्यक्चारित्र्य का । सम्यक्चा होने पर निमित्त से मोक्ष होता है ।

मैंने कहा—“महाराज ! आपका उत्तर बड़ा मामूली है । व सम्यक् शब्द युक्त चारित्र्य को पकड़कर सम्यक्त्व को भी बुला लिया व सम्यक्त्व के होने से उसका अभिन्न हृदय मित्र संपर्क ज्ञान भी आ गया

महाराज ने कहा—“सम्यक्त्व और चारित्र्य का घनिष्ठ सम्बन्ध सम्यक्चारित्र्य का तब एव की ही प्रशंसा क्यों की जाती है । सम्यक्त्व मूल्यांकन अभाव में भी साक्षात्त गुणस्थानवर्ती जीव न

गति में क्यों नहीं जाता है ? इसका कारण यह कि उसके पास कुछ चारित्र्य है ।”

यहाँ आचार्य श्री की दृष्टि यह है कि सम्यक्त्व के होने पर अन नुसंधी नामक चारित्र्य मोक्षनीय कर्मों के अभाव से स्वरूपाचरण चारित्र्य होता अतः चारित्र्य सम्यक्त्व का साथी है । सम्यक्त्व नष्ट हो गया, फिर भी चारित्र्य का कुछ स्वरूप है, जो साक्षात्त गुण स्थानवर्ती जीव के नरक के बंधको रोकता है । सब के लिए कारण रूप सम्यक्त्व के अभाव चारित्र्याश के सिवाय और क्या कारण होगा ?

“सम्यक्त्व की प्राप्ति देव के अधीन है, चारित्र्य पुरुषार्थ के अध है ।” यह कहते हुए आचार्य महागुरु ने कहा, — “उपादान सम्य है और उसका निमित्त कारण चारित्र्य है । निमित्त भी बलवान है । ५ द्रव्यालिंगी मुनि मरकर देव पर्याय में गया, वहाँ से समस्त शरण में जा वह सम्यक्त्वी बन जाता है । उनका यह कथन महत्त्व था था, “भाव के सिवाय नहीं होता, यद्यपि भाव लिंग के बिना साक्ष नहीं है ।”

सम्यक्त्व की प्राप्ति देव के अधीन है यह बात किस अपेक्षा से व गई यह विचारणीय है । जब पुरुष शब्द आत्मा का पर्यायवाची है व

उस आत्मा की दृढ़ अवस्था की प्राप्ति मोक्ष पुरुष क्यों सम्यक्त्व है, तब सम्यग्दर्शन को पुरुषार्थ मानना चाहिए, २ देवामीन है ? कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य :

मोक्ष है । मोक्ष पुरुषार्थ है, अतः रत्नत्रय भी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं । दृष्टि से जब सम्यग्दर्शन पुरुषार्थ सिद्ध होता है तब उस देव के अधीन व कहा जायगा यह समस्या विचारणीय है ?

जिनागम के परिशीलन से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व की उपलब्धि बुद्धि-पूर्वक पुरुष प्रयत्न के साथ अन्वय-व्यतिरेकता नहीं रखती है। यथासंभव सब उपायों के करते हुए भी द्रव्य लिप्ता मुनि उस सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त कर पाता है और दूसरा जीव बिना प्रयत्न किए कर्म के विशेष क्षयोपशम से नित्य-निर्गोद की विकास बिहीन स्थिति से निकलकर मनुष्य पर्याय पाता है; आठ वर्ष अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्वी बनकर सकल संयमी हो केवली बन निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। उस जीव के बुद्धिपूर्वक पीरूप के बिना ही संसार भ्रमण समीप आ जाने से सब बातों की अनुकूलता हो जाती है। जबतक संसार सिंधु का तट समीप नहीं आया है, तब तक संतरण निमित्त हस्त-चरण संचालन से क्या इष्ट सिद्ध होगी ? इसी लिए आसन्नभव्यता को सम्यक्त्व का विशिष्ट कारण कहा गया है। आचार्य सोमदेव सूरिने यशस्तिलक में लिखा है:-

“आसन्नभव्यता-कर्म-हानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः ।

सम्यक्त्व हेतुरन्तर्बाह्योप्युपदेशकादिश्च ॥”

आसन्न अर्थात् निकट भव्यपना, कर्म की विशेष निर्जरा, संशीपना, शुद्ध परिणाम ये सम्यक्त्व के अंतरंग कारण है तथा बाह्य कारण उपदेशादिक है।

अकलंक स्वामी का कथन है “अनादि मिथ्यात्वी जीव काललब्धि आदि के द्वारा सम्यक्त्वघातक कर्म पुंज का उपसमन करता है। यह सम्यक्त्व उसे ही प्राप्त होता है, जिसके पंचपर्यायवर्तेन रूप संसार में अर्ध पुद्गल परावर्तन रूप परिभ्रमण का काल शेष रह गया है। दूसरी बात कर्मों की स्थिति के सम्बन्ध में है। जिसके आगामी बंधने वाले कर्म अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण स्थिति से अधिक नहीं बन्धते है तथा पूर्ववृद्ध कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर न्यून अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होती है। उसके ही सम्यक्त्व हो सकता है इस प्रकार की आंतरिक सामग्री की उपलब्धि बुद्धिपूर्वक पुरुष प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं होती। सातवें नरक का नारकी जीव अन्तरंगसामग्री की अनुकूलता तथा वेदनाभिभव रूप निमित्त द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। वहा कौन सा बुद्धि पूर्वक प्रयत्न-पुरुषार्थ उस जीव के होता है ? अवस्था विशेष में जीव के भावों का तद्रूप परिणमन होता है। जैसे एक विद्वान ने कहा है कि माता के साथ शृंगार रस के गीत बालिका भी गाती है, किन्तु उसे वह स्वाद नहीं प्राप्त होता है, जो वयस्क हो जाने वाली

माता को प्राप्त होता है । उसकी अवस्था अभी बली रूप में है वह कली जल विकसित हो जाती है, तब उसे भी उन गीता से रागात्मक रस मिलने लगता है । इसी प्रकार ससार सिंधु के तट की समीपता आने पर जीव को आत्म-वल्याण की दाता में रस आने लगता है । वह रस का उद्गम अवस्था विशेष जन्य है, इसी प्रकार आत्म तत्त्व में रुचि होकर सच्चा रस तब आता है, जब बर्मादय की मदता होती है, तथा अन्य प्रकार की अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है । इस सामग्री की अनुकूलता को ही दैव की कृति कहा गया है । कारण यह बुद्धि पूर्वक लिए गए पुरुष प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं है । पुराकृत कर्म को दैव कहते हैं ।

प्राकृतन कर्म की अनुकूलता आज के पौरुष के आधीन कैसे कही जा सकती है ? इसी से सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए दैव अर्थात् पूर्व कर्मोदय का अनुकूलता आवश्यक है । यदि पूर्व कर्मोदय वश जीव असन्ती पर्याप्त में है, तो वह अभी भी सम्यक्त्व का नहीं प्राप्त कर सकेगा । यदि उसके अपर्याप्त नाम कर्म का उदय है, तो भी वह उस निधि को प्राप्त नहीं कर सकेगा । सन्तीपना, पर्याप्तपना आदि कर्मोदय के आधीन है । कर्मों का अनुकूल उदय तथा विशिष्ट रूप से शयोपशम होने से आत्मविकास की योग्य वेला आती है । इस कर्म की अनुकूलता से पूर्ण-तया निरपेक्ष पुरुषार्थ इष्टसाध्यक नहीं होता है । पचाध्यायी का वचन बड़ा मार्मिक है । देवसे कालादि की सलब्धि होने पर, ससार सिंधु के समीप आने पर या, भव्य-भाव के विपाक होने पर जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति में दैव-प्राकृतन कर्म की अनुकूलता कारण है । जिनके मन में यह सदेह रहा ही, कि हमारे पौरुष से-बुद्धि पूर्वक प्रयत्न से सम्यक्त्व होता है, इसमें दैव का रुचि नहीं होता, उनका समाधान पचाध्यायी के इन शब्दों से हुए बिना न रहेगा "प्रयत्न मत्तरेणापि दुष्-मोहोपशमो भवेत् ॥" ३७९-बिना प्रयत्न के दर्शन मोहनीय का जीवके उपशम होता है । आत्मा की क्या कहना श्रुतका अभ्यास करना, गुरुका सानिध्य मिलना, जिनविषय का दर्शन आदि सम्यक्त्व के निमित्त है, किन्तु अंतरंग में कर्म की अनुकूलता आवश्यक है । ससार के जीव सम

१ देवात्कालादि सलब्धी प्रत्यासत्ते भवार्णवे ।

भव्यभाव विपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३७८ ॥

नस्क होने पर मनोयोग पूर्वक काम करते हैं, ऐसे मनोयोग पूर्वक कार्य करने से भी सम्यक्त्व प्राप्ति का निश्चय नहीं होता है । जैसे बिजली की बटन दबाते ही प्रकाश होता है, इसी प्रकार प्रयत्न करते ही सम्यक्त्व का प्रकाश नहीं मिलता है । जिस जीव का संसार परिभ्रमण पूर्ण हो चला है, उसके अंधकारमय मोही जीवन में स्वयं आत्म प्रकाश का दर्शन होने लगता है, जैसे प्रभात में सूर्योदय के समय समीप आने पर अंधकार स्वयं दूर होने लगता है । सम्यक्त्व की निधि पाने के पश्चात् भी मोक्ष मार्ग में उन्नति के लिए दैव की अनुकूलता आवश्यक पड़ती है । जैसे सम्यक्त्व होने पर भी महाव्रत को धारण करने के लिए पुरुष पर्याय तथा ण्ड-शुद्धि की आवश्यकता पड़ती है ।

वैसे प्रत्याख्यानावरण कपाय के अनुदय होने पर ही महाव्रत रूप आत्म-विशुद्धि प्राप्त होती है किन्तु इस कपाय के उदयभाव के लिये द्रव्य पुरुष वेदी रूप सामग्री का होना आवश्यक है । उच्च कुल में जन्म लेना भी आवश्यक है । यह सामग्री पूर्व कर्म के अधीन है । आज का पुरुष आगामी दैव का रूप धारण करता है । अतएव सम्यक्त्व की उपलब्धि में आचार्य शान्तिसागर महाराज ने जो दैव को कारण बताया था, वह युवित, अनुभव तथा वागम से समर्थित है ।

समय की पौरुष— इस सम्बन्ध में यह बात विशेष विचारणीय है । सम्यक्त्व तो दैवाधीन है और चारित्र्य पुरुषार्थ के अधीन है । इस साध्यता सिद्धान्त के विपरीत यदि सम्यक्त्व को पौरुष के अधीन मानकर प्रयत्न किया जाय, और चारित्र्य को पुरुषार्थ के अधीन न मानकर दैव के आश्रित छोड़ दिया जाय, तो इसका ऐसा ही विपरीत फल होगा, जैसे शरीर में लगाने के विष को पी लिया जाय, और पीने की औषधिका शरीर में लेकर दिया जाय । इससे जैसे नौरोगता का लाभ न हो, उल्टे संकट की वृद्धि होती है, इसी प्रकार प्रयत्न-साध्य संघम को स्वयं प्राप्तव्य समझ उसके विषय में परवाह नहीं करने से और अपने पौरुष की पहुँच के परे सम्यक्त्व के लिए प्रयत्न करने वाले व्यक्ति का वास्तविक बलयाण नहीं होता है । निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के पीछे जानेवाले की कामना कैसे पूर्ण होगी ? अतः पौरुष-साध्य संघम तथा व्रताचरण के विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

संघम रूपी धृष्ट मानव जीवन रूपी भूमि में ही लगता है ।

अन्य पदार्थों में वह वृक्ष जमता ही नहीं है। मनुष्य-भय की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, अतः उसे प्राप्त करके उसका सार व्रत धारण करना श्रेयस्कर है। चारित्र्य के उन्मुख होने से जीव विषय भोगों के विमुख स्वयं बनता है, इसके विषयों की लंपटता दूर होती है तथा जीव ऐसे दैव का निर्माण करता है, ऐसा भाग्य बनाता है—जिससे इसे सुख और शांति का लाभ सदा हो।

दैव कोई आनाश से टपकने वाली वस्तु नहीं है। आज पौरुष द्वारा किया गया जो कार्य है, उससे कर्मों का बंध होता है, आगामी जीवन में आज के पौरुष का फल दैव संज्ञा को प्राप्त करता है। आज समुद्र में पड़ती हुई सूर्य की उष्ण किरणें उस जल को वाष्प रूप में बदलकर फल मेघ संज्ञा को प्राप्त कराती हैं, वस्तुतः जल ही मेघरूप परिणत हुआ है, इसी प्रकार आज का बुद्धिपूर्वक किया गया हमारा कार्य आगे जाकर उदयकाल में दैव रूप से कहा जाता है। अतः हमारे पौरुष की पहुँच के परे रहनेवाले सम्यक्त्व के पीछे दोड़ना ऐसा ही है, जैसे नाभि में कस्तूरी को न जानने वाले हरिण का मुवाच के मूल स्रोत के अन्वेषण निमित्त आसपास खोज का कार्य करना है। यदि सम्यक्त्व ऐसी अद्भुत निधि न होती, तो बुद्धिजीवी विद्वान् जैसे विश्व-विद्यालयों से घडाघड उत्तीर्ण हो प्रमाण पत्र प्राप्त करते हैं, वैसे ही अध्यात्म चर्चा में दक्षता प्राप्त कर तथा अध्यात्म ग्रंथों को कण्ठ करके न जाने कितने जीव सम्यक्त्व की डिगरी पा लेते, किन्तु उसकी डिगरी ऐसी सरल नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्म कल्याण के लिए शुभोपयोग के साधन में जीव की प्रवृत्ति आवश्यक है। इस मार्ग पर गए बिना साधारण जीव का कल्याण नहीं हो सकता है।

शुभोपयोग के लिए बाह्य वातावरण तथा अन्य साधनों का महत्व नहीं भुलाया जा सकता है। इस विषय के कुछ उदाहरण अपवाद, रूप में उपस्थित किए जा सकते हैं किन्तु वे अत्यन्त अल्प संख्या वाले होंगे। अधिकतर ऐसा ही अनुभव मिलेगा, जिससे निमित्त-कारण की आवश्यकता को स्वीकार करना पड़ेगा। निमित्त का एकान्त पक्ष योग्य नहीं है।

अध्यात्म-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है “परिणामों की निमूलता के लिए हिंसा के आपतनों-निमित्तों को दूर करना चाहिए।” यदि निमित्त कुछ कार्य न करता, तो ऐसा कथन क्यों किया गया? यदि निमित्त कुछ नहीं करता है, तो जीवकर प्रकृति के बंध के लिए भावों को

ही कारण कह देते, केवली अथवा श्रुतकेवली का सानिध्य तथा नरत्व की आवश्यकता क्यों कही गई है ? इसीसे आचार्य शातिसागर महाराज ने कहा था "निमित्त का एकांत मिथ्यात्व है। निमित्त पुष्प के सदृश है, वह फल को प्राप्त करा देता है।" यदि अकार्यकारी निमित्त को मान उसका आश्रय लिया जाता है, तो आकाश कुसुम का भी अवलम्बन मानना होगा, वह भी अकार्यकारी है।

स्वामी समंतभद्र ने निमित्त तथा उपादान कारणों की पूर्णता को ही कार्य का जनक बताया है। उपादान शक्ति तो सदा वस्तु में विद्यमान रहती है, योग्य निमित्त उस शक्ति को व्यक्त करने में योगदान करता है। सुवर्ण पिण्ड में कुंडल केपूर आदि रूप परिणमन करने की सामर्थ्य है। जब स्वर्णकार तथा यंत्रादि का निमित्त मिलता है, तब निमित्त-उपादान योग द्वारा इष्ट रूप सुवर्ण का परिणमन होता है। देखिए समंतभद्र स्वामी क्या कहते हैं—
"यद्वस्तु बाह्य गुण-दोष सूतेनिमित्तम्"—५९—बाह्य पदार्थ गुण-दोषों की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

"हे जिनेंद्र ! आपके मत में कार्य के विषय में यह उपादान कारण तथा सहकारी कारण की संपूर्णता ही द्रव्यगत स्वभाव है। यदि निमित्त तथा उपादान कारण की पूर्णता न मानी जाय, तो पुष्टियों के मोक्ष की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। अतः इस निमित्त तथा उपादान कारण की उपेक्षिता को घटाने के कारण हे भगवन् ! आप सुधी समाज द्वारा वदनीय है।" (१)

आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है "उपादान कारण सहकारि कारणमपेक्षते, तच्चोपादान कारणम्" (संस्कृत टीका स्वयंमूस्तोत्र पृ. १६२)—उपादान कारण सहकारी कारण की अपेक्षा करता है और सहकारी कारण उपादान कारण की अपेक्षा करता है।? इस प्रकार कार्य की सिद्धि के लिए उपादान और निमित्त की सापेक्षता कारण है। उपादान और निमित्त परस्पर निरपेक्ष होकर इष्ट कार्य को उत्पन्न करने में अतर्क्य रहते हैं।

स्वादाद गंली का शरण हित-प्रद इस प्रकार महान आर्षमार्गी के प्रकाश में भैया भगवती दास के निमित्त-उपादान संवाद का सुसंगत भाव यही होगा, कि इनका एकांत पक्ष तर्क तथा प्रमाण-बाधित

हैं। निमित्त को नमण्य गिनने से विश्व की समस्त तत्त्व व्यवस्था में गड़बड़ी आ जायगी। अतएव यत्न पक्ष को छोड़कर स्याद्वाद गढ़ति का शरण लेना श्रेयस्कर होगा। असली अध्यात्मवाद स्याद्वाद घौली के साथ शत्रुता धारण करेगा यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करना चाहिए। परमागम के प्राण अनेकान्तवाद का वास जहाँ नहीं होगा, वहाँ अध्यात्म विद्या के देवता के स्थान में नबली तत्त्वभक्षी अध्यात्म विद्या नाम की राक्षसी का निवास व्यवहार चारित्र्य मानना होगा, जो जीवों को भ्रम में भुलाकर दुर्गति से बचा लाम? का पात्र बनाती है। इसी कारण आचार्य सातिसागर महाराज व्यवहार चारित्र्य पालन की प्रेरणा करते हैं, क्योंकि इस मार्ग से निश्चय सम्यक्त्व प्राप्ति का सुयोग आता है।

जीव के दुर्गति में पतन में बचाने की शक्ति गृहीत मिथ्यात्व सहित तपस्या तक में पाई जाती है। चौबीस ठाणा चर्चा में लिखा है—“परमहंस नामा परमती सहस्रार, ऊपर नहि गती”—मिथ्यात्व के आराधक परमहंस साधू चारहवें स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं, क्योंकि इंद्रियो का दमन करने से वे पुण्य कर्म का संचय करते हैं; सम्यक्त्व से अभाव में विद्या गया द्रव्यलिंगी मुनि का तप उसे अंतिम गैवेयक तक पहुँचाता है; यदि उस तप के साथ सम्यक्त्व का अमृत सयोग मिल जाय, तो निर्वाण को प्राप्ति करने में देर नहीं लगती है। संयम के धारण करने से जीव नरकादि गतियों में नहीं जाता, भले ही वह संयम सम्यक्त्व रहित क्यों न हो। अतः जब तक जीव को काललब्धि आदि साधन सामग्री नहीं प्राप्त हुई है, तब तक भी संयम का शरण लेना श्रेयस्कर है। ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम, तत्त्व-चर्चा में चतुर्गता की कला की देख सम्यक्त्व प्राप्ति रूप अमृत वेला की कल्पना करना अयोग्य है। ‘तुप-माप-भित्त’ दाल और छिलका जुड़ा है, इसी प्रकार मेरा आत्मा कर्म से पृथक है, इस ज्ञान के द्वारा शिवभूति मुनि ने जीवन को विकसित कर केवली का प्रद प्राप्त कर लिया, और तत्त्वविवेचना में विश्व को चकित करनेवाला प्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी च्यवित, महा पंडित मिथ्यात्व के पंक में ही निमग्न रहा आता है; अतः काललब्धि आई है, या आने को है, इसे सिवाय महान ज्ञानधारी जीव के अन्य नहीं बता सकता है; इसलिए निरापद मार्ग यही है, कि जिनेन्द्रभक्ति, शास्त्राध्ययन, व्रताचरण, एकांत के चक्कर रातूपात्र की समाराधना आदि व्यवहार पर शरण लिया से बचो जाय; इस कल्याणकारी उद्योग में निरत रहने वाला

मानव अतरंग सामग्री का लाभ होने पर निश्चयसः को प्राप्त करता है ।

परमाणु के प्रतिकूल प्रवृत्ति तथा प्रतिपादन में पटु पुरुष पर-प्रतारणा के साथ स्व-प्रतारणा के फलस्वरूप ससार सिन्धु के तल में निमग्न होता है, अतः एकांतवादियों के चक्कर से बचकर आचार्य शांतिसागर महाराज को स्याद्वाद मयी देशना से लाभ लेना मंगलमय है ।

एक दिन मैंने आचार्य महाराज से पूछा—“महाराज ! आज का युग समय साधना के पूर्णतया प्रतिकूल है । जीवन निर्वाह के लिए भोजन की सामग्री तक पाना कठिन हो गया है, इसलिए दो जैन प्रोफेसरो ने पूना में हमसे पूछा था कि आज के युग में हिंसा किए बिना कैसे निर्वाह होगा ? अनाज की उपज कम हो गई है, इसलिये मांस भक्षण को प्रेरणा दिए बिना जीवन मात्रा नहीं बन सकती है । बदर आदि धान्य-घातक जानवरों को मारे बिना अन्य उपाय नहीं है । ऐसे समय में जैन धर्म के अनुसार कैसे लोक हित का संपादन हो सकता है ? राष्ट्र के हित के लिए जीवों का बध करना आवश्यक कर्तव्य हो गया है । इसीसे भारत सरकार बदरों आदि धान्य घातक जानवरों के मारने को उत्साहित करती है ।

‘अहिंसा भवत भारत सरकार का सूचना विभाग बताता है, कि बंबई में भारत सरकार ने १२ लाख रुपये के खर्च से ऐसा कारखाना तैयार किया है कि उसमें प्रतिदिन १५ टन मछलियां जमा की जावेंगी तथा २५० टन मछली अविक्रय समय के लिए सुरक्षित रखी जायेंगी इत्यादि । प्रति दिन लगभग २० टन दर्पण भी तैयार किया जायगा जिससे कि मछलियों को ठंडा करके जमाया जा सके । उस सरकारी सूचना विभाग ने यह भी बताया है कि इससे महिनोत्पन्न मछलियों का रंग, रूप, स्वाद ज्यों का त्यों बना रहेगा । (उद्योग भारती, कलकत्ता दिसम्बर ५१) .

दैनिक समाचार ३ सितम्बर सन १९५१ में अहिंसावादी भारत सरकार की हिंसक प्रवृत्ति के विषय में यह समाचार छपा था, कि वरनाला जिले में जंगली पशुओं की हत्या के हेतु पंजाब सरकार ने दस सामयिक अन्न हजार रुपये के इनाम की घोषणा की है । बदर मारने सत्र में बधा करे पर प्रत्येक बदर पीछे दो रुपये इनाम मिलेगा । प्रमाण के लिए मरे बदरों की पूछे प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश समक्ष पेश करनी होगी । सन १९५० में २७२५१ बदर मारे गए थे । ५०१६ गीदड़ों का नाश किया गया था । इनके नाश का कारण यह

बताया जाता है, कि इनके द्वारा आवश्यक अन्न की क्षति पहुँचती है। भारत सरकार ने मछली मारने के लिए जापान के हिंसक विशेषज्ञों को बुलाकर मछली मारने के कार्य में अपना लम्बा वंदम उठाया है। कैसा अहिंसा भवत शासन है यह? कैसी यह सत्य की समाराधना है?

आचार्य महाराज ने कहा "निरपराध प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए।"

महाराज का अनु-
भव-पूर्ण मार्ग
दर्शन

इस महान पाप से न व्यक्ति पनपता है और न राष्ट्र की ही वास्तविक उन्नति सम्भव है। घेचारे बन्दर आदि निरपराध जीव हैं। वह भय दिखाने से भाग सकता है।

उसका प्राण लेना संकल्पी हिंसा है। वे अपने पेट के योग्य अनाज लेते हैं, उसका मनुष्यों की तरह संधह नहीं करते, उनका घात करने से कभी भी सुख नहीं होगा। खेतों में तीन चतुर्थांश भाग पशुओं का रहता है। आखिर वे प्राणधारी प्राणी किस वस्तु पर जीवित रहेंगे? आज जो उपज एक दर्म कम होने लगी है, इसका कारण यथार्थ में पशु की हिंसा है। उनका नाश होने से उनका भाग कम उत्पन्न होने लगा है। पहले खेतों में जाकर अनाज खाते हुए आनन्द से झूमते २ हरिण आदि पशुओं की आत्मा अपना प्रेममय आशीर्वाद देती थी, इससे एक मन के स्थान में दस मन धान्य होता था।" आचार्य महाराज ने पूछा "क्या पहले भी कभी राजाओं ने आज की तरह बन्दर आदि अन्न खाने वाले जीवों की हत्या का काम करवाया था?" उनने कहा "पहले राजा नीति से शासन करते थे। अनीति तथा अधर्म से राज्य करने वालों का शासन अधिक दिन तक नहीं टिकता है? आज की राजनीति में धर्म अधर्म को एक साथ चलाया जा रहा है। दूध और जहर को एक साथ रखने से दूध भी जहर हो जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अति-लोभ आदि पापों के छुड़ाने से राज्य अच्छी तरह चलता है। सब जीवों का उद्धार करने वाला ही तीर्थंकर भगवान का शासन है, वह किसी भी अवस्था में संकल्पी हिंसा की अनुमति नहीं देता है। पंच पापों का त्याग कराकर तीर्थंकर जग का उद्धार करते हैं।" आचार्य महाराज का दृढ़ विश्वास है कि जीवन वध बन्द करने, से पशुओं का बलिदान रोकने से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ेगी, इतना धान्य होगा कि लोग खा नहीं सकेंगे। जीवों का विनाश जितना अधिक किया जायगा, उतनी ही भूचाल, टिड्डी दल, अति वृष्टि, अनावृष्टि आदि की विपत्ति आयगी।

यदि सूक्ष्मता से पर्यालोचन किया जाय, तो प्रतीत होगा कि अतिवृष्टि अनावृष्टि, भूचाल आदि के कारण ये प्रांत अधिक पीड़ित हुए तथा हो रहे हैं, जहाँ जीव वध तथा क्रूरतापूर्ण कार्यों का नाना नृत्य होता रहा है। आज बंदर आदि निरपराध शाकाहारी जीवों का वध करके भारत शासन ने जितना अनाज बचाया, उससे लाखों गुना धान्य शासन की असावधानी (negligence) से नष्ट हो गया, सब गया और असम वितरण (mal-distribution) द्वारा खराब हुआ है। जिन जीवों का प्रकृति की गोद में पोषण हो रहा था, उन निर्दोश जीवों की हत्या के हेतु सर्व-रक्षक शासन का कसाई या बधिक के समान कार्य करने का परिणाम यह हुआ, कि प्रकृति ने टिड्डी दल भूचाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक अस्त्रों द्वारा ऐसी भीषण बाढ़ि-भाढ़ि की स्थिति उत्पन्न कर दी जिसकी भारतीय मस्तिष्क ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। लोग कहते हैं ठोकर खाने के बाद मूखों की भी बुद्धि ठिठाने आ जाती है, किन्तु आश्चर्य है, कि अहिंसा का दम रखने वाले शासन को उन छाया में हिंसा की वृद्धि द्वारा प्राप्त दुष्परिणाम को देखते हुए भी अहिंसा की आराधना का विचार तक नहीं उत्पन्न होता है ?

वरुणादान जीवों की वृद्धि होने पर प्रेमपूर्ण परमाणुओं की राजि सर्वत्र व्याप्त होकर भूतल के अंश २ में समृद्धि के कणों को भरती है, वह एक कल्याणकारी तथा आनन्ददायी वृत्त (Happy circle) को उत्पन्न करती है, जिससे सर्वत्र समृद्धि का साज मजा हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु क्रूरता, हिंसा, सहार भावना के कारण घातक परमाणुओं का सर्वत्र विस्तार होने से ध्वंस की ही दुखी दुनिया दिखाई पड़ती है। जैसे प्लेग के परमाणुओं से बातावरण के व्याप्त होने से निरोग व्यक्ति भी मृत्यु की गोद में पहुँचने लगते हैं, इसी प्रकार शासन की घातक प्रवृत्तियों और यम को आनदित करने वाली हिंसामयी योजनाओं के द्वारा वनस्पति के कण-कण की उर्वरा शक्ति न्यून होती जाती है। करुणामय शासन की अभयपूर्ण छाया में वनस्पति भी अपने उल्लास से धान्य, फलादि से परिपूर्ण विकास द्वारा आनन्द को अभिव्यक्त करती है।

वरुणा प्रसार की योजना हो जैसे उन्नति की अनेक योजनाएँ बनाई जाती हैं, इसी प्रकार यदि पाँच वर्ष के लिए राष्ट्र के कर्णधार हिंसादि पापाचार के रोकने की योजना को कार्यान्वित करें और रक्त रजित भूतल को करुणा की पुण्य-धारा से धोवें, तो अद्भुत

विमान और अभ्युदय पूर्ण स्थिति का पुनः दर्शन होगा। प्रजा को प्राण देने वाले प्रजापति ने भी यदि वधिका का वेश बना लिया तो, भूमि से समृद्धि के अधिदेवता बूध बर जाते हैं और वह स्थूल चील, गिद्ध आदि मांस भक्षी जीवा के लिये बिहार भूमि बन जाता है। अतएव कैंसी भी कठिन अवस्था आवे, जैन धर्म सक्त्पी हिंसा द्वारा प्राणपोषण के पथ का प्रदर्शन नहीं करेगा। स्वामी समन्तभद्र ने तो यही लिखा है कि यदि ऐमा दुर्भिक्ष आ जाय कि मानव के रूप में जीवन नहीं चल सकता और राक्षस की वृत्ति स्वीकार करना अनिवार्य हो जावे, तो अपने आत्म हितार्थ अहिंसा का पालन करते हुये समाधि मरण स्वीकार कर ला।

नवधा भक्ति का आचार शास्त्र पर आचार्य महाराज का असाधारण अधि-
कारण कारण है, यही कारण है सभी उच्च श्रेणी के विद्वान आचार
शास्त्र की शकाओ का समाधान आचार्य महाराज से प्राप्त करते हैं। आचार्य श्री की सेवा में रहने से अनेक महत्त्व की बातें ज्ञात हुआ करता है। यथा शास्त्र में कथित नवधा-भक्ति के इस सम्बन्ध में आचार्य श्री ने कहा था “नवधा भक्ति अभिमान पोषण के हेतु नहीं है। वह धर्म रक्षण के लिए है। उससे जैनी की परीक्षा होती है। अन्य लोग धोखा नहीं दे सकते हैं।”

क्षुल्लक के सबध में महाराज ने कहा— “वह पाँच घर से भोजन माँग कर ला सकता है और एक घर में बैठकर और वहाँ से ही जल माँगकर भोजन करेगा। क्षुल्लक की प्रदक्षिणा नहीं करना चाहिए। पाद-प्रक्षालन आवश्यक नहीं है। गंधोदक नहीं लेना चाहिए। क्षुल्लक को समुदाय रूप से अर्घ्य देना चाहिए। वह चार-चार हाथ लम्बे दो बस्त्र रखे, दो लंगोट रखे। यदि माग कर भोजन नहीं करता है, तो दो रुमाल रखना नहीं चाहिए। बर्तन भी न रखे। बर्तन रखता है, तो रुमाल भी रखना चाहिए।”

पढ़ते चातुर्मास सप्तम प्रतिमाधारी भी किया करते थे। अतः हमने महाराज से पूछा कि चातुर्मास के विषय में किस प्रतिमाधारी को आज्ञा है?”

महाराज ने कहा— “८ वी प्रतिमा से चातुर्मास करने की विधि है।”

प्रतिमा-धारियों के विषय में महाराज से यह ज्ञात हुआ कि “चीथी प्रतिमा तक ठंडा जल पीता है, सातवी प्रतिमा तक स्नानादि व्यवहार में शीतल जल को काम में लाता है। व्रत प्रतिमा से छठवी प्रतिमा पर्यन्त दो

बार भोजन तथा अनेकवार जल लेगा। सातवीं प्रतिमा में एक बार भोजन करेगा। सध्या का केवल फलाहार लेवे। पाक्षिक श्रावक रात्रि में जल, ताबूल, औषधि ग्रहण करता है। प्रोषधोपवास अत में जघन्य से एकांतन करे। चावल का पानी लेना आवागमल-निविष्टि है।

एक बार एक सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक को डाक्टर ने विस्तर में उठने की मनाई कर दी थी। सामायिक के समय वे उठ कर आसन पर बैठ कर सामायिक करते थे, इसी रोग बढ़ता था। यह देखकर मैंने आचार्य महाराज से पूछा “महाराज ऐसी स्थिति में वह श्रावक क्या करें?”

महाराज ने कहा—“रुग्ण होने पर लेट कर भी साधन-योग त्यागकर सामायिक को जा सकती है। बीमार आदमी विस्तर पर भी सामायिक कर सकता है।”

मैंने पूछा—“महाराज! प्रतिमाधारियों को शुद्ध घृत की उपलब्धि कठिन हो गई है। किंतु शरीर के लिए जीवन-तत्व की दृष्टि से स्निग्ध वस्तु आवश्यक है, अत यदि वह शुद्ध तेल की धानी में शुद्ध तिलहनो को पिरवाकर तेल लेवे, तो क्या हानि है?”

महाराज ने कहा—“प्रती शुद्ध धानी का निकला शुद्ध तेल ले सकता है।”

मैंने पूछा—“महाराज! हमारे बाबा जी महान धर्मात्मा थे। वे कहा करते थे, यदि मैं मरणासन्न हो जाऊ और रात्रि को प्यास के लिए पानी भी मागू तो न देना। बीमारी की स्थिति में उनका बालना बढ़ हो गया। लोगो को परवाह न कर उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार जल नहीं दिया गया। इस विषय में ऐसा विकल्प उठा करता था, कि यदि जल दे दै, तो उनका शायद लाभ हो जाता।”

महाराज ने कहा—“अच्छा हुआ जो उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार जल नहीं दिया। जल नहीं मिलने से एक दिन में मरण नहीं हो जाता। आठ रोज भी बिना जल के रहा जा सकता है।”

मैंने पूछा—“महाराज! एक सुशिक्षित त्यागी का सामायिक के समय स्तोत्र पाठादि करते देखा, तो ऐसा करना उचित है?”

महाराज ने कहा—“स्तोत्र पाठ स्वाध्याय है। सामायिक नहीं है।”

मैंने पूछा—“महाराज! गृह आदि बनाने के बाद वास्तु शुद्धि का क्या प्रयोजन है?”

महाराज ने कहा—“गृह निर्माण में हिंसा हावी है।

महाराज ने बताया था—“दक्षिण में डिगरज का जिनमंदिर बनाने में छने पानी का उपयोग किया गया है।”

एक दिन महाराज ने कहा—“धर्म श्रेष्ठ है, धन नहीं। धर्म पालन करने वाला श्रोमंत सुखी रहता है। पश्चिम के देशों में धन वैभव कितना ही अधिक हो, किन्तु सुखी श्रोमंत भारत में ही मिलेगा।”

यालको पर प्रेम वीतरागता की सजीव मूर्ति होती हुए भी आचार्य श्री में अपार वात्सल्य पाया जाता है। लगभग १९३८ के भाद्रपद की रात है। उस समय महाराज ने वाराणसी सेठ रामचंद्र के उद्यान में चातुर्मास किया था।

एक दिन अपराह्न में महाराज का कैशलोच ही रहा था। उनके समीप में एक छोटा तीन वर्ष की अवस्थावाला स्वस्थ मुरूप तथा नग्न मुद्रावाला बालक महाराज को नेश लोच करते देखकर नकल करने वाले बदर के समान अपने बालों को पकड़कर धीरे धीरे खेचता था। उस बालक को देखकर महाराज का मुख सस्मित हो गया और उनमें सहज आशीर्वाद दे उसके सिर पर अपनी पिच्छी से स्पर्श कर दिया। लोच उपरान्त जब महाराज का मौन खुला, तब मैंने महाराज से पूछा—“महाराज! इस बालक के मस्तक का आपने पिच्छी से क्यों स्पर्श कर दिया?”

जब वे कुछ न बोले तब मैंने कहा—“महाराज! मुनि पद की बालकवत निर्विकार कहा गया है ‘स्यपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरपजायते—अपने पक्षवालों को देखकर किसी प्रेम नहीं उत्पन्न नहीं होता है। प्रतीत होता है, इसी कारण से उस बालक पर आपका वात्सल्य जागृत हो गया?”

महाराज ने सस्मित मुख से प्रतीत होता है मौन द्वारा मेरा समर्थन किया।

आज का मनुष्य अपनी निर्भय स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये उचित अनुचित का विचार न कर स्वार्थसाधन की सभ्यता की पराकाष्ठा माने हुए है। नैतिकता और सदाचार की मोहक बातें दूसरों की मुनाने के लिये है। आज का युग एक ऐसी खाई के ऊपर से आस में पट्टी बांधकर चल रहा है, कि उसके गिरते ही उसकी हड्डी पसली टूटे बिना न रहेगी। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में “घातक अस्त्र तथा संपत्ति राशि को ही हमने परिणाम का उपाय समझ लिया है, जो लोग हमारे लोभ एवं अन्याय के शिकार हैं, उनसे अपनी रक्षा करने के लिए हम नवयुवकों को ऐसी

, जिससे वे मरने-काटने तथा विनाश करने के लिये उत्साहित हो, यदि हमारे विचारों तथा व्यवहार में प्रबल परिवर्तन न हुआ, तो मनुष्य जाति का विनाश अवश्यभावी है— किसी प्राकृतिक दुर्घटना अथवा भयंकर रोग के कारण नहीं बरन् इस सभ्यता के कारण जो मानव तृष्णा एवं वैज्ञानिक प्रतिभा का एक विलक्षण समिश्रण है ।”

आज सर्वत्र स्वतन्त्रता का गौरव गीत गाया जाता है, किन्तु वह सच्ची स्व अर्थात् आत्मा की अधीनता रूप न होकर विलसिता विषय लोलुपता तथा पुद्गल की निरंतर आराधनारूप दिखाई देती है । बड़े बड़े स्वतन्त्र दिखने वाले राष्ट्र राजनैतिक परिभाषा के अनुसार अवश्य स्वतन्त्र हैं किन्तु अध्यात्मविद्या के प्रकाश में वे विषयों के महान दास हैं । जिस प्रकार कोई पागल बधन रहित हो अपने उन्मत्त जीवन द्वारा दूसरों को त्रास पहुँचाने के साथ ही साथ अपनी मृत्यु का द्वार खोजता फिरता है । उसी प्रकार आज का भोग लोलुपी तथा समय का शत्रु बनने वाला स्वतन्त्र राष्ट्र मडल आर्तकवाद और अत्याचार की सहारक सागरी ले इस विश्वनदन नन नदनवन रूप विश्व को विशेष व्यथा तथा हिंसा का नरबाल्य बनाये हुये है । इसका उद्धार किस प्रकार हो ? कैसे बनेगा ? इस सम्बन्ध में जब मैंने महाराज से चर्चा की, तब आचार्य श्री ने कहा, “उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाओं से, गुदर प्रस्तावों से विश्व का कल्याण नहीं होता । ससार के जीव अथवा उनके समुदाय रूप राष्ट्र तब ही सुखी होंगे जब वे हिंसा, परस्त्री लपटता, झूठ, चोरी तथा अधिक तृष्णा का त्याग करेंगे, तब ही आनन्द और शांति की प्राप्ति होगी ।”

वास्तव में आत्मा को पवित्र बनाये बिना जीव कैसे सुखी हो सकता है । आज बड़े बड़े बह्ये जाने वाले लोग सत्य और वैज्ञानिक दृष्टि से दूर हो हिंसा के भवन में निवास कर अपने जीवन द्वारा अहिंसा को भुला जगत का अतः करण बदलना चाहते हैं । गांधी जी के उत्तराधिकारी ब्रह्मा को जानने की कला में अपने को कुलगुरु मानने वाले ब्राह्मण परिवार में जन्म धारक श्री जवाहरलाल नेहरू सदृश व्यक्ति तक जब मांस खाने से अपने को न बचा सके, तब दूसरों की बचा निराली है । यदि प्राणघा

से उत्पन्न मान भक्षी अहिंसक है तथा उसका प्रचार करने का अधिकारी है, तो वैश्या शील धर्म पर भाषण देने की योग्यता विहीन कैसे मानो जायगी ?^१ आचार्य महाराज तो अहिंसा की साधना के लिए मौस त्याग को आवश्यक बताते हैं। यदि मासाहार पाप नहीं, तो फिर और किस वस्तु को पाप कहा जा सकता है ? ऐसे हिंसा प्रचुर वातावरण में आचार्य महाराज ने श्रेष्ठ हिंसा द्रव्य के पालक दिगम्बर मुद्राधारी अनेक मुनियों को उत्पन्न कर दिया। आर्यिका की दीक्षा दी। चतुर्विध सध का दर्शन होने लगा। अब तक उनके चारित्र्य रूप हमें शासन की बहिर्जंगत् तथा अतर्जंगत् में वृद्धि ही हुई। विषयान्ध व्यक्ति को आसों इस चारित्र्य ने तेज को देखते समय बंद हो जाती है। मुमुक्षु तथा भद्र प्राणी ही उसका महत्व जानते हैं।

गजराथा के पंच कल्याणक महात्सव से मैं जब चलने लगा, तब मैं महाराज की सेवा में पहुँचा। महाराज ने कहा, “तुम्हारे पिता जी का तार आया है। इससे घर जा सकते हो, किन्तु भूलना मत। शास्त्र में पांच प्रकार के पिता कहे गये हैं। उनमें गृह का भी स्थान है, फिर कब आवोगे ?” मैंने कहा “महाराज बिना पुण्योदय के आपका वा दर्शन नहीं हो सकता, शीघ्र ही जान का प्रयत्न करूँगा।”

मार्गीतुगो क्षेत्र में आचार्य सध विराजमान था। वहाँ पंचकल्याणक पूजा थी। वहाँ आचार्य महाराज के दर्शन हुए। यहाँ से महाराज का विहार हो गया। रास्ते में कुछ क्षण महाराज ने समीप पहुँचने का मौका मिला। एक खेत में मुनि महाराज को बैठे देखकर बड़ा अच्छा लगता था। विवृति विहीन प्रकृति के मध्य प्राकृतिक मुद्रा तथा प्राकृतिक जीवन वाले महापुरुष की स्वामाधिक शोभा निराली होती है। मैंने गुरुदेव को प्रणाम किया और कहा “महाराज आपके चरणों में आने से बड़ी शान्ति मिलती है।”

महाराज ने कहा “तो फिर जाते क्यों हो ?”

इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है ? सोचकर कहा “महाराज

१ “Menon, Nehru, I and several others lunche together in the large common dining room I was served mutton chops By request I shared my portion with Nehru Gandhi knew that Nehru ate meat and smoked, he did not object it” L Fischer's 'Life of Mahatma Gandhi' p 460

निरंतर आपके सान्निध्य में रहने के योग्य अभी मेरा सौभाग्य नहीं है ।
विना पुण्य के महापुरुषों के चरणों में निवास करने का भाग्य कहा ?”

महाराज ने कहा— ‘तुम तो अपनी बात की वकालत करते हो ।’

मैंने कहा— ‘मैं वकालत तो पात की, किन्तु वकालत कभी की
ही नहीं । हा ! आपके धर्म पक्षकी ही वकालत करता हूँ ।’ सस्मित वदन
से गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया । मैं रवाना हो गया ।

१९४३ के सितम्बर में मैंने देखा आचार्य महाराज मूल सस्कृत के
ग्रन्थों को बड़े ध्यान से बाँच रहे थे । देखा, तो मोती सरीखे मनोज्ञ अक्षरोंमें अलंकृत
हस्त लिखित सस्कृत की प्रति है, जो आचार्य महाराज के सुयोग्य पिछ्छ १०८
मुनि धर्म सागर महाराज ने गुरुदेव के स्वाध्याय निमित्त लिखी थी ।

मन में यह इच्छा हुई कि गुरुदेव से पूछूँ कि आपके जीवन पर
किन ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा, जिससे पता चलेगा कि किस महामुनि की वाणी
न इस पवित्र जीवन को आलोकित किया है ।

मैंने पूछा— ‘महाराज ! भगवान की वाणी होने के कारण सभी आगम
ग्रन्थ अच्छे हैं फिर भी कौन शास्त्र आपको विशय आनन्द प्रद मालूम पड़ते हैं ?’

महाराज ने कहा— ‘अब हमें द्रव्यानुयोग शास्त्र अच्छे लगते हैं ।’

मैंने— ‘महाराज ! प्रारम्भ में कौन शास्त्र आपको विशयप्रिय
लगते थे और किन ग्रन्थों ने आपके जीवन को विशय प्रभावित किया ?’

महाराज ने कहा— ‘जब हम पंद्रह, सोलह वर्ष के थे तब हिंदी में
समयसार तथा आत्मानुशासन वाचा करते थे । हिन्दी रत्नकरड थावकाचार
की टीका भी पढ़ते थे । इनसे मन को बड़ी शांति मिलती
थी । आत्मानुशासन पढ़ने से मन में वैराग्य भाव बढ़ता
था । इसमें वैराग्य तथा स्त्री सुख से विरक्ति का अच्छा
वर्णन है । इससे हमारा मन त्यागको ओर बढ़ता था । हमारा इरादा १७-
१८ वर्ष की अवस्था से ही मुनि बनने का था ।’ महाराज ने यह भी बताया

‘कि वे आत्मानुशासन की चर्चा अपने श्रेष्ठ सत्यव्रती मित्र रुद्रप्पा तामक
सिगापत वधु से किया करते थे । इन दोनों महापुरुषों का परस्पर में तब
विचार चला करता था । महाराज ने कहा था कि ‘आत्मानुशासन की कथा
रुद्रप्पा को भी बड़ी प्रिय लगती थी ।’

महाराज ने यह भी कहा था— ‘शास्त्रों में स्वयं कल्याण नहीं है । वे तो
कल्याण के पथप्रदर्शक हैं । देखो ! सड़क पर बही २ खम्भा खड़ा रहता है,

वह चारों ओर जाने वाले मार्गों को सूचित किया करता है, कि इस रास्ते से तुम अमुक प्रदेश को जा सकने हो। वह साइनबोर्ड तुमको पकड़ कर जबर-दस्ती इष्ट स्थल पर नहीं ले जाता है। इसी प्रकार शास्त्र भी तुमका कर्तव्य-अकर्तव्य बताता है, तथा कल्याण का रास्ता बताता है। उस ओर जाने के लिए तुमको पैर बढ़ाना पड़ेगा।”

ससार के सभी जीव प्रायः वासनाओं अनुशासन में रहते हैं। विषयो को और इन्द्रियो की जैसी प्रेरणा होती है, वैसी प्रवृत्ति हो जाती है। मोहनीय कर्म रूनी भय को पीकर यह जीव अपने बाधने के लिए जाल बुनता है, अपने आत्मत्व के विनाश के लिए पुद्गल का अनुगामी बनता है, आत्मा की सुधि लेने की कुछ इच्छा भी हुई तो लालता और वामनाओं की पवन उसके विवेक दीप की बुझाने लगती है। ऐसे समय में ऐसी भासमान ज्योति की आवश्यकता है, जिसका प्रकाश क्षीण न हो, पवन का प्रचंड आक्रमण भी जिसे कपित न करे, और जो अविनाशी कल्याण का मंगल मार्ग बताती रहे। आत्मानुशासन ग्रन्थ के परिशीलन से प्रतीत होगा, कि यह ऐसा ही प्रकाश देता है, जिससे आत्मा कर्मों के आतंक को दूर कर प्रशम-पथ का पथिक बनता है।

आत्मानुशासन का हृदय

दिगम्बर संप्रदाय के प्रतिभाशाली महामुनि भदत गुणभद्र की समत-भद्र रचना आत्मानुशासन है । इसमें केवल संस्कृत भाषा में रचित २७० पद्य हैं । प्रत्येक पद्य में आत्मविचार, आत्म-समाधान, तत्त्वचिन्तन, तथा सज्जल अनुभूति का रस भरा हुआ है ।

समंतभद्र रचना इसके परिशीलन से आत्मा मोहपाश से छूटने की प्रेरणा प्राप्त करता है और पुद्गल की विकृति से बचकर अविनाशी शांति, अनंत आनंद तथा परिपूर्ण आत्मत्व को प्राप्त करने की सामर्थ्य का लाभ करता है । इसके आलोक से जट्टवाद के आधार पर अवस्थित भौतिकता के प्रासाद की भोषणता, मलिनता और अनात्मीयता का अवबोध होता है । विषयासक्ति से रूग्ण जीव को यह स्वस्थ और और शाश्वतिक सौन्दर्य सम्पन्न बनाता है; जिसमें नर्मों की कालिमा और मलिनता का संपर्क नहीं है । यह आंतरिक सामंजस्य के स्थापन में सहायक होता है, जिसके बिना सुख और शांति की उपलब्धि मायाविनी मरीचिका में दृश्यमान जलराशि सदृश है । क्रोध, मान, माया, तुष्णा, ईर्ष्या, क्रूरता, स्वार्थ-लिप्सा आदि के कारण ही जीव क्लेशित हो रहा है । उनका नियमन करके निर्विकारी जीव बनाने के लिए यह कृति विश्वगुरु की संतुलित, अनुभवपूर्ण, सत्यपूर्ण, सममय तथा माधुर्यपूर्ण वाणी सदृश है । यह जीव की उच्छ्रंखलता का कुशलतापूर्वक संयमन करता हुआ उसे परिपूर्ण आत्मा बनने योग्य आध्यात्मिक साहस, तथा सामर्थ्य दे पवित्र आकाक्षा को जागृत करता है ।

ग्रंथ की भाषा में मौष्ठ्य, माधुर्य, तथा प्रसाद गुण विद्यमान हैं । वर्णन बड़ा सजीव तथा मार्मिक है ।

इसमें वही कही लोकोत्तर कल्पनाएं महाकवि की प्रतिभा की सजीव प्रतिमा रूप प्रतीत होती हैं ।

मोहरोग को दूर करने वाली रचना शैली मार्मिक, मनोवैभानिक, अंतःस्पर्शी तथा अकाट्य तर्कमय है । यह ग्रंथ अतःकरण के कपाट को खोलकर आत्मदेव का दर्शन कराता है । जो राग-रंग में-निमग्न प्राणी धर्म की कयनी को विष मानता है,

वह भी इस अध्यात्म रसायन को बड़े प्रेम से स्वीकार करता है। मोहरोग को दूर करने वाली औषधि को सुन्दर भाषा शैली के अनुपात से देने से बालबुद्धि इसे बड़ी 'ममता' के साथ अपनाता है।

इस ग्रंथ के अनुशासन को स्वीकार करने वाला नर्मो के कुशासन से बचकर आध्यात्मिक साम्राज्य का अधिपति बनने के लिए पवित्र प्रयत्न करने की मानसिक क्रांति को उपलब्ध करता है।

कवि ने अपने को महाकवि भगवज्जिनसेन के शिष्य रूप में बताया है। ये ईसा की नवमी सदी के विद्वान् हैं।

इसका अंग्रेजी अनुवाद जस्टिस जुगमदिरलाल जैनी एम. ए वार एटला ने बड़ा संप्राण, और सुन्दर किया है। इसके प्रकाशक प अजितप्रसाद जी एम ए एडवोकेट ने रचना के विषय में इसी प्रकार प्रकाश डाला था—

"आत्मानुशासन शब्द से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ आत्मा में विद्यमान परमात्मपद के सबंध में दिव्य उपदेश रूप है। ग्रन्थ के २७० पद्यों में प्रत्येक पद्य में आत्मा को अनात्मा से अथवा पुद्गल से पृथक् करने के लिए सरल, प्रेरणात्मक, मर्मस्पर्शी, ओजमय तथा प्रभावपूर्ण भाषा में प्रेरणा की गई है। आत्मा का पुद्गल से पूर्णतया पृथक् हो जाना जीव की पाप, शोक तथा मृत्यु पर विजय है। इसे ही मुक्ति, स्वतन्त्रता, निर्वाण कहते हैं, जो अविनाशी परिपूर्ण तथा शाश्वतिक है।"

ग्रन्थ की हिन्दी टीका के आरम्भ में पण्डित टीकरमल जी ने लिखा है—

"सोहे जिन सासन में आत्मानुशासन श्रुत।

जाकीदुलहारी सुख-हारी साची सासना।

१ Atmanushasana is, as the very name literally indicates, a discourse divine for the Divinity in man, Each and every one of the 270 verses, is an exhortation in language, simple, persuasive, penetrating, forceful, effective, to the Atman, the I, the Ego, the Self, to separate its own Self from the non-Atman, the non-I, the non Ego, the non-Self. This Supreme separation is the complete victory of the Soul over Sin, Sorrow, and Death, and is Moksha, Freedom, or Liberation, absolute, perfect, eternal, and everlasting

जाको गुणभद्र करता, गुणभद्र जाको जानि ।

भद्रगुण धारी भव्य करत उपासना ।”

इस ग्रंथ की प्रतिपादन शैली कितनी प्रेमपूर्ण है कि बालबुद्धि व्यक्ति भी आकर्षित होकर आत्म-हित की बात सुनने को प्रस्तुत हुए बिना न रहेगा । आचार्य कहते हैं—

दुःखाद्विभेषि नितरामभिर्वाञ्छसि सुखमतोहमप्यात्मन् ।

दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥^१

आत्मन् ! तू दुःख से डरता है और सुख की आकांक्षा करता है । अतएव मैं दुःख-निवारक तथा आनन्ददायी ऐसी बात कहता हूँ जो तुम्हें भी प्रिय लगेगी ।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं सदात्वं कटु किञ्चित् ।

त्वं तस्मान्मा भेषी यथातुरो भेषजादुप्रात् ॥ ३ ॥^२

देख ! मेरा कथन तत्काल भले ही कुछ कटु लगे किन्तु इसका परिणाम मधुर होगा । इसलिए तू इससे डर मत, जैसे रोगी व्यक्ति कटु औषधि से नहीं डरता है, क्योंकि अन्त में उससे नीरोगता का लाभ होता है ।

धर्म पालन करने की क्या आवश्यकता है इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनमुप्रसिद्धम् ।^३

तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थं सदा धर्मम् ॥ २ ॥

इस बात को सभी लोग जानते हैं कि पाप से दुःख होता है और

१ Oh soul ? thou art always afraid of pain, and desirous of pleasure. Therefore I also offer thee the object of thy desire, which tends to give pleasure and remove pain.

२ If perchance, in this (advice), there be something which though sweet at fruition, is yet unpalatable, be thou not afraid of that, just as a sick person is not (afraid) of bitter medicine.

३ Demerit produces pain, happiness follows Truth (Dharma). This is well-known to all. Therefore the man who desires happiness should always refrain from demerit, (and) follow (Dharma).

धर्म से सुख मिलता है। अतः सुख चाहने वाले को पापाचरण का परि-
त्याग कर सदा धर्म का पालन करना चाहिये। धर्म से सुख मिलता है,
इस विषय में तामिल ग्रंथ कुरल की यह सूक्ति बड़ी मामिक है—“मुझसे
यह मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है? बस एक बार पालकी उठाने
वाले कहारो की ओर देख लो और फिर उस आदमी को देखो जो उसमें
बैठा है।” (तामिल वेद ५-११)

सम्यक्-श्रद्धा-समलकृत ज्ञान, आचार आदि में वास्तविक महत्व है
यह स्पष्ट करते हैं—

शमवोषवृत्ततपसा पापाणस्यैव गौरवं पुंसः ।

पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व-संयुक्तम् ॥१५॥

मनुष्य की शांति, ज्ञान, नियम तथा तपस्या का पापाण बराबर
मूल्य हैं, किन्तु सम्यक् श्रद्धा समन्वित होने पर वे सब बहुमूल्य रत्न के
समान आदरणीय होते हैं।

विषय रूप विष के सेवन से आत्मा की शक्ति क्षीण हो गई है,
इससे पहले सुपाच्य पेय पदार्थ देने के विषय में कहते हैं—

विषयविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ।

निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥१७॥

आत्मन् । विषय रूप विष के सेवन से जो मोहज्वर उत्पन्न हुआ है,
उससे तुझे तीव्र तृष्णा सताती है तथा इससे तू शक्तिहीन हो गया है,
इससे तेरे लिये पेय पदार्थ को देना ही श्रेयस्कर है।

धर्म की आराधना दुखी व्यक्ति के समान सुखी व्यक्ति के लिये भी
आवश्यक है, इसे स्पष्ट करते हैं—

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः ।

१ The tranquillity, knowledge, vows, and austerities of a person is of the value of a stone. But it becomes adorable, like a great jewel if accompanied by right belief.

२ Having taken the poison of sense-enjoyments, thou hast got the fever of delusion; from this has arisen thy keen thirst (for sense-gratification) and thou hast become feeble. For thee it is the best to be treated mostly with medicines of a drinkable nature.

सुखितस्य तदभिवृष्य दुःखमुजस्तदपघाताय ॥१८॥^१

आत्मन् ! संसार में सुखी तथा दुखी स्थिति में तुम्हें धर्म का पालन करना चाहिये । सुखी पुरुष तो सुख की अभिवृद्धि के लिए और दुखी मानव दुःख-क्षय के हेतु धर्म धारण करे । जो सुखों की इच्छा रखता है उसे भी धर्म धारण के लिए प्रेरणा करते हैं ।

धर्मारामतरुणां फलानिसर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि ।

संरक्ष्यतास्ततस्तान्युच्चिनुयस्ते रूपायस्त्वम् ॥१९॥^१

सम्पूर्ण इंद्रियों के लिए इष्टरूप विषय सम्बन्धी सुख, धर्म अर्थात् दया भाव रूपी उद्यान के वृक्षों के फल हैं, अतएव उन वृक्षों का संरक्षण करते हुए तू उचित उपायों से उन फलों को प्राप्त कर ।

कुरल काव्य में कण्ठापूर्ण अंतःकरण को भी बड़ी भारी विभूति कहा है—“दया से लबालब भरा हुआ दिल ही सबसे बड़ी दीलत है, क्योंकि सासारिक सम्पत्ति तो नीच मनुष्यों के पास भी देखी जाती है ।”

जो धर्म को सुख का शत्रु मान धर्म से दूर भागता है, उसका भ्रम निवारण करते हैं—

धर्मः सुखस्य हेतुः हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य ।^२

तस्मात् सुखभंगभिया माभूधर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

आत्मन् ! धर्म तो सुख का कारण है और कारण कभी भी अपने कार्य का विरोधी नहीं होता है इससे अपने वर्तमान सुखों के विनाश के डर से तू धर्म से पराङ्मुख मत बन ।

धर्म का रक्षण करते हुए ही यथेष्ट भोगों का सेवन करने को कहते हैं

१ Whether happy or miserable in this world thou must exercise piety; if happy, to increase thy happiness; and if miserable, to remove thy misery.

२ The pleasures derived from all sense-objects are fruits of the trees of the garden of piety. Therefore preserve thou the trees, and pluck the fruits by all means.

३ Piety is the cause of happiness. The cause cannot oppose its own effect. Therefore for fear of being deprived of (present) sense-pleasures, thou shouldst not be indifferent to piety (Dharma).

धर्मविवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपालय भोगसनुभवतु ।

बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥^१

आत्मन् ! तूने धर्म की आराधना से ही वैभव को पाया है; अतः धर्म की प्रतिपालना करते हुए ही भोगों का अनुभव कर । जिस प्रकार कोई किसान बीज को बोकर प्राप्त हुए धान्य का उपभोग करता है, तथा वह बीज का रक्षण भी करता है ।

जो अल्पज्ञ धर्म की परवाह न कर सुखोपभोग करता है, उसे समझाते हैं—

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात् ।

आच्छेद्य तर्हं मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥२४॥^२

जो जीव मोह वश धर्म का विघात करते हुए विषय सुखों का अनुभवन करते हैं, वे पापी वृक्ष को मूल-से उखाड़ करके फलों को ग्रहण करते हैं ।

यह धर्म प्रत्येक स्थिति में आराध्य है, यह बात आचार्य कहते हैं—

कर्तृत्व-हेतु-कर्तृत्वानुमतेः स्मरण-चरण-वचनं पृ ।

यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न सग्राह्यः ॥२५॥^३

जो धर्म कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा मन, वचन तथा काय से सर्व प्रकार से आराध्य है, वह क्यों न संग्रह के योग्य होगा ?

जो यह सोचते हैं, धर्म के द्वारा हमारी सुख की सामग्री छीन ली जायगी, उन भ्रांत भाइयों के भ्रम को भगाते हुए कहते हैं—

न सुखानुभवात्पापं पापतद्धेतुघातकारंभात् ।

नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥२७॥^४

१ The person who in consequence of piety has acquired prosperity may have enjoyments while preserving piety, like the peasant who gets corn from the seed, but (preserves) the seed of that corn.

२ Those who under delusion, destroying Dharma, enjoy sense-pleasures are sinful, and take the fruit (after) cutting down the tree at its root.

३ Why should such a religion be not pursued which can be followed in all circumstances, by doing, by having it done, and by approving the doing of it by others, by means of mind, body, or speech.

४ There is no demerit in enjoying pleasures; but there is demerit in doing what tends to destroy their source.

अरे आत्मन् ! सुख के अनुभवन करने में पाप नहीं है। सुख के हेतु रूप धर्म का घात करने में पाप होता है। मिठाई खाने से अजीर्ण नहीं होता है, किन्तु उसकी मात्रा का अतिश्रमण करने से अजीर्ण होता है।

परित्याज्य पाप वृत्तियों का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं:-

पैशुन्य-दैन्य-दंभस्तेषामृतपातकादिपरिहारात् !

लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशः सुखायार्थम् ॥३०॥^१

आत्मन् ! चुगली करना, दीनता, दंभ, चोरी, झूठ तथा अन्य पापों का परित्याग करके धर्म, सम्पत्ति, कीर्ति तथा आनन्द के लिए इस जीवन में तथा आगामी भव में हितकारी कार्यों का संपादन कर, पुण्य प्रवृत्तियों के प्रसाद से विश्व में विपत्ति का पहाड़ टूटने पर भी जीव अपने विनिष्ट पुण्य के द्वारा परित्राण प्राप्त कर सकता है।

पुण्यं कुरुस्व कृतपुण्य मनीदृशोपि, नोपद्रेवोभिभवति प्रभवेच्चभूत्ये ।
संतापयन् जगदशेष-मशीतरश्मिं, पथेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥३१॥^२

अरे भाई ! 'पुण्य का संपादन कर, पुण्यशील व्यक्ति को आकस्मिक संकट भी नहीं सताते हैं, किन्तु उसकी अभिवृद्धि के हेतु बन जाते हैं। देखो उष्ण किरण वाला सूर्य संपूर्ण जगत को सतप्त करता हुआ भी सरोज को विकसित कर सौन्दर्य समन्वित करता है।

आवश्यकता से अधिक धन की राशि एकत्रित करने से अपने को कृतार्थ समझने वाले धनाढ की आँखों में यह ज्ञानाजन-शलाका लगते हैं:-

सृद्धं धनं विवर्धन्ते सतामपि न सपदः ।

नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥ ४५ ॥^३

Indigestion is not caused by sweet food, (but) by eating it beyond its limit.

१ Having given up back-biting, begging, deceit, theft, falsehood and other faults, pursue what is best in both the worlds for religion, wealth, renown and happiness.

२ Acquire merit. Even an unheard of calamity does not affect the doer of meritorious deeds. Indeed it does him good. See the sun, which oppresses the whole world (with its heat), gives a lovely bloom to lotuses.

३ The wealth of even good men is not increased by pious income; (as) the seas can never be filled with fresh water only.

पूर्णतया शुद्ध रीति से उपाजित धन के द्वारा सत्पुरुषों की भी संपत्ति वृद्धिगत नहीं होती है । निर्मल नीर से कभी नदियों में पूर्णता नहीं आती है ।

सासारिक सुख की उपलब्धि सदृश कष्ट मुक्ति के लिए उद्योग करने में नहीं है, यह महत्व की बात आचार्य कहते हैं:-

वार्तादिभि विषयलोल-विचारशून्यः, क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्यपरिग्रहायम् ।
तच्चेष्टित यदि सकृत् परलोचबुध्या, न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥४७॥^१

आत्मनः विचार कर, यहाँ विषयों के कारण चंचल होकर विचार-शून्य बनकर तू असि, मसि, कृपि आदि रूप उद्योग करता हुआ परिग्रह की उपलब्धि के लिये क्लेश उठाता है । वैसे चेष्टा यदि एकवार भी परलोक को लक्ष्य में रखकर करे, तो बारबार जन्म के कष्ट को नहीं भोगना पड़े । यह विश्व क्षणिकता को भँवर में फँसा हुआ है यह बताते हैं:-

इवो यस्याजनि यः स एव दिवसोऽहस्तस्य सपद्यते ।

स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्

भ्रात भ्रान्तिमपास्य पश्यसितरा प्रत्यक्ष मदणोर्न किम् ।

येनात्रैव मुहुर्मुहुर्वहुतर बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥^२

अरे भाई ! जिसके लिए जो दिवस आगामी आनेवाला था, वही दिवस उसके लिए भविष्यत् के स्थान में भूत बन जाता है । इस जगत् में कुछ भी वस्तु स्थिर नहीं है । काल रूप पवन के द्वारा यह विश्व उन्मूलित

१ Being entangled in enjoyments, (and therefore) thoughtless, thou art again and again made miserable by occupation, etc., to obtain wealth and other objects of this world. If thou under-goest the same trouble (even) once, intending to obtain liberation, then certainly thou wouldst never experience the pain of being born again and again.

२ That same day which appears as to-morrow for one, becomes yesterday for him. Nothing can be called stable. This world is being up-rooted by the wind of time. Oh brother, having given up delusion, why dost thou not see what is visible to thy eyes ? By not doing so, thou, mainly a bondsman of desire, wanderest again and again, in this very world.

हो रहा है। भ्रम को दूर करके नेत्रों के प्रत्यक्ष मोक्षर पदार्थों को क्यों नहीं देखता है? इमीलिए तो तू इन धन, स्त्री, पुत्रादि पदार्थों में बारबार लालसा करता हुआ पुनः पुनः परिभ्रमण करता फिरता है।

भोगों में जीव विस्र प्रकार दुःखी होता है यह कहते हैं:—

उग्र-ग्रीष्म-कठोर-धर्मकिरण स्फूर्जद् गमस्तिप्रभैः ।

सतप्त सक्लेन्द्रियैरयमहो सबद्धतृष्णोजनः ।

अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल—

स्तोषोपान्त दुरन्तकर्मगतस्त्रीणोक्षवत् किन्दयते ॥५५॥^१

आत्मन् ! जैसे कोई क्षीण बँल तृष्णा पीडित हो जलाशय में जाकर महान पक में पक अभिमत जल को न पाकर महान श्रम के प्रयास से आकुलित हो क्लेश पाता है तथा उग्र ग्रीष्म की कठोर सूर्य किरणों से सतप्त होता है, इसी प्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्णसूर्य की किरणों के समान संपूर्ण इन्द्रियोंमें पीडित होता है, तथा बड़ी हुई तृष्णा वाला जीव विवेक विहीन हा इस सुख का नहीं प्राप्त करता हुआ अपने व्यर्थ श्रम से व्यथित हो क्लेशित होता है।

जो मोहाग्नि जगत् को जलाती है, वह विलक्षण है यह कहते हैं —

लब्धेधनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः ।

ज्वलत्पुण्यथाप्युज्ज्वलति मोहाग्निः—संकटः ॥५६॥^१

अग्नि ईंधन का पाकर जलती है और ईंधन के अभाव में प्रशान्त हो जाती है, किन्तु यह मोहाग्नि विचित्र है, जो वस्तुओं के लाभ में जोर से ललती है तथा उनके अभाव में भी उसी प्रकार जला करती है।

१ Distressed by all sense-desires, which are gleaming (and blinding) like the sun with its very hot unbearable and scorching rays; keenly athirst with desire, (and) indiscriminate,—this man, not getting his desired object (and) being troubled by sinful exertions, becomes miserable like the weak ox in a deep mire near the edge of a piece of water

२ Fire burns when fed with fuel, and goes out for want of it. But it is a wonder that the terrible fire of delusion blazes strongly in both the ways (on getting the objects of desire and also on not getting them).

जिस शरीर को यह जीव अपनी आत्मा मान बैठा है, वह तो यथायं
में इस जीव के लिए जेलखाना है:—

अत्यस्मूलुक्तुलाकलापघटितं नदं शिरास्तायुभिः ।

चर्मच्छादित—मससान्द्र—पिशितं—लिप्तं सृग्भूत खलं ॥

कर्मातिभिरायुश्च—निगलालय शरीरालय ।

कारागार-भवेहि ते हतमते प्रीतिं दया मा कृया ॥५९॥^१

अरे भूर्ख ! इस शरीर को जेलखाना जान, यह स्थूल दृढ़ियों रूपी
पाषाण स्तम्भों पर स्थित है । शिराओं तथा स्नायुओं से बद्ध है, चर्म से ढका
हुआ, रक्त तथा मांस में लिप्त है । दुष्ट कर्म रूप शत्रुओं के द्वारा अच्छी
तरह सुरक्षित है तथा आयु कर्मरूपी मजबूत अर्गला (आगड) से बद्ध है ।
इसमें व्यर्थ प्रेम मत कर ।

इस शरीर के विषय में आत्मा को और भी सचेत करते हैं —

दीप्तोभयाग्रवातारि—दाहदरग—कीटवत ।

जन्म-मृत्यु-समाश्लिष्टे शरीरे वतसीदसि ॥६३॥^२

जैसे आक की लकड़ी के दोनों छोरों में आग लगी हो और उसके मध्यमें
कोई कीट बैठा हो उसी प्रकार जन्म और मरण से आक्रांत शरीर के भीतर
तू वेदना सहता है ।

इस जीवन की भयंकर भूल को स्पष्ट करते हैं ।

गन्तुमुच्छ्वास—निश्वासेरम्यस्युत्प्रेषसततम् ।

लोकं पृथगितो वाछत्यात्मानं—मजरामरम् ॥७१॥^३

यह जीव श्वास के आने-जाने के द्वारा निरन्तर जाने का अभ्यास

१ Know this body of thine to be a prison-house, built of
a number of thick bones as stone pillars, fastened by nerves
and muscles, covered over with skin, plastered with wet
flesh; well-protected by its wicked enemies, the Karmas and
closed by strong barriers of age-Karmas O Brest of wisdom !
have no foolish love for it.

Alas, thou art tortured in body, wrapped by birth and
death, like an insect inside a castor log burning at both ends

२ This (life) constantly practises to go out by breaths
comming in and going out. The people, on the other hand,
wish the present life to be undecayable and immortal ?

करता है, किन्तु इसके विपरीत लोग अपने अजर, अमर, होने की इच्छा करते हैं ।

जीवन की क्षणिकता को कितनी मनोहर शैली से समझाते हैं.—

प्रसुप्तोभरणासंका प्रमुदो जीवितोत्सवम् ।

प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत्काये कियच्चिरम् ॥८२॥^१

यह जीव प्रतिदिन सोने पर मृत्यु की आसवा उत्पन्न करता है तथा जागने पर जीवन का आनन्द दिखाता है । भला यह इस शरीर में कब तक रहेगा ?

जीव की विचारों में आसक्ति अद्भुत बात है, यह बताते हैं ।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।

त्व किमिति मृषा कुर्ये दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥९२॥^२

यह बहावन प्रसिद्ध है कि अत्यन्त परिचित वस्तु में अवज्ञा का भाव उत्पन्न होता है तथा नवीन पदार्थ में प्रेम होता है, किन्तु आत्मन् । तू मोहादि विचारों में आसक्त होता हुआ तथा आत्मा के गुणों से विमुख होता हुआ इस सुक्ति को मिथ्या करता हुआ सा प्रतीत होता है ।

किस मार्ग में प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर होगा यह बताते हैं:—

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।

नयत्यवश्यं षवसामगोचरं विकल्पदूर परमं किमप्यसौ ॥१०३॥^३

आत्मन् । दया, दम, त्याग तथा समाधिकी परंपरा वाले पथ में प्रयत्न-

१ Every day while sleeping, he wears the appearance of death and while awaking he makes merry on his being alive. Every day produces this (scene). How long can this soul live in the body ?

२ It is said by people that familiarity breeds contempt, and love for a new object attracts, why (then) dost thou falsify this (proverb) by infatuation for wrong (belief etc.,) and aversion to right (belief, etc.).

३ Pursue actively and straight, the path of continuous observance of compassion, self-control, renunciation, and equanimity. This verily leads (thee) to the highest (position) free from anxieties and beyond the power of words (to describe).

शील होकर गमन करो । वह निश्चय से बाणी के अगोचर, विकल्पातीत, गुणों से युक्त, तथा अचिन्त्य परम पद को प्राप्त करता है ।

योगि गम्पबडे भारी रहस्य की बात कहते हैं—

अकिंचनोहमित्याह्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।

योगिगम्प तत्र प्रोक्त रहस्य परमात्मनः ॥ ११० ॥^१

आत्मन् , तू इस प्रकार रह कि मेरा कुछ भी नहीं है—मैं अकिंचन हूँ, इससे तू त्रिलोक का अधिपति ही जायगा । इसमें योगीगम्प परमात्मा का रहस्य तुझे बताया गया है ।

स्त्री के प्रति विरक्ति उत्पन्न करते हुए कहते हैं —

क्रुद्धा प्राणहृग भवन्ति भुजगादप्येव काल वदचित् ।

तेषामीषधयश्च सति बहव सद्यो विपव्युच्छिद ।

हन्धु स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहु क्रुद्धा प्रसन्नास्तथा ।

योगीन्द्रानपि तान्निरीपधविषा दृष्टाश्च दृष्टापिच ॥ १२७ ॥^२

आत्मन् ! सर्प क्रुद्ध होते हुए दश द्वारा ही कभी प्राण हरण करते हैं, उनके विष को तत्काल दूर करने वाली अनेक प्रकार की औषधिया भी हैं । स्त्री स्त्री सर्प, चाहे क्रुद्ध हो अथवा प्रसन्न हो, इस लोक तथा परलोक में पुनः पुनः देखे जाने पर अथवा उनके द्वारा इष्ट होने पर योगीन्द्रों को भी मार डालने हैं । स्त्री जनित विष को दूर करने की कोई औषधि भी नहीं है ।

मात्र किस प्रकारके वक्ताओं और श्रोताओंका अभाव है यह बताते हैं—

लोकद्वय-हित वक्तु श्रोतु च सुलभाः पुरा ।

दुर्लभा कर्तुमद्यत्वे वक्तु श्रोतु च दुर्लभाः ॥ १४३ ॥^३

१ Live in in a way as though (you felt), "Nothing is mine" and thou wilt be lord over the three worlds. The essence of divinity, as realised by the saints, is told thee (herein)

२ Cobras are deprivers of life, only occasionally when they bite in rage, there are many remedies which quickly remove their poison. Women-cobras, here and hereafter, again and again, whether they bite, or are looked at, and by looking or being looked at and there is no remedy for that poison

३ Formerly it was easy to find speakers and hearers of words, useful for both the worlds, but men who acted up to them were scarce But now-a days (even) the speakers and hearers (of wholesome words) are rare

पूर्वकाल में दोनों लोक में कल्याणकारी कथन के कहने वाले वक्ता तथा उसे सुनने वाले श्रोता सरलता से प्राप्त हो जाते थे, उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले दुर्लभ थे; किन्तु आजकल कल्याणकारी बात का कथन करने वाले तथा उसे सुनने वाले दुर्लभ हैं।

आचार्य कामना रहित कार्य की प्रेरणा करते हुए कहते हैं:-

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।

यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।

छिनत्सि सुतपस्तरौः प्रभवमेव शून्याशयः ।

कथं समुपलभ्यसे सुरसमस्य पत्रं फलम् ॥१८९॥^१

अरे! तूने संपूर्ण शास्त्रों का अभ्यास तो किया और बहुत काल तक घोर तप भी किया परंतु यदि तू उन दोनों का फल विषय सुख का लाभ तथा लोक प्रतिष्ठादिक की चाहे, तो तेरा हृदय तत्त्वज्ञान से वंचित रहा। तू उस सुन्दर तप वृक्ष के कच्चे फूलों की बलियों को तोड़ डालता है, ऐसा करने से तुझे इसके सुमधुर, रस भरे, तथा पक्व फलों की उपलब्धि कैसे होगी?

जो व्यक्ति कठोर तपश्चर्या नहीं कर सक्ता है, उसके हितार्थ सुगम मार्ग बताते हैं:-

करोतु न चिरं घोरं तपः केशासहो भवान् ।

नित्त-साध्यान् कपापारोक्ष जयेद्यत्तद्वज्रता ॥२१२॥^२

अरे भाई! यदि तुममें तपश्चर्या के क्लेश सहन करने की क्षमता नहीं है, तो घोर तप मत करो, किन्तु यदि तुमने चित्त के वश करने से जीते जानें योग्य कपाय रूपी शत्रुओं पर विजय नहीं प्राप्त की, तो यह तुम्हारी अज्ञानता है।

१ Having studied all the scriptures and having undergone severe austerities, if thou, as their fruit, wishest weath, respect, etc., in this very world, then, O devoid of discrimination, thou takest away the very flower of the beautiful tree of austerities. How canst thou have its juicy ripe fruit?

२ (If) you cannot bear hardships, do not practise long, rigorous austerities. It is thy ignorance that thou dost not conquer the enemies, passions, which can be subjugated by (control of) mind.

सच्च योगी कौन है, यह बताते हैं:-

यस्य पुण्य च पाप च निष्फल गलति स्वयम् ।

सर्पांगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरासवः ॥२४६॥^१

आत्मनः जिस आत्मा के पूर्व संचित पुण्य तथा पाप बिना फल दिए हुए गल जाते हैं वही योगी है । उसके ही निर्वाण का लाभ होता है । ऐसे योगी को नवीन कर्मों का संचय नहीं होता है ।

इन कतिपय पद्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणभद्र स्वामी की शैली रोचक, मार्मिक, स्वाभाविक तथा उज्ज्वल भावनाओं को संप्राण बनाती है । वात्पकाल का सस्कार जीवन पर महत्वपूर्ण स्थान रखता है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि आज जो 'चारित्र्य चक्रवर्ती' आचार्य शान्तिसागर महाराज के जीवन में समय का सौरभ विद्यमान है, उसका अन्यतम कारण आत्मानुशासन का अन्तःकरण पूर्वक अनुशीलन रहा है । आत्मानुशासन का रस पान करने करते आचार्य श्री का जीवन ही तन्मय हो गया है । जीव का सच्चा हिन इन्द्रियों की दासता का परित्याग कर आत्मानुशासन में प्रदर्शित पथानुसरण में है ।

^१ He, whose merit and demerit (Karmas) exhaust themselves without bearing fruit is a (true) ascetic. He will never have the Karmic inflow, and will attain liberation.

समयसार-दर्शन

आत्मानुशासन के सिद्धांत आचार्य श्री का अत्यन्त प्रिय ग्रंथ समय-सार रहा है। इसके द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है।

आध्यात्मिक आत्मानुशासन के द्वारा नीरोगता प्राप्त आत्मा समय-सार रूप रसायन का यथाविधि ग्रहण कर सिद्धि का रसायन -

शास्वतिक अधिष्ठता हो जाता है। पुद्गल के अनुशासन में रहनेवाला मूर्छित जीव इस समयसार से प्राण उच्छृंखल बनने की सामग्री प्राप्त करता है, अतः आत्मा को समय द्वारा परिपुष्ट बनाने वाला सुवाध समलकृत सुधी सचमुच में समयसार सुधा के स्वाद से सिद्ध स्वरूप की समुपलब्धि निमित्त समय उद्योग करता है और अपने प्रशस्त प्रयास में अनवरत अभिवृद्धि करता है। यवन की विभीषिका से बचा कल्पान्त स्वामी कल्याण को प्राप्त कराने की अपूर्व कला इस समयसार की समाराधना से प्राप्त होती है।

इस समयसार में उस आत्म-तत्त्व की शुद्ध परिणतिका विवेचन किया गया है, जिससे बहिरात्मा अत्यन्त आरिचित है। वह तो देह और देह को अनुकूल लगनेवाली पदार्थ-मालिका तक ही अपना सीमितहित विचारता है। आत्मा ही अक्षय कल्याण का सिन्धु है, यह वह नहीं जानता है। समस्त शास्त्रों के शिक्षण का प्रयोजन यही है, कि जीव का भानस विमल बन जाय, और यह रत्नत्रय की प्राप्ति के प्रयत्न में उत्तीर्ण हो।

भोह और ममता के पक में निमग्न मानव उस आत्म-दृष्टि को कैसे प्राप्त कर सकता है? अनात्मवाद की दल दल में फसा हुआ यन्त्र-तन्त्र का अवलोकन लेने वाला भौतिक विज्ञान उस आत्म प्रकाश तक नहीं पहुँच सका, कारण पुद्गल तक पहुँचनेवाले साधनों द्वारा आत्मत्व की उपलब्धि अभभव है। उस इन्द्रिय, मन आदि की पहुँच के परे आत्मा-का निरूपण करना अलौकिक कार्य है। आत्मा को सामान्य चर्चा करना सरल है। (know thyself) 'अपनी आत्मा को जानो' यह उपदेश जरा भी कठिन नहीं है, किन्तु अपने को कैसे जाना जाय, और कैसे पहिचाना जाय, इस विषय में महर्षि कुदकुद की समयसार के रूप में विश्व को अप्रतिम देन है। इसी से भगवान् महावीर, गणधर, गोतम के

आत्मत्व का परिचय पुण्य नाम—स्मरण के साथ समयसार की अमृतनिधि देने कराने वाली याले महर्षि कुंदकुंद का जैन परम्परा में स्मरण अप्रतिम रचना किया जाता है:—
मंगल भगवान वीरो मंगल गीतमो गणी ।

मंगल कुंद कुन्दायो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

ये प्रथम शताब्दी के विद्वान माने जाते हैं । समयसार में ४१५ गाथा (पद्य) हैं । भाषा प्राञ्जल प्राकृत है । विषय—निरूपण—पद्धति सरल, सुस्पष्ट तथा प्रसाद गुण पूर्ण है । समय शब्द आत्मा का वाचक है । समय सार का भाव है परितुष्ट आत्मा । उपनिषद् की भाषा में इसे परब्रम्ह कहेंगे । पराविद्या के परिपूर्ण अभ्यास के लिए समयसार अप्रतिम ग्रंथ है ।

इस ग्रंथ के हृदय को समझने के लिए जैनवाङ्मय की नय व्यवस्था का सम्यक परिशीलन आवश्यक है । इसके अभ्यास के लिए उच्च-नैतिक विकास भी अत्यन्त आवश्यक है ।

समयसार के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली अमृतचंद्र सूरि की अमर कृति आत्म-स्वाति टीका है । वेदात के पंडित शंकराचार्य, कुंदकुंद की रचना तथा अमृतचंद्र सूरि की टीका से परिचित थे । प्रोफेसर ए० चन्नवर्ती ने अपनी समयसार की विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी टीका की भूमिका में लिखा है, कि शंकराचार्य अमृतचंद्र सूरि से प्रभावित थे ।

“We mentioned above that Sankara was acquainted with Sri Kunda Kunda and Amritachandra. We refer to this fact in connection with Sankara's distinction between the Vyavaharic and Paramarthik point of view. We have here to mention the fact, the doctrine of Adhyasa is also peculiar to Sankara. Adhyasa is the technical term he used to denote the confusion between Self and non-Self, a confusion due to Avidya or Ajnana. This term Adhyasa is not found in any of the philosophical writings prior to Sankara. Probably Sankara took a hint from Amritachandra who freely uses this concept in his commentary called Atmakhyati on Sri Kunda Kunda's Samayasara. This suggestion is made because Sankara himself speaks on one occasion that he is influenced by one Dravida Acharya. Probably this refers to Amritachandra—the great commentator on Samayasara.”

Samayasara - Introduction pages clx-clxi

आत्मतत्त्व पर मुस्पष्ट मुव्यवस्थित तथा तर्क-संगत प्रकाश डालने वाले समयसार को भारतीय ही नहीं, विश्व भारती का अप्रतिम रत्न मानना होगा ।

इस ग्रन्थ की महत्ता पर जस्टिस राव० व० जे० एल० जैनी एम. ए०, एम० आर० ए० स०, वार एटला, प्रेसीडेंट लेजिसलेटिव कौंसिल इंदौर ने बड़े मार्मिक शब्द अपने समयसार के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखे हैं।”

आचार्य कुंद कुंद इस ग्रन्थ का निराकरण करते हैं, कि जीव को भोग वगैरे मुलभ मालूम पड़ते हैं और आत्मा की ओर प्रवृत्ति करना वगैरे कठिन प्रतीत होता है ?

सुदपरिचिदाणुभूदा सत्त्ववि-काम-भोग-वध-कहा ।

एयत्तस्सुवलंभो णवरिण सुलही-विहत्तस्स ॥ ४ ॥

१ “Samayasara is fully the one idea of one concentrated divine unity. This is the only one idea, which counts. All Truth, Goodness, Beauty, Reality, Morality, Freedom is in this. The Self and it alone is true, good, lovely, real moral. The non-Self is error, myth, mithyatva, ugly, deluding, detracter from & obscurer of reality, immoral, worthy of shunning & renunciation as bondage & as anti-liberation.

This Almighty, all-comprehensive claim of Self-Absorption must be perfectly & Completely grasped for any measure of success in understanding Shri Kunda-Kunda Acharya's works, indeed for the true understanding of Jainism.

Sva-Samaya or Self-Absorption is the key-note, the purpose, the lesson, the object, the good and the centre of Shri Kunda-Kunda's all works & teachings. The Pure, All-conscious, Self-absorbed Soul is God and never less or more. Any connection Causeal or Effectual with the non-Self is a delusion limitation, Imperfection, bondage.”

२ The proposition that all living beings are characterised by desire for worldly things, enjoyment of the same And consequential bondge has been heard, observed and personally experienced by all. But the realisation of the unity of the

काम भोग तथा वध की कथा सब जीवों के सुनने में, परिचय में तथा अनुभव में आई है इसलिए यह मुलभ प्रतीत होती है, किन्तु केवल भिन्न आत्मा के एकत्व की वथा न कभी सुनने में, परिचय में तथा अनुभव में आई, इसलिए यह कठिन प्रतीत होती है।

इस गायत्री की टीका में प्रोफेसर चन्द्रवर्ती लिखते हैं, 'यही कारण है कि उपनिषद् के ज्ञाता स्पष्ट रूप से कहते हैं, कि आत्मा का वर्णन निषेधात्मक गुणों से हो सकता है। हम इसे नेति, नेति, 'इस प्रकार नहीं,' 'इस प्रकार नहीं' इस रूप से कह सकते हैं। यही कारण है कि गौतम बुद्ध उस समय चुप हो गए, जब उनके शिष्या ने आत्मा के विषय में प्रश्न किया था। इसी कारण ईसाई धर्म के संस्थापक ने यह कथन किया है, कि ईश्वर के साम्राज्य की प्राप्ति कराने वाला मार्ग अत्यन्त संकीर्ण तथा बिल्कुल सीधा है। यहाँ सत्य इस गायत्री में ग्रथकार ने बताया है। उनमें अज्ञेयवाद के सरल मार्ग, कि अतिम सत्य पूर्णतया अज्ञेय है, के स्थान में इतना कहा है, कि इसे जानना अत्यन्त कठिन है।"

तात्त्विक दृष्टि से आत्मा का स्वभाव ज्ञायकपना है, यह बताते हैं
व्यवहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तं दसणं णाण ।

ण वि णाण ण चरित्तं दसणं जाणमो मुद्धो ॥७॥'

व्यवहार नय की अपेक्षा सम्भवज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य बड़े गए हैं। निश्चय दृष्टि से उसके न ज्ञान है, न दर्शन, और न चारित्र्य

Higher Self which is free from all such empirical conditions, by our own personal experience, is not easy of achievement

That is why the Upanishadic thinker frankly states that it can be described only by negative attributes. We can only speak of it as *Neti Neti*, not this, not this. That is exactly why Gautama Buddha kept silent whenever he was asked by his disciples to give some information about the Self or Atma. Again, that is exactly the reason why the founder of Christianity always emphasised that the Path leading to the kingdom of God is extremely narrow and steep. It is this very same truth that is communicated to us by our author in this gatha. Instead of taking refuge in a cheap agnosticism that the Ultimate Reality is unknowable he merely states that it is extremely difficult to apprehend.

है, किन्तु वह ज्ञायक स्वभाव है ।

निश्चय दृष्टि यदि परमार्थ है, तब व्यवहार पद्धति को क्यों अपनाया गया है, यह कहने हें:-

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवएसण मसक्क ॥८॥^१

जैसे म्लेच्छ जनों को म्लेच्छ भाषा का अवलंबन बिना लिए कुछ भी नहीं बताया जा सकता है, इसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का प्रतिपादन करना असंभव है ।

जो यह सोचते हैं 'स्वाश्रितो निश्चयः'-आत्माश्रित निश्चय नय है, तब पर का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप को बताने वाले अपरमार्थरूप व्यवहार का आश्रय नहीं लेना चाहिए, उनके संदेह का निवारण करते हुए आगम में कहा है:-

जइ जिणमयं पडिज्जह तो मा विवहार णिच्छय मुंच ।

एणेण विणाछिज्जइ तित्थ, अण्णेण तच्च च ॥

जो तु जिनगत का पठन करना चाहता है, तो व्यवहार-निश्चय का परित्याग मतकर । व्यवहार दृष्टि के बिना तीर्थ-अनेकान्त शासन का प्रतिपादन के अभाव वश लोप होगा तथा निश्चय दृष्टि के बिना तत्त्व का-परमार्थ सत्य पदार्थ स्वरूप का लोप होगा ।

एकान्त पक्षका निषेध करते हुए पं. टोंडरमलजी ने लिखा है:-

कोऊ निश्चय नय से आत्मा को शुद्ध मान, भये हैं स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता ।

कोऊ व्यवहार दान शील तप भाव को ही, आत्म को हित जान छाड तन मुद्धता ॥

कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारण को, भिन्न भिन्न पहिचान करे निज उद्धता

जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब, कारण है उपचार भानें तब युद्धता ॥

यहां समयसार में शुद्ध निश्चय दृष्टि की अपेक्षा प्रतिपादन दिया है,

अतः व्यवहार कथन गौण हो गया है । गौण कथन को लोपरूप जानना

मिथ्या है । सम्यक्नय भिन्न दृष्टि को गौण करता है और कुनय दूसरी

१ Just as a non-Aryan (foreigner) cannot be made to understand anything except through the medium of his non-Aryan language, so the knowledge of the Absolute cannot be communicated to the ordinary people except through the Vyavahara point of view.

दृष्टि का लोप करता है। जब ग्रंथ का नाम समयसार—‘शुद्ध आत्मा है,’ तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा प्रतिपादन करना ग्रंथ का लक्ष्य नहीं है।

शुद्ध दृष्टि से आत्मा को बताते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अवद्धपुट्टु अण्णयं णियदं ।

अविसेसमवजुत्त त सुदणय धियाणीहि ॥ १४ ॥^१

जो दृष्टि आत्मा को बध रहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यपने से रहित, निपत अर्थात् अवस्थित, विशेष अर्थात् भेद रहित, असंयुक्त अर्थात् कर्मोपाधि रहित जानती है, वह शुद्धनय है।

शुद्धनय आत्मा को कमल पत्र पर स्थिति जलविंदु के समान अवद्ध अस्पृष्ट जानता है, नर, नारकादि पयांयो में उनसे भिन्न रूप चंतन्यरूप जानता है, तरंगयुक्त अथवा तरंग रहित स्थिति में भी समुद्र की भांति अवस्थित, अविशेष अर्थात् ज्ञानदर्शनादिभेद रहित, असंयुक्त अर्थात् रागादि विकल्प रूप भाव कर्म रहित जानता है। यदि यह कथन एकान्त रूप से मान लिया जाय, तो जीव, साधन रूपा व्यवहार रत्नत्रय से पराङ्ग मुक्त हो जायगा; ऐसी स्थिति में उसे शुद्ध दृष्टि की उपलब्धि नहीं होगी।

प० आशाधर जी ने अंगार धर्मामृत में लिखा है— ‘जो जीव व्यवहार से विमुक्त हो निश्चय को प्राप्त करना चाहता है, वह बिना बीज के धान्य को प्राप्त करने की आकांक्षा करता है।’

आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र्य रूप है, यह कहते हैं:—

दसण-णाण-चरित्ताणि सेविदग्धाणि साहुणा णिच्च ।

ताणि पुण जाण तिणिं वि अप्पाण चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥^१

साधु को दर्शन, ज्ञान, चरित्र की व्यवहार नय से नित्य आराधना करना चाहिये। वे तीनों ही निश्चय दृष्टि से आत्मा है।

१ He, who perceives the Atman as not bound, not touched not other than itself; steady, without any difference and not combined, know ye him, as Sudha-naya or the pure point of view.

२ Faith, Knowledge, and Conduct should always be cherished by saints from the Vyavahara point of view. Know that, in reality, these are the Self.

अज्ञानी आत्मा का स्वरूप कहते हैं:-

कम्मं णोक्कम्महिंय अहमिदि अहं च कम्म णोक्कम्मं ।

जा एसा सखु बुद्धो अपडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥^१

जब तक आत्मा की ज्ञानावरणादि कर्मों में तथा शरीर आदि नो कर्म में 'मे कर्म, नो कर्म रूप हूँ' और 'कर्म, नो कर्म मेरे हूँ' इस प्रकार की बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी बहिरात्मा स्वसंवित्ति शून्य कहा जाता है ।

जितेन्द्रिय आत्मा का स्वरूप कहते हैं -

जो इन्द्रिये जिणत्ता णाण सहावाधिअ मुणदि आद ।

त सलु जिदिदिय ते भणति जे गिच्छिदा साहू ॥३१॥^२

जो इन्द्रिया का जीतकर ज्ञान स्वभाव कर अधिक अर्थात् अन्य द्रव्यों की अपेक्षा आत्मा के विशिष्ट ज्ञान स्वभाव सहित आत्मा को जानता है, उसे निश्चय नय में स्थित साधु जितेन्द्रिय कहते हैं ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है । आत्मा ज्ञान-दर्शनोपयोग-युक्त है यह कहते हैं:-

अहम्मिक्को खलु मुद्धो दसणणाण मइअ सदा रवी ।

णवि अत्थि मज्झ किंविअ अण्ण परमाणुमित्तपि ॥३८॥^३

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन स्वाभाव हूँ, निश्चय नय से सदा अरूपी हूँ (निश्चयनयेन रूप-रस-गंध-स्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्त) । परमाणु मात्र भी पर द्रव्य-मेरा कुछ नहीं लगता है ।

१ The Karmic matter and non-karmic body matter constitute the I and (conversely) I am identical with Karmic matter and non karmic matter So long as this belief persists in the Self, it is said to be aprati-buddha, one lacking in discriminative knowledge

२ He who, subjugating the senses, realises that the self is of the nature of real knowledge is verily called a Conqueror of the senses by the saints, who know reality

३ Absolutely pure, having the nature of perception and knowledge, always non corporeal, I am indeed unique Hence not even an atom of alien things whatsoever (whether living or non-living) is related to me as mine

जीव का स्वरूप कहते हैं—

अरसमरुदमगंध अव्यक्तं चेदणगुणमसदं ।

जाण अलिगग्रहण जीवमणिदिट्ठसठाणं ॥४९॥^१

हे भव्य ! जीव को रस रहित, रुध सहित, गंध रहित, अव्यक्त अर्थात् इंद्रियों के अगोचर, चेतना गुण सहित, अलिग—ग्रहण अर्थात् किसी चिन्ह द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता है, तथा अनिर्दिष्ट संस्थान—जिसका आकार विशिष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है, ऐसा जान । व्यवहार नय से जीव के वर्णादि का वर्णन जिनेन्द्र देव ने किया है, उसे दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :—

पंथे मुस्तस्ते पस्सिदुण लोका भणति ववहारी ।

मुस्तदि एसो पथो णय पंथो मुस्तवे कोई ॥५८॥^२

तहजीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्ण ।

जीवस्त एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥५९॥^३

जैसे मार्ग में चलते हुए व्यक्ति को लुटा हुआ देयकर व्यवहारी जन कहते हैं, यह मार्ग लुटता है, परमार्थ से कोई मार्ग नहीं लुटता है, उसी तरह जीव में कर्मों तथा नो कर्मों का वर्ण देखकर यह जीव का वर्ण है, ऐसा व्यवहार नय से जिन भगवान ने कहा है :—

गंय- रस-फासह्वा देहो सठाणमाइया जे य ।

सब्बे ववहारस्य य णिच्छय दूण्ह ववदितति ॥६०॥^४

१ Know ye that the pure Self is without taste, colour without smell, imperceptible to touch, without sound, nor an object of anumana or inferential knowledge, without any definite bodily shape, and is characterised by chetana (consciousness).

२ Seeing some one robbed on a road, ordinary people adopting the Vyavahara point of view, say "this road is robbed," but really what is robbed is not the road.

३ Similarly, perceiving the colour which belongs to the material entities of Karma and non Karma, which are found in association with Jiva, the all-knowing Jina describes it from the Vyavahara point of view, as the quality of the sou'.

४ Thus are smell, taste, touch, figure, etc., predicate (of the soul) from the Vyavahara point of view by the All-knowing.

इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूपा, देह सत्यानादिक सब व्यवहार से है, ऐसा निश्चय नय के ज्ञाता कहते हैं ।

इस प्रकार के उभयरूप प्रतिपादन का हेतु बताते हैं —

तत्त्वमवे जीवाण ससारत्याण होति वण्णादो ।

ससारपमुक्काण णत्थि ह वण्णादओ कई ॥६१॥^१

वर्ण आदिक ससार में विद्यमान जीव के ससार में होत हैं । ससार से मुक्त जीवों के वर्णादिक नहीं पाए जाते हैं ।

इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है । यदि तादात्म्य सम्बन्ध होता, तो मुक्तावस्था में ज्ञानादिक के समान वर्णादिक भी पाए जाते । ज्ञानी आत्मा विचारता है —

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदसणसमग्गो ।

तम्मि ठिओ तच्चित्तो सन्ने एए खण्णेमि ॥७३॥^२

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, भ्रमता रहित हूँ ज्ञानदर्शन कर पूर्ण हूँ, ऐसे स्वभाव में रहता हुआ मैं क्रोधादि के आस्रव को क्षय करता हूँ ।

कर्मों के आस्रव के दोष बताते हैं^३

जीवणिवद्धा एवे अघुव अणिच्चा तहा असरणाय ।

दुक्खा दुक्ख फल्लणि य णादूण णिवत्तादे तेहि ॥७४॥^४

१ So long as Jivas have embodied existence in the world of Samsara, attributes of colour etc, are present in them. The moment they liberate themselves from the Samsaric bondage, these characteristics such as colour, etc, have absolutely no relation to them.

२ I am really one, pure, without the sense of ownership or "mine-ness" and full of complete knowledge and perception. Firmly resting in the true consciousness of such a Self, I shall lead all these Asravas such as anger, etc, to destruction.

३ Knowing them, bound as they are to the soul, to be impermanent, evanescent, unprotected and misery in their nature and also to be misery as their fruit in future (the self) abstains from them.

मे आलव है, वे जीव के साथ निबद्ध हैं, 'अधुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःखरूप है, दुःख-फल वाले हैं, ऐसा जानकर जानी पुष्ट उनसे निवृत्ति करता है ।

परमार्थ दृष्टि से आत्मा ज्ञाता है । यही बात कहते हैं:-

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।

ण करेई एय मादा जो जाणदि सो ह्वदि णाणा ॥७५॥^१

जो जीव कर्म के तथा जो कर्म के परिणामन को नहीं करता है, किन्तु उनको जानता है, वह ज्ञानी है ।

यहा जीव को कई बंध के उपादान कारण का निषेध किया गया है, कारण भिन्न द्रव्यों में उपादान-उपादेयभाव नहीं पाया जाता है । प्रमेय कमल मार्तण्ड में लिला है "ययोः परस्परमुपादानो पादेयभाव स्तो न तत्प्रज्ञात्वातरम्"-जिनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव होता है, वे एक ही तत्व हैं, दो तत्व नहीं हैं । "भूतिका रूप उपादान कारण घट कार्य रूप परिणत हो जाती है । कुंभकार, चक्र आदि निमित्त कारण हैं, क्योंकि वे स्वयं कार्य रूप-घट रूप परिणत नहीं होते हैं । यदि कर्म का उपादान कारण जीव माना जाय तो जीव और पुद्गल ये दो तत्व न रह कर एक ही द्रव्य हो जायगा । इस कारण निश्चय दृष्टि से जीव को ज्ञाता कहा है । इस निश्चय विचार-मारा में निमित्त कारण पर दृष्टि नहीं दे, उपादान कारण को लक्ष्यगोचर करते हुए प्रतिपादन किया गया है । व्यवहारनय निमित्त कारण की अपेक्षा जीव को कर्म बंध का कर्ता कहता है । कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण के समान निमित्त कारण की भी आवश्यकता पड़ती है । अतः सम्यक्ज्ञानी दोनों दृष्टियों की अपेक्षा निमित्त-उपादान का गौण मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है । एक पक्ष का एकान्त रूप से ग्रहण करने पर सत्य तत्व का लोप होता है ।

जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक पना है, यह स्पष्ट करते हैं:-

जीव परिणाम हेतु कम्मत्त पुगल्य परिणमति ।

पुगल-कम्म-निमित्त तहेव जीवो विपरिणमइ ॥८०॥

१ The Self does not produce any modifications in Karmic matter nor is the non-Karmic matter. He who realises this is the real knower.

२ As conditioned by the modifications of Jiva, the material particles get modified into Karmas. Similarly, conditioned by the Karmic materials, Jiva also undergoes modifications.

जीव के परिणाम रूप निमित्त कारण से पुद्गलो का कर्म रूप परिणमन होता है । इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से जीवों के भावों में भी विवृति आती है ।

ण वि कुब्बइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।

अण्णाण्ण निमित्तेण दु परिणाम जाण बोण्ह पि ॥८१॥^१

यद्यपि जीव और कर्म का परस्पर में निमित्त रूप परिणमन होता है, तथापि निश्चय से जीव कर्म के वर्णादि रूप गुणों को नहीं करता है और कर्म भी उसी प्रकार जीव के ज्ञानादि गुणों को नहीं करता है तथापि एक दूसरे के लिए निमित्त से दोनों का परिणमन जानना चाहिए ।

एदेण कारणेण दु आदा कत्ता सएण भावेण ।

पौगलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥ ८२ ॥^२

इसी कारण अपने भावों पर आत्मा कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु पुद्गल कर्म कृत सर्व भावों का कर्त्ता नहीं है ।

इस सापेक्ष वचन को भूलकर कोई आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मानकर सिद्ध समान सोचते हैं । उनके सदेह निवारणार्थ प टोडरमल जी ने मोक्ष मार्ग प्रकाशक में लिखा है—“काई जीव निश्चय को न जानते निश्चयामास के श्रद्धानी हाइ आपको मोक्षमार्गी माने हैं, अपने आपको सिद्ध समान अनुभव है । सो आप प्र यक्ष ससारी है । भ्रमकरि आपको सिद्ध माने सोई मिथ्या दृष्टी है । शास्त्रनि विषे जो सिद्ध समान आत्मा को कह्या हैं, सो द्रव्य दृष्टि कर कह्या हैं, पर्याय अपेक्षा समान नाही है । जैसे राजा अर रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं, राजापना रक्पना भी अपेक्षा तो समान नाही तैसे सिद्ध अर ससारी जीवत्वपने की अपेक्षा समान है, सिद्धपना ससारीपना की अपेक्षा तो समान नाही । यहू जैसे सिद्ध शुद्ध हैं, तैसे ही आपकी शुद्ध माने । सो शुद्ध अशुद्ध अवस्था पर्याय हैं । इस पर्याय अपेक्षा समानता मानिये सो यहू मिथ्या दृष्टि है । बहुरि आपके बवल

१ Jiva does not produce changes in the qualities of Karma nor does Karma similarly in the qualities of Jiva The modifications of those two, know ye, are the results of one conditioning the other as Nimitta karana or instrumental cause

२ For this very reason the Self is the substantial cause of his own modifications (both pure and impure), but is not the substantial cause of any of the modifications of Karmic matter.

ज्ञानादिक का सदभाव मानें ।

सो आपके ती क्षयोपक्षम रूप मति श्रुतादि ज्ञान का सदभाव है । क्षायिक भाव तो कर्म का क्षय भए होइ है । सो यह मिथ्या दृष्टी है । शास्त्र विपै सर्व जीवनि का केवल-ज्ञान स्वभाव बह्या है, सो शक्ति अपेक्षा बह्या है सर्व जीवनि विपै केवल ज्ञानादि रूप होने की शक्ति है । वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त भए ही कहिए । (पृ २८४, अधिकार ७-जैन मिथ्यादृष्टि विवेचन)

जा रागादि विकार रहित अपनी आत्मा को मानने हैं, उनको समझाते हुए ५० टोडर मल जी पूछने हैं -

‘ए रागादिक ती होते देखिए हैं, ए किस द्रव्य के अस्तित्व विपै है ? जो शरीर वा कर्म रूप पुद्गल के अस्तित्व विपै होय, ता ये भाव अचेतन वा मूर्तीक कहो । सो तो ए रागादिक प्रत्यक्ष चेतनता लिए अमूर्तीक भाव भासै ह । तार्ते ये भाव आत्मा ही कहें ॥ “जो रागादिक भावनि का निमित्त कर्म ही का मानि आपकी रागादिक का अकर्ता मानै है, सो कर्ता तो आप अर आपकी निरुद्यमी होय प्रमादी रहना, तार्ते कर्म काही दोष ठहरावे है, सो यह दुःखदायक भ्रम है । सोई समयसार-कल्शा विपै बह्या है -

रागजमनि निमित्तता परद्रव्यमेव, कलयति ये तु ते ।

उत्तरति नहि मोहवाहिनी शुद्धबोध-विघ्नराघवबुद्धय ॥

(सर्वविशु २८)

जो जीव रागादिक की उत्पत्ति विपै पर द्रव्य ही का निमित्त पनी मानै हैं, ते जीव भी शुद्ध ज्ञान करि रहित हैं अध बुद्धि जिनकी ऐसे होते सत मोह नदी को नही उतरै हैं ।

जो रागादिक अपने न जानें, आपको अकर्ता मान्या, तब रागादिक होने का भय रह्या नाही, वा रागादिक मँटने का उपाय करना रह्या नाही, तब स्वच्छन्द होय खाटे कर्म बाधि अनत ससार विपै रुके है ।”

इस प्रसंग में एक मामिक शका उत्पन्न होती है कि आगम में लिखा है कि वर्णादिक तथा रागादिक भाव आत्मा से भिन्न हैं-“वर्णाद्या वा रागमोहादयोवा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंस ।” (जीवा-जीवा ५) अतएव आत्मा को रागादि रहित मानना कैसे अनुचित होगा ? अविरोधी कथन किम प्रकार मिट्ट होगा ? इसका समाधान इस प्रकार करते हैं - रागादिक भाव पर द्रव्य के निमित्त तं ओपाधिक भाव हा है ।

सीवण्णियहि णियलं बंधदि कालायस च जह पुरिसं ।

बंधदि एवं जीवं सुहमगुह वा नव कम्मं ॥१४६॥^१

जैसे लोहे की वेड़ी पुरुष को बाधती है उसी प्रकार सुवर्ण की वेड़ी भी बाधती है । इसी प्रकार किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म जीव को बाधता है ।

बंध का कारण रागभाव है तथा वैराग्य से बंध छूटता है यह कहते हैं :-

रत्तो बंधदि कम्मं मुचदि जीवो विराग संपत्तो ।

एवो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥^२

रागी जीव कर्मों को बाधता है, वैराग्य संपन्न जीव कर्म से छुटकारा पाता है; यह जिन भगवान का उपदेश है; अतः कर्मों में राग भाव को छोड़ो । ज्ञानी जीव के भी बंध होता है, यह बताते हैं -

जह्मादुं जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।^३

अण्णत्तं णाणं गुणो तेण दु सो बधगो भण्णितो ॥१७१॥^४

जिस कारण ज्ञान गुण पुनः भी जघन्य ज्ञान गुण से अन्यरूप परिणमन करता है, इसी कारण वह ज्ञान गुण कर्म का बंधक कहा गया है ।

इस विषयमें टीकाकारका कथन है कि यथा कथात चारित्र्य के पूर्व में ज्ञान गुण सकपाय होने से हीन रूप परिणमन करता है । वह अन्तर्मूर्त से अधिक बाल पर्यन्त निर्विकल्प समाधि में नहीं रहता है । उससे अन्यरूप अर्थात् सधिवल्प रूप पर्याधान्तर को ज्ञानगुण प्राप्त करता है । इस सधिवल्प कपाय भावसे वह ज्ञानगुण बंधक है । अमृतचंद्र भूषि का कथन है “स तु यथाकथात-चारित्र्यावस्थाया अपस्तादवस्यभावि रागसद्भावात् बधहेतुरेव म्यात्” (पृ० २४५)- वह ज्ञान-

१ A shackle made of gold is as one made of iron for the purpose of chaining a man. Similarly Karma whether good or bad equally binds the jiva.

The self with attachment gets bound by Karmas but the one with detachment remains free from Karmas. So has the Jina been declared, therefore do not evince attraction towards Karmas.

३ When the Self's cognitive quality is at its lowest stage it is liable to alternative alien modifications whether good or bad. Therefore in either case the Self is called the builder of Karmas.

गुण यथाख्यात चारित्र्य रूप अवस्था के नीचे नियम से राग भाव के सद्भाव युक्त होने से बंध का कारण कहा गया है। यह कथन पूर्णतया उचित है। वध का कारण रागभाव कहा गया है। जिस गुणस्थान पर्यन्त रागभाव होगा, वहाँ तक बंध मानना होगा। गुणस्थान के आरोहण होने से जितने जितने अंश में रागभाव व्यून होता जाता है उतने उतने अंश में वध का भी अभाव होता है। यथाख्यात चारित्र्य जब तक नहीं होता है, तब तक रागकृत वध नियम से होता है। रागभाव के अभाव होने से ही यथाख्यात चारित्र्य की प्राप्ति होती है। इसलिए सूक्ष्म साम्बराय गुणस्थान में सूक्ष्म लोभरूप कषाय होने से बंध होता है। महान ज्ञानी होते हुए भी पर पदार्थ में सूक्ष्म राग का सद्भाव आत्म बोध का बाधक है, यह कहते हैं—

परमाणु मित्तय पिह्णु रायादीणं तु विज्जदे जस्त ।

णवि सो जाणदि अप्याणयं तु सव्वागमघरोवि ॥२०१॥^१

निश्चय नय की अपेक्षा जिस जीव के अल्पतम परिणाम में भी पर पदार्थ में राग भाव है, वह सर्व शास्त्र पारगत होते हुए भी आत्मा को नहीं जानता है।

पर द्रव्य का कैसा भी परिणाम हो जाय, वह आत्म स्वरूप नहीं हो सकता है, यह कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।

जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिगहो मज्झ ॥२०२॥^१

ज्ञानी आत्मा विचारता है परद्रव्य छिद जाय न भिद जाय, वा कोई ले जाय वा नष्ट हो जाय, वा जिस तिस प्रकार से चला जाय, तो भी निश्चय कर पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।

ज्ञानी कर्म रूपी रज से लिप्त नहीं होता है, किन्तु अज्ञानी कर्म रज से लिप्त होता है, यह समझाते हैं —

१ Verily one in whom attachment etc., even to the extent of an atom, is present, cannot know the Self, even if one be a master of all scriptures.

२ It may be cut, it may be split, it may be dragged or it may be destroyed, whatever manner of deformity it undergoes, even then it (the body or any other external object) does not concern me, as it is not really mine.

णाणी, रागप्लवजहो सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो ।

णो लिप्पदि कम्म रएण दु कद्दम मज्झे जहा कणय ॥२१८॥

अण्णाणी पुण रत्ती सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो ।

लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम मज्झे जहा लोह ॥२१९॥^१

ज्ञानी सब द्रव्यों में राग का छोड़ने वाला है, वह कर्म के मध्य में रहते हुए भी कर्म रज से लिप्त नहीं होता है, जैसे कीचड़ के मध्य में पड़ा हुआ सुवर्ण, तथा अज्ञानी सब द्रव्यों में रागी है, इससे कर्म के मध्य को प्राप्त होता कर्म रजकर लिप्त होता है, जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा ।

वध का कारण क्या है इस विषय को बताते हैं—

अज्झवसिदेण वधो सत्ते मारेज मा व मारेज ।

ऐसा वध समाप्तो जीवाण निच्छय-णवस्तु ॥२२०॥^२

निश्चय नय का कथन है कि जीवों को मारो अथवा न मारो, अध्य-वसाय (अभिप्राय) से वध होता है, यह वध का संक्षेप में कथन है ।

यद्यपि अध्यवसाय द्वारा वध होता है, किन्तु अध्यवसाय न वस्तु अवलंबन रूप पड़ती है यह बताते हैं—

वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण तु होई जीवाण ।

णय वत्थुदो दु वधो अज्झवसाणण वधात्ति ॥२२१॥^३

१ Just as gold in the midst of mire remains uncontaminated because of its non adhesive property, so also the enlightened one, because of his complete non-attachment to the environment remains unaffected even when immersed in a cloud of Karmas, whereas the unenlightened one because of his attachment to external objects gets effected when in the midst of Karmas, just as a piece of iron gets contaminated when dipped in mire because of its adhesive property.

२ The will to kill is enough to bring bondage irrespective of the fact whether animals are killed or are not killed. From the real point of view, this in short is the mode of bondage in the case of Jivas (or empirical Selves)

३ Thought in an empirical Self is always conditioned by an object in the external world. Nevertheless it is not that external object that is the cause of bondage. It's by thought that bondage is caused

जीवों के वस्तु के अवलम्बन से अध्यवसान होता है। वस्तु से वध नहीं है किन्तु अध्यवसान से वध होता है।

“यदि वस्तु से वध नहीं होता है, तो बाह्य वस्तु का किस लिए प्रतिषेध होता है ?

अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्य वस्तु का त्याग कराया जाता है, क्योंकि कि बाह्य वस्तु अध्यवसान का आश्रयभूत है। बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान नहीं होता है। यदि बाह्य वस्तु के बिना आश्रय के अध्यवसान ही जाय, तो जैसे वीर माता के पुत्र के सङ्काव होने पर वीर माता के पुत्र को मँ मारता है, इस प्रकार का अध्यवसाय होता है, इसी प्रकार वध्या पुत्र रूप आश्रय के अभाव में वध्या पुत्र को मँ मारता है ऐसा अध्यवसाय होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए अध्यवसाय निराश्रय नहीं होता है यह नियम है।

इसी कारण अध्यवसान का आश्रय भूत बाह्य वस्तु का अत्यन्त निषेध है। अतः कारण के निषेध से कार्य का निषेध हो जाता है, यह न्याय है। बाह्य वस्तु अध्यवसान का हेतु है। इस कारण उसके निषेध से अध्यवसान का निषेध होता है, परन्तु वध के हेतु का हेतु होने पर भी बाह्य वस्तु वध का कारण नहीं है, कारण ईर्यासमिति परिणत यतीन्द्र के चरण से जो बाल का प्रेरा अति वेग से आकर गिरा तथा हना गया क्षुद्र जीव है उसके मर जाने से मुनीन्द्र को हिंसा नहीं लगती है। इसलिए बाह्य वस्तु को वध के हेतु होते हुए भी यहाँ अवध का कारण होने से वध हेतु कथन में अनैकान्तिक दोष आता है। इसलिए बाह्य वस्तु जीव के तद्रूपभाव न होने पर वध का हेतु नहीं है। अध्यवसान ही वध का हेतु है, कारण यह तद्भाव रूप है।

वध के नाश होने से जीव मोक्ष को प्राप्त करता है यह समझाते हैं:-

जह वधे छित्तूणय वधणवद्धो उपावद्दिमोक्खं।

तह वधे छित्तूणय जीवो सपावद्दिमोक्ख ॥२९२॥^१

जैसे वधन से वधा हुआ पुरुष वधन को छेदकर मोक्ष को पाता है, उसी तरह जीव कर्म के वधन को छेदकर मोक्ष प्राप्त करता है।

१ As one bound in shackles gets release only on breaking the shackles, so also the Self attains emancipation only by breaking (Karmic) bondage

वधाणच सहाव वियाणिओ अप्पणो सहावच ।
वधंसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खण वृणई ॥२९३॥^१

वधो का स्वभाव तथा आ मा के स्वभाव को जानकर जो पुरुष वधो से विरक्त होता है वह पुरुष का मोक्ष-आत्यंतिक निवृत्ति करता है ।
आत्मा तथा वध में पृथक्करण का उपाय कहते हैं—

जीवो वधो य तथा छिज्जति सलक्खणेहि णियणहि ।
वधो छेएवव्वो सुद्धो अप्प य चित्तव्वो ॥२९५॥^२

जीव और वध इनको निश्चित स्वलक्षण द्वारा इस प्रकार भिन्न करना कि विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाला परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप भेद ज्ञानरूपी छुरी के द्वारा मिथ्यात्व रागादि रूप वध छेदने योग्य है तथा शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है ।

आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करना यह बताते हैं—

कह सो धिप्पइ अप्पा पण्णाए सोउ धिप्पए अप्पा
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाए व चित्तव्वो ॥२९६॥^३

शुद्ध आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है ? प्रज्ञा कर-भेद ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा ग्रहण किया जाता है । जैसे पूर्व सूत्र में प्रज्ञा के द्वारा रागादिक से पृथक् किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा यह ग्रहण करने योग्य है ।

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करे, यह बताते हैं—

पण्णाए चित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छ यदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णामव्वा ॥२९७॥^४

१ Whoever with a clear knowledge of the nature of karmic bondage as well as the nature of the Self, does not get attracted by bondage that person obtains liberation from karmas,

२ When the Self and bondage which are differentiated by their intrinsic and distinctive attributes, are thus separated then by completely casting away all bondage, the pure Self ought to be realised

३ How is the Self realised ? The Self is realised by discriminative wisdom So also by the very same discriminative wisdom he is realised,

४ That (pure) conscious being which is apprehended by

निश्चय से जो चेतन स्वरूप आत्मा है वह मैं हूँ, इस प्रकार प्रज्ञा (ज्ञान) कर ग्रहण करने योग्य है। इससे शेष जो भाव है, वे मुझसे परे हैं, इस प्रकार आत्मा को जानना चाहिए। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हैं -

पण्णाए धित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छययो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥^१

पण्णाए धित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९९॥^२

प्रज्ञाकर-भेद विज्ञान द्वारा ऐसे ग्रहण करना, कि जो देखने वाला है, वह तो निश्चय से मैं हूँ। अवशेष जो भाव है, वे मुझसे परे हैं, ऐसा जानना चाहिए।

प्रज्ञाकर ही यह ग्रहण करना चाहिए कि जो जाननेवाला है, वह तो निश्चय से मैं हूँ। अवशेष जो भाव है, वे मुझसे परे हैं ऐसा जानना चाहिए।

शास्त्राभ्यास करते हुए भी अभव्य जीव अपनी प्रकृति को नहीं बदलता है, यह कहते हैं -

ण मुणइ पयडिम भव्वो सुट्ठवि अज्झाइऊण सत्याणि ।

गुडदुद्धपि पिवतो ण पण्णया णिव्विस्ता द्दुति ॥३१७॥^३

अभव्य अच्छी तरह शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी स्वभाव को नहीं छोड़ता है। (प्रमोचन समर्थ द्रव्यश्रुत के ज्ञान से नहीं छूटता है, कारण सदा भाव श्रुत ज्ञान लक्षण शुद्ध आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से वह अज्ञानी है-“अभव्य

discriminative wisdom is in reality the “I”. Whatever mental states remain (besides) are all to be known to be other than “mine”.

१ That seer who is apprehended by discriminative wisdom is in reality the “I”. Whatever mental states there are (besides), are all to be known to be other than “mine”

२ That knower, who is apprehended by discriminative wisdom is in reality the “I” Whatever mental states remain (besides) are all to be known to be other than “mine”

३ The abbavya or the unfit Self, even though well-versed in the scriptures, does not give up his attachment to Karmic Prakriti, just as a snake by drinking sweetened milk does not become non poisonous

बंधाणच सहाव वियाणिओ अप्पणो सहावच ।
बधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खण क्खणई ॥२९३॥^१

बधो का स्वभाव तथा आत्मा के स्वभाव को जानकर जो पुनः बधो से विरक्त होता है वह पुनः का मोक्ष—आत्मतत्त्व निवृत्ति करता है ।
आत्मा तथा बध में पृथक्करण का उपाय कहते हैं—

जीवो बधो य तथा छिज्जति सलक्खणेहि णियएहि ।
बधो छेएववो सुद्धो अप्प य वित्तवो ॥२९५॥^३

जीव और बध इनको निश्चित स्वलक्षण द्वारा इस प्रकार भिन्न कर कि विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाला परमात्म तत्त्व का सम्यक् ध्यान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप भेद ज्ञानरूपी छुरी के द्वारा मिथ्यात्व रागादि रूप बध छेदने योग्य है तथा शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करना यह बताते हैं—

कह सो विप्पइ अप्पा पण्णाए सोउ विप्पए अप्पा
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाए व वित्तवो ॥२९६॥^४

शुद्ध आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है ? प्रज्ञा का भेद ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा ग्रहण किया जाता है । जैसे पूर्व सून में प्रज्ञा के द्वारा रागादिक से पृथक् किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा यह ग्रहण कर योग्य है ।

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करे, यह बताते हैं—

पण्णाए वित्तवो जो चेदा सो अह तु णिच्छ यदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायन्वा ॥२९७॥^५

१ Whoever with a clear knowledge of the nature karmic bondage as well as the nature of the Self, does not get attracted by bondage that person obtains liberation from karmas,

२ When the Self and bondage which are differentiated by their intrinsic and distinctive attributes, are thus separated then by completely casting away all bondage, the pure Self ought to be realised.

३ How is the Self realised ? The Self is realised by discriminative wisdom So also by the very same discriminative wisdom he is realised,

४ That (pure) conscious being which is apprehended

जिनने वस्तु स्वरूप को नहीं समझा है, वे पुरुष व्यवहार के बचनो का आश्रय लेकर कहते हैं—कि पर द्रव्य मेरा है, किन्तु जो निश्चय से पदार्थों का स्वभाव जानते हैं, वे कहते हैं, परमाणु मान भी मेरा नहीं है।

व्यवहार का कथन ऐसा है कि जैसे कोई कहे हमारा ग्राम है, नगर है, देश है, राष्ट्र है, किन्तु वे नगरादिक उसके नहीं हैं, वे तो राजा के हैं, किन्तु मोहवश यह उनकी अपना कहता है, इसी प्रकार जो ज्ञानी पर द्रव्य जानता हुआ भी पर द्रव्य मेरा है, ऐसा अपने को पर द्रव्यमय करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है।

इसलिए ज्ञानी जीव “पर द्रव्य मेरा नहीं है”, ऐसा जानकर पर द्रव्य में पूर्वोक्त कर्त्तृपने के व्यापार को जानता हुआ यह जानता है कि ये आत्मदृष्टि रहित हैं।

जीव व्यवहार नय से कर्मों का कर्त्ता है, यह समझाते हैं —

जह सिप्पिओउ कम्म कुब्बइ ण य सोउ तम्मओ होइ।

तह जीवोविय कम्म बुत्तवि णय तम्मओ होइ ॥३४९॥^१

जैसे शिल्पी—कारीगर आभूषणादि कर्म को करता है, किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है। उसी प्रकार जीव भी पुद् गल कर्म को करता है किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है।

जीव कर्मों का भोक्ता भी है इसको स्पष्ट करते हैं —

जह सिप्पिउ कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥३५२॥^२

तह जीवो कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मों—कार्यों के फल को (द्रव्य लाभ) भोगता हुआ भी तन्मय नहीं होता है, उसी प्रकार जीव भी सुख दुःखादि कर्म के फल को भोगता है किन्तु तन्मय नहीं होता है।

truth that no object of non-Self is his still persists in thinking of the existence of a creative will producing the external reality, he does so being devoid of right belief Let it be understood to be the truth

१ As an artisan performs his work, but does not become identical with it, so also the Self produces Karma, but does not become identical with it

२ As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it, so also the Self enjoys the fruit of Karma but does not become one with it

प्रकृति स्वभावं स्वयमेव न मुंचति—प्रमोचनद्वयश्रुतज्ञानाच्च न मुंचति नित्यमेव भावश्रुतज्ञान—लक्षण-शुद्धात्म ज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्” (आत्म-ख्यातिः) जिस प्रकार सर्प गुड सहित दूध को पीते हुए भी निर्विष नहीं होता है ।

जीव का स्वभाव ज्ञातृत्व है, यह समझाते हैं.—

दिद्वी सयपि णाणं अकारयं तह अवेदय चेव ।

जाणइ य वंधमोक्ख कम्मदय णिज्जरं चेव ॥३२०॥^१

जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थ को देखता है, उनका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान भी बंध, मोक्ष, कर्म का उदय तथा निर्जरा को जानता है, उनका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है ।

निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि में अंतर स्पष्ट करते हैं:—

व्यवहार भासिएण दु परदव्व मम भणंति अविदियत्था ।

जाणंति णिच्छयेण उ णयमम परमाणुमेत्तमवि किञ्चि ॥३२४॥

जह कोवि णरो जंपइ अह्य गाम-विसयणंयरट्ठं ।

णय होति ताणि तस्तउ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥

एमेव मिच्छदिद्वी णाणी णिस्ससयं हवइ एसो ।

जो परदव्वं मम इदि जाणतो अप्पय कुणइ ॥३२६॥

तह्या ण मेत्ति णिच्चा दोव्वं वि एयाण कत्ति ववसाय ।

परदव्वे जाणंती जाणिज्जो दिट्ठि रहियाण ॥३२७॥^१

१ Knowledge, too like, sight is neither the doer nor the enjoyer (of karmas); but only knows the bondage, the release, the operation of karmas and the shedding of karmas.

२ Those who know the nature of reality speak of non-Self as “mine” using the language of the ordinary people, while they know really there is not even an atom of non-Self which is “mine.” Just when a person speaks of my village, my country, my town or my kingdom, those are not really his. That person so speaks through Self-delusion. In the same way, a person who (deluded by the vavahara point of view) understands non-Self as his and identifies himself with it, certainly becomes one of erroneous belief. There is no doubt about this. Among these two (ordinary people and Sramanas) if a person knowing the

जिनने वस्तु स्वरूप को नहीं समझा है, वे पुरुष व्यवहार के वचनों का आश्रय लेकर कहते हैं—कि पर द्रव्य मेरा है, किन्तु जो निश्चय से पदार्थों का स्वभाव जानते हैं, वे कहते हैं, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

व्यवहार का कथन ऐसा है कि जैसे कोई कहे हमारा ग्राम है, नगर है, देश है, राष्ट्र है; किन्तु वे नगरादिक उसके नहीं है, वे तो राजा के हैं, किन्तु मोहवश यह उनको अपना कहता है, इसी प्रकार जो ज्ञानी पर द्रव्य जानता हुआ भी पर द्रव्य मेरा है, ऐसा अपने को पर द्रव्यमय करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है।

इसलिए ज्ञानी जीव “पर द्रव्य मेरा नहीं है”, ऐसा जानकर पर द्रव्य में पूर्वोक्त कर्तापिने के व्यापार को जानता हुआ यह जानता है कि ये आत्मदृष्टि रहित हैं।

जीव व्यवहार नय से कर्मों का कर्ता है, यह समझाते हैं—

जह सिप्पिओउ कम्मं कुब्बइ ण य सोउ तम्मओ होइ।

तह जीवोविय कम्मं कुब्बइ णय तम्मओ होइ ॥३४९॥^१

जैसे शिल्पी—कारीगर आभूषणादि कर्म को करता है, किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है। उसी प्रकार जीव भी पुद्-गल कर्म को करता है किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है।

जीव कर्मों का भोक्ता भी है इसको स्पष्ट करते हैं—

जह सिप्पिउ कम्मफलं भुजइ णय तम्मओ होइ ॥३५०॥^२

तह जीवो कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मों—कार्यों के फल को (द्रव्य लाभ) भोगता हुआ भी तन्मय नहीं होता है, उसी प्रकार जीव भी सुख दुःखादि कर्म के फल को भोगता है, किन्तु तन्मय नहीं होता है।

truth that no object of non-Self is his still persists in thinking of the existence of a creative will producing the external reality, he does so being devoid of right belief. Let it be understood to be the truth.

१ As an artisan performs his work, but does not become identical with it, so also the Self produces Karma, but does not become identical with it.

२ As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it, so also the Self enjoys the fruit of Karma but does not become one with it.

प्रकृति स्वभाव स्वयमेव न मुचति—प्रमाचनद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुचति नित्यमेव भावश्रुतज्ञान—लक्षण शुद्धात्म ज्ञानाभावनाज्ञानित्वात्” (आत्म-ख्याति) जिस प्रकार सर्प गूठ सहित दूध को पीते हुए भी निविष नहीं होता है ।

जीव का स्वभाव ज्ञातृत्व है, यह समझाते हैं —

दिट्ठी सयपि णाण अकारय तह अवेदम चेव ।

जाणइ य वधमोक्ख कम्मदय णिज्जर चेव ॥३२०॥^१

जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थ को देखता है उनका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान भी वध, मोक्ष, कर्म का उदय तथा निर्जरा को जानता है, उनका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है ।

निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि में अंतर स्पष्ट करते हैं —

व्यवहार भासिएण दु परदव्व मम भणति अविदियत्था ।

जाणति णिच्छयेण उ णयमम परमाणुमेत्तमवि किञ्चि ॥३२४॥

जह कोवि णरो जपइ अह्य गाम—विसयगयरट्ठ ।

णय हाति ताणि तस्सउ भणइ य माहेण सो अप्पा ॥३२५॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्ससय हवइ एसो ।

जो परदव्व मम इदि जाणतो अप्पय कुणइ ॥३२६॥

तह्या ण मेत्ति णिच्चा दोव्ह वि एयाण वत्ति ववसाय ।

परदव्वे जाणतो जाणिज्जो दिट्ठि रहियाण ॥३२७॥^१

१ Knowledge, too like, sight is neither the doer nor the enjoyer (of karmas), but only knows the bondage, the release, the operation of karmas and the shedding of karmas

२ Those who know the nature of reality speak of non Self as “mine” using the language of the ordinary people, while they know really there is not even an atom of non-Self which is “mine” Just when a person speaks of my village, my country, my town or my kingdom, those are not really his That person so speaks through Self delusion In the same way, a person who (deluded by the vavahara point of view) understands non Self as his and identifies himself with it, certainly becomes one of erroneous belief There is no doubt about this Among these two (ordinary people and Sramanas) if a person knowing the

जिन्हें वस्तु स्वरूप को नहीं समझा है, वे पुरुष व्यवहार के वचनों का आश्रय लेकर कहते हैं—कि पर द्रव्य मेरा है, किन्तु जो निश्चय से पदार्थों का स्वभाव जानते हैं, वे कहते हैं, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

व्यवहार का कथन ऐसा है कि जैसे कोई कहे हमारा ग्राम है, नगर है, देश है, राष्ट्र है; किन्तु वे नगरादिक उससे नहीं है, वे तो राजा के हैं, किन्तु मोहवश यह उनको अपना कहता है, इसी प्रकार जो शानी पर द्रव्य जानता हुआ भी पर द्रव्य मेरा है, ऐसा अपने को पर द्रव्यमय करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है।

इसलिए शानी जीव “पर द्रव्य मेरा नहीं है”, ऐसा जानकर पर द्रव्य में पूर्वोक्त कर्तापने के व्यापार को जानता हुआ यह जानता है किये आत्मदृष्टि रहित है।

जीव व्यवहार नष्ट से कर्मों का कर्ता है, यह समझाते हैं—

जह सिप्पिओउ कम्मं कुव्वइ ण य सोउ तम्मओ होइ ।

तह जीवोविय कम्म कुव्वदि णय तम्मओ होइ ॥३४९॥^१

जैसे शिल्पी—कारीगर आभूषणादि कर्म को करता है, किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है। उसी प्रकार जीव भी पुद्-गल कर्म को करता है किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है।

जीव कर्मों का भोक्ता भी है इसको स्पष्ट करते हैं—

जह सिप्पिउ कम्मफलं भुजइ णय तम्मओ होइ ॥३५०॥^१

तह जीवो कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मों—कार्यों के फल को (द्रव्य लाभ) भोगता हुआ भी तन्मय नहीं होता है, उसी प्रकार जीव भी सुख दुःखादि कर्म के फल को भोगता है, किन्तु तन्मय नहीं होता है।

truth that no object of non-Self is his still persists in thinking of the existence of a creative will producing the external reality. he does so being devoid of right belief. Let it be understood to be the truth.

१ As an artisan performs his work, but does not become identical with it, so also the Self produces Karma, but does not become identical with it.

२ As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it, so also the Self enjoys the fruit of Karma but does not become one with it.

निश्चय दृष्टि को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणणो सो ।

तह जीवो विय कुम्मं कुव्वइ हवइ य अणणो सो ॥ ३५४ ॥^१

जैसे शिल्पी अपने परिणाम स्वरूप चेष्टा रूप कर्म को करता है, परंतु वह उस चेष्टा से जुदा नहीं होता है, वह उससे अन्य रूप नहीं है, उसी प्रकार जीव भी अपने भाव रूप चेष्टा स्वरूप कर्म को करता है, वह उस चेष्टारूप कर्म से अन्य रूप नहीं है ।

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ मिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।

तत्तो सिया अणणो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥^२

जिस प्रकार चेष्टा करता हुआ शिल्पी निरंतर दुःखी होता है, उस दुःख से जुदा नहीं है, तन्मय है, उसी प्रकार जीव भी चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है ।

सब द्रव्य स्वतंत्र है । एक द्रव्य के द्वारा दूसरी द्रव्य में गुणों की उत्पत्ति नहीं की जाती है, वह बताते हैं—

अण्णदविण्ण अण्ण दवियस्स णो कीरइ गुणुप्पाओ ।

तम्हाउ सव्व दट्ठा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ ॥^३

अन्य द्रव्य कर अन्य द्रव्य के गुण का उत्पाद नहीं किया जा सकता, इसलिए यह सिद्धांत है कि सभी द्रव्य अपने २ स्वभाव से उपजते हैं ।

शास्त्र को ज्ञान से भिन्न बताते हैं—

१ As the artisan starts with the mental image (of the object to be produced) and translate it into physical form by his bodily activity and thus is one with it, so also the Self starts with the mental counterpart of karma and is therefore one with it .

२ As the artisan making an effort (to translate the mental image into physical form) always suffers thereby and is therefore one with that suffering, so also the Self that acts as stimulated by impure mental states undergoes suffering and becomes one with it .

३ By one substance (dravya) the properties of another substance are never produced. Therefore all substances are produced by their own nature.

सत्य णाणं ण हवइ जह्मा सत्य ण जाणए किञ्चि ।

तह्मा अण्णं णाण अण्णं सत्य जिणा विति ॥ ३९० ॥^१

शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है । जड़ है ; इसलिए ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है, ऐसा जिन भगवान ने कहा है ।

आत्म द्रव्य में ही विहार करो ऐसा कथन करते हैं —

मोक्ख पहे अप्पाण ठवेहि त चेव शाहि त चेव ।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥^२

हे भव्य ! तू मोक्षमार्ग में अपने को लगा, उसी का ध्यान कर, उसी को अनुभव गोचर कर और उसी आत्मा में निरंतर विहार कर, अन्य द्रव्य में विहार मत कर ।

निश्चय नय मोक्षमार्ग में वेप को कारण नहीं मानता है, यही कहते हैं—
ववहारिओ पुण णओ दोण्णिदि लिगाणि भणइ मोक्खपहे ।

णिच्छय णओ ण इच्छइ मोक्ख—न पहे सव्व लिगाणि ॥ ४१४ ॥^३

व्यवहार नय मुनि श्रावक के भेद से दोनो प्रकार के लिंगो को मोक्ष का मार्ग कहता है, किंतु निश्चय रूप सभी लिंगो को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं कहता ।

यह समयसार महान शास्त्र है । कर्म चक्र को चूर्ण करने के लिए दिव्यास्त्र है । इसे चलाने की कला उसे ही प्राप्त होती है, जिसने स्याद्वाद विद्या के सार को भली प्रकार समझ लिया है । बाल-बुद्धि व्यक्ति इस दिव्यास्त्र की शैली को बराबर न जान स्वच्छंद प्रवृत्ति के लिए इसका आश्रय लिया करते हैं । इसलिए ऐसे लोग अन्य अनुयोगी को अनावश्यक वह अध्यात्म शास्त्र की उपयोगिता बता इसके ही अध्ययन को एकान्त रूप से हितप्रद मानते हैं । यह अध्यात्म शास्त्र का एकान्तवाद भी स्याद्वाद की सतुलन शैली

१ The Scripture is not knowledge, because the Scripture knows not anything . Therefore the Jinas have said that knowledge is entirely different from Scripture .

२ Keep the Self on the path of emancipation, meditate on him, experience him, always move in him, do not move among other things.

Although, the Vyavhaara point of view declares the two (classes of insignia) to be the path of emancipation, the standpoint of reality does not want any insignia whatsoever for the path of liberation.

के अनुरूप नहीं हैं। प० टोंडरमल जी का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है। शंकाकार कहता है— "जो जिन शास्त्रनि विषे अध्यात्म उपदेश है, तिनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रनिका अभ्यास करि किछू सिद्धि नाही। ताको बहिए है— जो तेरे साची दृष्टि भई है, तो सर्व ही जैन शास्त्र कार्यकारी है। तहा भी मुख्य पने अध्यात्म शास्त्रनि विषे तो आत्म स्वरूप का मुख्य कथन है; सो सम्यग्दृष्टी भए आत्म स्वरूप का तो निर्णय होय चुके तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ वा उपयोग की मद कपाय रूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रन का अभ्यास मुख्य चाहिए।

अर आत्म स्वरूप का निर्णय भया है, ताका स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म शास्त्रनिका भी अभ्यास चाहिये। परंतु अन्य शास्त्रनि विषे अरुचि तो न चाहिए।

जाके अन्य शास्त्रनि के अरुचि है, ताके अध्यात्म की रुचि साची नाही। जैसे जाके विषयासक्तपना, होय सो विषयासक्त पुरुषनि की कथा भी रुचि तें सुनै, वा विषय के विशेष की भी जानै, वा विषय के आचरन विषे जो साधन होय, ताको भी हित रूप जानै, वा विषय वा स्वरूप को भी पहि-चानै, जैसे जाके आत्मरुचि भई होय, सो आत्मरुचि के धारक तीर्थंकरादिक तिनका पुराण भी जानै।

बहुति आत्मा के विशेष जानने की गुण स्थानादिक को भी जानै, बहुति आत्म आचरण विषे जे व्रतादिक साधन है, तिनको भी हितरूप मानै; बहुति आत्मा के स्वरूप को भी पहिचानै। ताते च्यारियो ही अनुयोग कार्यकारी है। बहुति तिनका नीका ज्ञान होने के अर्थ शब्द-न्याय शास्त्रादिक को भी जानना चाहिए। सो अपनी शक्ति के अनुसारि सबनि का थोरा व बहुत अभ्यास करना योग्य है।"

पुनः शंकाकार का कथन करते हुए समाधान करते हैं— "बहुति वह कहे हैं— रागादिक मिटावने की कारण होय तिन विषे तो उपयोग लगा-वना। कर्म का बध, उदय, सत्तादिक का घणा विशेष जानना वा त्रिलोक का आकार, प्रमाणादिक जानना इत्यादि विचार कौन कार्यकारी है ?

ताका उत्तर— इनको भी विचार तें रागादिक बधते नाही। ताते एक ज्ञेय याके इष्ट अनिष्ट रूप है नाही। ताते वर्तमान रागादिक को कारण नाही। बहुति इनको विशेष जानै तत्त्वज्ञान निर्मल होय, ताते रागादिक घटावने को ही कारण है, ताते कार्यकारी है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २९४, २९७।)

यही पवित्र दृष्टि आचार्य शान्ति सागर महाराज के जीवन में दिखती है। वे चारों अनुयोगों के दास्त्रो वा स्वाध्याय करते रहे हैं। उनमें कहा था "जब हम पंद्रह-सोलह वर्ष के थे तब, हिन्दी में समयसार तथा आत्मानुशासन वाचा करते थे। उनके पढ़ने से हमें विशेष लाभ हुआ, वैसे अन्य सभी आगम के ग्रंथ उपयोगी हैं।" अतः आत्म-साधना के प्रेमी जीव को भ्रम में नहीं आना चाहिए।

यह समयसार आत्मा की चिरतन आराधना की वस्तु है। यह एक दो बार बाँचकर रखने लायक ग्रंथ नहीं है। समस्त जीवन भी इसकी आराधना, वितना भँ लगा दिया जाय तो भी इसका पूर्ण मर्म नहीं मिलेगा। जस्टिस जुममदरलाल जैनी ने कुदकुदस्वामी के विषय में लिखा है वि-

"महर्षि कुद कुद के तत्त्वदर्शन का रस माधुर्य मेरी पवित्र आत्मा में मृदुल तथा सूक्ष्म छर में प्रविष्ट होकर तन्मय होते हुए स्वयं आत्मा के मधुर संगीत को सजग करता हुआ ऐसे आनंद रस से भर देता है जिसके समस्त गडों से बड़े समुद्र की अगाधता समानता नहीं रखती है।"

कवि वृन्दावन ने लिखा है-

जास के गुलारविन्द तैं प्रकाश भास भास वृन्द,

स्याद-वाद जैन वैन इदु कुदकुद से।

तास के अभ्यास तैं विकास भेद-ज्ञान होत,

मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुद कुद से ॥

देत हैं असीस शीस नाय इद चद्र जाहि,

मोह-भार-खड मारखड कुदकुद से।

शुद्ध-बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्धि-रिद्धि-सिद्धिदा,

हुए, न हैं, न होहिगे मुनिन्द कुद कुद से ॥

आचार्य शान्ति सागर महाराज का निकट से जीवन अध्ययन करने पर यह अनुभव में आता है, कि उनमें नैसर्गिक साधुत्व है। ऐसे नैसर्गिक साधु (born saint) का ग्रंथों के विषय में आरंभिक चुनाव उनकी

१ The music honey of Kundakunda's vision of Reality sinks soft and subtle in-to my pure soul and mixing with it awakens it to the sweet sound of its own-self, filling it with a joy that is deeper than the deepest oceans.

Justice J. L. Jaini

रत्नत्रय प्रवाशित दृष्टि की विमलता को व्यक्त करता है । उनके जीवन में आत्मानुशासन की चद्रिवा का प्रकाश पर्याप्त मात्रा में दिखता है । आत्मानुशासन का प्रेम ही उन्हें गृह जाल से छुड़ाकर महामुनि के पद का प्राप्त करा सका है । मुनि जीवन का केन्द्र-विन्दु समयसार-शुद्ध आत्मा की उपलब्धि निमित्त सतत उद्योग है । अतः समयसार की ओर वाल्य जीवन से ही अनुराग होना अत्यन्त सामयिक रहा । समतभद्र स्वामी की सुंदर तथा सार्यक अभिधान वाली रचना रत्नकरड-श्रावकाचार भी महाराज को प्रकाश दाता रहा है, इसलिए वे असमर्थ जीवों को श्रावकाचार का अमृतप्रसाद वितरण करते हैं, उससे यह स्पष्ट होता है, कि उनका जीवन स्याद्वाद विद्या के आलोक से पूर्ण आलोकित है । जहाँ आत्मा का सौन्दर्य उनको समयसार के रूप में अलौकिक आभा अलंकृत प्रतीत होती है, वहीं आत्मानुशासन तथा रत्नकरड की ज्योति उनको समय की महत्ता बताती हुई स्व तथा पर को पुण्याचरण की ओर प्रवृद्धि निमित्त प्रेरणा करती है । पूज्य श्री के प्रारम्भिक जीवन में प्रकाश प्रदाता ग्रन्थत्रय रत्नत्रय की ज्योति को जगाते हैं ।

कीर्णक

जिस प्रकार अमृत रस पान करनेवाला व्यक्ति पुनः उस सुधा का रसास्वादन करना चाहता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज का पुण्य जीवन है। जितना अधिक उनके जीवन का निष्कर्ष से अध्ययन किया जायगा तथा उनके पुण्य संपर्क में मनुष्य जीवन के मंगल क्षण व्यतीत किए जायेंगे, उतना ही महान पवित्र तथा स्फूर्तिपूर्ण उनका जीवन विदित होगा। उनके जीवन में शांति, सौन्दर्य और कल्याण का अपूर्व समन्वय है। यदि सहृदय साहित्यकार, लेखक, कवि और कलाकार इनके पास पहुँचे, तो प्रत्येक सरस्वती के सेवक को चमत्कारप्रद विपुल ज्ञान भंडार मिले बिना न रहेगा।

उनका तपः पुनीत जीवन विलक्षण है। माया के जाल से विमुक्त ऐसी सद्यः मूर्ति आत्मा का आज के भोगमग्न सत्सार में दर्शन होना वास्तव में लोकोत्तर पुण्य की बात है। इस वर्ष सन् १९५२ के आरम्भ में आचार्य महाराज दहीगाव नाम के तीर्थक्षेत्र में आत्म स्मृति तथा विराजमान थे, एक दिन वहाँ के मंदिर से दूसरी जगह शरीर विस्मृति जाते हुए उनका पैर ठीक सीढ़ी पर न पड़ा इसलिए वे जमीन पर गिर पड़े। यह तो बड़े पुण्य की बात थी कि वह प्राण लेने वाली दुर्घटना एक पैर में गहरा घाव ही दे पाई। महाराज के पैर में डेढ़ इंच गहरा घाव हो गया, जिसमें एक बादाम सहज ही समा सकती थी। उस स्थिति में महाराज ने पैर में किसी प्रकार की पट्टी बगैरह नहीं बंधवायी, एक साधारण सौ निर्दोष ओषधि पैर में लगती थी। वे ऐसी वस्तु का उपयोग नहीं करते, जिसमें शराब, मांस चर्बी आदि हो।

उनके पास सिवनी से दो व्यक्ति दर्शनार्थ पहुँचे। उनसे आकर हमें सुनाया कि महाराज के पास हमें तीन चार घंटे रहने का सौभाग्य मिला था। उस समय हम लोगों ने यह विलक्षण बात देखी, कि पैर में भयंकर चोट होती हुई भी उनसे हमारे सामने एक बार भी अपने पैर के घाव की ओर दृष्टि नहीं दी। उनकी शरीर के प्रति कितनी ममता है इसका ज्ञान उनके पैर के घाव के प्रति उपेक्षा भाव से स्पष्ट होता था। जब तक शरीर है, तब तक उसमें न्यूनाधिक ममता छोटे बड़े सब में पाई

इसलिए आप उसे निरूपयोगी क्यों कहते हैं ?”

महाराज ने कहा—“हमारे लिए पाप और पुण्य दोनों समान हैं । वे दोनों ही बेड़ी के समान हैं । श्रद्धाजलि से या निन्दा से हमें क्या है ? यह उत्सव तुम लोगों को बड़े महत्व का दिखता है, किन्तु इसमें हमें कोई महत्व की बात नहीं दिखती । तुम धर्म की प्रभावना करो इससे हमें क्या है । हम तो चाहते हैं कि लोगों के प्रशंसा के शब्द तक हमारे कान पर नहीं आवें हम निन्दक और बदक दोनों को एक समान मानते हैं । तुम अखबार छाप कर हमारी स्तुति करते हो, किन्तु हम तो अखबार देखते तक नहीं ।” उस समय महाराज के मुख मडल पर अपूर्व वैराग्य था । उनके गुण गौरव समारंभ को देखकर सभी धार्मिक जनो के हृदय का पारावार न था, किन्तु महाराज की मानसिक-स्थिति वास्तव में विलक्षण थी । यथार्थ में वे लोकोत्तर महापुरुष हैं ।

आचार्य महाराज ने १२ जून सन १९५२ को हीरक जयंती के अवसर पर अपने मासिक भाषण में कहा था “धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इनमें मोक्ष श्रेष्ठ है । धर्म की आराधना द्वारा अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है इस-लिए धर्म पुरुषार्थ महत्व का है । आचार्य उमास्वामी ने सम्प्रदर्शन, ज्ञान तथा चरित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है, केवल सम्यक्त्व के बाद ही मोक्ष नहीं होता है । जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है । जिनेन्द्र भगवान की वाणी का एक वाक्य तक जब जीव कल्याण करता है, तब संपूर्ण जिनागम का स्वाध्याय क्या नहीं करेगा ? इस पञ्चम काल में केवली भगवान नहीं है, इस समय किसका अवलंबन किया जाय ? जिन भगवान की वाणी के सिवाय अन्यत्र कल्याण नहीं है । जिनेन्द्र भगवान की वाणी पूर्णतया सत्य है ।”

“भगवान् ने कहा है—“जिनेन्द्र का मन्दिर नहीं होगा, तो श्रावको का धर्म भी नहीं रहेगा और श्रावको के अभाव में मुनि धर्म कैसे रहेगा । मुनि धर्म जब तक रहेगा, तब तक जिन धर्म रहेगा । इसी दृष्टि से धर्म के आधार स्तम्भ जिन मंदिरों के पवित्रता के रक्षण निमित्त हमें प्रयत्न करना पड़ा था । यदि भगवान का स्थान नहीं रहा तो हम भी नहीं रहेगे । हमें भगवान की आज्ञा मानना चाहिये ।”

भगवान की वाणी में लिखा है “कि अभी जिन धर्म का लोप नहीं

जाती है, किन्तु महाराज लोकोत्तर आत्मा है। भेद विज्ञान के द्वारा चैतन्य ज्योतिर्मय आत्मा का वे सदा दर्शन करते हैं इसलिए शरीर की ओर उन का कभी ध्यान जायगा। जैन पुराणों में सुकुमाल मुनि, गजकुमार मुनि, मुकुण्डल मुनि आदि का पवित्र चरित्र बताया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि जानवरो के द्वारा शरीर के खाये जाने पर अथवा अग्नि के द्वारा देह का दाह होने पर वे अपनी आत्मा की आराधना से विचलित नहीं हुए थे। उस निस्पृहता और वीतरागता की शलक आचार्य महाराज के जीवन में आज भी मिलती है।

एक दिन फलटण में हीरक जयंती के समारंभ में आगत धनकुवेरों की अनेक धनकुवेर धनिकों का समुदाय महाराज की सेवा अविचनता का मैं १४ जून सन १९५२ को उपस्थित था। उस समय महाराज ने उन श्रीमंतों से कहा—'देखो कर्मों के बंधन से छूटकर मोक्ष पाने के लिए आप सबको हमारे समान दिगंबरत्व की धारण करना होगा क्योंकि इस पद की अंगीकार किये बिना मोक्ष की प्राप्ति करना होगा क्योंकि इस पद की अंगीकार किये बिना मोक्ष की प्राप्ति करने का अन्य मार्ग नहीं है'। उनमें यह भी कहा था कि, 'यह जीव आगे दुखी न हों, इससे प्रत्येक व्यक्ति को ब्रत धारण करूँ व्रती बनना चाहिये।'

इस वर्ष १३ जून सन १९५२ को जब आचार्य महाराज के प्रति भारतवर्ष के प्रमुख दि० जैन वधुओं न सत्त्याओं ने तथा पचायतों ने आचार्य महाराज के द्वारा किये गये अनंत उपकारों पर श्रद्धा के सुमन चढाये और उनके गुणों का वर्णन किया, तब आचार्य महाराज ने कहा था "इस श्रद्धा-जलि से हमें रचमाय भी हर्य नहीं है। हमें अपना प्रथमा सुनकर राई बराबर भी आनंद नहीं होता है, इस प्रशंसा से स्वर्ग नहीं मिलता है। तुम हमारी किम बात की प्रशंसा करते हो? तुमने श्रद्धाजलि अर्पित की अथवा निन्दा की तो, क्या हुआ। हमारी दृष्टि में दोनों का कोई मूल्य नहीं है।

तुम हमारी मूर्ती बनाकर पूजो, तो इससे हमारा क्या हित होगा। हमारा आत्मा एक है। सुख दुख भोगने वाला वही एक है। इसमें कोई भी सहायक नहीं है। भगवान भी सहायक नहीं है। जैसा आ-मा करेगा वैसा भोगेगा। समस्त जगत अनित्य है। बड़े बड़े ऋद्धिधारी महान ज्ञान भारत मुनि नहीं रहे, अब हम क्या चीज है?"

इस पर हमारे सबसे छोटे भाई सन्मतिकुमार दिवाकर ने कहा "महाराज आपका गुणगीरव करने से भव्य जीवा की पुण्य का लाभ होता है।

इसलिए आप उसे निरूपयोगी क्यों कहते हैं ?”

महाराज ने कहा—“हमारे लिए पाप और पुण्य दोनों समान हैं । वे दोनों ही ब्रेडी के समान हैं । श्रद्धाजलि से या निन्दा से हमें क्या है ? यह उत्सव तुम लोगों को बड़े महत्व का दिखता है, किन्तु इसमें हमें कोई महत्व की बात नहीं दिखती । तुम धर्म की प्रभावना करो इससे हमें क्या है । हम तो चाहते हैं कि लोगों के प्रशंसा के शब्द तक हमारे कान पर नहीं आवें हम निन्दक और बदक दोनों को एक समान मानते हैं । तुम अखबार छाप कर हमारी स्तुति करते हो, किन्तु हम तो अखबार देखते तक नहीं ।” उग समय महाराज के मुख मंडल पर अपूर्व वैराग्य था । उनके गुण गौरव समारंभ को देखकर सभी धार्मिक जनो के हर्ष का पारावार न था, किन्तु महाराज की मानसिक-स्थिति वास्तव में विलक्षण थी । यथार्थ में वे लोकोत्तर महापुरुष हैं ।

आचार्य महाराज ने १२ जून सन १९५२ को होरक जयंती के अवसर पर अपने मार्मिक भाषण में कहा था “धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इनमें मोक्ष श्रेष्ठ है । ‘धर्म की आराधना जिगवाणी पर श्रद्धान करो द्वारा अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है इस-लिए धर्म पुरुषार्थ महत्व का है । आचार्य उमास्वामी ने सम्पादन, ज्ञान तथा चरित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है, केवल सम्पत्त्व के बाद ही मोक्ष नहीं होता है । जिनेंद्र भगवान की वाणी पर श्रद्धान करने से सम्पत्त्व होता है । जिनेंद्र भगवान की वाणी का एक वाक्य तक जब जीव कल्याण करता है, तब सपूर्ण जिनागम का स्वाध्याय क्या नहीं करेगा ? इस पचम काल में केवली भगवान नहीं है, इस समय किसका अवलंबन किया जाय ? जिन भगवान की वाणी के सिवाय अन्यत्र कल्याण नहीं है । जिनेंद्र भगवान की वाणी पूर्णतया सत्य है ।”

“भगवान ने कहा है—“जिनेंद्र का मंदिर नहीं होगा, तो श्रावको का धर्म भी नहीं रहेगा और श्रावको के अभाव में मुनि धर्म कैसे रहेगा । मुनि धर्म अब तक रहेगा, तब तक जिन धर्म रहेगा । इसी दृष्टि से धर्म के आधार स्तंभ जिन मंदिरों के पवित्रता के रक्षण निमित्त हमें प्रयत्न करना पड़ा था । यदि भगवान का स्थान नहीं रहा तो हम भी नहीं रहेगे । हमें भगवान की अर्ति मानना चाहिये ।”

भगवान की वाणी में लिखा है “कि अभी जिन धर्म का लोप नहीं

होगा । यह बात कभी झूठ नहीं होगी । अज्ञान के अधकार में चलने वाले जीवों को शास्त्र अजीब होते हुए भी मोक्ष का मार्ग बताता है । जो बात आदिनाथ भगवान ने कही थी वही बात दूसरे तीर्थंकरों ने बतायी । कोड़ा कोड़ी सागरों पर्यन्तकाल बीतने पर भी जिनेन्द्र की वाणी में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, इसलिए महावीर भगवान के मोक्ष जाने के २५०० वर्ष के भीतर कोई अन्तर नहीं हुआ है, इस बात पर दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिए ।”

महाराज ने कहा—“शास्त्र में लिखा है, कि जीव को पच पापों का त्याग करना चाहिए । इस पाप त्याग से यह जीव हीन गतिया से नहीं जाता है । व्रती जीव देवगति में जाता है, इसलिए पापों का त्याग करना चाहिए । सम्यग्दर्शन तो देखने में नहीं आता है किन्तु व्रत धारण किया है यह बात प्रत्येक के देखने में आती है इसलिये सब लोगों को हिंसादि पापों का त्याग कर व्रती बनना चाहिए ।”

महाराज ने ता० १४ को अपने मार्मिक उपदेश में कहा था “हमें घर छोड़कर दीक्षा लिए हुए करीब ४० वर्ष हो गए । आप लोग हमारी प्रशंसा करते हैं, यह अच्छा नहीं लगता है । हम केवली, अवधिज्ञानी ऋद्धि धारी अथवा महिमाशाली मुनि नहीं हैं । अढाई द्वीप में विद्यमान समस्त मुनियों में हमारा लास्ट नम्बर है । हमारी जयती में क्या प्रयोजन है । हम तो रोक रहे थे किन्तु लोग रुकते नहीं हैं ।”

उनने कहा था “धर्म का रक्षण करो तो वह आपका भी रक्षण करेगा । इस धर्म का मूल दया है, इस धर्म से न केवल मोक्ष बल्कि अर्थ का भी लाभ होता है । आज प्रजा में गड़बड़ी है, घन धान्य का कष्ट है, सक्कों की सीमा नहीं है । इसका क्या कारण है ? यदि लोग दयामय धर्म का रक्षण करें तो वह धर्म तुम्हारे सक्कों को दूर करेगा । केवल मनुष्य की अहिंसा के द्वारा गांधी ने लोक में सफलता प्राप्त की है ।” उनने कहा “जिनेन्द्र की वाणी में श्रद्धान रखो, वह दीपक के समान है, मोह की अधियारी युक्त रात्रि में जिनवाणी रूप दीपक को नहीं भूलना चाहिए । इससे काटा गड़ने अथवा गड़्डे में गिरने आदि का भय नहीं रहता है । जिनवाणी के मंत्र को पाकर कुत्ते के जीव ने देव पद पाया था । केवली भगवान सूर्य के समान है । उनकी वाणी दीपक के समान है । उनकी वाणी का साक्षात् जिनेन्द्र के सामान आदर करना चाहिए । जिनेन्द्र की वाणी में अपार शक्ति है । उसमें हमारा विश्वास नहीं है, इसलिए हम असफल होते हैं ।”

उत्तरे कहा "अभी पचमकाल का घाल्यकाल है इसलिए जिन धर्म पचमकाल का का लोप नही होने वाला है। भगवान की वाणी औपधि के समान है और पापों का त्याग करना उस औपधि ग्रहण के लिए पथ के समान है। लोग धर्म की बातें जानते हैं किन्तु उनमें श्रद्धा का अभाव है। हिंसा करना महापाप है, धर्म का प्राण तथा जीवन—सर्वस्व यह अहिंसा धर्म है। शासन सत्ता को भी इस अहिंसा धर्म को नहीं भूलना चाहिए। इसके द्वारा ही सन्त्वा कल्याण होगा।"

"कोई कोई सोचते हैं कि जिस जैन धर्म में साप बिच्छू को मारना निषिद्ध माना गया है, उसके उपदेश के अनुसार राज्य की व्यवस्था कैसे हो सकेगी? यह धारणा ठीक नहीं है। जैन धर्म में सर्वदा सत्कृपी हिंसा न करने की आज्ञा है। गृहस्थ विरोधी हिंसा नहीं छोड़ सकता है। जैन धर्म के धारक चक्रवर्ती मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर आदि बड़े बड़े राजा हुए हैं। गृहस्थ के घर में चोर घुस गए हैं अथवा आक्रमणकारी आ गए हैं, तब वह उन्हें मारेगा। वह निरपराधी जीव की हिंसा नहीं करेगा। वह मांस नहीं खायगा। वह शिकार नहीं खेलेगा। इस प्रकार निरपराधी जीव की रक्षा करते हुए तथा सत्कृपी हिंसा का त्याग करके जैन नरेश अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करता है।

महाराज ने कहा "श्रावको के अष्ट मूल गुणों में यही अहिंसा का भाव है। मुनियों के अट्ठाइस मूल-गुणों तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों में भी यही अहिंसा प्रधान है। जीव, पुद्गल धर्म सब अलग अलग हैं, अहिंसा द्वारा वात का श्रद्धान करना चाहिए। तत्त्व-श्रद्धान रूप सम्मगदशों की पहिचान प्रशम, सवेग, अनुकम्पा तथा जास्तिक्य भाव द्वारा होती है। यदि तुम्हें कल्याण करना है, तो जिनवाणी तथा आत्मा पर विश्वास रखो।" उपदेश के अंत में महाराज ने कहा "जगत के सभी पदार्थ विनाशीय हैं। अभी राम नहीं है, कृष्ण नहीं है, भरत नहीं है, इसी प्रकार दूसरे भी नहीं रहेंगे। इस शरीर को छोड़कर दूसरी देह को धारण करना पड़ेगा, इसलिए आगे के भवकाल की व्यवस्था क्यों नहीं करते? हमारा यही कहना है कि अहिंसा धर्म के मार्ग में लगे इसके द्वारा तुम्हारा और सत्तार का कल्याण होगा।"

इस वर्ष जुलाई के द्वितीय सप्ताह में भगवान बाहुबलिके महामस्तकाभिषेक के सवध में राज्य के अधिकारियों से जैन प्रतिनिधि के रूप में चर्चा तथा परामर्श निमित्त मैसूर, श्रमणवेलगोला, बगलोर पहुँचने का अवसर मिला । १३ जुलाई सन १९५२ का रविवार का मध्याह्न बाल जीवनके लिए चिरस्मरणीय स्वर्णक्षण था, जब भगवान गोमटेश्वर स्वामी के अचिन्त्य चरणों के दर्शन का पुण्य सौभाग्य मिला । नेत्रों का पाना वृत्तार्थ प्रतीत लोणद चातुर्मास हुआ ।

वहाँ से अपने भाई अभिनदन कुमार एम ए के साथ छोड़ते हुए १९ जुलाई को प्रभात काल में आचार्य महाराज की सेवा में पहुँचने का सुयोग प्राप्त हुआ । वे लोणद (पूना) में अपना वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे । उनके समीप जाने पर अनेक महत्वपूर्ण चर्चा करने का और महाराज के अनुभव प्राप्त करने का प्रसंग मिला । हमारा विचार महाराज के ज्येष्ठ वधु १०८ वर्षमानसागर मुनिराज के दर्शनार्थ जाने का हो रहा था ।

हमने पूछा, “महाराज वर्षमान स्वामी ने वहाँ चातुर्मास किया है ?”

महाराज ने कहा, “हमें नहीं मालूम ।”

दूसरे भाइयों ने बताया कि वे बिनी ग्राम कौल्हापुर में विराजमान हैं । उस समय आचार्य महाराज की अलौकिक वृत्ति का पता लगा । यथार्थ में जो आगम में “मुनीनाम् अलौकिकी वृत्तिः” कहा है, उसका मर्म ज्ञात हुआ कि इन महात्माओं को दुनिया के बारे में परिचय प्राप्त करने की तनिक भी इच्छा नहीं होती । आत्मा के वैभव को देखने वाले तथा स्वानुभूति के मधुर रस पान में निमग्न रहनेवाले मुनीन्द्रों को बाह्य बातों के विषय में जानकारी प्राप्त करना क्यों अच्छा लगेगा ? इस प्रसंग ने यह स्पष्ट कर दिया, कि वे जगत के जाल से कितने दूर हैं । वास्तव में उनके शरीर के समान उनका अंतःकरण भी दिगम्बर है । केवल बाह्य नग्नता का कोई महत्व नहीं है । महाराज ने कहा था, केवल ‘नग्नता महत्वपूर्ण नहीं है, बरकर भी नग्न है, पशु भी नग्न है । मनुष्य में नग्नता के साथ विशेष गुण पाये जाते हैं, इसलिए उसका दिगम्बरत्व पूजनीय होता है ।’

जैन धर्म के विषय में उनसे कहा था, “यह धर्म अत्यन्त निरपद्रव्य है । इसमें एक इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक पर समता तथा दया का भाव पाया जाता है । दूसरों को कष्ट न देना इस धर्म का मुख्य लक्ष्य

है। आज के युग में यह कहा जाता है कि धर्म का पालन कठिन है यह ठीक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म को बिल्कुल भुला दिया जाय। अगर पूर्णरूप से उसका पालन नहीं होता है, तो जितनी शक्ति है उतना पालन करो किन्तु जितना पालन करते हो उसे अच्छी तरह पालो।

वकर्मण्य वनकर चुपचाप बैठना ठीक नहीं है और न स्वच्छंद वनने में हो भलाई है। शक्ति को न छुपाकर इस धर्म का पालन करना प्रत्येक समसदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है।”

महाराज ने कहा, “इस मुनिधर्म का पालन करना बच्चों का खेल नहीं है। मुनि धर्म अत्यंत कठिन है, प्राणों की भी आशा छोड़कर मुनिपद अंगीकार किया जाता है। जब भी इस धर्म का पालन असंभव हो जाय तब समाधिभरण करना आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है।” महाराज ने कहा “इसका मूल आधार संसार तथा भोगों से उदासीनता और सम्पूर्ण आशाओं को परित्याग है। इसके लिए सदा अनित्य भावना अन्तःकरण में विद्यमान रहना चाहिए। जब बड़े २ चक्रवर्ती तक इस जग को छोड़कर चले गये तब साधारण मनुष्य की क्या कीमत है? राज्य से बढ़ कर और क्या चीज है, उसको भी छोड़कर महापुरुषोंने मुनि जीवन को स्वीकार किया है। अब प्रश्न होता है, मुनि वनने का क्या उद्देश्य है? कर्मों की मुनि वनने का निर्जरा करना मुनि जीवन का ध्येय है। मुनिपद को क्या उद्देश्य है? धारण किए बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। गृहस्थ जीवन में सदा बंध का बोझा बढ़ता ही जाता है। उसके पास कर्म निर्जरा के साधन नहीं हैं। इसलिए निर्जरा के लिए त्यागी बनना आवश्यक है। जो यह सोचते हैं कि पेट भरने के लिए मुनि वृत्ति धारण की जाती है, वे उसके मर्म को नहीं जानते। वेप धारण करने मात्र से कर्मों की निर्जरा नहीं होती। नग्नता तो पशुओं में भी पायी जाती है, किन्तु उनमें आन्तरिक निर्मलता का अभाव है।”

महाराज ने कहा “परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर वृत्ति धारण करना इसलिए आवश्यक है, कि परिग्रह से आरम्भ होता है और आरम्भ के द्वारा जीवों का घात होता है; इसलिए पूर्णतया अहिंसा का रक्षण नहीं होता अतः परिग्रह का परित्याग करना आवश्यक है। यह ममत्व-त्याग दिगम्बरत्व के बिना नहीं होता। ऐसे दिगम्बरत्व के बिना मोक्ष नहीं मिलता

यह निश्चित बात है। नग्नता, बालक के समान विकार रहित होनी चाहिए।”

महाराज के चरणों की बंदना बड़े २ नरेशों ने की है। बड़े २ नरेश तुल्य वैभव वाले धन कुवेर उनकी चरण रज को अपने मस्तक में लगाकर अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। उनमें हर एक प्रकार के समृद्ध व्यक्ति के जीवन को देखा है। वे कहने लगे “हमने खूब देखा है इस दुनिया में कोई भी सुखी नहीं है। कोट्याधीशों को देखा है, राजा तथा एक को देखा है। हमने सभी को दुखी पाया है। यथार्थ में दुःख देने वाला कर्म है। उसकी निर्जरा द्वारा सुख मिलता है। निग्रन्थ अवस्था में वह आनंद प्राप्त होता है।”

आज के युग में जो लोक प्रवाह के अनुसार धर्म में परिवर्तन की बात सोचते हैं उनके सदेह का निवारण करते हुए महाराज ने कहा “जैसे अहिंसा धर्म अपरि- औपधि में फेरफार करने से रोग दूर नहीं होता, उसी प्रकार जिन भगवान के द्वारा बताये गए मार्ग का उल्लंघन करने से कर्मों के रोग का क्षय नहीं होता। आगम के मार्ग को छोड़कर जाने से तथा मनमाने रूप में प्रवृत्ति करने से सिद्धि नहीं मिलती। जैसे मार्ग छोड़कर उलटे रास्ते से जाने वाले को अपने इष्ट ग्राम की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मोक्ष नगर को जाने के लिए अहिंसा का मार्ग अंगीकार करना आवश्यक है। अहिंसामय जीवन व्यतीत करने के लिए मुनिपद धारण करना आवश्यक है। इसके सिवाय अन्य उन्मार्ग हैं।”

जिनवाणी के प्रति महाराज का अगाध प्रेम है। महान श्रद्धा है। वर्णनातीत अनुराग है। उनमें घबलादि ग्रंथों के संरक्षण की ओर उल्लेख करते हुए कहा “भगवान की वाणी होने के कारण ये महाराज ने कहा ग्रंथ सचमुच में हमारे जीवन हैं। इनका रक्षण किया जाना चाहिए” तो समझना चाहिए कि हमारे प्राणों की रक्षा कर ली इन ग्रंथों के रक्षण की महाराज को कितनी चिन्ता रही यह माया के जाल में फसा हुआ मनुष्य नहीं जानता। वे बोले “हमें भगवान की वाणी की कितनी चिन्ता है, इसे तुम लोग क्या जानो। बंध्या प्रसव-वेदना को क्या समझे? श्रुत का रक्षण कर घरसेन स्वामी ने बड़ा उपकार किया। उनके उपकार को कैसे भूला जाय? इसीलिए तो फलटण के मंदिरमें उनकी मूर्ति विराजमान करवायी है।” वे बोले।” अरे बाबा! यह जिनवाणी

हमारा प्राण है।" जो समझते हैं कि आज धर्म में कोई सामर्थ्य नहीं रही है उनका संदेह निवारण करते हुए महाराज ने कहा—"आज भी धर्म में अपार शक्ति है। तुम्हारे भाव में शक्ति होना चाहिए। परिणामों में चंचलता रही तो कुछ नहीं हो सकता। भगवान की भक्ति करने से उनके भक्त आप ही आप सहायता करते हैं।" जो धर्म को छोड़कर अन्याय पूर्ण आचरण करते हैं, उन अविवेकियों को सचेत करते हुए महाराज ने कहा "भर्यादा के बाहर अन्याय पूर्ण प्रवृत्ति करने वाले को अपने दुष्कर्म का फल नियम से प्राप्त होता है। अन्यायी का पतन निश्चित है।"

अपने विषय में उन मुनिनाथ ने कहा "हमें अपनी आत्मा के सिवाय पर पदार्थ की कोई चिन्ता नहीं है। हम तो हनुमान सरीखे हैं जिसका मंदिर गाँव के बाहर रहता है। गाँव के जलने से हनुमान का क्या बिगड़ता है? इसी प्रकार संसार में कुछ भी हो जाय, तो हमें उसका क्या डर? हम किसी से नहीं डरते, केवल जिनेन्द्र भगवान की वाणी को डरते हैं।"

मैंने देखा है कि निर्विकार वृत्ति वाले बालकों के प्रति महाराज का नैसर्गिक अनुराग रहा है। एक दिन सेठ चन्दूलाल सराफ का छोटा बालक महाराज के सामने आकर खड़ा हो गया। उसे देखकर महाराज बोले "क्या सीखते हो सेठ जी?" वह बच्चा चुप रहा। महाराज के मुख मंडल पर मधुर हास्य की आभा अंकित हो गयी।

हमारे भाई अभिनंदन ने गुरुदेव से कहा—"महाराज! श्रमणबेल-गोलासे लौटते समय बेंगलोर में एक विद्वान तथा प्रभावशाली श्वेताम्बर साधु मिले थे। उनसे कहा था—"यह जैन धर्म अत्यन्त मरल है। हर एक व्यक्ति बिना कठिनता से पालन कर सकता है।"

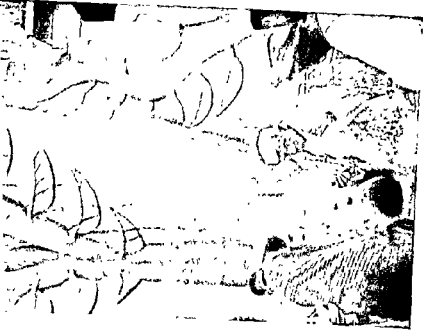
महाराज ने सस्मित वदन से कहा—"अरे! यह धर्म सरल नहीं है। इसका पूर्णरीति से पालन करना अत्यन्त कठिन है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि फिर कोई दूसरा इसे पाल ही नहीं सकता। तुम्हें पूरा पालन करने को कौन कहता है? जितनी शक्ति है उसके अनुसार ईमानदारी के साथ यदि थोड़ा भी इस धर्म का श्रद्धा तथा दृढ़ता पूर्वक पालन किया, तो तुम्हारा कल्याण होगा। अनेक जीवों ने दृढ़ता पूर्वक थोड़ा सा इस ब्रह्ममय धर्म का पालन कर सुख प्राप्त किया है।

महाराज ने बताया था कि "हमने क्षुल्लक अवस्था में ही केशलोच करना आरम्भ कर दिया था। क्षुल्लक बनने के पहले केशी का लोच करना मार्ग के विरुद्ध है।" उनसे हमारी प्रार्थना पर अपने सपनों में आने वाले कुछ मुनियों का चरित्र संक्षेप में बताया था। वे कहने लगे "एक सिद्धप्पा स्वामी नाम के निग्रन्थ मुनि थे। वे सदा 'णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण' यह जाप करते रहते थे। दक्षिण के गुडमडी ग्राम में एक और मुनिराज थे। महाराजके संपर्क में उनकी तपस्या महान थी। उनसे ७ वर्ष पर्यन्त निद्रा-विजय तप का अभ्यास किया था। वे जमीन पर लेटते आए कुछ तपस्वी नहीं थे। वे एक ऐसी गुफा में रहते थे जिसमें बैठने और खड़े होने के सिवाय लेटने का स्थान नहीं था। उनका आहार भी अत्यन्त अल्प केवल चावल था।" महाराज ने यह भी कहा था "पहले हम भी अष्टमी और चतुर्दशी को निद्रा नहीं लेते थे।"

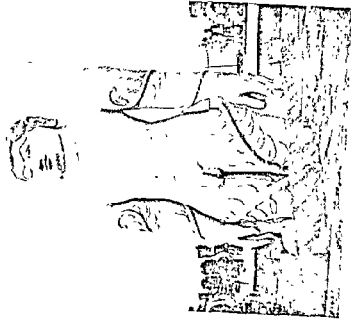
महाराज की दृष्टि बड़ी मार्मिक और लोकोत्तर है। जिस दृष्टि से जगत् बाह्य पदार्थों को देखता है, उससे विलक्षण उनकी दृष्टि है। भगवान् बाहुबलि के अपूर्व सौन्दर्य तथा महत्ता को विधर्मी भी स्वीकार करते हुए उन देवाधिदेव को शतशः प्रणाम करते हैं। जब हमने पूछा "महाराज भोमटेदेवर की मूर्ति का आपने दर्शन किया है बाहुबलि के स्वामी उस सम्बन्ध में आपके अंतरंग में उत्पन्न हुए उज्ज्वल के विषय में अलौ- भावों को जानने की बड़ी इच्छा है।" उस समय महा- किक दृष्टि राज ने जो उत्तर दिया उसे सुनकर हम चकित हो गए। वे बोले "बाहुबलि स्वामी की मूर्ति बड़ी है। वह जिनविम्ब हमें अन्य मूर्तियों के समान ही लगी। हम तो जिनेन्द्र के गुणों का विन्तवन् करते हैं, इसलिए बड़ी मूर्ति और छोटी मूर्ति में क्या भेद है?" इससे आचार्य महाराज की मार्मिक दृष्टि का स्पष्ट बोध होता है। प्रत्येक बात में आचार्य महाराज की लोकोत्तरता मिलती है।

इसके अनंतर हमें सन् १९५२ में पुनः लोणंद आकर पर्यटन पर्व में महाराज के पुण्य चरणों में रहने का सौभाग्य मिला। वहां में प्रतिदिन दास्त्र पढ़ता था। उस समय बीच बीच में मार्मिक प्रश्नों के द्वारा तर्क अनेक सुन्दर समाधानों से आचार्य महाराज श्रोतृमंडल को कृतार्थ करते थे। उस समय महाराजसे उनके व्यवितगत अनुभव की अनेक बातें सुनने में आती थी।

एक दिन लोणंद के नवीन मंदिर निर्माण के समय कुछ विवाद



प्रधान मंत्री नेहरूजी इंदिरा गांधी के साथ बाहुबली के चरणों में।



भगवान बाहुबली की मूर्ति का छत पर बैठकर आचार्य श्री ने दर्शन किया था।

कपाय की तलवार की बात उठी। उस समय समन्वय का मार्ग सुझाते
अलग करी हुए महाराज ने कहा था “यदि कपाय की तलवार
दूर कर बात करो तो तुम्हें ठीक ठीक बात का पता
चल जावेगा।” कितनी सत्य बात है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के
कारण ही हम सत्य का दर्शन नहीं कर पाते और व्यर्थ के विवाद में फसेर
वकवाद करते हैं।

मुनि नेमीमागर महाराज ने सनह उपवास किए थे, इसलिए
आचार्य महाराज उनके विषय में विशेष ध्यान रखते थे। एक दिन वे
शास्त्र सुन रहे थे; किन्तु आचार्य महाराज ने उनकी शरीर स्थिति का
ध्यान रखकर उन्हें विराम के हेतु उठवाया था। इससे उनकी कुशल
दृष्टि और करुणा भाव स्पष्ट होते हैं।

वहा एक बालक एक विप्ले वृक्ष को तोड़ता था जिससे दूध से
शरीर फूल जाता है। उस बच्चे के माता पिता को भी अपने बालक ध्यान
नया। सहसा महाराज की दृष्टि उस बालक पर पड़ी और उन्होंने बालक
के माता-पिता को संरक्षण के निमित्त सावधान किया। आत्मकल्याण के साथ
वे लोक हित को भी दृष्टि में रखते हैं।

उपवास के विषय में उन्होंने कहा “जब तक धर्मध्यान रहे, तब तक
उपवास करना चाहिए। आर्तध्यान, रोद्रध्यान उत्पन्न होने पर उपवास
करना हितप्रद नहीं है।”

दीन और दुखी जीवों पर तो सबको दया आती है। सुखी प्राणी
दयावान् कौनहूँ? जो देखकर किससे अतः करण में करुणा का भाव
जगेगा? आचार्य महाराज की दिव्य दृष्टि में धनी
और वैभव वाले भी उसी प्रकार करुणा और दया के पात्र हैं, जिस प्रकार
दीन, दुखी तथा विपत्ति ग्रस्त दया के पात्र हैं। एक दिन महाराज कहने
लगे “हमें सम्पन्न और सुखी लोगों को देखकर बड़ी दया आती है।”

मैंने पूछा “महाराज! सुखी जीवों पर दया भाव का क्या कारण
है?” महाराज ने कहा “ये लोग पुण्योदय से आज सुखी हैं, आज सम्पन्न
हैं, किन्तु विषयभोग में उन्मत्त बनकर आगामी कल्याण की बात जरा भी
नहीं सोचते जिससे आगामी जीवन भी सुखी हो। जब तक जीव समय
और त्याग का शरण नहीं लेगा, तब तक उसका भविष्य आनन्दमय नहीं
हो सकता। इसलिए हम अपने भक्तों को आग्रहपूर्वक असमय की ज्वाला

कपाय की तलवार की बात उठी। उस समय समन्वय का मार्ग सुझाते
अलग करी हुए महाराज ने कहा था "यदि कपाय की तलवार
दूर कर बात करो तो तुम्हें ठीक ठीक बात का पता
चल जावेगा।" कितनी सत्य बात है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के
कारण ही हम सत्य का दर्शन नहीं कर पाते और व्यर्थ के विवाद में फंसे
बकवाद करते हैं।

मुनि नेमीमागर महाराज ने सत्रह उपवास किए थे, इसलिए
आचार्य महाराज उनके विषय में विशेष ध्यान रखते थे। एक दिन वे
शास्त्र सुन रहे थे; किन्तु आचार्य महाराज ने उनकी शरीर स्थिति का
ध्यान रखकर उन्हें विभ्राम के हेतु उठवाया था। इससे उनकी कुशल
दृष्टि और करुणा भाव स्पष्ट होते हैं।

वहाँ एक बालक एक बिपले वृक्ष को तोड़ता था जिसके दूध से
शरीर फूल जाता है। उस बच्चे के माता पिता को भी अपने बालक ध्यान
नया। सहसा महाराज की दृष्टि उस बालक पर पड़ी और उन्होंने बालक
के माता-पिता को संरक्षण के निमित्त सावधान किया। आत्म कल्याण के साथ
वे लोक हित को भी दृष्टि में रखते हैं।

उपवास के विषय में उन्होंने कहा "जब तक धर्मध्यान रहे, तब तक
उपवास करना चाहिए। आर्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न होने पर उपवास
करना हितप्रद नहीं है।"

दोन और दुखी जीवों पर तो सबको दया आती है। सुखी प्राणी
दयापात्र कौन हैं? को देखकर किससे अतः करण में करुणा का भाव
। जगेगा? आचार्य महाराज की दिव्य दृष्टि में घनी
और वैभव वाले भी उसी प्रकार करुणा और दया के पात्र हैं, जिस प्रकार
दीन, दुखी तथा विपत्ति ग्रस्त दया के पात्र हैं। एक दिन महाराज कहने
लगे "हमें सम्पन्न और सुखी लोगों को देखकर बड़ी दया आती है।"

मैंने पूछा "महाराज! सुखी जीवों पर दया भाव का क्या कारण
है?" महाराज ने कहा "ये लोग पुण्योदय से आज सुखी हैं, आज सम्पन्न
हैं, किन्तु विषयभोग में उन्मत्त बनकर आगामी कल्याण की बात जरा भी
नहीं सोचते जिससे आगामी जीवन भी सुखी हो। जब तक जीव समय
और त्याग का क्षरण नहीं लेगा, तब तक उसका भविष्य आनन्दमय नहीं
हो सकता। इसलिए हम अपने भक्तों को आग्रहपूर्वक असदम की ज्वाली

से निकालकर संयम के मार्ग में लगाते हैं। हमने अपने भाई देवगोंडा को कुटुम्ब के जाल से निकालकर दिगंबर मुनि बनाया। उसे वर्द्धमानसागर कहते हैं। छोटे भाई कुमगोंडा को ब्रह्मचर्य प्रतिमा दी और उसे भी मुनि दीक्षा देते, किन्तु उसका शीघ्र मरण हो गया, हमारे मन में उन लोगो पर बड़ी दया आती है, जो हमारी खूब सेवा, भक्ति करते हैं जो हमारे पास बार बार आते हैं, किन्तु व्रत पालन करने से डरते हैं।" यथार्थ में लोकोद्धार के लम्बे लम्बे भाषण देने से या बड़ी बड़ी सुन्दर योजनाओं के बनाने से लोक का सच्चा अभ्युदय नहीं होता। लोकहित का सच्चा उपाय गुरुदेव की दृष्टि में संयम मार्ग का अपनाना है।

उपवास से क्या लाभ होता है इस विषय में उनने अपनी अनुभव-
 उपवास से क्या पूर्ण वाणी से कहा "मदोन्मत्ता हाथी को पकड़ने के लिए
 लाभ है ? कुशल व्यक्ति उसे कृत्रिम हथिनी की ओर आकर्षित कर
 गहरे गड्ढे में फँसाते हैं। उसे बहुत समय तक भूखा
 रखते हैं। इससे उस हाथी का उन्मत्तपना दूर हो जाता है और वह छोटे से
 अंकुश के इशारे पर प्रवृत्ति करता है। वह अपना स्वच्छंद विचरना भूल
 जाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और मन उन्मत्त होकर इस जीव को विवेक
 शून्य बना पाप मार्ग में लगाते हैं। उपवास करने से इन्द्रिय और मन को
 मस्ती दूर हो जाती है और वे पाप पथ से दूर हो आत्मा के आदेशानुसार
 कल्याण की ओर प्रवृत्ति करते हैं।"

महाराज ने कहा "संयम का लक्ष्य इन्द्रिय एवं मन का जीतना है। संयम
 संयम का ध्येय वर्यों का ध्येय चिरसंचित कर्मोंको धक्का मारकर निकालने का है।
 को धक्का मारकर संयम करने वाला तपस्वी देव की छाती पर सवार होकर
 निकालना है कर्मक्षय करता है। तपस्या कर्मक्षय की दवाई है।

मैंने कहा "महाराज ! यह औषधि तो बड़ी कड़वी है।" महाराज ने
 कहा "अच्छी औषधि कड़वी ही लगती है। रोगी को शक्कर घी की दवाई
 नहीं दी जाती। उसे दी जाती है कटु औषधि, जिससे शरीर में घुसा

अपूर्व अनुभव हुआ रोग दूर होता है। इसी प्रकार जन्म मरण, सकुल
 संसार परिभ्रमण का रोग दूर करने को तप के द्वारा नव
 ग्रंथीयक तक का सुख मिलता है। तप के विषय में महाराज ने बड़े अनुभव
 की बात बताई। "शरीर पर एकदम बड़ा बोझ डाल दिया जाय, तो वह
 उसे नहीं संभाल पाता है, किन्तु यदि धीरे २ बोझ बढ़ाया जाय तो वह

सहन हो जाता है। इसी प्रकार थोड़ा थोड़ा ब्रत तथा उपवासका भार बढ़ाने से आत्मा को पीड़ा नहीं होती और धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ते जाती है।" महाराज ने कहा था "हमने यह अपने अनुभव की बात कही है।"

आज जगत में कोई गरीबी के कारण दुखी है। वह धनवान को सुखी देखकर अन्तर्द्वार से संतप्त होता हुआ उसके समान सम्पत्तिशाली बनना चाहता है। उसका उपाय कोई कोई यह सोचते हैं कि उस धनी के धन को छीन लिया जाय। वस इसके सिवाय निर्धनता की पीड़ा से बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य महाराज ने कहा "गरीबी के संताप को दूर करने के लिए अव्यय औषधि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अतिश्रीम का परित्याग करके दयामय जीवन व्यतीत करना है।" उनसे वसुदेव की कथा बताई जो महाराज कृष्ण के ज्येष्ठ बंधु थे। पूर्वभवं में वसुदेव (बलराम) अत्यन्त कुरूप बुद्धिशून्य तथा निर्धन थे।

जगत में रूप, विद्या, धन में से कोई एक भी बात होती है तो जीव आदर को प्राप्त करता है। किन्तु तीनों विशेषता शून्य वह जीव सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बना। उसने सद्गुरु का शरण लिया, जिनने उसके दुख दूर करने का उपाय अहिंसापूर्ण तपस्या करना बताया। वह उग्र तपस्वरूप में निगमन हो गया। जिसके फलस्वरूप वह विद्या, बल, वैभव तथा सौन्दर्य सम्पन्न बलराम के रूप में उत्पन्न हुआ। इसलिए सुखी बनने का उपाय धन की सुखी बनने का उपाय शीघ्र क्षपटी कलह अनीति अत्याचार नहीं है। 'उसका इन्द्रियों का निग्रह प्रशस्त भाग है इन्द्रियों का निग्रह और संयम के साधन। महाराज ने कहा, पवित्र पुण्यार्थ के द्वारा सुख पाना तपः संयम हमारे हाथ में है। मोक्ष प्राप्ति के निश्चित समय के बीच

में यदि संयम और ब्रत पालन किया तो जीव उस सुख को प्राप्त करता है जिसकी सब कामना करते हैं और उस विपत्ति से बचता है जिससे सब डरते हैं। संयम पालन करने के लिए दैव का अवलम्बन छोड़ पुण्यार्थ का आश्रय लेना चाहिये। विपत्ति के आने पर हिम्मत हारना सच्चे पुण्य का धर्म नहीं है।"

महाराज ने यह भी कहा, कि "जब कर्मोदय का तीव्र वेग हो उस समय शांत रहना चाहिए और जब कर्म का वेग कुछ मन्द हो तब पुण्यार्थ करना चाहिए।" अपना व्यवसितगत अनुभव बताते हुए उनसे कहा 'जब भोजप्राप्त में वेदगंगा और दूषणगा के संगम में हम तैरते थे उस समय मध्य में

के दुःख शरीर तक ही सीमित हैं। उससे हमारी आत्मा को क्या होगा ? शरीर और आत्मा एक नहीं हैं।”

महाराज ने कहा—“हम व्यवहार धर्म का पालन करते हैं। भगवान का दर्शन करते हैं। अभिषेक देखते हैं। प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करते हैं। सभी क्रियाओं का यथाविधि पालन करते हैं, किन्तु हमारी अंतरंग श्रद्धा निश्चय पर है। जिस समय जो भवितव्य है, उसे कोई भी अन्वया नहीं परिणमा सकेगा। किन्तु हमारा निश्चय का एकांत नहीं है। दूसरों के दुःख दूर करने का विचार कसणावद्ध है।”

मेरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने बताया कि उनके मुनि जीवन के पूर्व में वे दस बारह मुनियों को देख चुके हैं। उस समय मुनि जीवन की निर्दोष परिपालना नहीं होती थी। उपाध्याय द्वारा श्रावक के घर में मुनिराज के आहार का निश्चय होने पर दूसरे दिन वह मुनिराज को उस घर पर ले जाता था और वहां आहार होता था। उस समय घर में निरंतर घटा बजता रहता था, जिससे अयोग्य शब्दादि के सुनने से अंतराय नहीं होवे। वे मुनि आहार के समय पूर्ण दिग्भ्रमर होते थे, अन्य समय में वे सण्ड वस्त्र धारण करते थे।”

आगमानुकूल यह बात सुनकर मैंने कहा—“महाराज आपने भी कुछ
आचरण समय तक ऐसी ही वृत्ति धारण की होगी ?”

उत्तर में कहा—“हमने आगम के विपरीत आचरण नहीं किया। हम शास्त्र पढ़ते रहते थे, इससे हमें कर्तव्य पथ का स्वयं बोध हो जाता था। मुनिपद की बात तो दूसरी शुक्लक व्रत लेने पर हमने उपाध्याय द्वारा पूर्व निश्चित घर में आहार नहीं किया। इस कारण हमें दीक्षा लेने के बाद दो तीन वर्ष पर्यन्त बहुत कष्ट सहन करना पड़ा, कारण लोगों को यह पता नहीं था, कि अनुद्दिष्ट आहार किस प्रकार दिया जाता है। प्रभात में हम मंदिर से धर्मसाधन के उपरान्त आहार के लिए निकलते थे। घर जाते हुए किसी श्रावक के पीछे पीछे जाते थे यदि उसने मुंह फेरकर हमें देख लिया और आहार के लिए अनुरोध किया, तो उसके घर जाते थे, अन्यथा दूसरे घर के साम्हने जाते थे, वहां के ग्रहस्थ ने यदि नहीं पडगाहा, तो हम वापिस लौट आते थे, और उस दिन उपवास करते थे। दूसरे दिन भी ऐसा ही करते थे, और कभी कभी दूसरे दिन और तीसरे दिन भी योग नहीं मिलता था, इससे हम समताभाव पूर्वक उपवास करते जाते

थे । इससे हमारे अंतःकरण में कोई सत्ताप नहीं होता था । हमारा यह पक्का निश्चय था कि भगवान की आज्ञा के खिलाफ जरा भी काम नहीं करेंगे भले ही हमारे प्राण चले जावें । उस समय उपाध्याय लोग हमारे विरुद्ध हो गए थे कारण उनके द्वारा निश्चित किये गए घर में आहार को न जाने से उनकी हानि होती थी, क्योंकि जिस घर में साधु आहार होता था वहां उपाध्याय भी सान्द्र भोजन करता था । हमारी प्रवृत्ति से उपाध्यायों का स्वार्थ पोषण रुक गया, इससे वे हमारे मार्ग के कटक हो गए । मुनिगण भी हमारे प्रतिकूल हो कहने लगे, कि इस फाल के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए, अथवा प्राण-विसर्जन करना होगा ।

सन्मार्ग दर्शन इस कठिन परिस्थिति में हमने आगम-कथित मार्ग का परित्याग नहीं किया । हम सोचते थे जब तक अन्तराय कर्म का उदय होगा, तब तक आहार का योग नहीं मिलेगा । धीरे धीरे लोगों को हमारी प्रवृत्ति का प्रोध हो चला और फिर प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल बन गई ।” इससे यह ज्ञात होता है, कि महाराज ने मुनिमार्ग के सुधारने में सच्चे सुधारक का कार्य किया । मिथ्या प्रवृत्ति को दूर करके सच्ची बातों का प्रचार ही सच्चा सुधार है । आज विषय लोलुपी लोग धर्म मार्ग को छोड़कर पतनकारी क्रियाओं में प्रवृत्ति को सुधार कार्य कहते हैं । सच्चा सुधार आचार्य महाराज सदृश आत्मबली महान् आत्माओं द्वारा संपन्न होता है । असंयमी जीवन की वृद्धि करते हुए जो अपने मस्तक पर सुधारकपने का मुकुट बाधते हैं, वे जीव आत्म ब्रह्मना करते हुए दुर्गति में अवर्णनीय ब्रष्ट भोगा करते हैं । जीव समय तथा त्याग के पथ में प्रवृत्त होता है, तब ही जीवन में सुधार के सद्भावों का जागरण होता है ।

संयमी जीवन से आत्मा की भोगसक्ति दूर होती है और जीव को आत्मा का कल्याण दिखाई पड़ता है । महाराज ने बताया था कि जब उनसे जयपुर में चातुर्मास बिष्णु उवाहरण

था तब एक गुलाबबाई नाम की महिला ने बत्तीस उपवास किए थे । उपवास पूर्ण होते ही उसके भावों में इतनी विद्युद्धि हुई कि उसने तीसरावन दिन केशी का लोच करके आर्यिका की दीक्षा लेली । देखने वाले लोग चकित हो गए । वास्तव में ऐसी सत्प्रवृत्तियों द्वारा जीवन का सुधार होता है ।”

आत्म कल्याण के हेतु यथाविधि उपवास करने से इन्द्रिय मन के

के दुःख शरीर तक ही सीमित हैं। उससे हमारी आत्मा को क्या होगा ? शरीर और आत्मा एक नहीं हैं ।”

महाराज ने कहा—“हम व्यवहार धर्म का पालन करते हैं। भगवान का दर्शन करते हैं। अभिषेक देखते हैं। प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करते हैं। सभी क्रियाओं का यथाविधि पालन करते हैं, किन्तु हमारी अतरंग श्रद्धा निश्चय पर है। जिस समय जो भवितव्य है, उसे कोई भी अन्यथा नहीं परिणामा सकेगा। किन्तु हमारा निश्चय का एकांत नहीं है। दूसरों के दुःख दूर करने का विचार कर्तव्य है ।”

मेरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने बताया कि उनके मुनि जीवन के पूर्व में वे दस बारह मुनियों को देख चुके हैं। उस समय मुनि जीवन की निर्दोष परिपालना नहीं होती थी। उपाध्याय द्वारा श्रावक के घर में मुनिराज के आहार का निश्चय होने पर दूसरे दिन वह मुनिराज को उस घर पर ले जाता था और वहाँ आहार होता था। उस समय घर में निरंतर घटा बजता रहता था, जिससे अयोग्य शब्दादि के सुनने से अतराय नहीं होवे। वे मुनि आहार के समय पूर्ण दिगम्बर होते थे, अन्य समय में वे खण्ड वस्त्र धारण करते थे ।”

आगमानुकूल यह बात सुनकर मैंने कहा—“महाराज आपने भी कुछ
आचरण समय तक ऐसी ही वृत्ति धारण की होगी ?”

उन्होंने कहा—“हमने आगम के विपरीत आचरण नहीं किया। हम शास्त्र पढ़ते रहते थे, इससे हमें कर्तव्य पथ का स्वयं बोध हो जाता था। मुनिपद की बात तो दूसरी क्षुल्लक व्रत लेने पर हमने उपाध्याय द्वारा पूर्व निर्दिष्ट घर में आहार नहीं किया। इस कारण हमें दीक्षा लेने के बाद दो तीन वर्ष पर्यन्त बहुत कष्ट सहन करना पड़ा, मारण लोगों को यह पता नहीं था, कि अनुद्दिष्ट आहार किस प्रकार दिया जाता है। प्रभात में हम मंदिर से घर्मसाधन के उपरान्त आहार के लिए निकलते थे। घर जाने हुए किसी श्रावक के पीछे पीछे जाते थे यदि उसने मुह फेरकर हमें देख लिया और आहार के लिए अनुरोध किया, तो उसके घर जाते थे, अन्यथा हमारे घर के साम्हने जाते थे, वहाँ वे ग्रहस्य ने यदि नहीं पडगाहा, तो हम वापिस लौट आते थे, और उस दिन उपवास करते थे। हमारे दिन भी ऐसा ही करते थे, और कभी कभी दूसरे दिन और तीसरे दिन भी योग नहीं मिलता था, इससे हम समताभाव पूर्वक उपवास करते जाते

थे । इससे हमारे अंतःकरण में कोई सताप नहीं होता था । हमारा यह पक्का निश्चय था कि भगवान् की आज्ञा के खिलाफ जरा भी काम नहीं करेंगे भले ही हमारे प्राण चले जावें । उस समय उपाध्याय लोग हमारे विरुद्ध हो गए थे कारण उनके द्वारा निश्चित किये गए घर में आहार को न जानने से उनकी हानि होती थी, क्योंकि जिस घर में साधु आहार होता था वहां उपाध्याय भी सानंद भोजन करता था । हमारी प्रवृत्ति से उपाध्यायों का स्वार्थ पोषण रुक गया, इससे वे हमारे मार्ग के कटक हो गए । मुनिगण भी हमारे प्रतिकूल ही कहने लगे, कि इस काल के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए, अथवा प्राण-विसर्जन करना होगा ।

सन्मार्ग दर्शन इस कठिन परिस्थिति में हमने आगम-कथित मार्ग का परित्याग नहीं किया । हम सोचते थे जब तक अन्तराय

कर्म का उदय होगा, तब तक आहार का योग नहीं मिलेगा । धीरे धीरे लोगो को हमारी प्रवृत्ति का बोध हो चला और फिर प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल बन गई ।" इससे यह ज्ञात होता है, कि महाराज ने मुनिमार्ग के सुधारने में सच्चे सुधारक का कार्य किया । मिथ्या प्रवृत्ति को दूर करके सच्ची बातों का प्रचार ही सच्चा सुधार है । आज विषय लोलुपी लोग धर्म मार्ग की छोड़कर पतनकारी क्रियाओं में प्रवृत्ति को सुधार कार्य कहते हैं । सच्चा सुधार आचार्य महाराज सद्गुण आत्मबली महान् आत्माओं द्वारा संपन्न होता है । असपनी जीवन की वृद्धि करते हुए जो अपने मस्तक पर सुधारकपने का मूकुट धारते हैं, वे जीव आत्म ब्रचना करते हुए दुर्गति में अवर्णनीय वष्ट भोगा करते हैं । जीव समय तथा त्याग के पथ में प्रवृत्त होता है, तब ही जीवन में सुधार के सद्भावों का जागरण होता है ।

समयी जीवन से आत्मा की भोगासक्ति दूर होती है और उपवास से आत्म-जीव की आत्मा का कल्याण दिखाई पड़ता है । महाराज जागृति का अपूर्व उदाहरण ने बताया था, कि जब उन्होंने जयपुर में स्नानार्थ मिथ्या था तब एव गुलाबबाई नाम की महिला ने बत्तीन उप-

वास किए थे । उपवास पूर्ण होते ही उसके भावों में इतनी विमुक्ति हुई कि उसने तैंतीसवें दिन केनो का लोच करके आर्यिका की दीक्षा लेली । देखने वाले लोग चकित हो गए । वास्तव में ऐसी सत्प्रवृत्तियों द्वारा जीवन का सुधार होता है ।"

आत्म कल्याण के हेतु यथाविधि उपवास करने से इन्द्रिय मन के

ली थी । यह देखकर एक आदमी उनके पास आकर बोला "महाराज ! यदि आपके उपदेश को मान कर सभी लोग मुनि पद धारण कर लेंगे तो उनकी सम्हाल कैसे होगी । उनको आहार कौन देगा ?

महाराज ने कहा था—"भाई ! सभी आत्माओं में ऐसी पवित्रता नहीं उत्पन्न होती है । फिर भी तुम तर्क द्वारा यह बात कहते हो, तो हमारा यह उत्तर है कि यदि मुनि बनने पर किसी को आहार न मिले, तो उस बात की हम जमानत लेते हैं । देखें ! ऐसा व्यक्ति कौन रहता है, जिसे मुनि पद धारण करने पर आहार का लाभ न मिले ।" महाराज जैसे जमानत लेने को तैयार होते हैं, तब वे शकाकार चुप हो गये । यहाँ तो महाराज ने जमानत देने की बात बताई थी । एक बार उनने जमानत लेने की भी मधुर बात सुनाई थी । पायसागर जी के दीक्षा के अंतरंग से भाव थे किन्तु उनकी पूर्व स्वच्छद प्रवृत्तियों को ही लक्ष्य-बिन्दु में रखने

विनोदमें धर्म-सर-
क्षण का रहस्य

वाले लोग महाराज से कहते थे—"महाराज ! ऐसे व्यक्ति को दीक्षा न दीजिये । यह नाटकीय व्यक्ति रहा है, इसे दीक्षा को लेकर उसे छोड़ते देर न लगेगी ।"

महाराज ने पायसागर जी की उच्च आत्मा को परख लिया था, इससे उनकी भावना पायसागर जी की दीक्षा देने की हो रही थी । उस समय महाराज ने पूछा—"पायसागर दीक्षा लेकर नहीं छोड़ेगा, इसका क्या प्रमाण है ?" उस समय पायसागर जी की वैराग्यभाव पूर्ण मनोवृत्ति को पूर्णतया समझने वाले उनके एक श्रीमंत कुटुम्बी महाराज के समक्ष आकर बोले—"महाराज ! मैं इस बात की जमानत लेता हूँ । यदि इनने दीक्षा लेकर छोड़ दी, तो मैं इस दीक्षा को आपके चरणों के समीप ग्रहण करूँगा ।" इस प्रकार योग्य जमानतदार को देखकर मधुर विनोदमय वातावरण में पायसागर जी की दीक्षा का निश्चय हुआ था । उनकी दीक्षा ऐसी ही सच्ची वैराग्य युक्त निकली, जिस प्रकार विविध प्रकार के अभिनय करने में निपुण शूद्र-मुत्सल की भुक्ति, दीक्षा, दुर्द्ध थी । अतः पायसागर महाराज के द्वारा कितना स्व-पर कल्याण हो रहा है, यह प्रत्यक्ष दर्शी ही जान सकता है । उनके मामिक तथा अन्तस्तल स्पर्श आध्यात्मिक उपदेश को सुनते ही सभी जैन अजैन आनन्द विभोर हो जाते हैं, तथा पाप प्रवृत्तियों का परित्याग करते हैं ।

आचार्य महाराज ने जिस जिस व्यक्ति को स्वयं परीक्षा करके दीक्षा

। अन्य व्रतादि दिए हैं, उन लोगों का जीवन अपूर्व सौख्य संपन्न तथा स्व विकास पूर्ण रहा है ।

उनके व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव पड़ता है, कि उनके समीप कठिन कठिन व्रत लेने का आत्मा में बल जाग्रत हो जाता है । असमय के साह के विरुद्ध समय की नीका को ले जाने वाले उन जैसे चतुर नाविक सा आत्म तेज तथा जिन भक्ति-युक्त और आत्मा कहा है ?

एक दिन बाह्य तप का वर्णन करते हुए मैंने कहा,—“अनगनादि नशनादि तप के धारण करने से मन की चंचलता दूर होती है, तथा रने का विशेष चित्त स्थिर होता है ।”

इस पर आचार्य महाराज ने कहा,—“इसका क्या यह अर्थ है, कि हम जो अनशन करते हैं वेला, तैला आदि करते, वह मन की चंचलता दूर करने को करते हैं, अर्थात् मन चंचल है यह त इससे सिद्ध होती है ।”

मैंने पूछा,—“महाराज ! आपके उपवासादि करने का क्या प्रयोजन, जब आपके मन में चंचलता नहीं है ?”

उनने कहा,—“हमने पूर्व में मिथ्यात्व की अवस्था में जो महान मोी का बंध किया है, उसकी निर्जरा करने के हेतु हम उपवासादि निरंतर रूपा करते हैं । तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, सबर भी होता । इससे मन में चंचलता न होते हुए भी हम उक्त ध्येय की सिद्धि के लु उपवासादि तप करते हैं ।”

इस प्रकार की अनेक मामिक बातें आचार्य महाराज के मुख से सुनाई पड़ती हैं । तत्त्वार्थसूत्र की तृतीय अध्याय में जब कर्म भूमि का णंन आया, तब महाराज ने मुख से पूछा,—“कर्म भूमि का क्या अर्थ है ?” मैंने कहा,—“अग्नि, मग्नि, वृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन षट् कर्मों के द्वारा महा जीविका की जाती है, इससे भरतादि क्षेत्रों को कर्मभूमि कहा गया है ।”

महाराज ने कर्मभूमि का अर्थ इस प्रकार कहा,—“कर्मक्षय की भूमि कर्मभूमि है । इस भूमि में समस्त कर्मों का क्षय किया जाता है इससे इस कर्मभूमि कहते हैं ।”

जब महाराज ने निर्वाण दीक्षा लेने का निश्चय किया, तब वे उसने पूर्व भगलमय भगवान् गोमतेश्वर की ओन्नेतर मूर्ति के

श्रमणवेलगोला का दर्शनार्थ श्रमणवेलगोला गए थे । वहां का संस्मरण बड़ा सुन्दर संस्मरण मधुर है । महाराज ने कहा—“जब हम वहां पहुंचे, तब महाराज मैसूर, भगवान बाहुबलि की वंदनार्थ आने वाले थे, उसकी सब व्यवस्था हो रही थी । पुलिस तथा सैन्य का पहरा लग गया था । पर्वत पर कोई आदमी नहीं जा सकता था । उस समय धुल्लक विमलसागर जी ने जैन सेठ एम. एल. वर्धमानंय्या से हमारा परिचय कराते हुए कहा कि इनको पर्वत पर जाने की व्यवस्था कराइये । उस समय वर्धमानंय्या सेठ का राज्य में बड़ा प्रभाव था । वर्धमानंय्या सेठ ने कहा ‘महाराज ! कल मैसूर नरेश के आने पर पर्वत पर कोई भी आदमी न जा सकेगा । इससे आप आज ही राध्या को हमारे साथ ऊपर चलिए । वहां ही रात्रि को रहिए तथा दूसरे दिन वापस लौट आइये ।’ इससे हम संध्या को ही वर्धमानंय्या सेठ के साथ पर्वत पर चले गए । वह रात्रि हमने बाहुबलि स्वामी के चरणों में व्यतीत की ।

दूसरे दिन सूर्योदय होने पर हमने भूति के साम्हने की शिखर पर से देखा, कि वैभव सहित मैसूर के नरेश कृष्णराज वाडियर का वहाँ आना मैसूर के नरेश हुआ । वह नरेश बड़ा धार्मिक था । पहले कृष्णराज द्वारा भक्तिपूर्वक महाराज ने बड़े भाव भक्ति पूर्वक बाहुबलि स्वामी की वीतराग छवि का दर्शन किया, पदचात रुपयो से भरी वंदना हुई एक चादी की थाली लेकर भगवान के चरण का अभिषेक किया । इसके अनंतर थाली को भी भगवान के चरणों में चढाकर उनने भगवान के चरणों में साण्डाग प्रणाम किया । बहुत गम्भीरता पूर्वक दर्शन के उपरांत वे भगवान की ओर दृष्टि डालते हुए बिना पीठ किए विनय पूर्वक धीरे धीरे पीछे आए तथा पर्वत से नीचे उतर आए ।”

एक समृद्धिवाली नरेश द्वारा रजत मुद्राओं से पूर्ण रजतपात्र द्वारा भगवान गोमटेश्वर की पूजा तथा अभिषेक का दृश्य सचमुच में बड़ा रम्य रहा होगा । इसी कारण आज भी आचार्य महाराज को वह बात जैसी की तैसी याद है ।

श्रमणवेलगोला में उनकी मुनिराज अनंतकीर्ति निल्लीकार का दर्शन हुआ था । अनंतकीर्ति महाराज का एक विशेष संदेश इनके द्वारा मुनि अनंतकीर्ति कोल्हापुर के दानवीर धार्मिक श्रीमंत सेठ भूपालप्पा जी से भेंट जिरने के पास भेजा गया था । उसमें उनने उत्तर—भारत की यात्रा की भावना प्रवक्षित की थी ।

एक दिन अनित्य अनुप्रेक्षा पर मैं विवेचन कर रहा था। उस

जीवन का क्या समय महाराज ने सुनाया था "इस ससार की अनित्यता
भरोसा ? का हम रोज विचार करते हैं। एक समय एक व्यक्ति

ने भक्ति पूर्वक हमें आहार कराया। उसके अनन्तर
वह अपने घर गया वहाँ भोजन करने एक ग्रास हाथ में लिया ही था
कि तत्काल उसके प्राण चले गए। वह अकाल मरण की घटना को गनोली
ग्राम में हुई थी।" यथार्थ में जगत की इस गतिविधि को ध्यान में रखकर
सत्पुरुष तपोवन का आश्रय ग्रहण किया करते हैं।

लोगों को कल्याण बवई से सधपति सेठ दाडिमबन्द जी ने लोणन्द आकर
की नहीं सूझती प्रभात में आचार्य श्री को प्रणाम किया। उस समय महा-

राज को यह समाचार ज्ञात हुआ कि उक्त सेठ जी की
नातिन का पति एक दिन की बीमारी में मर गया। इस तरह उनकी नातिन

के सिर पर बाल बंधव्य की विपत्ति आ गई। उस समय एक सज्जन ने
आचार्य श्री से कहा "महाराज यदि आज अवधिज्ञानी होते तो लोग अपने

भविष्य का ज्ञान करके ऐसी दुर्घटनाओं से सतर्क रहते।" इस पर महाराज ने
कहा "आज यदि अवधिज्ञान भी होता तो क्या विशेष बात ज्ञात होती ?

ससार में जो सुख दुःख भोगना है वे तो भोगना ही पड़ेंगे। आज अवधिज्ञान
नहीं है तो क्या हुआ पहले एक झोटि पूर्व की आयु होते हुए लोग आठ

वर्ष की अवस्था में मुनि बन तप करते थे। आज प्रायः लोगों का जीवन १००
वर्ष के भीतर रहता है। थोड़ा सा जीवन सेप रहने पर भी लोगों को अपना

कल्याण नहीं सूझता। जिसकी ६० वर्ष से अधिक आयु हो गई वह यदि
जीवित रहेगा तो २० वर्ष के लगभग। इसलिए ऐसे भल्प समय रहने पर

अपने कल्याण की ओर बढ़ने में तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।"
सासारिक भोगों की सेवा में जो विपत्ति आती है, उसकी गंधे की लात खाने

से तुलना करते हुए उनने कहा "गंधे को पूछ पण्डकर लात खाते जाना
अच्छा नहीं। हम अपने प्रेमी भक्तों को धक्का लगाकर असयम वे गड्ड

से निकालते हैं जिससे आख बंद होने वे पहले-पहले व अपना हित बर ल।
आख बंद होने के हमने अपने भाइयों को गूहजाल से निकाला। अरे भाई!

पूर्व हित कर लो जगल में आग लगने पर वह आग कई दिन तक रहती
है, तब कही बन का दाह होता है। इसी प्रकार यहुत

प्रयत्न करने पर कर्मों का दाह होता है। कर्मों की राशि एक दिन में नहीं

जल जाती।”

पास में बैठे हुए क्षुल्लक सुमतिसागर जी ने कहा “आचार्य महाराज ने जबरदस्ती झटका देकर गृहजाल से हमारा इस प्रकार उद्धार किया है जिस प्रकार कोई सराफ चादी के तार को अपने घन में से झटका देकर धनिको का नहीं खींचता है।” महाराज ने कहा “हमारी दृष्टि के आगे लखपती, करोड़पती, वैभव वालों का मूल्य नहीं है। रायमीका मूल्य है लाखों रुपया दान करने वाले धनिको की अपेक्षा इस क्षुल्लक का (सुमति सागरजी) हमारी दृष्टि से मूल्य ज्यादा है। वारण यह आरम्भ परिग्रह का त्यागी है इससे उसके कर्मों की विशेष निजंरा होती है। पागलपन छोड़ो इसलिए हमारा सभी से यही कहना है कि पागल के समान प्रवृत्ति छोड़कर विवेकी पुरुष के समान कार्य करना चाहिये। अज्ञानी लोग साधु को पागल समझते हैं। किन्तु साधु मोही जगत को पागल सदृश जानता है। कारण भोगी मानव झूठी दुनियाँ में ममत्व करके दुखी हाता है। वास्तव में ससार का प्रयोग झूठा है।”

एक दिन उत्तरभारत के एक प्रसिद्ध, अनेक सस्याओं के सचालक, त्यागी महोदय महाराज के समीप आये। लोगों ने उनका महाराज को परिचय कराया। महाराज ने उनसे पूछा कि “आप कौन सी प्रतिमा पालते हैं?” उन भद्र स्वभाव वाले महानुभाव ने कहा “आज के युग में व्रती बनकर प्रतिमा पालन करना असंभव है, इसलिए हम उदासीन रूप से रहते हैं।” इस उत्तर को सुनते ही आचार्य महाराज ने कहा “तुम्हारा यह कथन मिथ्यात्व के सद्भाव का निश्चय कराता है।” यह सुनते ही उन त्यागी जी के आँखों में आसू आ गये। उनने कहा “महाराज आपने हमें मिथ्यात्वी किस तरह कह दिया। हमारा जिनेन्द्र की वाणी में पूर्ण विश्वास है।” इतना कहकर वे दुखी हो वहाँ से उठ गये और उन्होंने अपनी कथा समाज के प्रख्यात सेठजी को सुनाई। वे सेठ साहब महाराज के पास आकर बोले “महाराज हम जानते हैं ये उच्च कोटि के त्यागी हैं, निस्पृह हैं, उच्च चरित्र वाले हैं। इनको आपने मिथ्यात्वी कैसे कह दिया?”

महाराज ने कहा—“तुम्हारे त्यागी ने कहा आजकल व्रती नहीं हो सकते, यह बात भगवान की वाणी के विरुद्ध है। आगम में बताया है कि पचमकाल के अतः तब मुनियों का अस्तित्व रहेगा। इसके विरुद्ध आपका त्यागी कहता

सत्य का कथन सर्वोपरि है कि आज धर्ती धावक भी नहीं हो सकते । यह कथन आगम के विरुद्ध है । आगम के विरुद्ध बोलने वाले को मिथ्यादृष्टि कहने में क्या दोष हो गया तुम्हीं बताओ ? वे सेठ चुप हो गए ।" इस प्रकार का प्रबल तर्कपूर्ण सत्यो का प्रतिपादन आचार्य महाराज करते हैं । सत्य का प्रतिपादन करते समय महाराज अपने भक्त की अथवा धनी मानी व्यक्ति या अधिकारी की तनिक भी परवाह नहीं करते । उनकी दृष्टि में सत्य का समर्थन सर्वोपरि कर्तव्य रहता है ।

महाराज की आलोचना इतनी मार्मिक और तत्त्वस्पर्शी होती है कि प्रकाण्ड विद्वानों की तर्कणा शक्ति उसके आगे कुंठित हो जाती है । आजकल जिरा तरह से विलासिता का प्रवाह जगत में बह रहा है उसी प्रकार आत्मा की बातें बनाने वालों की भी सत्या धर्ममान दिखती है । आज का बुद्धि जीवी मनुष्य वैसे लोकविद्या के बठिन २ ग्रंथों में प्रवीणता प्राप्त करता है ? इसी प्रकार कोई कोई अध्यात्म शास्त्री के पद्यों की कठस्थ करते हुए उनका मनोहर विवेचन करते हैं जिसे सुनते ही लोग यह सोचने लगते हैं कि इनके मिथ्यात्व का अन्धकार दूर हो गया और अब आत्मा की बातें बनाने वालों में सत्य की उपलब्धि के लिए महाराज ने एक बड़ी अनुभव पूर्ण बात कही थी । वे बोलें—
सम्यक्त्व की वैसे परीक्षा आस्तिक्य गुण के द्वारा हो जाती है । प्रशम, सवेग, अनुकम्पा ये तीन गुण मिथ्या स्त्री में भी दिखाई पड़ते हैं किन्तु आस्तिक्य गुण मिथ्यास्त्री में नहीं पाया जाता ।" इस कथन के प्रकाश में आज जो सम्यक् दृष्टियों की बड़ी सख्या बताई जाती है उनकी वास्तविकता का सम्यक् परीक्षण हो जाता है । जो व्यक्ति वीतराग भगवान की वाणी को न मानकर धर्म तथा सदाचार के विषय में जनता की हवि का ध्यान रख शिथिलाचार को स्वीकार करते हैं, साथ ही जो अध्यात्म शास्त्र की कथा करने में असाधारण कुशलता दिखाते हैं , उनकी कलई आचार्य महाराज के द्वारा उक्त परीक्षा की पद्धति से खुल जाती है । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शुक सद्गुरु शास्त्री का पाठ करने वाले व्यक्तियों के मुख से आत्मकथा का मधुर वर्णन सुनने पर भी उनको आत्मानुभूति की निधिसम्पन्न मानना

भयकर भूल की बात होगी।

छिपकिली की घटना एक दिन व्रतो में सास्त्र का पाठन चल रहा था। एकदम एक बड़ी छिपकिली सभा में आ गई। लोग सहसा उठ गये। उस समय महाराज ने पूछा—“क्या बात है?”

किसी ने कहा—“महाराज छिपकिली निपलने से लोग उठ गये।” सुनते ही महाराज के मुख मण्डल पर मधुर स्मित आ गया, और उनने कहा—“एक छिपकिली से इतना डरते हो जब साँप आयागा तब क्या करोगे।” उनके इन शब्दों को सुनकर मुझे स्मरण आ गया कि इन महापुरुष के सर पर सर्पराज स्वच्छद शीड़ा धर चुका है फिर भी ये अविचल रहे हैं इसलिए इस छिपकिली के प्रकरण को उन्होंने विनोद तथा कथना के भाव से देखा।

एक दिन मैंने महाराज से पूछा—“महाराज! व्रतादि के स्वरूप विचार करने में कैसे उनका ठीक अर्थ ध्यान में आ जाता है?”

पूर्व सस्वार उनने कहा—“व्रतादिक में बठिन प्रसंग आने पर हमें कुछ ऐसी अनुभूति सी होती है, यह बात हमारे पहले अनुभव में आई हो, इस पूर्व सस्वार के कारण हमारे मार्ग की बठिनता दूर हो जाती है।” उन्होंने यह भी बताया कि सामायिक पूर्ण होने के पश्चात् वे अपनी क्षमाओं पर विचार करते हैं, उस समय अनेक क्षमाओं का समाधान सहज हो जाया करता है।

क्षमा धर्म के दिन महाराज ने कहा—“साधु का मुख्य धर्म क्षमा भाव है। कौंसा भी आघ उत्पन्न करने का प्रसंग आवे साधु को क्षमा का त्याग नहीं करना चाहिए।” इतना कहते ही महाराज के स्मृति पथ में एक पूर्व परिचित साधु की बात आ गई। जिससे उनके चेहरे पर हास्य की रेखा आ गई। मेरे आप्रह करने पर उनने बताया—“एक साधु थे। किसी गृहस्थ ने उनके हाथों में अत्यन्त उष्ण खीर डाल दी, उसकी उष्णता असह्य थी। उनने वह खीर दाता गृहस्थ के मुख पर ही उछाल दी।” महाराज ने कहा—“मुनि को ऐसा नहीं करना चाहिए। असाता का उदय होने पर साधु को शांतिभाव का त्याग नहीं करना चाहिए।”

अपने नेत्रों की ज्योति मन्द होती देख वे कहने लगे यदि हमारी दृष्टि अधिक मंद हो गई तो हमें समाधिमरण करना पड़ेगा। मैंने कहा—“महाराज! शरीर की अच्छी स्थिति रहते हुए केवल आस के कारण बाह्य

का त्याग कर प्राणों का विसर्जन करने में आत्महत्या का दोष नहीं आवेगा ?”
 उनने कहा—“निर्दोष रीति से व्रतों का पालन करना मुख्य कर्तव्य है । जब
 दृष्टि इतनी क्षीण हो जावे कि हम जीवों का पूर्णतया रक्षण न कर सकें
 तब हमारे लिये एक मात्र यही मार्ग होगा कि हम इस शरीर को अन्न पान
 देना बंद कर दें । इसमें आत्मघात का दोष नहीं है । इसका लक्ष्य है व्रतों
 का निर्दोष रीति से पालन करना ।” किसी ने कहा “महाराज ! ज्योतिषी को
 घुलाकर आपकी आयु के विषय में पता लगाना चाहिये ।” महाराज
 बोले—“हमारा ज्योतिषी पर विश्वास नहीं है । वह कोई केवली या श्रुत-
 केवली नहीं है । दूसरी बात यह है कि हमारा जीवन अधिक भी रहा
 और दृष्टि चली गई तो उस जीवन से हमारा क्या प्रयोजन ? हमें उसको
 समाप्त करना होगा ।”

शास्त्रों में लिखा है कि समाधिभरण के लिए मुनि को निर्वाण-
 भूमि में जाना चाहिये इसलिए अब आचार्य महाराज का विचार किसी
 निर्वाण स्थल में रहने का हो रहा है ।

महाराज के पुण्य प्रभाव की घटना २९ अगस्त को लोणन्द के
 एक अजेन बधु ने सुनाई । वहा के नाले के तट पर मुनियों के निवास के
 लिए पापाण की कुटी बन रही थी । उसके भीतर एक गरीब बालक काम
 करता था । नींद कमजोर होने के कारण वह कुटी पराशायी हो गई ।
 सँकड़ो मन पापाण राशि के मध्य उस दोन बालक का
 तपोमूर्ति का रक्षण स्वप्न में भी असंभव था; किन्तु पुण्योदय था,
 प्रभाव जिस कोने में वह बालक खड़ा था, वहा के कुछ पापाण
 नहीं गिरे और वह बालक कहने लगा “मुझे यहा से बचा लो ।” उस बालक
 को पूर्णतया सुरक्षित ज्ञात कर हजारों लोग उस स्थल पर आए। प्रत्येक के
 मुख से यही बात निकलती थी “इन महात्मा की तपश्चर्या के प्रभाव
 से आज इस बच्चे का जीवन बचा । कदाचित कुटी के भीतर और साधु
 जन पहुच जाते और उस काल में वह गिर पडती तब न जाने क्या होता ?
 भाग्य से बिना क्षति के घटना हुई । यह तपोमूर्ति का प्रभाव है ।”

तात्त्विक चर्चा में महाराज ने बताया था “ऐलक बैठकर
 तत्त्व चर्चा तथा खड़े होकर भी आहार ले सकता है । क्षुल्लक केश-
 लौच का अभ्यास करता है, उससे नीचे की प्रतिमा वालों को केशों का
 लोच नहीं करना चाहिए ।

व्रती श्रावक को नल का पानी नहीं पीना चाहिए । वह नल के जल

में स्नान करे तो बाधा नहीं है। पर्व में उपवास के बदले शक्ति न होने पर एकासन करे।”

महाराज के पास बीतरागता का भंडार भरा है उनका अनुभव महान है। उनका जाया सुलझा हुआ है। व तो आज के भयसिंधु भटकी वाल नाविका के लिए प्रकाश स्तम्भ (Light house) के समान है। जिनका ज्योतिष या जीवन नीकाले डूबने से बचकर इष्ट स्थल को पहुँच सकती है। उनकी बीतरागता अलौकिक है। यथार्थ में उनके जीवन का महत्ता का प्रयत्न करते हुए भी उनको प्रकाशित करने में भी हमारी स्थिति उस गूँगे के समान है जो देवताओं के प्रिय सुधारक का पता करते हुए दूसरे लोग के समक्ष उसके माधुर्य का वर्णन नहीं कर सकता।

रत्नानर के बाह्य भाग पर पड़े हुए कुछ रत्न के समान साक्षात् सिंधु के जीवन की कुछ बातों का वर्णन किया है, यथार्थ में जैसे समुद्र के भीतर अत्यंत दीप्तिमय रत्न राशि क्षोभायमान होती है, इसी प्रकार इन तपामूर्ति गुणिनाथ की आत्मा जगन्निष्ठ अपूर्वताओं का आगार है, जिनका बाह्यजगत को ज्ञान नहीं है।

साक्षि के सिंधु की विस्तारता और गभीरता का अनुमान केवल इस एक सस्मरण से हो जायगा ऐसा हमें विश्वास है। मैंने कहा—‘महाराज आपने मुझ पर महाप्रबल प्रयत्न के संपादन आदि का पवित्र भार रखा है। जयधवल महाराज की सेवा का कार्य भी साधा है। और भी बड़े बड़े कार्य वर्धमान भगवान के शासन की सेवा निमित्त स्वीकार करते जाता हूँ। आप जैसे तपस्विना के आशीर्वाद में अपार सामर्थ्य है, महान शक्ति है इसलिए आशीर्वाद देने की प्रार्थना है।’

महाराज ने कहा— हम तुम्हें आशीर्वाद क्यों नहीं देंगे ? तुम तो जिस धर्म की सदा सेवा करते हो। हमारा आशीर्वाद तो उन जीवों के लिए भी है जो हमारा प्राण लेने का भी प्रयत्न करते हैं। विरोधी को भी हम आशीर्वाद देते हैं कि उनकी आत्मा का मिथ्यात्व दूर हो और वे मंगल मय धर्म की शरण में आवें। आत्मा का राक्षस कल्याण धर्म की शरण लेने में है।”

ऐसी ही अहिंसा पूर्ण श्रेष्ठवृत्ति के कारण मे श्रमणराज “चारित्र्य चरित्रार्थी” के पुण्यनाम से संपूजित होते हैं।

पण्डी आहरियाण

श्रीमत्कुन्द कुन्दाचार्यविरचितः। समयसारः।

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलाग्रनौपम्यां गतिं प्रपन्नान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलमिभणितम्॥१॥
जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुत्रलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्॥२॥
एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्रैकैरोल्लेखः।
बन्धकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति॥३॥
श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुरुभो विभक्तस्य॥४॥

आचार्य महाराज द्वारा की गई 'समयसार' की प्रतिलिपि का प्रारम्भिक अंश ।

तात्त्विक-चिंतन

विश्व-विश्लेषण इस भूवल्लय पर दृष्टि डालने पर दो प्रकार के तत्त्व-अचेतन और सचेतन ज्ञानगोचार होते हैं। सचेतन वस्तु ज्ञान गुण समन्वित पायी जाती है। चैतन्यशक्ति शून्य अचेतन पदार्थ कहा जाता है। सचेतन जीवपुंज में आत्मशक्ति के न्यूनताधिक विकास के कारण अगणित भेद हो गये हैं। भारतीय अध्यात्म वेत्ताओं ने जीव की अनंत विविधताओं का चौरासी लाख योनियों में समावेश किया है। इनमें श्रेष्ठ स्थान नर पर्याय को प्रदान किया गया है।

शरीर की रचना पर यदि दृष्टि डाली जाय, तो नर पर्याय अत्यंत निकृष्ट प्रतीत होगी। पशुओं की देह इतनी घृणित नहीं रहती, जितनी मनुष्य की। मानव शरीर के यथार्थ स्वरूप पर चिंतन करने पर वह समस्त निंदनीय वस्तुओं का पिंड, कृमि आदि जीवों के समुदाय युक्त, नरदेहकी निकृष्टता अत्यंत दुर्गन्ध सहित, मल-मूत्र का ग्रह तथा अशुचिमय प्रतीत होता है। सरस, सुगंध, मनोहर अतिपवित्र द्रव्य तब इस मानव से संपर्क होते ही अत्यंत दुर्वासिक्त तथा घृणास्पद हो जाते हैं। "इस दृष्टि से मानव शरीर की महत्ता स्वयं क्षीण हो जाती है। हंस-मयूर आदि पशु जगत के जीवों का शरीर तथा वनस्पति जगत् के जीवों आदि का शरीर विशेष सौन्दर्य का निधान माना जाता है। अतएव शारीरिक महत्ता मानव को प्रदान करने का क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर तपस्वी कार्तिकेय अपने शब्दों में देते हैं—

"मनुष्य पर्याय में ही तपसाधन होता है। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह मानवजीवन की आदि महाव्रतों का पूर्णतया पालन होता है, स्थान होता है। निर्वाण भी इस नर देह के द्वारा उपलब्ध होता है।

(१) सपलकुहियाण पिंड किमि-कुल-कलिय अलव्य-दुग्ध ।

मल-मुत्ताण गेह देह जाणेह असुद्धम ॥८३॥

सुद्ध पवित्त दव्य सरस-सुगंध मनोहर ज पि ।

देह-निहित जायदि विणावण सुद्ध दुग्ध ॥८४॥

(२) मणुअ गईए वि तवो, मणुअ गईए वि महव्वय सपल ।

मणुअ गईए ज्ञाण मणुअ गईए वि निव्वाण ॥२९९॥ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'

यह विशेषता बाह्य दृष्टि से सर्वगुण सम्पन्न जात होने वाले देवों की देह में नहीं है। देव तत्त्वज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु तपश्चर्या का पवित्र भार उठाने की सामर्थ्य उनकी देह में नहीं है।^१

हिन्दू ग्रन्थों में भी मानव जीवन की महत्ता गायी गयी है। मनु ने लिखा है कि "सुर लोक वासी भी भारत भूमि में जन्म धारण करने को लालायित रहते हैं।" ईसाइयों के धर्म ग्रंथ बाइबिल में लिखा है कि "परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी ही प्रतिकृतिके रूप में बनाया।" मुसलिम साहित्य भी मनुष्यों को सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ बताता है, इस प्रकार विश्व के साहित्य का परिशीलन मनुष्य जन्म की महत्ता को बताता है।^१ यह महान होते हुए भी दुर्लभ है।^१

नर जन्म की दुर्लभता 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में बताया है कि चौराहे में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान मनुष्य पर्याय को पुनः प्राप्त करना कठिन है। ताविक अकलंक कहते हैं "जिस प्रकार वृक्ष के दग्ध हो जाने पर पुनः उन पुद्गलों का वृक्षरूप परिणित होना कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य भव की प्राप्ति समझना चाहिये।"^१

हरियेणकृत बृहत्कथाकोष में लिखा है, "एक नगर में दो गरीब रहते थे। वे लकड़ी बेचकर जीवन-निर्वाह करते थे। एक बार वे दोनों ज्येष्ठ माह में लकड़ी लेने जंगल में गये। वहाँ से खूब लकड़ी काटने के श्रम में बलान्त हो वे एक सरोवर के तट पर आये और जी भरकर उनमें शीतल जल पिया। पश्चात् उन दोनों को भीठी नींद ने वशीभूत बना लिया। उनमें से एक को स्वप्न आया कि मैं महाविभूति संयुक्त हो त्रिलोक के राज्यासन पर अधिष्ठित हो गया हूँ। इतने में साथी की नींद खुल गई। अतः उसने अपने साथ वाले को जगाया। उसे उठते ही बड़ा क्रोध आया, क्योंकि उसका स्वप्न राज्य लुप्त हो गया था। अनंतर वह पुनः राज्य-दर्शन की लालसा से सो गया किन्तु अब उसे न राज्य दिखा और न राजकीय वैभव ही दिखा। इसी प्रकार नरदेह की पुनः प्राप्ति दुर्लभ है।"^१

यह भोग का साधन नहीं है अज्ञजीव इस नरदेह की महत्ता को भुला इसे विषयभोग का ही साधन सोचते हैं, इस विषय पर कवि बनारसी-दास का चित्रण बड़ा मार्मिक है—

उत्पन्न करता है तथा जागने पर जीवन के आनन्द को झलक देखता है । इस प्रकार जब जीवन-भरण का खेल प्रतिदिन की लीला है, तब भला, यह आत्मा इस शरीर पर कितने काल तक ठहरेगा ? यह जीव श्वास और निच्छ्वास के गमनागमन द्वारा इस शरीर से बाहर प्रमाण करने का निरंतर अभ्यास करता रहता है, आश्चर्य है, कि जगतवासी अपने आपको अजर और अमर मान बैठे हैं ।

कहते हैं कि विद्याप्रेमी नरेग भोज अपने प्रिय महाकवि से वार्तालाप करते हुए चर्चा कर रहे थे, कि 'मेरे पास अब किस बात की कमी है ? सुन्दर रमणियाँ, स्नेही मित्र समुदाय, प्रेमी वधु वृन्द, अनुरक्त सेवक गण, घोड़े, हाथी आदि की विपुल राशि विद्यमान है ।' धीरे से कविराज ने कह दिया "राजन ! ये सब वैभव नेत्रों के धन्द हो जाने के बाद कुछ भी न रहेंगे ।"

एक सत्पुरुष मन को समझाते हुए कहते हैं—

मन तू सड़े शरीर में क्या माने सुख चैन ।

जहाँ नगाड़े कून के चजत रहत दिन रैन ॥

। आए सो नाहीं रहे दशरथ लछमन राम ।

तुम कैसे रह जाओगे मूढ पाप के धाम ॥

एक कवि का कथन है—

देखीं देह-खेत न्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी बोये बहुत आन उपजत बहुत आन है । पचामृत अमृतरस सेती पोखिये शरीर नित, उपजे रुधिर मास हाडा को ठान है । एते पर रहे नाहिं कीजिए उपाय कोटि दिन में दिनसि जाय नाम न निधान है । एने देख मूरख उछाह मन माहि घरे ऐसी झूठ वाननि को साच कर मान है ।

भगवान् धर्मेनाथ तीर्थंकर के हृदय में जब विषय भोगों से विरक्ति हुई । तब महाकवि हरिश्चन्द्र के शब्दों में वे सोचते थे, 'यह यमराज विवेक रहित हो बाल-वृद्ध, धनी-दरिद्र, धीर-भीरु, सज्जन-दुर्जन इन सबको ग्रहण करता है, जिस प्रकार अग्नि सम्पूर्ण कोष्ठ राशि को भस्म कर देती है ।' जब ससार की यह कहानी है तब विचारक व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता

१ चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुबुद्धा सद्वाचिवाः प्रणयगर्भगिरिश्च भृत्या ।
पलंगंति दतिनिवहास्तरलास्तुरगा, सम्मीलिते नयनयोर्नहि किंचिदास्ति ॥

२ बाल वर्षीयास माढग दरिद्र धीरं भीरुं सज्जनं दुर्जनं च ।
अस्मात्पेव कृष्णवर्त्मव कश्च सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्त ॥ २०-२०॥

के भक्तों के हाथ में ही थी। यथार्थ में नव द्वार वाले पिंजरे से निकले हुए, पक्षों को पकड़कर लाने की सामर्थ्य किसमें है? पाण्डव पुराण में लिखा है कि प्रतापपुंज श्रीकृष्ण महाराज के चरण में जरतूकुमार के चाण लगते ही उनकी जीवन लीला समाप्त हो गयी इसलिये सत्पुरुष इस जीव को आत्मकल्याण करने के लिये। निरन्तर प्रहरी के समान सचेत करते हैं। एक सत्पुरुष कहते हैं—

चाम के शरीर माहि बसत लजात नाहि,

देखत अशुचि तोउ लीन होय तन में।

नारि बनी काहे की विचार कछु करे नाहि,

रीझ-रीझ मोह रहें चाप के बदन में।

लछमी के काज महाराज पद छाड़ देत,

डोलत हैं रंक जैसे लोभ की लगन में।

तनिक सी आमु पै उपाय कइ कोटि करै,

जगत के वासी देख हाँसी आवे मन में ॥

पुद्गल के पीछे
दौड़ना अहित-
कारी है

आत्मत्व को भुलाकर पुद्गल के पीछे दौड़ने से कभी भी बल्याण नहीं हो सकता। डा० राधाकृष्णन ने लिखा है,

“आधुनिक सभ्यता आर्थिक जंगलीपन पर अवस्थित है।

वह अधिकांश रूप में ससार और अधिकार के पीछे दौड़ रही है, आत्मा तथा उसकी पूर्णता की ओर ध्यान देने की परवाह नहीं करती है। आज की व्यस्तता, बेगति और भौतिक विकास इतना अवकाश ही नहीं लेने देते कि आत्म विकास द्वारा सभ्यता की वास्तविक उन्नति का काम कर सकें। हम अपने को सभ्य इसलिए नहीं कह सकते कि आधुनिक वैज्ञानिक वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन और टाइप राइटर काम में लाये जाते हैं। घंदर को साइकल चलाना, गिलास में पानी पीना और तम्बाखु का पाइप पीना सिखा दिया जा सकता है लेकिन रहेगा वह घंदर ही। शैलिक निपुणता का नैतिक विकास से बहुत कम सम्बन्ध है।”

यंत्रवाद के अमर्यादित विकास से आनन्द और अहंकार की अनुभूति करनेवाले आज के आधिभौतिक-पंडितों की बुद्धि की दो भीषणतम महायुद्धों ने ठिकाने लगा दिया, जिससे वे भी चिन्ताग्रस्त हो गए हैं कि किस प्रकार विपत्ति के रोरव गरक से मानव जाति का परिश्रम हो। धन और वैभव यदि आत्मविद्या के प्रकाश से शून्य रहते हैं तो वे इस मानव को उन्मत्त

बनाये बिना नहीं रहते। हाईकोर्ट जज श्री जुगमदरलाल जैनी ने महायुद्ध के पूर्व जो मार्मिक आलोचना की थी वह आज भी ध्यान देने योग्य है।
 “आज जडवाद के राक्षस ने युद्ध और संपत्ति के रूप में जगत को इतने जोर से जकड़ लिया है कि लोगों को अपनी वास्तविकता की भी स्मृति नहीं रही है और वे अपनी अर्धजागृत चेतना में स्वयं को ‘आत्मा’ अनुभव न करके केवल ‘यंत्र’ समझते हैं।”

भौतिकवाद के चरम विचार से सच्ची शांति का अद्भुत आत्मा में होगा यह धारणा अज्ञान मूलक है। गीता में लिखा है ‘जिस प्रकार ईंधन के द्वारा अग्नि की सृष्टि नहीं होती उसी प्रकार विषय सेवन से कामनाओं की पूर्ति नहीं होती।’

यह देखा जाता है कि मनोदेवता को सतुष्ट करने के लिए जितने जितने उपाय किए जाते हैं उसकी लालसा उतनी ही लम्बी चौड़ी बनती जाती है और अंत में वह अत्यधिक परिश्रम करते हुए भी अमर्यादित सताप और क्लेश को प्राप्त करता है। कवि कहता है—

मक्खी बंठी शहद पर, पंख लिए लिपटाय।

हाथ मलें अरु सिर धुनें, लालच बुरी बलाय ॥

बहुते हैं ‘एक भ्रमर था जो राध्या के समय सरोज के सौरभ में मस्त हो सोचता था कि आज रात्रि भर सौरभ पान में व्यतीत करूँ, इन्द्रियो की आसक्ति प्रभात में सूर्य देव का उदय होगा, प्रिय पंख खिल उठेगा तब मैं बाहर चला जाऊँगा। इतने में किसी गजराज ने उस भ्रमर सहित कमल को अपनी सूड से पकड़कर खा लिया। इस प्रकार उस विचारे मधुकर का सुनहरा स्वप्न सदा के लिए शून्य बन गया।’ उस भ्रमर के समान ही सभी भोगासक्त प्राणियों की स्थिति है। विश्व व्यापी महायुद्ध में जुटने वाले लोभी राष्ट्रों की क्या दशा हुई यह छुपी बात नहीं है। युद्ध का सूत्रपात करने वाले जर्मनी की महत्वाकांक्षा पूर्ण न हुई और उसे लेने के देने पड़ गये। विषयो की आसक्ति का ऐसा ही फल होता है। एक एक इन्द्रिय की आसक्ति से

१ “The monster of materialism has got such a grip of the world in the from of mars and mammon; that men have so far forgotten their reality and that they sub-consciously believe themselves to be mere machines instead of souls.”

जीव जब दुर्गति का पात्र बनता है तब पाचो के पीछे पड़ने वाला पापी प्राणी क्यों न पतन की पराक्राष्ठा को प्राप्त करेगा। कहा भी है—

रसना के रस मीन प्राण पल माहि गमावे ।

अलि नासा परसग रैन बहु सकट पावे ।

भृग कर श्रवण सनेह देह दुर्जन की दीनी ।

दीपक देख पतग दृष्टि हित कंसी कीनी ।

फरस इद्रिवश करि परयो कौन कौन संकट सहे ।

एक एक विपवेलि सम पंचन सेय तू सुख चहे ।

जब तक मोह का पीलिया रोग इम मानव के नेत्रो से दूर नहीं होता तब तक यह दीन बना सर्वत्र भिक्षुक की तरह दीडता है और पदापी की भक्ति करने की जडता दिखाकर सच्चे सुख से वंचित होता है। यह नहीं जानता कि आनंद का निर्भर भोग की भूमि में नहीं, त्याग के पुष्पस्थल में बढ़ता है। भोग की भूमि में विपत्ति की वृत्तरेणो ही वहा करता है।

पार्श्व पुराण में लिखा है कि—

जिस समय वञ्चनाभि चक्रवर्ती के अन्त करण में भोगासक्ति की अधियारी दूर हुई और वे वीतरागता को ओर प्रस्थान करने को तत्पर हो रहे थे, उस समय वे अपने हृदय में क्या सोचते थे, इसका चित्रण भूधरदास जी द्वारा इन मर्मस्पर्शी शब्दों में किया गया है —

भोग दुरे नवरोग बढ़ावें बेरी हैं जग जी के ।

बेरस होय विपाक समय अति मेवत लागत नीके ।

वञ्च अगनि विप से विपधर से ये अधिके दुःखदाई ।

धर्म रतन के चोर चपल अति दुर्गति पय सहाई ॥

मोह उदय यह जीव अज्ञानी भोग भले कर जानें ।

ज्यो कोई जन खाप घतूरा सो सय कचन मानें ॥

ज्यो ज्यो भोग सजोग मनोहर मन वालित जन पावै ।

तूष्णा नागिन त्यो त्यो हवें लहर जहर को आवें ॥

मे चर्यापद पाप निरन्तर भोगे भोग घनेरे ।

तो भी तनक भये नहि पूरन भोग मनोरथ मेरे ॥

राज समाज महा अप धारण बैर बढ़ावन हारा ।

वैश्या सम लछमी अति चचल याका कौन पत्पारा ॥

बाह्य पदार्थों के संपर्क में निरन्तर रहे आने के धारण वे ही जीव

को कल्याण दाना प्रतीत होते हैं। अनन्त बार भी ठगाए जाने पर इस प्राणी के ज्ञानचक्षु नहीं खुलते। पदार्थों की आसक्ति को न छोड़ते हुए यह शाश्वतिक शांति चाहता है, यह बात कभी भी संभव नहीं है।

बहते हैं, 'एक बन्दर था। उसे मोदक भरा एक छोटे मुस का लोटा मिला। तत्काल ही उसने अपने दोनों हाथ उम लोटे के भीतर डाले। दोनों मुट्टियों को लड्डूओं से भरी हुई निकालने का प्रयत्न किया, किन्तु उसका श्रम व्यर्थ रहा। लड्डू छोड़ने की वह तैयार न था, तब हाथ कैसे निकले? अतएव पकड़ लिया गया।' इसी प्रकार विपत्ति के बीज रूप परिग्रह की अमर्यादित वृद्धि करते हुए आनन्द की उपलब्धि निरन्तर दूर होती जाती है।

निरन्तर विपत्तियों की आरम्भ की स्थिति में तो यह जीव विपत्तियों की सहज ही त्यागने या उनको मर्यादित करने में समर्थ हो जाता, किन्तु उसका नशा आ जाने पर यह छोड़ना भी चाहे तो उसकी लालसा इसका पिंड नहीं छोड़ती। एक बार किसी नदी के तट पर कुछ व्यक्ति खड़े थे। उनमें से, कि

एक कबल बहता हुआ जा रहा है। उसे लेने की लालसा मन में उत्पन्न हो गई अतः एक आदमी तैरते हुए उस कबल को पकड़ने की तैयार हुआ, तो ज्ञात हुआ, कि वह कबल नहीं है, बल्कि तो रोछ है। रोछ न उम आदमी को पकड़ लिया। वह भला उसे क्यों छोड़ने चला? तट पर खड़े साथी चिल्लाकर कहने लगे, "भाई! कबल नहीं खिचता, तो उसे छोड़कर तुम ही शीघ्र आ जाओ।" वह उत्तर देता है, "क्या करूँ, मैं तो कबल को छोड़ता हूँ किन्तु यह कबल मुझे नहीं छोड़ता है।" जिस प्रकार कबल से छूटने की इच्छा रहते हुए भी उस व्यक्ति का उससे पिंड नहीं छूटता है उसी प्रकार यह व्यक्ति अपनी उलझनों, व्यस्तताओं आदि के कारण झझटों से नहीं बच पाता है, अतः अत्यन्त क्लेश पाता है।

जिम जराजीर्ण वृद्ध के सिर पर यमराज नाच रहा है वह भी तो तृष्णा के चक्कर से नहीं छूट पाता है। उसका कितना मार्मिक चित्रण इस पद्य में हुआ है—

“अगं गलितं पलितं मण्डं दशनं—विहीनं जातं तुण्डम्।

वृद्धो पाति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुच्यतांशा—पिण्डम् ॥”

यह मोही प्राणी जिस किसी रम्य प्रतीत होने वाले पदार्थ के सम्पर्क में आता है, वह उसे ही अपना मान बैठता है। सर्व वस्तुओं को

‘मेरी मेरी’ ‘मैं मैं’ रहने के कारण इस जीव रूपी बकरे की काल रूपी भेड़िया मार डालता है—

अजन में वसन में जाया में बधु वर्गों में ।

इति मे मे कुर्वाण कालवृको हन्ति पुण्याजम् ॥

अभय की हेतु विरागता भर्तृहरि कहते हैं, “इस जगत में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसके पीछे सतरा न हो। भोग के पीछे रोग की भीति है, तो कुल के साथ उसके गौरव की क्षति का भय है। धन के पीछे राजसत्ता के द्वारा अपहरण का डर है, अभिमान को दीनता का भय है, बल में शत्रु भय है, रूप में तरणी का भय है, शास्त्र में बाद का भय है, गुण में दुर्जनो कृत भय है। शरीर के पीछे मृत्यु की भीति है एक वैराग्य ही सर्व प्रकार की भीति-विमुक्त है।”

कोई कोई बुद्धि जीवी व्यक्ति ज्ञान की विविध शाखाओं में प्रवीणता को ही कृतार्थता का कारण कहते हैं किन्तु जीव का हित उस विद्या में विद्यमान है जिसके द्वारा परमार्थ पथ का प्रकाशन होता है। एक बार विविध लोक विद्या के भ्रमज व्यक्ति नौका में बैठकर नाविक से चर्चा करने लगे। जब उनको यह ज्ञात हुआ कि नाविक निरक्षर भट्टाचार्य हैं, तब वे उससे कहने लगे तूने बिना पढ़े लिखे अपने जीवन का कुछ भी उपयोग नहीं किया। कुछ समय पश्चात् नौका तूफान में आ गई और समस्त विद्वान घबड़ा कर नाविक से जीवन रक्षार्थ अनुरोध करने लगे। चतुर नाविक बोला “आप लोग सर्व शास्त्रों में पारंगत हैं, मैं तो कुछ भी नहीं जानता हूँ, अतएव आप अपने शास्त्र ज्ञान की सहायता से अपना रक्षण करें।”

वे लोग घबड़ाये और दीनता पूर्वक बोले “हमारे पास बाहरी बातों का ज्ञान है वह इस समय रक्षण नहीं कर सकता है। तुमने जो जल सतराण की विद्या प्राप्त की है, वही इस विपत्ति में बेटापार कर सकती है।”

१ भोगे रोग भय कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाभ्यः,

याने दैन्य भय बडे रिपुभय रणे तरुण्या भयम् ।

शास्त्रे बादभय गुणे खलभय मापे कृतान्ताभ्यः ।

मर्गे यत्तु भयान्वित भुवि नृणा वैराग्य मेवाभयम् ॥

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।

यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥

इसी प्रकार ज्ञान की विपुल राशि जीव का कल्याण करने में असमर्थ है, किन्तु थोड़ा भी संसार सिधु-सतरण मम्बन्धी ज्ञानहितसाधक होता है । वास्तविक बात तो यह है, कि लौकिक ज्ञान का सिधु परमार्थ ज्ञान के बिन्दु की महता को भी नहीं प्राप्त कर सकता है ।

महर्षि पूज्यपाद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शरीर और आत्मा के विषय में छत्तीस सदृश बात है । जिससे आत्मा का पोषण होता है, उससे शरीर का सर्वधन नहीं होता । जिससे शरीर का कल्याण होता है, उससे आत्मा का हित नहीं होता है ।

स्वामी समतभद्र ने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव ने विशाल साम्राज्य का परित्याग कर दिगंबर मुनि का पद स्वीकार किया था और आत्मध्यान के द्वारा अपनी आत्मा में विद्यमान विकृतियों का मूलतः उच्छेद करके ब्रह्मत्व और अमृतत्व के स्वामीपने की प्रतिष्ठा प्राप्त की थी । इससे यह स्पष्ट होता है कि परिग्रह के पिशाच से बँड छूटने पर ही यह जीव परम पद को प्राप्त करता है ।

आज का वातावरण तथा इद्रियों को लुभाने वाली सामग्रियों का राज सजा देखकर सामान्यतया यह समझा जाता है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित महामुनि का जीवन धारण करना स्वप्न में भी संभव नहीं है । इसका एक कारण यह भी है कि आज की शारीरिक स्थिति तपश्चर्या का भार उठाने की कल्पना मात्र से घबड़ा जाती है । अतएव एकाकी, निस्पृह, कर्मपात्र भोजी, दयामूर्ति, परिग्रह रहित एवं पूर्णतया स्वधीन वृत्ति वाले मुनिराज का उच्च जीवन कोई व्यतीत कर सकेगा यह बड़े बड़ों के ध्यान में नहीं आती । किन्तु यह धारणा बीतराग वाणी के प्रकाश में भाति पूर्ण ज्ञात होती है ।

तिलोप पण्यति से ज्ञात होता है, कि “भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् एक सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर चतुर्मुख नाम का कल्की होता है । जिसकी आयु सत्तरवर्ष तथा राज्य काल ब्यालीस वर्ष है । वह कल्की प्रयत्नपूर्वक अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके लालची होकर मुनियों के आहार का प्रथम ग्रास टेक्स माँगेगा । तब मुनिराज अग्रविड को देखकर और यह समझकर कि यह अन्तरायी का बाल

परिग्रहत्यागी
मुनियों का सद्भाव
पंचमकाल के अंत
तक रहेगा

हैं चले जाते हैं । इनमें से एक मुनिराज के अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है । इसके बाद कोई असुर देव अवधिज्ञान से मुनियों के उपसर्ग को जान, उस कल्की को धर्म द्रोही मानकर मार डालता है ।^१

इस प्रकार एक एक हजार वर्ष के पश्चात् पृथक् पृथक् एक एक कल्की और पाच सौ वर्षों के पश्चात् एक एक उपकल्की होता है । प्रत्येक कल्की के प्रति एक एक दुपमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समय में चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं ।

इस प्रकार दुपमा काल में धर्म, आयु, और ऊंचाई आदि कम होती जाती हैं । फिर अंत में विषय प्रकृतिवाला इक्ष्वाकुसर्प कल्की होता है । उसके समय में वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्ता और पंगुश्री नामक श्रावक श्राविका होते हैं । वह कल्की आज्ञा से अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके मंत्रिवरों से कहता है कि ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है जो मेरे वश में न हो ? तब मंत्री कहते हैं 'स्वामिन ! एक मुनि आपके वश में नहीं है । तब कल्की कहता है 'बताओ वह अविनीत मुनि कौन है ?' उत्तर में मंत्री कहते हैं 'सकल अहिंसा व्रत के आधार रूप वे मुनि परिग्रह रहित होते हुए शरीर की स्थिति निमित्त दूसरों के घर द्वारों पर काय को दिखलाकर मध्याह्न काल में अपने हस्तपुर में विष्णु रहित एवं प्रासुक आहार को लेते हैं ।' इसे सुनकर वह कल्की कहता है 'वह अहिंसाव्रत का धारी पापी कहा जाता है ? तुम स्वयं सर्वप्रकार से पता लगाओ । उस आत्मघाती मुनि के प्रथम घास को टेंवस रूप में ग्रहण करो ।' पदचात पिडाग्र के मागे जाने पर मुनीन्द्र तुरन्त उसे देकर अन्तराय वश वापिस चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान को प्राप्त करते हैं । उस समय वे मुनीन्द्र, अग्निल श्रावक, पंगुश्री श्राविका तथा सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुए कहते हैं, 'अब दुपमा काल का अन्त आ

१ वैदिक ग्रंथ महाभारत में लिखा है कि कलियुग के अंत होने पर सत्य युग का आरम्भ होगा । तब शंभलग्राम में ब्राह्मण पुत्र विष्णुवक्त्र होगा । वही कल्की होगा । उसकी इच्छानुसार उसके पास शस्त्र, वाहन, योद्धादि उपस्थित होंगे ! वह ब्राह्मणों की सेना लेकर सर्वशत्रुओं का नाश करेगा और चक्रवर्ती राजा होकर सर्व आनन्द प्रदान करेगा । महाभारत-वनपर्व

चुका है। तुम्हारी हमारी तीन दिन की आयुशेष है और यह अंतिम वत्सकी है।' तब वे चारो चतुर्विध आहारको तथा सर्व सग का जन्म पर्यन्त त्यागकर संन्यास को धारण करते हैं। वे सब कार्तिक मास के कृष्णपक्ष के अंत में सूर्य के स्वाति नक्षत्र पर उदित रहने पर संन्यासपूर्वक समाधि भरण करते हैं।"

इस शास्त्राधार से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि पञ्चमकालके अंत तक मुनिधर्म रहेगा। अभी इस धर्म का सद्भाव १८५०० वर्ष प्रमाण रहेगा और अंतिम मुनिराज नियम से अवधिज्ञान समन्वित होगे। यह दिगम्बर मुनिराज का पद साधारण बात नहीं है। उनका दर्शन तब जब जीव को कृतार्थ करता है और पापों का प्रक्षालन करता है, तब उस पद की महत्ता का सहज अनुमान हो सकता है।

आज की पवन में इन्द्रिय लोलुपता और विषयान्धता के विषाक्त कण आज की हीयमान स्थिति सर्वत्र बह रहे हैं। सर्वसग त्यागी मुनि के जीवन की बात तो बड़ी दूर की है, साधारण गृहस्थ के नियमों का पालन भी समस्या हो रही है। निर्दोष रीति से मद्य, मांस, मधु, अमालित जल त्याग का व्रत पालना कठिन समझा जाता है। धावक के पटकमों को अनावश्यक कर्म साचा जाने लगा है। आज दिन हम दीनबन्धु भगवान से यह प्रार्थना करते हैं—

मोको बड़ा अदेशा प्रभुजी मोको बड़ा अदेशा है।

नही ज्ञान, काया बल इन्द्रिय, दान देन नहि पैसा है।

भव सुधरन को जो तप तपिये तो मो तन अब ऐसा है ॥टेक॥

हममें लच्छन कहा तरन के मलिन तैल पट जैसा है।

तुम तारो तो तरा प्रभुजी मेरा मन अब ऐसा है ॥टेक॥

अब उच्च साधना के योग्य मनोबल नहीं, शरीर में विशिष्ट सामर्थ्य नहीं है, जब जिस आत्मा में श्रेष्ठ अहिंसामयी साधना का साहस और प्रवृत्ति हो, वह क्यों न विश्ववद्य होगी? दुनिया में और भी बड़े बड़े सन्त प्राचीनकाल से होते चले आ रहे हैं, किन्तु अन्त बाह्य परिग्रह का त्याग कर प्रवृत्ति प्रदत्त दिगम्बरवृत्ति से जीवन को समलकृत करनेवाले विरले ही होते हैं। जिनके जीवन में अहिंसा की ज्योत्सना पूर्णतया प्रकाशमान हो चुकी है, जो ब्रह्मचर्य की निर्दोष साधना के योग्य अपने मन को बना सके हैं, वे ही दिगम्बरत्व को धारण करने में समर्थ हो सकते हैं। ये न कपड़े के वस्त्र ही

पहिनते हैं और न चर्म के या छाल आदि के धारण करते हैं। ये पूर्णतया अकिंचन वृत्ति रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनमें दैन्य का भाव पाया जाता है। ये आत्म गौरव के पुञ्ज रहते हैं।

यूनानी साधु एपौलीनियस की भाषा में ये गरीब नहीं हैं। उसने कहा था—“यदि कोई मुझसे पूछे कि मैं गरीब हूँ या धनी, तो मैं उत्तर दूँगा, कि मैं संसार का सबसे बड़ा धनवान् पुरुष हूँ, क्योंकि मेरे अंदर इतना सतोप है, जो दुनिया के बड़े से बड़े सम्राटों के धन से अधिक है।”

वाह्य परिग्रह दिगम्बर वृत्ति साधुत्व की पराकाष्ठा है। वाह्य त्याग साधन है, पदार्थों का त्याग स्वयं साध्य नहीं है। वाह्य दिगम्बरत्व साध्य नहीं, अतः निर्मलता का कारण है। परमयोगी महर्षि कुन्द बुन्द का कथन है—“भावों की विशुद्धता के हेतु वाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। आंतरिक परिग्रह धारक के वाह्य दिगम्बरत्व विफल है। भावों की विशुद्धि रहित यदि करोड़ों जन्मों में भी भुजाओं को लटका कर तथा वस्त्रों को त्याग कर कोई तपश्चर्या करे, तो भी वह मोक्ष को नहीं पाता है।”

स्वामी समंतभद्र ने लिखा है कि भगवान् कुशुनाथ तीर्थंकर ने आन्तरिक तप की अभिवृद्धि के लिए अत्यन्त कठोर वाह्य तपः का पालन किया था। उनसे यह भी लिखा है, कि भगवान् नमिनाथ तीर्थंकर ने अहिंसा रूप पर ब्रह्म की साधना निमित्त वाह्य और अन्तरंग सभी परिग्रह का त्याग किया था, और परिग्रह सहित विकृत वेप को नहीं अपनाया था।

वाह्य परिग्रह होते हुए अन्तरंग निर्मलता असंभव है किन्हीं किन्हीं की यह समझ है, कि अन्तरंग निर्मलता मात्र साध्य है। वाह्य पदार्थों को या न हो इससे कुछ प्रयोजन नहीं है। अतः दिगम्बरत्व हो, तो वाह्य दिगम्बरत्व की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह धारणा ठीक नहीं है। यदि एक लंगोटी मात्र भी परिग्रह रखा तो वह गृहस्थ हो कहलायगा, साधुत्व की ध्येयी में वह शामिल नहीं हो सकता। उसकी उत्पत्ति देस समस्त गुण स्थान से आगे नहीं हो सकती। वह मुनि नहीं कहा जा सकता। तार्किक प्रभाचन्द्र ने लिखा है, “वाह्य और अन्तरंग परिग्रह का परित्याग समय है। वह याचना, वस्त्र का सीना, प्रक्षालन करना, मुखाना, रखना, उठाना, चोर के द्वारा अपहरण होना आदि मानसिक शो उत्पन्न करनेवाले वस्त्र के धारण करने पर कैसे होगा? वह तो

संयम का सहार करने वाला होगा, क्योंकि वह आंतरिक दिगम्बरपने का ग्रन्थ है ।" (प्रमेयकमल भातण्ड ३३१-३३२)

कदाचित् यह कहा जाय, कि लज्जा, शीत की पीडा आदि के निवारणार्थ वस्त्रादि का ग्रहण किया जाता है तो इस प्रकार कर्म के अनुसार काम पीडा आदि के शान्त करने के लिए कामिनी आदि का संग्रह क्यों न किया जाय ? यदि वस्त्र खण्ड के ग्रहण करते हुए भी विरक्ति का भाव सुरक्षित रहता है, तो यही नियम स्त्री के विषय में भी क्यों न चरितार्थ होगा ?

दिगम्बरत्व

दिगम्बर जैन

मुनियों की विश्व

मान्यता

बौद्ध साहित्य में दिगंबर मुनियों का वर्णन मिलता है।

विसाख-वत्थु-धम्म-पदत्त-कथा में लिखा है कि एक

श्रेष्ठ के भवन में पांच सौ दिगम्बर जैन साधुओं ने

आहार ग्रहण किया था। 'महावग्ग' से विदित होता है

कि वैशाली में दिगम्बर मुनियों का विहार होता था। महापरिनिर्वाण

सूत्र में भी दिगंबर साधुओं का उल्लेख पाया जाता है। 'विनयपिटक' में

भी दिगम्बर जैन मुनियों के विहार का उल्लेख है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम ऋग्वेद में दिगंबर मुनियों को

'वातरक्षना' शब्द द्वारा बताया है।^१ यजुर्वेद में महावीर भगवान को नग्न

बताते हुए उनकी उपासना को संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रूप रात्रि-

भय तथा धनमद शरीरमद आदि निवारक कहा है।^२ उपनिषद् में परमहंस,

भिक्षु, परिव्राजक तथा संन्यासी को दिगम्बर बताया है। जाबाल-उपनिषद्

में लिखा है कि परमहंस साधु, दिगम्बर, निर्ग्रन्थ मुद्राधारी, परिग्रह रहित

ब्रह्मपथ में संलग्न, शुद्ध मनोवृत्ति वाला जीवन रक्षार्थ भिक्षा द्वारा आहार

ग्रहण करने वाला लाभालाभ में समदृष्टी, होता है।^३

नारद परिव्राजक-उपनिषद् में लिखा है कि "भिक्षु पुत्र मित्र

कलत्र तथा कुटुम्बियों को छोड़कर दिगंबर होता है।^४ भिक्षुक उपनिषद्

तुरीयतमोपनिषद् में भी इसी बात का समर्थन है। संन्यासोपनिषद् में सर्व

परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर बनने वाले को ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी कहते हैं।^५

१ "गुणयो वातरक्षनाः पिशगा वसते मला" मंडल १०-२-१३६, २

२ "आतिथ्यरूपं मात्सरं महावीरस्य नग्नहुः। रूपमुपासदामेतत्तिष्ठो रात्रीः सुराः सुतः।" अ. १९. मंत्र १४

३ "यथा जात-रूपधरो निर्ग्रन्थो निस्परिग्रहस्तत् ब्रह्मभार्गो सम्यक् संपन्नः शुद्धमानसः प्राण-संधारणार्थं...वियुक्तो भैक्षमाचरन्...लाभालाभयोः समोभूत्वा...सः परमहंसो नाम" जाबाल उपनिषद्.

४ "जातरूपधरोभूत्वा स्वपुत्र-मित्र-कलत्र-वन्ध्वादीनि कीर्त्तनं दण्ड-भाच्छादनं च त्यजत्वा"...

५ सन्यस्य ज्ञानरूपधरोभवति स ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी

मंत्रेय-उपनिषद् में दिग्बरत्व को आनन्द का कारण बताया है ।
हिन्दू अवधूत साधु दिग्बर होते हैं ।

इस परिग्रह का सतमग बड़े बड़े सत्तो की शाचनीय
अल्प परिग्रह भी अवस्था उत्पन्न करता है । कहते हैं 'एव भोले साधु ने
पूर्ण विकास में दिग्बर मुद्रा का प्रतिपाद कर भक्तों की प्रेरणा से
साधन है एव लंगोटी रखना स्वीकार किया था । वह सोचता था
मेरी आत्म निर्मलता की ज्योति की इतनी भी लंगोटी क्या क्षति पहुँचा
सकेगी । लंगोटी को चूँहा ने काट दिया इसलिए चूँहा से बचने के लिए
बिल्ली पाली गई और उसके रक्षणार्थ दूध पिलाने वाला गाय रखी गई ।
जब गाय चरने का बाहर गयी तब उसकी चराई की चुंगी के निमित्त से
राजकर्मचारी और लंगोटीवाले बाबाजी में बात बड़ते बड़ते मारामारी तक हो
गई । उस समय उस भोलेबाबा को स्मरण आया कि इस विपत्ति का आदि
कारण लंगोटी की लालसा रही है ।' यथार्थ बात यह है कि परिग्रह आत्म-
स्वभाव से भिन्न है उसका संपर्क आत्मा में आकुलता उत्पन्न करके विकास के
प्रदीप को बुझाये बिना न रहेगा । इस विषय की वास्तविकता गहरे
अनुभव द्वारा ही विदित हो सकती है ।

शायर जलालुद्दीन ने दिग्बर पद को दिव्य ज्योति से अलकृत
बनाते हुए कहा है कि वस्त्रधारी व्यक्ति की दृष्टि तो धोबी की ओर
रहती है—

"मस्त बोला मुह्रतमिव से कामजा, होगा क्या नगे स तू ओहदा बरा ।

हैं नजर धोबी पे जामापोश की, हैं तजल्ली जेवरे उरियातनी ॥

गगन दरवेश ताकिव से कहता है—"अरे भाई तू जा और अपना काम
कर तू दिग्बर से ऊँचा नहीं बन सकता वस्त्र धारक की दृष्टि सदा धोबी
की ओर रहती है । दिग्बरत्व की शोभा देवी प्रकाश रूप है । या तो तुम
गगन दरवेशों से कोई संघ न रखो अथवा उनके सदृश दिग्बर और
स्वाधीन बन जाओ । यदि तुम पूर्णतया दिग्बर नहीं बन सकते तो अपने
वस्त्रों को अल्पतम परिमाण में रखो ।"

आज से ३०० वर्ष पूर्व शाहजहाँ बादशाह के राज्य में
मुसलिम साहित्य में मुसलिम सूफी फकीर सरमद दिली में गगन रूप में

विहार करता था। उसका मजार दिल्ली की जामा मस्जिद में बाँये भाग में है। हमने भी देखा है कि उस स्थल पर बहुत लोग जाकर अपना श्रद्धा-भाव प्रकट करते हैं। उसका कथन था 'परमात्मा जिसमें दोष देखता है उसे वस्त्र पहना देता है किन्तु जो निर्दोष है उसे नग्न ही रहने देता है।'

अब्दुल कासिम जिलानी नामक मुसलिम साधु दिगंबर रहता था था। अब्दुल नामक मुसलिम फकीर दिगंबर रहा करते थे।^१

मुसलिम साहित्य के समान ईसाई धर्म ग्रन्थों में भी ईसाई ग्रन्थों में दिगंबरत्व के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। बाइबिल में लिखा है, "आदम तथा उसकी पत्नी (ईवा) नग्न उत्पन्न हुए थे तथा उद्यान में नग्न रहते थे, उनके मन में लज्जा ने स्थान नहीं बनाया था। जब उन्होंने निषिद्ध वृक्ष के फल को खाया, तो उन्हें यह ज्ञान होने लगा कि वे नग्न हैं इसलिए उनने अजीर के वृक्ष के पत्तों से अपने अंगों को ढाक लिया।"^२

बाइबिल में यह भी लिखा है कि, "उसने अपने वस्त्र भी अलग कर दिये और सेमुअल के समथ इस प्रकार की घोषणा की तथा दिन रात दिगंबर रहा इस पर उन लोगों ने पूछा, "क्या झाल भी पैगंबरों में

१ पोनाद लिबास हरकरा ऐवे दीद। वे-ऐवा रा लिबासे उरियानी दाद ॥

२ "The higher saints of Islam, called 'Abdals' went about perfectly naked"

Mysticism & Magic in Turkey by Miss Lucy M. Gernet

३ "And they (Adam & Eve) were both naked, the man and his wife and were not ashamed". Genesis 11-25.

"Shame was then absent for shame came out of sin and Adam and Eve had not then sinned. They did not require any covering as their thoughts were pure, and they were innocent. When they ate the fruit of the forbidden tree, they sinned and they knew that they were naked. And they sewed fig-leaves together and made themselves aprons and they heard the voice of the Lord God walking in the garden in the cool of the day and Adam and his wife hid themselves from the presence of the Lord God, amongst the trees of the garden." Ibid 11-7-11

उसी समय प्रभू ने अमोज के पुत्र ईसाई या से कहा, "जा, तू भी अपने से है ।" कपड़ों को दूर कर दे और जूता भी उतार डाल ।" उमने ऐसा ही किया वह नग्न हो नगे पैर फिरने लगा ।^१ यहूदियों के धर्म ग्रन्थ में लिखा है, "जो मोक्ष प्राप्ति को श्रद्धा सहित है वे लौट आये और उनमें पर्वत पर निवास किया । वे सब अवतार थे उनसे पास कोई भी सामग्री नहीं थी वे सब नग्न थे ।

ईसाई साधू पीटर ने लिखा है, "हमें अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिये परिग्रह हम सबके लिये पापकर्म है । इगवा जैसे भी रपाग हो वह पापों से बचना है ।"^२

Milton in his 'Paradise Lost' writes—

"Two of far nobler shape, erect and tall
God-like erect with native honour clad
In naked majesty, seemed Lords of all
Nor those mysterious parts were then concealed,
Then was not guilty shame Dis-honest shame
Of Nature's works honour dishonourable
Sin-bred, how have ye troubled all man kind
Which shows in stead, mere shows of seeming pure,
And banished from man's life, his happy rest life,
Simplicity and spotless innocence
So passed they naked on not shunned the sight
Of God or Angel, for they thought no ill" Pp 288-320

१ "And he stripped his clothes also and prophesised before Samuel in the like manner and they lay down naked all day and night Wherefore they said "Is Saul also among the prophets?" Samuel XIX-24

२ "At the same time spake the Lord by Isaiah, the son of Amoz, saying 'Go and loose the sack-cloth from off thy loins and put off thy shoes from the foot And he did so walking naked and bare foot' Isaiah XX-2

३ "To all of us possession are sins . The deprivations of these in whatever way it may take place is the removal of sin "

Clementine Homilies.

Ante Niece Christian Library XVII

हिन्दू ग्रन्थों में हिन्दू पुराण साहित्य भी इस प्रसंग में महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। शिवपुराण में लिखा है कि शिवाजी ने दिगंबर मुद्रा धारण कर देव-दास बन के आश्रम का निरीक्षण किया था, उनके हाथ में मयूर पंख की पिच्छिका थी। कूर्म-पुराण,^१ पद्म पुराण^२ में भी दिगंबरत्व की समर्थक सामग्री मिलती है। पद्म पुराण भूमि स्रष्ट में लिखा है कि राजा वेण की समा में एक दिगंबर जैन मुनि पिच्छी कर्मंडल सहित तथा घबल मस्तक-युक्त आये थे।^३ उसमें जैन धर्म को अरहत भगवान को मानने वाला, निर्ग्रन्थ गुरु की उपासना करने वाला तथा दयामय धर्म का पालने वाला बताया है।^४

योगवासिष्ठ में राम ने कहा है कि मैं वास्तव में राम नहीं हूँ तथा विषयो में मेरी रालसा भी नहीं है, मैं तो जिन भगवान के समान अपनी आत्मा में शान्ति प्राप्त करने की मनोकामना करता हूँ।^५

हिन्दू जनता के अत्यन्त मान्य ग्रन्थ भागवत में लिखा भागवत का कथन है कि "शुकदेव मुनि दिगंबर तथा अत्यन्त पूज्य थे। जब वे राजा परीक्षित के दरबार में आये तब समा में विद्यमान बड़े-बड़े साधु लोग भी खड़े हो गये थे। वे नक्षत्रों से युक्त चद्रमंडल के समान शोभायमान थे।" इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू पुराण काल में

१ मयूरचंद्रिका पुंजपिच्छिका धारयन् करे-शिवपुराण १०-८०-८२

२ मत्त-मातंग गमनो दिगवागा जगदीश्वरः-कूर्मपुराण उपरिभाग ३७-७

३ दिगंबर.. ब्रह्मशास्त्र पारंगगृह समायातमयो ददर्श

पद्मपुराण पातालखण्ड ७२-३३

४ नग्नरूपो महाकायः सितमुंडो महाप्रमः।

भार्जनी सिलिपत्राणा कक्षाया स हि धारयन् ॥

यत्र वेगो महाराजस्तत्रो पायात् त्वरान्वितः।

सभाया तस्य वेणस्य प्रविवेशः ॥

५ अर्हन्तो देवतायत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरु।

दया चैव परोधर्म स्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं जिनधर्मस्य लक्षणम् ॥

६ ताहं रामो न मे बाछा भावेपु न च मे मनः।

शान्ति मास्थानु मिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

दिगंबर मुनि आम सड़क की तो बात ही क्या राजदरबार में भी प्रविष्ट होने थे तथा श्रेष्ठ साधुओं के द्वारा भी पूजित थे । उस ग्रन्थ में एक और महत्व की बात लिखी है । जब राजा परीक्षित को सर्प ने काट दिया तब दिगंबर मुनि शुकदेव जी ने कहा, “अब तुम्हारी आयु सात दिन की शेष है इसलिये तुम निर्भय होकर परिग्रह त्याग अर्थात् दिगंबरत्व रूपी शस्त्र द्वारा शरीर में आकाक्षा का त्याग करो तथा ग्रह का परित्याग करो ।”

व्यास-शुकदेव
प्रसंग

भागवत में यह भी लिखा है कि “एक सरोवर में नान अप्सरायें स्नान कर रही थी । जब वहा से वस्त्रधारी व्यास निकले, तब उन देवागनाओं ने लज्जा युक्त हो वस्त्र धारण किये, किन्तु जब व्यास मुनि के पुत्र नग्न रूपधारी शुकदेव मुनि वहा से निकले तब अप्सराओं में कोई भी चंचलता नहीं आई, न उनके मन में लज्जा का उदय हुआ, न उनने वस्त्र धारण ही किया । इस सबध में व्यास मुनि के प्रश्न पर उन देवियों ने बताया कि “शुकदेव मुनि दिगंबर थे । उनकी दृष्टि विकार रहित थी, उसमें स्त्री पुरुष सबधी भेद-भाव नहीं था, इसलिए उनके आगमन पर हमारे मन में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ । ऐसी स्थिति आपकी नहीं थी । आपकी दृष्टि में स्त्री पुरुष सबधी भेद था इस कारण हमारे मन में लज्जा का भाव उत्पन्न हुआ और हमने वस्त्र धारण किये ।”

इस विवेचन से यह मनोवैज्ञानिक बात स्पष्ट होती है कि विकार रहित दिगंबर मुनि का दर्शन मातृ जाति के मन में विकार भाव को उत्पन्न नहीं करता । आचार्य प्रभाचद ने लिखा है कि “मुनियों के शरीर

१ अतकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वस ।

छिद्यादसग शस्त्रेण स्पृहा वेहेनु ये च क्षम ॥

स्क. १२ अ १, १५, पृ०, ८२

२ दृष्ट्वानुयातमृषि मात्स्य मन्थनम् ।

देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ॥

तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनी जगदुस्तवास्ति ।

स्त्रीषु भिदा, न तु सुतस्य विविक्त दृष्टे ॥५॥

३ बोभत्स मलिन साधु दृष्ट्वाशवशरीरवत्

अगना नैव रज्यते विरज्यते तु तत्त्वत ॥२, ७, पृ ३३२

को देखकर स्त्रियो के मन में राग के बदले वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि उनका शरीर मलिन, सस्काररहित तथा शव के समान दिखाई पड़ता है ।”

ऋषभावतार स्वयं भागवत के ऋषभावतार स्कंध में भगवान् ऋषभदेव को आवास रूपी वस्त्रों का धारक (‘गयन-परिवान’) कहा है । उनमें महामुनियो को श्रेष्ठ धर्म-परमहंस धर्म अर्थात् दिगम्बरत्व का उपदेश दिया था । उनके १०० पुत्र थे जिनमें ज्येष्ठ भरत थे उनमें ऊपर भारत-वर्ष के पालन का भार रखकर ऋषभदेव ने ब्रह्मावर्त से प्रस्थान किया ।

महत्त्वपूर्ण बात भागवत (पंचम स्कंध अध्याय ३ पाठ २०) में लिखा है “किं” “ऋषभ भगवान् का अवतार ‘वातरशनाना श्रमणा ना ऋषीणा धर्मात् दर्शयितुं काम मेरुदेव्या तनुवाचतार’-पवन रूप करधनी को धारण करने वाले दिगम्बर मुनियों के धर्म को दिखाने के हेतु मेरुदेवी के शरीर में हुआ ।” जैन शास्त्रों में मेरुदेवी का नाम मरुदेवी आया है । यहाँ ‘वातरशना’ शब्द श्रमण का विशेषण है । ऋग्वेद में (मंडल

१ महान्भाव परममुह्य भगवानूपभापदेश उपशमशीलाना मुपस्तकर्मणा महामुनीना भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षण पारमहंस्यधर्म मुपशिक्ष्यमाणः स्वतनयशत ज्येष्ठ परमभागवत भगवज्जन परायण भरत धरणि पालनाया भिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित शरीरमान परिग्रह उन्मत्ताइव गगन परिधानः प्रकीर्णवेश आत्मन्यारोपिताह्वनीयो ब्रह्मावर्तति प्रवव्राज ॥ भागवत् स्क०

५, अ ५ पाद २८

इस अवतरण में भगवान् ऋषभदेव को दिगम्बर परम मित्र, महामुनियों को परमहंस वृत्ति की शिक्षा देने वाले श्रेष्ठ आचार्य के रूप में बताया है, इससे वे सभी परमहंस महामुनियों के परम पूज्य तथा वदनीय प्रमाणित होते हैं; उनका धर्म भक्ति ज्ञान वैराग्य अर्थात् दर्शन चारित्र्य युक्त रत्नत्रय पूर्ण कहा है । ऐसे महान् पुरुषोत्तम के प्रिय पुत्र परम प्रतापी परम भागवत सम्राट् भरत के कारण ही इस देश का नाम भारत-वर्ष मानना तर्कसंगत है ।

२ “वह्निषि तस्मिन् विष्णुदत्त भगवान् परमपिभिः प्रसादितो नाम प्रिय चिकीर्षया तदपरोधायने मेरुदेव्या धर्मादर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणा मुधर्ममविना शुक्लया तनुवाचतार”

१०, २; १३६, २) में 'मुनयोवातरक्षाना.' आया है। अतः श्री वेवर महाशय ने जो वातरक्षना को दिगवर मुनियो का वाचक बताया है, वह निर्दोष प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि जैनियो के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने 'वातरक्षानाना धमणना ऋषीणा'—दिगवर धमण ऋषियो को परमहंस मुनियो का निग्रन्थ पथ बताया है, इस कथन का समर्थन पुरातत्त्व विभाग के द्वारा प्राप्त मूर्तिया तथा शिलालेखों से होता है। ऐसी स्थिति में गौतम-केशी सम्वाद की ओट में गृहावीर भगवान को दिगवर बताना एव पूर्ववर्ती पारसनाथ भगवान को वस्त्र-समुवत कहकर प्राचीन जैनधर्म को सर्वश्रेष्ठ-पथ का प्रस्थापक कहना तर्क, युक्ति एव सत्य के प्रतिकूल है। जैनेतर बाड गमय में जैन तीर्थंकरों एव धमणों का दिगवर रूप में ही वर्णन आया है, अतः सर्वश्रेष्ठ विचारधारा का प्रादुर्भाव चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में होने वाले द्वादश वर्षीय दुष्काल के पश्चात् मानना युक्ति, तर्क, मनोविज्ञान तथा इतिहास से निर्बाध है। भागवत की एव बात और उन्नेजनीय है जो इस बात का बताती है कि पुरातन हिन्दू धर्मावलम्बी भगवान ऋषभदेव के चरणा की भक्ति द्वारा अपने जन्म की कृतार्थ मानते थे, उसे सोचते हुए जैन धर्म के प्रति विद्वेष रखने वाले पौराणिक पंडितों तथा उनके शिष्यों का जैन धर्म और तीर्थंकरों के प्रति स्वधर्म सदृश सम्मान और भक्ति रखना चाहिए। अन्यथा उनकी स्वशास्त्र-भक्ति किस प्रकार परिशुद्ध मानी जायगी? भागवत में लिखा है "भगवान ऋषभदेव के पुरीष-भल की गंध से सुगन्धित पवन के द्वारा देश में चारों ओर दश-योजन पर्यन्त सुगन्ध फैल गयी थी।" यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यह भागवत का कथन जैन ग्रंथों में नहीं पाया जाता है। आशा है कि असाम्प्रदायिक तत्त्वज्ञ हिन्दू भाइयों के समान साम्प्रदायिक कट्टर पंडित वर्ग उपरोक्त शास्त्राधार के अनुसार भगवान ऋषभदेव तथा उनके द्वारा उपदिष्ट पथ में प्रवृत्ति करने वाले जैन संप्रदाय के प्रति सद्भावना पूर्ण व्यवहार करेंगे। जो इस कर्तव्य को निर्वाह नहीं करते वे स्वयं अपने शास्त्र की सीमा का उल्लंघन करने के कारण भक्ति गंगा के बितने पानी में है, यह

१ तस्य ह मः पुरीष-सुरभि सौगन्ध्यं वायुस्तम् ।

देश दश-योजन समन्तात् सुरभिं नकार ॥ स्कंध ५ अ० ५

ऋषभभावतार वर्णन

सहृदय सुधी समाज सोच सनता है ।

शकराचार्य ने "विवेक चूडामणि" में लिखा है "कि इस योगी के पास दिशारूपी वस्त्र होते हैं जिन्हें धोने तथा सुखाने की आवश्यकता हिन्दू ग्रन्थकारों के नहीं पड़ती है उस श्रेष्ठ अवस्था में यह जीव पूर्ण निरांकुल हो, ब्रह्मदर्शन जनित आनन्द प्राप्त करने में समर्थ होता है । आत्म निमग्नता में शरीर की सुधि कैसे रहेगी ?" विख्यात हिन्दू सन्यासी रामकृष्ण परमहंस के विषय में श्री 'रामकृष्ण वचामृत' नामक वगला ग्रन्थ में लिखा है "जागने पर भक्तों ने देखा कि प्रभात हो चुका है, श्री रामकृष्ण बालन के समान दिगम्बर हैं ।" उक्त स्वामी जी ने अश्वती कुमार दत्त से कहा था "मे सनी भौतिक वस्तुओं को भूल जाता हूँ उस समय वस्त्र भी छूट जाता है ।" (रामकृष्ण के सप्तमरण देखिये)

भतृहरि ने वैराग्यशतक में लिखा है "जिनके हाथ ही पवित्र पात्र हैं, भिक्षा के द्वारा उपलब्ध अन्न ही भोजन है, दिशा ही वस्त्र है, पृथ्वी ही शय्या है, परिग्रह रहित होना जिनकी परिणति है, जो स्वार्थ सतीषी हैं तथा जो दैन्य समुदाय से दूर हैं, ऐसी धन्य आत्माएँ कर्मों का नाश करती हैं" ।^१ राजर्षि भतृहरि ने कहा है " भगवन् ! वह दिन जब आवेगा जब मैं अकेला लालसा रहित शांत करपात्र वाला दिगम्बर बनकर कर्मनाश करने में समर्थ होऊँगा ।"^२

दि० मुनिदर्शन
मगल दापी है
इन दिगम्बर जैन मुनि का दर्शन बड़ा बल्याणकारी माना गया है । महाभारत में लिखा है 'कि जब अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो रहा था उस समय जैन तिग्रन्थ दिगम्बर मुनि का दर्शन होने के कारण कृष्ण महाराज ने कहा था "अरे अर्जुन, अब क्या देखता है, जल्दी रथ पर सवार हो, हाथ में गान्डीव"

१ पाणि पात्र पवित्र भ्रमण परिगत भिक्ष मक्ष्यमन्नम् ।

विस्तीर्ण वस्त्रमाशा सुदशक ममल तल्पमस्वलपमुर्वी ॥

येषा नि संगतागीवरण परिणति स्वात्म-सतीषिणस्ते ।

धन्या सन्यस्त-दैत्य-व्यतिवर-निवरा कर्म निमूलमति ॥४२॥

२ एवाकीनिस्पृह शांत. पाणि-पात्रो दिगम्बरः ।

कदा शमो भविष्यामी कर्म-निमूलनक्षमः ॥५८॥

को ले, देखता नहीं जिसके समक्ष निर्गन्ध मुनिराज है उसके हाथ में पृथ्वी की विजय है, यह मैं मानता हूँ।”

भारतीय इतिहास में दि० मुनियो का वर्णन इस संबंध में इतिहास भी महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। मेगस्थनीज ने लिखा है “जब सम्राट सिकंदर भारत में आया था, तब उसने तक्षशिला-पंजाब में कुछ दिगंबर जैन मुनियो के दर्शन किये थे।” चीनी यात्री

ह्यूनसांग ने सन ६४० में मालकूट देश के विषय में लिखा था कि “वहाँ दिगंबर जैन श्रमणों का बहुत बड़ा समुदाय विद्यमान था” उसने यह भी लिखा है कि “ये निर्गन्ध नग्न रहते थे और अपने हाथों से केशों को उखाड़ते थे।” अरबवासी सुलेमान जो ८५१ सदी में भारत में आया था, लिखता है कि “यहाँ कुछ साधु पूर्णतया नग्न रहते थे। इसका कारण वे यह बताते थे कि इस दुनिया में उनका नग्न ही जन्म हुआ है। वे इस जगत की कोई वस्तु नहीं चाहते इसके सिवाय हममें कोई शारीरिक दुर्भाव भी नहीं है। अतः हमें अपने नग्नपने की तनिक भी लज्जा नहीं है, जैसे आपको अपना मुख, अपना हाथ खुला रखने में लज्जा नहीं होती। आपके मन में शरीर संबंधी पाप वासनाओं की अनुभूति पायी जाती है, इसलिए आपका कर्तव्य है कि लज्जा करें और नग्नता को ढाँके।”

१ आरोहस्व रथे पार्थ । गान्धीव च करे कुरु।

निजिता मेदिनी मन्ये निर्गन्धो यस्य सम्मुखे ॥

२ “When Alexander the Great came to India he saw naked saints in Taxila and took one of them called Kalyan with him. These naked saints were called Gymnosophists by the Greeks.” (See. Yonge’s Philo Judaeus, Vol.III page 526.)

३ “When Hieun Tsang visited Southern India in 648 A. D. in Malkuta...the nude Jains were present in multitudes.” Smith : History of India, second edition page 409.

४ Sulaiman, a merchant of Arabia visited India in 851 A. D. describes “In India there are persons who go about naked...as they had come naked into the world and desired nothing that was of this world. Moreover we have no sin of the flesh to be conscious of and therefore we are not

औरगजेब के शासन काल में आगत यात्री डा० बर्नियर ने लिखा है "मैंने प्रायः रजवाडों में इन नग्न साधुओं का समुदाय देखा है । स्त्री तथा लड़कियां उनको बिना किसी राग भाव के देखती थीं । उनके मन में वे ही भाव उत्पन्न होते थे जो मटक पर से जाते हुए किसी साधु को देखने पर होते हैं । स्त्रियां अत्यन्त भक्ति युक्त हो उनको आहार कराती थी ।"

मेक्निण्डल ने लिखा है कि "प्रत्येक धनी व्यक्ति का घर उन दिगम्बर साधुओं के लिए उन्मुक्त था—यहां तक कि वे अन्तःपुर में भी जा सकते थे ।"

शेरशाह के समकालीन १६वीं सदी के विद्वान मुहम्मद जायसी ने पदमावत् में लिखा है —

"कोई ब्रह्मचारज पथलागे कोई सु दिगम्बर अच्छा लागे" (२-६०)

इस प्रकार विश्व में व्याप्त सामग्री का परिशीलन करने से ज्ञात होगा कि प्रायः सभी सुसंस्कृत और विचारवान सम्प्रदायों में विश्व प्रेम के प्रतीक दिगम्बर मुनि की स्थिति के प्रति अत्यन्त पूज्य भाव पाया जाता है । इस विषय में सीमित अवकाश, अधिक विवेचन करने में बाधक होता है । इसलिए विशेष विवेचन के लोभ का हमें सवरण करना पड़ता है । इन सत्तों की चर्चा करने से, अर्चा करने से, लौकिक जनों की जीवन धारा शुभ होती है और वे अपने उज्ज्वल चरित्र द्वारा इस भूतल में स्वर्गीय साम्राज्य का निर्माण करते हैं । ये मुनिराज अलौकिक वृत्ति वाले होते हैं ।

मुनियों का कहते हैं कि एक बादशाह ने किसी महात्मा के दर्शन कीतिरागता से मन्तुष्ट हो कहा "महाराज ! आपको जो चाहिये वह मुझसे माग लीजिये ।" वह साधु कहता है—

ashamed of our nakedness any more than you are to show your hand or face You, who are conscious of the sins of the flesh do well to have shame and to cover your nakedness "

(Yule's Marco Polo).

१ Dr Bernier . Travels in the Mogul Empire Page 317

२ "Every wealthy house is open to them, even the apartments of the women . "

Mc. Crindle : Ancient India Page 72.

“सहसाह अकल तेरी मारी गयी है ।
फकीरो को दौलत की परवा नही है ॥
तमसा फकीरी में लाजिम नही है,
धब्बा सफेदी में लाना नही है ॥”

इस उत्तर ने बादशाह की आखें खोल दी और उसे जात हुआ कि इस विश्व में ऐसी ऐसी विभूतियाँ विद्यमान हैं जिनके हृदय में लोभ तथा अहंकार का लेश भी नहीं है । इन सत्ता के शीतरागकी भक्ति चरणारविन्द की भक्ति करने वाले उन्नत मना मानवका वाले को सराग मन भहान महिमा-शाली महीपालों की गुण गाथा गाना की आराधना पाप सा मानता है । इसलिए वह अपनी भक्ति का प्रिय नहीं लगती केन्द्र परमात्मा के सिवाय दूसरे को नहीं बनाता है । ऐसे ही उज्ज्वल भक्त को, कहते हैं, एक समस्या पूति निमित्त यह पवित्र दी गई “मिलि आस करो सु अक्बर की” प्रतिभाशाली विद्वान ने इस प्रकार मनोरम रचना बनायी जिसे सुनते ही सभी लोगों ने कवि के उज्ज्वल भावों की अधिक प्रशंसा की—

“जिव बहुतक भय धरे जग में छवि भा गई आजु दिगवर की ।

चितामनि प्रगट्यो हिय में तब कौन जहूरत डम्बर की ।

जिन तारन तरनहि सेय लियो परवाह करे को जव्वर की ।

जिह आस नही परमेगुर की ‘मिल आस करो सु अक्बर की’ ॥”

सम्पूर्ण सृष्टि का सूक्ष्म निरीक्षण कर तात्त्विक अवलोक कहते हैं कि “इस जगत में भिन्न भिन्न उपासकों के विविध विश्वरूपायी आराध्य देव हैं जिनकी वेशभूषा पृथक् पृथक् है, किन्तु किसी की वेशभूषा विश्व में व्याप्ते नहीं है । एक जिनेन्द्र की दिगवर मुद्रा ही सम्पूर्ण जगत के कण कण में, प्राणी प्राणी में विद्यमान पायी जाती है ।”

एक मनुष्य ही समस्त भूतल में दिगम्बरत्व के विरुद्ध बाह्य परिधान को धारण करता फिरता है । दिगम्बर मुनि की प्राकृतिक मुद्रा जगत को पुकार पुकार कर प्रबुद्ध करती हुई कहती हैं, “अरे प्रकृति को उज्ज्वल प्रकाश में अपनी विकृति को क्यों नहीं धोता ? अविचनता का पाठ सीख । देखता नहीं है सारी प्रकृति निरावरण है । तू श्रेष्ठ होते ए अपने विषारा और दुर्बलताओं को दूर न कर सुन्दर मोहक

आवरण डाल अपनी आत्मा तथा विश्व को ठगता फिरता है। जरा आख पसारकर देख, हरिण, मयूर, हंस आदि प्राणी दिगम्बरत्व की प्राकृतिक मुद्रा से समलंकृत हैं।”

धन वैभव में आसक्त मानव को ये आत्मदर्शी महापुरुष कहते हैं—इन ककरो पत्थरो में और उनकी जाति वाले जवाहरातों में अथवा मुनियों के जीवन सोना चांदी आदि में तेरी आत्मा की शांति देने की दृष्टि भी सामर्थ्य नहीं है। अरे पागल यह शरीर! भी द्वारा प्राप्त उपदेश तुझसे पूर्णतया भिन्न है, तब तू अन्य पदार्थों के प्रति आसक्ति क्यों करता है? वे अज्ञ तथा ज्ञान शून्य हैं। सोच तू अनन्त ज्ञान अनन्तशक्ति तथा अविनाशी शांति का अक्षय भंडार है, उस ओर अपनी दृष्टि क्यों नहीं लगाता। तुझ पर पुद्गल ने अपना शासन जमा लिया है। तेरा कर्तव्य है कि उस शासन को दूर कर आत्मा का साम्राज्य स्थापित कर।

ऐसे सत्पुरुष प्रेम से आत्मा को समझाते हुए कहते हैं—

चल चेतन तूह जाइये जहाँ न राग विरोध ।

निज स्वभाव परकासिये, कीजे आत्मबोध ॥

तेरे बाध सुजान है निज गुण फूल विशाल ।

ताहि विलोकहु परम तुम, छाड़ि आन जंजाल ॥

अही जगत के राय मानहु एती बीनती ।

छाड़हु पर परजाय काहे भूले भरम में ॥

तुम तो पूनो चंद पूरन ज्योति सदा भरे ।

पडे पराये फंद, चेतहु चेतनराय जू ॥

या माया से राचिके तुम जिन भूलहु हस ।

सगति या की त्याग के चीन्हो अपनी अश ॥

वे कहते हैं कि जिनेन्द्र की आराधना से यह आत्मा मृत्यु का विजेता बन जाता है। इसलिए उन जिनेन्द्र भगवान का शरण लेना चाहिए। कवि कहता है—

तन ऊपर जम जोर है 'जित' सो जमहु डराय ।

तिनके पदको सेइये, जम को कहा बसाय ॥

ये आत्मदर्शी महापुरुष आत्मा से कहते हैं कि तू कर्मों का खेल छोड़, इनने तुझे कभी छोटा कभी बड़ा बनाया। तेरा कर्तव्य है कि तू

चिदानन्द की आराधना में लग जा । कवि कहते हैं—

झाठन की करतूत विचारहु कौन कौन ये करते हाल ।

कबहु क सिर पर छत्र फिरावें बबहु क रूप बरे बेहाल ।

बबहु देव लोक सुख भुगतें, बबहु रच नाज को बाल ।

ये करतूत करें कर्मादिक चेतन रूप तू आप सम्हाल ।

जित जीव का मन भोगो की आसक्ति को नहीं छोड़ पाता है, उसे मार्मिक वाणी में कवि समझाता है—

वे दिन कयो न विचारत चेतन मात की कूख में आय बसे हो ।

उरय पाव टगे निसि बासर रंच उरासन की तरसे हो ।

आयुवसात बचे कहुं जीवित लागन की तब दृष्टि परे है ।

आज भये तुम जीवन के बस भूल गए किततें निक्से हो ।

कवि बड़े सरल शब्दों में समझाता है—

काहे को भटकत फिरे सिद्ध होन के बाज ।

रागद्वेष को त्याग दे 'भैया' सुगम इलाज ।

रागद्वेष के नाश तैं परमात्म परकाश ।

रागद्वेष के भासतैं परमानन्द पदनाश ।

कवि बनारसीदास जी इस मोही जीव को जगाते हुए कहते हैं—

चेतन जी । तुम जागि बिलोकहु लागि रहे बहा माया के तारि ।

माया तुम्हारी न जाति न पाति न अश की बेलि न बश को जाई ।

बाय कहा से कहा तुम जाओगे, माया रहेगी जहा की तहा ही ।

दासी किए बिन लातन मारत ऐसी अनीति न कीजे गुसाई ।

आत्म जागरण होने पर इस जीव को वास्तविक स्थिति का अवबोध होता है । इससे वह माया के वैभव को अकल्याणकारी जानकर जगत के जाल से छूटने का प्रयत्न करता है । उस आत्मज्ञानी की उज्ज्वल दृष्टि को कवि इस प्रकार बतलाया है कि धन वैभव को तो वह कीचड़ मानता है, नरेश के पद को निन्दनीय समझता है, भवन में निवास उसे झाले की तरह चुभता है । कवि के मार्मिक शब्द इस प्रकार हैं—

कीच सो कनक जाके, नीच सो नरेश पद,

मीच सी मितार्ई गरवाई जाके गारसी ।

जहर सी जोग जाने कहर सी वरामति,

हहर सी होस पुद्गल छवि छारसी ।

जाल सो जगविलास भाल सो भुवन वास,
काल सो कुटुम्ब काज लोक लाज लारसी,
सीठ सो सुजस जाने, वीठ सो वखत जाने,
ऐसी जाकी रीति ताहि बदति 'बनारसी' ॥

वीतरागी मुनियों
का प्रभाव

सिंह सुत को अपना शिशु जान प्यार करती हैं,
प्रेम करती हैं, बिल्ली हंस के शिशु पर अनुराग करती है तथा मयूरी सर्पणी
के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करती है । किन्तु दुर्जन-मनुष्यों
की दुष्टता का अन्त नहीं होता और वे पशुओं में भी न
पाई जाने वाली हीन चेष्टाओं को किया करते हैं ।
सा है

ऐसी पुष्पचरित्र आत्माओं के सपर्क में आनेवाले विश्व के
पदार्थों में बिलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । जन्म
विरोधी जीवों तक में स्नेह की धारा बहती है । हरिणी

भगवान् पार्श्वनाथ जैसे परम विशुद्ध चरित्रधारी महान्
आत्मा पर दुष्टराज कमठ ने अकारण अवर्णनीय उपसर्ग किया था किन्तु वे
महापुरुष अपनी योग साधना से विचलित नहीं हुए । एक कवि ने लिखा है ।

कियो उपसर्ग भयानक घोर, चली बहुतोक्षण पवन झकोर ।

रहो दशहू दिशि में तमछाय, लगी बहु अग्नि लखी नहि जाय
सुरुडन के बिन मुण्ड दिखाय, पडे जल मूसलधार अयाय ।

तबै पदमावति कत धनिद, चले जुग आय जहाँ जिन चंद ॥

ताकिक मानव के मन में यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होगा कि महान्
आत्माओं के प्रभाव से दुष्टों के उपद्रव क्यों नहीं शांत होते ? यह धारणा
भ्रमपूर्ण है । जिस जीव के असाता कर्म का उदय होगा उसे उस कर्म
के विपाक काल में विपत्ति का प्रहार अवश्य भोगना पड़ेगा । जो सत्पुरुष
कर्मों के फल को शांत भाव से सहन करते हैं वे नवीन कर्म बंध के जाल में
नहीं फसते । एक दूसरी बात यह भी है कि दुष्ट जीवों की प्रकृति ही
सत्पुरुषों को संतप्त किये बिना सन्तुष्ट नहीं होती । वे अपना विनाश देखते
हुए भी दूसरे का अहित करने में हर्षित होते हैं ।

बहते हैं, एक दुष्टराज भीषण दन में पहुँचे । किसी भद्र पुरुष ने
उगसे पूछा कि "आप इस भूमि में क्यों आए ?" उसने उत्तर दिया कि मैं
यहाँ इसलिए आया हूँ कि जगली जानवर मेरे शरीर का भक्षण कर लें,
भद्र पुरुष ने पुनः पूछा "महाशय ऐसा करने का क्या कारण है ?" उत्तर में

श्रीमान-खलराज बोले—“इस वन के हिंसक पशुओं ने अब तक मानव रुधिर का रसपान नहीं किया है, अब वे मेरा मांस खाकर आगामी अन्य मनुष्यों के संहार में पूर्ण तत्पर रहेंगे। यहाँ आने का मेरा यही उद्देश्य है।” ऐसे दुर्जनों का मन बदलना विधाता के वश की भी बात नहीं है। स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, कि दुष्टों ने घमण्डियों की सतपुरुषों के विनाश के लिए क्या क्या अधम कृत्य नहीं किए। इतिहासकार स्मिथ महाशय का कथन है, कि मदुरा के विख्यात मीनाक्षी मंदिर में चित्रावली है, जिसमें घमण्डि हिंदुओं द्वारा आठ हजार जैनियों के संहार का भाव चित्रित हुआ है।^१ निश्चय हिंदू विद्वान प्रो० रामास्वामी आर्यगर के लेख से ज्ञात होता है, कि जैनों की निर्मम हत्या का दिन आज भी मदुरा में होने वाले द्वादश उत्सवों में से पाँच उत्सवों में बड़े आनन्द पूर्वक मनाया जाता है।^२ ‘पेरिय पुराण’ में वर्णित शैव विद्वान तिरुत्तल संवर्धर के चरित्र से ज्ञात होता है कि जैवधर्मि पांड्य नरेश ने जैन धर्म पर अवर्ण्य अत्याचार किए थे, उसकी समानता भारत के धार्मिक इतिहास में नदी पाई जाती है।^३ लिगायतों ने भी वसवराज के नेतृत्व में बारहवीं सदी में जैनियों का ध्वंस किया था। चोल नरेशों ने भी जैन धर्म, जैन मंदिर, मठ आदि के नाशक क्रूर कार्य किए थे।^४

१ “Tradition avers that 8000 (eight thousand) of them (Jains) were impaled. Memory of the fact has been preserved in various ways and to this day the Hindoos of Madura where the tragedy took place celebrated—the anniversary of the impalement of the Jains as a festival (Utsav).”

V. Smith History of India.

२ As though this was not sufficient to humiliate that unfortunate race, the whole tragedy is enacted at five of the twelve annual festivals at Madura temple.

English Jain Gazette July 1920.

३ The Jains were also persecuted with such rigours and cruelty that is almost unparalleled in the history of the religious movements in the South India.

Prof. M. S. Aycngar M. A. Jain Gaz. July 1920

४ The Chol sovereigns had ever remained bitter enemies

गुजरात के नरेश अजयदेव ने गिरि भक्ति के अतिरेकवादी जैनियों का निर्दयता पूर्वक संहार किया ।

धर्मान्धता यश अहिंसा की गाथा गाने 'बुल्लेहजारो जैन ग्रंथ तुगभद्रा नदी में डुबा दिए गये ।' ऐसे रोमाचकारी वर्णन को पढ़ते समय गजनवी अलाउद्दीन आदि नरेशों की स्मृति सजग हो जाती है । अलाउद्दीन और औरंगजेब आदि यवन नरेशों ने तो जैन दिगम्बर मुनियों के प्रति आदर भाव व्यक्त किया था । इसका क्या कारण है कि भारतीय सभ्यता के आराधकों ने तो अहिंसात्मक विचारधारा का नाश किया और यवनों ने उसका उनके समान संहार नहीं किया ? इसका कारण मनोवृत्ति की विशेषता ही बही जा सकती है । बड़े बड़े विद्वान संप्रदाय मोह वश अकार्य में प्रवृत्ति कर डालते हैं । कषाय जीव के विवेक को दूरकर निर्गल प्रवृत्ति बगता है ।

स्वामी विवेकानन्द ने प्रकाण्ड वेदान्ती विद्वान दावराचार्य के विषय में कहा था—'सकरे की बुद्धि धुरधार ने समान तीव्र थी । वे विचारक थे और पंडित भी थे । परन्तु उनमें उदार भावों की गभीरता अधिक नहीं

of the faith, and who is there that does not know of Raja Chol's terrible destructions of the Jain temples, monasteries and the ravages of the country as for as Puigeri Ajaya Deo, a Shain King of Gujrat begin his reign (1174 79) by merciless persecution of the Jains torturing their leaders to death
Vide Jain Gaz April 1921, & Jan 120

Religious persecution, bigotry, conservatism and the like have done much to keep from public all that is valuable in Kannad Jain literature. Thousands of Basties have been destroyed and the libraries set on fire. Several thousands of Palmra manuscripts have been thrown into the Cauveri and the Tungabhadra, and the havoc of worms have been equally destructive of the vast treasures of learning

Jain Gaz August 1920 P 178

Thus we see that persistent persecutions were directed against the Jains and to the credit of Jainism be it spoken, that they never attempted to use the sword against other religions

थी । और ऐसा अनुभव होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार का था उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था । उनके हृदय के भाव का विचार करो । उन्होंने कितने बौद्ध-भ्रमणों को आग में झोक कर मार डाला ? शंकराचार्य के ये कार्य सकोण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ?" (विवेकानन्द के सग में पृ. १४६)

जब बड़े बड़े सन्तरूप से पूजित व्यक्तियों को यह क्या है, तब अन्य मनाओं की बात क्या जो धर्म का नाम-निशान भी नहीं जानते हैं ।

इस प्रकरण में नाटक समयसार की यह सूचित बड़ी उद्बोधनी प्रतीत होती है—

बुजर को देखि जैसे रोप करि भूसें स्वान,
 रोप करै निर्धन विलोकि धनवत को ।
 रैन के जगैया को विलोकि खोर रोप करै, -
 मित्या मति रोप करै सुनत सिद्धात को ।
 हस को विलोकि जैसे वाग मन रोप करै,
 अभिभानी रोप करै देखत महत का ।
 मुकवि को देख ज्यो मुकवि मन रोप करै,
 त्या ही दुरजन रोप करै देखि सत को ।

१ धार्मिक मदान्धता तथा अत्याचारीपने को प्रेरणा प्रदान करनेवाली सामग्री अनेक हिन्दू पुराणा आदि में प्रक्षिप्त पायी जाती है । जैसे कूर्म-पुराण के पूर्वभाग में लिखा है—'वद के सिवाय दूसरा धर्मशास्त्र नहीं कहा जा सकता है । जो अन्य शास्त्रों के अभ्यास में 'रहता है उसके साथ द्विजों को नहीं बोलना चाहिए । इस जगत में जो शास्त्र श्रुति, स्मृति के विरुद्ध है उनमें निष्ठा रखनेवालों की वृत्ति तामसी-अधकार पूर्ण है" (अध्याय १२, २५६)

"न च वेदादृते किञ्चित् शास्त्र धर्माभिधायकम् ।
 योज्यत्र रमते सो सौ न सभाष्यो द्विजातिभिः ।
 यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विविधानि तु ।
 श्रुति-स्मृति-विरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी ॥

कवि का महत्वप्रद यह कथन भी हृदयग्राही है—

“सरल को सठ कहै, वक्ता को धौठ कहै, विनो करै तासो कहै धन को अधीन है ।
छमी को निबल कहै, दमी, को अदत्ती कहै, मधुर वचन बोले तासो” कहै दीन है ॥
धरमी को दंभी निसपूही को गुमानी कहे, तिमना घटायै तासों कहै भागहीन है ।
जहा साधु गुन देनै तिन्हकों लगावै दोष, ऐसी कुछ दुरजन को हिरदो मलीन है ॥”

मल वन्दना दुर्जनों की आसाधारण प्रवृत्ति को देख सत्कवियों ने
दुर्जनों को भी प्रणाम करना कर्तव्य समझा है । आचार्य
वीरनंदि ने लिखा है—

“जिस प्रकार गुरुत्व बुद्धि से मैं सत्पुरुषों को प्रणाम करता हूँ, उसी
प्रकार को बुद्धि से मैं दुर्जनों के प्रति अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ ।
मत्पुरुष गुण कीर्तन की दृष्टि से गुणों को प्रकाशित करते हैं और दुर्जन
पुण्य दुर्भाव से दोषों को प्रगट करते हैं ।”

कवि तुलसीदास ने दुर्जनों की इस प्रकार से वन्दना की है—

“बहुरि यदि खल गन सत भाये । जे बिनु काज दाहिने बाये ॥

परहित हानि लाभ जिन केरे । उजरे हरष विषाद बसेरे ॥ वालकाढ ४

कोई कोई व्यक्ति यह कहते हैं, “दिगम्बर मुद्रा में साधुओं
का नगरादि में आवागमन भद्रता और शिष्टता के
प्रतिकूल है । वे यदि एकांत स्थल में अथवा जंगल
में दिगम्बर रहें तो हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु जब वे समाज में आते
हैं, तो उनकी समाज के नियमों का पालन करना चाहिये । दूसरी बात
यह है कि वे नगरों में आते भी किस लिए हैं ? यदि वे कारण वश नगरादि
में आना चाहते हैं तो उनको लज्जा निवारणार्थ वस्त्र धारण करना
चाहिए ? लोक रुचि के विरुद्ध उनको प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए । इस
कारण ही लोग उनकी पद्धति के विरुद्ध हो जाते हैं ।”

सचमुच में यह विधि की विडम्बना ही है, जो विमल चरित्र
विश्वकी विडम्बना निस्पृह, थोठ अहिंसावृत्ति के आराधक निर्भय धर्मणों
के गमनागमन के विषय में नियन्त्रण लगाने के बारे में अधिकारी वर्ग
अपना कदम उठाने में संकोच नहीं करते । भद्रता या शिष्टता का यह
अर्थ मानना ठीक नहीं है कि विशेष प्रकार के वस्त्र पहिन लिए और ऐसी
मोहक बातें करने लगे जिनका सत्य और प्रमाणिकता से जरा भी सम्बन्ध न
हो । संसार भर का दम या पातण्ड करने वाला व्यक्ति अपनी भद्रोचित

कही जाने वाली पोसाक के कारण सम्य और भद्रता का अहकार लिए फिरता है और फिर प्राणीमात्र पर अपनी कृपा की अभय और शीतल छाया पहुँचाने वाले, अपने उज्ज्वल जीवन द्वारा जगत् को सदवृत्तिमा और उच्च कार्यों की शिक्षा देने वाले शीत, उष्ण की भी परवाह न कर प्रकृति-प्रदत्त दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले विश्व पूज्य मुनीन्द्रो का नगरादि में जाना भद्रता और शिष्टता के प्रतिकूल कहा जाता है । इससे अधिक तकशून्य और अतिरेक पूर्ण बात और क्या हो सकती है ?

शिष्टता का सच्चा अर्थ है सदाचार से अप्राणित जीवन व्यतीत करना । जो हमारे निरपराध जीवों की हत्या करते हुए नहीं सकुचाते, मुरापात करने में सदा तत्पर रहते हैं, परनारी के प्रति मातृत्व की भावना शून्य है तथा त्रिविध पापाचारों में मग्न है वे सम्यक्ता शिष्टता और भद्रता का सेहरा सिर पर बांधे सर्वत्र आ जा सकें और जो अत्यन्त सहृदयी हैं, पवित्रता की जीवन मूर्ति हैं ?

मनसा वाचा कर्मणा सभी जीवों का कल्याण और रक्षण करते हैं, जो महान जिज्ञेन्द्रिय हैं, वे शिष्टता के नाम पर आम सड़क पर से नहीं आ जा सकते । इस अंधेर नगरी की अनीति की भी कोई सीमा है । यह तो साधुओं का शूलिकारोहण और असाधुओं की चरण चर्चा सद्गुण शासन की याद दिलाता है । तब प्रेमी क्या यह नहीं सोच सकता कि इन मानवशरीर धारी मुनीन्द्रो का परिग्रह के पाप का परित्याग कर आत्म-साधनार्थ प्रवृत्त होने से चलने फिरने का अधिकार क्यों और कैसे नष्ट हो गया । जिन अद्भुत सम्यक्ता के पूजका का मानसिक सन्तुलन इन श्रमणों के आम सड़क से जाते हुये बिगड़ जाता है वे कृपा कर उनके बिहार के समय अपने मनोक्ष मुख दूसरी ओर कर सकते हैं या नैनों को कुछ क्षणों के लिए बन्द करके अपनी अद्भुत तहजीब (सम्यक्ता) की रक्षा कर सकते हैं । यदि अद्भुत मनोवृत्ति वाला के मिजाज को खुश रखने में शासन सत्ता लग जाय तो उसे पद-पद पर न्याय का गला घोटना पड़ेगा । बहुमत के नाम पर जब कभी भी सत्य का मुह बंद किया जा सकेगा, किन्तु ऐसा अन्याय कब तक चलेगा ? “अंधेर नगरी चौपट्ट राजा” का शासन क्या चिरस्थायी हो सकता है । अत्याचारों का विनाश प्रकृति स्वयं किया करती है । एक कवि ने कहा है “जो व्यर्थ में दूसरों को सतप्त करता है वह स्थाई वृद्धि का नहीं प्राप्त करता है, यह बान बत ते हुए सूर्य मध्या के समथ अस्तंगत

होता है । सूर्य ने अपने सन्ताप से लोगों को सतप्त किया, इसका फल यह हुआ है कि मध्याह्न के पश्चात् उसका पतन प्रारम्भ हुआ और सायंकाल के समय उसकी समाप्ति भी हो जाती है ।”

नैतिकता की मूर्ति यह भयंकर भूल है जो साधुओं के नगरी में आवागमन को नैतिकता के प्रतिकूल समझा जाता है । वे तो स्वयं नैतिकता और सदाचार की जीवित मूर्ति हैं । उनके

रोम रोम में सर्व जीव धारियों के प्रति सद्भावनाएँ भरी हुई हैं । प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणा, प्रेम, वधुत्व का भाव भरा है, भले ही कोई उनके रक्त का पिपासु हो प्राण लेने का उपक्रम करता हो । उनकी मंगल और अभय दृष्टि में छोटे, बड़े, गरीब अमीर, मित्र, शत्रु का भेद नहीं रहता है ।

सम्राट विम्बसार (श्रेणिक) ने जंगल में ध्यान में निमग्न दिगम्बर जैन मुनि यशोधर स्वामी के गले में महा सर्प डाल दिया था, और बहुत से क्रूर शिकारी कुत्तों को छोड़कर भयंकर घास देने का असफल प्रयास किया था, जो उन साधु, महाराज की श्रेष्ठ तपश्चर्या के प्रभाव से दूर हो गया था । दूसरे दिन मुनिभक्ता रानी चेलना को यह समाचार ज्ञात हुआ, तब वह दुःखी हुई और विम्बसार महाराज के साथ वन में पहुँची, जहाँ वे मुनिराज थे । उन्होंने उनके शरीर पर के सर्प को दूरकर उनको प्रणाम किया । उस समय उन मुनिवर ने श्रेणिक महाराज तथा चेलना रानी को समान रूप से आशीर्वादसे कृतार्थ किया । इससे प्रभावित हो श्रेणिक ने उनके पथ को स्वीकार कर जैन धर्म धारण किया ।

ऐसे ये दिगम्बर साधु होते हैं जो सर्व प्राणियों पर समान भाव रखते हैं । महान् दुष्ट व्यवृत्ति पर भी ये प्रेम के अमृत की वर्षा करते हैं । ऐसी महान् विभूतियों को भव्य लोग अपने नगर में पदार्पण करने की पुनः प्रार्थना अनुरोध वितरित करते हैं । बड़े बड़े नरेश उनके आगमन के सूत्र से अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करते हुए उनके लम्बे लम्बे तपः प्रज्ञा को आदेश करते थे, कि सब लोग इन मुनीन्द्रों की धरणरज से अपनी आत्मा को पवित्र बनावें, अपने दुर्भाग्य के दोष को दूर करें ।

१ “न चिरलभने वृद्धिं यीन्यान् तापयन्वृथा ।

वदन्निति दिनाधीशः पाताय मधि गच्छति ॥”

२ But we know from the account of Megasthenes that so late as the 4th Century B.C., the Sarmanas or Jain Sar-

मुनियों की राज्य
मान्यता

धर्म शर्माभ्युदय काव्य में लिखा है, कि रत्नपुर के अधि-
पति महाराज महासेन को जब वनमाली ने प्रचेतस
नामक दिग्म्बर महामुनि के शुभागमन की पवित्र बातों
सुनाई तो राजा ने अपने आसन से उठकर उस दिशा को प्रणाम किया, जिस
दिशा में वे मुनीन्द्र विराजमान थे। पश्चात् संपूर्ण प्रजावर्ग के साथ मुनिराज
के दर्शनाय राजा सपरिवार पहुँचे और मुनिनाथ की स्तुति करते हुए कहने
लगे “भगवन् आपके पाद-पादप की चिन्ता और संताप को दूर करनेवाली
छाया को प्राप्त करने में भव-भ्रमण के श्रम से मुक्त हो गया। संताप
समन्वित सूर्य अथवा कलक युक्त चद्र से क्या प्रयोजन है? क्योंकि उनके
दर्शन से अतःवरण का अधिकार उस प्रकार दूर नहीं होता, जैसा आपने
दर्शन से होता है।” आत्मा को प्रकाशदाता मुनियों तथा सत्पुरुषों का सदा
से इस देश में श्रद्धापूर्वक सम्मान होता आया है।

हजरत मसीह से तीन वर्ष बड़े यूनान के साधु एपोलोनियस की भारत
यात्रा की डायरी से ज्ञात होता है कि उस समय उस राज्य के राजा आचार्य
के दर्शनार्थ आनेवाले थे, तब राजा के लिए सम्मान आदि की विशेष व्यवस्था
का अभाव देख यूनानी साधु ने आचार्य से इसका कारण पूछा तो, आचार्य
ने कहा “हमारे देश में ऐसा रिवाज है कि जब राजा आता है, तो ऋषि
को नमस्कार करता है और ऋषि उसको आशीर्वाद देते हैं।” अज्ञान के
कारण लोग आज नहीं जानते कि इन सत्तों के पास क्या आंतरिक निधियाँ
विद्यमान रहती हैं।

आचार्य मुणभद्र लिखते हैं कि वीतराग श्रमण के पास ‘त्रिभुवन
प्रद्योति रत्नत्रय’ (World-illuminating three gems) त्रिभुवन को
प्रकाशित करने वाले रत्नत्रय विद्यमान रहते हैं। जब कस्टम अधिकारी ने
यूनानी सन्त से पूछा कि तुम्हारे पास जो चुगी लगाने योग्य संपत्ति है
उसे बताओ, उस समय एपोलोनियस ने कहा मेरे पास इतनी निधियाँ हैं—
सहस्रवर्ती, विवेक, न्याय और निग्रह। यह सुनकर वह अधिकारी लज्जित
हुआ, उसने उनको प्रणाम करके क्षमा माँगी और कहा “आप सदृश विद्वान

manas, who lived in the woods were frequently consulted
by the kings through their messengers regarding the
cause of things-

का हमारे देश में आना कल्याणप्रद है ।" एक राज्याधिकारी ने रोपपूर्वक उनसे कहा "हमारे राज्य में प्रवेश करने का साहस तुम्हें कैसे हुआ ?" ऋषि ने उत्तर दिया—"सारी सृष्टि मेरी है । जहाँ मेरा दिल चाहेगा, वहाँ मैं जाऊंगा।"

मुनिदर्शन द्वारा पाप क्षय पद्मपुराण में लिखा है, कि जब रामचन्द्र जी लक्ष्मण और सीता के साथ दंडक वन में गये थे, तब अतिथि को आहार दान की बेला में मासोपवासी मुगुप्ति तथा गुप्त नामक दो दिगंबर अवधिज्ञानी गगनगामी मूनीश्वरों को देख सीता ने अत्यन्त हर्षित हो पतिदेव से कहा—

पश्य पश्य नरश्रेष्ठ तपसा कृश विग्रहं । दैगवरं परित्रातं भदतयुगल शुभम् ॥

उस समय रामचन्द्रजी ने कहा कि "देवी ! जिनके दर्शन से भक्त हृदय वाले मानवों के बहुत समय से अजित पाप क्षणभर में नाश को प्राप्त होते हैं, वे कहा हैं ?" इतने में उन मुनिद्वय का दर्शन हो गया । उस समय वैदेही के द्वारा बनाए गए आहार के द्वारा उन योगियों की पारणा हुई ।

इस प्रकार प्राचीन वागमय से स्पष्ट होता है, कि सन्तों के आगमन का लोग मंगलमय मान उनके आगमन के काल को मनुष्य जन्म को सफल करने वाले पुण्य क्षेत्रों में परिणित किया करते थे, कारण ऐसे महान आत्माओं के द्वारा जीवों को अपनी मलिनताओं को धोकर जीवन को सुसंस्कृत बनाने का सुयोग अनायास प्राप्त हुआ करता था ।

श्रीमती स्टीवेनसन ने लिखा है "वस्त्रों का त्याग कर देने से मनुष्य अनेक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है । कपड़ों के धोने के लिए पानी की भी आवश्यकता नहीं रहती है । जैन निर्ग्रन्थों ने प्रिय, अप्रिय के भेदभाव को भुला दिया है । अपनी नग्नता के आवृत करने के लिए उनको वस्त्रों की क्या आवश्यकता है ?"

१ धर्म युग पृ० ७ अवतार २१ १९५१ अक ४२

2 Being rid of clothes one is also rid of lot of other worries. No water is needed in which to wash them. Our knowledge of good and evil, our knowledge of nakedness keep us away from salvation. To obtain it we must forget nakedness. The Jain Nirgranthas have forgotten all knowledge of good and evil. Why should they require clothes to hide their nakedness."

Heart of Jainism p. 35.

निरुद्ध लोकमत
द्वारा अनर्थ

लोकमत के अनुसार धर्म और साधुआ पर व्यवस्था का चक्र चलाना बड़ा खतरनाक कार्य है। कोन नहीं जानता कि उस विवेक शून्य लोकमत के बल पर ईसा को सुली पर चढ़ाया गया ? गुजरात को न्याय के पक्ष पर दृढ़ रहने के कारण विप का प्याला पीना पड़ा। अतएव शासका का विवेकपूर्ण वर्तव्य है कि वह न्याय के तुला पर धसे गये सत्य का ही रक्षण करें। भले ही प्रचण्ड लोकमत उससे विरुद्ध अज्ञान या पक्षान्धता के कारण अपना प्रचण्ड प्रहार करें।

अशोक का आदर्श

आज हजारों वर्ष बीतने के बाद भी जिस अशोक के शासन को भारतवर्ष ने अपना आदर्श बनाया है उस धर्मप्रिय प्रयदर्शी सम्राट ने अपने गिरनार के अभिलेख न० १२ में धर्म के विषय में जो नीति निर्धारित की थी, उस पर प्रकाश पड़ता है। उस लेख में लिखा था 'देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी सम्राट सब धर्मों के मनुष्या का सम्मान करता है, चाहे वे गृहस्थ हो, चाहे सन्यासी हो। किसी न किसी कारण से प्रत्येक संप्रदाय सम्मान का पात्र है। इस प्रकार का प्रवृत्ति करने से वह स्वयं अपने धर्म को गौरवान्वित करता है तथा अन्य लागा के धर्मों की भी सेवा करता है। अपने धर्म की महिमा को

१ King Priyadarshi, the beloved of the God, wishes that all Pasandas (Followers of various creeds, or men belonging to different religions) should have freedom to live in his dominions, for they all desire mastery over the senses and purity of mind

Girnar Edict VII

King Priyadarshi, the beloved of the Gods, does reverence to men of all sects whether ascetics or householders Every sect deserves reverence for one reason or other By acting thus one exalts his own self and at the same time does service to the sect of other people and acting the contrary to enhance the splendour of his sect, really a man hurts his own sect to the utmost Concord in all sect is meritorious i.e. hearing the doctrine of all sects and holding the sound doctrine of the law of piety. The result of this is the growth of one's own sect and enhancement of the splendour of one's own religion

Girnar Edict XII

बढ़ाने के लिए इसके विपरीत प्रवृत्ति करने से वह अपने ही संप्रदाय को क्षति पहुंचाना है । सब धर्मों का ऐक्य अर्थात् सब धर्मों के सिद्धांतों को सुनना तथा धर्म के सच्चे सिद्धान्त का पालन करना पुण्य कार्य है । इससे अपने ही सिद्धान्त की वृद्धि होनी है और अपने ही धर्म की महिमा बढ़ती है ।”

धर्म के प्रति न्याय और सहिष्णुता की नीति के कारण हजारों वर्षों के बाद भी आज अशोक जीवित नरेश सा प्रतीत होता है और धर्म के प्रति अनीति और अत्याचारी व्यवहार करने वालों के शासन की कोई याद भी नहीं करता है । अतएव धार्मिक विषय में सोच समझकर नीति अंगीकार करना चाहिए ।

कोई कोई तर्कशासील यह सोचते हैं कि साधु ने समाज से अपना संबंध छोड़ दिया है, इसी से वह तपस्वी बना है, तब उनके अधिकारों के मुनिराज के नागरिक रक्षण के बारे में समाज से या शासन से अपेक्षा करना योग्य नहीं है ?

अधिकारों का अभाव मानना यह विचार तर्क शुद्ध नहीं है । साधु मानव समाज ही न्यायोचित नहीं है । यह विचार तर्क शुद्ध नहीं है । साधु मानव समाज ही नहीं संपूर्ण विशाल विश्व परिवार के व्यक्ति हो जाते हैं, इसी से तो वे छोटे छोटे जीवों के सुख दुःख का भी ध्यान रखते हैं और जीव मात्र के रक्षण का स्वयं प्रयत्न करते हैं और अन्यो को ऐसी प्रेरणा भी करते हैं । ऐसी विश्व के साथ महान वंधुत्व का सच्चा सम्बन्ध रखने वाली और तथैव निर्वाह करने वाली आत्मा को अचेतन सा अधिकार शून्य सोचना कभी कभी न्याय एवं सहिचार अनुमोदित नहीं माना जायगा ।

दूसरी दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है । तर्क के लिए थोड़ी देर को यह मान भी लिया कि मुनिराज के अधिकार समष्टि के हित में बिलीन हो गए फिर भी मुनियों के पूजक जैन श्रावकों का यह नागरिक अधिकार तो नष्ट नहीं हो जाता जिसके अनुसार वे अपने धर्म के पूज्य गुरुजनों को अपनी तरफ पधारने की विनय व्यवस्था आदि कर सकें ? इस दृष्टि से दिगम्बर साधु के अधिकार के अपहरण के सिवाय लाखों जैनियों के स्वतंत्रतापूर्वक अपने अत्यन्त प्राचीन शास्त्र तथा परंपरा के अनुसार प्राप्त धार्मिक अधिकारों का पददलन किया जाना माना जायगा, और ऐसी स्थिति में न्यायशील शासन मदान्व अत्याचारी शासक (Tyrant) के कलंक में लक्षित हुए बिना न रहेगा ।

यह कहा जा सकता है कि दि० जैनमहर्षि प्राणीमान पर करुणा की वर्षा करते हैं, तो कुछ अज्ञानी सांप्रदायिक दीवानों के चित्त को भुनियो का नगर सतुष्ट करने के लिए वे नगरों में न आवें और उनकी गमन क्यों आवश्यक है ? साधुओं को विशेष आत्मिक शांति लाभ होगा ।

यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है । साधुओं को नगर में, ग्राम में जाना अनेक कारणों से जरूरी है । जैसे नगर में विद्यमान जिनमदिरो के दर्शन तथा बंदनार्थ पैदल जाना ; तथा आहार प्राप्ति के लिए उस जगह जाना आवश्यक है जहाँ श्रावक लोग रहते हैं, जहाँ शुद्ध आहार की प्राप्ति होती है । जैन साधु अपने साथ न भोज्य सामग्री रखते हैं न कदमूल आदि फलों को वृक्षों से तोड़कर अपनी क्षुधा का निवारण करते हैं । वे नवधाभक्ति पूर्वक शुद्धता के साथ बनाए गए आहार को सुयोग्य द्यतार द्वारा अर्पित किए जाने पर करपात्र में लेते हैं, निमग्न नही स्वीकार करते हैं । अतः यदि साधुओं का श्रावकों से सम्बन्ध न रहे तो साधु जीवन की गाड़ी नहीं चल सकेगी । दान के द्वारा गृहस्थों तथा साधुओं का परस्पर में हित होता है ।

यह भी बात शातव्य है कि जैन समाज के ग्रंथों के अनुसार गृहस्थ का प्राथमिक कर्तव्य है कि ज्ञान ध्यान में तत्पर अहिंसात्मक श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने वाले मुनियों को आहार आदि का दान करे । उन दयामूर्तियों की सेवा तथा भक्ति के द्वारा गृहस्थ जीवन में अनिवार्य रूप से होने वाले हिंसा जनित दोषों की शुद्धि होती है जिस प्रकार रुधिर से मलिन वस्त्र की निर्मलता निर्मल नीर के द्वारा होती है । भूतल में डाले गए वह बीज के समान इन मंगल जीवन व्यतीत करने वाले मुनियों की सेवा में अर्पण किया गया घोड़ा भी सात्विक दान विपुल वैभव और असीम सुखद फलों को प्रदान करता है ।

कनटिक कवि रत्नाकार ने अपने अमर काव्य 'भरतेश वैभव' में बताया है कि सम्राट भरत बड़ी भक्ति और श्रद्धा पूर्वक मुनियों के आहार दान में सदा तत्पर रहते थे । भरतेश्वर के महादान की स्तुति करने हुए दिव्यात्मा बहते थे "हम लोग समयी न होने के कारण व्रतपति मुनियों को आहार

देने में असमर्थ है; किन्तु तुम इन समय निधि साधुओं को आहार देने में समर्थ हो। इसलिए तुम हमारी अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हो। हम नदीश्वर द्वीप में जाकर अकृत्रिम जिनविम्बों की पूजा करते हैं यह बात सत्य है किन्तु हमारी पूजा एक प्रकार से उपचार पूजा है। तुम्हारा दिया गया अन्न रत्नत्रय मूर्ति मुनियों के शरीर में जा उस गुणमय देह का पोषण करना है। तुम्हारे सदृश सीमाय हमें कहा है।”

अहिंसामय जीवनवर्षा वाले मुनिनाथों की सेवा क्षत्रिय लोग तथा क्षत्रियनरेशों द्वारा बड़े बड़े साम्राज्य के अधिनायक करते थे यह बात प्राचीन वैदिक वाङ्मय से भी पुष्टि होती है। ऋग्वेद में आगत श्रुतः क्षेप की कथा से यह बात ज्ञात होती है पथ की पूजा कि हिंसात्मक पशु बलिदान के समर्थक ब्राम्हण लोग थे किन्तु क्षत्रियों की प्रमुखता काशी, कौशल, मगध, विदेह आदि में थी। कुरु पांचाल देश के ब्राह्मणों को उक्त अहिंसा भूमि में जाने का निषेध किया गया है यह बात शतपथ ब्राह्मण से पुष्ट होती है। उपनिषदों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि आत्मविद्या में प्रवीण तथा पशु बलिदान के विरोधी क्षत्रियों के पास कुरु पांचाल देश के विप्र लोग जाते थे। इन अहिंसक क्षत्रियों में महाराज जनक का नाम विख्यात है। ये आत्मविद्या के ज्ञाता अहिंसावादी नरेश अपने जीवन की मध्या में सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर नर्मों का नाश करते हुए सच्चे क्षत्रिय का कार्य करते थे।

बाल्यकाल विद्या की आराधना में, तारुण्य गुरु की सेवा में तथा युद्धकाल सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग द्वारा व्यतीत होता था। इस दृष्टि से यह बात बड़ी आश्चर्य प्रद प्रतीत होती है, कि जो व्यक्ति अपने जीवन का प्रत्येक क्षण लोकसाधना तथा उसकी व्यवस्था और कल्याण में व्यतीत करे, उस रामराज्य के सदृश शासन संचालक द्वारा जीवन की संध्या में सर्वपरीग्रह का त्याग कर तपस्वी का जीवन व्यतीत करते हुए पूर्णतया आत्मनिर्भर दिगंबर भ्रमण के रूप में नगरो में प्रवेश करते समय बाघा उठाई जाती है। ऐसे महापुरुषों के आगमन को विवेकी मानव मगल का प्रतीक मानते हैं, क्योंकि उनके पुण्यजीवन और पवित्र प्रवृत्तियों के दर्शन से नागरिकों का जीवन उनका विमल बनता है जिनका नाशन सत्ता

के जीवन को नर्मल बनाने वाले अगणित साधनों द्वारा नहीं होता। कौरव उपदेश आत्मा को स्पर्श नहीं करता। अतःकरण को छूने वाला उपदेश वास्तव में वाणी के पूर्व क्रिया में चरितार्थ होना चाहिए। मंगल के प्रतीक इसलिए संपूर्ण दंड विधान और बड़े बड़े न्यायालयों के द्वारा जीवन सुधार के जो उपाय सफल नहीं हो पाते वे इन धासना विजेताओं के दर्शन तथा संप्राण उपदेश-द्वारा सहज ही साध्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकी शासक इन सतों के आगमन के लिए प्रत्येक उचित उपाय का अवलंबन लेते हैं ताकि लोक कल्याण के साथ उनका जीवन भी पुनीत बने।

साधुओं के नगर-कुमारगामी प्रजा को कल्याण पथ में लगाने के लिए समर्थ प्रतापी शासक आवश्यक हैं। इसी प्रकार दुर्वा-गमन से लाभ सनाओं के कुचक्र में फंसे हुए शासक और शासितों का कल्याण करने के लिए ऐसे आत्म विजेता योगियों का शासन स्वीकार करना चाहिये जिनका जीवन स्वयं कल्याण का मंदिर बन चुका है तथा जिनने विश्व विजेता क्रोध, मान, काम, लोभ सदृश प्रचंड शत्रुओं का दमन किया है। इसलिए इन साधुओं का नगर में आना लोक कल्याण की दृष्टि से उपयोगी, आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है। इसीलिए पुरातन कालीन इतिहास में सर्वदा नरेन्द्रों द्वारा इन दिगंबर मुनियों की चरण वंदना का वर्णन प्राप्त होता है।

* कभी कभी अज्ञानता अथवा अहंकार के कारण अपने अज्ञानवश राज्य-को अमर्यादित अधिकारों का अधिपति जान निर-सत्ता द्वारा विघ्न कुशता का आश्रय ले कोई कोई नरेज, उन्मत्त जैसा कार्य कर बैठते हैं। सन् १९३८ ता० ७ जून को हैद्राबाद, निजाम की और से यह अद्भुत घोषणा निकली थी, "निजाम स्टेट में नग्न साधुओं को फिरने की इजाजत देना मुनासिब नहीं है, अलवत्ता अगर एक मुकाम से दूसरे मुकाम को जाना चाहें तो रात में १२ से ४ तक जा सकते हैं।" इस फरमान ने जैन समाज में गहरी चिन्ता उत्पन्न कर दी थी। १४ सितम्बर सन् १९३८ में एक जैन प्रतिनिधि मंडल राज्य के उच्च अधिकारियों से मिला था उसने उन्हें बताया कि ये जैन मुनि उज्ज्वल चरित्र, श्रेष्ठ अहिंसा के पालक तथा महान तपस्वी महात्मा होते हैं। उनका पद कठिन होने के कारण सारे देश में आजकल उन दिगम्बर साधुओं की सरया बीस के

लगभग होगी । वे रात्रि को विहार नहीं करते, क्योंकि रात्रि में जीव दया का व्रत निर्दोष पालने लिए भ्रमण न करना आवश्यक है । मुनि जीवन की पवित्र चर्चा सुनकर अधिकारियों का हृदय बदला, इसलिए उनके परामर्श के अनुसार २ नवम्बर १९३८ को विनाय फरमान द्वारा मुनि विहार का प्रतिबन्ध दूर कर दिया गया ।

हिन्दू नरेशा के सिवाय यवन शासकों तक ने इन मुनियों के स्वतन्त्र विहार में बाधा नहीं पहुँचायी है । ब्रिटिश शासन ने भी इस परम्परा का पूर्णतया रक्षण किया था । सर्वोच्च न्यायालय (Privy Council) ने यह निर्णय किया था कि आम सड़क पर से सब धर्म वाला को अपने अपने धार्मिक जुलूस ले जाने का अधिकार है ।

भारत के संविधान ने धार्मिक स्वातन्त्र्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । उस संविधान के आरम्भ में भारतीय गणतन्त्र के प्रत्येक नागरिक को विचार अभिव्यक्ति, श्रद्धा, विश्वास एवं आराधना में स्वतन्त्रता का अभिव्यक्त किया

१ "Persons of all sects are entitled to conduct religious processions through public streets so that they do not interfere with the ordinary use of such streets by the public and subject to such directions as the magistrate may lawfully give to prevent obstruction of the throughfare or breaches of the public peace and the worshippers in a mass or temple which abutted on a high road could not compel processionists to interfere their worships while passing the mass or temple on the ground that there was a continuous worship there"

23 All L J 179, also I I B 5 Mad 309

"At page 180, 23 All L 7 Their Lordships say-

"The case seems to their Lordships to raise for authoritative decision the question as to the right of religious procession to proceed along the roads in India, practising their religious observances and decided authorities in India are certainly conflicting. The first question is, is there a right to conduct a religious procession with its appropriate observances along a high-way ? Their Lordships think the answer in the affirmative "

Privy Council

गया है ।'

संविधान की २५, २६, २८ तथा २९-और ३० धाराओं द्वारा धार्मिक स्वातंत्र्य की मौलिक अधिकारों (Fundamental rights) के अंतर्भूत किया है ।

कभी कभी पवित्र वस्तु होते हुए भी उसका निकट परिचय न होने के कारण लोग भ्रात धारणार्थ बना लिया करते हैं और साक्षात् अमृत को विष समझ त्याज्य मानते हैं । यही बात इस प्रसंग में चरितार्थ होती है । नागपुर मुनियों के प्रत्यक्ष हाईकोर्ट के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश डा० सर भवानी-शंकर नियोगी के नेतृत्व में सन १९४४ के दिसंबर में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई थी । उस अवसर पर दिगम्बर जैन मुनिराज श्री सुमतिसागर महाराज का महत्वपूर्ण पडा है

मधुर एवं आत्म जागरणकारी उपदेश हुआ था, उस हजारों नर नारियों ने प्रेम और श्रद्धा से सुना था । उस समय न्यायमूर्ति डा० नियोगी ने कहा था "आज इन मुनिराज का दर्शन कर तथा उनकी पवित्र वाणी सुनकर मेरे अंतःकरण को अपूर्व प्रकाश मिला । कहा तो ये दिगम्बर मुनिराज जा परिपह मात्र का त्याग कर निश्चितता पूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं, और कहा हम लोग जो बहुत सी सामग्री एकत्रित कर शांति का अन्वेषण करते फिरते हैं ।" स्वर्गीय मुनिराज श्री कुन्धुसागर महाराज के पवित्र उपदेशों को सुनकर अनेक भारतीय नरेशा ने उनके चरणा में आकर शिकार, मांस, मदिरा आदि के त्याग रूप नियम ग्रहण किए थे । जिस प्रकार हिमाचल के समीप जाने से उष्णता का सनाप स्वयं दूर होता है उसी प्रकार विपुल वैभव के द्वारा भी जिस तृष्णा का अंत नहीं होता है, वह ऐसे दिगम्बर

१ भारतीय गणतंत्र के सहृदय राष्ट्रपति डा० राज-द्रप्रसाद ने १३ मई, सन १९५२ की राष्ट्रपति पद की शपथ लेते हुए कहा ' यह मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य होगा और सर्वोपरि प्रयास होगा कि इस देश के विभिन्न भागों के और विभिन्न वर्गों के, संप्रदाया तथा विचारों के व्यक्तियों को समान समझू और सबके साथ मैत्री का निर्वाह तथा उनके साथ सहयोग के तरीका को खोजू । अपने देश के वासियों के प्रति मेरा अनुरोध है कि मुझे अपने ही बीच का एक व्यक्ति समझें और मुझे अपनी योग्यतानुसार सर्वोत्तम ढंग से सेवा करने का अवसर दें तथा मुझे उत्साहित करें । "

मानों साधुआ के सानिध्य से अत्यन्त न्यून हो जाती हैं और आत्मा अकिंचन जीवन को अपना चरम लक्ष्य बना परिग्रह के भार को हटका करने का प्रयास उद्योग करता है।

एक बार प्रबुद्ध भारत में यह समाचार छपा था कि जयदेवपुर के जंगल में एन्डरसन नाम का अंग्रेज हाथी पर सवार हो शिकार खेलने गया था। शेर को देखकर हाथी घबड़ाया और साहब बहादुर को जमीन पर पटक दिया। उस अंग्रेज ने शेर पर दो तीन गोलीया दागी किन्तु निशाना चूक गया, इतने में शेर ने उसका पीछा किया। प्राण बचाते हुए उस शिकारी ने एक क्षोपडी में प्रवेश किया जिसमें एक दिगम्बर साधु रहा करता था। उस दिगम्बर साधु का साधु के इशारा करते ही वह शेर पालतू कुत्ते के समान घात हो गया और चुपचाप चला गया। उस दिगम्बर साधु के प्रभाव से चकित हो उस अंग्रेज ने शिकार करना तथा माँसाहार छोड़ दिया। ढाका तथा चिटगाँव के लोगों ने उस अंग्रेज के जीवन में इस अहिंसात्मक त्रासि को देखा है।

ये साधु धन वैभव को आत्म विवास का बटक मान उससे दूर रहने हैं, किन्तु लौकिक लोग धन, आनन्द और अहंभाव को ही अपना आराध्य देव मानते हैं।

आजकल सर्वत्र लोकस्वार्थ धर्माश्रयन को भार रूप समझने लगी धर्मके प्रति श्रद्धा है। इस दृष्टि से प्रायः सभी लोग अपने अपने धर्म के नियन्त्रण को दूर फेंक धर्मशून्य जीवन से अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

दुर्वासनाओं पर लागू बाह्य बाधा पर नियन्त्रण की बहुत चर्चा करते हैं शासन मत्ता भी उनका साथ देती है, किन्तु अपनी दुर्वासनाओं को नियन्त्रित करके मंगलमय आत्मत्व की उपलब्धि की ओर आज किसका ध्यान जाता है? जड़वाद के प्रचंड प्रहार

१ 'The God of this world is riches, pleasures and pride'.

२ न मध्या सन्ध्यन्ते, नियमित नमाज न कुरुते।

न वा मौजी बध कलयति न वा मुसल-विधिम्।

न वा रोजा जानी ते, व्रत मपि हरे। नैव कुरुते।

न वासी मन्त्राया शिव। शिव। न हिन्दुर्न यवनः॥

ने हमारे अतःकरण के नेत्रों को बंद कर दिया है, अतः सत्य का दर्शन करना कठिन बन गया है।

सुविकसित आत्माओं के पुण्य प्रभाव की बातें प्रयत्न करने पर पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकती हैं। ये विभूतियाँ अपना तथा लोभ का उद्धार करती हैं। जैसे अकुश से मत्त गजराज पर नियंत्रण किया जा सकता है, उसी प्रकार भोग और विषयों के कारण उत्पन्न जीवों को सुपथ में ये सन्त लगाया करते हैं। आज का युग जिम चरित्र बल (character) की बार बार दुहाई देता है, उस सदाचार के शिरोमणियों का अभिषेदन छोड़ कर भ्रात भाई उनपर ही अपना अकुश लगा अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें परिवर्तन करना चाहते हैं। यह कार्य न तो रोगी द्वारा अपने चिकित्सक की चिकित्सा करने सरोपा है।

एक बात और भी ध्यान देने की है, कि साधु का जीवन सच्ची और शाश्वत शांति प्राप्ति के उद्योग में व्यतीत होता साधुओं पर आगम है। नीतगगना के रमायन के हेतु वह संपूर्ण आकांक्षाओं, वा अनुशासन है लालसाओं का बड़े प्रयत्न पूर्वक त्याग करता है। यदि वह जनता को संतुष्ट करने का प्रयत्न करने लगे, तो उसका ध्येय से पतन हो जायगा। जनता के मान, अपमान की वह समान मानता है। वह आत्मा का अनुशासन मानता है और आगम के पथ प्रदर्शन में प्रवृत्ति करता है। यही कारण है कि उस निन्ता रोग से विमुक्त महात्मा की बड़े बड़े सम्राट भी प्रणाम करते हैं। कहा भी है—

“चाह घटी चिन्ता हटी मनुआ बेपरवाह।

जिन्हे कुछ नहि चाहिए वे साहनपति साह ॥”

अकलक स्वामी ने लिखा है कि, “निर्वाण का लाभ उसी आत्मा को होता है, जिसकी मोक्ष के विषय में भी आकांक्षा नहीं रहनी है।”

जिस प्रकार किसी रोगी के शरीर में यदि छय के ममता का रोग थोड़े भी कीटाणु रह गए तो उसके रोग की वृद्धि होते देर नहीं लगती, इसी प्रकार लालसा या ममता का सूक्ष्मतम अंश भी रहा तो वह इस जीव की उच्च आध्यात्मिक शिखर से गिराए बिना नहीं रहेगा। इच्छा के रोग की वृद्धि कैसी होती है ?

गरीब आदमी भर पेट भोजन को ही तरसता है और उसका लाभ होने पर धीरे धीरे वह वृद्धिगत तृष्णा उसके सुरराज बनने पर भी पूर्ण नहीं होती ।^१

आत्म-तल्लीनता वाले सत महात्मा शरीर के विषय में काफी विस्मृतिसील से रहते हैं । जब शरीर अपना नहीं है, ऐसी वष-वारणा उनके हृदय-पटल पर अनित हो चुकी है, तब उक्त शरीर के विषय में उनका ध्यान बहुत कम रहता है । आहार ग्रहण तो इसलिए करते हैं कि आत्म-घात का दोष न आवे । इससे वे शरीर पर इतनी दृष्टि रखते हैं, कि उनके प्रमाद से इस समय सायब-नामग्री का पतन न हो जाय । हा जब शरीर रोग, जरा आदि के कारण रत्ननय धर्म का घात करने को तैयार हो जाता है तब वे इसी परवाह न कर समाधिमरण का आश्रय लेते हैं । ऐसे योगिया को वस्त्रादि धारण करने को कहा जाय ता वे उसे स्वीकार न कर समर्पण मय मृत्यु के द्वारा शरीर का अन्त कर देना श्रेयस्पर समझेंगे ।

लौकिक कार्यों में तल्लीन व्यक्ति जब तनवदन की मुष् भूल जाता है तब अलौकिक जीवन वाले महात्मा कहा तब शरीर की चिन्ता रख सकते हैं । कहते हैं 'एक गणितज्ञ अपने घर के ऊपर के भाग में गणित के प्रश्न हल करने में लगे थे, उस समय उनकी माता की भयंकर बीमारी की खबर नीचे से मिली, वे प्रश्न गुठझाने में इतने अधिक दत्तावधान थे कि पुन पुन माता के रोग की भीषणता का ज्ञान कराए जाने पर भी उनका मन प्रश्न को सुलझाने में ही उलझा रहा और इतने में उनकी माता के प्राणपखेरु उठ गए । तब कहीं वे अपनी गणित की तल्लीनता से उठ पाये ।' जब लौकिक वस्तुओं में निमग्न व्यक्ति की यह अवस्था होती है, जब चक्रवर्ती के सुख से भी बड़ी गुने अधिक आत्म-नद में सलग्न मुनिराज कहा तब बाहरी बातों का ध्यान रख सकते हैं । मर्याद बात यह है कि मोक्ष में लगने वाले व्यक्ति का ध्यान

१ "इच्छति दाती सहस्र, ससहस्र वाटि भीहते कर्तुम् ।
कोटियुतोपि नृपत्व, नृपोपि वत अमित्रत्वम् ॥१॥
अथचरोपि सुरत्व सुरोपि सुरराज भीहते कर्तुम्
सुरराजोऽयुर्ध्वगति तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥

इंद्रियो की सेवा की ओर नहीं रह सकता है । कहा भी है—

“दो मुख सुई न सीवे क्या दो मुख पथी चलै न पथा ।

यो दो काज नहोहि समाने विषय भोग अरु मोक्ष पयाने ॥”

सच्ची मुक्ति का रस आ जाने पर विषयादिको से जीव का सहज ही सम्बन्ध छूट जाता है जैसे फल के पक जाने पर उसका वृक्ष से सम्बन्ध बिच्छेद हो जाता है ।

कोई कोई सोचते हैं न्याय की तुला में सभी व्यवस्थितियों के समान अलौकिक वृत्ति अधिकार ज्ञात होते हैं । यह विचार प्रणाली पूर्णतया बालो के विशेष निर्दोष नहीं कही जा सकती । सुवर्ण तथा पीतल को अधिकार अथवा गोदुग्ध और चूने के द्रव को एक नहीं माना जा सकता है । रागद्वेष, कषाय आदि विवृत्तियों के आधीन एग्न समाज की चिकित्सा विशेष कानून रूपी औपिध द्वारा जहरी है, किन्तु स्वस्थ पुण्य जीवन वाले समय और सदाचार की मूर्ति पर भी वही नियंत्रण लगाना विवेक का कार्य नहीं कहा जा सकता है । दिगम्बर मुनिराज शरीर तक पर भ्रमत्व नहीं रखते तब अन्य बाह्य सत्ता के कथन पर उनका न मोह होगा और न भ्रमत्व या द्वेष ही । वे आत्माएं लोकानुशासन के बदले में धर्मानुशासन के अधीन रहती हैं ।

नीतिचिन्तामृत में लिखा है “अपने शास्त्र के अनुसार आचरण करना यतियों का धर्म है। अपने धर्म का उल्लंघन हो जाने पर उनके शास्त्र में कथित प्रायश्चित्त लेना कर्तव्य है।”

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि राज्य का अंकुश आत्मा और धर्म के अनुशासन में रहने वाले उन मुनियों पर नहीं रहता है, इन लोगों का जीवन भी तो पारलौकिक रहा करता है । इनका जीवन स्वयं कानून (Law) बन गया है । अत्याचार के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए यदि शासन सत्ता द्वारा व्यवस्था और सम्मति के रक्षण की ओट में यतियों पर अत्याचार हुआ तो उसका फल अच्छा नहीं निकलेगा । ये सत लोग मृत्यु का स्वागत कर लेंगे, किन्तु अपने प्रतिशत-पथ से जरा भी विचलित नहीं होंगे । इनके साथ के खिल-वाड़ का बड़ा बटु परिणाम होता है । महाभारत में लिखा है कि राजा परीक्षित ने जंगल में एक वीतराग तपस्वी के शरीर पर भरे सर्प को डाल

१ निजःगमोक्तं मनुष्ठानं यतीनां स्वाधर्मः ।

स्वधर्मव्यतिश्रेयसेन यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् । ५०

दिया था, इससे परिणाम-स्वरूप नरेश को संप्रदेश की भीषण विपदा प्राप्त हुई थी।

कानून की प्रवृत्ति मर्यादा के बाहर नहीं होना चाहिए। कानून की मर्यादा दिगम्बर मुनियों का इतिहासातीत काल से जो अधिकार बना आ रहा है, जो अहिंसा तथा विवेक द्वारा समर्थित भी है, तथा अत्यंत उच्च सम्प्रदाय का पोषण है, उस पर नियंत्रण लगाना न्याय का अत्याचार कहा जायगा। कानून यदि सीमा का अतिक्रमण करता है तो उसका सशोधन करना जरूरी है। अथवा सती को सतप्त करने वाले का दीर्घ जीवन सम्भव नहीं होगा। इतिहास के पृष्ठ बताते हैं, कि अत्याचारी शासन की कितनी कम जिन्दगी रही है। नीतिवाक्यामृत में लिखा है कि—

‘राजा परम देवता है, वह गुरुजनों के सिवाय दूसरा नहीं प्रणाम नहीं करता है।’ अतः शासन सत्ता को मर्यादा की रक्षा करना उचित है।

एक बात यह भी ध्यान देने की है कि दिगम्बरत्व का भद्रता के परिहृल माता व्यायानुकूल नहीं है। बाह्य बंधन को बढ़ाना सम्प्रदाय की वृद्धि नहीं है। परावर्तन को कम करते हुए जितना अधिक स्वावलंबी जीवन होगा, उतनी अधिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि कही जायगी।

डा० जेपीप्रसाद ने लिखा है ‘सम्प्रदाय की पूर्णता के लिए बाहरी प्रवृत्ति को जितना काफी नहीं है। मनुष्य को अपनी भीतरी प्रकृति भी जितना चाहिए। मानवी प्रकृति में कई प्रवृत्ति हैं जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शान्ति और सुख के लिए एक समाज के सामंजस्य और सबुद्धि के लिए आवश्यक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या और निष्ठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरा का जीवन स्वायत्तपूर्ण और क्लेशमय बना सकता है। इन की जितना अर्थान इनके वेग को सामाजिक सबुद्धि के मार्गों में परिणत कर देना सम्प्रदाय के लिए आवश्यक है।

यदि मनुष्य अपने जीवन का विश्लेषण करे, तो इस परिणाम पर पहुंचेगा कि सुख और शान्ति के लिए आंतरिक सामंजस्य की आवश्यकता है। व्यक्ति का पूर्णता इसमें है, कि सत्य शक्तियों और वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार हो।”

१ ‘राजा हि परम देवता, यासी कस्मैचित् प्रणमत्पन्यत्र गुरुजनेभ्यः।’

नीतिवाक्यामृत पृ० ६३,

२-हिन्दुस्तान की पुरानी सम्प्रदाय पृ० ५८६

भारतीय संस्कृति में अधिकनता की पूजा

भारतीय संस्कृति ने भोग तथा वैभव के समस्त सदा अविचलन जीवन को आदर के आश्रम पर विराजमान कर उसकी अभिवदना की है, वारण भारतीय विद्या का लक्ष्य अमर्यादित लालसाओं की लपेट में फसकर रेशम के कीड़े की भाँति मरना नहीं है, वह तो वासनाओं की विजय को आत्मनिवास और अविनाशी शान्ति का वारण मानती है।

मुकरात का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है कि जितनी अल्पमत हमारी आवश्यकताएँ हैं उतने ही हम देवताओं के सदृश होते हैं।^१ अतएव भारत के हाथ में शासन मूत्र आ जाने से धर्म की दुर्गति की जायगी यह सदेह करने का कोई वारण नहीं है। भारतीय गणतंत्र के प्रधान श्री राजेन्द्रप्रसाद जी ने राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में सन् १९५१ के ग्रीष्म-काल में सोमनाथ के नवनिर्मित शिवमंदिर में ज्योतिर्लिंग की स्थापना की थी। इस संप्रदाय विशेष के आराधना स्थल के प्रति सम्पूर्ण भारत के प्रतिनिधि रूप में राष्ट्रपति का सम्मान प्रदर्शन इस बात को सूचित करता है कि इस देश की नीति सम्राट-अंगीक के समान सब धर्मों के प्रति समान सद्भावना की रहेगी।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक समाज के धर्म, संस्कृति, भाषा आदि के संरक्षण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अन्यथा बहुसंख्यक वर्ग के सक्तीय भाव वाले साम्प्रदायिक लोग अल्पसंख्यकों के अधिकारों को सहज ही कुचल सकते हैं। उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने लिखा है—
“प्रजातन्त्र में अल्प संख्यकों एवं उनके मतों का दबाया जाना पूर्णतया विरुद्ध बात है यदि अल्पसंख्यक दबाए जाते हैं अथवा उनका मुँह बन्द दिया जाता है तो प्रजातन्त्र अत्याचारी शासन का रूप धारण कर लेता है।”^२

यहाँ इस चर्चा का ध्येय यह है कि जैन समाज के धार्मिक अधिकारों के सम्बन्ध में उसकी संख्या कृत न्यूनता के कारण उपेक्षा नहीं होना चाहिए

१ “The fewer our wants, the more we resemble gods.”
Socrates.

२ “It is entirely opposed to the suppression of minorities and minority opinion. If a minority is suppressed or silenced, then democracy becomes a tyranny.”

क्योंकि प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास के लिए यह आवश्यक है कि अल्प संख्यक समाज पर बहुसंख्यकों का किसी भी प्रकार अत्याचार नहीं हो। जिन लोगों ने यह धारणा बना ली है कि जैनियों का स्वतंत्र अस्तित्व [ही] नहीं है, उन्हें अपने भ्रम को दूर करना चाहिये। क्योंकि धर्म, तत्त्वज्ञान, आचार आदि की दृष्टि से उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानना ऐसी ही मिथ्या बात होगी, जैसे

अकेले होने के कारण भास्कर को भुला देना। प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—“इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत में हिन्दुओं की बहुत बड़ी संख्या है, किन्तु वे यह बात नहीं भुला सकते कि यह मुस्लिम ईसाई, पारसी तथा जैन रूप अल्पसंख्यक समाज भी पायी जाती है।” यदि भारतवर्ष को हिन्दू राष्ट्र समझा जाय, तो इसका यह अर्थ हुआ कि अल्पसंख्यक वर्ग देश के शत प्रतिशत नागरिक नहीं है।” श्री नेहरूजी ने अपने इकतीस जनवरी सन १९५० के पत्र में लिखा था, “यह स्पष्ट है कि बुद्धधर्मी हिन्दू नहीं हैं। जैनियों को हिन्दू मानने का कोई कारण नहीं है। यह सत्य है कि जैन लोग कुछ अंशों में हिन्दुओं से निकट संबंधित हैं तथा उनमें एक समान रीति रियाज पाये जाते हैं, किन्तु इस विषय में सन्देह का तनिक भी स्थान नहीं है कि जैन लोग स्वतन्त्र धार्मिक समाज के रूप में हैं तथा भारत का संविधान इस प्रकार की निश्चित स्थिति को कोई भी क्षति नहीं पहुंचाता है।”

स्वर्गीय सरदार बल्लभभाई पटेल उप-प्रधान मंत्री ने जनगणना में जैनियों का स्वतन्त्र स्थाग रखवाकर नेहरूजी की दृष्टि का समर्थन ही

१ “No doubt India had a vast majority of Hindoos, but they could not forget the fact that there are also minorities—Muslims, Christians, Parsees and Jains. If India was understood a Hindu Rashtra, it meant that the minorities were not cent percent citizens of the country.” Statesman 5th Sept. 1949.

२ “It is clear that Buddhists are not Hindoos, There is no reason for thinking that Jains are Hindoos. It is true that Jains are someways closely allied to Hindoos and have

किया है। उनमें भी पञ्चम अगस्त सन १९४६ को जैन महामभा के अध्यक्ष के पास पत्र भेजकर यह विश्वास दिलाया था कि स्वतन्त्र भारत में सभी धर्मों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी।^१ विधान परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष एवं वर्तमान राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसादजी ने अल्पसंख्यकों के धार्मिक अधिकारों के सम्बन्ध में परामर्श देने वाली समिति में एक जैन को जैन प्रतिनिधि के रूप में लिया था यह बात उनमें वर्धा में सन १९४९ में हमसे बही थी।

राष्ट्रीय गान में विश्व कवि रवीन्द्र बाबू ने जैन, बौद्ध आदि की पृथक् रूप से गणना की है।^२

पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर जनरल डा० एन० पी० चक्रवर्ती ने हमें ६ जुलाई सन १९५० के पत्र में अपने इन्डोनेशिया जावा सम्बन्धी प्रवास के विषय में यह महत्व की बात लिखी थी, "यह कथन अवास्तविक होगा कि जैन स्मारकों को हिन्दू स्मारक कह दिया जाता है। इन दोनों धर्मों (जैन धर्म और हिन्दू धर्म) का जरा भी परिचय रखने वालों को इस बात की भिन्नता पूर्णतया स्पष्ट है।"^३

इससे जैनियों के जो भी धार्मिक अधिकार हैं उनका पूर्णतया संरक्षण आवश्यक है। धर्म के आधार बिन्दु देव गुरु तथा शास्त्र होते हैं। जैन शास्त्र

many customs in common. But there can be no doubt that they are a distinct religious community and constitution does not in any way effect this well recognised condition."

१ "In free India there would be no restrictions upon the religious liberty of any community, and there need be no apprehension in this regard."

२ जन मन गण अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता ॥

अहरह तव आह्वान प्रचारित मुनि तव उदार वाणी ।

हिन्दु बौद्ध सिक्ख जैन पारसिक मुसलमान ख्रिस्तानी ॥

३ "It would not be correct to say that Jain monuments have been described as Hindu monuments. The difference is obvious to any body knowing something of the two religion."

इस सम्बन्ध में विशेष परिचयके लिए हमारी लिखी Is Jainism is a distinct and separate religion नाम की किताब देखना चाहिए ।

के अनुसार श्रेष्ठ अहिंसा धर्म के पालक जैन गुरुओं का दिगम्बर रूप में रहना अनिवार्य है। इतिहास तथा परम्परा से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि अब तक दिगम्बर मुद्रा धारण कर आम रास्तों आदि पर विहार करने वाले जैन गुरुओं का अधिार अधुण रहा है। अन्य स्वच्छंद-प्रवृत्ति वाले के जीवन पर जो नियन्त्रण लगाना प्रत्येक सभ्य शासन का कर्तव्य है, वही नियम पवित्र जीवन वाले जैन श्रमणों पर लगाना विवेक शून्यता की पराकाष्ठा है। प्रत्येक बीमार को तथा नीरोग व्यक्ति को समान रूप से विरेचनचूर्ण देनेवाला वैद्य, बुद्धि शून्यों का कुलगुरु माना जायगा। परिग्रह-वाद के विपत्ति से जो बड़े बड़े राष्ट्र बहुत्व का व्यवहार भूल व्याघ्र वृत्ति धारण किये हुए सहार मार्ग में सलग्न हैं, उस विपत्ति का एकमात्र उपाय ऐसे अविचन, अहिंसक एवं उज्ज्वल जीवन वाले सत्ता से प्रवास प्राप्त करना है। जो वस्त्र धारण और आवश्यकता की बुद्धि को सभ्यता का अंग मानते हैं उन्हें गांधीजी का यह कथन ध्यान में लाना चाहिए "वास्तव में सभ्यता का अर्थ आवश्यकता को बढ़ाना नहीं है किन्तु स्वेच्छा से बुद्धि पूर्वक आवश्यकताओं को कम करना है।" इस कसौटी पर कसने पर दिगम्बर जैन मुनि ही सर्व श्रेष्ठ सभ्य मानव के रूप में मिलेंगे जिनके पास वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं का अभाव होने के साथ-साथ चर्मासन, चिलम, चमीटा आदि चीजों का चक्कर नहीं है। थोड़ा भी विश्व का बंभब अपनाते वाले मुनि दुर्गति के पात्र होते हैं ऐसा तीर्थंकर महावीर का कथन है। महर्षि कुन्दकुन्द ने लिखा है "जो दिगम्बर मुद्रा धारण करता है वह तिल तुप मात्र भी परिग्रह हाथों में नहीं लेता है। यदि वह थोड़ा बहुत परिग्रह धारण करता है तो दिगम्बर मुनि निगोद (नीच गति) में उत्पन्न होता है।" वास्तव में बात यह है कि उच्च पद में थोड़ा कलंक लगना महान् आत्म पतन का कारण है।

मुनि जीवन के सर्वधर्म में यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि उस महनीय पद को मार्ग दर्शन (dictate) करने की पात्रता साधारण स्तर के लोग में नहीं पायी जाती है। उस पद को स्वीकार करने की तैयारी की स्थिति में जब वह वानप्रस्थ आश्रम में था तब उनकी क्या

१ "Civilisation in the real sense of the term consists not in the multiplication but in the deliberate and voluntary reduction of wants".
Yarvada Mandir.

स्थिति थी, उस विषय में बैरिस्टर चपतराय इस प्रकार लिखते हैं "वह राजनीति या अन्य लौकिक बातों में सलाह तक नहीं देता है । उसने दुनिया से नाता तोड़ दिया है और अब वह पुन पीछे लौटकर देखना पसंद नहीं करता । अपने परिवार के गौरव की समस्या भी उसे आकर्षित नहीं कर पाती । अब उसकी शुद्ध आत्मा ही उसका कुटुम्ब बन गया है । वह किसी भी दृष्टि से भ्रियवारी नहीं कहा जा सकता । उसने करोड़ों की सम्पत्ति का त्याग किया है, अथवा राज मुकुटों को भी छाड़ दिया है ।

वह अमृत्य का पथिक जब सन्यस्त आश्रम को धारण कर लेता है तब ससार के पदार्थों के प्रति मृत सा हो जाता है और अपनी आत्मा के प्रति अत्यधिक जागृत हो जाता है, उस समय वह अपने को इतना समर्थ बना डालता है, कि हर प्रकार के कष्ट को बिना सक्लेश के सहन कर सके । अब वह दिग्गबर बन जाता है । अब उसका सारा समय पूर्णता

१ "He will not give advise on politics or any other worldly matters, he has left the world behind and does not wish to look back Even questions of family honour will not effect him his devine soul is his sole family now He is not a beggar in any sense of the term, indeed, he may have renounced millions, even the crown of a Emperor himself "

"When the Saintly recluse in the Vanprasth's stage has qualified himself for the life of hardships, implied in sianthood he discards the last vestige of raiment, the honcloth, and enters Sanyas (Sainthood or Asceticism) He is now dead to the world, but intensely alive within himself His whole time is now devoted to the attainment of the ideal of perfection and Godhood, and he applies himself with a single mind and purpose to it

He is like a great soldier and equips himself with every kind of weapon that is known to be useful with the powerful foe Meditation, contemplation, fasting and penances are his constant companions and he cares not if he gets food or not"

और परमात्मत्व के आदर्श की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा जाता है। और वह सारी शक्ति से तथा एकचित्त होकर एक लक्ष्य बना उसमें जुट जाता है। अब तो वह महान सैनिक के समान है; जो सर्व प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो जाता है, जो कर्म शत्रुओं से संग्राम करने में सहायक होते हैं। एकाग्रता, ध्यान, उपवास, तप उसके सतत साथी रहते हैं। उसे भोजन मिलता या नहीं इसकी वह परवाह नहीं करता।

ये तपस्वी शरीर की गाड़ी चलाने को उचित और निर्दोष आहार देते हैं। ये आत्मघात द्वारा शरीर को संहार के योग्य नहीं मानते हैं, इसका कारण यह है कि यदि पूर्णता उपलब्धि के पूर्व ही प्राणों का घात कर दिया जावे तो उसका बीज विद्यमान रहेगा और पुनः दूसरे रूप में शरीर का धारण होगा।^१

इन संतो पर ऐसे सत्पुरुषों पर शासन करने की इच्छा करने वालों को यह न भूलना चाहिए कि इन त्रिभुवन वदित पद को धारण करने वालों की धार्मिक आज्ञा के विरुद्ध अपने द्वारा बनाए गये कानून का त्रिशूल उठाने पर ये तत्काल आमरण अनशन रूप सुदर्शन चक्र उठाये बिना नहीं रहते हैं। दिगम्बर जैन मुनियों का इतिहास बताता है कि ये अपने पद को लाछिन करके दीन बनने के बदले में स्वयं को समाधि-मरण की अग्नि में समर्पण करने में कभी भी पश्चात् पद नहीं रहे हैं। ये आत्मा को अजर अमर अविनाशी विश्वास करते हैं। मृत्यु हमारे वस्त्र परिवर्तन कर नवीन वस्त्र धारण करने से अधिक महत्व नहीं रखती है। मिथ्यात्व की स्थिति में जीव शरीर के मरण को आत्मा का मरण मानता है, किन्तु सम्पत्त्व की दिव्य ज्योति जागृत होने पर अनतवार अग्नि में जलाए जाने पर वह अपनी आत्मा के अविनाशी स्वभाव पर तत्काल भी आश का आना नहीं मानता।

एक साधारण तर्क की जा सकती है। शासक चाहता है प्रजा

१. "If the body be destroyed by privation or suicide before that degree of perfection is attained, the seed of it will survive and again give rise to body in some form. This is why suicide is forbidden to a seeker after reality and truth"

कानून के अनुसार चले। शासक का भी कर्तव्य है कि पिता जैसे पुत्र का प्रेम पूर्वक पोषण रक्षण करता है तथैव पिता का रक्षण तथा हित संवर्धन करे। प्रजा के प्राणों का रक्षण और उसकी सम्पत्ति का डाकुओं-आदि द्वारा लोप न हो, यह कार्य शासक का रहता है। जैन धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले साधु के प्राण शरीर में नहीं रहते, उसका प्राण उसका धर्माचरण और अहिंसा पूर्ण स्वावलंबी जीवन है। उसके रक्षण में वह प्राणों को क्षण भर में न्योछावर करने को तैयार रह सकता है। उस साधु की सम्पत्ति है उसका 'पुण्याचरण और धर्म के अनुसार आचरण करना।' जैन धर्म इतना प्राचीन है उसके आदि का पता नहीं चलता। यदि वेद सर्व श्रमणों पर राज प्राचीन है और उनमें भी उनका उल्लेख पाया जाता सत्ता का कानून है, तब अत्यन्त प्राचीन परम्परा के द्वारा प्राप्त तथा प्रहार आततायी-अहिंसा के प्रकाशमें उज्ज्वल दिखने वाले जैन श्रमणों पना है का स्वतन्त्र विहार करके स्वपर कल्याण करने के अधिकार पर राजसत्ता का हाथ उठाने की सोचना

आतताइयों के अनुकरण करने से कम अनर्थ का कार्य नहीं होगा। यह कहा जा सकता है कि राज्यसत्ता सार्वभौम है, उसकी शक्ति अमर्यादित है, अतः उसके नियम निर्माणमें कोई भी बन्धन नहीं डाला जा सकता ?

इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि यह शक्ति का अधिक मूल्य आंकना है। कई ऐसे प्राकृतिक स्वत्वों की बात है, जिन पर सत्ता हस्तक्षेप नहीं कर सकती। जैसे सत्ता यह नियम बनावे कि केतकी के वृक्ष में कमल का फूल उगने लगे तो यह नियम निर्माण हास्य की वस्तु रहेगी और प्रकृति नियम निर्माताओं की जरा भी परवाह न कर अपने सनातन नियमानुसार काम करते जायगी। अतएव नियम निर्माण करते समय विवेक के प्रकाश में उचित अनुचित का ध्यान सर्वोपरि रखना आवश्यक है।

प्रकाश विद्वान वैरिस्टर देशबन्धु चित्तरंजनदास सन १९१८ में नागपुर हाईकोर्ट में आये थे, वहाँ उन्होंने लोकसभा द्वारा कानून बनाने की अमर्यादित शक्ति की आलोचना करते हुए कहा था कानून को अमर्यादित मानने में 'मे पार्लामेंट की कानून बनाने की शक्ति के विषय में क्षण भर भी विवाद नहीं करता हूँ।' एक बड़े विद्वान शास्त्रज्ञ ने कहा था कि 'पार्लामेंट को सर्व प्रकार के अधिकार हैं। इस विषय में इतना ही

अपवाद है कि वह पार्लामेंट स्त्री को पुरुष नहीं बना सकती है और न नर [को नारी ही। ऐसी बात इंग्लैंड में नहीं की जा सकती इसका यह कारण है कि इसके विरुद्ध पार्लामेंट का कानून है। यदि ऐसा न होता तो ब्रिटिश संविधान के मौलिक अधिकार इस विषय में अनुज्ञा प्रदान करते।” इससे न्याय निर्माण करने वाली संस्था की अमर्यादित शक्ति स्वीकार करना भद्दी भूल होगी, क्योंकि कितना ही अधिक अधिकार लोकसत्ता के हाथ में माना जाय किन्तु वह प्राकृतिक नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकती। अग्नि को शीतल, जल को उष्ण बनाना, किसी भी राज्य संस्था के सामर्थ्य की बात नहीं है, अतएव न्याय निर्माताओं को प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले मुनीन्द्रो के पथ में बटक नहीं बनना चाहिए अन्यथा उनका अमंगलमय अवसान प्रजा और शासक दोनों के लिए दुःखद होता है। अहकारी शासकों की अकड़ को जब प्रकृति मिट्टी में मिला देती है तब उसकी किसे याद आती है ?

जब हमने एलोर की कलामय गुफाओं के पास से जाते समय औरंगाबाद के निकटवर्ती स्थान 'खलताबाद' में औरंगजेब का मकबरा देखा, तब उसे देखते ही स्मरण आया कि जिसने अपने शासन मंद में भस्त हो हिन्दू जनता को अत्यन्त दुखी किया, अपने बाप शाहजहाँ को कंद किया तथा अपने भाई दारा को मरवा डाला वह अहकारी बादशाह इस मिट्टी की राशि में समा गया और आज उसका प्रेम पूर्वक स्मरण करने वाला कोई नहीं मिलता।

सत्कार्य करने वाले धर्मप्रिय सम्राट अशोक के निर्दोष जीवन और प्रजापालन के कारण लगभग २००० वर्ष के पश्चात् भारतीय शासन ने आज उसे पुनः सजीव बना दिया। शासकों को सदा यह सोचना चाहिए, कि उनके किसी कृत्य से प्रजा के निर्दोषी वर्ग को आस न हो तथा सत्ता को

१ “It has been said by a great constitutional lawyer ‘the Parliament has got every right, except that it can not make a man of a woman and the woman of a man. If people do not do it in England, it is because there is an act passed by the Parliament against it, otherwise the fundamental laws of the British constitution would allow it’.

Narayan Rao Vadiya's Case 1918, P 8

अपने तपस्वी जीवन व्यतीत करने में विघ्न न आवे। अपने स्वरूप और मामर्थ्य को भूलने वाले शासकों को प्रकृति इस प्रकार समाप्त कर देती है, जिस प्रकार दूध सागर अपनी उत्ताल तरंगों के द्वारा बड़े बड़े जहाजों को अपनी गोद में सदा के लिए छुपा लेता है।

अब तक जिन सत्तों के अधिकार आदि के विषय में शासन सत्ता की सद्भावना के विषय में चर्चा की गयी उनके अतस्यल पर प्रकाश डालना आवश्यक है। नीतिकार का कहना है "प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता और न प्रत्येक गज के गण्डस्थल में भुक्ता ही। जैसे प्रत्येक वन में चंदन का वृक्ष नहीं पाया जाता इसी प्रकार गुणपुञ्ज सत्तों की उपलब्धि सर्वत्र नहीं होती।" सत्तों का रूप धारण कर जगत को ठगने वाले बकराज के समान जगह जगह दर्शन देते हैं किन्तु इस सदृश सात्विक तथा पवित्र वृत्ति वाले सत्पुरुषों की प्राप्ति बड़ी कठिन है। इसका यह अर्थ करना अज्ञानता पूर्ण होगा, कि अब मुनीन्द्रों का दर्शन असंभव है। भगवान् महावीर ने कहा है कि अभी १८५०० हजार वर्ष पर्यन्त उत्कृष्ट अहिंसा का पालन करने वाले मुनीन्द्र पाये जायेंगे।

निर्ग्रन्थ ये मुनिराज बाह्य तथा अंतरंग परिग्रह रहित होते हैं, इसलिए इन्हें निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह की गाठ रहित कहते हैं। अशोक के शिलालेखों में दिगम्बर मुनियों को 'निगमठ' कहा है। निगमठ को बिना गाठ वाला भी कोई कोई कहते हैं; क्योंकि दिगम्बर होने के कारण उन्हें वस्त्रों की गाठ बांधने के फेर में नहीं पड़ना पड़ता।

मुनि जीवनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ मूलाचारमें लिखा है "वे मुनिराज मिथ्यात्व, वेद, त्रौष, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष हास्य रति (प्रीति) अरिति, शोक, भय, जुगुप्सता (ग्लानि), इन चौदह प्रकार के अंतरंग, तथा क्षेत्र (खेत) वास्तु (गृह) हिरण्य, (रुपया पैसा) स्वर्ण, धन, (गाय आदि) धान्य, दासी-दास, (सेवक सेविका), कुप्य (वस्त्रादि), भाड (वर्तन आदि) इन दस प्रकार के बाह्य परिग्रह रहित हैं। भगवत्त्व रहित हैं यथाजात अर्थात् माता के उदर से जन्मधारण करते ही प्राप्त दिगम्बर मुद्रा युक्त तैल मर्दन स्नानादि द्वारा शरीर की सेवा न करने वाले च्युत्सृष्ट-त्यक्त-देही होते हैं। ऐसे मुनिराज जिनेन्द्र के धर्म अर्थात् चरित्र की जन्मान्तर में साथ

ले जाते हैं ।^१

दिगम्बरत्व में कारण इन मुनियों को सर्व परिग्रह रहित बताने के हेतु कहते हैं, कि ये मुनिराज असि, मसि, कृषि, व्यापार, वाणिज्य तथा शिल्प रूप कर्मों से निवृत्त हो गए हैं, जिनोक्त धर्म के पालन में तत्पर हैं, इससे अल्पतम प्रमाण में भी परिग्रह की इच्छा नहीं करते हैं ।^२

इष्टे० ग्रंथों में दिग-श्वेताम्बर संप्रदाय के मान्य ग्रंथ आचारागसूत्र में दिगम्बर जीवन में पाई जाने वाली गुणराशि का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

“ जो मुनिराज वस्त्र रहित होते हैं, उन्हें यह चिन्ता नहीं रहती है कि मेरा वस्त्र फट गया है । मुझे दूसरा कपड़ा चाहिये । कपड़ा सीने के लिए सुई चाहिए । उसे यह भी चिन्ता नहीं रहती, कि मुझे कपड़े रखना है या फटे वस्त्र सीना है, जोड़ना है, पृथक् करना है, पहिनना है या मलिन वस्त्र को धोना है ।”^३

‘वस्त्र त्याग के पश्चात् पुन वस्त्र का ग्रहण करना योग्य नहीं है । कारण वस्त्र रहित भिक्षु जिन मुद्राधारक होता है । वस्त्र सहित साधु सुखी रहता है और वस्त्र रहित दुःखी रहता है, इससे ‘मे वस्त्र धारण करूँगा’ ऐसी भावना भिक्षु को नहीं करना चाहिए ।”^४

१ जे सब्बसगमुक्का अममा अपरिग्रहा जहा जादा ।

वोसद्वृत्त देहा जिणवर धम्म सम णोति ॥१५॥

अनगार भावना अधिकार ।^५

२ सब्बारम णियत्ता जुत्ता जिण देसि दम्मि धम्मम्मि ।

ण य इच्छति ममसि परिग्रहि वाल भित्ताम्मि ॥१६॥

३ जे अचेले परिवुसिये तस्स णं भिवसुस्स एव भवई—परिजिते मेनत्थे यत्थे जाइस्सामि, सूइ जाइस्सामि, सधिसिस्सामि, सोविस्सामि, उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहस्सामि, पाडगणिस्सामि ।’ (अ ६, सू ३६०, उद्देश्य ३)

४ उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—परिचरित्तसु वत्थसु ण पुणो चेलमादीए अचेलपवरे भिवसू जिणवरत्त्वधरे—सदा सचेलगगे सुखीभवदि । असुली चावि अचेलगो । अह तो सचेलगो होक्खामि इदि भिवसू ण चिन्तए ॥

अहिंसा महाव्रत

मुनिगो को महाव्रती कहते हैं, क्योंकि वे पूर्णतया अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह त्याग व्रत को धारण करते हैं। इनको बौद्ध धर्म में पचशील कहा है। जनक्यूशियस धर्म भी पचव्रतों को मानता है।^१

व्रत का स्वरूप सत्यायं सूत्र में लिखा है— “हिंसावृत्तस्तेषां ब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतेव्रतम्।” इस सम्बन्ध में अकल्क स्वामी ने लिखा है “अहिंसाया प्रधानत्वादादौ तद्वचनमितरेषा तत्परिपालनार्थत्वात्, इतराणि हि सत्यादीनि व्रतानि सस्यवृत्ति परिक्षेपवत् अहिंसा-परिपालनार्थानि” (तत्त्वार्थ राजवातिक पृ २६९) अहिंसा प्रधान है अतएव उसका सर्वप्रथम स्थान रखा गया है, अथ व्रतों का वचन उसके पालनार्थ है। जिस प्रकार धाय के रक्षार्थ बाड़ी रखी जाती है इसी प्रकार सत्यादि व्रतों के द्वारा अहिंसाव्रत का रक्षण होता है। जैन आगम की विशेषता यही है कि उसमें विशुद्ध रीति से अहिंसा के पालन को परम धर्म कहा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सब इस अहिंसा धर्म के परिकर हैं। अतएव वे सत्य आदि धर्म कल्याणकारी हैं, जो अहिंसा का पदानुसरण करते हैं और उससे नहीं टकराते हैं।

१ “Besides Confucious set up the ‘Wu Change’ or five ethical laws first ‘Jen’ or Benevolence second ‘Yi’ or Uprightness third ‘Li’ Propriety fourth ‘Chip’ or Wisdom fifth ‘Hsin’ or Faithfulness Lord Buddha and Mahavira Jain-both preached five ascetic rules or “Panchasilani” those of Buddha are first Abstaining from killing, second Abstaining from stealing, third Abstainig from adultery, fourth Abstaining from lying fifth Abstaining from drinking, and those of Jaina are, first Speak the truth, second Live a pure poor life, thurd Abstain from killing, fourth Abstain from stealing, fifth Observe Chastity Principles of such a moral nature are too copious to be enumerated in detail”

Prof Tan Yun Shan ‘The Spirit of Indian & Chinese Culture, Page 25

अहिंसा का
स्वरूप

अहिंसा के विषय में जैन दृष्टि यह है कि "राग, द्वेष
आदि विभावों-विकृतिषों का उद्भव न होने देना अहिंसा
है और रागादि की उत्पत्ति होना हिंसा है।"^१

इसे अमृतचन्द्र सूरि ने इस प्रकार लिखा है—

अर्थात् रागादि परिणामों का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है, रागादि की
उत्पत्ति हिंसा है। यही जिनवाणी का सार है।^२

इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंसा अहिंसा का मूल आधार रागादि
विकारों का होना, न होना है। भावों पर हिंसा अहिंसा निर्भर है।^३

भारतीय दंड विधान में प्राणघात का दण्ड भाव (Intention) पर
भूयस्यता आश्रित माना गया है।^४

१ रागादीण मणुष्या अहिंसकत्तं ति देसियं सम ।

तेसिं चे उप्पत्ती हित्तेति जिणेहि णिहिट्ठा । जयधवला ४.१२२

२ अप्रादुर्भावः खलु रागादीना भवत्यहिंसेति

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ पु० सि० ४४

३ One who forgets the sanctity of life and murders, is
punished by death sentence. Intention is the important
factor in the punishment of death. Section 300 defines mur-
der as "Except in the cases hereinafter excepted culpable
homicide is murder, if the act by which the death is caused
is done with intention of causing death, or—

Secondly—if it is done with the intention of causing
such bodily injury as the offender knows to be likely to
cause the death of the person to whom the harm is caused, or—
Thirdly—if it is done with the intention of causing
bodily injury to any person and the bodily injury intended
to be inflicted is sufficient in the ordinary course of nature
to cause death, or—

Fourthly—if the person committing the act knows that it
is so imminently dangerous that it must in all probability
cause death or such bodily injury as is likely to cause death
and commits such act without any excuse for incurring the
risk of causing death or such injury as aforesaid."

Vide Indian Penal Code.

भास्कर नदि वृत्त सुखबोधिनी टीका में लिखा है "सूक्ष्म एव स्थूल जीवो से उसाठस भरे हुए लोक में जैन मुनि का किस प्रकार अहिंसा व्रत बन सकता है । कहा भी है, जल में जीव है, भूमि में जीव है, आकाश में जीव है, जब जीवों के समुदाय से जगत परिग्रह है, तब मुनिराज कैसे अहिंसक रह सकते हैं ।" इस सन्देह का इस प्रकार निवारण किया है— यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान ध्यान में तत्पर मुनिराज के प्रमत्तयोग रागादि भावों का अभाव रहता है । सूक्ष्म जीवों का घात तो असम्भव है, स्थूल जीवा का रक्षण सम्भव है ।

महर्षि कुदकुद का कथन है "जीवों का सहार हो या न हो यदि अवस्थाचार-असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति है तो अवश्य हिंसा है । सावधानी पूर्वक प्रयत्न करने वाले साधु को हिंसा के निमित्त से बच नहीं होता है । ईर्ष्यामिति—अर्थात् गमनागमन में सावधानी रखने वाले साधु के अपने पैर के उठाने पर उनके चलने के स्थान में आकर कोई छोटा प्राणी दबकर मर जाय, तो भी उसके निमित्त साधुको रचमात्र भी बधनही कहा है, कारण जैसे अध्यात्म शास्त्र में मूछा-भ्रमत्व परिणाम को परिग्रह कहा है, वैसे यहाँ भी रागादि परिणाम का परिग्रह कहा है ।"

अतएव मूनकार के हिंसा की परिभाषा में—"प्रमत्त योगात् प्राण-

१ "ननु सूक्ष्म स्थूल जन्तुभिर्निरन्तर पूर्ण लोके कथं जैन तपस्विनाम-
हिंसा व्रतम व तिष्ठते ? तथा चोत्तरम्—

जत्रे जन्तु स्थले जतुराकाशे जन्तुरेव च ।

जन्तुमालाबुले लावे कथं भिक्षुरहिंसकः ॥

२ "नायमुपालभोस्ति । कुत इति चेत् भिक्षोर्ज्ञानं ध्यानं परायणस्य प्रमत्तयोगाभावात् । सूक्ष्माणां च पीडनासम्भवात् स्थूलानां परिहर्तुमशकत्वात्"
(पृ० १६२)

३ मरुदु व जियदु व जीवो आयदाचारस्स जिच्छिदा हिंसा ।

पायदस्स णत्थि वधो हिंसा मित्तण समिदोसु ॥१॥

उच्चालिदम्हि पादे इरिया— समिदस्स णिगम्मट्ठाणे ।

आवाधेज्ज कुल्लिगो मरेज्जत जोग मासेज्ज ॥२॥

ण हि लस्स तण्णिमित्तो वधो सुहुमो वि देसिदो समए ।

मुच्छा परिगहोति य अज्झप्प—पमाणदो भणिदो ।

तत्त्वार्थ—राजवतिक पृ २७५

व्यपरोपणं हिंसा" (अ ७, सू. १३, त. सूत्र) — प्रमत्त योग से प्राणी का घात करना हिंसा कहा है । यदि प्रमत्त योग कपाम भाव है तो जीव वध न होते हुए भी हिंसा है कारण नहीं आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति का घात होता है । यदि प्रमत्त योग नहीं है तो जीव घात होते हुए भी हिंसा का दोष नहीं है ।

इस प्रकार भाव के अधीन यदि हिंसा अहिंसा की स्थिति न होती, और जीव घात की ही हिंसा का मूलाधार मानते तो जगत् के किस स्थल में जाकर मुमुक्षु निर्वाण के साधन निमित्त उद्योग करता । यही बात पं० आशाधर जी ने भी लिखी है ।^१

इस सम्बन्ध में अमृतचंद्र सूरि का यह कथन बड़ा महत्व पूर्ण है कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा सूक्ष्म भी हिंसा का दोष नहीं आता, कारण उसका सम्बन्ध भावों के अधीन है, किन्तु भावों की निर्मलता संपादन निमित्त हिंसा के आयतनों—साधनों का त्याग करना चाहिये ।^२

उनने लिखा है—“अभिमान, भय, घृणा, हास्य, अरति, शोक, काम क्रोधादि सब हिंसा के ही नाभांतर है ।”^३

स्वामी समन्तभद्र जीवों की अहिंसा को जगत् में ‘परमब्रह्म’ कहते हैं । जिस आश्रय विधि में अणु प्रमाण भी आरम्भ पाया जाता है, वही अहिंसा का सद्भाव नहीं है । अतएव उस अहिंसा की उपलब्धि के हेतु उत्कृष्ट कष्टाधारी जिन भगवान् ने बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग किया और विकृत वेप और परिग्रह में अनुराग नहीं धारण किया ।

अहिंसा रसायन है अमृतचंद्र सूरि लिखते हैं “ यह अहिंसा थोड़ा रसायन है, जो अमृतत्व का कारण है ।”^४ उपनिषद् साहित्य और अमृतत्व की जननी है में एक कहा है कि याज्ञवल्क्य ने अपने बूढ़ापे में सन्यास लेते समय अपनी सम्पत्ति देने की बात अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी से कही । वह बोली “जिससे मैं अमृतत्व—अमर जीवन को

१ “विस्वजीवचिते लोके क्व चरन् कोप्यमोक्षयत्

भार्यक-साधनी व्रध-मोक्षो चेत्ता भविष्यताम् ॥” सांगार धर्मावृत”

२ सूक्ष्मापि न हिंसा खलु परवस्तुनिबन्धना भवति पुनः ।

हिंसायतननिवृत्तिः परिणाम विशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

३ अभिमान भय जुगुप्सा—हास्यारति शोक-काम-क्रो पायाः ।

हिंसायाः पर्यायाः... पु. सिद्ध्युपाय ६४॥

४ ‘अमृतत्व-हेतु भूत’ परममहिंसा रसायनम् ॥७८॥

नहीं पा सकती, उस सम्पत्ति को लेकर मैं क्या करूँगी ? अतः जिस अमृतत्व के लिए आप संपत्ति का त्याग कर रहे हैं उसका तत्व ही मुझे समझावें ।” तब याज्ञवल्क्य ने कहा ‘हे मैत्रेयी ! एक आत्मा ही दर्शनीय है, वही मुनने योग्य है, वह मनन करने योग्य है तथा निदिध्यास के योग्य है ।”

इसे पढ़कर आत्मा की चर्चा मात्र करने से लोग सोचते हैं, हमें अमृतत्व का द्वार प्राप्त हो जायगा । यह बात ठीक नहीं है । अमृतत्व की उपलब्धि के लिए अहिंसा मय जीवन आवश्यक है । यह अहिंसा आत्मा की वह परिशुद्ध स्थिति है, जिसमें न राग हैं न द्वेष हैं, न मान है न माया है ।

कोई कोई सोचते हैं कि सब प्राणियों के प्रति प्रेम अथवा स्नेह रखना ही अहिंसा है । बृहदेव की आशीर्वाद रूप मुद्रा को श्रेष्ठ अहिंसा की मुद्रा कोई कोई सोचते हैं ।

जैन दृष्टि अहिंसा के विश्लेषण के विषय में बहुत ही तीक्ष्ण है । उस प्रकाश में राग-भाव में अतः निमग्नता नहीं है । बाह्य वस्तुओं के प्रति गमत्व है । अतः वीतराग जातिकी प्रशान्त अतृप्ति मयी मुद्रा अहिंसा के भाव की अभिव्यजना करती है, स्नेह अथवा प्रेम की स्निग्ध सुनहरी ओरी बड़ी गहन मोहनी लगती है, किन्तु उसके वधन को दूर किए बिना सच्ची मुक्ति नहीं बही जा सकती है । लोक के प्रति विद्वेष की भावना निकृष्ट समझी जाती है और उसके प्रति अनुरक्ति को अच्छा माना जाता है, किन्तु मनीषी की श्रेष्ठ साधना दृष्टिसे वीतरागता की स्थिति ही श्रेष्ठ है । तुला की डबी एक तरफ झुकी तो द्वेष हो गया, दूसरी ओर गई तो राग कहलाया । पूर्ण सतुलन की स्थिति समान वीतरागता है । उस अवस्था में आत्मा ब्रह्मपद में अवस्थित होता है, विद्या के द्वारा कपाय दोषों का क्षय करता है, मित और शत्रु में समत्व भाव रखता है तथा आत्मलक्ष्मी का अधिपति बन जाता है । श्रेष्ठ अहिंसा वीतराग, वीतमाह, वीतद्वेष बनने में है । परिग्रह ले परिवार से परिगृहीत पुरुष स्वप्न में भी उस अहिंसा मय परब्रह्म को पूर्णतया प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता है ।

द्वेष रूप विकृति का परित्याग करना उतना कठिन नहीं है जितना कि रागका छोड़ना कठिन है । इस कारण जैनशास्त्रमें भगवान् को वीतराग कहते

हैं। वादीभसिंह सूरि ने लिखा है कि स्नेह का वधन ससारी जीवों के ससार पर्यन्त नहीं छूटता—‘स्नेह पाशो हि जीयाना मा ससार न मुचति’ ८,२२ क्षत्र (चूणामणि) महाराज जीवधर ने महाराणी गणप्यंदता के पुत्र सत्यधर को राज्यपद पर अभिषेक करने के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी के समवशरण में प्रवेश किया। सर्वज्ञ प्रभु की बदना के पश्चात् उन्होंने प्रभु की मनोज्ञ स्तुति में कहा था ‘हे वीतराग सर्व समष्टि रूप फलों के देने वाले इस ससार रूपी विष वृक्ष के राग रूप अकुर का उन्मूलन कीजिये।’ इससे यह स्पष्ट होता है कि राग-परणति ही सबसे अधिक भयंकर और नाशप्रद है।

अहिंसा महाव्रत को ‘पाणादिवादादो वेरमण’ अर्थात् प्राणघात को त्यागने को यह महाव्रत कहते हैं। महाव्रत की व्याख्या आचार्य प्रभाचंद ने इस प्रकार की है “महान जो व्रत है वह महाव्रत है। सत्त्व पूर्वक किया गया नियमव्रत है। पूर्णतया त्याग होने के कारण, महापुरुषों के द्वारा पाले जाने के कारण तथा महाकार्य सिद्ध करने के कारण इसे महाव्रत कहते हैं।” सम्पूर्ण त्रस तथा स्यावर जीवा के सम्यक् प्रकार संरक्षण निमित्त यह

१ महच्चत द्रवत च महाव्रतम् अभिसिद्धिं ततो हि नियमा व्रतम्। सत्त्वत्येन विरति सद्भावात् महद्भिरनुष्ठित्वात्, महाकार्यं ससाधकत्वाच्च महाव्रत मित्युच्यते। प्रतिक्रमण ग्रन्थप्रती ५० १०१

सत्त्वपूर्वक नियम करने से मन की दुर्बलता नहीं सताती है, कारण सत्त्व स्वयं मानसिक दुर्बलतापूर्वक होता है। स्वामी विवेकानन्द बीमार थे। घटे में चार छह बार जल पीते थे। बंदा ने बिल्कुल नहीं पीने का कहा। सत्त्व के बल पर जल छोड़ने में स्वामी विवेकानन्द थोड़े बूढ़ नहीं मालूम पड़ा। उनके शिष्य ने पूछा “आप तो घटे में पाँच छह बार जल पिया करते थे, उसे एकदम कैसे त्याग दिया?” विवेकानन्दजी ने कहा ‘मैंने मुना इस दवा के सवन करने से जल बन्द कर देना होना, तब दूध सत्त्व बन लिया कि जल न पीऊंगा। अब फिर जल की बात मन में भी नहीं आती।’ (पृ ३५४ अ ३६—विवेकानन्दजी के सग में) सत्त्वपूर्वक त्याग को हिंदी भाषी जनता में ‘आखड़ी’ भी बोलते हैं। यह शब्द अपूर्ण भी प्रतीत होता है, कारण मन में सिपिलता आते समय वह प्रतिज्ञा बाधर सड़ी हा जाती है।

परिज्ञान आवश्यक है कि उन जीवों का सद्भाव कहा पाया जाता है ? कब उनकी उत्पत्ति होती है ? इत्यादि बातों का ज्ञान हुए बिना केवल अहिंसा का नाम लेने से महाव्रत का पालन नहीं हो सकता । कोई कोई साधुपद स्वीकार करने के पश्चात् अनेक प्रकार के कष्ट भी महन करते हैं, किन्तु व्याघ्र चर्म आदि को अपना आसन बनाते हैं चारों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित कर बैठते हैं, लम्बे केशों को अपने मस्तक पर धारण करते हैं इत्यादि चर्मा जैन शास्त्र की दृष्टि से, कष्टों के मार्ग की दृष्टि से बाधित होती है, कारण ऐसे कामों द्वारा जीवों का रक्षण नहीं होता ।

‘क्षत्र चूडामणि’ में लिखा है कि, “पचाग्नि के मध्य में रहना सम्पत् तप नहीं है कारण उसमें जीवों का वध होता है वह तो ससार परिभ्रमण का कारण है । सच्चा तप वह है जिसमें किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचती है । वह तप आरम्भ की विवृत्ति द्वारा साध्य है । हिंसा रहित कोई आरम्भ नहीं होता है । आरम्भ की निवृत्ति तो निर्ग्रन्थों में ही पायी जाती है । कार्य से विमुख व्यक्ति जगत में कारण का अन्वेषण नहीं करता है । ससार परिग्रह से ही तो सबधित है अतः परिग्रह के ग्रहण द्वारा उसका क्षय नहीं होता है । रक्त से मलिन हुआ वस्त्र रक्त द्वारा शुद्ध नहीं होता है । निर्ग्रन्थता ही यथार्थ तप है इसके बिना अन्य तप ससार का कारण है । अरे ! मुमुक्षुओं की दृष्टि में यह शरीर तक हेय है तब अन्य पदार्थों में उपादेयता कहा से आ सकती है ?”

अतः दृढ सकल्प के द्वारा बड़ी से बड़ी प्रतिज्ञा पालन करने की सामर्थ्य आत्मा में उत्पन्न हो जाती है ।

१ “पचाग्नि मध्यम स्थान ततो नैवोचित-तप ।

जन्तुमारण हेतु त्वादाजवजव कारण ॥१३॥

तत्तपोयत्र जतूना सतापोनैव जातुचित ।

तच्चारम्भ निवृत्ती स्थानह्यारम्भो विहिंसन ॥१४॥

आरम्भ विनिवृत्तिश्च निर्ग्रन्थेस्वेव जायते ।

नहि वार्य-परीचीनो मृग्यते भुविकारणम् ॥१५॥

नैर्ग्रन्थ हि तपोन्यत्तु ससारस्यैव साधनम्

मुमुक्षूणा हि कायोपि हेयः विमपर पुन ॥१५॥

ग्रथानुबधी संसारस्तेनैव न परिक्षयी ।

रक्तेन दूषित वस्त्रं नहि रक्तेन शुध्यति ॥१७॥ सर्ग ६

जो इस अम में है कि अंतरंग तप ही साध्य है बाह्य तप की कोई आवश्यकता नहीं, उनके संदेह का निराकरण करते हुए कहा है "बाह्य तप के बिना अंतरंग तप नहीं हो सकता। अग्नि के बिना चाँवलो का भात नहीं बनता।" मुक्ति के मंदिर में प्रवेशार्थी मुनि को विशुद्ध तप के साथ निर्मल बोध एवं जिनेन्द्र का शरण लेना आवश्यक है। बिना सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी शासन द्वारा मार्ग प्रदर्शन प्राप्त हुए जीव को सम्यक पथ नहीं प्राप्त होना। सदाचार की उज्ज्वल अनेक बातों में जैनियों के समान बौद्ध धर्म में शब्द साम्य पाया जाता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से उनमें तार्त्विक निन्नता है। बौद्ध साधु प्रतिज्ञा करते हैं—
 शुद्ध अहिंसा का 'पाणातिपात्ता वेरमणी सिक्खयादं समादियामी—'
 पालन जैन मुनि में जीव हिंसा से विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ ही करते हैं (मिलिन्द प्रश्न पृ० ४०९)। जैन धर्मण भी कहते हैं हमारे जीव घात का परित्याग है—'पाणादिवादादो वेरमण', किन्तु वे इस कथन का अक्षरशः पालन करते हैं। बुद्धों के जीवन में ऐसा अहिंसा का का आचरण नहीं मिलता है।^१

१ न च बाह्य तपोहीनमभ्यंतर तपो भवेत्ता तद्गुलस्यैव विविलित्ति न हि वह्नयादिक बिना ॥ सर्ग ६ क्षत्र चूडामणि

२ At that time a great number of the Niganthas (running) through Vaisali from road to road, cross way to cross way, without stretched arms cried "Today Simha the general has killed a great ox, and has made a meal for the Samana Gotama. The Samana Gotama knowingly eats this meat of an animal killed for this purpose and has thus become virtually the author of that deed."

Vinaya Texts — S. B. E. Vol. xvii P. 116

"In the time of Buddha there was in Vaisali a wealthy general named Simha, who was a convert to Buddhism. He was a liberal supporter of the Brethren and kept them constantly supplied with good flesh food. When it was noised abroad that Bhikkus were in the habit of eating such food, specially provided for them the Tirthikas made the practice a matter of angry reproach. The master there upon announced to the Brethren the law that they were

घोड़ोंमें हिंसा का 'बुद्ध और बौद्धधर्म' में लिखा है "पावा में चेदीलुहारने बुद्ध समर्पण को मीठाचावल मीठीरोटियाँ तथा कुछ सूखा सुअरका मांस खिलाया, बुद्ध ने उस भोजन को खा लिया । तभी से बुद्ध को अतीक्षार हो गया था । सिंह सेनापति ने एक बड़े बैल को मार कर उसका मांस बनाया जिसे श्रमण गौतम ने यह जानते हुए भक्षण किया । विनय पिटक में कुछ भिक्षुओंको अपने उपदेश में बहते हैं "भिक्षुओ मछली तीन अवस्था में ग्राह्य है । पहले तुम उसे इस रूप में न देखो दूसरे तुम उसे इस रूप में न सुनो तीसरे तुम्हारे मन में इस प्रकार का संदेह ही न उत्पन्न हो कि यह तुम्हारे लिए ही पकड़ी गयी है ।" (पृ २२)

not to eat the flesh of any animal which they had seen put to death for them and about which they had been told that it had been killed for them or about which they had reason to suspect that it had been slain for them. But he permitted to the Bretheren as pure (that is lawful) food, the flesh of animals, the slaughter of which had not been seen by the Bhikshus, not heard of by them and not suspected by them on their account. In the Paliand Ssu-fen Vinaya it was after a breakfast given by Simha to the Buddha and some of the Bretheren, for which the carcass of a large ox was procured, that the Nirgranthas reviled the Bhikshus and Buddha instituted this new rule, declaring fish and flesh pure in three conditions. The animal food now permitted to the Bikshus..was tersely described as 'unseen, unheard, 'unsuspected.' Two more kinds of animal food were later declared lawful for the Bretheren, viz. the flesh of animals which had died a natural death and that of animals which had been killed by a bird of prey or other savage creatures".

Watters, 'On Yuan Ckwang's Travels in India'

629-645 A.D. Vol. P. 55.

Quoted in 'Yasastilak & Indian culture' P. 372.

'This was the Hina Yanist position in regard to the use of flesh as an article of food'. Ibid P. 373.

महाव्रत में लिखा है कि "नव दीक्षित एक मंत्री ने बारह सौ पचास भिक्षुओं सहित बुद्ध को आमंत्रित किया और मांस परोसा संघ ने बुद्ध के साथ वह मांस खाया ।" बौद्ध भिक्षुओं को तीन जीवर धारण करने वाले, चमड़े के ठुकड़े को रखने वाले कहा गया है । (मिलिन्द प्रश्न पृ ४२०) वरण बौद्धभिक्षु ध्यान या वदनाके लिए अपने पास एक चर्म खंड रखते हैं । इस वृत्ति का कारण जीव के सत्भाव असत्भाव विषयक भ्रान्ति का अस्तित्व है ।

ऐसी स्थिति में पूर्णतया अहिंसा महाव्रत के रक्षणार्थ जीवों के स्थानों आदि के विषय में सम्यक् अवगोच होना अपरिहार्य है । सूचितकार का कथन सत्य है —

दया दया सब कोई कहे दया न जाने कोय ।

जीव जान जाने बिना दया कहाँ वे होय ।

कई साधू व्याघ्र चर्म आदि को साय लिए फिरते हैं और समझते हैं कि इससे उनके साधुत्व को कोई क्षति नहीं पहुँचती है । यदि सर्वज्ञ सूर्य के उपदेग का प्रकाश मिला होता तो वे सहज ही जान सकते थे, कि शुष्क मांस में भी प्रतिक्षण अनन्तानन्त सूक्ष्म जीवों की सदा उत्पत्ति हुआ करती है । यदि उन जीवों के रक्षण की ओर वे प्रवृत्त नहीं होते तो साधु शब्द के द्वारा उनको बोध करना कैसे उचित होगा ? महाभारत वनपर्व में लिखा है, यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था "साधु कौन है ?" उत्तर में धर्मराज ने कहा था "जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो ।" इससे श्रद्धा अहिंसावादी के सिवाय दूसरा साधु बन सकता है यह कहना ठीक नहीं है ।

‘उत्तर राम चरित्र के चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम का वर्णन

"I prescribe O Bhikkhus that fish to you in three cases, if you do not see, if you have not heard, if you do not suspect that is has been caught specially to be given to you."

Vinaya Texts P. 177 vol XVII

1. "Newly converted ministar invited Budsha with 1250 Bhikkus and gave meat too" Samsha with Buddha ate it"—

Mahovagga VI-25-2

है । वहाँ वसिष्ठ ऋषि पधारे । उनके विषय में भाण्डायन शिष्य अपने साथी सौघातकी से कहता है "मये उण जाणिद वग्धो वा वियो वा एसो त्ति । ते परावडिदेणज्जेव सावराइया वलोडिया मडमडामिदा ।" में तो समझता था कि व्याघ्र या भेड़िया आया है, कारण जैसे ही वे आए उनने एक दीन गोवत्स को स्वाहा कर दिया ।'

ऐसी सामग्री और भी प्रस्तुत की जा सकती है, जिससे ज्ञात होगा कि साधुओं ने नहीं स्वाधुओं ने अपनी विषय लालसा वश सत्य को किस प्रकार विभिन्न रूप दिया है । इस प्रसंग में हिन्दू साधु श्री शिवब्रतलाल वर्मन एम ए एल एन की की मार्मिक आलोचना देना ज्ञान सवर्धन होग—हमारा यह विचार था कि वैदिक धर्म पुराना है और सबसे पुराना है । अपने पहले लेखों में हमने कई बार ऐसा भाव प्रगट भी किया है । परन्तु सोचने और समझने पर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जैनियों का मत वेदों के मत से कहीं पुराना है । पहले हमारा विचार था कि वैदिक धर्मन्यायी यज्ञों में पशु बध करते थे जैनी उससे विरोधी बन, परन्तु अब यह भाव नहीं रहा ।

"जैन धर्म अहिंसा का मार्ग है प्रेम का मार्ग है और दया का मार्ग है । इसलिए वह नया नहीं हो सकता । हाँ ! पशु बध जब देश में अधिकता से होने लगा उस समय से उसके विरोधी हो गए और जीव दया पर विशेष जोर देने लगे । उस समय से जैन धर्म को नया रूप दिया गया और गोमांस किंवा अन्य मांस न खाने की पृथा उसका मुख्य चिन्ह बन गई ।

"वैदिक धर्म वाले सदैव से मांस भक्षक थे । जहाँ तक हिंदू जाति के सदस्यों का सम्बन्ध है, वह प्राचीन समय से मांस भक्षण करने वाले पाए जाते हैं । इनके यहाँ नरमेध, अश्वमेध, गो मेध आदि यज्ञ करने की पृथा जारी थी, जिससे इनके ग्रन्थों में पड़े हैं । यहाँ तक कि रामायण महाभारत और स्मृतियों तक में कहीं इसका निषेध नहीं पाया जाता । हिंदू नर मांस भक्षक थे या नहीं इस पर सम्मति प्रगट करना कठिन काम है । फिर भी अब तक हिन्दुओं में ऐसे लोग पाए जाते हैं जिनमें इसके गौरव का गीत गाया जाता है । उदाहरण की रीति से अघोर पथ और शाक्तिक मत के वाममार्ग की ओर दृष्टि डालो । शाक्तिक धर्म में नर मांस महाप्रसाद कहलाता है । और अघोरी तो अब तक जलती

हुई श्मशानों के इर्द गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं कि कहीं कच्चा या पक्का नर मांस उनके हाथ आ जाय; वाल्मीकि रामायण में एक जगह वर्णन किया गया है कि जब भरतजी रामचन्द्र जी की खोज में चित्रकूट जाने लगे तो उनके लिए भारद्वाज ऋषि ने बछड़ा जिवह वध किया था। इससे अधिक और क्या प्रमाण दिया जा सकता है ? अब गोमांस का निषेध है, परन्तु हिन्दुओं में ऐसी कोई जाति न मिलेगी जो मांसाहारी न हो और किसी वर्ण के लोग इसके विरोधी हों। जैनियों की अवस्था इसके विरुद्ध है और शायद सारी दुनिया में जैन ही एक ऐसा संप्रदाय हो जो हर प्रकार के मांस को निषिद्ध समझता है।”

लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में लिखा है “महाभारत (शांति पर्व १४१) में यह कहा है कि किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा, और विश्वामित्र पर बहुत बड़ी आपत्ति आई, तब उन्होंने किसी चण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया और वे उस अमध्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुए। मनु ने अजीमर्त वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियों के उदाहरण दिए हैं जिन्होंने इस प्रकार के आचरण किए हैं।”

कुरल काव्य में लिखा है “अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है। सचाई का दर्जा उसके घाद है। नेक रास्ता कोनसा है ? यह वही मार्ग है, जिसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि छोटे से छोटे जानवरों को भी मरने से किस तरह बचाया जाय। तुम्हारी जान पर भी आ बने तब भी किसी की प्यारी जान मत लो। जिन लोगों का जीवन हत्या पर निर्भर है, समझदार लोगों की दृष्टि में वे मुर्दाखोरो के समान हैं।

देखो ! वह आदमी जिसका सड़ा हुआ शरीर पीप भरे घावों से पूर्ण है; वह पूर्व काल में खून बहाने वाला रहा होगा, ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।” (पृ० ८७-८९)

“भला उसके दिल में तरस कैसे आयगा जो अपना मांस बढ़ाने को दूसरे का मांस खाता है। व्यर्थ व्यर्थ करने वालों के पास जैसे धन नहीं ठहरता उसी प्रकार मांस खाने वालों के हृदय में दया नहीं रहती। जीवों की हत्या करना निःसंदेह क्रूरता है किन्तु उनका मांस खाना

एकदम पाप है ।

देखो ! जो पुरुष हिंसा नहीं करता और मांस नहीं खाता, सा सप्ताह हाथ जोड़कर उमका सम्मान करता है ।” (पृ० ७२-७४)

जैनाचार्य सोमदेव, रविपेण, देवसेन आदि वे श्र में वैदिक संप्रदाय द्वारा समर्पित अश्वमेध, गोमेध आ हिंसात्मक पक्ष यज्ञों की आलोचना पाई जाती है। सत्य दर्शन वाला वा मिथ्या हिंसात्मक यज्ञों को ठीक नहीं बताता। ‘यशस्तिलक’ ए आक्षेप इंडियन कचलर’ में जैनाचार्यों के हिंसाविरोधी कथन मिथ्या, भ्रमपूर्ण तथा अपवादकारी कहा गया है ।

यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिए कि सत्य महाव्रत तथा अहि महाव्रत के पालन करने वाले दिगम्बर जैनाचार्यों ने दूसरा वे समान दुभ पूर्ण एवं मिथ्या प्रतिपादन नहीं किया है। वे मिथ्या प्रतिपादन करते हैं आरोप अपवित्र दृष्टि का द्योतक है। वैदिक वाङ्मय स्वयं ही जैन निरु को सत्य समर्पित सिद्ध करता है। जैसा कि उपरोक्त वैदिक विद्वान् कथन से स्पष्ट होता है ।

जैनधर्म में मद्य, मांस, मधु सदृश पदार्थों का सेवन अहिंसा : प्राथमिक स्थिति में वर्जनीय कहा गया है। अहिंसा महाव्रती मुनि म शब्द श्रवण मांस से आहार लेना बंद कर देते हैं। वे परम वारुणिक मु राज प्रत्येक चेष्टा द्वारा जीव रक्षा का ध्यान रखते हैं। उनकी दृष्टि अहिंसा धर्म प्रधान है।

लोक में पापमुक्त इस अहिंसा की पूर्ण साधना के हेतु पूर्णतया मन वच वाय की चंचलता का त्याग आवश्यक है, किन्तु यह म जीवन बिताने का सरल नहीं है, इसलिए विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने का उपाय है ? उपदेश दिया गया है। ‘मूलाचार’ में लिखा है—भगवान् गणधर ने प्रश्न किया, “प्रभो, इस जगत में साधु किस प्रकार गमन करे

१ “It is evident that much of the information of Jain writers in regard to Vedic rites was based on hearsay & the only thing they definitely knew about them was the involved sacrifices of living beings, men as well as animals. Their statements are no doubt mala fide, misleading and erroneous, but similar inaccuracies are found also in the Matharvrittu of Samkhyakarika”

Yashatilaka & Indian Culture P 384 and 38

किस प्रकार खड़ा रहे ? किस प्रकार बैठे ? किस प्रकार शयन करे ? किस प्रकार भोजन करे ? किस प्रकार सभाषण करे ? जिससे पापों का बंध न हो ।” इस प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार समाधान किया गया, “सावधानीपूर्वक चलो, यत्नाचारपूर्वक खड़े रहो, यत्नाचारपूर्वक बैठो, यत्नाचारपूर्वक शयन करो, यत्नाचारपूर्वक निर्दोष भोजन करो, यत्नाचारपूर्वक बोलो, इस प्रकार पाप का बंध नहीं होता ।”^१ इस विवेकपूर्ण प्रवृत्ति का फल इस प्रकार का है, “दयापूर्वक प्रवृत्ति करने वाले साधु के नवीन कर्म का आगमन नहीं होता और प्राचीन कर्म की निजंरा होती है ।”^२

मांसभक्षी के पास जो लोग मांस भक्षी हैं, शिकार भी खेलते हैं, उनमें सदाचार कैसा ? सदाचार का सद्भाव मानना भयंकर भ्रम है । ‘अनगार धर्माभूत’ में लिखा है “जिसके अंतःकरण में जीव दया का आभास नहीं है उसके उज्ज्वल चरित्र कैसे हो सकता है ? जीव हिंसक की कोई भी क्रिया, कल्याणदायिनी नहीं होती ।”^३ कवि का कथन है “यदि हृदय दया भाव से पूर्ण हो तो सफलता के लिए उपवास आदि का कष्ट उठाना आवश्यक नहीं है । यदि हृदय करुणा पूर्ण नहीं है, तो सफलता के लिए अनुशन आदि करना व्यर्थ है ।”^४

इस अहिंसा की यथार्थ आराधना स्थावराद शासन में ही बन सकती है । यदि शरीर और आत्मा में सर्व पृथक्पन्ना माना जाय तो शरीर के विनाश होने पर जीव का नाश नहीं होगा, इस दृष्टि से हिंसा का दोष कभी भी नहीं लगेगा । कसाई गाय के शरीर का नाश करता है उस

१ कथं चरे कथं चिठ्ठे कथमासे कथं सये

कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण वज्झुदि ॥१२१॥

२ जदं चरे जदं चिठ्ठे जदमासे जद सये ।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झई ॥१२२॥

३ जदं तु चरमाणस्स दया पेहस्स भिक्खुणो ।

णवं ण वज्झदे कम्मं पोरणं च विधूयदि ॥१२३॥ मूलाचार

४ यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः ।

न हि भूतद्रूहा कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥ ४, ६ अ. प.

५ मनोदयानुविद्धं चेन्मुधा विलश्यामि सिद्धये ।

‘मनोदयापविद्धं चेन्मुधा विलश्यामि सिद्धये ॥४, ७ अनगार धर्माभूत

एकांत शासन में शरीर में स्थित आत्मा सर्वथा पूषक है इसलिए उसपर कोई प्रभाव नहीं होता, जैसे दीपक के बुझने से घट का नाश नहीं होता क्योंकि दोनों अलग अलग हैं । सर्वथा शरीर और आत्मा की भिन्नता मानने पर अमर्यादित शरीरों का संहार करने पर भी हिंसा का दोष नहीं लगेगा ।^१

कदाचित् आत्मा और शरीर का पूर्णतया अभेद माना जाय तो देह के विनाश होने पर उससे अभिन्न आत्मा का भी नाश होगा । ऐसी स्थिति में आगामी जीवन में सुख और शांति के लिए किया गया धर्म का पालन व्यर्थ हो जायगा क्योंकि शरीर के नष्ट होने के बाद उससे अभिन्न आत्मा भी नष्ट हो जायगी इसलिए धर्म का फल अनुभव करने वाला कोई भी न रहेगा ।^२

इसलिए शरीर और आत्मा में किसी अपेक्षा से भेद और किसी अपेक्षा से अभेद मानना होगा । संसारी जीव के मरण होते समय स्थूल शरीर का नाश हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर युगल अर्थात् तैजसक-सर्माण शरीरों का विनाश नहीं होता । वे आत्मा के साथ रहते हैं । शरीर को पीड़ा देने पर जीव दुखी होता है इसलिए अहिंसा का आश्रय लेना आवश्यक है ।

एकान्त रूप से यदि जीव द्रव्य को बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिक मान लिया जाय तो हिंसा करने का संकल्प करने वाला पहले नष्ट हो जायगा दूसरे क्षण में जो हिंसा करेगा वह जीव हिंसा का संकल्प नहीं करने वाला होगा । हिंसा का संकल्प करने वाला तथा हिंसा करने वाला जीव बंधन को नहीं प्राप्त करता है क्योंकि उपरोक्त जीव क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय क्षण में नष्ट हो जायगे । बंधन में फंसने वाला जीव ऐसा विचित्र होगा जिसने न हिंसा की है न हिंसा का इरादा ही । चतुर्थ क्षण में उत्पन्न होने वाला जीव छूटता है बंधन वाला नष्ट हो चुका इसलिए बंधन वाला छूटा यह वाक्य नहीं कहा जा सकता ।^३

१ आत्म शरीर विभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः ।
कामबधे हन्त कथं तेषां संजायते हिंसा ॥

२ जीववपुषोरभेदो येषामेकान्ति को मतः शास्त्रे ।
कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं धार्यः ॥

३ हिनस्त्यनभिसंधात् न हिनस्त्यनभिसंधिमतः ।
बध्यते तद्द्वयापेतं चिरं बद्धं न मुच्यते ॥५१॥ देवागमस्तोत्र

एकान्त नित्य पक्ष मानने पर भी व्यवस्था नहीं बनेगी क्योंकि नित्यता और परिवर्तन में मूलक मार्जार सदृश विरोध है ।^१

इस आत्मा के विषय में गीता में लिखा है, "अर्जुन ! यह आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, यह था, होगा, अथवा है, ऐसी बात नहीं है ।

गीता की दृष्टि की समीक्षा किन्तु यह जन्म रहित नित्य शाश्वत तथा प्राचीन है ।^२ शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता । इस-

लिए नाशरहित तथा अप्रमेय आत्मा के हेतु हे अर्जुन !

तू युद्ध कर । जो इस आत्मा को हत्यारा कहता है अथवा जो इसे हतमानता है वे दोनों इसे नहीं जानते यह आत्मा न तो नष्ट होता है और न नष्ट किया जाता है ।^३

इस कथन के अनुसार आत्मा और शरीर को सर्वथा पृथक् मानना होगा । ऐसी स्थिति में कोई गीता की भवितव्य निरन्तर जीवों का संहार करे, नरबलि करे, गोवध करे तथा और भी राक्षसीय कृत्य करे तो उसका हाथ कैसे पकड़ा जायगा ? विवेक के न्यायालय में उसका वकील बहुसंख्य करते हुए कहेगा कि शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होती ऐसा उज्ज्वल उपदेश गीता से प्राप्त होता है । शरीर नाशवान है उसका मैंने नाश किया, है; आत्मा सर्वथा अविनाशी है नित्य ही उसका मैं नाश करना चाहूँ तो भी नहीं कर सकता इसलिए जीवघात करते हुए भी मेरे पक्षकार को कोई भी दोष नहीं लगता है । ऐसी स्थिति में लोक व्यवस्था और शांति तथा आनंद का स्वप्न में भी दर्शन दुर्लभ हो जायगा । प्रत्येक स्वेच्छाचारी सत्पुरुषों का

१ नित्यैकान्त पक्षेऽपि विक्रमा नोपपद्यते ॥३७॥ देवागमस्तोत्र

२ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित् अजो

नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ कजोपनिषद्

३ अन्तर्बत इमे देहा नित्यस्योत्ता शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतौ नार्यहति न हन्यते ॥२॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-न्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः ॥

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥३॥

गीता—श्लोक १८ से २० तक अध्याय २

संहार करते हुए गीता का सहारा ले दण्ड मुक्त होने का प्रयत्न करेगा। "न हन्यते, हन्यमाने शरीरे" इस नियम के अनुसार दो महायुद्धों की अग्नि को प्रज्वलित करने वाले जर्मनी पर नैतिक दृष्टि से क्या दोष कहा जा सकेगा ? वह कहेगा "शरीर नाशवान था उसका नाश हुआ, शरीरी आत्मा का नाश नहीं होता इसलिए मैंने क्या बुरा किया?" इस तर्क पद्धति का आश्रय लेने पर सर्वत्र अराजकता तथा असंतोष आदि का अधिकार छा जायगा। सन १९१४ के महायुद्ध में चार करोड़ चौदह लाख पैंतीस हजार मनुष्य मृत्यु की गोद में सो गए थे। सन १९४५ में महायुद्धों का अवसान होने के पूर्व लगभग तीन करोड़ से अधिक मनुष्य मृत्यु के ग्रास बन गए, लगभग दस करोड़ घायल और क्षति ग्रस्त हुए। करोड़ों घर स्वाहा हो गए। यदि इन मनुष्यों के शरीर का ही नाश हुआ और आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ा तो पुनः महायुद्ध के बादलों को विश्व के नभोमंडल में एकत्रित होते देखकर सभी सत्पुरुष क्यों चिन्ता कर रहे हैं ? इसलिए यह आवश्यक है कि गीता की एकांत दृष्टि का अवलंबन न लेकर स्याद्-वाद शासन की समन्वय पूर्ण दृष्टि का आश्रय लिया जाय।

अहिंसा पर अने- तीर्थंकर महावीर ने शुद्ध दृष्टि से (निश्चयनय से)
कात की संतुलित आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न माना है, इसलिए
दृष्टि गीता का कथन शुद्धनय की अपेक्षा सुसंगत और तर्क-
शुद्ध अनुभव गोचर होता है। जैनशासन में एक दूसरी
दृष्टि भी जिसे व्यवहारनय कहते हैं मानी गई है। इस व्यवहार दृष्टि
की अपेक्षा देह और देही में कश्चित् एकता भी है। इसका कारण यह
है कि शरीर को अनुकूल प्रतिकूल सामग्री मिलने पर उस प्रकार का संवे-
दन होता है, मधुर आहार मिलने पर भोक्ता जीव आनंदित होता है,
विषादि विरुद्ध वस्तु मिलने पर क्लेशित होता है। सुख की या दुःख की
उस रूप में गणना करना या न करना व्यक्ति की मनोभूमिका पर निर्भर
है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सुख और दुःख की कल्पना पागल का

"Before it (war) was over in 1945 more than thirty million persons in all parts of the world said 'good-bye' to life. More than thirty million wounded, hurt, incapacitated, millions of homes smashed, atom bombs dropped in two cities; hopes destroyed, ideals soured, moral values questioned".
Louis Fischer: Life of 'Mahatma Gandhi' P. 377.

प्रलाप है। यथार्थ बात यह है कि सुसंस्कृत मनोवृत्ति वाला मानव आनन्द अथवा असुख का सहज ही विश्लेषण कर सकता है। अतः जैन समाज में व्यवहार दृष्टि से आत्मा और शरीर में एकता भी मानी गई है।

जगत का लोक व्यवहार लेन देन, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, सदाचार, दुराचार का भेद आदि व्यवहारिक दृष्टि की मानने पर सुसंगत होता है। तत्त्व का प्रतिपादन भी इस व्यवहारनय के जीवित रहते हुए ही हो पाता है। निश्चयनय तो परमार्थ सत्य को बताता है किन्तु उस स्थल तक पहुँचने के लिए व्यवहार दृष्टि रूपी सीढ़ी का साहाय्य लेना आवश्यक है।

अतः व्यवहार और निश्चय पर संतुलित दृष्टि रखने वाली जैन विद्या के प्रकाश में कुरूप्येन में हुए अर्जुन निमित्तक नर सहार से अर्जुन की पूर्णतया उत्तरदायित्व उन्मुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन दृष्टि अर्जुन को संप्राम भूमि छोड़ घर में बैठ रहने की प्रेरणा करती है। जैन धर्म में गृहस्थ आवश्यकता पड़न पर विरोधी हिंसा जैन दक्षिण वाला करता है। वह उसके लिये पूर्णतया परिहार्य नहीं है। गृहस्थ विरोधी जब तक कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम में है तब तक उसका हिंसा का भागी कर्त्तव्य है कि वह न्याय के प्रकाश में अपने उत्तरदायित्व नहीं है। वा पूर्णतया रक्षण करे। अतएव जैन दृष्टि के प्रकाश में भी अर्जुन क्षत्रिय वृत्ति का ही आश्रय ल न्याय का परिमाण करता। वह

देव्य का उपदेश नहीं देता है, क्योंकि जैन शास्त्र में दीनता भय आदि की हिंसा को सत्तति बताया है। इतना अवश्य है कि गृहस्थाश्रम में होने वाले कार्यों से जो कर्मों का आस्त्रव होता है उसका क्षय करने के लिये निर्ग्रन्थ मुनियों की सेवा समय योग्य तपश्चर्या का करना बताया है। तपस्या की अग्नि के द्वारा आत्मा के चिरसंज्ञित दोष दूर हो जाते हैं और फिर वह शुद्ध स्वर्ण के समान शाश्वतिक परिशुद्धता-पूर्ण रहा आता है।

इस विरोधी हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये एक दूसरे उदाहरण पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। एक श्रेष्ठ सतराज अहिंसा महाव्रती मुनि आत्मचित्तन में निमग्न है, इतने में पास के अजायबघर से कोई सिंह पिजड़ा तोड़कर निकला और वह मुनिराज पर आक्रमण करने का है उस समय धार्मिक जैन क्षत्री वा कर्त्तव्य होगा कि उन दया के देवता मुनि राज की रक्षा के लिये अपनी गोली का प्रयोग कर उस सिंह से मुनिराज की रक्षा करे। इस सत्प्रयत्न में सिंह के मरने से वह नहीं डरता। यहाँ उस गोली

चलाने वाले गृहस्थ के भाव मुनिराज के प्राणों की रक्षा करना है, यद्यपि इसका उस समय गोली का उपयोग किये बिना अन्य उपाय नहीं है। वह संकल्प पूर्वक शेर को नहीं मारता है; उसका संकल्प-इरादा (Intention) मुनिराज के प्राणों का रक्षण करना है। अतएव शुभ भावों के परिणाम से वह पुण्य कर्म का बंध करेगा।

जैन पुराणों में एक कथा आई है। एक मुनिराज जंगल की एक गुफा में ध्यान करते थे। वहाँ एक व्याघ्र और जंगली शूकर का सहसा आना हो गया। जन्मान्तर के विशेष संस्कार वश व्याघ्र के भाव मुनिराज को मार डालने को हुये और वन शूकर के भाव उनकी रक्षा के हुये। व्याघ्र आक्रमण ही करना चाहता था कि शूकर ने उसके ऊपर आक्रमण कर दिया। दोनों में भीषण लड़ाई हुई। उसमें क्षत विक्षत होकर दोनों मर गये। बाह्य कार्य देखने में दोनों का एक था, लड़े दोनों, मरे दोनों, लेकिन भाव भिन्न भिन्न थे। अतः उसका फल पृथक् हुआ। बराह ने देव पद प्राप्त किया और शेर ने नरको के दुःख भोगे। अतः गृहस्थ यदि धर्म और नीति से अनुमोदित पथ पर चलते हुए संप्राम भूमि में अवतीर्ण होता है, तो उसका कार्य गृहस्थ धर्म के प्रतिकूल नहीं कहा जायगा।

सीता का रावण के द्वारा अपहरण होने पर यदि रामचंद्र चुपचाप अयोध्या में बैठे रहते, और यह सोचते कि प्रतापी रावण से युद्ध छेड़ने पर अगणित मानवीयों का सहार करना पड़ेगा, इससे अच्छा है कि एक सीता की रक्षा का बिनार छोड़ दूँ, तो यह महान निदनीय कार्य होता। जैनधर्म ऐसी अन्यायपूर्ण मनोवृत्ति को बड़े भारी दोष का कारण कहता है। न्याय के पथ में प्रवृत्ति करते समय अगणित नर समुदाय का विनाश एक जैन देख सकता है, किन्तु अहिंसा के नाम पर यह शौर्य और पराक्रम को बलकित करने वाला कार्य न करेगा। यदि करेगा तो जैन धर्म उसे गृहस्थोचित स्वीकार नहीं करेगा।

साधक की सामर्थ्य भेद से गृहस्थ और मुनि के जीवन की सीमायें पृथक् पृथक् हैं। गृहस्थ होते हुए यदि वह मुनि का मार्ग अपनाने लगे तो बड़ी अव्यवस्थिता होगी। जिसकी कपायें शान्त हो गयी हैं, जिसकी आत्मा में वैराग्य का मूर्य जग गया और मोह की अधियारी भाग गयी है, वह मुनि-पद को प्राप्त कर उस अहिंसा महाव्रत को पालेगा जिसके समक्ष शत्रु मित्र का भेद नहीं है।

हिंसा के १०८
कारण

इस अहिंसा के सारभ सपन्न उद्यान की शोभा को नष्ट करने के १०८ कारण हैं उन कारणों का परित्याग करने से यह जीव पूर्ण अहिंसामय बन सकता है। हिंसा के भाव क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप हैं। वे मन वचन तथा काय से उत्पन्न होते हैं। इनमें कृत कारित तथा अनुमोदना का सम्बन्ध पाया जाता है। ये प्रत्येक भेद सरभ, समारभ तथा आरम्भ रूप उपभेदों से युक्त हैं।^१ इस प्रकार १०८ भेद बनते हैं। त्रौघादि चतुष्टय में मन वचन काय का गुणा करने से १२ भेद होते हैं, उनमें कृत कारितादि का गुणा होने पर २७ की संख्या आती है। इसमें सरभ आदि ३ भेदों का गुणा करने से १०८ हिंसा के द्वार जात होते हैं। यही बात आत्मशुद्धि निमित्त पढ़े जानेवाले आलोचना पाठ में कही गयी है—

“समरभ समारभ आरभ, मन वचन कीने प्रारम्भ।

कृत कारित मोदन करके, त्रौघादि चतुष्टय धरि के ॥

शत आठ जु इन भेदन तें अथ कीने पर छेदन तें।

तिनकी क्या कहू कहानी तुम जानत केवल जानी ॥”

इन १०८ पाप सचय के निरोध के लिए जिनेन्द्र की १०८ माला वाली जाप जपी जाती है क्योंकि उन आसव के कारणों के लिए जिनेन्द्र का स्मरण सावर रूप है। महाव्रती मुनि १०८ प्रकार से हिंसादि पापों का त्याग करते हैं इससे दि० जैन मुनियों के नाम के आगे १०८ का अंक लिखने की पद्धति पायी जाती है।

महाव्रती मुनि पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, तथा चन-स्पतिज्वाय वाले पंच स्थावरकाय एकेन्द्रिय जीवों का रक्षण करते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय भेदवाले प्रस जीवों की अहिंसा से ही सुख भी पूर्णतया रक्षा करते हैं। यह कार्य मन, वचन, वाय तथा कृत, कारित एवं अनुमोदन द्वारा करते हैं।

१ सारभ का भाव है प्राणघात में प्रसन्न व्यक्ति का प्रयत्नशील होना। समारभ का भाव साधन सामग्री का संग्रह करना। आरभ का भाव कार्य में प्रवृत्ति रूप है ॥

“प्राणव्यपरोपणादियु प्रमादवत् प्रयत्नावेश सारभण सारभ इत्युच्यते। साध्याया क्रियायाः साधनानां समभ्यासीनरण समाहरः समारभण समारभ इति वक्ष्यते। प्रवर्तन प्रक्रमणमारभणमारभ इत्याख्यायते ॥”

सुखबोध तत्त्वार्थ वृत्ति पृ० १४०

इस अहिंसा के द्वारा ही विश्व में मुग्न का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। हिंसा के कारण नरक की दुनिया बसाई जाती है। ज्ञानार्णव में लिखा है "इस जगत में जो जीवा के दुःख नाश भय के कारण दुर्भाग्यादि का दर्शन होता है वह सब हिंसा से ही समझना चाहिए। हिंसा के त्याग से क्षण भर में जीव का जीवन आश्चर्यप्रद उन्नति को प्राप्त होता है।"

विपत्ति आने पर वह महाव्रती साम्य धारण करते हुए दूसरा को दोष न दे अपने ही पूर्वकृत कर्मों से उदय को उसका कारण मानता है। तथा अपने अतिक्रमण को समझाता है 'आत्मनः' जरा विचार, इस संकट का कारण तेरे सिवा और कौन है ?'

इन महापुरुषों से भिन्न परिग्रह के पक्ष में निमग्न तथा विविध आकुलताओं के केन्द्र गृहस्थ की स्थिति होती है। वह तेजस्वी वृत्ति को धारण कर लोक की समस्याओं को मुलक्षता है। यदि वह तेज को भुला दे तो उसकी जीवन यात्रा तथा उसके आश्रितों का संरक्षण कैसे सम्यक् रूप में होगा जिस प्रकार तेज युक्त अग्नि पर पैर रखने का किसी का साहस नहीं होता उसी प्रकार शीर्ष और पराश्रम के पुंज वीर पुरुष के पास उपद्रवी लोग आने से भय साते हैं। आचार्य सोमदेव ने बड़े अनुभव करुणा का एकांत की बात लिखी है— 'एकांत रूप से करुणा में शासन में बाधक है तत्पर नरेन्द्र अपने हाथ में रखी हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता ?' उनमें यह भी लिखा है 'जो नरेश प्रतिकूल वृत्त वालों के प्रति पराश्रम पूर्ण नहीं रहता है वह मृत मानव सदृश है।' ^१

जो नरेश अपराधियों पर यम के समान अपना दण्ड प्रहार करता है उसके राज्य में प्रजा अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती तथा त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम स्वरूप फलात्त्य विभूतियों की वृद्धि होती

१ यत्किञ्चित्ससारे शरीरिणा दुःख शोकभय बीजम् ।

दुर्भाग्यादि समस्त तद्विह्या संभय ज्ञेयम् ॥ १२० पृ. ज्ञानार्णव

२ एकांतेन धारण्यपर करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥

नीतिवाक्यामृत पृ. ७७, सूत्र ३५

३ स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥ पृ. ७८ सू. ३९

पराक्रम के प्रसंग में बाहुबलि के संदेश बाहक ने जो वाणी सम्राट भरत को सुनाई थी वह महत्वपूर्ण है । महाकवि जिनसेन कहते हैं “यह शरीर तो त्याज्य है किन्तु यश रूप धन की प्राप्ति करना चाहिए । युद्ध में विजय होने पर जयश्री मिलेगी । यह रणोत्सव महान फल वाला है ।” इस विवेचन से अहिंसावादी तथा अनेकात दृष्टिका अवलम्बन लेनेवाले गृहस्थ का वर्तव्य स्पष्ट हो जाता है, इसलिये आत्म शान्ति के मंगल हेतु रूप आध्यात्मिक दृष्टि कोण को स्वार्थवश लौकिक सग्राम आदि में सहायक बनाना तर्क संगत नहीं लगता ।

आध्यात्मिक दृष्टि का उपयोग असीम पूर्ण जीवन पर अंकुश लगाने के लिये है । उससे असीम का पोषण होते देख ऐसा लगता है कि जल ने अग्नि बुझाने की विशेषता का परिणाम कर पेट्रोल का रूप धारण कर लिया है । रूप तथा रंग में जल और पेट्रोल समान से दिखते हैं । जल अग्नि का दाह दूर करता है, वह दुर्वास मुक्त है, वह जीवन है । ऐसा पेट्रोल नहीं है । यही बात सच्चे अध्यात्म में तथा कृत्रिम आध्यात्मिक चर्चा में चारितार्थ होती है ।

अतः अर्जुन को आत्मा का वैभव बताते हुये हिसन कार्यों में प्रेरणा करना जल का पेट्रोल रूप में परिणमन करना सरीखा लगता है । रागद्वेष प्रवृत्तियों के निर्मूल बनने के लिए अध्यात्मवाद है उनके सर्वधन के लिए नहीं । लौकिक कार्यों के लिए व्यवहारिक दृष्टि का आश्रय लेना उपादेय है ।

अहिंसा के विषय में जैन ग्रंथ में एक कथा आई है । अपनी देश के मृगसैन नामक धीवरने एक दिगम्बर जैन मुनि का उपदेश सुना । इससे उस हिसक के मन में कुछ कष्टनाक भाव जगा किन्तु उसका व्यवसाय जीव धात का ही था, वह क्या नियम ले सकता था? विद्वान् मुनिराज ने उससे कहा ‘तू जाल में आई हुई पहली मछली को नहीं मारना, इतना भी अहिंसा श्रत तेरे लिए अभी हित प्रद होगा ।’ दूसरे दिन मृगसैन ने नदी में जाल फैलाया, एक बड़ी मछली पकड़ में आई, प्रतिज्ञा के अनुसार उसे जल में छोड़ दिया । पुनः वही मछली जाल में फंसी

१ कलेवरमिदं त्याज्य अर्जुनीय यतो धनम् ।

जयश्रीविजये लभ्या नाल्पोदकी रणोत्सवः । महापुराण ३५-१४४

दिया । राजपुत्र को जलचर जतु खा गया किन्तु सत्यव्रती अहिंसक यमपाल की देवी न पूजा की । इस प्रकार इस अहिंसा की आराधना द्वारा आत्मा का अवर्णनीय कल्याण होता है । महान सती के युग में लोक कल्याण के लिए अहिंसात्मक प्रवृत्ति का उपदेश दिया जाता था, आज उसका स्थान म हिंसा का नरक निर्माण करके लोक उद्धार के लिए मधुर योजनाएँ बनाई जाती हैं, जिससे इष्ट सिद्धि नहीं होती, इसलिए अहिंसा के द्वारा ही जीव का कल्याण होता है यह बात प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में मजबूती से आना चाहिए । सद्गुरु कहते हैं—“समस्त सिद्धांतों का हृदय

सर्व शास्त्रों की उत्पत्ति स्थान तथा व्रत, गुण, एवं सर्व शास्त्रों का शील आदिका पुञ्जीभूत सार अहिंसा है ।” इस अहिंसा हृदय की रक्षा के लिए जिन भगवान ने पञ्चविध भावनाओं का प्रतिपादन किया है, वे इस प्रकार हैं—लौकिक लालसाया मन के निग्रह रूप मनोगुप्ति, वाणी के निग्रह रूप वचनगुप्ति, गमन संबंधी सावधानी—ईर्ष्या समिति, पुस्तक आदि धर्म के साधनों का यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना, आदान—निक्षेपण समिति तथा आलोकित पान भोजन अर्थात् शोधकर भोजन का ग्रहण करना । इन पंच भावनाओं से अहिंसा का पोषण होता है ।^१

अनगार धर्माभूत में लिखा है कि “आत्मा के निर्बल भावों को धृति पहुँचाने के कारण असत्य समापण चारों आदि का भी हिंसा में अंतर्भाव है । अतः ज्ञानियों के लिए उम अहिंसा का असत्यादि के त्याग रूप पंचविध निरूपण किया है ।”^२

१ सर्वेषां समयानां हृदयं सर्वं सर्वं शास्त्राणाम् ।

व्रतगुण शीलादीनां पिण्डं सारोपि चाहिंसा ॥

२ वाङ् मनोगुप्ताद्यादान निक्षेपण समित्या लोकिता पानभोजनानि पच ॥

अ ७ सू ४—तत्त्वायं सूत्र

३ आत्महिंसन हेतुः वाङ्मनसैव सूनृताधिपि ।

भदेन तद्विरत्युक्ति पुनरज्ञानुकपया ॥ ४-३६-अन धर्माभूत

आत्म परिणाम हिंसन हेतु त्वात्सर्वमेव हिंसतत् ।

अनृतवचनादि बबल मुदाहृत शिष्यबोधार्थम् ॥ ४२ ॥

पुरपार्यसिधुपाय

कोई-कोई पूछते हैं कि कि जैन मुनि जब अहिंसा महाव्रत धारण करते हैं छोटे बड़े सभी जीवों पर दया पालन करते हैं तब वे अपने भोजन में उस दूध को क्यों ग्रहण करते हैं जिसकी उत्पत्ति रक्त और मांस से होती है ? दूध पीना और मांस से घृणा करना आश्चर्य की बात है ।

दूध मेवन म
हिंसा के भ्रम
की बालोचना

यह बड़ा भारी भ्रम है कि इस दूध की उत्पत्ति मांस से अथवा रक्त से होती है । आयुर्वेद शास्त्र का कथन है कि भोजन वस्तु उदर में पहुँचने के बाद श्लेष्माशय को प्राप्त करके द्रवस्वरूप होते हैं पश्चात् पित्ताशय में

पहुँचकर इनका परिपाक होता है और व वाताशय को प्राप्त करते हैं । पश्चात् उनका वायु के द्वारा विभाजन होते हुए खलभाग तथा रसभाग रूप परिणमन होता है । खलभाग मलमूत्र आदि रूप धारण करता है तथा रस-भाग का रक्त मांस मेद मज्जा तथा शुक्र रूप से क्रमशः परिणमन होता है ।^१ कल्याणकारक नाम के वैद्यक ग्रन्थ में लिखा है कि रस बनने के बाद रुधिर बनता है तथा रुधिर के बाद मांस बनता है ।^२

रस तथा रुधिर
में शरीर शास्त्र
की दृष्टि से
भेद है

वाग्भट्ट ने अष्टांग हृदय में लिखा है कि रस के बाद रक्त बनता है । रक्त के बाद मांस और मांस के बाद मेद और पश्चात् हड्डी बनती है ।^३ गोदूध को गारस कहते हैं उसे कोई गोरक्त के नाम से नहीं कहता है । रक्त के स्वर्ण होने पर शुद्धता के हेतु चिसोप स्वच्छता

१ आहार परिणामादि क्वलाहारी हि प्रस्तभावः श्लेष्माशय प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतमधिकमशुचि भवति । ततः पित्ताशय प्राप्य पच्यमान आम्लीकृत अशुचिरव भवति । पक्वां वाताशयमवाप्य वायुना विभज्यमानः खलरस भावेन भिद्यते । खलभागो मूत्रपुरीषादि मलविकारेण विविच्यते । रसभागः शोणित मांस-मेद-मज्जा-शुक्रभावेन परिणमते ॥

तत्त्वार्थ राजवातिक प ३२८

२ आहृतमाश्रयान् रसता रुधिराच्च मांसम-
स्मादपि मांसानो भवति भेद इतोऽस्य ततोऽपि ॥

मज्जात धमशुक्र मित्यभिहिता इह सप्तविधाश्चधातव ।

सौष्टव्य सुशीतभूत वनतश्च-विभेपित-दोष सम्भवः ॥२०-२

कल्याणकारक पृ ५२५

३ तारस्यु सप्तभिर्भूयो ययास्य पच्यतेऽग्निभिः ।

रगाद्रक्त ततो मांस मांसान्मेदस्ततोऽस्थितया अष्टांगहृदय-६२ शरीरस्थान

की जाती है । ऐसा व्यवहार गोदुग्ध के प्रति नहीं होना । दूध रस है रस के बाद वह रक्त बनना है, रक्त के बाद उसका मांस रूप में परिणमन होता है इसलिए गोदुग्ध को रक्त या मांस मानना भयंकर भूल भरी बात है ।

गाय के शरीर में दूध रहता है तथा मांस भी रहता है किन्तु वस्तु स्वरूप की यह विचित्रता है कि दूध शुद्ध और मांस अशुद्ध है । सर्प के मस्तक में मणि रहता है वह तो विष के विकार को दूर करता है किन्तु उमके पास में रहने वाला विष प्राणों का घातक है । विष वृक्ष के पत्ते प्राण प्रदान करते हैं और उसकी जड़ प्राणों का विषात करती है । यद्यपि दोनों वृक्ष के ही अंग हैं, इसी प्रकार दूध और मांस एक ही शरीर में पाये जाते हैं, दूध की घेली पृथक् रहती है, इसलिए मांस हेय है और दुग्ध पीने योग्य है ।^१

दूध यदि अपवित्र होता तो जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक पूजन सदृश अत्यन्त पवित्र कार्यों में उसका कयो उपयोग किया जाता ? अतोन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् ने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा है कि उतामं और मांस में इतना ही अन्तर है जितना अमृत और विष में है ।

एक बात यह भी विचारणीय है कि दूध के दुहने से गाय का शरीर क्षीण नहीं होता । यदि उसका दूध न दुहा जाय तो उसे पीडा का अनुभव होता है । दूध के दुहने से गाय को शांति मिलती है । गाय घास खली आदि जो पदार्थ खाती है वे ही गोरस रूप में परिणित होते हैं । इस कारण उन पदार्थों की गंध आदि दुग्ध में देखी जाती है । ये बातें मांस के विषय में चरितार्थ नहीं होती ।

जब बालक अस्वस्थ होता है तब माता को औषधि देने से उसका दूध पीने वाला शिशु स्वस्थ हो जाता है । यदि दूध के सेवन से मांस

१ शुद्ध दुग्धं न गोर्मासं वस्तु वैचित्र्यं भीदृशं ।

विषघ्नं रक्तमाहेयं विषं च विषदे यतः ॥१॥

हेम पल पयः पेयं समे तस्यापि कारणे ।

विषद्रोरायुषे पत्र मूलं तु मृतये मतम् ॥२॥

भक्षण का पक्ष ज़बरदस्ती माना जाय तो मनुष्य को शिशुकाल में माता का दूध पीने के कारण स्वभावतः मांसाहारी मानना होगा । किन्तु अनुभव यह बताता है कि मनुष्य वे दांतों की रचना आदि मांसाहारी प्राणियों के समान नहीं है । जिस तरह बंदर शाकाहारी हैं उन्हीं प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक रूप से शाकाहारी है इसलिए दूध सेवन में मांसाहार की कल्पना करना पूणिमा को अनावश्यक मानना है ।

तामिल भाषा की महत्वपूर्ण रचना नीलवेशी में इस संबंध में बड़ी गम्भीर चर्चा आई है जिसका उपयोगी अंश प्रकांड दार्शनिक प्रो ए चक्रवर्ती ने अपनी भूमिका में लिया है ।^१

१ "The Buddhist turns round and offers an argumentum ad hominem as an indirect justification for flesh eating. If you object to meat eating so much why should you take milk which is the product of flesh ? How is it different from flesh eating ? Neelakeshi laughs at this argument. Objection to flesh eating is based upon the doctrine of Ahimsa. You can not obtain meat without killing some animal. Whereas milk is not so related to antecedent killing. Since there is no Himsa involved in obtaining milk, it is not condemned by us. Further, you are not quite right in suggesting that it is merely an other form of meat, it would be more proper to say that milk is the modification of grass and other fodder eaten by the cow. For, is it not known to you that the quality of the fodder eaten by the cow determines the nature of milk ? Are you not aware of the fact that the medicine taken by the mother is very often effective in curing the disease in case of babies, who suck mother's milk ? Hence your contention that it is an other form of meat is not quite correct.

Again there is no body in the world, who condemns milk as impure. Lastly if you stick to your statement that the milk is another form of meat then every human being must be accused of cannibalism for the simple reason that as baby he must have drunk of mother's breast."

आहार शास्त्र की दृष्टि से दूध को सात्विक भोजन माना गया किन्तु मांस तामसी भोजन कहा गया है । जिस प्रकार आम आदि वृक्षो दुग्धाहार सात्विक हैं तम्रा मासाहार तामसी हैं ।

मौस में समानता देखना हंस और वीर्य में वर्णसाम्य मीनने सदृश भूल भरी बात होगी । जैन शास्त्र में सयमी थावक हड्डी, मांस, रक्त, मदिरा, पीप आदि अपवित्र वस्तुओं को देखकर आहार का त्याग करता है । किसी भोज्य में मांस की कल्पना उठाने पर उसे त्याज्य कहा है ।^१

अन्य दूध की शुद्धता निर्विवाद है । जैन दृष्टि का क्या है, है कि अड़तालीस मिनट के भीतर दूध को अच्छी तरह गर्म कर लेना चाहिए । ऐसे अशुद्ध दूध के सेवन करने में मांस का दूषण लगता है । ऐसी जिन भगवान की आशा है ।

समाधिमरण में हिंसा की कल्पना भ्रमपूर्ण है । जैन मुनियों की अहिंसा के विरुद्ध ताकिक कहता है 'जैन मुनि अपने जीवन को समाधि मरण के द्वारा (suicide by starvation) समाप्त कर देते हैं इसलिए आत्महत्या करने के कारण उन्हें निर्दोष अहिंसा ब्रती कैसे मानना चाहिये ?'

यह प्रश्न अज्ञानता मूलक है । समाधिमरण में आत्मघात को देखना सती साध्वी महिला का कुलटा समझने सदृश भूल भरा है । समाधिमरण का लक्ष्य आत्मा का घात नहीं है । आत्मघात से मन अपवित्र होता है । जिससे जीव कुगति में जाता है । समाधिमरण में महान निर्मलता, विलक्षण शान्ति तथा प्रसन्नता का सद्भाव पाया जाता है । जब साधु देखता है कि कि मैंने जीवन भर सपन की साधना की, व्रता का पालन किया और अब मरने जीवन नौका जीर्ण होने के कारण डूबने को है तब वे इस जीण नौका सदृश शरीर की सम्हाल करने में अपने अमूल्य क्षणा का अव्यय न कर अपनी अनंत गुणों की राशि रूप आत्मा की रक्षा के लिए उद्यत हो जाते हैं । वे अपने प्रत्येक क्षण का आत्मसाधना में उपयोग करते

१ दृष्ट्वाद्र्वर्जनीस्थि सुरामासासृक्पूय पूर्वकम् ।

इदं मानं मिति दृष्टसकल्य चाशन त्यजेत् ॥ सागार धर्माभूत
पृ १३५ (३१-३३)

हैं और इस संयम घातक शरीर की सेवा में अपना समय और शक्ति नष्ट नहीं करते ।

पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि "समाधिमरण को प्राप्त व्यक्ति के रागद्वेष मोहादिक नहीं होते इससे उसे आत्मघात का दोष नहीं लगता है । आत्मघाती विष शस्त्रादि रागद्वेष मोहादिक के वशीभूत होने से आत्मा का घात करता है ।" ऐसी स्थिति में समाधिमरण और आत्मघात समाधिमरण में ऐसा ही अंतर है जैसा कि जैन रत्नत्रय धारी गुणों के सिन्धु दिगम्बर मुनिराज और पापोदय से साधन शून्य भिक्षारी में । एक उत्कृष्ट वृत्तियों का पुंज है तो दूसरा जघनवासना का आवासस्थल है । समाधिमरण का महत्व हृदयंगम न करने के कारण उसका घात अनुवाद (suicide) किया जाता है । पश्चिम के विद्वान समाधिमरण की महत्ता को नहीं जानते हैं । स्वर्गीय वैरिस्टर चंपतराय जी जैन ने विदेश में धर्म प्रचार का कार्य बन्द करके भारत की ओर प्रस्थान किया क्योंकि विदेश में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था । इस कारण उनसे यह कहा था "अब मेरी बीमारी काबू के बाहर हो गयी है । पश्चिम के लोग समता भाव सहित प्राणोत्सर्ग करना नहीं जानते हैं । इससे समाधिमरण की लालसा से मैं तीर्थंकरों की पुण्य भूमि भारत को छोड़ आया हूँ ।" अतः सल्लेखना-समाधिमरण का लक्ष्य है, जीवन लीला समाप्त होने के पूर्व अपनी आत्मा को मोह रहित वीतराग बना आगामी जीव की श्रेष्ठ सम्हाल करना जिससे यह जीव पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में नहीं आवे । तीर्थंकर भगवान का कथन है कि यदि एक बार भी कोई जीव सम्यक् प्रकार समाधि सहित प्राणों का विसर्जन करने की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया तो अधिक से अधिक आठ भव के भीतर वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।^१

१ रागद्वेषमोहाविषदस्य हि विषशस्त्राद्युपकरण प्रयोग वशादात्मान घ्नतः स्वाघातो भवति, न सल्लेखना प्रतिव्रतस्य रागादयः सति, ततो नात्मव्यदोषः ॥

सर्वार्थसिद्धि ७-सू० २२

२ This Sallekhana Vrata is taken by persons, who are in the jaws of death, and who find no escape therefrom. When they realise that they have only a short span of life in this world, after realising that they are not going to be saved

अहिंसा के पक्ष में लगाये गये दोषों का निराकरण देख नीलकेशी ग्रन्थ में मांस भक्षण का अनुरागो बौद्ध पुत्र जैन मुनियों की अहिंसामय वृत्ति पर अपने तर्कों द्वारा इस प्रकार प्रहार करता है "यदि आपका हम पर मांस भक्षण करने में जीवघात हाने का आक्षेप है तो वही आक्षेप क्या जैन मुनियों पर नहीं आता जो मयूर पक्षी के द्वारा तैयार की गई पिच्छी का उपयोग में लाते हैं जब कि उन पक्षी की प्राप्ति के लिए उन मयूरों की हिंसा होना अनिवार्य है ?" यह आक्षेप बाहू की दीपाल के समान ध्वजा लगाते ही धाराशायी होता है, कारण मयूर पक्ष-पुज के धारण करने पर रक्ष मांस भी हिंसा नहीं होती। मयूर पक्षी अपने मौसम में अपने पक्षों को स्वयं छोड़ देता है जिस प्रकार शिशिर ऋतु के पश्चात् प्रायः सभी वृक्ष अपने पत्तों को छोड़कर नवीन बापलों का धारण करते हैं। इसी प्रकार मयूर भी पुरातन पक्षी को छोड़ देता है क्योंकि प्रकृति के द्वारा उसे सौंदर्य पुञ्ज नवीन पक्ष प्राप्ति होते हैं। मयूर पक्षी की प्राप्ति के निमित्त तनिक भी मयूर के प्राणा को पाड़ा नहीं होती। विप्रना लोग पक्षों को लाकर बेचते हैं, उन्हें धार्मिक श्रावक उचित मूल्य पर लेकर पिच्छी बनवाकर अहिंसावादी मुनि जना की सेवा में अर्पित करते हैं।

यदाचित् कोई पक्षी जीव मयूरों का नाश कर लोभ वश पक्षी को लाकर बाजार में बेचे तो उनमें लगे हुए रक्त आदि दूषणों को देखकर उनको लेना तो दूर, उनको छूना भी दयामय साधु अवल्याणकारी मानेगा। इस दृष्टि से मयूरपक्ष सबन्धी आक्षेप जैन दृष्टि को तनिक भी क्षति नहीं पहुंचा सकता। शकाकार का प्रयास घास के तिनके से वज्र के बेधने सरीखा उपहास पूर्ण है। जैन मुनि का अहिंसामय जीवन अभेद्य किले के समान है उस पर कुतर्क के बमों की वर्षा तनिक भी

from the jaws of death, they take a vow that they will not take any more care about their worldly possessions including their own body, in order to spend the remaining valuable short span of life in devotion and worship and purifying of heart and not to be worried by any thing else Sallekhana is not a voluntary pain on oneself as an end in itself On the other it is just an attempt to better ones own spiritual conditions, when the end is realised as inevitable

Vide Neelkeshi

क्षति नहीं पहुँचा सकती है। आक्षेपकों को अपना मुँह स्वयं दर्पण में देखना चाहिये और सोचना चाहिये कि उनके गुह्य लोगो के जीवन में यथार्थ में कितनी पवित्रता है। सत्य की भाषा में ये लोग संसार सिन्धु संतरण के लिए शोभायमान होने वाली संगममंर की बनी हुई गौका के समान हैं जो समुद्र तल में बैठने वालों के साथ समा जाती हैं।

मयूर पिच्छी रखने का लक्ष्य अहिंसा की प्रतिज्ञा का निर्दोष निर्याह करना है। उसके द्वारा छोटे छोटे अगणित जीवों का रक्षण होता है। मयूर के पंखों की पिच्छी में पाँच प्रकार की विशेषताएँ हैं। वह धूल को नहीं ग्रहण करती, दूसरी बात वह पसीना आदि से मलिन नहीं होती, तीसरी विशेषता है उसकी अत्यन्त कोमलता, उसको आँखों के भीतर डालने पर भी कष्ट नहीं होता इससे उसकी मृदुता का बोध होता है, चौथा गुण सुकमारता का है वह व्याघ्र चर्म आदि के समान दीभत्स रूप नहीं होती, और पाचवी बात यह है कि वह विलकुल हल्की रहती है इसलिये वह साधु को अहिंसा की साधना में बहुत लाभदायक होती है।^१

कोई यह कहे कि जब मनुष्य के पास प्रकृति ने देने को नेत्र दिए हैं तब पिच्छी की विडंबना के पीछे पड़ना परित्यक्त्यानीसाधु के लिए अच्छा नहीं लगता। इस विषय में मूलाचार में लिखा है, “एकेन्द्रिय आदि जीव सूक्ष्म होते हैं, कठिनता से दिखते हैं, चर्म चक्षुओं के द्वारा गृहीत नहीं होते, इसलिये जीवों के रक्षण के हेतु साधु मयूर-पिच्छिका को धारण करते हैं।”^२ रात्रि में मल-मूत्रादि विसर्जन करने को यदि मुनि को उठना पड़े तो वह पिच्छी की सहायता के बिना किस प्रकार जीव रक्षा का तत्काल साधन के लिए ‘पिच्छी के बिना साधु नहीं होता है।’^३

पिच्छी की उपयोगिता कदाचित् कोई कहे कि जिस प्रकार झाड़ू से झाड़े जाने पर छोटे छोटे जीवों का शुण्ड मृत्यु को प्राप्त होता है इसी प्रकार उनकी दुर्गति पिच्छी के द्वारा भी होगी।

१ रजसेदाण मगहण मद्दव सुकुमारदा लहुत्तं च ।

अत्येदे पंचगुणा तं पडिलिहण पसंसति ॥

मूलाचार १९. समयसाराधिकार

२ सुहृमा ह्यसंति पाणा दुप्पेक्खो अक्खिणो अगेज्जा ।

तम्हा जीव दयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ २० ॥

३ ‘पडिलेखणमंतरेण न साधुः’

इस संदेह का निराकरण करते हुये आचार्य कहते हैं "मयूर पंख को नेत्र में डालकर घुमाये जाने पर भी नेत्रों को तनिक भी पीड़ा नहीं होती, तब उसकी कोमलता का सहज अनुमान हो सकता है, कारण नेत्रों में अन्य कोमल वस्तुओं के जाने पर पीड़ा होती है। यह मयूरपंख की असाधारणता है कि नेत्रों के भीतर जाकर भी उसका मृदु स्पर्श प्रिय लगता है। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा सूक्ष्म जीवों को प्रतिलेखन करना मुनि का वर्तव्य है। उससे जीवों को कष्ट नहीं होता।"^१

आरंभ में जीववध आचार्य का यह कथन महत्वपूर्ण है "आरंभ सबधी कार्यों में जीवघात होता है, इससे आत्मा का घात होता है क्योंकि इस पाप के कारण यह जीव नर्कादि योनियों में वर्णनातीत कष्ट भोगता है इसलिए अपनी आत्मा का घात न हो इस दृष्टि से जीववध नो छोड़ना चाहिये।"^२

मुनियों के तप में हिंसा के सद्भाव का प्रतिपाद उपरोक्त उत्तर से हतप्रभ होकर केवल विरोध व्यक्त करके आकाश में शोभायमान सूर्य के तिर पर झूल फेंकने के परिश्रम के समान तार्किक पूछता है कि "मुनिराज के पद को अंगीकार करने के बाद जो कठोर तप लिया जाता है वह क्यों न हिंसा का कार्य माना जायगा, अहिंसा के तत्त्वज्ञान का रक्षण तो तब होगा जब शरीर को कोई भी त्रास न दिया जाय जैसे अन्य जीवों पर करुणा की जाती है इस प्रकार प्रेम और करुणा का पात्र शरीर भी है ? मुनि जीवन में केशलीच किया जाता है यह शरीर के प्रति क्रूर व्यवहार की पराकाष्ठा है, जहा क्रूरता है वहां तो अहिंसाभाव की मृत्यु ही माननी होगी।"

यह शंका साधारणतया आवर्पक लगती है किन्तु इसमें तथ्य और तत्त्व नहीं है। हिंसा का दोष तब लगता है जब प्रमत्तयोग अर्थात् कपायपूर्ण मनोवृत्ति का सद्भाव हो। तपश्चर्या के द्वारा कपायो में मन्दता होती है, दुर्विचारों का निरोध होता है, पाप-प्रवृत्तियों की ओर मन नहीं जाता, जीवन में लगे हुए दोष दूर होते हैं, जिस प्रकार अग्नि के ताप से स्वर्ण की मलिनता दूर होती है। बिना श्रम और कष्ट किये मानसिक दुष्ट प्रवृत्ति का शोधन नहीं

१ णयहोदि णयणपीडा अच्छि पि भमाडिदे दु पडिलेहे ।

तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ॥२२॥

२ आरभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो ।

अप्पा ण हु हतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो ॥३०॥

होता । संसार में जो जो महान् कार्य सम्पन्न हुये हैं उनकी पृष्ठभूमि अपार श्रम, संयम, त्याग आदि रहे हैं । तपश्चर्या के द्वारा आत्मा अहिंसात्मक भावों की वृद्धि करता है क्योंकि उसके द्वारा यह दुर्विचारों के द्वारा होने वाली आत्महत्या को रोकता है । आत्मा के स्वरूप का रक्षण करना वास्तव में अहिंसा है । तार्किक अकलंक देव बहते हैं —

आत्मदर्शी मुनियों “जिस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं के प्राप्त होने पर द्वेष उत्पन्न होता है तथा उससे दुःख प्राप्त होता है ऐसी को तपस्या से स्थिति धर्मध्यान में परिणित बाह्य तथा अंतरंग तप निर्मलता का लाभ में प्रवृत्ति वाले मुनिराज के अनशन, केशलोंच आदि करने के कारण प्राप्त कायक्लेश में नहीं होती है । उसमें द्वेषभाव की संभावना नहीं है इसलिये इस कार्य द्वारा असाता वेदनीय का बंध नहीं होता । क्रोधादि कषायों के आवेश होते हुए स्व, पर, तथा उभय को दुःखादि देने को पापास्रव का हेतु ब्रह्म है । केवल दुःख देने को नहीं कहा है ।”

अपरिचय के कारण दूसरा कारण यह है कि उपवास आदि करने पर मुनियों संयमी में दोष के भावों में क्लेश नहीं होता । उनके मुख मंडल पर तपश्चर्या का तेज तथा अद्भुत प्रसन्नता विराजमान दर्शन रहती है । यह तर्क की बात नहीं है प्रत्यक्ष निकट संपर्क में आने पर ज्ञात होती है । जिस प्रकार संगीत की कला को न जानने वाला व्यक्ति गायन के प्रति तिरस्कार की भाषा में कहता है —

“भली भई नीकी भई हमें न आयो गाय ।

भरी सभा के बीच में को बैठे 'मु'ह बाय ॥”

उसी प्रकार संयम का स्वाद न लेने वाला स्वादु प्रकृति वाला शारीरिक स्वास्थ्य को आत्मा का स्वास्थ्य समझता हुआ त्याग और व्रत को कष्ट का मंडार सोचता है, किन्तु जैसे संगीत के सौन्दर्य का परिचय रखने

१ यथानिष्ट द्रव्य संपर्काद्देपोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः, न तथा बाह्याभ्यन्तरतपः प्रवृत्तौ धर्मध्यान परिणतस्य यत्तेरनश्वकेशलुंचनादि करणकारणापादित कायक्लेशोऽस्ति द्वेष संभवः । तस्मान्नात द्वेषवधोऽस्ति । क्रोधाद्यावेश हि सति स्वपरोभय दुःखादीना पापास्रवहेतुत्वमिष्टं न केवलानाम् ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० २५९ ।

वाला गायनाचार्य निंदक की वाणी को सुनकर मुस्कराते हुए अपनी मधुर तान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को तृप्त करता है उसी प्रकार दुर्वासनाओं का दमन करने वाले सयमी अनशन आदि तप करते हुए आत्म हित के साथ आन्तरिक आनन्द को प्राप्त करते हैं ।

उपवास आदि जैन ग्रंथकारों ने उपवास आदि करने की सीमा बतायी है । जब तक मन में सक्लेश नहीं उत्पन्न होता है तब तक वह अनशन आदि तप कहा जायगा । यदि सक्लेश परिणाम उत्पन्न होने लगे तो वह तपस्या निश्चय से आत्मा के लिये हितकारी नहीं होगी । विषयो के प्रति आसक्ति तथा मोह का परित्याग होने पर प्रबुद्ध साधक को ऐसी प्रसन्नता होती है जैसे पराक्रमी पहलवान को अखाड़े में आकर प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ने में होती है । क्षीण-बली व्यक्ति उस मल्ल के शरीर से बहते हुए स्वेद की धारा को देख, सोचता है कि उसे अपार कष्ट हुआ किन्तु उस श्रम से मल्लराज प्रसन्न होते हुए अपने शरीर को अधिक बलिष्ठ बनाता है, इसी प्रकार कर्मों को पछाड़ने वाला अहिंसा महाव्रती साधु उपवास केशलोचन आदि के श्रम से दुखी न होकर विशुद्धता प्राप्त करते हुए अपार आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करता है । अकलक स्वामी कहते हैं—“जिस प्रकार अहिंसादि भावों के निमित्त उद्यत होने से प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार उपवास आदि भावों के कारण भी प्रसन्नता प्राप्त करते हुए वे अनशन आदि तप करते हैं अतः उनके दुःख आदि का अभाव है ।”

तप द्वारा नहीं जिस प्रकार दयार्द्र अतःकरण वाला चिकित्सक साधु के हित की बुद्धिवश उनके शरीर के फोड़े पर शस्त्र निया करते हुए क्रोधादि कषायों के न होने से पाप का वध नहीं करता है इसी प्रकार अन्यादिकाल से ससार में होने वाले जन्म जरा मृत्यु की वेदना दूर करने के विषय में उद्यत यति, उसके उपाय में प्रवृत्ति करते हुए स्व तथा पर के दुःख हेतु होने पर भी क्रोधादि का अभाव होने से, पाप का अवधक है ।^१

१ यथा यतिरहिंसादिकरण कारणोद्यतत्वादाहितप्रसाद तथायमुपवासादिकरणकारणे प्याहित प्रसाद. अनशनादितपः करोतीति दुःखाद्यभावः ।

तत्त्वार्थ राजवातिक पृ २५९

२ यथा भिषक् कृष्णाद्रौकृतचेता समयतस्योपरि अनुग्रहबुद्ध्या गंड

मनोवृत्ति पर इम प्रसंग मे एक दर्शनिक विचार भी ध्यान देने योग्य है । यह देखा जाता है कि किसी को राजभवन प्रिय लगता है तो किसी को पर्णकुटीर प्रिय लगती है । किसी को जन वैभव की विपुल वृद्धि हर्षित करती है तो किसी को सपूर्ण वैभव विभूति का परित्याग आनन्दप्रदान करता है, इसलिए जिस कार्य से मनोदेवता सतुष्ट होते हैं वह कार्य दुःख रूप दिखते हुए भी सुख प्रद अनुभव में आता है । इसलिए आचार्य लिखते हैं—“दुःख से व्ययित ससारी जीवो का मन अहाँ रम जाता है वहा ही उसे सुख मिलता है, इसी प्रकार अगशनादि तैप करने वाले मुनिराज के मनोरति पाई जाने से सुख का सद्भाव होने के कारण कोई दोष नहीं होता ।” कहा भी है—‘किसी के मन को नगर में सतोष प्राप्त होता है तो’ किसी को वह सुख वन में मिलता है, किसी को स्वजनो मे हर्ष होता है तो किसी को जनता मे प्रसन्नता प्राप्त होती है । किसी को राज भवन के शिखर में रहना अच्छा लगता है तो किसी को वृक्ष का कोटर प्रिय लगता है । किसी को अगना का अक मुहाता है तो किसी को शिला तल प्रसन्नता देता है”

तपश्चर्या की अपार महिमा है । जिन इच्छाओं को बन्दी बनाने के लिए विश्व के बड़े बड़े वैभव विभूति सम्पन्न नरेश तथा सुरेश भी समर्थ तपस्या से इच्छा-नहीं होते, उन्हें तपश्चर्या के द्वारा सहज ही अपने तपस्या से इच्छा-नियन्त्रण में कर लिया जाता है । इच्छाओं का निरोध ओ का निरोध ही तो तप है । ऐसे तप से ३ धे हुए कर्मों रूप लाभ का पहाड बज्र प्रहार के समान शीघ्र ही क्षय को प्राप्त करता है । जैसे अग्नि के प्रज्वलित होने पर ईंधन के ध्वंस होने म

पाटयस्वन्न क्रोधाद्यभावात् ना पुण्य बध्नाति तथा अनादि सांसारिक जाति जरा मरण वेदना जिवान प्रति प्रत्यागूणो यतिः तदुपाये प्रवर्तमान स्वप्नस्थ दुःखहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्यावधक ॥ त्त. रा. २६०

१ यथा दुस्त्राग्निभूतानामपि ससारिणा यत्र मनोरतिस्तत्र सौख्य तथा नशनादिकरणस्य यतेर्मनोरति सौख्य सानिध्यात् अदोष. ॥ पृ २६०

२ पुरे बने वा स्वजने जने व प्रसादधृ ने द्रुमकोटरे वा ।

प्रियागनामेय शिला तले वा मनोरति सौख्यमुदाहरन्ति ॥

त राजवातिक

- नहीं लगती उसी प्रकार समय स्वी अग्नि में कर्म रूपी ईंधन का दाह होना है, जो जोव को मोघ ही अनन शान्ति, शक्ति और आनन्द के निकुञ्ज मुक्ति-मन्दिरमें पहुँचाता है।

महान तप का अनुष्ठान करने वाले मुनियों के अपार कष्टों की उत्पत्ति होने से मन में खद अवश्य होगा इसलिए उनके निर्वाण का लाम कैसे होगा ?

भेद विज्ञानों की तपस्या का दुःख नहीं होता है इस विषय में आचार्य पूज्यपाद का कथन बड़ा अनुभव पूर्ण है। वे लिखते हैं "आत्मा और शरीर में भेद विज्ञान उत्पन्न होने से अत्यन्त आनन्दित होनेवाले मुनिराज के तपस्या के द्वारा दुष्कर्म का अनुभव करते हुए भी खद नहीं होता, उनमें वैराग्य और आत्मज्ञान की जागृति रहती है, इसलिए शरीर सबधी पीड़ा आत्मा में रागद्वेष नहीं उत्पन्न करती। वे मुनिराज शरीर के प्रति प्रेम नहीं रखते। जिनके मन में शरीर के प्रति प्रेम है वे वास्तव में शरीर के अनुकूल सामग्री न मिलने पर दुःखी हुए बिना नहीं रहते। दिगंबर मुनिराज की वृत्ति अलौकिक रहती है।" आचार्य कहते हैं "जिस शरीर में मुनि का स्नेह है उससे स्नेह को दूर करके अतर्क्य के द्वारा श्रेष्ठ चैतन्यमय शरीर में अपना सबध स्थापित करे।" इससे भौतिक शरीर सबधी स्नेह नहीं रहता। इसका क्या फल होता है ? इसके विषय में महामुनि पूज्यपाद कहते हैं "अनात्मपरिणति रूप शरीर में आत्म बुद्धिधारण करने से उत्पन्न हुआ दुःख शरीर से आत्मा की भिन्नता के ज्ञान द्वारा दूर होता है। जो आत्म स्वरूप में स्थिर रहने का प्रयत्न नहीं करता है किन्तु बठोर तप का अनुष्ठान करता है वह निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।" १

महाकवि जिनसेन ने लिखा है, कि इस शरीर का एकात रूप से शोषण कर इसका नाश न करे तथा मधुर रसों के सेवन द्वारा इसका

१ आत्मदेहातरज्ञान जनितात्हाद निर्वृत ।

तपसा दृष्ट्वा घोर भुजानोपि न विद्यते ॥३३॥

२ यत्र काये मुने प्रेम तत प्रच्याव्य देहिनम् ।

बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नदयति ॥४०॥

३ आत्मविध्वंसज दुःखमात्मज्ञानात्प्रशम्यति ।

नायनास्तन्निर्वान्ति कृत्वापि परम तपः ॥१९२॥

अधिव पोषण भी न करे ।^१ आचार्य सोमदेव कहते हैं "यह देह यद्यपि असार है, किन्तु ससार समुद्र के सतरार्थ साधन रूप है, अतः मुक्तिलता की वृद्धि के लिए निरीह वृत्ति वाले मुनियों के द्वारा यह शरीर रक्षणीय है ।"^२

जठोर तपश्चर्षा का भी बड़ा महत्व है । जो सुकुमार जीवन बिताते हैं वे विपत्ति का आक्रमण होने पर धर्म से विचलित हो जाते हैं । इसलिए सकट के समय भी आत्मा दुर्बलता न अतः इसलिये पहले से ही कठार जीवन द्वारा मन को सशक्त तथा शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाना चाहिए । इस विषय में समाधिस्तक की वाणी बड़ी महत्वपूर्ण है—

"कार्यै क्लेश के बिना सुकुमार पद्धति से किया गया आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान विपत्ति के आ जाने पर क्षीण हो जाता है अतएव मुनि का कर्तव्य है कि यथाशक्ति काय क्लेश सहन करते हुए आत्मा का चिंतन करें ।"^३

ऐसे अभ्यास से विपत्ति का पहाड़ भी समझ आने पर तपस्वी की आत्मा विचलित नहीं होती । उस विपत्ति काल में उसकी विवेक ज्योति और भी अधिक निर्मल हो जाती है । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है "रत्नत्रय धर्म के पालन में जीव के परिणाम सिधिल न हो तथा कर्मों की निर्जरा शक्ति के अनुसार हो इन दो कारणों को ध्यान में रख कर कष्ट सहन करना तपः हितप्रद है ।"^४ अपनी शक्ति के अनुसार कष्ट सहन करने का अभ्यास करना चाहिये । उस अभ्यास की मर्यादा यही है कि सक्लेश रूप दुर्भाव उत्पन्न न हो और विशुद्धता की वृद्धि होवे क्योंकि बध्न का मुख्य कारण सक्लेश है । यदि सक्लेश भाव पूर्वक कष्ट सहन किया गया तो उससे पापों का आश्रय होता है । स्वामी समतभद्र

१ 'नाप्युत्कटरसै पोष्य'

२ ससारं बधिस्तरणं हेतुं असारमप्येनमुत्ति यस्मात् ॥

तस्मान्निरीहैरपि रक्षणीयं कायः परं मुक्त्तिलताप्रसूत्यै ॥१२९॥
यशस्तिलकं पूर्वार्ध

३ अदुःखमावितज्ञानं क्षीयते दुःखसंविधौ ।

तस्माद्यथावत् दुर्बलात्मानभावयेन्मुनि ॥१०२॥

४ मार्गाच्यवन निर्जरायं परिपोढव्या परीपहा ॥अध्याय ९ सूत्र ८

ने यह कहा है कि "स्व, तथा परस्थ सुख अथवा दुःख यदि विशुद्धि के अंग है, तो उनसे पुण्य की प्राप्ति होती है और यदि वे संक्लेश उत्पन्न करते हैं तो पापास्रव होता है । आत्मा विशुद्ध भावना के द्वारा जिस शान्ति सुधा का पान करता है उनके समान देवताओं का भी आनन्द नहीं है ।" नीतिकार कहते हैं "जगत में जो कामनाओं की पूर्ति रूप सुख है तथा स्वर्ग लोक में महान सुख है वह तृष्णा के परित्याग रूप मुनियों के सुख के षोडशश की भी समता नहीं कर पाता" । आचार्य कहते हैं "महान मोहान्नि के द्वारा देहा मान इस जगत् में विषयो का संबंध त्यागने वाले तपस्वी लोग सुखी रहते हैं ।"^३

परमात्म प्रकाश में लिखा है "आत्मा के दर्शन द्वारा जो अनन्त सुख जिनेन्द्र भगवान को प्राप्त होता है वह आनन्द बीतराग भावना संपन्न संयमी का लोको- मुनिराज राग आदि विभाव रहित शुद्ध आत्मा में प्राप्त करते हैं ।"^४ इस कथन का भाव यह है कि दीक्षा

ग्रहण काल में जो शुद्ध आत्मा के अनुभवन द्वारा आनन्द जिनेन्द्रदेव को मिलता है वह आनन्द बीतराग निर्विकल्प समाधिरत आत्मा को प्राप्त होता है, इंद्रिय जनित सुख शांति न दे उसकी व्यथा को और बढ़ा देता है । वैषमिक सुख की अभिवृद्धि और तदनकूल विपुल सामग्री को प्राप्त करने वाले पुण्यशाली चक्रवर्ती इन्द्र आदि की भी तृप्ति नहीं होती, तब दूसरों की कथा तो निराली ही है । पचाध्यायी में लिखा है कि सम्यक्ज्ञानी जीव विषय जनित सुखों की आकांक्षा नहीं करता है, कारण वह जानता है कि इससे तृष्णा का रोग बढ़ता ही है आत्मा को शांति लाभ नहीं होता ।^५

१ विशुद्धिसंक्लेशागं चैतस्वपरंस्थं सुखासुखम् ।

पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ ने चेदव्यर्थस्तबहितः ॥९५॥ आप्तमीमासा

२ यच्चकामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षय सुखस्यते नहित षोडशी कलाम् ॥

३ दह्यमाने जगत्सस्मिन्महता मोहवह्निना ।

विमुक्त विषयासंगा सुखायते तपोधनाः ॥

४ अप्पा दिंसाण जिणवरहं जं सुदु होइ अणत्तु ।

त सुह लहइ विराज जिउ जाणतउ सिउ संतु ॥११९॥

५ शक्रचक्रधरादीना केवलं पुण्यशालिनाम् ।

तृष्णा बीज रतिस्तेषां सुखावधिः कृतस्तनी ॥

आत्मोत्थ आनन्द का रसपान करने वाले विषय विष मिश्रित सुख की ओर दृष्टि क्यों देंगे ? उनके चारे में जब वे अपना विवेक चौड़ाते हैं, तो विदित होता है कि इन्द्रिय जनित सुख ऐसा ही मोहक है जैसा कि विष मिश्रित मोदक जो थोड़ासा सधुर रसास्वाद कराते हुए प्राणा का अपहरण करता है । उन सुखों में सर्व प्रथम आपत्ति यह है कि वे आत्मा के अधीन नहीं हैं, कर्मोदय के अधीन हैं । जितना और जिस प्रकार का बंध होगा, उसके अनुरात ही उदय आगगा । ये जड़ कर्म छोटे बड़े का जरा भी विवेक नहीं रखते हैं । तीर्थंकर भगवान तक पर इनका प्रचण्ड प्रहार नहीं चूकता है । "देखो ! भगवान् वृषभदेव के गर्भ में आने के छय माह पूर्व इंद्र ने मुकुलित कर होकर किंकर वृत्ति धारण की थी, जो स्वयं कर्म भूमि के निर्माता थे, जिनका पुत्र भरत नवनिधि का अधिपति था, उन महान् वृषभनाथ भगवान् को पृथ्वी में छह माह पर्यन्त क्षुधित हो भ्रमण करना पड़ा था । अहो ! दुर्दैव के विलास किसी के द्वारा भी उल्लंघनीय नहीं होते हैं ।"

संसार के सुखों में दूसरी बात यह है कि वे शाश्वतिक सुख न देकर विद्युत की आभा के समान थोड़ा सा आनन्द दिखाकर विलीन हो जाते हैं, जैसे सुवास संपन्न पंकज क्षण भर में श्रीविहीन हो जाता है, उसका सौरभ नष्ट हो जाता है । जितने देर तक सुख रहता है उतने काल पर्यन्त भी पूरी साता नहीं मिलती, उसके मध्य में ही विविध आकुलताएँ उस आनन्द को दुःख रूप परणित करती हैं, इसके सिवाय उस सुखोपभोग में पाप के बीज पाए जाते हैं । वह सुख समता क्षुब्ध रहता है इससे वास्त-

१ Whom (for six months), before conception, Indra (served) with folded hands like a servant who himself (was) the organiser of all organisations, whose (Bharata) was the possessor of the (nine) treasures (Nidhis), even he the great (Rishabha Dava) wandered on earth for six months without getting food. Well, the frolics of doomed destiny (Karama) are insurmountable by anyone.

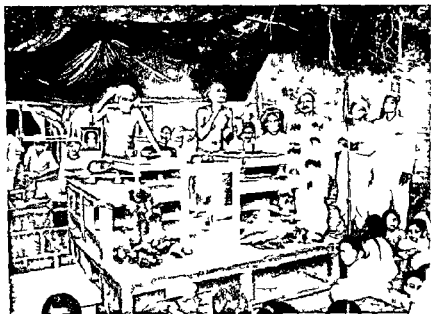
विकृता के प्रकाश में इन्द्रियो के द्वारा प्रदत्त सुख दुःख ही है ।

मुनिराज के केशलोच को शरीर के प्रति क्रूरता मानना भ्रमपूर्ण है उसमें स्वावलम्बन तथा अहिंसा का भाव विद्यमान है । जब आत्मा में केशलोच स्वावलम्बन ज्ञान और वैराग्य की ज्योति उत्पन्न हो जाती है तब लोच करना पीडाप्रद नहीं प्रतीत होता । केशो का लोच न कर जो लोग लम्बी लम्बी जटाएँ बढ़ाते हैं उनके केशो में जीवराशि उत्पन्न हो जाती है, वह ध्यान में बाधा पड़ा करती है तथा प्रमाद से उनका सहार भी सहज हो जाता है । केशो के कटाने के लिए याचना आदि का आश्रय लेने से आत्मा का गौरव नष्ट होता है । इसलिए केशलोच को तपस्या का विशेष अंग माना है । इस विषय में विशेष प्रकाश आगे डाला गया है ।

यहां यह बात स्मरण रखना चाहिए कि मुनियो के मन में शरीर तथा भोगों के विषय में ममता का बन्धन दूर हो जाता है । इसलिए उन वीतराग आत्माओं को प्रिय वस्तु हर्षित नहीं करती और प्रतिकूल पदार्थ दुःखी नहीं बनाते । इस नींव पर ही मुनि जीवन का विशाल भवन खड़ा हुआ है । यदि उनके जीवन में ममता की मलिनता आ गई तो वे असली आनन्द का रसास्वाद नहीं कर सकते ।

सुभाषितकार ने कहा है "जिस वस्तु में मैं ममता करता हूँ, उसी पदार्थ के विषय में मुझे सताप प्राप्त होता है किन्तु जिन पदार्थों से मैं ममता का त्याग करता हूँ, वहाँ ही मैं स्वभाव से संतुष्ट होता हुआ सानन्द निवास करता हूँ ।" यह बात दिगम्बर वीतराग मुनियो के जीवन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है ।

योग भक्ति का यह यथन बड़ा मामूली है "जन्म, जरा, महान् रोग, मृत्यु की पीडा, पुत्रादि इष्ट वियोग से उत्पन्न शोक आदि हजारों कारणों से प्रज्वलित असह्य वेदना वाले नरक में गिरने से घबड़ाये हुए, विवेक सम्पन्न अर्थात् हेय उपादेय संपन्न मुनिराज जीवन को जल बिन्दु के समान चंचल,



बारामता म आचार्य श्री तथा मुनि नमितागर जी केशनोच करते हुए ।





महाराज की ७९ वीं वर्षगांठ के अवसर पर ७९ फल परिपूर्ण थालियों द्वारा गुरुदेव की पूजा ।

विभूतियों को विजली तथा बादल वत् क्षण में नष्ट होनेवाले तथा इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के विषय में चिन्तन कर, वे प्रशमभाव की प्राप्ति के लिए जंगल का आश्रय करते हैं और गृहवास का परित्याग करते हैं।”

ऐसी भावना से प्राप्त आत्मार्थ तपस्या के कठिन जीवन के पुण्य शैल्या समान अनुभव करते हैं। यह मनोवृत्ति का ही अन्तर है कि शर-शैल्या मृदु पुष्प-शैल्या से भी अधिक अनुकूल लगती है। महर्षि पूज्यपाद कहते हैं कि आत्मविद्या के आनन्द में मग्न होनेवाले मुनियों को शरीर की सुधि लेने का ध्यान नहीं रहता। उनके शब्दों में बड़े गम्भीर भाव भरे हैं—“आत्मा की साधना में सलग्न तथा बाह्य जगत् से विमुख मुनिराज आत्म निभग्नता के द्वारा अवर्णनीय आनन्द का उपभोग करते हैं। वह आत्मानन्द महान् कर्म रूपी ईधन का निरन्तर क्षय करता है, उस समय वह योगी बाह्य शारीरिक बाधाओं का तनिक भी अनुभव नहीं करता है। अतः उसे जरा भी खेद नहीं होता है।”

वे मुनि अपनी तपश्चर्या का लक्ष्य शरीर को कष्ट देना नहीं बनाते। यदि ऐसी भावना हो तो इस विद्वेषपूर्ण वृत्ति के द्वारा आत्माबन्धन के चक्कर से कैसे छूटेगा? इसलिए उनका लक्ष्य कर्मों का नाश करते हुए आत्म विशुद्धता सम्पादन का रहता है। आचार्य कहते हैं “मन में समता के सुख को धारण कर व्रत, गुप्ति, समिति समुक्त होते हुए वे मुनिराज मोह का त्याग

तपस्या का लक्ष्य शरीर को त्रास देना नहीं है

१ जाति जरोरोगमरणातुर शोक सहस्रदीपिताः ।

दुःसहनरक पतन संव्रस्तधियः प्रतिबुद्ध चेतसः ॥

जीवितमम्बुविन्दु चपल तडिदध्र समाविभूतयः ।

सकल मिद विचिन्त्य मुनयः प्रशमाय वनान्त माश्रिताः ॥१॥

योगिभक्ति-दशमवक्ति पृ. १९०

२ आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहार बहिः स्थितेः ।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मन्धनमनातरम् ।

न चासी खिद्यते योगी बहिर्दुःखैस्वचेतनः ॥४८॥ इष्टोपदेश

३ व्रतसमिति गुप्ति सयुताः, शममुखमाधाय मनसि वीतमोहाः

ध्यानाध्ययन वसंगताः विशुद्धये नर्मणा तपश्चरन्ति ॥२॥ योगिभक्ति

करते हैं तथा ध्यान और अध्ययन के अधीन रहते हुए कर्म नाश जनिष्ठ शुद्धता के हेतु तपश्चरण करते हैं ।”

गृहस्थों और सन्यासियों के धर्म में अंतर

लक्ष्य भिन्न होने के कारण मुनि जीवन की ठीक महत्ता का अनुमान विविध वासनाओं का दारा गृहस्थ नहीं कर सकता। वासनाओं के वेग के कारण रोगी, गृहस्थ, नीरोग मुनि जीवन की महत्ता को कैसे समझेगा ? दोनों का संसार विलक्षण है। गृहस्थ का मन विषय भोग में अपने सुख को खोजता है किन्तु मुनि लोग अपनी आत्मा को ही सच्चा आनन्द भंडार मानकर बाहर नहीं भटकते। आचार्य सोमदेव लिखते हैं “गृहस्थ या धर्म सन्यासी का धर्म नहीं है और सन्यासी का धर्म कभी भी गृहस्थ का धर्म नहीं हो सकता।”^१ मुनियों का लक्ष्य लौकिक संपत्ति को छोड़कर आध्यात्मिक विभूति को प्राप्त करने का रहता है। इसीलिए वे आत्म सत्कार को अपने जीवन का मुख्य ध्येय बनाते हैं।

इन मुनियों के पवित्र जीवन को भूलकर पापी प्राणी अपवित्र प्रचार करते हैं। यदि वे सहृदयतापूर्वक इस उज्ज्वल वृत्ति का निकट निरीक्षण करें तो उनकी आत्मा सचमुच में एक महान सत्य से परिचय प्राप्त करने के साथ पुण्य कर्म का व्यवहारेगी। इस सम्बन्ध में कान्ही साहित्य में सुन्दर कथा है मुनिपद के महत्त्व को न समझनेवाले का उद्योग करने वाली कथा

उससे ज्ञात होता है कि मिथ्यात्वी लोग तब तक मुनियों के विषय में विष वमन करना बंद नहीं करते जब तक कि वे उनके निकट संपर्क में आकर अपनी दुबुद्धि को न धो डालें। कहते हैं—एक वसुभूति नाम का ब्राह्मण था। वह अहंकार का पुत्र था, तथा अपने को श्रेष्ठ समझता था। एक दिन ग्रीष्मकाल में उसके नगर में महायोगी दिगम्बर मुनिराज का शुभागमन हुआ। उन्हे देख वसुभूति ने दुष्ट भाव प्रगट किये।

उस नगर में एक धन कुबेर जिनदत्त नाम के, मुनिभक्त तथा अत्यन्त लोक-निष्ठ गृहस्थ रहते थे। जब वसुभूति ब्राह्मण ने महाशान्ति और उच्च तपस्वी मुनिराज के प्रति तिरस्कारपूर्ण वाणी का प्रयोग किया तब गुरुभक्त जिनदत्त के अन्तःकरण को बड़ी पीड़ा पहुँची। सचमुच में दुष्ट जीव अकारण सज्जनों के प्रति शत्रुता का व्यवहार करते हैं। सुभाषित के ये शब्द बड़े अनुभवपूर्ण हैं “बेचारा मृग तूण खाकर अपने प्राणों का पोषण करता है

किन्तु शिकारी अकारण ही उसका शत्रु बन उसके प्रिय प्राणों का सहार करता है, मछली जल में रहकर अपना निर्वाह करती है किन्तु धीवर अकारण उसको मारता है, इसी प्रकार सत्पुरुष सतोष पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु दुष्ट लोग, अकारण उनके शत्रु बन उन में झूठे दोष लगाये बिना चैन नहीं लेते ।”

चतुर जिनदत्त ने सोचा कि इस ब्राह्मण की बुद्धि को बदलने के लिये चतुरता से कार्य करना चाहिये क्योंकि कटु व्यवहार से यह पीडित नागराज के समान विष उगले बिना न रहेगा । बुद्धिमान सेठ ने सोचा ये विप्रराज बहुत लालची है इसलिये उसकी बुद्धि को रजत मुद्रा ही ठीक कर सकेगी । जिनदत्त ने कहा “पंडितराज ! यदि तुम केवल एक सप्ताह दिगम्बर मुनि के समान जीवन व्यतीत करो तो तुम्हें सहस्र रजत मुद्रा पुरस्कार में दूंगा ।”

वसुभूति के लालची मन ने इस प्रसंग से लाभ उठाने का निश्चय किया और कहा “सेठजी दिगंबर जैन मुनि के जीवन में तनिक भी महत्ता नहीं है, मैं हसते खेलते आपके मुनि का पद एक सप्ताह पालने को तैयार हूँ ।” अब बात पक्की हो गयी ।

जिनदत्त के कथनानुसार वसुभूति ने अपना दिगंबर रूप बना लिया । जब वसुभूति के सामने अपने हाथों से केशलोच करने का प्रत्यक्ष अवसर आया तब वह घबड़ा गया । घालों के खेंचे जाने पर वह रासभ-राग से रोने लगा । सेठ जी ने उसे मौन धारण करने को कहा, किन्तु तत्त्वज्ञान शून्य रहने के कारण वह इस परीक्षा में उत्तीर्ण न हो पाया । अस्तु, चतुर सेठ ने दिगंबर रूपधारी अभिनयकारी वसुभूति को बताया कि हमारे मुनिराज खड़े होकर मौन सहित अपने करतल में भोजन करते हैं और उसके बाद चौबीस घंटे तक पानी भी नहीं पीते हैं । उस दिन चतुर सेठ ने विविध प्रकार के व्यंजनों से मुनिवेषी विप्रराज का सत्कार किया ।

वह ब्राह्मण अत्यंत मधुर भोजन को प्राप्त कर सोचने लगा कि इस अवसर पर नीतिकार के इस कथन के अनुसार काम करना चाहिये— “अरे मुझे पराया अन्न प्राप्त कर शरीर पर कोई दया मत कर । दूसरे के महा का माल दुर्लभ है । प्राण तो जन्म जन्म में प्राप्त होते हैं ।”

१ मृगमीनसज्जनानां तृण-जल-सतोष-विहित वृत्तीनाम् ॥

लुब्ध-धीवर-पिशुना निष्कारण-चैरिणो जगति ॥

२ पराप्तं प्राप्य दुर्बुद्धे मा प्राणेपु दयां कुरु ।

दुर्लभानि पराप्तानि प्राणा. जन्मनि जन्मनि ॥

विप्रराज ने इतना भोजन किया कि पेट में जरा भी स्थान खाली नहीं रहा। भोजन के उपरान्त सेठ जी ने वसुभूति को एक ऐसे स्थान में रक्खा जहाँ ग्रीष्म का सत्पाप प्रत्येक को शान्त नहीं रहने देता था। सूर्य ने उस स्थान को आग की तरह गर्म कर दिया। उष्णता की अमर्यादित वृद्धि हुई, इसलिये गृद्धता पूर्वक खाये गये भोजन ने भयंकर प्यास उत्पन्न की। उस समय वह पानी मागने लगा। जिनदत्त सेठ ने कहा “चोबीस घंटे तक जल की वृद्ध भी मुनिजीवन के लिए विष के समान है।”

उस समय वसुभूति का ध्यान सहस्र रजत मुद्राओं की ओर जाता था साथ ही प्यास की वेदना उसे विकल बना रही थी। वह पानी से निकाली गयी मछली की तरह तड़फने लगा और जमीन पर गिर घबड़ाकर चिल्लाने लगा। कुछ घंटे कष्ट पूर्वक व्यतीत किये, बाद में उसे प्राणान्त पीड़ा प्रतीत होने लगी। अब वसुभूति को अनुभव हुआ कि दिगंबर जैन मुनियों की जो मैं निन्दा करता था वह मेरी भयंकर भूल थी। उनके समान ससार में श्रेष्ठ साधु और वहाँ हैं? सचमुच मैं हम जैसे पापी पुरुष उसे क्षण भर भी नहीं पाल सकते हैं वह तो सिंह वृत्ति है, दुर्बल मन वाले उसे कैसे पाल सकते हैं? हमारा कर्तव्य ऐसे महापुरुषों की सेवा तथा भक्ति करने का है।

इस प्रकार सोचकर उसने जिनदत्त सेठ से कहा, ‘सेठ जी मैं जो आपके गुरु की निन्दा करता था वह मेरा अज्ञानतापूर्ण कार्य था। अब मुझे अनुभव मिला कि जैन मुनि के सदृश उपदचर्या और पवित्रता का संरक्षण दूसरी जगह नहीं है। जब मैं क्षण भर में ही घबड़ा गया तब मैं सप्ताह भर उस रूप को धारण करने की प्रतिज्ञा का निर्वह नहीं कर सकता। इसलिए आप मुझे क्षमा कीजिये। मुझे आपके रुपये नहीं चाहिये। आपने जो मुझे ज्ञान दिया मैं तो उसे ही सच्ची संपत्ति मानता हूँ।”

अब वसुभूति मुनि-भक्त बन गया। उस समय वह कहने लगा “इन मुनियों के सम्मुख जंगल में पवित्र कोई नहीं है।” इस प्रकार जिनदत्त की चतुरता ने दुष्ट वसुभूति को एक भद्र भक्त बना दिया।

अतः विवेकी मानव वा कर्तव्य है कि इन मुनियों के विषय में सदा सहृदयता का व्यवहार करें जिससे इस ससारी प्राणी वा जीवन पवित्र हो और वह इस ससार सिन्धु में डूबने से बचकर कल्याण को प्राप्त करे।

साधु और भिक्षारी साधु सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करते हैं क्योंकि उसके द्वारा वे परिपूर्ण अहिंसा की साधना करते हैं । वैसे में अंतर तो धन वैभव विहीन भिक्षारी भी सर्वत्र फिरते हुए दिखाई देते हैं किन्तु उनके मन में पदार्थों के प्रति तृष्णा की अग्नि जला करती है इसलिए मुनियों के पैरों की धूल के बराबर नहीं हैं ।

कोई कोई आक्षेपक सोचते हैं कि दिगंबर मुनियों के पास पिच्छी तथा कमण्डलु का पाया जाना अच्छा नहीं लगता ।

इस दृष्टि में विवेक का अभाव है । कमण्डलु पवित्रता का उपकरण है और पिच्छी जीव दया का उपकरण है; इसलिए वे आत्मशुद्धि के साधक हैं । रागमोह अथवा आत्मिक दुर्बलता को वे नहीं जगाते हैं । मुनियों के पास ज्ञान के साधन रूप में शास्त्र भी रहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा आत्मा में दूषित विचार नहीं उत्पन्न होते हैं । वे मुनिराज एकत्व भावना को धारण करते हुए पिच्छी कमण्डलु आदि में अनुराग नहीं करते हैं । जो अज्ञानी उन ज्ञान संयम तथा शुचित्ता के साधनों में असक्त होता है, वह आत्म कल्याण से वंचित होता है ।

गुणभद्र स्वामी की यह उक्ति बड़ी सुन्दर है—“आत्मन् ! मनोज्ञ स्त्री आदि के विषय में मोह त्याग करता हुआ तू संयम के साधन कमण्डलु आदि में क्यों असक्त होता है ? क्या कोई ज्ञानवान रोग के भय से भोजन का त्याग कर इतनी औषधि खायेगा कि उसे अजीर्ण रोग हो जाय ?” इसलिए संयम के साधनों के द्वारा अहिंसा भाव का संरक्षण होने से उनका धारण करना आवश्यक कहा है । इस अहिंसा धर्म के द्वारा मुनि का जीवन पवित्र होता है और संसार में आनन्द की धारा प्रवाहित होती है । यह अहिंसा सम्पूर्ण सद्गुणों की जननी है ।

संस्कृति का एकमात्र सच्ची सस्कृति का पुण्यसलिला, भागीरथी उस भूतल को मगलमय और समृद्धिपूर्ण बनाती है, जहाँ भगवती आधार अहिंसा अहिंसा की समाराधना होती है । प्रकाश और अंधकार

१ रम्पेपु वस्तुवनितादिपु वीतमोहो

मुष्टेद् वृथा किमिति संयमसाधनेपु ॥

योनात् किमामयनयात्परिहृत्य भुक्ति ।

पीत्वीपथं प्रजति आतुचिदप्यजीर्णम् ॥२२८ आत्मानुशासन

में जैसा अपरिहार्य विरोध है।

इसी प्रकार संस्कृति और हिंसा में है। तत्त्व दृष्टि से स्पष्ट कहा जाय तो हिंसा को बर्बरता का नामान्तर मानना उपयुक्त दिखता है। इसलिये लौकिक दृष्टि से धन, वैभव, ज्ञान, प्रभाव आदि में उत्थिति के शिखर पर समासीन व्यक्ति भी यदि मांस भक्षण करता है, मद्यपान करता है, शिकार द्वारा अपने मित्रों को खूश करता है, तो वह वस्तुतः उन जंगली भूतों से किसी रूप में न्यून नहीं है, जिन्हें सभी असह्य कहते हैं। जहां जीवन के प्रति आदर का भाव न हो, जहां दूसरों में आत्मा का दर्शन न हो, वहां आध्यात्मिक अंधापन तथा हृदयहीनता का सद्भाव पूर्णतया स्पष्ट है। किसी ने कहा है, “तत्त्वज्ञान का आदिबीज वहां है, जहां हम दूसरों के जीवन के प्रति आदर भाव रूप अंकुर का दर्शन करते हैं। तुम कैसे किसी मनुष्य को तत्त्वज्ञानी, दूसरे शब्दों में विवेकी और बुद्धिमान कह सकते हो, जो जीवन का विनाश करता है, और इस प्रकार अमानवीय जघन्य प्रवृत्तियों द्वारा अपनी कब्र खोदता है? बुद्धिमत्ता तो वहां है, जहां दूसरे जीवधारियों के प्रति भाई-चारे की भावना पायी जाती है। इस प्रकाश में कथित महापुरुष, जो दूसरों के मांस पर जीवित रहते हैं, शुभ्र वर्णधारी जंगली बर्बर लोग हैं, जो असंस्कृत विद्वान् कहे जायेंगे। वे सुन्दर दिखने वाले, किन्तु दुष्ट बक के समान हैं। यद्यपि मैं सच्ची संस्कृति के लिए तो वे गिद्ध तुल्य हैं।”

१ The first seed of philosophy is there where we see the sprout of respect for the life of other beings. How can you call a man philosopher, in other words a wise man who destroys life and thus digs his own grave by debasing inhuman propensities? Wisdom is there where one regards others as his fellow beings. In this light the so-called Great men, who live upon the flesh of others are in fact, lovely looking barbarians who are as a matter of fact uncultured scholars. They resemble lovely but stupid herons and they are virtually vultures for living culture.

सत्य महाव्रत

प्रायः जनसाधारण की इस प्रकार प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे संसार के सुखों में निमग्न रहते हुए भी बिना श्रम के श्रेष्ठ त्याग समय आदि के द्वारा साध्य श्रेष्ठ फल को पाना चाहते हैं। किन्तु सत्य दून्य जीवन होने के कारण वास्तविक शांति और सुख की प्राप्ति नहीं होती। तत्व की बात यह है कि वैधर्म्य और क्रियाएँ फलवती होती हैं जो सत्य की कसौटी पर खरी उतरती हैं, इस कारण अहिंसा महाव्रत के पश्चात् सत्य महाव्रत का वर्णन किया गया है।

जैन आश्रम में इस सत्य की अहिंसा का अंग माना गया है। असत्—अप्रशस्त बात का कथन करना अनृत है “असदभिधानमनृतम् ।” इसके प्रतिकूल स्वरूप सत्य का है। इस सत्य के समर्थन या महिमागान में विपुल सामग्री पायी जाती है। “सत्यं कठस्य भूषणं”—सत्य कंठ का भूषण है, “सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्”—सबकी प्रतिष्ठा सत्यके आधीन है, “सत्यमेव जयते”—सत्य की ही अंतिम विजय होती है, “सत्यं शिवं सुन्दरम्”—सत्य कल्याणमय है, सौन्दर्य रूप है।

साच बरोबर तप नही झूठ बरोबर पाप।

जाके हिरदे साच है ताके हिरदे आप ॥

गांधीजी बहुधा कहा करते थे—Truth is god सत्य ईश्वर स्वरूप है। गांधी जी के प्रिय शिष्य में ईश्वर तथा मानवता के साथ सत्य का समावेश था। वे सत्य की अहिंसा का पिता मानते हैं।^१

जैन दृष्टि अहिंसा को जननी कहता है। अहिंसा के जननी

१ हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कठस्य भूषणं

श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं भूषणं किं भूषणम् ॥

२ सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः ।

सत्येन वायवो वाति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

३ From truth non-violence is born.

L. Fisher: Life of Mahatma Gandhi P.303

आचार्य का कथन है, “समस्त असत्य कथन का कारण प्रमत्तयोग (सकपाय भाव) है। अतः प्रमत्तयोग के अभाव होने से हेय और उपादेय बातों के विषय में कथन करना असत्य नहीं है।” इसका तात्पर्य यह है कि सत्य महाप्रती मुनीन्द्रो के द्वारा हिंसा आदि हेय पदार्थों तथा जीवदया आदि उपादेय बातों के समर्थन में किया गया प्रतिपादन पापी प्राणियों को अत्यन्त सतापप्रद लगता है, वे दुःखी भी होते हैं किन्तु इसका मूल कारण प्रमाद भाव नहीं है। इससे यह असत्य नहीं माना जाता।

शाब्दिक दृष्टि से जो बात जैसी है उसे उसी प्रकार से कहना सत्य है, किन्तु यदि वह अहिंसाके विरुद्ध है तो तात्त्विक दृष्टिसे असत्य माना जायगा। उदाहरणार्थ—एक शिकारी हरिणों के मारने की भावना से उपयुक्त जगल की खोज में फिर रहा है। कोई सत्यमवत उसे उसके इष्ट वन को बता दे, तो इससे शाब्दिकसत्य का रक्षण दिखते हुए भी जननी अहिंसा का पोषण नहीं होता क्योंकि यह कथन साव्य वचन है अतएव सत्य को सुयोग्य सुत स्वीकार करने पर सर्वत्र सुग्यवस्था और सतोप होगा। इससे विपरीत मानने पर कृत्रिम सत्य

पैशुन्य—हास—गर्भ—कर्कशमसमजस प्रलपित च ।

अन्यदपि यदुत्सूय तत्तत्सर्वं गहितं गदितम् ॥ ९६ ॥

छेदन—भेदन—मारण—कर्मण—वाणिज्य चौर्य वचनादि ।

तत्सर्वव्यय मस्मात् प्राणि—बधाया प्रवर्तन्ते ॥ ९७ ॥

अरतिकर भीतिकरं खेदकर वैर—शोक कलहकर ।

यदपरमपि तापकर परस्य तत्सर्वमभिय श्रेयम् ॥ ९८ ॥

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैक हेतुकथनं यत् ।

अनृतवचनेपि तस्मान्निवृत्त हिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥

‘पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः’

१ हेतु प्रमत्तयोगे निदिष्टे सकल—वितथवचनानाम्

हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ १०० ॥

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

२ इस प्रसंग में महान् चिन्तक तथा प्रवाद पण्डित लोकमान्य तिलक का कथन विशेष उद्बोधक है। उनसे ‘गीता रहस्य’ (पृष्ठ ३२) में लिखा है—‘यदा इस बात की कभी वरुणना की जा सकती है कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है, उसने लिय भी कुछ अपवाद

नया सत्य की मानने पर सपूत सत्य की माता के अनुशासन में जननी अहिंसा है ? रहना होगा, अतएव यह सत्य अपनी जननी अहिंसा के नाशार्थ प्रवृत्ति नहीं करेगा । अहिंसा को सत्य की जननी न मानने के कारण ही गांधी जी की अनेक बातें जैनियों की अहिंसा-त्मक विचार प्रणाली से टकराती रही हैं । इसी कारण सत्य भक्त गांधी जी को गोबत्स के प्राणघात कराने पर भी हिंसा नहीं दिखी । बन्दरों के मरवाने में भी उन्हें हिंसा नहीं प्रतीत होती थी । इसी प्रकार सत्पवादी हरिश्चन्द्र का स्वप्न में राज्यदान के उपरांत जागृत अवस्था में उसकी पुति करने में चाण्डाल की सेवा वृत्ति तक करना, राजा शिवि का अपने शरीर को काट काट कर कपोत की मांस खिलाने का कार्य सत्य भक्ति के सुन्दर उदाहरण माने जा सकते हैं, किन्तु इन कार्यों में स्वदया और पर-दया का सम्यक् संरक्षण न होने से वह जननी अहिंसा के अनुकूल नहीं है । जैन दृष्टि उस सत्य को साधक के योग्य बताती है जो अहिंसा से द्वंद न कर उसका संरक्षण करता है । स्वामी समतमद्र ने लिखा है " जिसमें व्यक्तित्व स्थूल असत्य बात नहीं कहता है और न कहलाता है, जिसमें स्वघात रूपी विपत्ति आती है, उस प्रकार का सत्य भी नहीं कहता है, उसे सन्तों ने स्थूल झूठ का त्याग कहा है ।"^१

अमृतचन्द्र सूरिका कथन है ' गहिं, अवयवसमुपत तथा अप्रिय वचन भी सत्यव्रत की मर्यादा के बाहर है । गहिं वाणी वह है, जो दुष्टता-पूर्ण, हास्य युक्त, कर्कश, मिथ्या प्रलाप रूप है तथा जिनेन्द्र की वाणी के विपरीत है । सावय वचन वह है, जो छेदना, भेदना मारना, कर्षण, करना, चोरी करना तथा वाणिज्य रूप प्राणघात से सम्बन्धित हो । कारण इनसे जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति होती है । प्रेम का विघात करने वाले, भय जनक खेद प्रद, वैर शाक तथा बलह के उत्पादक आदि पर सतापकारी अप्रिय वचन हैं इनमें प्रमत्तायोग पाया जाता है अतः असत्य वचन में निश्चय से हिंसा का सम्बन्ध होता है ।"^२

१ स्थूलमलीक न वदति न परान् वादयति, सत्यपि विपदे ।

यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूल-मृपावाद वेरमणम् ॥५४॥ रत्नकरड आ.

२ गहितमवयव समुत्तमप्रियमपि भवति वचनरूप यत् ।

समायन प्रेधामतमिदं भनूत तुरीय तु ॥९५॥

वाचार्थ का कथन है, "समस्त असत्य कथन का कारण प्रमत्तयोग (सकपाय भाव) है। अतः प्रमत्तयोग के अभाव होने से हेय और उपादेय बातों के विषय में कथन करना असत्य नहीं है।" इसका तात्पर्य यह है कि सत्य महाव्रती मुनीन्द्रो के द्वारा हिंसा आदि हेय पदार्थों तथा जीवदया आदि उपादेय बातों के समर्थन में किया गया प्रतिपादन पापी प्राणियों को अत्यन्त संतापप्रद लगता है, वे दुखी भी होते हैं किन्तु इसका मूल कारण प्रमाद भाव नहीं है। इससे यह असत्य नहीं माना जाता।

शाब्दिक दृष्टि से जो बात जैसी है उसे उसी प्रकार से कहना सत्य है; किन्तु यदि वह अहिंसाके विरुद्ध है तो तात्त्विक दृष्टिसे असत्य माना जायगा। उदाहरणार्थ—एक शिकारी हरिणों के मारने की भावना से उपयुक्त जंगल की खोज में फिर रहा है। कोई सत्यभक्त उसे उसके इष्ट वन को बता दे, तो इससे शाब्दिकसत्य का रक्षण दिखते हुए भी जननी अहिंसा का पोषण नहीं होता क्योंकि यह कथन सावद्य वचन है अतएव सत्य को सुयोग्य सुत स्वीकार करने पर सर्वत्र सुव्यवस्था और संतोष होगा। इसमें विपरीत मानने पर कृत्रिम सत्य

पैशुन्य—हात—गर्भ—कर्कशमसमजस प्रलपितं च ।

अन्यदपि यदुत्सून तत्तत्सर्वं गहितं गदितम् ॥ ९६ ॥

छेदन—भेदन—मारण—कार्यण—वाणिज्य चोक्ष्यं वचनादि ।

तत्सावद्य यस्मात् प्राणि—वधाया प्रवर्तन्ते ॥ ९७ ॥

गरतिकर भीतिकरं खेदकरं वैर—दोक कलहकरं ।

यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमभ्रियं श्रेयम् ॥ ९८ ॥

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगीक हेतुकथनं यत् ।

अनृतवचनेपि तस्मान्निमित्तं हिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥

‘पुरुषार्थं सिध्युपायः’

१ हेतो प्रमत्तायोगे निदिष्टे सकल—वितथवचनानाम्’

हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्तमम् ॥ १०० ॥

पुरुषार्थं सिध्युपायः

२ इस प्रसंग में महान चिन्तक तथा प्रकाश पण्डित लोकमान्य तिलक का कथन विशेष उद्बोधक है। उनमें 'गीता रहस्य' (पृष्ठ ३२) में लिखा है—“क्या इस बात की कभी कल्पना की जा सकती है कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लिये भी कुछ अपवाद

के रूप में जीवघात तथा पाप प्रवृत्तियों का पोषण होने से आत्मा दुर्गति को प्राप्त करेगी, क्योंकि आत्म परिणामो का घात तथा प्राणिमो का सहार होने से उस सत्य की असत्य के समान स्थिति होगी । अतएव वह सत्य ही मन्त्रा और कल्याणकारी होगा, जो जननी अहिंसा की अभिवदना करता है ।

स्वभाव रूप सत्य है दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो स्वभाव को सत्य और विभाव या विकृति को असत्य कहा जा सकता है ।

अहिंसा और आत्मविजय के पथ से, विभाव की विभीषिका से बचकर स्वभाव की अविनश्यर एव अपराजित अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है । स्वभाव रूप सत्य स्थिति की उपलब्धि निमित्त रत्नत्रय का मार्ग अपनाना होगा । दिगम्बरत्व के द्वारा सत्य स्वरूप की अभिव्यंजना होती है । जिस प्रकार मेघादि के आवरण आने पर सूर्य का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार वस्त्रादि परिग्रह का आवरण रहने से शुद्ध आत्मत्व की उपलब्धि नहीं हो पाती । श्रेष्ठ सत्य की साधना के लिये दिगम्बरत्व तथा वातरागता को हृदयगम करना अनिवार्य है । विकृति के आवरण निमित्त वस्त्र धारण किया जाता है ।

शीत आदि की बाधा न सह सकने के कारण असमर्थ व्यक्ति वस्त्र धारण करते हैं । जो आत्मा विकार विजेता है, दुर्बल तथा दूषित भावों से दूर है वह निरावरण सत्य रूप दिगम्बर मुद्रा को धारण करता है । पूर्णतया दिगम्बर हुए बिना जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ? विविध वेशभूषा से अपने असली स्वरूप को ढाकना असत्य की पूजा कही जायगी ।

उत्कृष्ट सत्य मीन जो आत्मा तत्त्वज्ञान के सिन्धु में निमग्न है तथा सत्य वृत्ति में है का साक्षात्कार कर रहा है, वह तो वाणी का आश्रय छोड़ मीन द्वारा सत्य की उपलब्धि करता है । इसका

होगे ? परन्तु दुष्ट जनों से भरे हुए इस जगत का व्यवहार बहुत कठिन है । कल्पना कीजिये कि कुछ व्यक्ति चोरी से पीछा किये जाने पर आपके सामने किसी स्थान पर जाकर छिप रहे । इसके बाद में तलवार लिये चोर आपके पास आकर पूछने लगे कि वे आदमी कहा चले गये ? ऐसी अवस्था में आप क्या करेंगे ? क्या आप सब बोलकर सब हाल कह देंगे या उन निरपराध मनुष्यों की रक्षा करेंगे ? शास्त्रों के अनुसार निरपराध जीवों की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्व का धर्म है ।”

कारण है, दृश्यमान जगत चक्षु इंद्रिय के गोचर होता है और वह रूप की ग्रहण करती है, रूप पुद्गल का गुण है, जीव का नहीं, जीव का स्वरूप ज्ञान है। यह चक्षु इंद्रिय गोचर नहीं, अतएव जो रूपों पदार्थ नयन गोचर होता है वह ज्ञान शून्य पुद्गल है। ज्ञानमय आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी स्थिति में नयनगोचर ज्ञान-शून्य वस्तु के साथ वार्तालाप करना तत्त्वज्ञानी को अयोग्य दिखता है।

जिस आत्मा के साथ जीव का अनादि से परिचय नहीं हुआ उस परमप्रिय निधि का दर्शन होने पर योगी मौन की अखंड साधना के लिए लोक संपर्क तक से बचने का अभ्यास करता है। प्रतीत होता है कि इसी कारण तीर्थंकर भगवान् मुनिपद धारण करने के पश्चात् अखंड मौनी बनते हैं। इसी से आचार्य जिनसेन ने सहस्रनाम पाठ में भगवान् को 'महामौनी' कहा है।^१ पूज्यपाद स्वामी कहते हैं "लोगों के संसर्ग से बचन की प्रवृत्ति होती है; उससे मन में चंचलता आती है, उससे चित्त में अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं, अतः योगी का कर्तव्य है कि वह लौकिक व्यक्तियों के संपर्क से बचे।"^२

प्रारम्भिक अवस्था में योगी को जगत उन्मत्ता सदृश दिखता है किन्तु आत्मा का सम्यक् अभ्यास होने पर उसे वही जगत काष्ठ और पापाण के सत्य के प्रकाश में समान प्रतीत होता है। प्रारब्ध योगी की अवस्था में योगी की दृष्टि विश्व विविध विकल्पों का जाल दिखता है किन्तु योग में निपुण होने पर साधु को संसार काष्ठ आदि की भांति निश्चेष्ट प्रतीत होता है।^३ आचार्य कहते हैं, "वह योगी अत्यधिक स्वावलम्बी बन जाता है, अपने सत्यज्ञान की किरणों के प्रकाश में उसे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता नहीं दिखती इसलिए वह अपनी ही आत्मा की आराधना करता है" उसका अनुभव इस सत्य की प्रकाश में लाता है कि^४ जगत के

१ महामुनिर्मेहामौनी महाध्यानी महादमः ॥ सहस्रनाम पाठ

२ जनेभ्यो वाक् ततःस्पन्दो मनसश्चित्ता-विभ्रमाः।

भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

३ पूर्वं दृष्टात्मतैत्वस्य विभात्युन्मत्तवत् जगत् ।

स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपापारूपवत् ॥८०॥

४ देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभाषादिकल्पनाः ।

सर्पतिमात्मनस्ताभिर्मन्यन्ते हा हत जगत् ॥१४॥ समाप्तिशतक

साथ जो पुत्र कलत्र आदि का सम्बन्ध है वह व्यवहार दृष्टि से है। इस अज्ञान-भाव के कारण यह जीव सबसे पहले शरीर में आत्मबुद्धि धारण करता है पश्चात् शरीर के आश्रय से पुत्र माता आदि की वत्पना को जागृत करता है। इस प्रकार वह आत्मवैभव को भूल पुद्गल की विभूति को ही अपनी वस्तु मानने की भूल करता है। तत्त्वदृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा तथा अनुभव में आयगा कि अब तक इस शरीर को अपना मानकर भयकर भूल की है। मैं तो ज्ञान रूप शरीर धारण करने वाला सदा आनंद के पुञ्ज रूप हूँ, मेरा कोई बाह्य कुटुम्बी या बधु बान्धव नहीं है। मेरी आत्मपरिणति ही जननी है, वही जनक है, यधु है, भाई है, सब कुछ है। इसीलिए विवेक ज्योति ने जगने पर वह तत्त्वज्ञ, ससार के प्रपञ्च से छटने के लिए, अपने कुटुम्बियों से कहता है—

“हे इस शरीर के उत्पन्न करने वाले पिता के आत्मा। हे इस शरीर के उत्पन्न करने वाले माता के आत्मा। यह आप दोनों जानते हैं कि मेरा आत्मा आपके द्वारा नहीं उत्पन्न हुआ है इसलिए आप दोनों मुझ आत्मा को छोड़िये। यह आत्मा आज भेद-विज्ञान-ज्योति को प्राप्त कर चुका है तथा यह अपने अनादि जनक के पास जाना चाहता है।”

चार प्रकार का मत्स्यव्रत के पालनार्थ चतुर्विध असत्य का परिहार करने का जैनागम में वर्णन है। असत्य का प्रथम भेद सत्पदार्थ का असत् रूप से प्रतिपादन करना है। जिस वचन में स्व क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से विद्यमान वस्तु का निषेध किया जाता है वह प्रथम असत्य है, जैसे यहाँ ‘देवदत्त’ नहीं है। यद्यपि देवदत्त नाम का पुरुष विद्यमान है, फिर भी उसका स्व क्षेत्र काल तथा भाव द्वारा अभाव बताना असत्य का प्रथम भेद है। इसमें सत् का प्रतिषेध किया गया है।

अहो इदं जन-शरीरजनकस्यात्मन् । अहो इदं जनशरीर जनमा आत्मन् । अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनिनो भवतीति निश्चयेन युवां जानीत । तत इममात्मानं युवा मुच्यत । अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति आत्मानं मेवात्मनोनादिजनकमुपसर्पति ॥” प्रवचनसार चारित्र्य अधिकार. पृ. २८२

१ स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोन ॥९२॥ पु ति

अनगार धर्माभूत में सत् के प्रतिषेध रूप असत्य का उदाहरण-मनुष्यों की अकाल में मृत्यु नहीं होती है इस सत्य बात के निषेध रूप वाक्य को बताया है कारण विष वेदना आदि के द्वारा अकाल मरण का सदाभाव सिद्ध है । असदुद्भावन नामक दूसरे भेद का वर्णन इस प्रकार करते हैं-

जिस वचन में पर क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा भी असत रूप वस्तु का सत रूप उद्भावन किया जाता है, वह द्वितीय अनृत असत्य है, यथा यह कहना कि यहाँ घड़ा है, यद्यपि यथार्थ में यहाँ घड़े का अस्तित्व नहीं है ।^१

असत् के उद्भावन का उदाहरण अनगारधर्माभूत में इस प्रकार लिखा है "पृथ्वी पर्यन्त आदि का निर्माण ईश्वर के द्वारा हुवा है ।" यह बात सत रूप नहीं है, फिर भी इस बात का कथन करना दूसरा असत्य का भेद है ।

विपरीत कथन रूप भेद का इस प्रकार निरूपण करते हैं-

जिस वचन में स्वरूप से विद्यमान भी वस्तु का पररूप से अर्थात् विपरीत रूप से कथन किया जाता है वह तीसरा असत्य का स्वरूप है, जैसे गाय को घोड़ा कथन करना ।^२

चतुर्थ भेद निश्च वचन का कथन करना कहा गया है । उसके सामान्य, अप्रिय तथा गहिर्त इनतीन भेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है ।

तात्त्विक विचार के प्रकाश से यह ज्ञात होगा कि जब तक यह जीव कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का श्रद्धान नहीं त्यागेगा और यह द्रव्य में आत्मबुद्धि सत्य के लिए का अभ्यास करता जाएगा, तब तक यथार्थ सत्य भाव स्याद्वाद आवश्यक का उदय नहीं होगा । मिथ्यात्व के सद्भाव में कैसे सत्य की स्वीकृति होगी । जैसे भगुर दुग्ध कटुक दुग्धी में रहते हैं

जाने से आधार दोष वश कटु हो जाता है, इसी प्रकार अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि धारण करने वाली आत्मा में पाए जाने वाले सद्गुणों का विपरीत परिणमन होता है और वे इस आत्मा को ससार सिधु के पार नहीं पहुँचाते । थोड़ा सा इन्द्रिय जनित सुख या लोभ में सम्मान

अपराधि हि वस्तु रूप यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।

उद्भाव्यते द्वितीय तदनृतमस्मिन् यथास्ति घट ॥९३॥

२ वस्तु सदापि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।

अनृतमिदं च तृतीय विज्ञेय गौरिति यथापि ॥९४॥

मिल जायगा किन्तु अंत में मिथ्यात्व इस जीव के पक्ष परावर्तन के परिभ्रमण को अनवरत जारी ही रखेगा । अतः जिनेन्द्र देव के स्याद्वादमय शासन से प्रकाश पाए बिना परमार्थ सत्य का दर्शन नहीं होता । जगत में विख्यात व्यवहारिक सत्य है ।

पुराणों में कहा है कि सत्य का साथ न देने के कारण राजा वसु को नरक का पात्र बनना पड़ा था । घटना इस प्रकार की थी । क्षीर पदम्ब उपाध्याय के पास पर्वत, नारद तथा राजपुत्र वसु ने वेद वेदांग का अभ्यास किया था । उपाध्याय की मृत्यु के पश्चात् पर्वत और नारद में 'अजयंष्टव्य' इस वेद मंत्र के अर्थ के विषय में विवाद उत्पन्न हो गया । नारद का कथन था 'अज' शब्द का अर्थ है 'पुराना धान्य' । पर्वत कहता था, इसका अर्थ 'बकरा' है । मंत्र में बकरे का बलिदान करे, यह बात अहिंसा विद्या के विरुद्ध है इस विषय में पर्वत ने विचार न करके यह जिद्द करली कि असत्य से वसु राजा का पतन वेद मंत्र का यही अर्थ है कि अज अर्थात् बकरे का बलिदान करे । नारद को यह अनीतिपूर्ण अर्थ अवलम्बणकारी ज्ञात हुआ, अतः उसने इसका विरोध नहीं छोड़ा । विवाद के उपरूप कारण बनने पर यह विचार उपस्थित हुआ कि उपाध्याय के पास शिक्षा प्राप्त करते समय वसु भी विद्यमान था । अतः राजा वसु द्वारा सम्मत अर्थ सत्य माना जाय । यह निश्चय हुआ । पर्वत की माता को जब यह ज्ञात हुआ, कि उसका पुत्र अनीति के पथ पर है और वह अपना पक्ष नहीं छोड़ता तब उसने पुत्र मोहवश राजा वसु पर जाल फैलाया और उपाध्यायानी के नाते पर्वत के पक्ष का समर्थन करने का जोर डाला । राजा वसु ने न्याय की बात भुलाकर मोहवश राजसभा के सभ्यो के समक्ष यह घोषणा की कि मंत्र का जो अर्थ पर्वत करता है, वही सत्य है । इस प्रकार असत्य भाषण द्वारा हिंसात्मक प्रवृत्ति का पोषण करने के कारण राजा वसु का आसन भूतल में पत गया और वह मरणकर नरक पहुँचा । यह तो भयंकर असत्य का दुष्परिणाम हुआ । थोड़ा सा असत्य मिश्रित कथन करने से धर्मराज युधिष्ठिर का अपयश आज तक भी लुप्त नहीं हो पाया । प्रसिद्ध कथानक इस प्रकार है —

अल्प असत्य से
धर्मराज के यश
को लुप्त

‘कौरव पाण्डवों का महाभारत युद्ध भीषणता पूर्वक चल रहा था । पाण्डवों के सर्व प्रयत्न फलप्रद नहीं हो रहे थे । द्रोणाचार्य के शस्त्र ने पुण्य के समक्ष पाण्डवों का

पराक्रम अकार्यकारी हो रहा था। उस समय सब के चित्त में एक बात आई कि ऐसा कोई उपाय किया जाय जो दोणाचार्य को युद्ध कार्य से विरत कर दे। यह ज्ञात हुआ, कि आचार्य देव की यह प्रतिज्ञा है, कि प्रिय पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु होने के उपरान्त वे शस्त्र संचालन बन्द कर देंगे।

उस समय एक अश्वत्थामा नाम के हाथी की मृत्यु हुई। यह देस पाण्डवों ने हल्ला मचाया कि आचार्य पुत्र अश्वत्थामा युद्ध में मारा गया। द्रोणाचार्य ने यह संवाद सुनते हुए भी उस पर विश्वास नहीं किया और अपना नर संहार का क्रम वेग से जारी रखा। दोणाचार्य ने कहा यदि धर्मराज युधिष्ठिर यह कह दें कि अश्वत्थामा मारा गया तो मैं धर्मराज की बात को सत्य मानूंगा।

पाण्डव बन्धुओं ने धर्मराज पर दबाव डाला, कि वह अपने कुल की रक्षार्थ तथा पक्ष की सफलता के लिए यह कह दें, कि अश्वत्थामा मारा गया है। इष्टजनों के आग्रह और स्वार्थ के ममत्व ने धर्मराज के मन में चंचलता पैदा कर दी। अन्त में उनने कहा—“अश्वत्थामा हतः”, क्योंकि उस समय उस नाम का हाथी मरा ही था, साथ में हृदय ने मिथ्या भाषण करने से रोक़ा, इससे उसने पुनः यह भी कहा “नरो वा कुंजरो वा”- वह नर है या हाथी, यह नहीं कह सकता।

गुरु द्रोण ने ‘अश्वत्थामा हतः’ शब्द सुनते ही शस्त्र त्याग दिया और युद्ध का पाँसा दूसरे रूप में पलट गया। धर्मराज युधिष्ठिर ने मोह-ममत्व वश जो थोड़ी मिथ्या वाणी कही, उससे उनकी अपकीर्ति अब तक अब्याहत चली आ रही है। इस प्रकार असत्य का थोड़ा भी मिश्रण जब वहाँ बहों के गौरव को समाप्त कर देता है, तब सामान्य मानव की क्या गति होगी यह अनुमान हो सकता है।

इस वाणी में अमृत और विष दोनों का सद्भाव है। यदि इसका सम्यक् उपयोग हुआ तो वह जीवों का अतन्त्र कल्याण करती है और यदि इसके द्वारा पापाचार, का पोषण किया गया, तो पश्चात्ताप और विपत्ति के सिवाय और कुछ नहीं हाथ लगता है। कहा भी है—

‘सरल सरसता है वाक्य-विन्यास ही में।

गरल बरसता है वाक्य-विन्यास ही में॥’

एक कवि कहता है:-

बोली बोल अमोल है बिरला जाने बोल

हृदय तुला पर तौलके, फिर मुख बाहर खोल ॥

एक वाणी जिन भगवान की है, जो सपूर्ण जीवों का सताप दूर करके उनको श्रेयोमार्ग में प्रवृत्ति कराती है, अभय तथा मंगल का संदेश देती है । एक वाणी रागोद्वेगी जीवा की है, जो धर्म के नाम मर जीव बध, तथा पापाचार को प्रेरणा देती है । जिन भगवान की सत्य वाणी के द्वारा संसार के प्राणियों का मोहज्वर शांत होता है । जन्म जरा मरण की व्यथा दूर होती है । वह साक्षात् अमृत पद का कारण होने से अमृत स्वरूप है । सत्य समलकृत वीतराग जिनेन्द्र का नामही सर्व कामनाओं की पूर्ति करता है । इस विषय में भैया भगवनी दास कहते हैं —

वीतराग नाम सेती काम सब होंहि नीके ।

वीतराग नाम सेती धाम-वन भरिये ॥

वीतराग नाम सेती विघन विलाय जाय ।

वीतराग नाम सेती भव-सिंघु तरिये ॥

वीतराग नाम सेती परम पवित्र हूजे ।

वीतराग नाम सेती शिव बसू वरिये ॥

वीतराग नाम सम हितू नाहिं दूजो कोउ ।

वीतराग नाम नित हिरदे में धरिये ॥”

वीतराग की अमृत वाणी के द्वारा बड़े बड़े तपस्वियों को परम बोध, श्रेष्ठ शांति का लाभ होता है अतएव सर्वदा सर्वत्र वीर तुल्य अयाचना वृत्ति का निर्वाह करने वाले बड़े बड़े योगीश्वर तथा तपस्वी लोग यही

सूनुतवाणी बोलने का व्रत धारण करने वालों में उसे सूनुत वाणी कहा है, जो सत्य हो, प्रिय हो तथा हितकारी भी हो । वह माता राक्षसी होते हुए भी मिथ्या हैं जो अप्रिय तथा अवल्याणकारी हो ।

महान आत्माओं का कथन है कि सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि के हेतु सदा मानवों को कल्याणकारी मोन धारण करे, अथवा सर्व जीवों का उपकार करने वाला अत्यंत प्रिय तथा तथ्ययुक्त वचन कहे ।

मूलाचार में लिखा है—“सत्पुरुष विनय रहित भाषा, धर्म विरोगी वचन पूछे जाने पर अथवा बिना पूछे जाने पर नहीं बोलते हैं ।”

ऐसी परिस्थिति में मुनिराज क्या कहते हैं, यह कहते हैं । “वे मुनिराज योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओं को नेत्रों के समक्ष आने पर देखते हुए भी दृष्टि रहित सदृश रहे आते हैं तथा कर्णोन्मिष के द्वारा योग्य अथवा अयोग्य बातों को श्रवण करते हुए मूक सदृश रहते हैं, मानो उनके नेत्र, कर्ण तथा जिह्वा का अभाव हो । वे मुनिराज कभी भी लौकिक कथा नहीं करते हैं ।”

उनका जीवन पूर्णतया धर्म से संबंधित हो गया है, लौकिक कथाओं में पड़ने से धर्म का रक्षण न होया और संकलेश द्वारा आसंध्यान, रौद्र ध्यान की वृद्धि होगी, अतः प्रप्रत्यन पूर्वक लौकिक चर्चा के बचकार में वे स्वयं को पूर्णतया बचाते हैं ।

मुनिजन किस प्रकार की कथा करते हैं, इस सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं, “वे साधु लोग ऐसी कथाओं को करते हैं जिनमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा भाषित तत्त्वार्थ है अर्थात् जो रत्नत्रय धर्म का प्रतिपादन करती हैं तथा कल्याणकारिणी एवं हितदायिनी हैं, जो धर्म से संयुक्त हैं, आगम विनय

१ सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनुतं सूनुतव्रताः ।

तत्सत्यमपि नो गत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४४॥

२ मौनमेव हितं पुंसां सद्बन्त्यर्थायसिद्धये ।

वचो वातिप्रियं तस्य सर्वसत्तोपकारि यत् ॥

३ भाषं विजयविदूषं घम्भद्विरोही विदग्धेन वयं ।

पुच्छिदमपुच्छिद वा न वि ते नार्थनि संपुरिमा ॥८७॥ अनपार, अधिकार

४ अच्छेहि य पेच्छता कण्ठेहि य बहुविहारं मुनमाणा ।

अत्यंति नूननूया न वै करति हृ लोभमच्छात्रो ॥८८॥ मूलाचार

एक वाणी जिन भगवान की है, जो सपूर्ण जीवों वा सताप दूर करके उनको श्रेयोमार्ग में प्रवृत्ति कराती है, अमय तथा भगल वा सदेश देती है । एक वाणी रागोद्वेपी जीवा की है, जो धर्म के नाम मर जीव बध, तथा पापाचार को प्रेरणा देती है । जिन भगवान की सत्य वाणी के द्वारा ससार के प्राणियों का मोहज्वर शांत होता है । जन्म जरा मरण की व्यथा दूर होती है । वह साक्षात् अमृत पद वा कारण होने से अमृत स्वरूप है । सत्य समलकृत वीतराग जिनेन्द्र का नामही सर्व कामनाओं की पूति करता है । इस विषय में भैया भगवनी दास कहते हैं -

वीतराग नाम सेती वाम सब होहि नीके ।
 वीतराग नाम सेती धाम-यन भरिये ॥
 वीतराग नाम सेती विघन विलाय जाय ।
 वीतराग नाम सेती भव-सिंधु तरिये ॥
 वीतराग नाम सेती परम पवित्र हूजे ।
 वीतराग नाम सेती शिव ब्यू धरिये ॥
 वीतराग नाम सम हितू नाहि दूजो कोउ ।
 वीतराग नाम नित हिरदे में धरिये ॥”

वीतराग की अमृत वाणी के द्वारा बड़े बड़े तपस्वियों को परम बोध, श्रेष्ठ शांति का लाभ होता है अतएव सर्वदा सर्वत्र धीरतुल्य अयाचना वृत्ति का निर्वह करने वाले बड़े बड़े योगीश्वर तथा तपस्वी लोग यही याचना करते हैं, आकांक्षा करते हैं कि जीवन के अतिमक्षणों में सत्यपूत सत शिरोमणि की पुण्य-वाणी के कुछ बोलों वा उच्चारण करने की क्षमता बनी रहे । महान आत्माओं की भगल वाणी में वह जीवन रस रहता है कि उसके द्वारा सर्व विपत्तियों का विष क्षण मात्र में दूर हो जाता है ।

सतो ने रागी, भोगी, मोही, प्राणियों की पांडित्य प्रचुर-वाणी की हवा से बचने की कल्याण प्रद बताया है कारण उनके द्वारा जीव पापों में प्रवृत्त होकर अपने पैरों पर कुठाराघात करता है । उनकी कृतियों को कुकथा या विकथा का नाम प्राप्त होता है, वे मुमुक्षु के लिए विषोपम कही गई हैं ।

अनगार धर्माभूत में लिखा है, कि सबको सूतृत वाणी बोलना चाहिए ।

सूतृवाणी बोलने का व्रत धारण करने वाली ने उसे सूतृवाणी कहा है, जो सत्य हो, प्रिय हो तथा हितकारी भी हो। वह बात सच्ची होते हुए भी मिथ्या है जो अप्रिय तथा अकल्याणकारी हो।

महान् आत्माओं का कथन है कि सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि के हेतु सदा मानवों को कल्याणकारी मोन धारण करे, अथवा सर्व जीवों का उपकार करने वाला अत्यंत प्रिय तथा तथ्ययुक्त वचन कहे।

मूलाचार में लिखा है—“स्तुतुष्ट विनय रहित भाषा, धर्म विरोधी वचन पूछे जाने पर अथवा विना पूछे जाने पर नहीं बोलते हैं।”

ऐसी परिस्थिति में मुनिराज क्या कहते हैं, वह कहते हैं। “वे मुनिराज योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओं को नेत्रों के समक्ष आने पर देखते हुए भी दृष्टि रहित सदृश रहे आते हैं तथा कर्णेन्द्रिय के द्वारा योग्य अथवा अयोग्य बातों को श्रवण करते हुए मूक सदृश रहते हैं, मानो उनके नेत्र, कर्ण तथा जिह्वा का अभाव हो। वे मुनिराज कभी भी लौकिक क्या नहीं करते हैं।”

उनका जीवन पूर्णतया धर्म से संबंधित हो गया है, लौकिक क्याओं में पड़ने से धर्म का रक्षण न होगा और सबलेश द्वारा आतंघ्यान, रोद्र ध्यान की वृद्धि होगी, अतः प्रयत्न पूर्वक लौकिक चर्चा के चक्कर से वे स्वयं को पूर्णतया बचाते हैं।

मुनिजन किस प्रकार की कथा करते हैं, इस सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं, “वे साधु लोग ऐसी कथाओं को करते हैं जिनमें जितेन्द्र भगवान् के द्वारा भाषित तत्त्वार्थ हैं अर्थात् जो रत्नत्रय धर्म का प्रतिपादन करती हैं तथा कल्याणकारिणी एवं हितदायिनी हैं, जो धर्म से संयुक्त हैं, आगम विनय

१ सत्य प्रिय हित चाहुः सूतृवः सूतृव्रताः ।

तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४४२॥

२ मोनमेव हितं पुंसां शङ्खत्सर्वार्थसिद्धये ।

वचो वातिप्रियं तथ्य सर्वसत्त्वोपकारि यत् ॥

३ भासं विणयविहूण धम्मविरोही विषज्जनए वमजं ।

पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासति सप्पुरिसा ॥८७॥ अनगर, अधिकार

४ अच्छाहिं म पेच्छता कण्णेहिं य बहुविहाइ मुणमाणा ।

अत्यति भूयभूया ण ते करति हु लोइयकहाओ ॥८८॥ मूलाचार

सहित है तथा जो परलोक में जीव को सुख पहुंचाने वाली है।”

यह सत्यव्रत जितना लोकपूजित और कल्याणकारी है, उतना ही कठिन भी है। जब तक मनुष्य की अपनी प्रतिज्ञा की प्राणपण से निर्वाह करने की दृढ़ भावना नहीं होती है, तब तक इस पवित्र व्रत से डिगना सरल बात हो जाती है। जैसे बाजार में पीतल और सुवर्ण दोनों ही विक्रयाय आते हैं। पीतल को नो कोई न काटता है, न गरम करता है, न बसीटी पर कसता है, किन्तु सुवर्ण की प्रामाणिकता की परीक्षा किए बिना उसका आदान प्रदान नहीं होता है। इसी प्रकार सत्य का व्रत स्वीकार करते ही मानों प्रकृति प्रलोभनों तथा सबलों को परीक्षार्थ लाकर उपस्थित कर दिया करती है। प्रायः उन विपरीत परिस्थितियों के समक्ष बड़े बड़े लोग विचलित हो जाया करते हैं और न्याय मार्ग को छोड़कर मोह-पथ में प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु सत्यव्रती व्यक्ति अपने प्राणों का भी मोह न कर अपनी प्रतिज्ञा का सम्यक् परिपालन करते हैं। विपत्ति के समय बे बीतराग प्रभु तथा आत्म-शक्ति का अवलम्बन ले उस सकट के समय को बिताते हैं। सत्य के प्रताप से विपत्ति की घटा दूर होती है, और अंत में ‘सत्यमेव जयते’ का जय घोष होता है। सत्य परीक्षण से डरता नहीं है। ‘साच को आच का क्या भय’ यह कहावत भी प्रख्यात ही है। अग्नि परीक्षा से सत्य को महिमा अधिक विकास को प्राप्त होती है। सत्य को समझकर इसके ऊपर विपत्ति की अग्नि डालने पर स्वर्ण सदृश सत्य का कुछ भी नहीं बिगड़ता।

कवि कहता है—

‘रे स्वर्णकार मतिमंद विवेकहीन, दे दे मुझे अगनि में वह लाभ लीन ।

मेरो तो स्वर्ण गुण नित्यहि वृद्धि पावे, पै तोर कूर मुख पै उडघूर धावे ॥

एक बात और, विपत्तियों के आने परही छोटे, खरे, सच्चे, झूठे का बोध होता है, अन्यथा सत्य, असत्य का विश्लेषण नहीं हो सकता है।

अकलक स्वामी लिखते हैं, ‘सत्यवाचि प्रतिष्ठिता. सर्वाः गुणसंपदः’ सत्य सत्य द्वारा गुणों वाणी में संपूर्ण गुण संपत्ति प्रतिष्ठित है। किसी व्यक्ति की उपलब्धि के पास धन न हो, विद्या न हो और भी लोक में सम्मान पाने की सामग्री न हो, किन्तु यदि उसके पास सत्य की निधि है, तो शत्रु तक उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। इस सत्य के आश्रय से अनेक दोषों का स्वतः क्षय हो जाता है।

कहते हैं एक राजपुत्र था, जो कुसंगति के निमित्त से सप्त व्यसनों

में लिप्त हो गया था। उसके सुधार के जितने प्रयत्न हुए सब विफल रहे। एक बार एक दिगम्बर मुनिराज के पास वह आया। मुनिनाथ ने उसे भव्य सोचकर कहा 'वत्स! तू एक सत्य मापण का नियम ले। यह सत्य तेरा कल्याण करेगा। उसने सोचा, साधु महाराज की बात मानने में मेरी स्वतंत्र प्रवृत्ति पर कोई बाधा नहीं है। अतः उसने यह नियम ले लिया, कि मैं सत्य बात बोलूंगा।

अब वह जिस काम को जावे तो पृथ्वी जाने पर वह उसको कैसे छुपावे? पाप प्रवृत्ति करने वाले में सहज लज्जा का भाव उत्पन्न होता है, इससे वह छुपकर ही पाप करता है। राजपुत्र ने सत्यव्रत को स्वीकार कर लिया था अतः अपने पाप कार्यों पर वह पर्दा कैसे डाल सकता है? वह वैश्या के यहाँ जाता है, मांस सेवन करने जाता है, मद्य पीने जाता है, तो यह बात सबकी प्रगट होती है, इससे उसकी आत्मा में बड़ा मताप उत्पन्न होने लगा। उसने सोचा, सबके समक्ष मेरे पाप प्रगट होने से लोक में मेरी अप्रतिष्ठा बढ़ती है और हृदय भी ऐसी प्रवृत्ति के विषय निषेध करता है। अतएव बहुत शीघ्र वह राजपुत्र मुनिराज के समीप पहुँचा और वित्त की "भगवन! आपके द्वारा दिए गए सत्यव्रत के प्रकाश में मेरी प्रवृत्ति पापों की ओर से विमुक्त होती है। एक तो पाप करना और फिर निर्लज्ज होकर दूसरों के समक्ष उसको प्रगट करना। मेरा इतना पतन नहीं हुआ कि पाप करते हुए मैं उसको सबके साम्हने कहने की हिम्मत करूँ, अतः सत्यव्रत की रक्षार्थ मुझे यही उचित दिखता है कि मैं आज से सब व्यक्तियों का त्याग कर दूँ। मुनिराज से व्यसन त्याग व्रत को ग्रहण कर उमराव राजपुत्र को सर्व प्रकार का आनन्द, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति हुई। असत्य तथा कपट पूर्ण जीवनवाला राजदंड को भोगा करता है।'

१ One who adopts dishonest life and cheats is punished under section 420 for the period of seven years and is also liable to fine. Cheating has been defined in section 415, "who ever by deceiving any person fraudulently or dishonestly induces the person so deceived to deliver any property to any person or to consent that any person shall retain any property or intentionally induces a person so deceived to do or omit to do any thing which he would not do or omit, if

वास्तविक बात यह है कि सर्व व्रतों में प्राण संचार सत्य के द्वारा होता है। इस सत्य के अभाव में बड़े बड़े व्रतों में प्राणसंचार सत्य से होता व्रत प्राण शून्य रहते हैं। इस युग में सत्य की अप्रतिष्ठा और अमत्य की पादपूजा बढ रही है। इस कारण

ही जगत में भौतिक विविध विकासों के होते हुए भी अज्ञाति का दीर दीरा नजर आता है। जैन नरेश चंद्रगुप्त के शासन काल में इतनी प्रामाणिकता थी कि लोगों को अपने घरों में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी किन्तु आज सभ्यता के शिखर पर अपने को समासीन मानने वाला ससार किस अप्रामाणिकता के अवकूप में गिरा हुआ है कि सत्य का दर्शन पाना दुर्लभ वस्तु बन गई है। भोगों और विषयों की लोलुपता बढने पर कैसे सत्य का रक्षण हो सकता है ? उस समय तो पाप की प्रेरणा से वह जीव प्रतारणा के पथ पर प्रवृत्ति करता है।

इस सत्य के जीवन निमित्त स्याद्वाद विद्या की सजोविनी का सेवन श्रेयस्कर है। एकान्तवाद के घरातल पर सत्य का पीघा नहीं रहलहाता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती कहते हैं—अस दर्शनो ना प्रतिपादन 'सर्वथा' वचन करने से असत्य होता है, जिनेन्द्र की वाणी 'कथंचित्'—विषी अपेक्षा से—वहने के कारण सत्य होती है।

वस्तु का स्वरूप अनेक धर्माभूत है। उसका एकान्त रूप से प्रतिपादन करने से सत्य धर्म का लोप होता है। अतः सत्य की सम्यक् प्रतिष्ठा स्वाद्वादशासन के अविरोध वचन करने में है। इस सत्य के दस भेद किए गए हैं उनका उदाहरण सहित इस प्रकार निरूपण किया गया है—

१ मनुष्य में ईश्वरत्व का दर्शन न होते हुए भी ईश्वर नाम रखना नाम-सत्य है।

he were not so deceived and which act or omission causes or is likely to damage or harm to that person in body, mind reputation or property is said to cheat, a dishonest concealment of facts is a deception within the meaning of this section

Indian Penal code.

१ पर-समयाणं वयण मिच्छ खलु होई सब्बहा वयणा ।

जेणाण पुण वयण सम्मं खु कहंति वयणादो ॥८९५ गो० कर्मकांड

२ भात को देश-तर में चोर कहते हैं, यह जनपद सत्य है ।

३ अश-पाँसा आदि में यह देव है ऐसा न्याय करना स्थापना सत्य है ।

४ सिर के द्वारा पर्वत का भी भेदन कर सकता है, यह कथन सभावना सत्य है ।

५ छद्मस्थ के ज्ञान अगोचर होते हुए भी जिनागम के अनुसार किसी वस्तु को प्राप्तु व कहना यह भाव सत्य है कारण इसके द्वारा अहिंसा लक्षण भाव का पालन होता है ।

६ यद्यपि चाँदल को पकाकर भात पर्याय निष्पन्न की जाती है, किन्तु व्यवहार में यह कहना कि 'भात पकाओ' व्यवहार सत्य है ।

७ 'यह बड़ा है' ऐसा कथन करना प्रतीति सत्य है, कारण यह कथन सापेक्ष सत्य रूप है । जो पदार्थ किसी अपेक्षा से बड़ा कहा जाता है, वही दूसरी वस्तु की अपेक्षा से छोटा भी कहा जा सकता है अतः किसी वस्तु का बड़ा कहा जाना प्रतीति सत्य है ।

८ पद्मोपम अथवा चद्रमुखी कम्पा कथन करना उपमा सत्य है ।

९ चद्र में दृष्टिगोचर होने वाली कालिमा को गीणकर चद्र के धवल वर्णन का कथन करना रूप सत्य है ।

१० कमल को उत्पत्ति जल, पक आदि अनन्त कारणों से होते हुए भी लोक में मान्यता है कि वह जल से उत्पन्न होता है अतः कमल को अबुज कहना सम्मति सत्य है ।

इस प्रकार जो सत्य के दस भेद कहे गये हैं, उनको सत्य इसलिए माना जाता है, कि इसके बिना जगत् का व्यवहार नहीं चलता है । जैसे नाम निक्षेप का लिया जाय । वस्तुतः धनदान का ही नाम धनपाल उचित होगा, कि तु गरीब आदमी का भी ऐसा नाम जगत् में देना जाता है । अतएव यहाँ गुण की विवक्षा न करके लोक व्यवहार की दृष्टि से नाम का स्वीकृति किया जाता है । इसी प्रकार अन्य भेदों का भी औचित्य अन्य कारणों से जगत् में माना जाता है । तत्त्व प्रस्थापना में लक्ष और आगम का अवरोधोपना लक्ष्य में रखना आवश्यक होता है अन्यथा व्यवहार में गड़बड़ी आए बिना नहीं रहती ।

जिनागम में आग्नेपिणी, विक्षपिणी, सवेदनी तथा निर्वेदनी रूप कथा चतुष्टयका वर्णन है, सत्यव्रती मुनिराज इन कथाओं को कहते हैं । प्रश्न व्याकरण अंग में त्रयान्वे लक्ष, सोलहहजार पदों द्वारा इन कथा चतुष्टय का

वर्णन हुआ है ।

धवलाढीकामें लिखा है “जो छहद्रव्य और नव पदार्थों के रूप का एकान्त दृष्टि और एकान्त सिद्धांतों का निराकरण रूप शुद्धि करते हुए निरूपण करती है, वह आक्षेपिणी कथा है । विक्षेपिणी कथा वह है जिसमें पर सिद्धांत के द्वारा स्व समय पर दूषित मान्यताओं का उद्भावन करके पश्चात् उस दृष्टि को शुद्ध किया जाता है और स्व समय की स्थापना की जाती है तथा षट् द्रव्य और नवपदार्थ का निरूपण होता है । पुण्य फल का निरूपण करने वाली सवेगिनी कथा है । वे पुण्य के फल क्या हैं ? तार्थंकर, गण-धर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव, विद्याधर की ऋद्धिया पुण्य के फल हैं । निर्वेदनी कथा वह है जिसमें पाप के फल का वर्णन होता है । पाप के फल क्या हैं ? नारक-निर्ग , कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना दारिद्र्यादित्र की प्राप्ति पाप के फल हैं । वहां भी है—

आक्षेपिणी तत्त्वविधान भूता विक्षेपिणी तत्त्वदिगन्तशुद्धिम् ।

सवेगिनी धर्मफलप्रपञ्चा, निर्वेगिनी चाह कथा विरागाम् ॥

“तत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली कथा आक्षेपिणी है । विक्षेपिणी कथा वह है जो तत्त्व के सम्बन्ध में अन्य दृष्टियों का निराकरण करती है । धर्म के फल का विस्तार पूर्वक वर्णन करनेवाली सवेगिनी कथा है । विराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेगिनी कथा है ।”

धवलाकार का कथन है, कि आक्षेपिणी, सवेगिनी तथा निर्वेगिनी रूप कथात्रय का सब को उपदेश देने में हानि नहीं है किन्तु विक्षेपिणी कथा उसके समक्ष नहीं करना चाहिए जिसने स्वसमय के स्वरूप को भली प्रचार अवधारणा नहीं की है । ऐसा व्यक्ति जिसने स्वसमय का अवबोध नहीं प्राप्त किया है और उसके समक्ष अन्य सम्प्रदाय की कथा को जाय तो वह व्याकुल चिन्ता होकर मिथ्या मार्ग का न ग्रहण कर ले, अतः जिसके हृदय में जिन शासन की श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है, जो भोगादि से विरक्त है उनके ही समक्ष इस कथा का उपदेश देना हित प्रद है ।

मिथ्या धारणाओंकी यहाँ यह शका उत्पन्न हो सकती है, कि जैन धर्म में आलोचना से सत्य सत्य की जननी अहिंसा को जब बताया है तब अन्य सम्प्रदायों के दोषों का उद्भावन करने से उन धर्मवालों की को बाधा नहीं है आत्मा को पीडा पहुचाने ने आक्षेपिणी और विक्षेपिणी कथाओं का कहना क्यों न सत्य धर्म की प्रतिष्ठा को धक्का लगायेगा और प्रका-

रान्तर से अहिंसा धर्म को भी क्षति क्यों न पहुँचावेगा ?

यह सचा योग्य नहीं है । जिस प्रकार व्यक्ति को बटु औषधि देने से प्रिय नहीं लगती है, किन्तु उसका परिणाम रोगोन्मूलन रूप देखकर पश्चात् वही रोगी निरोगता के कारण सुखी होता है और औषधि को बुरा न कहकर उसका सम्मान करता है, इसी प्रकार मोह, मिथ्यात्व और अज्ञान रोग से दूषित प्राणी के हितार्थ अहिंसा-गभिर्णा, बन्ध्याणदायिनी सम्बन्धत्व सर्जावनी देते हैं जो रोग की भयंकर स्थिति में प्रिय भले ही न लगे किन्तु पश्चात् वह जीव के जीवन में अवर्णनीय गुण और शांति की दिव्य ज्योति जगाती है । अतः उन कथाओं का लक्ष्य जीव का सच्चा बल्याण करना है । ताविव अजयका देव ने कहा है कि "मैंने जो बौद्ध सिद्धांत की समीक्षा की है, वह द्वेषभाववश नहीं की है, न अहंकार के कारण ही की है । नैरात्म्य भाव को स्वीकार कर अपना विनाश करने वाले जीवों के प्रति कष्टना भाव से ही मैंने यह कार्य किया है ।"

कोई कोई यह कहते हैं, कि अपने सिद्धांत की सुन्दर बातों का प्रसन्नता पूर्वक प्रतिपादन कीजिये, जो सत्य का प्रेमी आपकी बातों को पसंद करेगा, वह उनको निरोधार्थ करेगा, किन्तु अन्य धर्मों की आलोचना करते समय आप अहिंसा की मर्यादा का उल्लंघन कर बैठते हैं ।

यह सचा अहिंसा के भ्रातृ स्वरूप पर आश्रित है । अन्य सिद्धांतों की समीक्षा का भाव अतत्त्वज्ञों को मिथ्यात्व के अन्धकूप से ध्वजाने की मिथ्या कथना की मंगल भावना है । अतः यह कार्य अहिंसा दृष्टि के आलोचना का पूर्णतया अनुरूप होगा । लोक कल्याण के लिए ऐसी आलोचना आवश्यक भी है । साधारण दृष्टि वालों के हितार्थ पक्ष-प्ररूपण के साथ ही माय विपक्ष की अपूर्णता का उद्भावन आवश्यक है । इससे सत्य को शिरोधार्य करने वालों का विश्वास सुदृढ़ होता है और वे विपरीत दृष्टि का आश्रय करने से होनेवाली अमंगल मालिका से प्रबुद्ध होने के कारण अपने पादा पर कुठाराघात करने की बालवृत्ति से बचे रहेंगे । गुण को देखकर पदार्थ को समझ जाना विज्ञेयज्ञानी का काम है, साधारण बुद्धि वाला को स्पष्ट विवेचन ही हितकारी है । जो बीमार वृण में पीप पड़ने पर चिकित्सक के चाकू से भय खाता रहेगा, वह कैसे शीघ्र निरोगता को प्राप्त कर सकेगा ?

तत्त्वचर्चा को जिन्होंने बौद्धिक विकास की वस्तु या दिमागी कसरत का अंग समझ रखा है, उनकी धारणा विचित्र प्रकार की होगी, किंतु जिनकी तत्त्वचर्चा का लक्ष्य अपने निर्वाण का पथ प्राप्त करना है, जो मुमुक्षु की जिज्ञासा से शास्त्रों का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, वे तत्त्व विचार पर विविध दृष्टियों से जाँचे गये प्रकाश को देखकर परम प्रतिपाद को प्राप्त हुए बिना न रहेंगे। सच्चा सोना तो अग्नि परीक्षण को आमंत्रण देता है; छोटा सुवर्ण ही अग्नि ताप से भय खाता है। अतएव मदभावना पूर्वक तत्त्व विचार तथा आलोचना की अग्नि में विविध धर्मों की बथनी को डालने पर सुवर्ण तुल्य मिट्टान, समीक्षक के हृदय को आवर्णित कर लेगा।

यही कारण है अहिंसा महाव्रती, परम वीतराग मुनीन्द्रो ने अपनी स्याद्धादमयी वस्तु विचारणा में स्वरूप की अपेक्षा पदार्थ का प्ररूपण करने के साथ अन्य दृष्टि का भी प्रतिपादन करना कर्तव्य समझा है, अन्यथा सत्य के विषय में भ्रान्ति का निवारण नहीं होगा।

पञ्च भावनाएँ इस सत्य महाव्रत के संरक्षण निमित्त पञ्चविध भावनाओं का वर्णन किया गया है—

क्रोध का, लोभ का, भीरुत्व का तथा हास्य का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करना तथा अनुवीचि भाषण अर्थात् आगम परंपरा के अनुकूल भाषण करना ये पांच भावनाएँ सत्यव्रत की हैं^१

क्रोध कषाय, लोभ कषाय, भय तथा हास्य के निमित्त वश यह मानव अपने मानसिक सतुल्य को भूल जाता है, उस स्थिति में इसकी वाणी से ऐसे वाक्य निकल पड़ते हैं, जिनका तथ्य से तनिक भी संपर्क नहीं रहता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है, कि उपरोक्त क्रोधादि के उत्पन्न होने पर सत्य की हत्या हुए बिना नहीं रहती। अतः उन चारों के अर्थात् क्रोध, लोभ, भीरुत्व तथा हास्य के त्याग की परम आवश्यकता है। इन कारण चतुष्क के साथ में पाँचवीं बात भी महत्वपूर्ण है। जब तक सर्वज्ञता का पूर्ण प्रकाश नहीं प्राप्त हुआ है तब तक सत्य महाव्रती साधु का कर्तव्य है कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी में निरूपित तत्वों के

अनुसार भाषा व्यवहार करे । अपने ज्ञान का ऐसा वैभव दिखाने का प्रयत्न न करे जो सर्वदर्शी को तटस्थ देशता के साथ संपर्क हो जाय । आगम सत्य विद्या का आगार है । उसके प्रतिकूल भाषण न करने से ही सत्य धर्म का संरक्षण होगा । स्वेच्छानुसार कथन करने से सत्य सिद्धांतों का संहार हुए बिना न रहेगा । अतः उपरोक्त पंच भावनाओं के द्वारा सत्य महाव्रत का संरक्षण करने की सात्त्विकारो की आज्ञा है । सर्व प्रथम साधु का कर्तव्य है, कि आत्म स्वरूप की वाणी के अगोचर चिंतन करते हुए मोन धारण करे । किन्तु सदा ऐसा करने में अममर्ष होने पर सूनुत-सत्य हितकारी तथा प्रियवाणी बोले ।

अस्तेय महाव्रत

सत्य के पश्चात् अचोयं महाव्रत का स्थान है । इसे अस्तेय भी कहते हैं । तत्त्वार्थ सूत्रकारने कहा है “प्रमत्तयोग पूर्वक अदत्त वस्तु का ग्रहण करना चोरी है ।” इसमें मुख्य मन्द अदत्त वस्तु का ग्रहण करना है । ‘इण्डियन पिक्ल कोड’ में भी चोरी के मन्त्र में यही बात बही है कि जिम वस्तु पर तुम्हारा न्यायोचित स्वत्व न हो उसे छल, धनैती आदि के द्वारा ग्रहण करने में चोरी का दोष आता है ।^१ जाकार्यं अनृतचद्र वहने है, “जो बिना दिये गये धन धान्यादि हन परिग्रह का न्याय भाव पूर्वक ग्रहण करना है उसे चोरी कहते हैं । वही चय का हेतु होने से हिंसा भी है । इसमें आत्मा की पवित्र मनोवृत्ति का घात होता है ।”

अचोयं व्रत में अदत्त वस्तु का त्याग है और आग्निह्न दन में परिग्रह मान का त्याग है, चाहे वह दत्त हो अथवा अदत्त हो । अतएव अचोयं म अपरिग्रह गभिन होता है” यह गान्धी जी का कथन सम्यक् नहीं है ।^२ तात्त्विक दृष्टि से यह कथन निराप है कि अपरिग्रह में अचोयं का समावेग किया जा सकता है । अचोयं व्रत म गृहस्थ को न्याय पूर्वक प्राप्त संपत्ति को रखने का अधिकार है, किन्तु अपरिग्रह में कोई भी संपत्ति नहीं रखी जा सकती । चोरी के मूल में अन्याय पूर्ण तृष्णा या लोभ का भाव है । अचोयं व्याप्य है और अपरिग्रह व्यापक है, इसलिये अपरिग्रह में अचोयं उस तरह समाविष्ट होता है, जिस तरह सहस्य में शत का अंतर्भाव होता है ।

जगत्पिता ईश्वर	कोई कोई सोचते हैं, मालिक की बिना आज्ञा के वस्तु
की सतानो का	ले लेने में कोई दोष नहीं है । वास्तव में सब वस्तुये
दूसरे का धन लेने	ईश्वर की हैं । वही इनका बनाने वाला है । अतः एक
की कल्पना भ्रम	पिता की सन्तान होने के कारण सभी पुरुष भाई हैं
पूर्ण है	और स्त्रियाँ बहन हैं । इसलिए एक दूसरे की चीज

१ अदत्तादान स्तेयम् ॥ तत्त्वार्थ सूत्र

२ अवतीर्णस्य ग्रहण परिग्रहस्य प्रमत्तयोगात् यत् ।

तत्प्रत्येय स्तेयं संय च हिंसा बधस्य हेतुत्वात् ॥ पुरुषार्थ सि १०२

३ The next injunction to the ashramites is non-stealing, which implies non-possession -Life of M. Gandhi P. 33¹

लेने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह विशाल समुक्त परिवार की (Joint Family Property) सम्पत्ति है, जिसका प्रमुख व्यक्ति परम पिता परमात्मा है।

यह धारणा भ्रमपूर्ण है कारण तर्क और अनुभव की कसौटी पर इस सुख-दुःख मय जगत के जंजाल निर्माण का भार सत, चित्त आनन्द रूप परमात्मा के ऊपर नहीं लादा जा सकता। यदि सर्व-शक्तिवान् सर्वज्ञ परम दाता तथा दयामागर परमात्मा ने इस विश्व के निर्माण में हाथ लगाया होता, तो यह जगत शांति, सान्निध्य और परिपूर्णता का प्रेक्षणीय मन्दिर बनता और यहाँ दुःख और दुखी अथवा पाप और पापी का अस्तित्व भी न पाया जाता।

कवि अरनाल्ड ने "लाइट आफ एशिया" में लिखा है, "यह कैसे संभव है कि ईश्वर जगत् का निर्माण करता है और उसे दुखी रखता है कारण यदि वह सर्व शक्तिमान होते हुए भी उसे दुखी छोड़ता है, तो वह अच्छा नहीं है। और यदि वह सर्व शक्तिमान नहीं है तो वह ईश्वर भी नहीं हो सकता।" संभर अध्ययन और निष्पक्ष चिन्तन इस परिणाम पर पहुँचाने हैं कि क्रूरता तथा विषमता पूर्ण विश्व अच्छे सुखी, सर्व शक्तिमान तथा सर्वज्ञ परमात्मा का कार्य नहीं हो सकता।^१ इसलिये जब यह विश्व अनादि विघ्न है और इसका निर्माता कोई परमात्मा नहीं है, तब उपरोक्त प्रश्न प्राण ग्रन्थ हो जाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्म परमात्मा का अस्तित्व नहीं मानता।^२ जैन धर्म शुद्ध बुद्ध पवित्र परमात्मा

१ "How can it be, that Brahma,
Would make a world; and keep it miserable,
Since, if all-powerful, he leaves it so,
He is no good, and if not powerful,
He is not God." Light of Asia by Arnold

"Impartial study and mature thought lead us to to a conclusion, that this world full of barbarities and irregularities cannot be the handiwork of a good, happy, omnipotent & omniscient God".

Vide Author's preface of Maha Bandha P. 16.

२ इस सम्बन्ध में नर्चों के प्रेमी हमारे ग्रन्थ 'जैनशास्त्र' के अध्याय 'विश्व निर्माता' के पृष्ठ २५ से ४१ तक देखें।

को मानता है तथा यह बताता है कि आत्म विद्वांस, आत्म बोध तथा आत्म निम्नता रूप रत्नत्रय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा^१ बन सकता है ।

थोड़ी देर के लिये शंकाकार की समझ के अनुसार यह जगत ईश्वर की क्रोड़ामय कृति मान लिया जाय तो भी दूसरों की सम्पत्ति लेने का अधिकार नहीं आता । सभी ईश्वर की सन्निहित होने के कारण सर्वथा भाई और बहिन माने जायें तो फिर उनमें विवाह आदि सम्बन्ध की कल्पना अगणित अडचने उत्पन्न करेगी । धन लेने के लिए भाई और बहिन बना लिया किन्तु विषय वासना से प्रेरित होते हुए विवाह आदि करते समय उस सम्बन्ध की क्या अवस्था होगी अतएव यह कल्पना ठीक नहीं है कि—

“सब्रै भूमि गोपाल की या में अटक कहा ।

जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा ॥”

आध्यात्मिक दृष्टि से तो पुद्गल मय घन, वैभव आदि का स्वामित्व जीव में नहीं माना जा सकता क्योंकि पुद्गल का स्वामी जीव कैसे होगा । हाँ, व्यवहारमय को अपेक्षा सासारिक जीव घन-वैभव का स्वामी माना जाता है । यदि इस विषय में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी जाय, तो सर्वत्र क्लेश, क्षोभ, अन्याय, अत्याचार आदि द्वारा महान हिंसामय परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी ।

विषमता का मूल जो यह सोचते हैं कि जगत में उत्पन्न आर्थिक विष-
कारणकर्महै समाज मता तथा अन्य प्रकार की असमानता समाज की विशेष
नहीं तथा स्वार्थ-मूलक व्यवस्था की देन है वे इस बात को
नहीं विचारते कि विषमता का असली बीज जीव के पतित अथवा उज्ज्वल
परिणामों के द्वारा संचित किए गए पाप तथा पुण्य का परिणाम है ।
इसलिये जिसका यह सिद्धांत है कि जब धन प्राप्ति के तीन प्रसिद्ध उपायों में

१ अंग्रेजी भाषा में आत्मा का वाचक 'I' तथा ईश्वरका वाचक 'God' शब्द समान रूप से बड़े अक्षरों में (Capital Letter) लिखे जाते हैं । यह सम्भवतः इस भाव को द्योतित करता है कि आत्मा और परमात्मा समान जातीय हैं, अतएव विकास प्राप्त आत्मा ही परमात्मा बना हुआ है ।

‘मागो, उधार लो या चोरी करो’, इनमें जब दो उपाय इष्ट साधक न हो तब चोरी का मार्ग अगोकार करना चाहिए। यह दृष्टि आत्मा का पनन करने वाला है। अपनी दुखी अवस्था दूर करने का उपाय दूसरो को दुखी करना नहीं है, बल्कि अपने दोषों का प्रक्षालन कर इस प्रकार पुण्य सचय करना है जिससे सर्व प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हों। कोई व्यक्ति निर्पेन है, लगडा है, गूंगा है, अघा है, रोगी है, इसका असली कारण उस जीव के द्वारा पूर्व में किये गए पापाचरण से संचित पाप कर्म का उदय है। जब तक इस आन्तरिक कारण की चिकित्सा नहीं की जायगी, तब तब “बाह्य साधन सफल मनोरथ नहीं बना सकेंगे। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के पेट की अतडी में फोडा होने से पीडा हो रही है। उसको शांति देने के लिए बाहरी उपचार समर्थ नहीं होंगे। जब तक उस फाड़े का आपरेसन नहीं होगा, तब तक वह व्यक्ति उदर-व्यथा विमुक्त नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार भयकर दरिद्रता आदि की विपत्ति दूर करने के लिए जीव-दया, क्षमा-भाव, पात्र दान, निर्लोभता आदि का आश्रय लेना आवश्यक है। आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि ‘सम्पूर्ण पाणी, प्रती पुरुषों पर अनुकम्पा धारण करना, पात्रों को दान देना, सराग समय आदि पालन करना, क्षमाभाव तथा शुचिता के द्वारा यह जीव ऐसे कर्म का बन्ध करता है जिससे उसे सुख और साक्षात् प्रदान करने वाली सामग्री प्राप्त होती है।

भैया भगवतीदास का यह कथन बड़ा मार्मिक है। वे समझाते हैं।

बहा की बमाई भैया पाई तू यहाँ आय ।
अब कहा सोच किए कछु हाथ परि है ॥
तब तो विचारि कछु कियो नाहि बध समै ।
यावो फल उदय आए हम कैसे करि है ।
अब कहा सोच किए होत है अज्ञानी जीव ।
भुगतो ही जने कृत्य, कर्म कहुँ टरि है ॥
अब कौं सम्हार के विचार काम ऐसो कर ।
जाते चिदानन्द फद फेरि में न ररि है ।

१ Beg, borrow or steal

२ भूतवृत्त्यनुकपादानसरागसयमादियोग सातिः शौचमिति
सद्वैद्यस्य-तत्त्वार्थसूत्र

धन का ईश्वर का अर्पण कर उभाठा असम्भव है

किन्हीं की यह धारणा है कि यह सम्पूर्ण सामग्री परमात्मा की सम्पत्ति है, इसलिए उसे परमात्मा को अर्पण करके उसका उपयोग करना चाहिए तथा किसी के धन की लालसा नहीं करना चाहिए। यहाँ अन्य की सम्पत्ति की लालसा न करने का उपदेश तो ठीक है किन्तु परमात्मा को वस्तु-अर्पण करने के बाद उसका उपयोग करना विचारणीय है। जब वस्तु दूसर का भेंट कर दी गयी तब उस पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता है, फिर उस का उपयोग करने वाला तर्क की भाषा में स्वेयं दोष मुक्त कैसे होगा? धन आदि का लाभ पुण्यउदय में जाता है इस बात को मूलने वाले अतीति पथ तब का अपना-प्राप्त विद्वाना का पंडित टोडरमल जी के ये महत्वपूर्ण शब्द ध्यान में रक्खना चाहिए, जिनमें कल्याण की बात बतायी गयी है—'रे पापी धन बहुत अपना उपजाया तो नहीं है भाग्य ते हाथ है। तो प्रयत्नात्मक आदि धर्म नाधन से जो पुण्य उपजे ताही का नाम भाग्य है। बहुत धन होना है तो शास्त्राभ्यास किए कैसे न होगा? अर न हाता है तो शास्त्राभ्यास न किए कैसे होगा। तानें धन का हाना न होना तो उदयाधीन है। शास्त्राभ्यास विये काहे को शिथिल हूजे। बहुत सुन। धन है तो तो विनाशीत है, भय समुक्त है, पाप से निपजे हैं, नरकादि का कारण है, अर यहु शास्त्राभ्यास स्वीकृत है तो अविनाशी है, भय रहित है धर्म रूप है, स्वयं मोक्ष का कारण है सा महत पुरुष तो धनादिन को छोड़ शास्त्राभ्यास विष लगे हैं। तो तू पापी। शास्त्राभ्यास को छोड़ाय धन उपजावने की यडाई करे है।'

धन के लिए लूट मार की वृत्ति पापमय है

धर्म का पय क्षणिक लाभ का रूप धारण करने वाले लूट मार आदि करके दुखों का मुगी बनाने की प्रश्रिया का ऐसा ही अवस्थापककारी मानता है जैसे सग्रहणी रोग का बीमार का पथ्य आहार न बता चटपटी मसालेदार चीजें खिलाने वाला उसका महान अकल्याण करता हुआ दुख की वृद्धि करता है। इसलिए विपमता की परिस्थिति जनित व्यथा दूर करने का उपाय क्रूरता का अवश्यन ले धनवान को धमकी दे उसका धन लेना अथवा उसका प्राणघात करना तथा उस धन का आपस में बाँट लेना नहीं है। अत किसी भी स्थिति में चोरी का आश्रय करना जीव के लिए हितकारी नहीं कहा जा सकता। विपत्ति काल में धैर्य धारण करना

पवित्र जीवों को धिताना तथा उद्योग करना निश्चय से संकट की निश्चिन्ता को दूर कर प्रकाशपूर्ण स्थिति को पहुंचाते हैं । अपनी हीन परिस्थिति के लिए दूसरों को दोष न दे स्वयं को उत्तरदायी मान उद्योग करना पुरुषार्थी का काम है ।

दैविक वस्तु का उपभोग दुःख-वर्धक है स्वामी कुंदकुद ने रयणसार में लिखा है "देवपूजा तथा दान की संपत्ति का हरण करने वाला पुत्र, स्त्री रहित होता है । वह दरिद्र लंगड़ा, गूंगा, बहरा, अंधा होता है तथा चान्दाल आदि के कुलों में जन्म धारण करता है।"

यह जीव धनधान्य हीन हो अंगोंपांग आदि रहित होकर जो दुःख पाता है उसका कारण यह है कि उस जीव ने पूर्व में दूसरे प्राणियों को पीड़ा दी, उनको संतप्त किया तथा उनका प्राणघात किया है । मृत्यु के शब्द ये हैं "स्व, पर तथा स्वपर को दुःख शोक, ताप आक्रन्दन बध तथा परिदेवना के द्वारा असाता वेदनीय कर्म का आलव होता है ।" इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अयोग्य सामग्री—प्राप्त होने पर पीड़ित होना दुःख है । इष्ट के वियोग होने पर खेद के परिणाम होना कठोरवाणी आदि के द्वारा अतःकरण के कलुषित होने से मत्तापलव परिणाम को ताप महते है । सत्ताप के कारण अशुपातपूर्वक रुदन करना आश्रन्दन है । प्राणों का घात करना बध है । दूसरों के हृदय में भी कष्ट उत्पन्न हो इस प्रकार रुदन करना परिदेवन है । ये बातें स्वयं करने से दूसरों के प्रति इनका प्रयोग करने से अथवा इनको स्वयं करने से तथा दूसरों के प्रति भी प्रयोग करने से यह जीव असाता वेदनीय का सचय करता है जिससे अनन्त प्रकार के कष्ट होते हैं । हिंसा तथा क्रूरतापूर्ण कार्यों के द्वारा भी जीव दुखी होता है ।

धनिकों का नैतिक कर्तव्य शास्त्र में लिखा है कि जो जीव सम्पन्न होते हुए भी दुखी भाइयों की सहायता नहीं करता और धन का लोभी बन निरन्तर धन संचय में लगा रहता है, वह जीव कुछ काल के पश्चात् दुखी होता है और नीच पर्यायों में अवर्णनीय कष्ट पाता

१ पुतावलत्ताविदूरो दारिद्र्यो पगुमूकबहिरंधो ।

चाडालादिकुजादो पूजादाणादि दव्वहरो ॥

२ दुःखशोकतापानन्दन-बध-परिदेवनान्मात्मपरो-

-भयस्थानान्मसद्वैचस्य ॥तत्त्वार्थसूत्र-६, ११

है। इसलिए धनिकों का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि दीन दुखी जीवों के दुःख निवाणार्थ आहार दान दें। उनको सज्जन करने के लिए शास्त्र दान दें। रोग मुक्त करने के लिए औषधि दान दें तथा भयाकुल प्राणी को निर्भय बनाने के लिए अभयदान दें। नीतिकार समझाता है "वैभव के होने पर उसका उपभोग करना चाहिए तथा दान देना चाहिए। संचय करने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। देखो ! भ्रगरी की संचित निधि मधु को दूसरे लोग छीन लेते हैं। कवि समझाता है "अरे भाई, भिक्षु लोग तुम्हारे घर पर आकर भीख नहीं माँगते हैं। वे तो प्रत्येक घर में जाकर इस बात की शिक्षा देते हैं कि तुम दान देने में कभी भी प्रमाद न करो, नहीं तो हमारे समान तुम्हारी दुर्दशा होगी।"

इस प्रकार यदि धन का संग्रह करने की ही प्रवृत्ति रही तो कोई दूसरा सगृहीत संपत्ति को छीनकर ले जायगा, जिससे पश्चात्ताप ही हाथ रहेगा। यह समझना कि दाता अपने धन को देता है भ्रम है; यथार्थ में वही सच्चा कजूस है, जो दान के वहाने अपना धन साथ ले जाता है। कजूस अपनी एक कीड़ी भी साथ न ले जाकर सब धन यहा ही छोड़ जाता है। इस विषय पर एक कवि प्रकार प्रकाश डालता है -

दान न देने वाला पुष्ट त्यागी है, क्योंकि वह धन को यहाँ ही छोड़कर परलोक की यात्रा करता है। कृपण तो दातार है जो मरने पर भी धन न छोड़कर साथ ले जाता है।^१

कृपण के बराबर दाता न हुआ है और न आगामी होगा। वह तो धनका स्पर्श तक न करके दूसरों को दे जाता है।^२

उदार और कजूस जीवा में मनोवृत्ति-कृत विलक्षणता है, एक त्याग करता है तो दूसरा अन्य को त्याग करते देखकर दुखी होता है।

कजूस इसलिए नहीं दान करता है, कि यह निर्धन बन जायगा।

१ याचकाः नैव याचन्ते बोधयति गृहे गृहे ।

दोयता दीयता नित्यमदानात्फलमीदृशम् ॥

२ अदाना पुष्टस्त्यागी धन सत्यञ्ज गच्छति

दातार कृपण मन्ये भूतोऽप्यर्थं न मुच्यति ॥

३ कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति ।

अस्पृशन्नैव वित्तानि यः परैभ्यः प्रयच्छति ॥

दातार भी निर्धन होने का भय करता है इसलिए वह दान करता है ।^१ दातार की दृष्टि है कि निर्धनता से बचने का उपाय है दान देना । यदि दान न दिया जायगा, तो कूपोदक समान धन का क्षय हो जायगा ।

दान द्वारा सुख लाभ किसान खेती के धान्य को पाकर उसमें कुछ अनाज को जमीन में बोने के लिए शेष रखता है, कारण वह जानता है, कि यदि सब धान्य खा गया, तो आगे फिर अंधकार ही रहेगा । जमीन में बीज रूप धान्य को डालने से पुनः कई गुना धान्य उसे मिलता है, इसी प्रकार सत्पात्रों को आहार, औषधि आदि का सम्मान पूर्वक दान (पात्र पूजा) महान कल्याणदाता होता है । गरीबों को दिया गया दान कृपादान कहलाता है । औषधि दान, शास्त्र दान, अभय दान तथा आहार दान इस प्रकार दान के चार भेद हैं । गृहस्थाश्रम में जो पच सूना क्रिया है अर्थात् चक्को, चूल्हा, बुहारी उखरी तथा जल रखन का स्थान इन पच कार्यों में जो गृहस्थ के द्वारा अनिवार्य रूप से हिंसा होती है, उस दोष की शुद्धि श्रेष्ठ पात्रों के दान से होती है । यदि गृहस्थ दान देने के कर्तव्य का पालन करे, जो राष्ट्र में चोरी का भय क्यों रहेगा ? गरीबों की आवश्यकता पूर्ण होने लगी, तो वे हृदय से दाना की अभिवृद्धि की आकांक्षा करेंगे, उसे सतप्त करने के हेतु क्यों अनर्थ करने पर उतार होंगे ?

अतः व्यक्ति एवं राष्ट्र के हितार्थ विवेकी मानव का कर्तव्य अन्तःकरण की प्रेरणा से पवित्र वस्तुओं का दान देना है । मांस, मदिरा आदि का दान स्व तथा पर को दुर्गति का कारण होगा, कारण वह हिंसा से संबंधित है । चतुर्विध दानों में अभय दान का आसन ऊँचा है । आशाधर जी ने लिखा है—

दुःख से डरने सभी प्राणियों को जो दयाद्री अन्तःकरण, दाताओं का शिरोमणि अभयदान देता है, वह निर्भय पद को पाते हुए सौन्दर्य को प्राप्त करता है ।^२ कृपादान में दयावृद्धि रहती है, पात्र दान में पूज्य वृद्धि रहती है, मुनि आदि अहिंसा महाप्रत के पालन करने वालों को

१ लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरोदारिद्र्यशकया ।

दातापि विसृजत्यर्थं तथैव ननुशकया ॥

२ सर्वेषां देहिना दुःखाद्विभ्यतामभयप्रद ।

दयाद्रीं दातृ-धीरेभ्यो निर्भीः सौख्ययश्नुते ॥

दान देने से अचिन्त्य विभूति का लाभ होता है । सागार-धर्मामृत में लिखा है 'श्रीपेण राजा ने आदित्यगति तथा अरिजय नामक ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दान देने से भोगभूमि के सुख प्राप्त किए तथा क्रमशः सुख प्राप्त करते हुए उन जीव ने भगवान् शातिनाथ तीर्थंकर का पद प्राप्त किया । धनपति सेठ की कन्या श्रीपेणा ने मुनियों को औषधि दान के द्वारा सर्वोपधि ऋद्धि प्राप्त की । पूर्वभव में मुनि को वसति का दान देने से तथा इस भव में व्याघ्र से मुनि के निवास स्थान की रक्षा के प्रसाद से शूबरके जीव ने सौधर्म स्वर्ग में जन्म धारण किया था । शास्त्र की पूजा तथा शास्त्र दान के प्रसाद से कौण्डेय मुनि ने, जो पहले भव में गोविन्द नामका ग्वाला था, द्वादशांग श्रुत के पार को प्राप्त किया था ।" मिथ्यात्मी जीव भी उत्तम, मध्यम, जघन्य पाश्र्व तथा कुपात्र^१ (जो सम्यक्त्व रहित है किन्तु व्रत युक्त है) को आहार देने से उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि तथा कुभोगभूमि में क्रमशः उत्पन्न होकर सुख भोगते हैं, तथा आगे देव पर्याय पाते हैं ।

हठ्ठे षट्ठे तथा दान देने के अयोग्य मिथ्यात्मी जीवों का दान देने का अपात्र कहा है । जो दान देने में डरते हैं, क्योंकि इससे गरीबी आ जायगी, वे बड़े अज्ञानी हैं । दान देने से वैभव की वृद्धि होती है, गरीबी का रोग दूर हाता है । कुए का जल टांच होने से अच्छा रहता है अन्यथा सड़ जाता है । पचनदि स्वामी कहते हैं— "लक्ष्मी का नाश पुण्य के क्षीण होने पर होता है । दान देने से लक्ष्मी का क्षय नहीं होता है । अतः सदा पात्रों को दान देना चाहिये ।" एक सुभाषित बार कहता है—

‘ता घर दिया न होयगा, जा घर दिया न होय ।’

परोपकार करने में शिथिल भाव वाला को दानी नरेश भोज की कथा बड़ी प्रेरणा प्रदान करती है । कहते हैं, भोज के दानी जीवन की वृद्धि देख उनके बड़े वेतन भोगी कर्मचारी घबड़ाए और उनसे विद्वान् नरेश को इशारा देने वाला वाक्य राज्यासन के साम्हने लिखवाया कि “आपत्ति

१ सागारधर्मामृत अध्याय २, ७०

२ निर्दर्शन-व्रत-निकाय युत कुपात्रम् ।

३ पुण्यजयाक्षयमुपैति न दीपमानाः

लक्ष्मीरतःकुस्त सतत पानदानम् ॥

भोज का शिक्षा— वा विचार करके धन की रक्षा करनी चाहिए—
 प्रद जीवन आपदर्थं धन रक्षेत्” इससे नरेश ने समझ लिया कि
 मुझे दान देने से राकने का सबेत इस वाक्य में है ।
 उनने उसका उत्तर इस प्रकार लिखाया ”भाग्यवाना के पास आपत्ति कहा
 आनी है” थीमता कुत आपदः । इस मामिक उत्तर से मंत्री आदि की
 बुद्धि चकराई, अत में विद्वानों के समुदाय ने एक वाक्य सोचकर
 लिखवाया “कदाचित् दुर्देववश आपत्ति आ आय” — ‘कदाचित् देवकोपश्चेत् ।’
 इस चतुरता पूर्ण बात की पढ़कर भोज महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई, अत में
 इसका उत्तर उनने लिखाया “दुर्देवके कोप होने पर सचितकी गई धनराशि भी
 नाश को प्राप्त हो जायगी”—“सचितोपि विनश्यति” ॥ इस उत्तर ने सबको
 सतोष प्रदान किया । इस उदाहरण के प्रकाश में प्रत्येक व्यक्ति वा आवश्यक
 कर्तव्य है, कि असमर्थ भाइयो की सहायतार्थ तथा सत्पात्रों की सेवार्थ धनव्यय
 करने में कृपणता नहीं करे ।

इस दान की प्रवृत्ति में किन्ही २ को यह दोष दिखता है कि इससे
 अकर्मण्यता तथा परावलंबी लोगों की वृद्धि होती है । यह सोचना ठीक नहीं
 है । दान, विवेकपूर्वक देने की आज्ञा है । दातार गौरव का पात्र होता है और
 याचक लघुता को प्राप्त करता है । तुलसीदास का कथन है —

तुलनी कर पर कर करी, कर तर कर न करेय ।

जा दिन कर तर कर करे, ता दिन डूब मरेय ॥

गुणभद्र स्वामी कहते हैं—मुझे तो ऐसा लगता है कि याचक का
 गौरव दातार के पास चला गया, अन्यथा दातार महान और याचक लघु
 क्यों बन गए ?”

दान न देने वाले जब देश में ऐसे विवेकी धनिका की अधिक सरप्रा रहती
 हैं, जो अपना वैभव असमर्थ जीवर की सहायता द्वारा
 धनी दरिद्रता को सफल मानते हैं तब देश में सुख और शांति का पवित्र
 आम्रव्रण देते हैं सफल मानते हैं तब देश में सुख और शांति का पवित्र
 वातावरण दृष्टिगोचर होता है । जिस व्यक्ति ने भनुष्य
 जन्म का पाकर अपार संपत्ति का संग्रह किया, किंतु यदि उसका जीवन
 परोपकार शून्य है तो वह भारतीय सती की दृष्टि में अत्यंत तुच्छ है ।

१ याचिनुर्गौरव दातुर्मन्ये सकाममन्यथा ।

तदवस्थो कथं स्वातामेतो गुणलघू तदा ॥१५३॥

कवि कहता है "परोपकार शून्य मनुष्य का जीवन धिक्कार है, उन पशुओं का जीवन प्रशंसनीय है जिनका चमड़ा हमरों के काम आता है।" सत्पुरुष समझते हैं "पाप के उदय से जीव नरक में दुःख पाता है, दरिद्रता से पाप होता है, उस दरिद्रता की प्राप्ति दान न देने से होती है, अतएव सदा दान देने में तत्पर रहना चाहिए।"^१

जो यह सोचता है कि जब हमारे पास विपुल वैभव होगा तब हम दान देना आरम्भ करेंगे। वह भूलता है। उसे समझाते हैं "अरे भाई ! याचक व्यक्ति को अपने पास के एक ग्रास में से आधा ग्रास क्यों नहीं देता ? भला! इच्छा के अनुरार कभी वैभव हुआ है ?"^२ "दान देने वाला हीन व्यक्ति भी सेवनीय होता है, किन्तु अनुदार व्यक्ति महान होते हुए भी नहीं पूछा जाता। प्यासा आदमी समुद्र को छोड़कर कूप का ही अवलंबन लिया करता है।"^३ -

यदि देश में धनिकों की स्वार्थान्विता का नशा उतर जाय और वे देश व्यापी गरीब और दुःखपूर्ण दीनों की अवस्था पर धनिकों का ध्यान दें तो पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न हुआ प्राचीन उन्माद दूर होना अर्थ-व्यवस्था को मूलोच्छेद करने का पंशाचिक प्रचार आवश्यक है अर्थ-व्यवस्था को मूलोच्छेद करने का पंशाचिक प्रचार बंद होते देर न लगे क्योंकि धर्म-भूमि भारत में ग्ले-भूमि में उत्पन्न पाप का पादप नहीं वृद्धिगत होगा और न संस्कृति के मूलोच्छेद की चिंतापूर्ण स्थिति उत्पन्न होगी। उन्मत्त धनिक को सचेत करते हुए एक कवि कहता है"

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं ।

सामान सौ बरस का है पल की खबर नहीं ॥

१ परोपकारशून्यस्य धिक् मनुष्यस्य जीवितम् जीवन्तु पशवो येषां चमण्युपकरिष्यति ।

२ भवति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्य-संभवम् । दारिद्र्यमप्रदानेन तस्माद्दान -परो-भव ।

३ ग्रास्तादधर्मपि ग्रासमयिभ्यः किं न यच्छसि । इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥

४ दाता नीचोपि सेव्यः स्यान्निष्कलो न महानपि । अलार्थी वारिधिं त्यक्त्वा पश्य कूपं निषेधते ।

चोरी में हिंसादि
दोष

एक तार्किक कहना है, “चोरी करने में क्या दोष है? यह बात मेरी समझ में नहीं आती। धन आदि पर पदार्थ है उनको यदि ले लिया तो उसमें क्या हिंसा दोष आ गया, जो चोरी को हिंसा का अंग कहा जाना है? हमें आवश्यकता है इसलिये दूधरे के पास की वस्तु हमने ले ली। इसमें बुराई किस बात की है?”

ऐसे भ्रान्त भाई को कवि समझाता है, “अरे तूने दूधरे का धन चुराकर के उसके प्राण ही ले लिए हैं, धनके होने पर अनेक पुत्र, स्त्री, मित्र संयुक्त हो मुख पूर्वक जीवित रहता है।” यह धन जीव का बाहरी प्राण कहा गया है। इस धन के लिये ही जीव प्राणों की भी परवाह न कर अपार कष्ट उठाता है। इसलिये वल पूर्वक दूधरे का धन छीनने वाला व्यक्ति प्राण घातकके समान पीड़ा उत्पन्न करने वाला पापी है।” धन के लुट जाने पर मनुष्य उन्मत्त सा होकर प्राण शून्य हो जाता है; हाहाकार करते हुए वह मृत्यु के मुख में चला जाता है क्योंकि धनके अभावमें उस प्राणीका जीवन शून्य सा हो जाता है।”

अनगर धर्माभूत में लिखा है कि “अन्य दोषों से युक्त पुत्र को माता पिता अपने पास आश्रय देते हैं, किन्तु चोरी की कालिमा से श्याम मुख वाले सुत को अपने समीप नहीं रहने देते। इस चोरीके कारण मनुष्य में विद्यमान सद्गुण दूर हो जाते हैं और वह अनेक पाप प्रवृत्तियों का केन्द्र बन जाता है।” आचार्य कहते हैं “इस चोरी के कारण मनुष्य की कुलोन्नता, विनय, विवेकादि गुण, विद्या, कीर्ति, मुख तथा धर्म के मर्म का उच्छेद होता है। इसलिये भुमुक्षु को चोरी से दूर रहना चाहिये।” चोरी से संबंधित व्यक्ति को न्यायालय द्वारा दण्ड मिलता है, यह बात सर्वत्र विख्यात है।^४

१ अर्थपहते पुरुषः प्रोन्मत्तो विगत-चेतनो भवति ।

भ्रियते कृतकृत्कारों र्वितं खलु जीवित जन्तो ॥

२ दोषान्तरजुप जातु मातापित्रादयो नरम् ।

संगृह्णन्ति न तु स्तेयमपीकृष्णमुखं क्वचित् ॥४, ५०

३ गुणविद्यायशः शर्म-धर्म-मर्माविद्यः सुधीः ।

अदत्तादानतो दूरे चरेत् सर्वत्र सर्वथा ॥४, ५३

अनगर धर्माभूत

४ चोरी के धन लेने को भी दंडनीय बताया है। ईडियन पिनल कोड में लिखा है ॥ “Section 410 dealing with stolen property says”

तात्त्विक अवलोकने ने एक सुन्दर प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान किया है । प्रश्न यह है "जब अदत्त का ग्रहण चोरी है तब, दूसरों के द्वारा नहीं दिये गये ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का ग्रहण करना क्यों न चोरी कहा जायगा ? आचार्य कहते हैं "यह सवा ठीक नहीं है । जिस मणि मुक्ता स्वर्ण आदि के विषय में लेना देना रूप प्रवृत्ति - निवृत्ति सम्भव है, उनके विषय में ही स्तेय की संभावना बनती है । अतः कर्म के विषय में चोरी का प्रसंग नहीं आता है, कारण उनका लेना देना सम्भव नहीं है ।"

पुनः सवाकार कहता है— वन्दना आदि के निमित्त से धर्म का ग्रहण होता है इसलिए वह 'प्रशस्त स्तेय प्राप्नोति' प्रशस्त चोरी कही जायगी । यह सवा ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रश्न का भी उत्तर दिया जा चुका है कि जहा दान, आदान सम्भव है, वहा ही चोरी कही जा सकती है ।^१ धर्म के विषय में लेन देन का व्यवहार नहीं है, अतः उपरोक्त सवा निमूल है । वस्त्र पात्र आदि के समान धर्म का या कर्म का हाथ से लेना, दूसरा को देना आदि कार्य नहीं होते, ताकि उस सम्बन्ध में स्तेयत्व की कल्पना ठीक मानी जाती ।

property the possession whereof has been transferred by theft or by extortion or by robbery and property which has been criminally misappropriated or in respect of which criminal breach of trust has been committed within or without British India ..

Section 411 says that "whoever dishonestly receives or retains any stolen property knowing or having reason to believe the same to be stolen property shall be punished with imprisonment of either description for a term which may extend to three years or with fines or with both "

१ यद्यपि विशेषेण अदत्तस्यादान-स्तेयमुच्यते, कर्माष्टविधं अयेनादत्त-भाददानस्य स्तेयं प्राप्नोति ? नैष दोषः, येषु मणिमुक्ता-हिरण्यादिषु दाना-दानयोः प्रवृत्ति-निवृत्ति-सम्भव तेष्वेव स्तेयस्योपपत्तेः तेन कर्मणि नास्ति प्रसंगः —

२ वन्दनादि-निमित्तं धर्मादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न उक्तत्वात् । उपरमेतत् दानादानसम्भवो यत्र तत्र स्तेय प्रसंग इति । तत्रापि २७७

दिगम्बर मुनियो शंकाकार कहता है कि साधु सड़क, गली आदि पर की चर्या में चोरी आते जाते हैं, इसलिए उन पर अदत्त के आदान रूप का दोष नहीं है चोरी का दोष नयो नहीं आवेगा ?

आचार्य कहते हैं, साधु पर दोष न आने का कारण यह है कि सड़क आदि सामान्य रूप से सबके गमनागमन के लिए उन्मुक्त है। यदि किसी स्थान विशेष में द्वार आदि लगा होगा, तो उसको खोलकर साधु प्रवेश नहीं करेगा। इस प्रसंग में तो यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अदत्त का प्रमाद पूर्वक आदान करना स्तेय है। जहां प्रमाद का अभाव होगा वहां चोरी का दोष नहीं लगेगा। मुनियो को सयम, ज्ञान आदि के उपकरणों के दिये जाने पर वे अचौर्य महाव्रती उन्हें ग्रहण करते हैं।

अनगारधर्माभूत में लिखा है "इन्द्रादि अर्थात् देवेन्द्र, नरेन्द्र, वसतिके स्वामी, क्षेत्राविष्ठित देवता तथा साधमियो द्वारा धामण्य के साधन अर्थात् अध्ययन कायशुद्धि तथा गयमादि के साधन वसतिवा, विकृति अर्थात् राख मृत्तिकादि, पिच्छी, वृसी अयति द्रवो वा आसन, धारण, कुडी अर्थात् कर्म-इल्लु आदि विधि पूर्वक दिये जाने पर मुनियो को लेना चाहिये।"

"जो पदार्थ धर्म के साधन रूप है उनको नरेन्द्र आदि के द्वारा दिये जाने पर मुनिराज आगमानुसार प्रवृत्ति करे। इससे साधु मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करता है।"

पाच भावनायें इस व्रत में स्थिरता के लिये निम्नलिखित भावनायें बताई गई हैं "भून्यागार अर्थात् गुफा, वृक्ष की छोह आदि में निवास करना, विमोचितावास अर्थात् दूसरो से पाली कराये गये स्थान में निवास करना, परोपरोधाकरण अर्थात् वहां दूसरो के आने पर उन्हें नहीं रोकना, अन्यथा स्थान पर ममत्व होने से चोरी का दोष लगेगा। भिक्षु शुद्धि अर्थात् आचार शास्त्रानुसार निर्दोष आहार लेना (सदोष भोजन शास्त्र की दृष्टि से त्याज्य है। उसका ग्रहण आचार की

१ वसतिविकृति बह्वृसी पुस्तक कुण्डी-पुरस्सर श्रमणः।

श्रामण्यसाधन मवग्रहविधिना ग्राह्यमिन्द्रादे ॥ ४, ५४

२ शचीश-त्राचीश गृहेशदेवता सधर्मणा धर्मकृतेस्ति वस्तु मत् ।

ततस्तदादाय यथागम चरन्तः शचीशचु श्रियमेति शाश्वतीम् ॥

अनगारधर्माभूत--४-५५

दृष्टि से चोरी के दोषयुक्त होगा) साथ मियों के साथ यह मेरा, यह तेरा इस प्रकार ममत्त्व मूलक विवाद नहीं करना”, इन पाँच भावनाओं से अस्तेय व्रत में दीप नहीं आने हैं ।^१

इसके प्रगाद ने यह जीव प्रचन उन्मूलनी चोरो के पात से रत्न-त्रय रूप निधि को प्राप्त करता है । यह बात न्यायोचित है । जो जीव स्वयं चोरी करता रहे, वह अन्य व्यक्ति को यह कैसे कह सकता है, कि तुम चोरी न करो ? कानून में एक सूक्ति है कि जो न्याय चाहता है उसको स्वयं न्यायपूर्ण प्रवृत्ति करना चाहिए । मलिन हाथ वाला दूसरे से स्वच्छ व्यवहार की आशा न करे ।” इस दृष्टि से जब यह जीव चाहता है कि कर्म चोरो द्वारा इसकी रत्नत्रय निधि लूटी न जाय और यह उनका अधिपति बन जाय तो यह आवश्यक है, कि यह दूसरों की वस्तुओं को चुराने के कलक से पूर्णतया उन्मुक्त हो । ऐसी महत्वपूर्ण स्थिति अस्तेय महाव्रत द्वारा उत्पन्न होती है । दिगम्बर मुद्रा में इसका निर्दोष रीति में पालन होता है ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्य नाम का है । इस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है “ब्रह्मणि आत्मनि चरणं ब्रह्मचर्यं” ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है । यह निश्चयदृष्टि है । व्यवहार दृष्टि से अब्रह्म भाव का त्याग ब्रह्मचर्य है । अब्रह्म की परिभाषा सूत्रकार ने “मैथुनमब्रह्म” की है । चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम धारण करने वाले स्त्री पुरुष की विनय सेवन रूप त्रिया को अब्रह्म भाव कहा है । जिसके परिपालन करने से अहिंसादि गुणों की वृद्धि होती है, उसे ब्रह्म कहते हैं ।^१ इस ब्रह्म का अभाव अब्रह्म है । अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं:—जो वेद और राग के योग से स्त्री पुरुष का सहवास होता है, वह अब्रह्म है । उसमें जीव वध का सद्भाव सर्वत्र होने से हिंसा होती है । अब्रह्मभाव के त्याग रूप ब्रह्मचर्य को इन शब्दों द्वारा अनगार—धर्मानृत में समझाया है,—

“पर द्रव्य का त्याग करके शुद्ध तथा बुद्ध चैतन्य रूप में, ब्रह्म स्वरूप में जो प्रवृत्ति है, वह ब्रह्मचर्य है । यह व्रतो में सार्वभौम चक्रवर्ती के समान है । इसका जो पालन करते हैं, वे उत्कृष्ट प्रमोद को प्राप्त करते हैं ।”^२ इसके विषय में कहते हैं— “स्त्री में माता, बहिन, बेटों के समान रूपत्रिक को देखते हुए, जो स्त्री सबधी क्यादिकी निवृत्ति है, वह सत्पुरुषों की दृष्टि में ब्रह्मचर्य है ।” काम वासना की उत्पत्ति मन में होती है, इस कारण अब्रह्म को मनसिज, मनोज आदि नामों से कहते हैं । इस वासना का कारण जीव की मैथुन संज्ञा है । मैथुन संज्ञा अर्थात् काम वासना का कारण इस प्रकार बताते हैं—“कामोद्दीपक पदार्थ के आहार करने से, विषयोपभोग सम्बन्धी चिन्तन करने से, स्त्री आदि व्यक्तियों में आसक्त व्यक्ति को समति से तथा वेद नाम कर्म की उदीरणा से मैथुन संज्ञा होती है ।”^३

१ अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहंयति वृद्धिमुपयाति

तद् ब्रह्मेत्युच्यते । न ब्रह्माब्रह्म सुखबोध—वृत्ति पृ. १६४

२ या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धेश्चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः ।

तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पातिते याति परप्रमोदम् ॥४६०॥

३ पाणिदरस भोगणा तत्सुखभोगा कुसीलसेवाए ।

वेदस्त्वुदीरणा मेहुण सण्णा ह्ये चउहि ॥

परमात्म प्रकाश में लिता है— “जिस पुरुष के हृदय में सुन्दर स्त्री बस गई हैं, उससे ब्रम्ह-सुद्ध आत्मा नहीं है, यह विचारों में एक म्यान में दो तलवार कैसे समा सकती है ?” जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारों का रहना नहीं होता, उसी प्रकार जिस चित्त में स्त्री का राग भाव भर चुका है उसमें शुद्ध आत्मा का भाव नहीं टिक सकता है ।

कोई कोई यह सोचते हैं कि विषयो का सुख महान है इसीसे तो जीव का चित्त उसे छाड़कर आत्म भावना में नहीं लगता है । यह विचार भ्रम मूलक है । कहा भी है—“अपनी आत्मा का ध्यान करता हुआ जिस अनन्त आनन्द का मुनि अनुभव करता है, वह सुख इन्द्र को अनेक देवान-नाओं के साथ सुखोपभोग करने हुए नहीं मिलता है”^१ जैसे “आग में दाह होने पर सुख नहीं मिलता है, इसी प्रकार विषय रूप अग्नि में दहमान जीव के सुख नहीं है ।” सच्चा सुख उन मुनीन्द्रों को प्राप्त होता है, जो उस मोहाग्नि के सत्ताम से संतप्त नहीं होते हैं । कहा भी है—‘महान मोह को ज्वाला में जलने वाले जगत् के मध्य में विषया के संपर्क का त्याग करने वाले मुनिराज ही यथार्थ सुख का उपभोग करते हैं ।’^२

विषय सेवन जनित सुख का मन्वा सुख नहीं कहा जा सकता है । वह तो वेदना का प्रतीकार है । पूज्यपाद स्वामी कहते हैं, जैसे दाद की वेदना होने पर उसके तुजाने से क्षण भर आनन्द मालुम पड़ता है, पश्चात् वेदना की अनुभूति होती है, इसी प्रकार विषया के सेवन में क्षण भर आनन्द का आभास हाता है, पश्चात् विपत्ति के सिंधु में अपार दुःख भागना पड़ता है ।

श्वान का
बदाहरण

कहते हैं किसी श्वान ने सूखी हड्डी के टुकड़े को मुँह में दबाकर खाना शुरू किया । हड्डी के दबनेसे तालू छिद गया और उसमें से रक्त बहने लगा । वह कुत्ता

१ जसु हरिणच्छी हिय बडइ, तसु न वि बभु वियारि ।

एकहि केम समति बड, वे लडा पाठियारि ॥ १२२

२ ज मुनि लहइ अणत सुहु गिय अप्पा ज्ञापतु ।

त सुहु इडु बि ण वि लहइ देविहि कोडि रमतु ॥ ११८ ॥

३ दहमाने जगत्पस्मिन् महता मोहबन्धिना ।

विमृक्त-विषयासगा सुखायते तपोभना ।

अपन ही रक्त को हड्डी में से उत्पन्न मानकर कुछ समय तक हविष्य होता है, किन्तु पश्चात् कालान्तर में मुख के छिन्न भिन्न होने के कारण उत्पन्न व्यथा के वशीभूत हो चीखता-चिल्लाता है। इसी प्रकार यह मोही मानव विषय सेवन में सुख की कल्पना करता है तथा अन्त में दुःखी होते हुए पश्चात्ताप करता है।

जिस गृहस्थ के लिए पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना सम्भव नहीं है उसको कम से कम अपनी पत्नी में सतोष रखकर परस्त्री का त्याग करना चाहिए। इस व्रत में स्थिरता रखने से जीव महान् दोषों से बचता है। अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

“जो गृहस्थ मोहवश अपनी भार्या मान का परित्याग करने में असमर्थ है, उसको शेष संपूर्ण नारियों का सेवन नहीं करना चाहिये।”

रावण ने साता के रूप से आकर्षित होकर उसका हरण किया था उससे आज तक जगत में रावणकी कितनी अपकीर्ति हुई तथा हो रही है, इससे अभी सुपरिचित है। इसके सिवाय वह जीव नरक में दुःख भी उठा रहा है। रावण कितना प्रतापी, बुद्धिमान, विद्यावान्, गूणवान् था? किन्तु उसके सब गुण इस प्रकार भष्म हो गए, जैसे अग्नि की ली में गिरते ही लालच के प्राण नष्ट हो जाते हैं।

गृहस्थ का सोल घर्म अपनी स्त्री के सिवाय अन्यनारी के प्रति विषयासक्ति का भाव त्याग करने में है। अपनी स्त्री के प्रति भी अत्यन्त आसक्ति का दुष्परिणाम होता है। क्षत्रचूडामणि काव्य में लिखा है कि महाराज सत्यधर अपनी महारानी विजया में अधिक आसक्त हो गये थे। इस विषयासक्ति के कारण उनसे वाष्टांगार को मंत्री बना उस पर राज्य का भार रखा और स्वयं विषयो के दास बन गये। स्वार्थ साधना का अवसर पा वाष्टांगार ने राजा से युद्ध किया और स्वयं राज्य का अधिकारी बन बैठा। स्त्री सबधी राग के द्वारा उत्पन्न होने वाले अनर्थ का वर्णन करते हुए वादीभट्टिह सूरि लिखते हैं— ‘स्त्रा के राग वश जीव बड़े बड़े राज्य का त्याग करते हैं, प्राणोत्सव को छोड़ते हैं। रागी पुरुष ऐसी कौन सी चीज है, जिसका त्याग नहीं करते हैं?’

“यह स्त्री सम्बन्धी आसक्ति बड़ी भयंकर है। उसके द्वारा ठगाने

१ ये निज कलत्र मात्र परिहर्तुं शक्नुवन्ति नहि मोहात् ।

नि शपशेषयोपित्तिवेक्षणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

गये जीव महान साम्राज्य का तथा प्राणों का भी त्याग कर देते हैं। रागी पुष्प ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका त्याग नहीं करते हैं ?” अष्टम एडवर्ड ने सिसन नाम की युवती की आसक्ति वश इंग्लैंड के विशाल साम्राज्य के अधिपतित्व से सत्रथ छोड़कर विडसर के ड्यूक की सामान्य स्थिति को स्वीकार किया। बड़े साम्राज्य को छोड़ने में उनको वेदना नहीं हुई। ऐसी होनी है तीव्र विषया सक्ति।

ववि कहते हैं,—“स्त्री सपक के द्वारा प्राप्त सुख के विषय में यदियह विचार किया जाय, कि वह क्या है, कैसा है, कितना है, कहा है, तो जात होगा, कि वह अविचारित ही रम्य लगता है, यथार्थ में वह दुसह है, कठिनता से सहन करने योग्य है।”

पाट्टु दोहा में लिखा है—“हे जीव । इन्द्रियो के सम्बन्ध में ढीला मत बन, पाच में से दो का निवारण कर । एक तो जीभ का वग में कर और दूसरे परस्त्री का त्यागकर।”

‘यन्त्रस्तिलक’ चम्पू में महाराज यशोधर की रानी अमृतमति की कुत्सित प्रवृत्ति का बड़ा हृदयवेधी चरित्र अंकित किया गया है।

एक समय महाराज यशोधर अपने राजमहल के ऊपरी यशोधर की क्या भाग में आकर विस्तर पर लेटे। दुराचारिणी रानी अमृतमति ने उनको गहरी नीद में सोता हुआ समझा, यद्यपि वे जाग रहे थे। अमृतमति ने अपने सम्पूर्ण रत्नादि के आभूषण तथा मुन्दर वस्त्रादि को छोड़ कर चामरधारिणी के वेप को बनाया और उस कमरे से खाना हुई। महादेवी कहा जा रही है, इस विषय में संशय हो, धीरे धीरे महाराज यशोधर भी उसके पीछे २ चले। वे क्या देखते हैं, कि अमृतमति हस्तिनाला के प्रकोष्ठ में पहुँची, जहाँ कुक्ष, लगडा महावन रस्सों की राशि पर सिर रखकर गहरी नीद में

१ अधिस्त्रिरागः क्रूरोयराज्य प्राज्यमसूनपि ।

तद्वचिता हि मुंचन्ति किं न मुंचन्ति रागिणः ॥१, ७२॥

२ किं कीदृशं कियत्स्वेति विचारे सति दुसहम् ।

अधिचारितरम्य हि रामामपकंजं सुखम् ॥१, ७४॥

३ दिव्यं होहि म इदियह पचह विणिग्निवारि ।

एकं निवारहि जीहडिय अण्ण पराडिय णारि ॥४३॥

सो रहा था। उस पर अमृतमति आसवन थी। अमृतमति की देरी के कारण वह युद्ध हुआ। उस महाव्रत ने शोध में आवर वाम हस्त से रानी के बालों को खींचा और दूसरे हाथ से उसकी पीठ में धूसे लगाए।

उस समय अमृतमति ने उससे धमा मागी और कहा "मे तो तेरी दासी हूँ।" अनेक प्रकार से उसे सतुष्ट किया और पाप गिया में प्रवृत्ति की। महाराज यशोधर के चित्त में उसके उसी समय तलवार से दो टुकड़े करने की बात आई, किन्तु इसका आगामी क्या परिणाम होगा कैसा अण्वाद होगा, राजपुत्र यशोमति अपनी माता की मृत्यु पर क्या सोचेगा इत्यादि गम्भीर विचारों के कारण वह चुपचाप बापिस लौटे आए और विन्तर पर लेट गये। कुछ काल के बाद अमृतमति आई और इस तरह मायापूर्ण सपूर्ण प्रवृत्ति कर ली, मानो यशोधर महाराज को उसके दुराचरण का जरा भी वाध न हो। इस घटना से महाराज के अतःकरण में अवर्णनीय व्यथा तो उत्पन्न की ही, साथ में स्त्रियों की कुटिल वृत्ति आदि अवगुणों के प्रति तीव्र राग उत्पन्न कराया।

वे साचने लगे स्त्रियाँ गुण समूह का विनाश करने को साक्षात् दुर्नीति रूप हैं। जिस प्रकार दुर्नीति युक्त शासक के यहां ग्रामों में लोग नहीं रहते, उसी प्रकार स्त्रियों के पास गुणों का निवास नहीं होता है। वे तो स्वर्ग तथा मोक्ष के पथ की स्वभाव से अर्गला स्वरूप हैं"—सोमदेव सूरि कहते हैं, 'मेरा हृदय तो यह कहता है कि स्त्रियाँ की दृष्टि में साक्षात् विष भरा है। सर्पाँ में असली विष नहीं है, यही कारण है कि स्त्रियों के द्वारा दृष्ट मनुष्य भस्म होता हुआ देखा जाता है। सर्पाँ के द्वारा देखे जाने से लागो का जावन नष्ट नहीं होता है?' यशोधर महाराज साचते हैं? "पापण की कठोरता को दूरकर मृदु करने के उपाय है, किन्तु स्त्रियों के अतःकरण की कठोरता को दूर करने का कोई मार्ग नहीं है। इनकी सदा मान्यता करने वाले पुरुष को ये गृह के बन्दर के समान खूब नचाती रहती हैं।"

१ स्त्रीषु साक्षाद्विषदृष्टी न सर्पेष्विति मे मनः ॥

तद् दृष्ट एव लोको हि दृश्यते भस्मता गत ॥ ४, पृ - ६०

२ सुलभाश्च खलु शिलानामपि मृदूकरणे सति विधाय, नपुन स्त्रीणां।

इमा ह्यनिशमनुनीयमानागृहमर्कटमिव विटम्बमति पुरुषम्॥ य ति पृ ६१

महाकवि हरिचंद्र ने जीवंधर चम्पू में लिखा है, “सुन्दरियो का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर होता है। उनकी बाणी पुष्प से भी अधिक कोमल होती है। उनके वायें उनके केशों से अधिक कुटिल होते हैं इसी से धिवेकी पुरुष उन पर विश्वास नहीं कर करते हैं।”

गृहस्थ होते हुए भी अपने शीलमय उज्ज्वल जीवन द्वारा संपूर्ण विश्व को पवित्र करने वाले महात्माओं में श्रेष्ठ सुदर्शन का उदाहरण शीलव्रती सुदर्शन महत्वपूर्ण है। इनने मुनि दीक्षा धारण कर पाटलि पुत्र के समीप से मोक्ष प्राप्त किया था। आज भी पटना के गुलजारबाग स्टेशन से सत्रिकट इनके चरण-चिन्हों की पूजा की जाती है।

सुदर्शन चरित्र से ज्ञात होता है कि एक बार इनके कामदेव सद्यः सुहृद पर राजमाता अभयमति की कुदृष्टि पड़ी और उसके मन में इनके प्रति आसक्ति जाग्रत हो उठी। सुदर्शन सेठ महाशीलवान महात्मा थे। अभयमती ने अपनी दासी को भेजकर अपने पाप विचार इनके पास पहुंचाने का उद्योग किया, किन्तु उसका कोई फल न निकला।

सुदर्शन सेठ प्रत्येक अष्टमी तथा चौदस की रात्रि को श्मशान में जाकर वामोत्सर्ग हो आत्मा का ध्यान किया करते थे। इस रहस्य का ज्ञान होते ही रानी ने अपने विशेष पंडित द्वारा सुदर्शन को जबरदस्ती दासी के द्वारा राजमहल में बुलाया, जब कि वे वामोत्सर्ग-मुद्रा में श्मशान में ध्यान कर रहे थे। आत्मचिन्तन में निमग्न उन महामना को शील से विचलित करने के लिए दुराचारिणी कामान्ध रानी ने कल्पनातीत कुचेष्टायें की, किन्तु महात्मा सुदर्शन के अतःकरण में रच मात्र भी विकृति उत्पन्न न हुई और वे ‘कूर्मघत सहतेन्द्रिय’ रहे आए। प्रभात होने पर रानी का पापाचरण प्रगट हो जायगा। अतः अपना मनोरथ सफल होते न देख रानी ने अपना स्त्री चरित्र फैलाया।

अभयमति रानी ने अपने शरीर को अपने गलों द्वारा क्षत-विक्षत करके हल्ला मचाया, कि मेरे धर्म को नष्ट करने को यह पापी सुदर्शन मेरे महर्गमें पुसा था। उसके मायाजालमें राजा फस गये। राजाने बिना अनुसंधान किये ही पुण्यचरित सुदर्शनको फासी देनेकी आज्ञा दे दी। फासी देते समय वन देवताने महात्मा सुदर्शन की रक्षा की और चाण्डालके हाथ कीलित कर दिए। राजा ने अपनी सैन्य भेजी, वह भी उसी प्रकार कील दी गई। अंत में राजा

साम्हने आया। अपने सब उपाय विफल देख वह भोचबका हो धबड़ा गया। उस समय वन देवता ने कहा "राजन्! तेरी रक्षा का उपाय एक है, कि तू महात्मा सुदर्शन के चरणों में आकर क्षमा याचना करे।" राजा को अपनी ही रानी का दुश्चरित्र ज्ञात हुआ। उसने महामना सुदर्शन से क्षमा मागी। सेठ सुदर्शन के शील की संसार भर में प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार कुटिल प्रवृत्ति वाली स्त्रियों के जाल से बचकर शीलरत्न की रक्षा करने वाला मानव पुष्पोत्तम बनता है।

हिन्दू पुराणों के द्वारा यह ज्ञात होता है, कि इस ब्रह्मचर्य को पालन करने में असमर्थ होने के कारण महान ऋषियों ने कितने बड़े पापाचरण किए हैं। स्वयं ब्रह्मा जो अपने आपको न सम्हाल सके। कहते हैं, ब्रह्मा की भयंकर तपस्या को देख इंद्र ने उनकी डिगाने का उपाय विचारा और एक तिलोत्तमा अप्सरा को भजा। अप्सरा ने सुन्दर रूप बना अनेक भाव भंगी सहित नृत्य करना प्रारंभ किया। ब्रह्मा देव का चित्त उस नृत्य में ऐसा लगा कि चारों ओर घूमकर नृत्य दर्शन का आनन्द लूटने के हेतु अपने सा के प्रभाव से अपने को चतुरानन - चार मुखवाला बना लिया। इस कामना के द्वारा ब्रह्मा की तपस्या की राशि क्षीण हो चली थी, कि अप्सरा ने मस्तक के ऊपर की ओर नृत्य आरम्भ किया। ब्रह्मा ने तीव्र आसक्तिवश ऊपर की ओर मुख बनाने की इच्छा की। पुण्य क्षीण हो

"What happens to the snake you catch, Sheikh Moussa?". I keep them until they die. I am forbidden to kill them, as then I would lose my power over them. He (Moussa) warned me, however very frankly, if somewhat naively, not to wear the talisman should I engage myself in intimate relations with a woman, as then it would be temporarily deprived of some of its power .. (P. 236 ")

"An extraordinary requirement but one common enough in all initiations by Yogis and Fakirs of the Orient was that for seven days before the power was transmitted the disciple had to seclude himself and live only on little bread and water. He should also devote the week to prayer and meditation detaching himself from all worldly concerns & interests for the period.

A Search in Secret Egypt" by Paul Brunton.

ज्ञान से मानव मुक्त के स्थान में पाववा मुख गर्दभ का बन गया। इस प्रकार ब्रह्मा देव को तपस्या भ्रष्ट करके अप्सरा ने इन्द्र देव के प्रसाद को प्राप्त किया।

शैल द्वारा मन्त्र
साधना

व्रत जप, तप का प्राण ब्रह्मचर्य का पालन है। मन्त्र साधना में इस व्रत की आवश्यकता है। महापुराण से ज्ञात होता है कि चरुवर्ती भरत ने मगध देव को वश में करने को मन्त्र सिद्धि के हेतु ब्रह्मचर्य धारण किया था।

मन्त्र साधना में ब्रह्मचर्य का धारण करना आवश्यक कर्म है। यह बात सारे विश्व भरके मन्त्र साधको द्वारा मान्य है। ईजिप्ट देश में पाल ब्रिटेन नामक अंग्रेजी यात्री गया था। उसने भी वहाँ के मात्रिकों से मिलकर उपरोक्त बात का ज्ञान तथा परिचय प्राप्त किया था। उसने सर्प तथा विच्छ आदि के विष उतारने की विद्या बहा सीखी थी।

इस ब्रह्मचर्य के विषय में दिगम्बर जैन श्रमणा का जीवन बड़ी उज्ज्वल सामग्री प्रदान करता है। पद्मपुराण में एक बड़ी प्रभावक कथा आई है। क्षेमकर नरेश के देशभूषण कुलभूषण नाम के बड़े बुद्धिमान तथा चरित्रवान पुत्र थे। उनसे सागर घोष नाम के विद्वान के पास विद्या सीखकर निपुणता प्राप्त की। एक समय वे नगर में से जा रहे थे। उनकी दृष्टि एक राजकन्या पर पड़ी। दोनों तरफ राजकुमारों के मन में उस कन्या के प्रति आमक्ति का भाव उत्पन्न हुआ। उस समय बदीजनों के मुख से ये शब्द निकले—“राजा क्षेमकर विमला रानी सहित चिरकाल तक जीवित रह, जिनके ये पुत्र देवों के समान हैं। राजमहल के झरोखे में विराजमान राजकन्या कमलोत्सवा भी जयशील हो, जिसके मुन्दर गुणों से वर्धमान भाई देशभूषण कुलभूषण नाम के राजकुमार हैं।”

इन शब्दों ने राजकुमारों के हृदय में वैराग्य उत्पन्न कर दिया। वे सोचने लगे “हमने जो पाप भावना की, उसके लिए अनेक बार धिक्कार

१ साक विमलया देव्या धीमान क्षेमकरो नृप ।

चिर जयति यस्येती तनयी त्रिदशोपमी ॥१६७॥

वातापतनस्तिस्रपापि कन्यका कमलोत्सवा ।

अयति भ्रातरावेती यस्याश्चाह गुणोत्कटी ॥१६८॥

है। यह मोह की भीषणता है, जो हमारे मन में सगी वहिन के प्रति वाम के भाव उत्पन्न हुए। जब प्रमादवश चित्तन मान से हमें इस प्रवार दुःख हुआ, तब जो इस प्रवार का नाग करते हैं, उनकी बड़ी हिम्मत कहना चाहिए। अरे ! दुःख से पूर्ण यह सत्तार सार-शून्य है, जहा पापी जीवों के ऐसे भाव होते हैं।" ऐसे उज्ज्वल विचारों से उनकी आत्मा का मोहभाव दूर हुआ और दोनों राजकुमारों ने दिगंबर दीक्षा धारण की।

इन मुनि युगल का दर्शन कर राम, लक्ष्मण तथा सीता ने महान आनंद प्राप्त किया था। उस समय एक असुर ने आकर इन साधु युगल पर भयकर उपसर्ग किया था। मायामयी सर्पों तथा विच्छुआ ने इनके शरीर को घेर लिया था। उस समय वे शुकलध्यान में निमग्न थे। राम तथा लक्ष्मण ने उपसर्ग दूर किया, तत्काल उन्हें वेदज्ञान प्राप्त हुआ। उनका ही निर्वाण स्थान कुयलगिरि पर्वत है।

कितना अद्भुत, कितना पवित्र और कितना प्रबोधप्रद चरित्र इन मुनीन्द्रों का है, जो श्रेष्ठ वैराग्य के शिखर पर आरुह हो सिद्धि बंधू के स्वामी हो गए। उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य और बाह्याभ्यंतर दिगम्बरत्व के प्रसाद से ये विश्व की मंगल विभूति बन गए। इस प्रसंग में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ये गायत्रि स्मरण में आती है।

"ऐसा कौन व्यक्ति है, जो न तो स्त्री-जन के वशीभूत है और न जिसका काम के द्वारा मान खंडित हुआ है ? कौन इन्द्रियों के द्वारा नहीं जीता गया है और कपयोग के द्वारा कौन सतप्त नहीं हुआ है ?

इसका मार्गिक उत्तर इस प्रकार है—"बहु व्यक्ति स्त्री वर्ग के अधीन नहीं है और न इन्द्रियों एवं मोह के द्वारा जीता गया है, जो बाह्य तथा अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों को नहीं ग्रहण करता है—अर्थात् जो यया-जात मुद्रा को धारण करता है। इस बात की मथार्थता देशभूषण कुलभूषण की जीवन गायिका द्वारा स्पष्ट हो जानी है।

विश्व के उत्थान और पतन के इतिहास का समीक्षण किया जाए, तो प्रतीत होगा कि इस स्त्री-आसक्ति के कारण ही बड़े बड़े साम्राज्य धूलि में मिल गए और उनका पना तक नहीं चलता है।

सो ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेख खडिय माण ।

को इदियेहि ण त्रियो को ण कसाएहि सत्ततो ॥

इतना ही नहीं, कुलीनता, विद्या, तप, परानम आदि संपूर्ण गुण राशि को यह स्मरानि क्षण भर में नष्ट कर देती है। कहा भी है 'कुल, शील, तप, विद्या, वित्त, प्रतिभा, वाग्मिव, तेजस्वित्व, दक्षता आदि गुण पुंज को प्रदीप्त काम भाव क्षण मान में इस प्रकार भस्म कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि तूण राशि को जला डालती है।

विकार के कारण आने पर अपनी पवित्रता और विवेक की रक्षा करनेवाला पुरुष ही महापुरुष माना जाता है। धन वैभव के द्वारा प्रदत्त महत्ता का सत्पुरुषों के समक्ष कोई मूल्य नहीं है। कठोर परोक्षण की अग्नि में जो चरित्र सुवर्ण की भाँति अधिक दीप्तिमान होता है, वही इसे महामानव की प्रतिष्ठा प्रदान करता है। आज के भौतिक विकास के फाल में आधिभौतिक अभ्युत्थान को ही महत्ता का कारण माना जाता है। चरित्र की कसौटी पर जीवन को कसकर परखने की प्रवृत्ति लुप्त प्राय सी हो गई है। किन्तु इस सत्य को सदा शिरोधार्य करना होगा, कि जब तक श्रेष्ठ चरित्र सत्पुरुषों का सद्भाव रहेगा, तब तक ही मानवता का विकास होगा। इस प्रसंग में महापुरुष जीवंधरकुमार का लोकोत्तर जीवन कर्तव्य पालन के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

एक समय की बात है कि पर्यटन करते हुए जीवंधरकुमार कलात हो किसी अरण्य में विधाम कर रहे थे। उस निजन वन में एकाकिनी किसी सुन्दरी पर उनकी दृष्टि पड़ी। अन्य स्त्री के प्रति विरक्त उनके अन्तःकरण में पूर्णतया अक्षित थी, अतः वे उस ओर से पराङ्मुख हुए, किन्तु इनके सुन्दर रूप के देखते ही वह अगना इन पर आसक्त हो गई। उस विद्या-धरी को अग्ने प्रति अनुरक्त देख जितेन्द्रिय जीवंधर कुमार के मन में विरक्ति की भावना प्रबल हो उठी।

उसके सौन्दर्य को शव तुल्य गिनते हुए कुमार विचारने लगे यदि इस शरीर रचना को पृथक् देखा जाय, तो यह चर्म, मांस, मलादि रूप ज्ञात होगा। खेद है कि घृणा के पात्र इस चर्म, मांस, मल, मूत्र, रुधिर आदि के समुदाय में यह अज्ञानी जीव मोहित होता है।

यहाँ कुमार जीवंधरशरीर सौन्दर्य के आवरण को दूर कर तत्त्व विचार द्वारा देह की वास्तविकता का विश्लेषण कर रहे हैं, जिससे अन्तःकरण में अविवेक का अंधकार उत्पन्न हो। वे पुनः सोचते हैं, विश्लेषण करने पर इस देह में दुर्गन्ध, मल, मांस, रुधिर आदि

को छोड़कर अन्य कोई ऐसी सामग्री नहीं दिखती है जो इसमें आत्मा के मोह के कारण को बता सके ।

यह शरीर ज्ञान रहित है । अपवित्रता का बीज तथा पुंज है । इसमें सस्पृह होकर यह आत्मा इस बात को स्पष्ट करता है कि वह बमों के परवश है । यदि आत्मा स्वाधीन होता तो ऐसे अपवित्र पदार्थ में क्यों आकर्षित करता ?

विद्याधरी को अपने पर आसक्ति का कारण वे इस प्रकार सोचते हैं “मेरे शरीर के भरे हुए बल यवत मांस को देखकर विचार शून्य यह भारी परवश हो अंधी हो रही है, अतएव आत्मा के हितार्थ यहां से चलना ही श्रेयकर है ।’

वस्तु को रागात्मक अंतःकरण से देखने पर वह रमणीय मूर्ति युक्त प्रतीत होती है, किन्तु बीतराग भाव से देखने पर वही वस्तु बंधन का कारण ज्ञात होती है । जब तक दृष्टि में परिवर्तन नहीं होता तब तक प्रवृत्ति में मयार्थ सुधार नहीं होता है । कुमार जीवधर के चित्त में वैराग्य की ज्योति जग गई, इससे वे स्त्री के विषय में अपनी विश्लेषण मयी दृष्टि डाल उसे जुगुप्सा का भंडार सोचने लगें ।

सोमदेव सूरि ने नीतिवाक्यामृत में लिखा है—“महान पुण्यशाली पुरुषों के पराई स्त्री के दर्शन के विषय में अन्व भाव रहता है ।”

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति स्त्री को सौन्दर्य की राशि नहीं देखता है किन्तु वह यह समझता है कि “उसका शरीर मल-जन्य है, मल का जनक है । उसमें तो मल बहता है, वह अत्यन्त दुर्गन्ध, घोभत्स है । इस प्रकार विचार कर वह स्त्री सेवन से विरक्ति धारण करता है।”^१ उस ब्रह्मव्रती की महिमा में सागर धर्माभूत का घयन बड़ा महत्वपूर्ण है—

“आत्मा को आगम में अनंत शक्ति समन्वित कहा है, यह वास्तविक बात है, प्रशंसा वाक्य नहीं है । कारण अपने ब्रह्मस्वरूप में चर्चा करने वाला

१ परकलग्न दर्शने अन्वभावो महामाग्यानाम् । व्यवहारसमुद्देश्य सूत्र २५

२ मलयोजं मलयोनिं मलमलं पूतिगंधि बीमत्सम् ।

पश्यन् अंगमनंगात् विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

आत्मा ही विश्वविजेता वाम को जीतता है ।" संसार के सभी जीवों को मँथुन संज्ञा ने सत्रस्त कर रखा है । मनुष्य, देव, विद्याधर, तिर्यङ्च आदि सभी काम वासना के अधीन हैं । जिनेन्द्र पथ में प्रवृत्ति करने वाले मुनि-राज उस काम को पूर्णतया जीत लेते हैं ।

बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का स्तवन करते हुए आचार्य सिद्धसेन कहते हैं:—“भगवन्! जिस रति-पति वामदेव के समक्ष महादेव आदि का जोर नहीं चला, इसीसे पार्वती को अर्धांगिनी बनाया, उसे आपने क्षण भर में नष्ट कर दिया । अग्नि को बुझाने वाले जल को क्या बड़बानल नहीं पी जाता है ?”

अगना के प्रेमपाश से पूर्णतया मुक्त रहने वाले वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर ये पाँच तीर्थंकर पंच बाल्यति के नाम से विख्यात हैं । उन पंच तीर्थंकरों की पूजा में यह पड़ा जाता है —

“श्री वासु पूज्य मल्लि नेमि पारस वीर अति ।

नमो गन्, चच, तन धर प्रेम पाँचों बाल्यनी ॥”

इसमें भगवान् नेमिनाथ की जीवन गाय, ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में बड़ा सुन्दर उदाहरण है ।

शीलमूर्ति
नेमिनाथ

सीराष्ट्र देश में भगवान् नेमिनाथ के विवाहोत्सव की तैयारी पूर्ण हो चुकी थी । राजकन्या राजीमती के पुण्य की सभी सराहना कर रहे थे, जिसके प्राणनाथ भगवान् नेमिनाथ होने वाले हैं । इतने में विवाह के जुलूस के समय करुणा मूर्ति प्रभु ने पशुओं का करुण नन्दन सुना और पशु रक्षकों से पूछा—“किमर्थमिदमेकन निरुद्धं तृणभुक्कुलम् ?” (उत्तर पुराण १६२ पृ. ५०९) किस कारण से तृण-भक्षण करने वाले दीन पशु यहाँ अवलुट किए गए हैं ? उत्तर में कहा गया —

देव ! वासुदेव की आज्ञा से आपके विवाह महोत्सव में आने वाले लोगो के खाने के लिए ये पशु यहाँ रखे गये हैं । इसे सुनते ही अत-करण में विरक्ति का भाव उत्पन्न हो गया । जो अभी राजीमती के प्राणनाथ बनने जा रहे थे, वे अपने को प्राणियों का नाथ सोचने लगे ।

१ अनत-शक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः ।

यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयैत्स्मरम् ॥७-१७

वे विचारने "लगे मनुष्य कितना निर्दय होता है ? देखो बेचारे मृगकुल की निवास भूमि जंगल है, जंगली घास और पानी उनका निर्दोष आहार-पान है; फिर भी लोग इनका वध करते हैं । जगत् में मनुष्यों की क्रूरता को, तो देखो ।"

"बड़े बड़े शूरवीर अपने पैरों में कंटक न चुभ जाय इस भय से जूते पहिना करते हैं, किन्तु वे ही सैकड़ों तीक्ष्ण शस्त्रों के द्वारा शिकार करते समय इन मृदु मृगों पर प्रहार करते हैं ।" पुनः वे सोचने लगे, "ब्राह्मणदार्थों के निमित्त ये उत्पन्न अत्यन्त महान भी सासारिक सुखों से सतारी जीवों की तृप्ति नहीं होती । विद्याधर, देव, नरेश, की पर्याय में राजा जयन्त विमानवासी देव की पर्याय में सागरों पर्यन्त आयु प्राप्त कर उनका खूब भोग करने के बाद भी मेरा मन संतुष्ट नहीं हो सका । इस कारण विषयोत्पन्न विनाश शील, संतापप्रद सुखों का त्यागकर मुझे अक्षय तथा संताप-शून्य आत्मिक मोक्ष सुख को महान तप के द्वारा प्राप्त करना चाहिये ।" (हरिवंशपुराण)

इस प्रकार विचारकर भगवान् नेमिनाथ ने सर्व परिग्रह त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण की । उनके जीवन के अद्भुत परिवर्तन का सीराष्ट्र में आज भी असाधारण असर दिखाई देता है । वहां जीव दया का स्रोत आज भी अपनी शीतल धारा द्वारा दीन होत पशुओं तक के प्राणों को परिचाण प्रदान करता है । वही कारण है कि पशुओं के रक्षणार्थ स्थापित किये जाने वाले विजरा पोलो का सीराष्ट्र में अब तक सद्भाव चला जाता है । कल्याण के कर्णों से पूरित गुजरात की भूमि ने गांधी जी सदृश एक अहिंसा विद्या के समर्थ प्रचारक को जन्म दिया, जिन्होंने संपूर्ण भूवल्लय पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप लगाई । इधर नेमिनाथ प्रभु श्रेष्ठ तपस्वी बने, तो उधर राजीमती ने अपने प्राणनाथ का पदानुसरण कर ध्येष्ठ तपस्वनी की प्रतिष्ठा प्राप्त की । एक ने पुरुष जाति के मस्तक को उन्नत किया तो दूसरे ने नारी जाति को अचितनीय गौरव प्रदान किया । इन नेमिनाथ प्रभु की सपत्न्याके कारण उर्जयन्त गिरि संसार के संतों और साधकों की बंदना का स्थल हो गया ।

१ चरणकंटक-वेध-भयाद्भटा विदधते परिधानमुपातहं ।

मृदुमृगान्मृगयानु पुनः स्वयं निशितशस्त्रघातैः प्रहरन्ति हि ॥९३॥

एक कवि का कथन “हैं जो स्त्री अनुरक्त पर विरक्ति धारण करती हैं, उसे मैं नहीं चाहता हूँ, मुझे तो वह मुक्ति-श्री प्रिय है जो विरागी का वरण करती है।”

सम्राट अमोघवर्ष अपनी प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका में कहते हैं—
“ससार में गहन कोई वस्तु नहीं है, यथार्थ में स्त्री का चरित्र समझना कठिन है। ऐसी स्त्री से जो नहीं ठगाया जा सका वही चतुर है”—

अब्रह्म भाव आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करने में सबसे बड़ा बाधक है। विषय सेवन का विषय यदि पुरुष पीता है, तो उसका मरण अवश्यम्भावी है, और यदि स्त्री पीती है, तो उसकी दुर्गति को कोई भी नहीं टाल सकता है। प्रत्येक जीव अपने अपने कर्म के फल को भोगता है, बत जो व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री इस शील रत्न को धारण करेगा, वह अपने नर जन्म को कृतार्थ करेगा। जैसे एक के अक के होते हुए शून्यो का मूल्य है और एक के अभाव में शून्यो का कुछ भी मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के होने पर ही सर्व गुणों में प्रतिष्ठा आती है। उसके अभाव में वे मृत-प्राय हो जाते हैं।

यवन राज्यकाल में शीलवती स्त्रियों पर सन्देह का पहलू टूट चुका था, उस समय वीर वालाओं ने सहर्ष मृत्यु की गोद में सो जाना ठीक समझा, किन्तु मुगलों के यहाँ के सुखों को सडास वास से भी धूँलित निश्चय किया। उनके विशुद्ध चरित्र के प्रति कौन मानव आदर के भाव व्यक्त न करेगा ?

शील धर्म की रक्षा करने वाली नारियों में आज भी जन साधारण में, देश में विदेश में, माता पिता का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। कर्मोदय की कौसी विचित्रता है, कि शीलवती सीता के विषय में भी अपवाद लगा दिया गया, और राम सदाश विवेकी नरेन्द्र ने गर्भवती स्त्री का विचार न कर उसे वृत्तान्तवन्न सेनापति के साथ भीषण वन में भिजवा दिया, मानो सीता के चरित्र के प्रति अपवाद उठाने वालों के संतोषार्थ निर्दोष देवी के लिए और स्थान नहीं था, जहाँ वह विपत्ति की व्यथा से बच जाती।

जब राम सीता के प्रति बच से भी पठोर धन गये, तब सीता को मानव स्वभाव के अनुसार राम के प्रति पठोर होना नैसर्गिक बात होती, किन्तु राम की कुसुमाधिक मृदुता सीता के पास पहुँच गई प्रतीत होती है, इसी कारण सीता ने राम के प्रति प्रेषित अपने सदेश में परम प्रेम और

कल्याण की भावना व्यक्त की थी । महाकवि रविपेण ने उसे इन शब्दों में निबद्ध किया है ।

कृतान्तवक्र सेनापति राम से कहता है—“महाराज सीता का संदेश मे कहता है, सो सुनिये । मैथिली देवी ने आपसे कहा है कि यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं, तो जिस प्रकार आपने हमें त्याग दिया, इस प्रकार जिनेन्द्र देव की भक्ति को नहीं छोड़ देना । भीषण निर्जन वन में हमें छोड़ लिया, इसमें क्या दोष है ? किन्तु सम्मगदर्शन की विसृष्टता इस प्रकार छोड़ी जाने योग्य नहीं है । मेरे साथ वियोग का दुःख तो केवल इस भव में ही है, किन्तु सम्मगदर्शन की हानि होने पर भव में दुःख होगा । इस लोक में निधि, स्त्री, वाहनादिक की पूर्ति सुलभ है । सम्मग दर्शन की प्राप्ति साम्राज्य के लाभ से भी महान है । राज्य में पाप को करते हुए निश्चय से नरक में पतन होता है, उर्ध्वलोक में गमन केवल सम्यक्त्व के तेज से होता है ।”

सदा विपत्ति के क्षणों में धर्मात्मा जीवों का पुष्प सहायक होता है । यशास्तिलक में लिखा है कि जब भारिदत्त महाराज के आदेशानुसार चंडमारी के मंदिर में बलिदान के हेतु अभयश्चि मुनिकुमार तथा अभय मती को ले जाया गया, उस समय देवी के उस भीषण मंदिर में भयंकर सामग्री को देखकर अभयश्चि ने अभयवृत्ति को धारण करते हुए अपनी बहिन साध्वी अभयमति से कहा था —

“हे बहिन ! ग्राम में एवं अटवी में तपस्वियों के रक्षक निर्मल विवेक और तपश्चरण ही होते हैं, अतएव साक्षात् यम के समीप होते हुए भी अपने को अनाथ नहीं सोचना चाहिए । ऐसी स्थिति में यदि मृत्यु भी हो जाय, तो कोई डर की बात नहीं है, वह तो परम प्रमोदको प्रदान करे ही है ।”

यही सदाचार, शील, जिनेन्द्र भक्ति का बल माता सीता के संकट काल में सहायक रहा है । विपत्ति काल में धर्म के सिवाय और कोई सहारा नहीं होता है ।

कुरल काव्य में लिखा है—“जब तुम पर संकट आ जाय तब तुम हंसते हुए उसका मुकाबला करो, क्योंकि मनुष्य को आपत्ति का सामना करने के

विशुद्धबोधं तप एव रक्षा श्रमेष्वरण्ये च संयतानाम् ।

अतः कृतान्तेपि समीपवृत्तौ भातर्मनो मास्म कृयाः निरीक्षाम् (१-१३९)

लिए सहायता देने में मुस्कान से बढकर और कोई चीज नहीं है" (१६०)

माता सीता की विपदा का काल बीता । राजा वज्रजघ ने सीता को बड़ी बहिन मान अपने राज्य में रखा; उस समय सीता को प्रतीत हुआ मानो सगा भाई भामडल ही वज्रजघ नरेश के रूप में मिला है ।

वज्रजघ के यहा ही जानकी के युगल पुत्र-महाप्रतापी लव और कुश हुए । कुछ काल व्यतीत होने के पश्चात् विभीषण, सुग्रीव, हनुमान आदि ने सीता के विषय में राम से प्रार्थना की, तब राम ने कहा, लोकापवाद के कारण सीता को निर्दोष जानते हुए भी मैंने परित्याग किया है, अतः लोगो में विश्वास उत्पन्न करके ही सीता हमारे यहा आ सकती है । इसलिए समस्त देशो के नरेशो को बुलाकर सबके समक्ष सीता की शुद्धता का निश्चय होना आवश्यक है ।

उस समय राम की इच्छानुसार देशदेघातर के नरेश तथा प्रजा-जन अयोध्या में एकत्रित हो गए । पुष्पक विमान भेजकर माता सीता को लाया गया । उस समय भी राम के हृदय में जो वज्र से भी अधिक कठोर बन गया था, मृदुता आते २ पुनः काठिन्य का प्रादुर्भाव होगया । राम बोले, देवि ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारा शील निर्दोष है—

"रामो जगद जानामि देवि शीलं तवानघम्"—(१०४-७२) किन्तु क्या किया जाय, यह तुम्हारा अपवाद प्रगट हुआ है, अतः स्वभाव से कुटिल चित्तयुक्त प्रजा को सशय मुक्त करो ।"

इस पर वैदेही बोली, "नाथ ! मैं विषों में सर्वश्रेष्ठ कालकूट विष को पीने को तैयार हूँ, जिसको सू घते ही आशीविष सर्व भी भस्म की प्राप्त हो जाय । अथवा मैं अग्निज्वाला के साथ तुलने को तैयार हूँ, अथवा भीषण अग्नि की ज्वाला में प्रवेश करने को मैं तैयार हूँ । जो बात आपकी सम्मत हो, उसे मैं करूँ ।"

उस समय फूछक्षण विचारकर राम ने कहा— "अच्छा अग्नि में प्रवेश करो ।" सीता ने अत्यन्त हर्षित होकर कहा "मैं अग्नि में प्रवेश करने को तैयार हूँ ।" उस समय सब प्रजाजन दुःखी होकर बोले "महाराज ! ऐसा

१ आरोहामि तुला बन्धिज्वाला रौद्रा विशामि वा ।

यो वा भवदभिप्रेतः समयस्तं करोम्यहम् ॥७६॥

न कीजिए। सीता सद्दश सती दूसरी नहीं है”। तब राम ने कहा—

“यदि आप लोग इस प्रकार दयावान हैं, तो पहले लोगों ने अपवाद कैसे फैलाया था ?” तत्काल ही राम के आदेश से तीन सौ हाथ लम्बों चीड़ों खाई खोदी गई और उसमें ईंधन डाला गया।

“साक्षान्मृत्युरिवोपात्त विग्रहः— साक्षात् सशरीरमृत्यु के समान वह जलता हुआ कुंड बनकर तैयार हो गया। उस समय ऐसी भयंकर ज्वाला उठ रही थी, मानो सारे संसार में बिजली ही बिजली भर गई हो, वयवा ऐसा प्रतीत होता था, कि कहीं हजारों सूर्यों ने एकत्रित होकर आकाश को तो नहीं घेर लिया है। (१०५-१८)। ऐसी भीषण स्थिति में अग्नि में प्रवेश करनेवाली सती शिरोमणि सीता ने क्या किया ?

सीता देवी उठी, कुछ देर तक कार्योत्सर्ग, ध्यान किया; धर्म तीर्थ की देसना देने वाले ऋषभ देव आदि तीर्थंकरों की स्तुति की, जिनकी मूर्ति मनोर्मंदिर में विराजमान थी। सिद्ध भगवान् समस्त साधु परमेष्ठी को नमस्कार करके, मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर को प्रणाम किया, जिनके तीर्थ का उस समय परम ऐश्वर्य संयुक्त तथा उत्कृष्ट हृषं संपन्न देव, असुर मनुष्य आराधना करते थे। संपूर्ण जीवों के हित करने वाले आचार्य परमेष्ठी के अंतःकरण में विराजमान चरण युग्म को प्रणाम कर उदार गंभीर तथा विनीत जानकी बोली—

“यह बात सत्य है कि मैंने मन वचन काम से स्वप्न में भी राम को छोड़कर दूसरे पुरुष को स्वीकार नहीं किया है।”

“यदि मेरा यह कथन मिथ्या हो, तो यह अग्नि क्षण मात्र में मुझे भस्मी भूत कर दे।”

“यदि मैंने पक्ष को छोड़कर अपने अन्तःकरण में दूसरे पुरुष को धारण किया है, तो यह अग्नि शुभ बुद्ध समन्विता को भस्मीभूत न करे, किन्तु यदि मैं पापिनी, छुद्र, व्यभिचारिणी, निष्पार्थिवनी हूँ, तो यह अग्नि मुझे भस्म करदे, और यदि मैं सती हूँ, तो यह मुझे भस्म न करे।” यह कहते हुए देवी सीता ने अग्नि कुंड के भीतर प्रवेश किया। तत्काल ही वहाँ स्फटिक के समान स्वच्छंद, शीतल, आनंद प्रद जल हो गया। सर्वत्र

१ कर्मणा मनसा वाचा रामं मुक्त्वा परंररम् ।

समुद्रहामि न स्वप्नेष्वन्यं सत्यमिदं मम ॥२५॥

सीता सती का उज्ज्वल यश व्याप्त हो गया ।

उस समय सीता ने राम से कहा "हे बलदेव ! अब महा क्षुद्र, विनश्वर एव भयकर इन्द्रियो के भोगों से, जो मूढ़ों के द्वारा सेव्य हैं, क्या प्रयोजन है ? मैंने अनंतभव चौरासी लाख योनियों में महान दुःख पाये । अब मैं सपूर्ण दुखों के विनाश के लिए जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूंगी ।

इसके पश्चात् सीता देवी ने पृथ्वीमती आदिका के समीप केशो का लोचकर आदिका के व्रत धारण किए ।

आज अपरिमित काल व्यतीत होते हुए भी सती सीता अपने उज्ज्वल शील गुण के कारण विश्व वदित विभूति के रूप में अमर हैं तथा अगणित रमणियों को पवित्र सतीत्व का आदर्श स्मरण कराती हैं ।

शीलवती नारियो शील और ब्रह्मव्रत के क्षेत्र में पुरुषों के समान मान्ता जाति ने भी गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त की है । कुमारकाल की पूज्यता में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली महिला रत्न

ब्राह्मी, सुन्दरी नामकी भगवान वृषभनाथ की कन्याओं के गौरव को कौन भूल सकता है ? चन्दना, सुलोचना, नीली, चेलना आदि सतियों की गुण गाथा शुभोपयोग की पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है । जिनेन्द्र महाभियेक पाठ में चौबीस जिनमातृवाओं का इस प्रकार स्मरण किया जाता है, "मरुदेवी, विजया सुपेणा, सिद्धार्था, सुमंगला, सुतीमा, पृथ्वी, लक्ष्मणा, जयरामा, सुनन्दा, विपुला-नन्दा, जयावती, आर्यश्यामा, लक्ष्मीमति, सुप्रभा, ऐरादेवी, श्रीकान्ता मिशसेना, प्रभावती, सोमा, वर्मिला, शिवादेवी, ब्राह्मी विशाला, हम पर प्रसन्न हो ।" मोक्ष मार्ग की पूर्ण साधना तथा महाव्रतों का पालन पुरुष ही कर सकता है, इससे पुरुष की मुख्यता से ग्रथों में वर्णन है ।

ज्ञानार्णव में लिखा है ।^१ "यद्यपि ससार से विरक्त मुनियों ने

१ यमिभिर्द्वन्द्व-निर्विषणैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।

तथाप्येकान्तनस्तासा विद्यते नायसम्भवः ॥५६॥

ननु सति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।

निज-वश-तिलकभूनाः श्रुतसत्यसमन्विता नायं. ॥५७॥

सतीत्वेन महत्त्वेन वर्तनं विनयेन च ।

विवेकेन स्त्रियः काश्चिद्भूयसि परात्तलम् ॥५८॥

स्त्रियों को दोष युक्त कहा है । किन्तु उनमें एकान्त रूप से दोष का सद्भाव नहीं पाया जाता है । इस जगत में शांति, शील, संयम संपन्न, श्रुतज्ञान तथा सत्यसमन्वित एवं अपने वंश के तिलक रूप महिलाएं पाई जाती हैं ।”

“कोई कोई स्त्रियां अपने सतीत्व, महत्त्व, चारित्र्य, विनय तथा विवेक के द्वारा भूतल को अलंकृत करती हैं ।” जिस तरह पुरुष स्त्रीके दोषों का चिन्तन कर वैराग्यभाव को वर्धमान करता है, इसी प्रकार शीलवती स्त्री भी विषय लपटी लोगों का विचार कर उनसे बचते हुए अपने शील रत्न की रक्षा करती है । इतना अवश्य है कि स्त्री और पुरुषों का निकट संपर्क दोनों के पुण्य जीवन के लिए घातक हो सकता है, अतएव दोनों को अपने-अपने सदाचरण के रक्षणार्थ सतर्क

रहना आवश्यक है ।

युवक युवती
आज जो दोनों के समान स्वत्वों की आयाज उठने के
सान्निध्य ठीक नहीं है साथ युवको तथा युवतियों के साथ साथ अध्ययन की

प्रक्रिया चल पड़ी है, उसका परिणाम सदाचरण की दृष्टि से अच्छा नहीं हो सकता । जब घीतराग शासन की छाया में रहने वाले पुत्रों और स्त्रियों को बैठने का पृथक् २ स्थान रहता है तब सराग जगत की स्थिति में तो और सतर्कता आवश्यक है । भगवान् तीर्थंकर के समवशरण के भीतर जन्म विरोधी जीवों में मित्रता उत्पन्न हो जाती है, कारण तीर्थंकर भगवान् का अचिंत्य प्रभाव वहां कार्य करता है । इतना अपूर्व प्रभाव होते हुए भी वहां स्त्री और पुरुषों के बैठने का स्थान पृथक् पृथक् बताया गया है । समवशरण के प्रथम कोठे में गणधरदेव, दूसरे में कल्पवासिनी देवी, तीसरे में आदिकार्य तथा आदिकार्ये, चौथे में ज्योतिषी दिव्यांगताएं, पाचवे में व्यंतरनी, छठवें में भवनवासिनी देवियां, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यंतरदेव, नवमें में ज्योतिषीदेव, दशवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में मनुष्य और बारहवें में त्रिचजीव बैठते हैं ।

(तिलोपवर्णन अध्याय ४ गाथा. ८५६-८६३)

जब परमवीतराग देव के सान्निध्य में मुनियों आदिकाओं, आदिकाओं और आदिकाओं, देव और देवियों को साथ बैठने का वर्णन नहीं आता, तो सराग जगत में जो आज युवको एवं युवतियों की सह शिक्षा की ओर

प्रवृत्ति बढ रही है तथा और भी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ स्त्रियों का सम्बन्ध जाड़ा जा रहा है, इसका कटु फल अब्रम्ह भाव की वृद्धि अवश्यभावी है। इस सम्बन्ध में विदेशों का विशेष चरित्र जहाँ प्रकाश में आया है, वहाँ अब्रम्ह की वृद्धि का फल ही प्रगट हुआ है।

गृहस्थ में ब्रह्मभाव की वृद्धि के लिए कहा है कि आठ वर्ष की अवस्था में बालक का उपनयन संस्कार यज्ञोपवीत विधान करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत देवे। वह स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, तथा परिग्रह त्यागव्रत भी लेता है। ताम्बूल आदि पदार्थों का सेवन नहीं करता है। वह भूमि पर शयन करता है।

भूमि केवल मेकाकी प्राचीन व्रत शुद्धये। (पर्व ३८-११६ महापुराण)

यह व्रत विद्याध्ययन पर्यन्त रहता है—“यावद्विद्या समाप्ति स्यात्तावदस्येदशव्रतम्” ॥११७॥ यह शिक्षाप्राप्त करनेतक ब्रम्हचारी रहता है तथा पश्चात् गृहस्थाश्रम को स्वीकार करता है। वह जिन व्रतों को जीवन भर पालता है, वे ये हैं—मांस, मधु, पचउदम्बर फल का त्याग, हिंसादि पचपापों का त्याग, ये आठ नियम सार्वकालिक व्रत कहे गए हैं—

उपनयन ब्रह्मचारी के साथ अवलम्ब ब्रह्मचारी का भी विधान है। वह क्षुल्लक रूप से रहकर आगमका पूर्ण अभ्यास करके गृहस्थाश्रम को अंगीकार करता है। जो बिना कोई वैष भारण किए अध्ययन काल तक ब्रह्मचारी रह पश्चात् गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी हैं। जो कुमार मुनि बनकर विद्या का अभ्यास करते हैं, पश्चात् बहु जन आदि के आग्रह से अथवा परीपह सहन करने की अक्षमता के कारण गृहस्थ बनते हैं वे गूढ ब्रह्मचारी हैं। नैष्ठिक ब्रम्हचारी सदा के लिए स्त्री का त्याग करते हैं। (सांगारधर्माभूत अध्याय ७, श्लोक १९)

निर्दोष ब्रम्हचर्य पालन का क्या उपाम है, इस विषय में आचार्य कहते हैं—जो हर्ष पूर्वक गुरु के कथनानुसार प्रवृत्ति करता है, वृद्धों के स्थान में धास करता है, तरणों की संगति नहीं करता है, वह निमैल ब्रम्हचर्य का रक्षण करता है।

यह योवन काम सर्प की निवास भूमि है। मानवों का स्फटिक के

१ मधुमासपरित्याग—पचोदुम्बरचर्जनम्।

हिंसादि-विरति इत्यास्य व्रत स्यात्सार्वकालिकम् ॥३८-१२२॥

समान निर्मल मन यौवन श्री के चरण पल्लव के रखते ही । रागभाव को धारण करता है ।^१

यौवन के उन्माद में इस जीव की इन्द्रिया निरंकुश हो जाती हैं । अनर्थकारी चार बातों में आद्य स्थान यौवन को प्रदान किया गया है :-

तारुण्य की वारुणी पिया हुआ व्यक्ति सद्गुरु के अंकुश की परवाह न कर मत्ता मर्त्तग के समान यथेच्छ प्रवृत्ति करता है । उसे दिन रात काम और कामिनी ही सूझा करती हैं ।

अतः जिस तारुण्य में विषय विष वेग से चढता है, उस अवस्था में विशेष सावधानी और विवेक पूर्वक प्रवृत्ति आवश्यक है । राग-रंजित अत करण रहने पर साक्षात् स्त्री की तो बात ही निराली है, उसका चित्र तक विह्वलता उत्पन्न करता है । पुराणों में अनेक कथाएं आती हैं कि चित्र-पट दिखाने मात्र से अनेक व्यक्तियों के चित्त में विकार भावना उत्पन्न हुई हैं ।

अनगार धर्माभूत में लिखा है -

‘ अधिक क्या कहा जाय, चित्र पाषाण आदि रूप युक्त स्त्री साकिनीके समान हृदय में प्रवेश करके सँकड़ो प्रकार की विकृति को उत्पन्न करती है, ।’ उनका यह कथन भी मार्मिक है:-

“समीचीन समाधि रूप अग्नि के द्वारा दग्ध किया गया साधु का राग रूपी पारा स्त्री की वाणी रूपी सिद्धोपवि के बल से पुनः जीवित हो जाता है ।”^२ अतः स्त्री के विषय में बहुत सावधानी रखना मुमुक्षु का कर्तव्य है ।

कोई किसान श्रमकर अपने खेत को विपुल धान्य से हरा भरा करता शील की रक्षा है, किन्तु यदि उसने खेत की रक्षा न की तो उस के उपाय बेचारे के किए कराए पर पानी फिर जाता है और अंत में पश्वत्कार ही प्राप्त होता है । इसी प्रकार इस दुर्धर असि धारा व्रत नाम से कथात ब्रह्मचर्य के रक्षण निमित्त नव बाढ़ों पर

१ यौवनमनगभुजंग-निवास-रसातलं । स्फटिकोपल-विमल-मपि मनो मानवानां यौवनलक्ष्मीपादपल्लवव्यासेन समुद्रहृति रागम् ॥

२ सन्ध्यायोगान्निना रागरनो भस्मीकृतोप्यहो ।

उज्जीवति पुनः साधो, स्त्री वाक्सिद्धोपधीबलात् ॥४-८७॥

ध्यान न दिया, तो अब्रह्म के पशु इस जीव की पवित्र खेती को खाकर खतम कर देंगे । कहा भी है —

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन, देखि रीझि भापे मधु घन ।

पूरव भोग केलिरस चितवन, गरुब अहार लेत चित चैन ॥

कर सुचि तग सिंगार बनावत, तिय-परजक मध्य सुख सैन ।

मनमय-कथा उदर भर भोजन ये नव बाढ जान मत जैन ॥ ३८

‘नाटक समयसार’

शीलव्रत की सार्व-
भौमिकता पर
विचार

स्वेनाम्बर शास्त्र स्थानाग लिखा है,” कि इस ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन चौबीस तीर्थंकरों में से केवल आदिनाथ और महावीर ने किया है । इसके आधार पर लोग महावीर और पार्श्वनाथ भगवान की धार्मिक देशना में

मतभिन्नता की कल्पना करते हैं । ब्रह्मचर्य जैसे सार्वभौम व्रत का उपदेश कुमारकाल से ही ब्रह्मचारी बनने वाले भगवान पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, वासुपूज्य सद्गुरु तीर्थंकरों के उपदेश में नहीं आना आश्चर्य की बात है । ब्रह्मचर्य का पारमाधिक अर्थ शुद्ध आत्मा में लीन होना है— ‘अत्राणि चरण ब्रह्मचर्यम्’ उस ब्रह्मचर्य व्रत की भुला देने की बात जिनेन्द्र सर्वज्ञ की वाणी में मानना योग्य नहीं मिलता ।” स्थानाग की टीका में लिखा है ‘यहाँ मैथुन का परिग्रह में अन्नभाव हो जाता है । स्त्री अपरिगृहीत रूप नहीं सेवन की जाती ।” यहाँ जो कथन दिया गया है वह शिथिलाचार का पोषक है तथा तर्क शुद्ध भी नहीं है । जिस प्रकार स्वेताम्बर साधु वस्त्र आदि बहुत सी सामग्री साथ में ले उससे अपनी वाछा पूर्ण करते हैं और उनके प्रति ममत्व न बता अपने को परिग्रह त्यागी कहते हैं, इसी तर्क के आधार पर कोई थिलासी स्वभाव वाला साधु स्त्री को साथ में रखते हुए भी कह सकता है, कि मैं वस्त्रादि के समान ही सब ममत्व छोड़कर उपभोग करता हूँ । अतएव तर्कभाषा में ममत्व बिना सेवित स्त्री में वस्त्रादि के समान अपरिग्रह रूपता होने से अपरिगृह्यत्व रह जायगा, किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत का, सर्वनाश हो जायगा । अतएव ब्रह्मचर्य का पृथक् कथन दिगंबर

१ भरहेरवणु ण वासेमु पुरिम पच्छिम वज्जा ।

माज्झिमगा वावीस अरहता चाउज्जामं धम्म पण्णवेति । तज्जहा सव्वत्ति पाणातिवामाओ वेरमण, एव दाणाओ वेरमणं । सव्वातो अदिभ-दानाओ वेरमण, सव्वाओ वाहिद्धाओ वेरमण ।

२ इह च मैथुनं परिग्रहेन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यते ॥

परपरा में आवश्यक बताया है। यदि परिग्रह त्याग व्रत में ब्रह्मचर्यको निहित माना जावे, तो परिग्रह त्याग की पंचभावनाओं के स्थान में दस प्रकार की भावनाएँ कहना न्यायसंगत होगा।

गीतम गणधर ने प्रतिक्रमण ग्रंथश्री में चौथे महाव्रत को मंथुन विरमण 'तुरियं मेहुणादो वेरमण' कहा है। उसमें यह नहीं लिखा है कि इस व्रत का कथन केवल दो तीर्थंकरों ने किया है, अतः ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतिपादन सभी तीर्थंकरों ने किया है यह मानना निम्नांति है अध्यात्म विद्या से परिचय रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य महाव्रत का मूल्य आकना ही होगा।

योग साधन में भी ब्रह्मचर्य का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। चित्त वृत्ति के निरोध के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा तथा समाधि ये अष्टांग कहे गये हैं। इनमें यम के द्वादश भेद कहे गये हैं, उनमें ब्रह्मचर्य का स्थान है, जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, ह्री, असचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मोन, स्थैर्य, क्षमा और अभय। इस योग के रहस्य को प्राप्त पुरुष अमर पद को प्राप्त करते हैं। मानवी जीवन का मूल आधार शुक्र है। उसका संरक्षण चित्त की पवित्र वृत्ति पर निर्भर है। इसके लिए एकांत वास, नियमित आहार-विहार की आवश्यकता मानी गई है।

हठयोग प्रदीपिका में लिखा है—

“मनुष्यो का शुक्र चित्त के अधीन है और जीवित शुक्राश्रित है।

अतः प्रयत्न पूर्वक शुक्र तथा मन का रक्षण करना चाहिए।” इस प्रकार यह जीव ब्रह्मत्व की उपहृष्टि करना है। सागर घर्माभूत में लिखा है—

“जो गृहस्थ अपनी स्त्री मात्र में सतोष धारण करता है और अन्य नारियों की कभी भी स्पर्शा नहीं करता है वह जब अद्भुत प्रभाव सम्पन्न होता है, तब सम्पूर्ण स्त्रियों से विरक्त वर्णी-ब्रह्मचारी का क्या वर्णन करें ?”

महाव्रती मुनि के ब्रह्मचर्य का स्वरूप मूलाचार में इस प्रकार कहा गया है—

“मुनिराज चित्र, पापाण आदि रूप अचेतन स्त्री, देवागता, मनु-

१ चित्तायसं नृणां शुक्रं शुक्रायस्य च जीवितम् ।

तस्मात् शुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं-प्रयत्नतः ॥

देना आवश्यक है। मद्यपि, मैंने ब्रह्मचर्य के साथ आहार और उपवास का निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है, कि प्रधानतः मन के ऊपर ही ब्रह्मचर्य निर्भर है। मलिन मन उपवास से शुद्ध नहीं होता। आहार संबंधी सादगी का असर मन पर नहीं हो सकता। मन की मलिनता विचार द्वारा, ईश्वर-ध्यान के द्वारा और अंत में परमात्मा के प्रसाद द्वारा ही दूर होती है। लेकिन मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। जोर विकार युक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की ही खोज में रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादों और भोगों को ढूँढ़ता फिरता है और फिर उस आहार और भोगों का प्रभाव मन के ऊपर पड़ता है। इस कारण और इस परिमाण में भोजनादि में संयम रखने और निराहार की आवश्यकता जरूर होती है।”

“विकार ग्रस्त मन शरीर के ऊपर, इंद्रियों के ऊपर अपना अधिकार नहीं रख सकता। वस्तुतः उसके बदले वह शरीर और इंद्रियों का गुलाम बन जाता है। इस कारण से भी शरीर के लिये शुद्ध और सबसे कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की और प्रसंग वश निराहार और उपवासादि की भी आवश्यकता रहती है। मेरे अनुभव ने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब मन संयम की ओर झुकता है, तब भोजन की भरपाई और उपवास खूब सहायक होते हैं। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असंभव सा ही मालूम होता है।” (पृ० ११२-११३ दीर्घक ‘संयम की ओर’)

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले को धन के प्रति स्पृहा रखना अयोग्य कहा है। सोमदेव सूरि लिखते हैं, “निवृत्त स्त्री समस्य धन परिग्रहो मृतमण्डवमिव - राजरक्षा समुद्देश” १५-२२३ “स्त्री संबंध त्यागी के द्वारा धन का परिग्रह करना मृत मनुष्य के शरीर में आभूषण पहिनाने के समान है।”

यही सागर धर्मामृत में भी लिखा है।^१ आचार्य का कथन है कि इंद्रियों में रखना इंद्रिय को बश करना कठिन है, कमों में मोहनीय को जीतना और व्रतों में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा गुप्तिगो में मनोगुप्ति को धारण करना ये चार बातें कठिन हैं।^२ ऐसा दुर्धर यह ब्रह्मचर्य व्रत है। इस व्रत के प्रसाद से जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त करता है।^३

१ मृत मंडन कल्पो हि स्त्री-निरोधे धनग्रहः॥

२ अवखाण रसणी कम्माण मोहिणी तह वयाण वंभं च।

गुत्तीय मण गुत्ती चउरो दुक्सेण सिज्जति ॥

प्यनी, तिर्पचिनी सम्बन्धी कुशील का मन, वचन, काय से प्रयत्नशील होकर त्याग करते हैं।” इस विषय में टीकाकार लिखते हैं—

“नित्यमपि मुनिः प्रयत्नमनाः स्वाध्यायपरो लोब्ध्यापार रहितः सर्वाः स्त्रीप्रतिमाः गान्-दुहितृ-भगिनीवत् चिन्तेत् । नैवाकी साभिः सहैकाते तिष्ठेत् । न वर्त्मनि गच्छेत् । न च रहसि मंत्रयेत् । नाप्येकाकी सन् एकस्याःप्रतिश्रमणादिकं कुर्यात् । येन येन जुगुप्सा भवेत् तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥”

“मुनि सदा प्रयत्नचित्त हो स्वाध्याय में तत्पर रहे । लौकिक व्यापार से रहित हो सर्व स्त्री मूर्तियों को माता, बेटी, वहिन के समान चिंतवन करे । उनके साथ एकान्त में थकेला न रहे । न उनके साथ एकाकी मार्ग में गमन करे, न एकान्त में उनके साथ विचार करे । न एकाकी होकर किसी स्त्री के साथ प्रतिश्रमण आदि करे । जिस जिस कारण से जुगुप्सा का भाव हो, उस सबका त्याग करे ।”

इस ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थ व्रत में स्थिरता निमित्त पांच प्रकार की भावनायें कही गई हैं ।

दुष्ट परिणाम पूर्वक महिलाओं को देखना, पूर्व में भोगे शील की भावनाएं गए भोगों का स्मरण, संसृत वस्तु, विक्रया जर्वात स्त्री, चीर, राज्य, तथा भोजन कथा और राग तथा मद जनक आहार, इन पांच बातों का त्याग ब्रह्मचर्य व्रत की भावना कहा गया है । तत्कार्य सूत्र में लिखा हैः—

“स्त्री सर्वधी राग उत्पन्न करने वाली कथा का त्याग, नारियों के मनोहर अंगों के निरीक्षण का त्याग, पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग, कामोद्दीपक तथा रागवर्द्धक रसों का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग, ये ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावना कही गई हैं ।”

ब्रह्मचर्य के विषय में गांधी जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है—
जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, उनके लिए यहाँ एक चेतावनी

१ अचिन्तदेव—माणुस—तिरिक्क—जादं च मेहुणं चदुधा ।

तिविहेणतं ण सेवदि णिच्च पि मुणी हि पमदमणो ॥

२ स्त्रीरागकथाश्रवण — तन्मनोहरागनिरीक्षण — पूर्वस्तानुस्मरण वृक्षेष्टरस — स्व शरीर—संस्कारस्मागाः पंच ॥ ७-७

देना आवश्यक है। यद्यपि, मैंने ब्रह्मचर्य के साथ आहार और उपवास का निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है, कि प्रधानतः मन के ऊपर ही ब्रह्मचर्य निर्भर है। मलिन मन उपवास से शुद्ध नहीं होता। आहार संबंधी सादगी का असर मन पर नहीं हो सकता। मन की मलिनता विचार द्वारा, ईश्वर-ध्यान के द्वारा और अंत में परमात्मा के प्रसाद द्वारा ही दूर होती है। लेकिन मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। और विकार युक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की हो खोज में रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादों और भोगों को ढूँढ़ता फिरता है और फिर उस आहार और भोगों का प्रभाव मन के ऊपर पड़ता है। इस कारण और इस परिमाण में भोजनादि में संयम रखने और निराहार की आवश्यकता जरूर होती है।”

“विकार अस्त मन शरीर के ऊपर, इंद्रियों के ऊपर अपना अधिकार नहीं रख सकता। वस्तुतः उसके बदले वह शरीर और इंद्रियों का गुलाम बन जाता है। इस कारण से भी शरीर के लिये शुद्ध और सबसे कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की और प्रसंग वस निराहार और उपवासादि की भी आवश्यकता रहती है। मेरे अनुभव ने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब मन संयम की ओर झुकता है, तब भोजन की मर्यादा और उपवास खूब सहायक होते हैं। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असंभव सा ही मालूम होता है।” (पृ० ११२-११३ शीर्षक ‘संयम की ओर’)

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले को धन के प्रति स्पृहा रखना अगोच्य कहा है। सोमदेव सूरि लिखते हैं, “निवृत्त स्त्री संगस्य धन परिग्रहो मृतमण्ड-धमिवं - राजरक्षा समुद्देश” ९५-२२३ “स्त्री संबंध ध्यागी के द्वारा धन का परिग्रह करना मृत मनुष्य के शरीर में आभूषण पहिनाने के समान है।”

यही सागार धर्माभूषण में भी लिखा है।^१ आचार्यों का कथन है कि इंद्रियों में रसना इंद्रिय को वश करना कठिन है, कर्मा में मोहनीय को जीतना और व्रतों में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा गुप्तिभोगों में मनोगुप्ति को धारण करना ये चार बातें कठिन हैं।^२ ऐसा दुर्बल यह ब्रह्मचर्य व्रत है। इस व्रत के प्रसाद से जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त करता है।^३

१ मृत मंडन कल्पो हि स्त्री-निरीहे धनग्रहः ॥

२ अक्खाण रसणी कम्माण मोहिणी तह वथाण वंभं च ।

गुत्तीय मण गुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति ॥

अपरिग्रह महाव्रत

स्वरूप

परिग्रह त्याग महाव्रत के विषय में मूलाधार में लिखा है—“ग्राम, नगर, अरण्य, पत्तन, मटंवादिष, क्षेत्रगृहादिक, नौकर-चाकर, गोमहिषी आदिक, सवित्त परिग्रह, अनेक भेद युक्त मूढम परिग्रह यथा सुवर्ण, वस्त्रादि बाह्य परिग्रह, तथा मिथ्यास्व श्रोत्रादि अंतरंग परिग्रह का मन वच काय से त्याग करे।”

अमृतचन्द्र सूरि का कथन है— “जो मूर्छा है, वह परिग्रह जानना चाहिए। मोह के उदय से उत्पन्न ममत्व के परिणाम को मूर्छा कहते हैं।” तत्त्वार्थ सूत्र में “मूर्छा परिग्रह.” लिखा है।

मूर्छा घणन

स्वामी समन्तभद्र ने थावको के परिमित परिग्रह व्रत का नाम—‘इच्छा-परिमाण—व्रत,’ भी रखा है। वे लिखते हैं, “धन धान्य आदि ग्रंथ अर्थात् परिग्रह को मर्यादित करने उससे अधिक वस्तु के संग्रह के विषय में निस्पृह वृत्ति धारण करना परिमित परिग्रह व्रत है। इसे इच्छा परिमाण नाम से भी कहते हैं।” परिग्रह का पूर्ण या आशिक तथा-शक्ति त्याग का सञ्भाव तब ही होगा, जब कि जीव की मूर्छा कम होगी। परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो जब तक यह प्राणी अनात्म शरीरादिको को आत्म ब्रुद्धि नहीं छोड़ता है, तब तक उसका मूर्छित रहना स्पष्टतया सिद्ध होता है। ससार में मूर्छा उस अवस्था को कहते हैं जिसमें अपने पराये का कोई भी भान नहीं रहता है। आयुर्वेदशास्त्र में लिखा है “कि मनुष्य सुख दुःखकी संवेदना शून्य बनकर फाण्ट की भाँति गिर जाता है, इसे मोह या मूर्छा कहते हैं।” शरीर-शास्त्रोक्त मूर्छा के साथ परिग्रह के पर्यायवाची मूर्छा भाव का साम्य है। आत्मा मोहनीय कर्म के कारण अपने असली सुख को भूल गया है। आत्म स्वरूप का इतना विस्मरण हो गया है कि इस शरीर को ही आत्मा मान शरीर के ह्रास, विकास में आत्मा का क्षय तथा उन्नति समझता है। जब

१ धन धान्यादि ग्रंथ परिमाण ततोधिक्तेषु निस्पृहता ।

परिमित-परिग्रहः स्यादिच्छा-परिमाणनामापि ॥६१॥

२ सुख-दुःख - व्यपोहाच्च नरः पतति काण्ठवत् ।

मोहो मूर्छेति तामाहुः पद्मविद्या सा प्रकीर्तिता ॥ योगरत्नाकर पृ ३०५

आत्म विस्मृति हुई, तब शरीर को ही आत्मा सदृश अनुभव किया, पश्चात् पुत्र, भार्या, धन, धान्य, मकान आदि के साथ ममकार के ताने बाने द्वारा अत्यन्त आत्मोप भाव स्थापित हुआ । वट का बीज लघु होता है, किन्तु वृक्ष में रूप में उसका विकास होने पर आश्चर्य होता है, कि लघुतम बीज इतना बड़ा वृक्ष कैसे बन सका ! इसी प्रकार ममत्व का लघु बीज शरीर में आत्म बुद्धि से प्रारंभ होकर शरीर के उत्पन्न करने में निमित्तों को जनक और जननी मानता है, साथ में उत्पन्न होने वालों को भाई और बहिन समझता है । जनक और जननी के भाई बहिनो तथा उनके माता, पिता आदि को भी अपना बनाता है, फिर अपने द्वारा जन्म को पुत्र, पुत्री और उनकी संतति आदि को भी उसी प्रकार अपने मोह जगत् की मंजुल कड़िया मानता है । इस प्रकार रिस्तेदारी, जातीयता आदि का भाव बनता है । शरीर को सुख देने वाले भोज्य पदार्थ, विश्राम देने वाले भवन आदिक तथा अन्य आनन्ददायिनी सामग्री के साथ ममता का संबंध होता है, तथा विपरीत वस्तुओं के साथ अनिष्टता का सम्बन्ध होता है । इस तरह शरीर और आत्मा के ऐक्य का विष फँलकर संपूर्ण विश्व के साथ मोह का बंधन पैदा करता है । पंचाध्यायीकार का कथन है कि "यह अपने स्वरूप का नाश कर संपूर्ण विश्व को मोह वश अपना मानता है, यद्यपि यह विश्व से पूर्णतया पृथक् है ।"

शरीर में आत्म बुद्धि होने से यह मेरा पुत्र है, मेरी स्त्री है, मेरा भाई है इत्यादि कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं । उन कल्पनाओं के आधार पर पुत्र, भार्या आदि की समृद्धि को आत्मा की समृद्धि मानता है और इस प्रकार खेद है कि यह जगत् स्वरूप से बहिर्भूत होकर नष्ट हो रहा है । ऐसी स्थिति में यह जीव अपने चिदानन्द स्वभाव की ओर कैसे उन्मुख हो सकता है ? इसीलिए परिग्रह का मूलबीज शरीर में आत्म बुद्धि है और इसीसे सत्पुरुषों ने इस मिथ्याबुद्धि को विश्व की विपत्ति का मूल कहा है । आचार्य कहते हैं—“शरीर में आत्म बुद्धि ही संसार के दुःखों का मूलकारण है अतः इस मिथ्या कल्पना को छोड़कर बाह्य विषयों की प्रवृत्ति को रोककर अपनी आत्मा में ही स्थिरता धारण करे ।” अनात्म विश्व से संपर्क की श्रृंखला की आदि कड़ी देह में देही की स्व बुद्धि है । इस मूढ़ता के कारण यह अतत्त्वज्ञान शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य, पशु शरीर में स्थित आत्मा को पशु, बैव शरीर में स्थित आत्मा को बैव, और नारकी

शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है । आत्मा ने जो शरीर धारण किया, उसी रूप आत्मा को वह मानता है, किन्तु तत्त्वतः ऐसी बात नहीं है, आत्मा तो अनंत ज्ञान और अनंत शक्ति का धारक है, स्वांगुभव-भोचर है, सर्वदा अपने स्वरूप से अच्युत है ।" इस स्व-पर विवेक के अभाव वश बर्मा का कुचक्र इस जीव को सूख नचाता है, और इसकी बढी से बढी दुर्गति करता है । इसी कारण जब यह विकास शून्य एकेन्द्रिय वनस्पति काय का जीव होता है तब इसका अक्षर के अनन्तवर्ग भागरूप अल्पतम ज्ञान होता है । अनन्त जीवों के साथ इसका जन्म मरण होता है । साधारण श्वासोच्छ्वास होता है । एवं श्वास के अल्प समय में अष्टादश बार जीवन मरण का झूला यह झूला करता है ।

यह जीव मूर्छा वग पर वस्तुओं को अपनाता है, अपनी आत्मा पर पदार्थ में ममता बना डालता है और अपनी आत्मा के विषय में मरता सा हो जाता है । इस जीव को अपने आत्म वैभव की बात विचित्र सी लगती है और उस ओर चित्त नहीं जाता है । इसका कारण यह है कि "अनन्त भवों से यह जीव पर पदार्थ में मूर्छित हो रहा है, अतः स्व की उपलब्धिका कार्य इसे पीडाप्रद प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि काम, भोग, विषयक वध को क्या सब जीवों के अनन्त बार सुनने में परिचय में तथा अनुभव में आई है, अतएव वह बठिन नहीं मालूम पडती है, किन्तु आत्मा के शुद्ध एकत्व की वधा न सुनने में आई, न परिचय में आई और न अनुभव में आई है ।" परिचय न होने से अपना पराया सा लगता है । आचार्य समझाते हैं कि "एक व्यक्ति ने दूसरे के वस्त्र को पहिन लिया और वह उसे अपना मान रहा है, पश्चात् विशेष चिन्ह बताए जाने पर उसे ज्ञात हो जाता है कि यह वस्त्र तो मेरा नहीं है । इसी प्रकार अनादि मिथ्यात्व की अधियारी के कारण यह जीव पुद्गल शरीरादि को अपना स्वरूप समझता है, किन्तु ससार सिंधु के तट के निकट आने पर श्री गुरु के प्रसाद से इसे अपनी भूल का ज्ञान होता है । तब यह उन अनात्म पदार्थों के प्रति तत्काल आसक्ति का त्याग करता है और अपनी आत्मा को ब्रह्म से पृथक् करने की पवित्र प्रक्रिया में सत्ग्न हो जाता है । नाटक समयसार में लिखा है—

जैसे कोऊ जन गयो धोबी के सदन तिन,

पहरयो परायो वस्त्र मेरी मानि रह्यो है ।

धनी देखि कह्यो भैया यह तो हमारी वस्त्र,
चीन्हो पहिचानत हो त्यागभाव लह्यो हूं ।
तैसे ही अनादि पुद्गल सो सजोगी जीव,
सग के ममत्व सो विभावता मे वह्यो है ।

भेदज्ञान भयो जब आपा पर जान्यो तत्र,
भ्यारो पर भाव सो स्वभाव निज गह्यो है ॥८३॥

तत्त्वज्ञान के जाग्रत होते ही यह जीव अगात्म पदाया के प्रति
अतःकरण में पृथक् भाव की श्रद्धा को स्थान देता है, तथा शनैः शनैः
रागभाव त्यागता है। यह रागभाव पर वनवन बड़ी चठिनता से छूटता है।

पंचपुराण से ज्ञात होता है कि साता का जीव आसिवा
के अतो का सम्यक्प्रकार परिपालन के पश्चात् स्त्री लिंग छेदकर
सोलहवें स्वर्ग में स्वयंप्रभ नाम का प्रतीन्द्र हुआ था। कुछ दाल
पश्चात् महाराज रामचन्द्र जी ने दिगम्बर मुनि की मुद्रा स्वीकार की। वे
गम्भीर आत्म ध्यान में मग्न थे। उस समय सीता के जीव को स्वर्ग में
यह मोह पैदा हुआ कि यदि राम के मनम थोड़ा सा राग का भाव
जग जायगा तो ये मोक्ष न जाकर स्वर्ग में आवेंगे। इस तरह इनका साथ
पुनः हो जायगा। पश्चात् वे चयकर मनुष्य भव प्राप्त करेंगे, तब हम दोनों
तपस्या करेंगे। इस प्रकार हमारा इनका साथ रहेगा। सीता का
जीव मन में क्या चिन्तन करता था, इसे रविपेण आचार्य इस प्रकार
अकित करते हैं -

“इन सुन्दर रामजीने हल हल आयुध के द्वारा वाह्य शत्रुओं पर विजय
प्राप्त की थी और अब ये ध्यान को सामर्थ्य द्वारा इन्द्रियों को वश करने
में उद्यत हुए हैं। ये क्षण श्रेणी पर आरुह हो रहे हैं। ऐसे अवसर
कुछ राग उत्पन्न करने का कार्य करूँ, जिससे मेरे परम स्नेही राम का
ध्यान विचलित हो जाय। इससे ये अच्युत स्वर्ग में मेरे साथी हो जायगे,
तब मैं इनके साथ महाभारत से उत्पन्न प्रेमपूर्वक बड़ी शोभा सहित
मेरु पर्वत तथा नदीश्वर की वदना को सानन्द जाऊंगा।”

इसके पश्चात् उस सीता के जीव ने सीता का रूप धारण कर
सर्व प्रकार की शृंगार युक्त रागवर्धक चेष्टायें की जैसे कामदेव बाहुवलि
मुनिपद धारण करने पर पहले देवताओं ने किया था।

आचार्य रविपेण लिखते हैं “इस प्रकार की अन्य लोगों के हृदय
को आकर्षित करने करने वाली क्रियाओं से राम का मन क्षोभ को नहीं

प्राप्त हुआ जिस प्रकार प्रचण्ड पवन से सुमेरु पर्वत विचलित नहीं होता है।'

रामने शुक्लध्यान पर आलस्य होकर शीघ्र ही केवल ज्ञान ज्ञान प्राप्त किया और तब सीता के जीव स्वयंभुदेव ने भगवान रामचन्द्र की पूजा की, दुर्बुद्धि द्वारा किए गए दोष की क्षमायाचना की। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब सम्यक्त्व जीव तक मोह के कारण ऐसे अनर्थ करने को उद्यत हो जाता है, तब मिथ्यात्वा की तो बात ही निराली है ?

यह शंका हो सकती है कि क्या सम्यक्त्व जीव ऐसी जघन्य रागात्मक पाप प्रवृत्तियों में सलग्न होगा ? वह तो ज्ञान चेतना से भूषित रहता है। इस शंका का निवारण पंचाध्यायी के इस कथन से होता है। "यह सत्य है तब तक सम्यक्त्व जीव ऐसी हीन क्रियाएँ करता है जब तक तक वह जघन्य पद में स्थित है। चारित्र मोहनीय का उदय जघन्य पद का कारण है।" मिथ्यात्व जनित मूर्छारूप परिग्रह यदि है तो बाह्य दिग्भ्रमर वेप होते हुए भी वह सच्चामुनि नहीं कहला सकता है। उसे द्रव्य लिंगी कहते हैं। महर्षि कुदकुन्द ने लिखा है:— "शरीर के नग्न होने से कार्य सिद्धि नहीं होती, भाव से नग्न होना चाहिए। द्रव्य नग्नत्व और भावतः दिग्भ्रमरत्व के द्वारा कर्म प्रकृतियों के समुदाय का नाश होना है। परिणामों में अशुद्धता होते हुए बाह्य परिग्रह का त्याग करता है, तो ऐसे भाव से विहीन बाह्य परिग्रह का त्याग क्या करेगा?"

बाह्य सागरी का अभाव तो निर्धन पापी जीवों के भी पाया जाता है किन्तु उनके अन्तरंग मूर्छा की प्रचुरता वश पाप का सचय होता है। लंगोटी लगाकर मछली मारने में उद्यत धीवर की तुलना लंगोटी भान परिग्रह धारी ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक से नहीं हो सकती। एक हिंसा की साक्षात् मूर्ति है, दूसरा संयम का उज्ज्वल आराधक है। अतः अन्तरंग मूर्छा परिणाम को परिग्रह की संज्ञा दी है।

गृहस्थ वन में गया है, फिर भी वह गृहस्थ कहलायगा, कारण उसके अतःकरण में घर के प्रति ममता विद्यमान है। मुनि घर में भी रहे तो भी उनको गृहस्थ नहीं कहेंगे, कारण उनके मूर्छा का अभाव है। जिस मुनि में मूर्छा का सद्भाव है, उससे मूर्छा रहित गृहस्थ को जिनागम में महान माना गया है। समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं:—

"मोहभाव रहित गृहस्थ मोक्ष मार्गी है, किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।" असली परि-

ग्रह तो मूर्छा का परिणाम है। बाह्य परिग्रह को उपचार से परिग्रह मानते हैं, कारण उसके निमित्त से अन्तरंग में मूर्छा का उदय होता है।

यदि अन्तरंग में मूर्छा भाव है तो यह जीव पूर्णतया परिग्रही है। और जब तक यह परिग्रही है तब तक जीव असली आनन्द और शांति से अचित रहता है। इस

परिग्रह सज्ञा की जागृति के कारणों का इस प्रकार आगम में ब्यथन है—

“परिग्रह के साधनों के दर्शन होने से, उनका चिन्तन करने से, परिग्रह के प्रति मूर्छा भाव वाले व्यक्तियों के सतत सामोप्य से तथा लोभ कपाय की उदीरणा होने से परिग्रह सज्ञा—परिग्रह विषयक अभिलाषा उत्पन्न होती है।” यहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिग्रह के विषय में प्रकाश डाला गया है। मूर्छा रोग से पीड़ित व्यक्ति के देखने से, उसके पास जाने आने से दूसरे मनुष्य में बेहोशी नहीं लगती है, किन्तु यह परिग्रह के प्रति मूर्छा भाव सकामक रोग से भी भयकर है। घड़े घड़े वैभव—विभूति को देखने से परिग्रह की आकांक्षा जगती है। इतना ही नहीं, परिग्रह का चिन्तन करने पर वह मूर्छा इस जादू को सताने लगती है। अतएव इसे महामूर्छा ही जानना चाहिए। घनिकों के ससर्ग में आने से भी यह पर-वस्तु के सग्रह का विष चढ़ने लगता है, और विपत्ति का मूल लोभ कपाय भी बढ़ता है। उसकी उदीरणा होने पर उपरोक्त साधन न हो तो भी परिग्रह सज्ञा उत्पन्न होती है।

इस लोभ की कथा अद्भुत है, इसके आधीन हो, ससार में ऐसा पाप नहीं, जो नहीं किया जाता। विश्व को समस्त अन्तर्ग मूलक प्रवृत्ति का प्राणदाता यह लोभ कपाय है। ग्रीध, मान, माया कपाय को मोत आते हुए भी यह लाभ राक्षस सूक्ष्म—सर्पराय के रूप में दशवें गुण स्थान तक भी जीवित रहता है। इसके नष्ट होते ही बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को अवश्य रूप से निर्ग्रन्थ कहा जाता है जो क्षण मात्र में त्रयोदशम गुण स्थान को प्राप्त कर अन्तर्ज्ञान, अन्तर्दर्शन, अन्तर्सुख तथा अन्तर्शक्ति रूप अन्तर्चतुष्टय को प्राप्त करता है। इस लोभ के आधीन रहने से व्यक्ति का पतन होता है, और इस पर विजय प्राप्त कर अपरिग्रही बनने से

आत्मा का विकास होता है ।

गुणभद्र स्वामी कहते हैं, “ग्रहण करने की इच्छा वाले नीचे जाते हैं और अग्रहण की इच्छा वाले उन्नत होते हैं, यह बात स्पष्टतया तराजू के नीचे ऊंचे जाने वाले पलड़े धोतित करते हैं ।”

अपनी तृष्णा को शांत करने के लिए दान वैभव के परिग्रह द्वारा सग्रह में उत्तर मानव से आचार्य कहते हैं,— “बरे तृष्णा-वृद्धि भाई ! तू आशा रूपी अग्नि में धन रूपी ईंधन की

राशि डालना हुआ उसकी वृद्धि की स्थिति में उमे जाज्वल्यमान देखकर भ्रान्त हो उसे शान्त मानता है ।”

कहते हैं कि एक शांत संतोपी विद्वान की राजा से मैत्री हो गई । राजा ने प्रमत्त होकर कहा—“पंडितराज ! तुम्हें जितना धन चाहिए उतना मांग लो ।” पंडितजी ने अपनी आवश्यकता का विचार कर एक सुवर्ण शलाका बनाने के लिए तीन मासे स्वर्ण की मांग की । राजा विद्वान की निस्पृहता से बहुत प्रभावित हुआ और बोला “विद्वन् ! तुम्हें मैं यह अधिकार देता हूँ कि मेरे खजाने की धन राशि में से रात्रि भर में जितना धन निकालना चाहो उतना निकाल लो ।” इस प्रकार नरेश का प्रसाद पा वह ब्राह्मण पंडित खजाने में गया । रत्नों की राशि, सुवर्ण का समुदाय देखकर उसकी निस्पृह वृत्ति न जाने कहाँ चली गई और उसके सिर पर संग्रह का भूत सवार हो गया । उसने सारी रात धन का निकालना और रखना जारी रखा । राजा की यह स्वप्न में भी ध्यान न था कि यह गरीब ब्राह्मण इतना अधिक लालची होगा । प्रभात होने पर पंडित महोदय राजा के समक्ष उपस्थित किए गए । सब धन का मूल्य जोड़ने पर केवल तीन करोड़ का हुआ ; उस समय राजा ने ब्राह्मण पंडितजी से पूछा “क्या महाराज तीन मासे का कार्य तीन कोटि के द्रव्य से भी पूर्ण नहीं होगा ?” उत्तर में वह लालची ब्राह्मण बोला, “शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि लाभालोभः प्रजायते । राजन् ! सुनो मैं कहता हूँ—लाभ होने से लोभ की उत्पत्ति होती है ।”

धन वैभव के शिखर पर बैठे हुए व्यक्तियों से पूछो कि इसमें तुम्हें क्या सचमुच में संतोष और आनंद है, तो वे नकार के रूप में ही उत्तर देंगे ।

एक कोट्याधीश स्नेही, विवेकी सेठ जी से मैंने पूछा,—“क्यों सेठसाहब ! ये हीरे जवाहरात के कठे आदि आभूषण आपको तृप्ति और आनंद तो दे

होगे ?" वे बोल उठे, "इस वैभव में असली आनन्द कहाँ है ? असली आनन्द का अक्षय भंडार तो आत्मा है। इस परिग्रह में आनन्द नहीं है। यह तो पर यस्तु है।"

इस वैभव के संग्रह का जब नशा चढता है तब तो किसी भी उपाय से धन का संग्रह करने की इच्छा होती है, किन्तु परचात् अवस्था आदि के परिवर्तन होने पर अवस्था परलोक के प्रस्थान करते समय यह बात हृदय अनुभव करने लगता है कि इस परिग्रह के पीछे दौड़ने में, या संग्रह करने में जो मैंने उद्योग किया, वह बिल्कुल बेकार गया।

कहते हैं बादशाह आलमगीर औरंगजेब जब मृत्यु दाय्या पर पड़ा, तब उसने अपने बेटे को एक पत्र लिखा था, जिससे ज्ञात होता है कि परिग्रह-विषाद की संगति और समाराधना से कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। औरंगजेब की आत्माभिव्यक्ति कितनी समर्थ है, यह इससे स्पष्ट ज्ञात होती है।

परिग्रह से
पाश्चात्ताप

धन बल कुछ भी मैं या नहीं साथ लाया ।
सब विभव यही था आप मेने कमाया ।
पर न सुकृत से या हाथ मेरा कमाना ।
अब कलुष बिना है और क्या साथ जाना ॥१॥
रह रह उठती है चूक ही आज हूक ।
यह कठिन कलेजा हो रहा टूक टूक ।
समयगत हुआ है, शेष है क्या उपाय ।
शर निकल चुना है, हाथ से हाथ हाम ॥२॥
अध घट अपने में फोड़ के जा रहा हूँ ।
नय-नियम यहाँ के तोड़ के जा रहा हूँ ।
इस तनु तक फो भी छोड़ के जा रहा हूँ ।
बस अपमत्त को ही छोड़ के जा रहा हूँ ॥३॥
प्रथम कुछ न आया, ध्यान में हाथ मेरे ।
बस अब फिरना है मीत के साथ फेरे ।
इस समय कहा हूँ कौन हूँ मैं अरे रे ।
सब तरफ मुझे है, लोक संतप्त घेरे ॥४॥
तनय ! तुम किसी को व्यर्थ पीडा न देना ।

फल कुछ करने के पूर्व ही सोच लेना ॥
 पथ-विचलित होके पा रहा ताप ही में ।
 कुफल चख रहा हूँ पाप का आप ही में ॥५॥
 प्रथम तुम सदा ही युक्ति से काम लेना,
 मत पद पद में ही शक्ति का नाम लेना ।
 भरसक अपने मे दोष आने न पावे,
 यह मन विषयो की ओर जाने न पावे ॥६॥
 पढ़कर यह मेरा पत्र हे पुत्र प्यारे !
 सतत सजगता से कीजियो काम सारे ।
 मत तुम यह मेरा भूल जाना बलाम,
 वस अब चलता हूँ आखिरी है सलाम' ॥७॥

राज्य वैभव के विषय में महापुराणकार के शब्दों में चक्रवर्ती
 भरतेश्वर का कथन है :-

"इस राज्य में सुख का लेश नहीं है, यह दुरन्त है और पाप से पूर्ण है ।
 इसमें सर्वत्र आशंकायें भरी रहनी हैं । इसमें महान अशुख होता है ।" आत्म
 स्वरूप की महिमा का परिचय न होने के कारण इस जीव ने धन वैभव को
 सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है । आज दिन तो बड़प्पन और महत्व का
 केन्द्र धन को मान धनवानों को सर्व पापों की राशि होते हुए भी, कृत्य की
 दृष्टि से नरपशु कहलाने वालों को बड़ा आदमी कहने का रिवाज चल पड़ा है
 और सब महत्व के मंगल कृत्यों में इस आत्मवचक महापरिश्रमी के आग-
 मन को हर्ष का कारण माना जाता है । यह बड़ा भारी अविवेक है । सद्गुणों
 की प्रतिष्ठा से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र समुन्नत बनता है । धन की अंध आरा-
 धना से पशुता से भी हीन परिस्थिति की ओर पतन होता है ।

पहले विद्या को मुक्ति का हेतु मानते थे । 'सा विद्या या विमुक्तये' ।
 विद्या को अमृत कहते थे । 'अमृत तु विद्या' । यह अर्षदात्री लक्ष्मी की पादा-
 र्चना में लगाई जा रही है ।

कवि कहता है—'इस पापी पैर के लिए पड़ित लोग क्या क्या नहीं
 करते हैं ? यादवी माता सरस्वतीको यदरियाके समान घर घर में ले जाकर
 मचाते फिरते हैं ।'

धन को इस अंध आराधना से इस जीव का विवेक भाव नष्ट हो जाता है । यह लाखों करोड़ों की संपत्ति का संचय कर अपने को लखपती, करोड़पती जानता है, मानता है और बताता भी है । परमार्थतः देवा जाय, तो यह जीव रत्नत्रय का ही अधिपति है; लखपति आदि की पदवी चैतन्य पुंज आत्मा को कैसे उपयुक्त होगी ? तिजोड़ी या बैक की लखपति आदि कहना ठीक हो सकता है, किन्तु यह भ्रूँछित जीव शरीर को आत्मा मान इतनी बड़ी खतरनाक भूलो पर भूल करता जाता है, कि पुद्गल के संग्रह को को आत्म द्रव्य का संग्रह अनुभव करता है और इस कारण अतमें "बह्वारभ-परिग्रहत्वं नारकस्य" के नियमानुसार यह नरकायु को प्राप्त करता है; जहाँ अनुकूल वस्तुओं का अभाव ही अभाव रहता है । धृषा तो इतनी भीषण होती है, कि तीन लोक का धान्य भी उसको पर्याप्त न हो, किन्तु एक कण भी नहीं मिलता, समस्त सिंघुओं की जलराशि भी उसकी तीव्र तृष्णा को शान्त करने को अपर्याप्त है, किन्तु एक बूँद भी पानी नहीं मिलता ।

अतः धन के द्वारा थोड़े समय तक ही काम बनता है । वह सदा ही कामना पूर्ण करता है, यह बड़ा भ्रम है । लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से धन जा भी गया और भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय के उदय की तीव्रता हो, तो इन वस्तु को भोगने की सामर्थ्य नहीं रहती है ।

यदि आसक्तकालाकार विश्व का यथार्थ दर्शन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि धन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करके जगत् स्वयं मृत्यु के पथ की ओर बढ़ रहा है । इससे गुप्त, शांति विवेक आदि की अवस्थिति संकट में पड़ जाती है । बड़े बड़े धनियों का जीवन निकट से देखने पर उनकी आकुलता और तृष्णा का अद्भुत रूप देखते ही बनता है ।

इस विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि अर्थ कुछ नहीं करता है । जैन आचार्य सोमदेव सूरि अर्थ की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—“यतः सर्व-प्रयोजन-सिद्धिः सौख्यं” जिससे समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं, वह अर्थ है । अतः लौकिक जीवन में अर्थ की उपयुक्तता और उपयोगिता की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । अर्थ की पुरुषार्थ चतुष्टय में गणना की गई है । यथार्थ में इसका एकान्त बुरा है । जो अर्थ, धर्म पुरुषार्थ को अपना गुप्त मानकर रहता है, वह अर्थ विकार नहीं उत्पन्न करता है । चक्रवर्ती भरतेश्वर कल्पनातीत वैभव के अधिपति होते हुए भी दुर्गति के पात्र नहीं बने; प्रसूत मुनि दीक्षा लेने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही कैवल्य की विभूति

के स्वामी बन गए। इसका क्या कारण है ? जैसे 'भटा पय काहू, काहू को बयारे है' तयैव यह धन विवेकी व्यक्ति को निर्वाण के समीप पहुंचाता है और यही संपत्ति अविवेकी को नरक या तिर्यंच पर्याय को प्राप्त कराती है। धन का यदि सत्पात्रों में विनियोग होता है, तो उससे इसका पाप क्षय होकर पुण्यश्री की प्राप्ति होती है। गुणाधिक, रत्नशय मूर्ति पात्री को आहारदान के प्रभाव से दातार का उद्धार होता है।

जिस दातार के द्वारा दिया गया अन्न मुनि के उदरगत होने के उपरान्त तप, ध्यान ब्रह्मचर्य की साधना पूर्वक जीर्णता को प्राप्त होता है, वह पात्र अपने आपको तथा दातार को भी तारता है। तपश्चर्या में सहायक होने का महान श्रेय गृहस्थ को प्राप्त हो जाता है।

धर्म, अर्थ, काम के विषय में नीति वाक्यामृत में लिखा है—

त्रिवर्ग साधन

"धर्म अर्थ तथा काम इन तिनो में एक का ही अधिक

सेवन करने से शेष दो को क्षति पहुंचती है, जैसे एकान्तर्ष से अर्थ की ओर झुकने पर धर्म तथा सुख की उपलब्धि नहीं होगी। यथार्थ में देखा जाय, तो अर्थ, सुख आदि का मूल जन्म, धर्म है। धर्म की सम्यक आराधना होने पर मनोवाञ्छित लाभ अनायास होता है। चक्रवर्ती भरत की चिन्ताओं और आकुलताओं की सीमा नहीं थी। आज का व्यक्ति थोड़ी सी चिन्ताओं और व्यस्तताओं के बीच धर्म साधन को ही सरलता पूर्वक छोड़ने को उद्यत होता है, क्योंकि उसके बिना कोई काम अटकता नहीं है। भरतेश्वर की स्थिति दूसरी थी। उनको सर्वोपरि चिन्ता धर्मोपार्जन की थी। उनका विश्वास था, कि धर्म की चिन्ता करने पर शेष सब कार्य चिन्तन मात्र से ही पूर्ण हो जायेंगे। भगवान् जिनसेन स्वामी लिखते हैं:— "वहु चिन्तायुक्त चक्रवर्ती भरतेश्वर को धर्म की सुदृढ़ चिन्ता रहती थी, क्योंकि धर्म का चिन्तन करने से सर्व बातें चिन्तन मात्र से पूर्ण होती हैं।" धर्मशील नरेश के आकर्षण के कारण प्रजा भी धर्म पालन में अग्रसर होती थी। आचार्य लिखते हैं :- "प्रजापालक नरेश के धर्माचरणी होने पर प्रजा भी धर्मशीला होती है, राजा के अधार्मिक होने पर प्रजा भी धर्म प्रतिकूल होती है। जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है।" और भी:—

सुकालश्च सुराजा च सर्वं सन्निहितव्यम् ।

ततो धर्मप्रिया जाताः प्रजास्तदनुरोधतः ॥९८॥

"सुराजा और सुकाल इनमें सन्निकटता है। चक्रवर्ती भरतेश्वर के अनुरोध के

कारण प्रजा भी धर्मप्रिया धन गई।" इसका क्या कारण है, इसे आचार्य इस प्रकार बताते हैं—“ये सम्राट भरत धर्मप्रेमी है, धर्म में स्थित लोगों को देखकर हर्षित होते हैं, यह मानकर समस्त लोक तथा समाज की धर्म में अनुरक्ति हुई।” अन्य बड़े बड़े नरेशों के जीवन पर भरत की धार्मिकता का क्या प्रभाव पड़ा इसे बताते हैं ? “महाराज भरत तो धर्म में अत्यन्त आसक्त है। हम उनके अनुजीवी हैं, अतः मुकुट वद्ध नरेशों ने उन सम्राटों के चरित्र का अनुकरण किया।”

इस प्रकार जो अर्थ अपने नेत्रों से धर्म की मूर्ति को निरन्तर निहारता रहता है, वह तो उन्नति का कारण बनता है और जो धर्म के तरफ पीठ फेर करके अपना अभ्युदय चाहता है, वह पतन का ही कारण होता है। वह धर्म कोई विद्वेष पूर्ण पतनकारी प्रवृत्ति का पुत्र नहीं है। जीवों का रक्षण करना यही सच्चा धर्म है।

अपरिग्रह वृत्ति जिस लाभ वषाय की प्रेरणा से यह जीव धन दौलत का अधाधुध संग्रह करते हुए भी तृप्त नहीं होता, वह अपरिग्रह वृत्ति द्वारा क्षण में तृप्त हो जाता है। स्वामी समत भद्र ने लिखा है कि भगवान् अनन्तनाथ तीर्थंकर ने सर्व सग पतित्याग द्वारा तृष्णा की बाधा को दूर कर दिया था। उनसे कहा है—

“हे आर्य ! आपने महान् श्रम रूप जल से परिपूर्ण तथा भय रूप तरंग राशि सञ्चल अपनी विषय लालसा रूप नदी को अपरिग्रह रूप शीघ्रकालीन सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से सुखा दिया, अतएव आपका तेज उत्कृष्ट शान्ति युक्त है।” तृष्णा रूपी नदी में जो अपरिग्रह रूपी जल है, वह महान् श्रम से पूर्ण है। परिग्रह के होने पर भय की वृद्धि हानी है, इससे उसे भय रूपी तरंग मालाओं से परिपूर्ण कहा है। तृष्णा रोग का उपाय अपरिग्रह वृत्ति ही है।

वे आचार्य पुनः कहते हैं “प्रभो ! यह तृष्णा-नदी विलक्षण है, यह तत्काल तथा परिणाम में दुःख की योनि रूप है। इसका पार पाना बड़ा कठिन है। बिना सम्यग्ज्ञान रूपी नौका, जो अपरिग्रहत्व समुक्त है, पर बैठकर आपने इसे पार किया है।”

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तृष्णा के द्वारा तत्काल भी सच्चा निराकुलता रूप सुख नहीं मिलता और न भविष्य में भी उस शान्ति की उपलब्धि होती है। उसके पार जानने के लिए अपरिग्रह-भाव रूप नौका का आश्रय लिए बिना अन्य उपाय नहीं हैं।

जो अपनी मानसिक दुर्बलतावश तृष्णा की अधीनता को छोड़ने में असमर्थ है, वह यदि अकिंचन जिनेन्द्र को समाराधना करे, तो उसकी कामना की पूर्ति में कटक नहीं आ सकते। वीतराग की आराधना से मनोवांछित वस्तु का लाभ होता है। कवि धनजय कहते हैं:—“भगवन् । जो फल मनस्वी अकिंचन के द्वारा प्राप्त होता है, वह समृद्धिशाली कुवेर आदि से नहीं मिलता है। जलविहीन उन्नत पर्वत से अनेक नदियाँ प्रवाहित होती हैं, किन्तु विपुल जलमय सिन्धु से एक भी नदी का उदगम नहीं होता है।”

परिग्रह के जाल में फँसाने वाली तृष्णा का कारण लोभ है। कवि बनारसी दास लिखते हैं—

लोभ मूल सब पाप को, दुख को मूल सनेह ।

मूल अजीरन व्याधिको, मरन मूल यह देह ॥५५१॥ अर्थ कथानक ।

सीमित संपत्ति साधारण मानव सहसा लोभ का दासत्व नहीं छोड़ सकता है, अतएव महर्षियों ने अपनी आवश्यकताओं को सीमित करने का उपदेश दिया है। उसे भी कम करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अमृतचंद्र सूरिलिखते हैं.—“बाह्य परिग्रह के द्वारा अयोग्य असंयम भाव उत्पन्न होता है, अतः सचेतन तथा अचेतन दाना प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करे।

जो मनुष्य धन धान्य भवान् सपदादि का पूर्णतया परित्याग करने में असमर्थ है, उसका कर्तव्य है, कि यह अपने परिग्रह की सामग्री को न्यून करे, क्योंकि निवृत्ति अर्थात् त्याग रूप ही तत्त्व है।”

जितना अधिक परिग्रह होगा, उतना ही अधिक असंयम भाव होगा। जिसके पास जितनी परिग्रह की अधिकता होगी, उतना ही अधिक पान भार का भागी बनना पड़ेगा। यह कहना कि किस व्यक्ति को जितनी सामग्री आवश्यक है, साधारणतया कठिन है। देन, काल, परिस्थिति आदि के अनुसार बाह्य सामग्री की आवश्यकता के बारे में सम्यक् विचार हो सकता है। एक अल्प सतोषी व्यक्ति तो इतनी भर सामग्री चाहता है कि उसके कुटुम्ब का भरण पोषण होता जाय, तथा आगत अतिथि का सम्यक् सम्मान भी हो सके। कवि कहता है—

१ तुंगात्फल यतदकिंचनाच्च प्राप्तं समृद्धाघ्र धनेश्वरादे ।

निरभसोप्युच्चतमादिवात्रैर्नैकापि निर्याति धूनी पयोधे ॥१९॥

“साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय ।

में भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥”

नोनि-वाक्यामृत में सामान्यतया सुखी गृहस्थ के लिए क्या सामग्री आवश्यक है, उसे इस मूल द्वारा बताया है—“जिस गृहस्थ के घर में सर्वदा कृपि की जाती है, जिसके यहाँ गायें, भैंसें रहती हैं, तरकारी भाजी उत्पन्न होती है, तथा घर में कूप है, उसे सासारिक सुख है ।”

आज के युग की लोक व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन हो गया है। एक ओर तो गरीबी है, भयंकर अर्थ संकट है, तो दूसरी ओर कुछ वैभवशाली लोग पण्यवाद के प्रसारवश खूब मालामाल हो रहे हैं। इस विपरीतपूर्ण स्थिति के कारण आज के विश्व में भूखर असन्तोष और चीत्कार मचा हुआ है। एक ओर करोड़ों मनुष्य हैं, जिन्हें न रहने को स्थान है और न पहिनने को वस्त्र हो मिलते हैं। दूसरी ओर उन्मत्त लक्ष्मी के लाडले उद्योगपति मदान्व जीवन व्यतीत करते हुए, धर्म जीवी वर्ग के पावों पर नमक छिड़कते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस परिग्रहवाद के राक्षस के कारण ही जगत् में अशान्ति और विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो गयी है। क्रोध से अना बन मनुष्य महत्त्व की बातों को भी भूल जाता है इसलिए प्रतीत होता है कि अर्थ व्यवस्था की चिकित्सा करने में तत्पर समाजवादी रुस ने धर्म को फाँसी पर टांगा और परमात्मा की मान्यता को समाप्त किया। मार्क्स धर्म को अफीम (Opium of the people) कहता था, तो लेनिन उसे आध्यात्मिक विष (Spiritual. cocaine) कहता था। एक रूसी लेखक लिखता है—“कि ईश्वर तो मर चुका है अब उसका स्थान खाली है ।” हमें प्रतीत होता है कि ये परिग्रह के जाल में जकड़े लोग धर्म और ईश्वर के स्थान में अर्थ और बमों को विराजमान कर उनकी पूजा द्वारा स्वार्थ पोषण करना चाहते हैं। परिग्रह की समस्या को सुलझाने का उपाय परिग्रह की वृद्धि नहीं है। पंडित आशाधर जी ने लिखा है—
“यह परिग्रह अविश्वास रूप अंधकार के लिए रात्रि के समान है ।

१ तस्य खलु संसारसुख यस्य कृपिर्धनव शाकवाटः सन्नति उद्धान च ॥

(वार्ता समुद्देश-३)

२ अविश्वासमोहोक्त लोभानलपृताहुति ।

आरम्भमकराभोधिरहो श्रेय परिग्रह ॥४-६३ ॥

लोभ रूपी अग्नि के लिए घृत की आहुति तुल्य है तथा आरंभ रूपी मगर के लिए समुद्र के समान है ।”

परिग्रह का अकलंक स्वामी का कथन है—“परिग्रहवान् ध्येयवित् मांस के टुकड़ों को धारण करने वाले पक्षी के समान है। जिस प्रकार मांस लोलुपी पक्षी उस पक्षी से झगड़ते हैं, इसी प्रकार लोक में परिग्रह वाले के प्रति दूसरे जीव द्वेष भाव धारण करते हैं । उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण तथा विनाश से उत्पन्न बहुत से दोष प्राप्त होते हैं । इससे जीव की तृप्ति भी नहीं होती ।”

हिंसाश्रित साम्य जो सर्वत्र साम्यवाद की सुन्दर दुनियाँ सजाना चाहते हैं वे विश्व में विद्यमान, प्राकृतिक विषमता को किस सुखकर नहीं हैं प्रकार दूर कर सकेंगे ? विश्व का वैषम्य तत्त्वतः जीवों के क्षण क्षण में बदलने वाले भावों का कार्य है । जैसे समुद्र में क्षण क्षण में लहरें उठा करती हैं इसी प्रकार प्रत्येक अतःकरण में सदा नवीन विचित्र भाव उत्पन्न होते हैं । उनके द्वारा यह जीव पुद्गल पुंज को अपनी ओर आकर्षित किया करता है । उस कर्म के द्वारा ही अगणित विषमताओं का दर्शन होता है । अतः—साम्य उत्पन्न हुए बिना बाह्य साम्य का स्थापन ऐसा ही है जिस प्रकार भीतरी घाव में औषधि न लगाकर उसे ऊपर से ढांककर अपने को निरोध अनुभव करना । मन की चंचलता सरकारी कानूनों अथवा तांप तलवार या बमों के प्रहार से दूर नहीं होती । उसके लिए उत्कृष्ट अहिंसा-मय पवित्र जीवन आवश्यक है । आज मद्य—मांस सेवन, शिकार खेलना, पर-स्त्री सेवन करना आदि को धर्म मानने वाला पश्चिम साम्यवाद के

नाओं के आधीन रहने वाले व्यक्ति व्यसनों की पूर्ति में सम्पत्ति का व्यय करके आत्मा का पतन किए बिना न रहेंगे। ऐसे लोगों की स्थिति पतागे के समान होती है, जो दीपक तुल्य ललचाने वाली वस्तु के प्रति आसक्त हो अपने प्राणों का विसर्जन करने से नहीं रकते। राष्ट्र में असतोष और विद्वेष की अग्नि की प्रज्वलित चर हिंसा की भावनाओं को जगाना अमंगल जीवन का सूचक है। सतोष और सदाचार के अमृत रस को फेंककर हिंसा, आतंक तथा दूसरों के धन के अपहरण द्वारा जनसाधारण में फैला हुआ आर्थिक रोग दूर न होकर अन्य असाध्य बीमारियों की उत्पन्न करता है। जिस प्रकार नेत्र रोग से पीड़ित व्यक्ति की यदि आँख फोड़ दी जाय, तो उसका वह रोग अवश्य अच्छा हो जायगा किन्तु अधस्त्व नाम की बड़ी भारी व्यथा जीवन भर उसका पीछा न छोड़ेगी। इसी प्रकार आध्यात्मिकता तथा सदाचार के आधार पर अवस्थित अर्थ-व्यवस्था का मूलोच्छेद करने पर जो लोक मानस में उच्छृंखलता और जडतत्त्व की आराधना की हीन-वृत्ति आ जाती है, उससे जीवन की सरसता, स्निग्धता, सहृदयता तथा शील आदि सद्गुणों का सदा के लिए लोप हो जाना असंभव नहीं है। परिग्रह की आत्मा मान उसके पीछे उन्मत्त बनने वाले लोगों को भारतीय विद्या की यह अमृत शिक्षा सिखाना चाहिए कि “यदि जीव ने आत्मा के वैभव का ध्यान न किया, तो वह विकास हीन पशु आदि की पर्याय में जाकर दुखी होगा। वैभव में निमग्न चक्रवर्ती भी भरकर नरक में जाता है।”

अज्ञान के कारण यह जीव धन की ही अपना जीवन जान आत्मा का मूल्य भूल जाता है। क्षत्रचूडामणि में एक सुन्दर बात कही गई है। जीवधर स्वामी ने जगल में एक निर्धन व्यक्ति को देखा और उससे कुशल चर्चा पूरी। उस समय कुमार जीवधर कहते हैं, “सच्ची कुशलता कृपि आदि द्वारा प्राप्त सामग्री से उत्पन्न नहीं होती है। कृपि आदि के कारण प्राप्त सामग्री सच्ची कुशलता की जननी नहीं है, वह तृष्णा रोग का बीज है, विनाशयुक्त है, पाप का कारण है, पर-वस्तु के आश्रित है, कटु परिणाम युक्त तथा दुःख मिश्रित है। जीव की सच्ची कुशलता आनन्द पूर्ण मोक्ष में है, जो आत्मा से उत्पन्न होता है और उससे ही साध्य होता है, अव्यायाय रूप है, सर्व श्रेष्ठ है, अनंत है तथा तृष्णासे रहित है” भाज के परिग्रह वाद के राक्षस के अधीन व्यक्ति के लिए जीवधर कुमार

के ये शब्द बड़े बोधप्रद हैं, "आत्मा को अपनी वस्तु और जड़ पुद्गल को पर वस्तु जानना चाहिए। पर पदार्थों के त्याग में, अपरिग्रह भाव में बुद्धि धारण करना चाहिए। थोड़े काल पर्यंत रहनेवाले पदार्थों में क्या सार है?"

ऐसे पुण्य विचार, धन और वैभव के विषय में यदि, छोटे और बड़े के मन में उत्पन्न होकर अपना स्थान बना लें, तो धनी और निर्धन इन दोनों की प्रकृति और प्रवृत्ति में पर्याप्त परिवर्तन तथा उज्ज्वल प्रकाश प्राप्त हुए बिना न रहगा। असतोष और क्षोभ की चेंबरणी के स्थान में यदि सतोष और शान्ति की पुण्यधारा प्रत्येक के अन्तःकरण में प्रवाहित हो हो तो यह विश्व वैभव और विभूति संपन्न होने के साथ वास्तविक आनन्द का पुण्य निवेदन बने बिना न रहे। आचार्य कहते हैं, बिना 'जिस प्रकार छाया के पीछे दौड़ने से उसकी उपलब्धि की सम्भावना असम्भव हो जाती है, किन्तु उसके पीछे न पड़ने से वह तुम्हारा पीछा करती है, इसी प्रकार निरन्तर भोग की आराधना द्वारा वह दूर भागता है किन्तु त्याग भाव और वीतरागवृत्ति को अपनाने से पुण्यात्मा के पाप असीम संपत्ति आया करती है।"

राष्ट्र की दुरावस्था का कारण परिग्रह लालसा आज जो आर्थिक संकट ग्रस्त समाज की चिकित्सा करने में उद्यत शासक वर्ग दिखता है, वह स्वयं परिग्रह रूपी राग-युक्त हैं और भयंकर लालच के अधीन होने के कारण रोग की सम्यक् चिकित्सा न कर रोग की वृद्धि करता है। आज शासक वर्ग में लोभ का जोर गरम है तथा उसकी अन्याय प्रवृत्ति चिता की वस्तु है।

नीति वाक्यामृत में लिखा है—

'रिद्धत का ग्रहण करना सर्व पापों के आने का मार्ग है' (स्वामि समुद्देश ५२) राजा या शासक वर्ग रिद्धत लेकर कार्य करे, तो किसकी भलाई होगी? राजा यदि अन्याय करे, तो यह समुद्र की मर्यादा का उल्लंघन होगा। यह सूर्य का अधिकार का पोषण, तथा माता का स्वपुत्र भक्षण सदृश कार्य है।

अन्याय प्रवृत्ति जनता के दुखी रहने का कारण शासक की न्याय में मिथिल प्रवृत्ति है। राजा पवित्रता पूर्ण प्रवृत्ति को करें तो क्या होता है, इसे इस प्रकार बताते हैं—यदि राजा न्याय अर्थात् अहिंसा धर्म के अनुकूल प्रजा का पालन करे तो संपूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं,

मेघ की समय पर वर्षा होती है तथा टिड्डी आदि ईतियों की उपशान्ति होती है ।

आज टिड्डियों की वृद्धि होने पर शासन गण शासन का हिंसा उन असह्य प्राणियों के सहार के सिवाय अन्य की ओर झुकना उपाय नहीं सोचते । धान्य की उत्पत्ति न होना, अमंगल पूर्ण है वर्षा का यथोचित न पडना, जिससे दुर्भिक्षों की वृद्धि देख लोगो की मांस भक्षण की ओर प्रेरणा करना महान अमंगल कार्य है । यदि शासक जीव-वध का कार्य बन्द करावे और करणात्मक प्रवृत्तियों का पोषण करे, तो उपरोक्त कथनानुसार सर्वश सुख की सामग्री स्वयं प्रकृति प्रदान करेगी । शासक की दिशा भूल से प्रजा का सर्वनाश होता है ।

सन १९५१ में बम्बई राज्य के प्रधान मंत्री ब्राह्मण कुलोत्पन्न श्री वाला साहेब खेर ने अपने भाषण में लोगो को मत्स्य-भक्षण के लिए प्रेरणा रूप उपदेश देते हुए उनकी मधुरता को, अन्य देशो की मत्स्य मांस की अपेक्षा, विशय महत्वपूर्ण कहा था । राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने बम्बई के एक बदरगाह का उदघाटन करते हुए सन १९५१ में कहा था कि भारत का समुद्र तट करीब चार हजार मील लम्बा है । यहाँ मछली मारने की और उसका व्यवसाय बढ़ाने की बहुत बड़ी गुंजायश है । धर्म भूमि भारत के इन शासको की इस प्रकार की हिंसा को प्रेरणा देने वाली बातों को देखते हुए प्रत्येक धर्म पर आस्था रखनेवाला विचारक समझ जायगा, कि आसाम का भूचाल, बंगाल, सीराष्ट्र, बिहार आदि में वर्षाभाव से दुर्भिक्ष का दौर-दौरा टिड्डियों का, आक्रमण आदि आधि दैविक विपत्तियों का क्या कारण है ?

ये शासक प्रजा के प्रतिनिधि हैं । व्यक्तिगत रूप में ये सूर्य का उदय पश्चिम में बतावें तो उसे कोई नहीं आपत्ति जनक कहेगा । कारण मत स्वतन्त्र्य इन्हे भी है, किन्तु राज्य के सत्ताधीश की हैसियत से जब ये बोलते हैं, तब इनका एक एक शब्द, एक एक चेष्टा लोक के हित अहित से संचित हो जाती है । ये यदि मांस भक्षियों के ही प्रतिनिधि रहते तो इनका मांस-भक्षण के समर्थन में प्रचार करना, भाषण देना, कदाचित् उपयुक्त माना जाता । किन्तु ये अहिंसा को परम धर्म माननेवाले करोड़ो भारतीयों का भी प्रतिनिधित्व करते हुए मांस भक्षण का प्रचार

करते हैं, यह परिताप की बात है । प्रजापालक के नाते देश की भूमि में बसने वाले सभी निरूपद्रवी जीवों के लिए अभय देना इनका कर्तव्य है ।

न्यायशील शासक अतः सोमदेव सूरि ने बताया है, कि राजा बुरे दिनों को, दुष्काल को सुकाल के रूप में बदल सकती है, यदि वह सर्वत्र करुणा, न्याय और सच्ची जीव दया का प्रसार करावे ।

आज प्रजा में असंतोष तथा क्षोभ का क्या कारण है ? विचार जाय, तो ज्ञात होगा, कि प्रायः न्याय का प्रदान कार्य स्वार्थ को देखकर होता है । अधिकारियों को धन मिला, तो हाथी बराबर पाप भी तिनके से हल्का बन जाता है, और यदि लुब्धक शासन सत्ता की तृप्ति नहीं हुई तो चोटो बराबर अपराध को गज से भी बड़ा मान दण्ड देकर न्यायावतार होने का दर्भ दिखाया जाता है ।

नीतिवाक्यामृतकार कहते हैं—“दोष के अनुसार दण्ड रूप में करोड़ों का लिया जाना नहीं पीड़ा देता है, किन्तु अन्याय पूर्वक लिया गया एक तिनका भी प्रजा को खेद प्रदान करता है ।” आज की दण्ड व्यवस्था भयंकर रूपमें झिझिल बन गई है । यदि उसकी साराबी दूर कर दी जाय, तो सर्वत्र सुख और शांत हो जाय । विद्या-वृद्ध समुद्देश में आचार्य सोमदेव लिखते हैं, “अपराधियों पर उनके समान भयंकर दण्ड प्रदान करने वाले शासक के होने पर प्रजावर्ग अपनी भयानका का उल्लंघन नहीं करता तथा विवर्ग के फलरूप विभूतियों की प्राप्ति का प्रसाद मिलता है ।” इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज के युग में जो असंतोष, तथा आर्थिक कष्ट, अन्न, वस्त्र आदि की विपत्ति, रोगों की वृद्धि की पीड़ा बढ़ रही है, उसका उपाय शासन सत्ता का धर्म के मार्ग पर दृढ़ होकर प्रजा का न्यायानुसार पालन नहीं करना है । अहिंसा की हिंसा करते हुए अपने को अहिंसावादी कहने की कुचेष्टा को छोड़कर संकल्पी हिंसा के निरोध का उपाय करने पर भारतीय जनता की विपदाएं शीघ्र ही विलीन हो जायगी और तब जब रदस्ती अन्याय पूर्वक दूसरों के धन को छीनकर साम्प्रत्य उत्पन्न करने की अस्वस्थ मनोवृत्ति दूर हो जायगी । जब समाज निरोग होगा तो अपने

१ “यथा दोष कोटिरपि गृहीता न दुःखायते, अन्यायेन तृणशलाकपि गृहीता प्रजाः भेदयति (२२-२३) (व्यसन समुद्देश)

थम और पुण्य प्रवृत्तियों द्वारा अपनी देह में स्वतः की वृद्धि करेगा और वह दूसरों के शरीर से स्वतः की भिक्षा या अत्याचार की स्वप्न में भी बात न सोचेगा । कदाचित्त शासन सत्ता ने अधिकार के मद में अधम की भूमि पर ही अपनी उन्नति का प्रासाद खड़ा करने का निश्चय किया तो उसका स्थायित्व न रहेगा ।

इस अवसर पर संपत्तिशालियों को भी विवेकसे काम लेना चाहिए । उनकी भी जमाते की बढ़ती हुई असतोष की प्रचण्ड ज्वाला को देखकर धनिकों का विवेक लोक हितार्थ अपने धनका उपयोग कर डालना चाहिए । अतः करण की प्रेरणा से दान देने में लोक प्रतिष्ठा से काम करने में तदा जनता का प्रेम मिलता है । देश में गरीबी का हित है तदा जनता का प्रेम मिलता है । देश में गरीबी का भयकर दौर-दौरा है । बीमारियों ने भी बुरी तरह परेशान कर रखा है । बहुत जगह तो ऐसी स्थिति है कि लोगों की यत्ना को देख कर पत्थर भी रो पड़ेगा । इस ओर भी उस को देखना चाहिए अन्यथा वजूस मक्की की भाँति अत्याचारी भूखा वर्ग उन्हें भिलारी बना उनका धन रूप मनु छीन लेगा और वे आर्तनाद करते हुए जीवित नरक में दास करेंगे, पश्चात् असली नरक पाप के परिणाम से मिलेगा । इस प्रकार का विवेक धनिकों में जगें और प्रजा में श्रमका मूल्य आवे और प्रामाणिकता की वृद्धि हो, तो सर्वत्र सुकाल और शांति की ज्योत्स्ना छिटक सकती है । सबको सतोष रूप धन के लिए उद्योग करना चाहिए, जिसके होने पर बाहरी धन-वैभव घूलि सदा हो जाता है ।

जो तार्किक धन सचय के पक्ष में कहता है कि हम परोपकार के हेतु अर्थ संग्रह करते हैं, उसे आचार्य समझाते हैं "यदि तुम त्याग के लिए धन का संग्रह करते हो, तो उसका संग्रह ही न करो, यह विधायक हित का मार्ग है । बीच में पैर डालकर पश्चात् धाने के स्थान में पैरों को पक लिप्त ही न किया जाय, यह अधिक बुद्धिमत्ता की बात होगी ।"

संग्रह करना, पश्चात् त्याग करने से प्रारम्भसे ही तृष्णा का त्याग जीवन को अधिक महिमास्पद बनाता है । कहने हैं १९२१ ईसवी में जब गांधीजी ने असहयोग का आंदोलन प्रारम्भ किया उस समय देगवधु चित्तरजन दास वैरिस्टर से, जो अपनी प्रतिभा के लिए इस भारत में अप्रतिम थे, गांधीजी ने देश सेवा के लिए साही बकान्त छोड़ने का आग्रह किया । उनसे कहा "मेरा नाम था मोहनचंद गांधी, किन्तु मैंने 'चंद' के स्थानमें 'दास'

शब्द का प्रयोग किया, तुम्हारे जन्म के परिवार को 'दास' नाम प्राप्त है, फिर तुम्हारा मातृभूमि की दासता की चेड़ी बाटने के लिए राष्ट्रसेवा के क्षेत्र में नहीं आना अटपटो सी बात लगती है।"

दास बाबू, गांधी जी से बोले, "आप मुझे बवालत करने दीजिए, उसकी ५० हजार से अधिक मासिक आमदानी पूरी की पूरी में कांग्रेस की दे दूंगा।"

गांधी जी बोले "हमें रुपया नहीं चाहिए। रुपयों को लात मारने वाला त्यागी व्यक्ति चाहिए। तुम सा त्यागी पाकर हम जितना चाहेंगे, उतना रुपया पा सकेंगे।"

दास बाबू ने गांधी जी की बात शिरोधार्य की। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दान पुण्य करने की आकांक्षा लेकर धन सग्रह के क्षेत्र में प्रवृत्ति करना ऐसी ही समझदारी की बात है, जैसी कोई अपने शरीर में कीचड़ डालकर पश्चात् उसे दूर करने की जल से स्नान करे। कोई वह बैठेगा भाई, कीचड़ से घिरा ही था, तो शरीर को पक लिप्त करने का बयो काष्ठ किया?" अतः जिनकी विषय-तृष्णा मंद हो गई है, जिनने ससार के स्वरूप को समझ लिया है, और जो यह जानते हैं कि पैसे की दोस्ती से इस जीव की दुर्गति का पात्र बनना पड़ता है, वे सग्रह के फेर में पहले से ही नहीं पड़ते, और कर्मों के बंध से बचते हैं।

परिग्रहवाद का प्रपंच बड़ा विचित्र है। जिस तरह मक्ड़ी स्वयं ताना बाना बुनकर जाल बनाती है, और उसी जाल में मरी हुई पाई जाती है, इसी प्रकार परिग्रह के फेर में फसा हुआ पुरुष अमूल्य क्षणों के अपव्यय को भूलकर अन्त में तल्लेश पूर्वक मृत्यु की गोद में सो जाता है। जिस भारत में बड़े बड़े नरेशों ने आत्म-प्रकाश के हेतु महान साम्राज्य को तुण वत त्यागा, उसी देश में आज धन की तृष्णा के कारण वैसी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो रही है? तृष्णा से जीव की क्या दुर्गति होती है, इस विषय में गुण भद्राचार्य की उक्ति बड़ी मार्मिक है। 'एक चमरी गाय होती है, उसके बालों के गुच्छा से चमर बनाये जाते हैं। उसकी अपने बालों पर बड़ी ममता रहती है। एक बार शिकारी के भय से चमरी गाय भाग रही थी, उसके केश काटो में फस जाते हैं। बालों की मूर्छा बस वह खड़ी हो जाता है, उसे अपने प्राणों के जाने का ध्यान नहीं रहता है, बालों के मोहबशा वह स्तब्ध बड़ी हो जाती है और शिकारी उसके प्राणों का सहार कर डालता है।

परिग्रह की तृष्णा वाले जीवोंकी जगत् में ऐसी ही दुर्दशा देखी जाती है ।"

लोभ कपाय वशंगत जीव की जब तक पुद्गलादि के परिग्रह में आत्मोय विषय में अकल्याणकारीपने की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती भाव दुःखप्रद है, तब तक उसकी उनमें श्रद्धा नहीं हटती है और जब तक श्रद्धा रहती है, तब तक चित्त उसमें लीन रहता है । अतः परिग्रह में अहित बुद्धि जगने पर उसमें श्रद्धा नहीं रहेगी, तब उसमें चित्त लीन भी नहीं होगा और वह विरक्ति युक्त हो जायगा । किसी खाट में खटमल भरे हुए है, उस पर सोने की इच्छा वाले की नीद नहीं आती है । यदि वह विश्राम और सुखद निद्रा चाहता है, तो उसे उस खाट को छोड़ना पड़ेगा । इसी प्रकार आत्मा की अनुभूति का रसास्वाद करने वाले को परिग्रह की खाट को छोड़ना पड़ेगा । यह परिग्रह अनंत आकुलताओं का कारण है, इसीसे जिन्द्र देव ने समस्त परिग्रह का त्याग किया । भगवान् अरहनाथ का वर्णन करते हुए समंतभद्र स्वामी लिखते हैं—

"भगवन ! आप भुक्ति की आकांक्षा करते थे, अतः चक्रवर्तित्व मुक्त लक्ष्मी के वैभव का सर्वस्व सार्वभौम साम्राज्य आपकी दृष्टि में जीर्ण—तृण सद्गुण हो गया था ।" यथार्थ में देखा जाय, तो जीव का सच्चा कल्याण मुमुक्षु बनने में है। मुमुक्षु परिग्रह के प्रति पूर्णतया निस्पृह होता है ।

परिग्रह की आसक्ति इस जीव को सब पापों में फंसा देती है । अनगर—घर्माभूत में कहाँ "घनकी आकांक्षा करने वाला व्यक्ति जीवों के वध में प्रवृत्त होता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन को तैयार हो जाता है, अखाद्य वस्तु को खाने को तत्पर रहता है तथा बड़ी लज्जा को बात है कि अपेय शराब आदि को भी पीने लगता है ।" आज कीवर्तन लालसा से बड़े व्यापार में लगने वाले या अग्यो के साथ व्यापारिक संपर्क स्थापित कर उनकी प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए बड़े बड़े पवित्र कुल वाले व्यक्ति ऐसे ऐसे पाप करते हैं, जिससे कुल के उज्ज्वल नाम पर स्याही लगती है । यह परिग्रह की तृष्णा जीव को सभी पापों की ओर ले जाती है । जो इस तृष्णा को जीत लेते हैं, सत्कार भर उनका दात हो जाता है ।

इस परिग्रह का पूर्णतया त्याग महाव्रती मुनिराज करते हैं । उसमें स्थिरता निमित्त पंच भावनाओं का इस प्रकार वर्णन किया जाता हैः—

शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गंध इन पाचों इंद्रियों के विषयों में

राग और द्वेष का परिहार करना परिग्रह त्यागी महाव्रती मुनि की पंच भावना है ।

इन भावनाओं के द्वारा क्या लाभ होता है, इस विषय में आचार्य कहते हैं:—“इन भावनाओं का पालन करने वाला साधु निद्रा को प्राप्त होते हुए भी संपूर्ण व्रतों का धात नहीं करता है, जागृत अवस्था का तो कहना ही क्या है ? इन भावनाओं द्वारा मानसिक रास्कार शून्य रहने से प्रवृत्ति में मलिनता का पूर्णतया अभाव हो जाता है ।” इस अपरिग्रह महाव्रत के कारण सानु की संपूर्ण आकुलताओं का अभाव हो जाता है । आकुलता के अभाव को ही सुख कहते हैं । अतः अपरिग्रह व्रत के द्वारा महान सुख की प्राप्ति होती है ।

सूत्र पाण्डे में कुदकुंद स्वामी ने कहा है—“मुमुक्षु का कर्तव्य है, कि परिग्रह को न्यून करते हुए इच्छाओं को नियंत्रित करे और सामर्थ्य प्राप्त होने पर सकल संन्यास का परित्याग कर पूर्णतया इच्छा रहित हो निस्पृह बने । इस निस्पृहता में ही सच्चा आनन्द है ।” आचार्य कहते हैं ? निस्पृहता की पुण्य स्थली में रहने वाला योगी संपूर्ण विश्व के वैभव की पूर्णतया उपेक्षा करता है । जिनेन्द्र भगवान को केवल ज्ञान लाभ के पश्चात् समवशरण का अचिन्त्य वैभव प्राप्त होता है, किन्तु वे उससे भी चार अंगुल ऊँचे अंतरीक्ष विराजमान रहते हैं । अपरिग्रहत्व का इससे उज्ज्वल आदर्श विश्व में और कहाँ मिलेगा ? जिस धर्मने इस अपरिग्रह को जितना स्थान दिया है, उसमें उतना ही परमार्थ सत्य है । तीर्थंकर महावीर प्रभु की वेदना का प्राण अपरिग्रहत्व ही है । तीर्थंकरों की भी दिव्यवाणी में यही तत्त्व प्रगट हुआ था । अतः जैन वाङ्मय का मर्म अपरिग्रह भाव ही है । इसे अपनाने वाला अमृतत्व का अधिपति बनता है, इसे भुलाने वाला जन्म, जरा, मृत्यु के संताप से नहीं बच सकता है ।

कोई कोई यह सोचते हैं, अपरिग्रहत्व के पालनार्थ अहिंसात्मक जीवन की अनिवार्यता नहीं है । मातृ भक्षी, जीवहंसक भी यदि घन आदि की जरूरतों को अधिक न्यून कर डाले, तो उसे भी अपरिग्रह व्रती कहा जायगा ; यह भ्रम है । अहिंसा माता की संतति जैसे सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य है, उसी प्रकार अपरिग्रह भी उसकी संतान है । ऐसी स्थितिपुस्तक आपाततः अल्प सामग्री के कारण बाह्य दृष्टि से अल्प परिग्रही है, किन्तु अन्तः कपाय रूप महा मूर्ध्निमान् होने के कारण वह महा-परिग्रही



आचार्य महाराज ग्रंथ परीक्षालय में निमग्न ।



आचार्य श्री विचार निमग्न ।



आचार्य श्री ध्यानस्थ ।



आचार्य श्री आत्मचित्तन मुद्रा मे ।

माना जायगा । अंतरंग की मूर्छा विहीन से ध्वजित दूसरे प्राणियों के प्राणों का हनन करने से विरत हुए बिना न रहेगा । जो जीव-वध में संलग्न है, उसके पास अपरिग्रहत्व का शव है, आत्मा नहीं है ।

कोई कोई अपरिग्रहत्व के अद्भुत भक्त कहने लगते हैं, अपरिग्रहत्वकी जिनालयों के पूजा करनेवाले जैनियों के मंदिर में वैभव की सामग्री वैभव पर आक्षेप देकर प्रतीत होता है, कि इनने भगवान को परिग्रह का निवारण वात्सा बना दिया है और अपने को शब्दों द्वारा अपरिग्रही घोषित करते हैं । यह धारणा मूलतः मूल भरी है । जब मूर्छा को परिग्रह कहा गया है और भगवान के मूर्छा नहीं है, तब वाह्य वैभव से उनको परिग्रहवान मानना पूर्णतया ग्राह्य-विषय है । जब समवसरण की अचिन्त्य और अद्भुत विभूति के मध्य आसीन होते हुए भी भगवान जिनेन्द्र मोह का ध्वंस करने के कारण पूर्णतया वीतराग तथा महा निर्ग्रन्थ रहते हैं, तब उनके समवसरण की प्रतिकृति रूप बनाए गए रम्य जिनालय को पूर्णतया भिन्न विचारना अनुचित है । परिग्रहवान गृहस्थ है, वह पुण्य विचारों को प्रेरणा देने के लिए अपने पास की श्रेष्ठ सामग्री एकत्रित कर मंदिर बनाता है । उसका लक्ष्य पवित्र विचारों का लाभ करना है । सुंदर भव्य जिन मंदिरों में वन्दक का चित्त लग जाता है, और वह उस मनोज्ञ का वातावरण में शुभ भावों के संचय के लिए अधिक समय दे दिया करता है ।

यदि जिनालय निर्माण करने में दरिद्र वृत्ति से काम लिया जाय, तो सर्व साधारण का वहां आकर्षण ही नहीं होगा ।

एक समय सिवनी के मनोज्ञ, तथा उत्तम भव्य जिनमंदिरोंके विषयमें एक अर्जुन विद्वान् ने पूछा था, कि आप लोग अपने मंदिरों को सुन्दर और समुत्तम बनाने में क्यों द्रव्य व्यय करते हैं ? हमने कहा था, इसका कारण यह है, कि बहुत स्थान प्रत्येक के मन को अपनी ओर आकर्षित करे और आगन्तुक वहाँ जाकर प्रभु की वीतरागता पूर्ण मुद्रा से उज्ज्वल विचारों की निधि प्राप्त कर सकें । यदि हमारे मंदिर सौन्दर्य और कला के निकेतन न होते, तो आप लोग वहाँ जाने के लिए क्यों स्वतः उत्कण्ठा प्रदर्शित करते ? अतः जिनालयों को यथाशक्ति अधिक से अधिक सुन्दर आकर्षक और पवित्र भावों का संवर्धक और बनाते हैं, ताकि आखें ठंडी हो और अहंता आल्हादित हो उठे ।" मंदिर का सारा वैभव जिन भगवान

की मूर्ति से संबंधित है। उनके शरीर पर रंचमात्र भी वस्त्र-आभूषण आदि नहीं होने से वैराग्य के भावों का विशेष पोषण होता है, और जन साधारण का चित्त खिंचकर धीरे धीरे वीतराग की आराधना की ओर लगने लगता है।" समवशरण की विभूति के दर्शन से अनेक व्यक्तियों को तत्त्व-बोध की प्राप्ति हो जाती है, अतः जिन-मंदिरों के सौन्दर्य और वैभव में उज्ज्वल कल्पनाओं का जागरण निहित है। वैसे मोही जीवों की मनोवृत्ति विलक्षण है। वीतरागता के साधनों से कोई कोई द्वेष को जगाकर अपना अहित कर डालते हैं, किन्तु सर्व साधारण का कल्याण उनसे होता है, यह प्रत्यक्ष, अनुभवसिद्ध बात है।

आत्म रस आने
पर वैभव का
स्वाद कटु लगता
है।

जिन भाग्यवानों को आत्मा का रस आने लगता है, वे स्वयं वैभव को न्यून करने में हर्ष मानते हैं। वही हैं प्रकाण्ड जैन विद्वान और तत्त्वज्ञ पं० सदासुख जी जंपुर के दरबार में काम किया करते थे। उनके सच्चे और अच्छे काम पर राजासाहब की दृष्टि गई, राजासाहब ने उनका वेतन दूनाकर अपनी प्रसन्नता प्रगट की। पं० जी राजासाहब के पास पहुँचे और पूछा कि आपने मेरा वेतन बढ़ाने का कष्ट क्यों किया, मैं तो जो पहले पाता था, उससे ही पूर्ण संतुष्ट था। राजा साहबने कहा, आपका कार्यदेखकर हमें बहुत संतोष है, इससे तुम्हारी तरक्की की गई है। वे बोले यदि आपकी मुझ पर कृपा हुई है, तो मेरा वेतन न बढ़ाकर काम करने का समय कम कर दीजिये, ताकि मैं शेष बचे हुए समय में ग्रन्थों का स्वाध्याय और मनन कर सकूँगा ऐसी मनोवृत्ति उनकी होती है जो नर देही को आत्म साधना की अलम्य निधि मानते हैं। जो द्रव्य दूसरे जीवों को संताप द्वारा नहीं प्राप्त किया गया है, जिसके लिये दुर्जनों को प्रणाम नहीं करना पड़ा है और जिसके लिए सत्पुरुषों के मार्ग परित्याग नहीं हुआ, उस द्रव्य को अत्यन्त अल्प होते हुए भी बहुत मानना चाहिये। परिग्रह की भादकता उन मानवों को उन्मत्त नहीं बनाती है, जो पीटर की मनोहर शैली में यह मानते हैं "हमारी दृष्टि से परिग्रह पाप है। इस परिग्रह का जिस किसी भी रूप में परित्याग किया जाय, वह पाप से मुक्ति पाना है।"

आज यह दृष्टि दूर हो गई है, और आज का आर्थिक मानव अर्थ विभाजन की विषमता का उपाय हिंसा के द्वारा सर्वोत्तम समान रूप से उसका वितरित किया जाना मानता है। मालूम नहीं वह यह सोचता है,

या नहीं कि सवरी आवश्यकता समान नहीं है। 'हाथी को मन' भर और 'चीटी को मन भर' आवश्यक है। अतिरेक वाद के स्थान में अहिंसानुप्राणित मनुलिन नीति से शांति और सामंजस्य का सृजन हो सकता है। आर्थिक संकट का कारण केन्द्रीकरण जन्म है। तब तो उत्पादन के साधना के विकेन्द्रीकरण से वितृति का दूर होना न्याय संगत है। शरीर में जैसे अगणित प्रकार के राग उत्पन्न होते हैं और चतुर चिकित्सक उनको दूर करता है, इसी प्रकार आज की समाज में जो आर्थिक रोग उत्पन्न हुआ है उसका चिकित्सा अहिंसानुमोदित पद्धति से करना चाहिए। हिंसा के द्वारा किया गया कार्य सच्चे आनन्द और शांति के स्वाद से शून्य रहा करता है।

आज का पश्चिम अपने विकास और उन्नति का गर्व करता है, हम भी उसको देखकर चकित होते थे, किंतु उस पर जो मधुर और सुनहरी आवरण पड़ा था उसे महापुरुष ने दूर कर उसकी असलियत का सामने ला दिया।

अमेरिका की सेना के प्रमुख अधिकारी जनरल ब्राडले ने कहा था "हमारे यहाँ वैज्ञानिक तो बहुत हो गए हैं, किंतु धार्मिक लोगों की बहुत कमी हो गई है। हमने अणु के रहस्य को जान लिया है किंतु शील-प्रवचन को ठुकरा दिया है। विवेक विहीन चमक दमक तथा हृदय विहीन शक्ति की उपलब्धि, जगत ने, की है। हमारी दुनिया में प्रचंड राक्षस तथा नैतिक शिशु विद्यमान है।"

'हम शांतिकी अपेक्षा युद्ध की बातें अधिक जानते हैं, जीवन के स्थान में प्राणहरण की विद्या में हम अधिक निपुण हैं।'

परिग्रह के मेघ जीवन के तम में इस जोर से मड़रा रहे हैं कि

"We have too many men of science, too few men of God we have grasped the mystery of the atom and projected the sermon on the mount. The world has achieved brilliance without wisdom, power without conscience. Ours is a world of nuclear giants and ethical infants. We know more about war than we know about peace, more about killing than we know about living."

L. Fischer's The Life of Mahatma Gandhi P 377

चारों ओर अविद्यारो ही दिखाई पड़ती है । अपरिग्रह का प्रभाकर जिस दिशा, जिस देश तथा जिस अतःकरणमें अपनी ज्योतिर्मयी रश्मिया पहुँचायेगा, वहाँ ही विपत्ति की निशा दूर होगी, और जीवन मंगलमय बनेगा । अतएव पुद्गल के मोह में न फँस आत्म-वैभव को देखकर परिग्रह के विधाच से बचने के लिए अपरिग्रहत्व के पथ में प्रवृत्ति करना चाहिए । सच्चा सुख जड़ पुद्गल में नहीं है । उसका अक्षय भंडार आत्मा में है, अतः आत्मोन्मुख बनने में ही जीव का कल्याण है । इस आत्मप्रकाश की प्राप्ति के हेतु ही जैन मुनि अन्तः-बाह्य दिग्गम्बरत्व को अपनाकर अकिंचनत्व के प्रासाद में निराकुलता पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं । धर्म-विमुक्त जीवन से न सुख मिलता है और न अभ्युदय की हों प्राप्ति है । इस विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह चेतावनी बड़ी महत्वास्पद है, —

“जो मनुष्य धन-वैभव को आकांक्षा तो करता है, किन्तु बीतरागोक्त धर्म के प्रति आदर वृद्धि नहीं रखता है, वह विचारे, कि क्या कहीं बीज के अभाव में घान्य की उत्पत्ति होती हुई दिखती है ?”

यह मोह का ही प्रताप है, जो सभी प्राणी कर्तव्य पालन में प्रमाद कर रहे हैं। धन, यौवन तथा जीवन को पानी के बुलबुल के समान क्षणिक देखते हुए भी लोग इनको नित्य सोचते हैं यह मोह का माहात्म्य अति बलवान है ।

विवेकी प्राणी मोह के चुंगल से बचकर आत्म-हित करने में सदा तत्पर रहते हैं । इस अपरिग्रहत्व के द्वारा यह जीव अनंत चतुष्टय की आध्यात्मिक विभूतिका अधिपति बनता है ।



रात्रि भोजन-त्याग-अणुव्रत

मुनियोंके पंच महाव्रतोंके साथ छठवें अणुव्रत रात्रि भोजनका त्याग भी वर्गन आगम में किया गया है। लघु प्रतिग्रमण में लिखा है “भगवन् मैं छठवें नियम रात्रि भोजन त्याग की अभिलाषा करता हूँ।” यहां प्रश्न होता है कि रात्रि भोजन त्याग को अणुव्रत कहने का क्या कारण है ? यहा हिंसा के समान पूर्ण भोजन का त्याग नहीं होता है; केवल रात्रि की ही भोजन का त्याग है। दिन को नहीं। मूलाचार में लिखा है कि “रात्रि-भोजन निवृत्ति, जट्ट-प्रवचन मातृका अर्वात् गुप्ति-समिति और पञ्चोत्त भावनाओंके द्वारा अहिंसा जादि महाव्रतों का संरक्षण होता है,।” रात्रिभोजन के द्वारा पाचों महाव्रतोंकी शक्ति प्राप्त होती है।” रात्रि में विचरण करने से अनिष्ट बात की आशंका भी मुनि के विषय में हो सकती है। पशु चोर आदि के द्वारा गृहस्थ आहारदाता को आत्मविपत्ति भी भोगना संभव है।”

इस विवेचन का अभिप्राय यह है, कि मुनिराज दिन में योग्य समय पर आहार लेते हैं, रात्रि को आहार नहीं ग्रहण करते हैं। इससे इसे अणुव्रत कहा है। महाव्रत में एक देश विरति नहीं होती है। इस प्रकरण में एक सहज प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब जैन श्रावकों को रात्रि भोजन त्याग का उपदेश दिया है, तब उसका मुनियों के लिए पृथक उपदेश तथा उल्लेख करने के क्या रहस्य हैं ?

इसका समाधान यह है कि स्पष्ट कवन से शिथिलाचार नहीं होता है। अन्यथा लंपटतावश जीव कुमार्ग रत हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इस व्रत को निरतिचार पालना चाहिये, इस विषय की ओर संकेत करने का भाव आगम का है।

भावना

अनगार धर्ममृत में लिखा है 'मंत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्य-स्यभावना द्वारा महाव्रती में दृढता उत्पन्न होती है ।'^१

मंत्रीभावना का स्वरूप इस प्रकार कहा है—“इहा जगत में कोई भी प्राणी पाप न करे तथा कोई भी प्राणी दुखी न हो तथा सभी जीव पाप से मुक्त हो जाय । सम्पूर्ण समार का कल्याण हो, सब जीव दूसरा के हित में सलग्न रहे, दुष्ट प्रवृत्तियों का क्षय हो, सर्वत्र जीव सुखी रहें।”

प्रमोद भावना का स्वरूप इस प्रकार कहा है—“सम्पूर्ण दोष रहित तथा वस्तु स्वरूप को देखने वाले सत्पुरुषों के गुणों में पक्षपात, प्रेम होना प्रमोदभाव है । अकलक स्वामी लिखते हैं—“मुख की प्रसन्नता नेत्रों के आनन्द, रोमाच की उद्भूति के द्वारा तथा स्तुति, निरन्तर नाम कीर्तन आदि के द्वारा व्यक्त की गई आंतरिक भक्ति तथा राग है जिसमें ऐसा उत्कृष्ट आनन्द प्रमोद भाव है ।” (४-२७३)

यदि कोई यह कहने लगे कि पक्षपात का होना अच्छा नहीं है, अतः प्रमोद भाव में सत्पुरुषों का पक्षपात क्यों कहा गया है, इसका समाधान घवल ग्रन्थ के इस महत्वपूर्ण कथन से होता है । “शकावार ने कहा जब सिद्ध भगवान् समस्त कर्म लेप मुक्त हैं, तब उस लेप सहित भरहत भगवान् को प्रथम नमस्कार करना पक्षपात होगा ? इसका उत्तर देते हैं— “न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्ते श्रेयोहेतुत्वात् ।” (४-५४) पक्षपात दोष पूर्ण ही होता है, ऐसा नहीं है । शुभपक्ष में रहने से वह कल्याणकारक होता है ।” यही दृष्टि सत्पुरुषों के प्रति उनके गुणों के कारण पक्षपात में विद्यमान है ।

कारुण्य वृत्ति को कहते हैं—“पीडित, भयाकुल, जीवन की भिक्षा मागने वाले दीन जीवों की विपत्ति निवारण करने की बुद्धि को कर्णा भाव कहते हैं ।” आचार्य अकलक कहते हैं “शारीरिक मानसिक व्यथा से पीडित दीन प्राणियों के अनुग्रह करने रूप भाव, कर्ण जीव के भाव

१ मंत्री-प्रमोद-कारुण्य माध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकविलक्ष्यमाना विनयेषु यथाक्रम भावयतः सर्वेष्वपि व्रतानि पर दाढेयमासादयन्तीति”

अथवा कर्म की काव्य कहते हैं ।”

माध्यस्थ्य भाव का वर्णन करते हैं—“क्रूर कार्य में जो निःशंक रहते हैं, देवता तथा गुरु की निंदा करते हैं तथा अपनी प्रशंसा करते हैं, उन जीवों के प्रति उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष का भाव न रखना माध्यस्थ्य भाव कहा गया है ।” सदगुण शून्य व्यक्तियों के विषय में हर्ष, द्वेष रहित मनोवृत्ति को माध्यस्थ्य भाव कहते हैं । तत्त्वार्थ राजवातिक में कहा है—“राग तथा द्वेष से किसी के पक्षों में पड़ना पक्षपात कहलाता है । इस प्रकार के राग द्वेष रूप पक्षपात के भाव न करके भावों को मध्यम वृत्ति में रखना अथवा मध्यस्थ्य का भाव या कर्म माध्यस्थ्य है ।”

सन्मार्ग-विरोधी प्रवृत्ति वालों को देख साधारणतया रोष का भाव उत्पन्न होता है, राग होने से सन्मार्गके प्रति विद्वेष के पक्ष में ममत्व का सद्भाव होगा । उससे पापासय होगा । अतः सहज उत्पन्न होने वाले द्वेष भाव को भी उत्पन्न न होने देना माध्यस्थ्य भाव है ।

मांसभक्षी, मद्यपी, कुशीलसेवी व्यक्तियों के मुख से भी मैत्री काव्य आदि की मधुर चर्चा सुनाई पड़ती है, किन्तु उनकी भावना का सम्बन्ध वाणीमात्र तक ही सीमित है, अन्तःकरण से उसका संपर्क नहीं है । अतएव वह भावना असत्य होगी । इन भावनाओं का लक्ष्य अहिंसा आदि व्रतों के पालन में आत्मा को बल प्रदान करना है । जिन भावनाओं के पीछे सत्य की शक्ति है, वे अचिन्त्य प्रभाव दिखाती हैं । तीर्थंकर भगवान का त्रिभुवनवंदित पद षोडशकारण भावनाओं के द्वारा प्राप्त होता है ।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने लिखा है—“प्राणीभाष के प्रति मैत्रीभाव, गुणाधिकों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति कष्टभाष, तथा अधिनेयों के (तत्त्वोपदेश श्रवणादि द्वारा जिनमें पात्रता न उत्पन्न हो सके) प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ।” इस विषय में अकलंक स्वामी कहते हैं इन “सत्वादिकों में यथाक्रम मैत्री आदि की भावना करना चाहिए । वह भावना इस प्रकार है—मैं समस्त प्राणियों पर क्षमा भाव धारण करता हूँ । सब जीवों से क्षमा मांगता हूँ । सब जीवों के साथ मेरा प्रेमभाव है । मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है । इस प्रकार सर्व जीवों के विषय में मैत्री भावना

१ “रागद्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतनं पक्षपातः, तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थ्यस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम् ।”

भावे । सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य में उच्च व्यवित्तयो के प्रति वदना स्तुति, वैयावृत्य करना आदि के द्वारा प्रमोद भावना करे । मोहनीय कर्म के अधीन कुमतिकुश्रुत तथा विभगावधि ज्ञान धारक, विषयो के आताप रूप अग्नि के कारण जिनका अतः करण दह्यमान हो रहा है, हिताहित के विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, अनेक दुःखों से सतप्त, दीन, दुःखी, अनाथ, बालक वृद्ध जीव, जो क्लेशित हो रहे हैं, उनमें कल्याणभाव रखना चाहिए । हितप्रद बात के ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह भाव से रहित महामोह भाव से आक्रांत, दुष्ट तथा विपरीत प्रवृत्ति वाले अविनेय जीवों के प्रति मध्यस्थ वृत्ति की भावना करे । ऐसे जीवों को दिया गया वक्तव्य द्वारा कल्याणकारी उपदेश कार्यकारी नहीं होता है । इस प्रकार की भावनाओं से बहिष्ता सत्यादि व्रतों में परिपूर्णता आती है ।”

संकीर्ण दृष्टि और क्षुद्र अन्तःकरण व्यवित्त ही हिंसा, चोरी आदि भावनाओं द्वारा पापों की ओर उन्मुख होता है । मैत्री आदि भावनाओं के द्वारा हृदय विशाल बनता है, समस्त विश्व के प्रति वधुत्व की उज्ज्वल भावना जागृत होती है । अतः हिंसादि के द्वारा दूसरे जीवों को व्यथा पहुँचाने को वह जघन्य तथा पाप कार्य मानता है । वह संसार भर को अपने कुटुम्ब रूप में देखता है, इस कारण अपनी क्रूर चेष्टाओं और स्वार्थ प्रवृत्तियों से वह अपने उन सभी कुटुम्बियों को सशस्त करने की बात स्वप्न में भी नहीं सोचता । वह तो विश्व भर में प्रेम, भद्रता, स्नेह, माधुर्य, आनन्द, सीमनस्य का साम्राज्य स्थापित देखना चाहता है । ऐसे प्रेम भरे संसार में विद्वेष तथा सक्लेश की दुर्गन्ध का लेश भी नहीं रहता है । ऐसी पवित्र आत्मा की ममतामयी दृष्टि में किसी भी जीव को घृणित पहुँचाने की कल्पना तक का उदय नहीं होता । ये भावनाएँ वास्तव में श्रेष्ठ मानव बनाती हैं ।

प्रवचन-मातृका

महाप्रती मुनियो ने २८ मूल गुणों में महाव्रतों के पश्चात् सगितिया का वर्णन आता है। सवर के वारणों में समिति का उल्लेख किया जाता है। मूलाचार में पच समिति तथा गुप्तित्रय रूप अष्ट प्रवचन-मातृका को महाव्रत का रक्षण कहा है।

महाव्रतकी रक्षिका उन व्रतों के रक्षणार्थ रात्रिभोजन विरति, अष्ट प्रवचन मातृका तथा पञ्चोक्त भावनाएँ वही गई हैं। इन अष्ट प्रवचन मातृका के विषय में अनगार घर्माभूत में लिखा है—

आमज्ज बहिंसा, पंचव्रत तथा सावद्य विरत के शरीर को उत्पन्न करनेवाली, सम्यक्चारित्र्य की रक्षा करने वाली अथवा त्रिगुप्ति और पच समिति को माता रूप जानते हैं। व्रतनिष्ठव्यक्तियों का इष्ट सिद्धि के लिए इन अष्ट प्रवचन मातृका का आश्रय लेना चाहिए।”

सम्यक्चारित्र्य का श्रेष्ठ रूप है गुप्ति, वारण मन, वचन, पाप की क्रिया से कर्मों का आसन्न होता रहता है। उन मानसिक, वाचिक वारिक क्रियाओं का निरोध होने से आसन्न का निरोध होता है। इससे ससार का ससरण रुकता है। सम्यक्चारित्र्य की इस प्रकार परिभाषा की गई है, “ससारकारण-विनिवृत्ति-प्रत्यागमूर्णस्य ज्ञानयतो बाह्याभ्यन्तर-त्रिया विशेषोपरम सम्यक्चारित्र्यं द्रव्य, क्षेत्र, भाव, भव, काल रूप पच विध जो ससार है, उसके वारण अष्टविध कर्मों का नाश करने में उद्यत सम्यक्ज्ञानी जीव की बाह्य इन्द्रिय के गोचर वाचिक तथा कायिक, छसस्य के अगोचर होने के वारण आंतरिक मानसिक त्रिया-विशेष का रक्ष जाना सम्यक् चारित्र्य है। उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र्य वीतरागों में होता है। उसे यथाख्यातचारित्र्य कहते हैं। सधतासयत से लेकर सूक्ष्मसाधराय पर्यन्त आरातीय आचार्यों में उस चारित्र्य की न्यूनाधिकता होती है।

इस प्रकार उत्कृष्ट चारित्र्य का लक्षण तो गुप्ति में पाया जाता है, किन्तु जीव की निरन्तर गुप्ति रूप साधना होना कठिन है, अतः जब निवृत्ति रूप चारित्र्य शक्य नहीं होता, तब सम्यक्प्रवृत्ति रूप चारित्र्य का पालन किया जाता है। इस समाचीन प्रवृत्ति अर्थात् यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिमय समिति के द्वारा यह जीव पाप बध से बचता है। अतएव

पूर्ण सामर्थ्य होने पर निवृत्तिमय अर्थात् गुप्तिरूप चारित्र्य का पालन होता है। ऐसी शक्ति के अभाव में यत्नाचार प्रवृत्ति रूप समिति स्वरूप चारित्र्य होता है। विशेष विस्तार द्वारा इसके ही अनेक भेदोपभेद कहे गए हैं। ये गुप्ति और समिति रत्नत्रयरूप प्रवचन की जननी के तुल्य हैं। इनके द्वारा व्रतो का जन्म, पालन-पोषण तथा उनको निर्मल रखने का कार्य होता है, जैसे जननी अपनी उत्पन्न करने के साथ उसका लालन पालन करती है, तथा उसे गुणवान बनाती है। इस कारण गुप्ति और समिति को जिनागम में रत्नत्रय की जननी या प्रवचन की माता कहा है।

गुप्ति

पंच महाव्रत का रक्षक होने के कारण जिस प्रकार भावना आदि पर प्रकाश डाला गया, उसी प्रकार यहाँ गुप्ति की चर्चा करना भी उपयुक्त है। इसके पश्चात् समिति के विषय में विचार किया जायगा। आगम में कहा है—“सम्यक् अर्थात् लौकिक सन्मान आदि, तथा पारलौकिक विषय दुष्टों की आकांक्षा के बिना मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग का निग्रह करना गुप्ति है।” राजवातिक में लिखा है “सत्सार के कारणों से आत्मा का रक्षण करने के कारण इसे गुप्ति कहते हैं।” (पृ ३१९)

अनशर धर्माभूत में लिखा है—“व्रतो में तत्पर व्यक्ति रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा की मिथ्यात्वादि से रक्षा निमित्त लोकसन्मानादि की आकांक्षा रहित हो पाप योगो का-व्यवहार से पाप रूप तथा निश्चय से शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन में कारण रूप होने से निन्दित मन, वचन काय की क्रियाओं का निग्रह करे।” (पृ ३०८) कहा भी है—“जो वचन, वाय, मन से उत्पन्न होने वाले पाप का प्रतिषेधक अथवा योगत्रय का निरोधक है, उसे गुप्तित्रय बहा है।” नियमसार में व्यवहार मनागुप्ति का इस प्रकार वर्णन किया गया है—“श्रेय, मान, माया, लोभ से उत्पन्न चित्त की कलुषता, मोह, आहारादि रूप सत्ता तथा रागद्वेष आदि अशुभ भावों को दूर करना व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहा गया है।”

यह मनोगुप्ति कैसे व्यक्ति के होती है, इसे बताते हैं—“जो सदा परमागम के स्वरूप चित्त में अपने मन को लगाये रखते हैं, जो जितोर्द्रय हैं, जो बाह्य तथा अन्तरग परिग्रह रहित हैं तथा जो बाह्य लक्ष्मी सम-न्वित जिनेन्द्र देव के चरणों की स्मृति समन्वित हैं, उनके यह मनोगुप्ति

होती है।" "पाप के कारण रूप स्त्री कथा, राजकथा, खोरकथा, भोजन कथा आदि सम्बन्धी वचनों के परिहार रूप अथवा मिथ्या वचन आदि की निवृत्ति रूप वचन गुप्ति है।" काय गुप्ति को कहते हैं, "बंधन करना छेदना, मारना, संकोचन करना, विस्तार करना इत्यादि काय सम्बन्धी क्रियाओं की निवृत्ति काय गुप्ति है।"

पद्मप्रभु गूरि कहते हैं—

अब निश्चय नय से मनोगुप्ति का स्वरूप कहते हैं—“जो मन से रागाद भावों का दूर करना है वह मनोगुप्ति है। जो असत्य आदि वचन न बोलना अथवा मोनका धारण करना वह वचन गुप्ति है। सकल राग द्वेष, मोह को दूर करके अखण्ड, अद्वैत परम चैतन्य स्वरूप में सम्यक् रूप से स्थिति निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य ! जब तक इस अवस्था से चलना न हो तब तक मनोगुप्ति जानो।”

समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मोनप्रत धारण करना वचनगुप्ति है। मूर्त द्रव्य में चैतन्य का अभाव है और अमूर्त द्रव्य इंद्रिय सम्बन्धी ज्ञान के अगोचर हैं। इन दोनों में वचन प्रवृत्ति नहीं है, इस प्रकार निश्चय वचन गुप्ति कही गई है।

कायगुप्ति का वर्णन करते हैं—“काय की निवृत्ति, काय में ममत्व का त्याग करना अथवा हिंसादि की निवृत्ति कायगुप्ति कही गई है।

समिति

गुप्ति तो निवृत्ति रूप होती है। उसके पालन करनेमें असमर्थ साधु समिति रूप प्रवृत्ति करते हैं। कहा भी है— कर्मों के आगमन के द्वार अर्थात् आसवके उपरमणमें रत अर्थात् संवर करने में तत्पर भुनि के तीन गुप्तिपा होती हैं, चैष्टायुक्त अर्थात् प्रवृत्ति परक साधुके पंच समितियां कही गई हैं।”

समिति की निरुक्ति इस प्रकार की गई है, “सम्यक् श्रुत-निरूपित क्रमेणेत्यतिगतिवृत्तिः समितिः” समीचीन रूपसे अर्थात् जिनागम के कथित क्रमानुसार, इति, अर्थात् गति-वृत्ति समिति है। (पृ. ३१४-अन. धर्म) “पर प्राणि-पीडा परिहारेच्छया सम्यक अमनं समितिः” (त.रा. ३१९) अन्य जीवों की पीडा का परिहार करने की इच्छा से सम्यक प्रकार प्रवृत्ति करना समिति है। इस समिति के पांच भेद इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में कहे गए हैं।

ईर्ष्यासमिति, भाषा समिति एपणा समिति, आदान-निक्षेप-समिति तथा उत्सर्ग समिति ये पाच भेद कहे गए हैं ।

ईर्ष्यासमिति ईर्ष्यासमिति का स्वरूप कहते हैं "धर्माधिकारी यत्नपरस्य गमनमीर्ष्यासमितिः" (मूलाचार पृ. २४९) धर्मच्छुक् मुनिका सावधानी पूर्वक गमन ईर्ष्यासमिति है । नियमसार में लिखा है—"जो साधु प्रासुक मार्ग से युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ दिन के समय बिहार करते हैं उनके ईर्ष्यासमिति होती है ।"

जो परम संयमी गुरुदेव ने समीप जाने के हेतु तथा तीर्थ यात्रादि के पवित्र ध्येय के उद्देश्य से चार हाथ प्रमाण भूमि की देख स्थावर शस जीवों के रक्षणार्थ गमन करते हैं, उन महाश्रमण के ईर्ष्यासमिति होती है ।

कल्याण के साधन जो सम्पददर्शन आदि है, उनके अंग रूप अपूर्व जिनालय, सुयोग्य शिक्षक तथा धर्माचार्यादि की प्राप्ति के लिये मुनिराज बिहार करते हैं । उनका गमन जीवों के रक्षण पूर्वक होता है, क्योंकि संपूर्ण जीवों के प्रति उनसे मंत्री का भाव अपने मनो मंदिर में स्थापित किया है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक जीवों के रक्षणार्थ कर्हणा पूर्वक धीरे धीरे मुनि पाद रराकर गमन करते हैं । दिगम्बर जंग मुनियों की अहिंसात्मक साधना का सर्व साधारण को प्रत्यक्षी करण उनको जोध-रक्षामयी ईर्ष्यासमिति गमन-विषयक सावधानी से होता है ।

भाषा समिति का स्वरूप कहते हैं:—"चुगली, हास्य, वर्कश, परनिदा, आत्म प्रशंसा युक्त वचनो का परित्याग करके स्व तथा पर कल्याणकारी वाणी बोलने वाले के भाषा समिति होती है ।"

वह साधु भाषा समिति युक्त होता है, जो वर्कपा, परपा, बटु स्वरूपा, निष्ठुरा, पर को कोप उत्पन्न करने वाली, छेदंकरा, मध्यकृष्ठा, अतिमानिनी, अनयकरा-शील का घात करने वाली या विद्वेष कारिणी, भूतहिंसाकारी, इन सब दुर्भावों का त्याग करता हुआ हितकारी परिमित तथा असंदिग्ध घात कहता है । (अनगारं धर्माभूत ४-१६५-१६६)

एपणा समिति आहार सर्वधी समिति को एपणा समिति कहते हैं । उसका इस प्रकार चर्णन नियमसार में किया गया है:—"जो मुनि इत फारित तथा अनुमोदना रहित, प्रासुक तथा प्रशस्त आहार को, जो धावक

द्वारा दिया गया है, ग्रहण करता है, उसके एषणा समिति होती है।" टीका-कार ने मन, वचन, काय इन तीनों का कृत, कारित, अनुमोदना के साथ सम्बंध करके नवकोटि से विशुद्ध आहार को ग्रहण योग्य कहा है। वे तब भेद इस प्रकार होंगे, मन कृत, मन कारित, मन अनुमोदना, वचन कृत, वचन कारित, वचन अनुमोदना, काय कृत, काय कारित, काय अनुमोदना।^१ इसका तात्पर्य यह है, कि जिस आहार की निष्पत्ति में साधु का उपरोक्त नव प्रकार से संवध नहीं हो, वह दोष रहित है; इसके सिवाय वह आहार प्रासुख और प्रसस्त होना चाहिये तथा दातार द्वारा समर्पित अर्पित किया जाना चाहिये। आहार देने वाले दाता में ये सात गुण कहे गये हैं:-^२

“भक्ति, संतोष, क्षमा, श्रद्धा, निर्लोभता, विज्ञान ये सात गुण आहार दान के काल में दातार में होना चाहिए।”

दाता नवधा भक्ति पूर्वक मुनि को आहार देता है।

नवधा भक्ति कहा भी है, पूर्व आचार्य यथायोग्य विनय के द्वारा विशेषता को प्राप्त प्रतिग्रह, उच्च स्थान, अग्नि प्रक्षालन, अर्चा, आनती, तथा मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, अन्न शुद्धि ये दान की नौ विधि हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—प्रतिग्रह—मुनिराज के घर के समीप पधारने पर भक्ति पूर्वक प्रार्थना करना,—हे स्वामिन्! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु, ठहरिए, ठहरिये, इस प्रकार उनका सविनय स्वागत करना प्रतिग्रह है। इसके पश्चात् मुनिराज को आहार के स्थान पर ले जाकर उच्च स्थान पर विराजमान करना ‘उच्च स्थान’ कहलाता है।

फिर उनके चरणों का प्रक्षालन करना अग्नि प्रक्षालन कहलाता है; फिर जलादि अष्ट द्रव्य से पूजा अर्चा है, पश्चात् पचाग प्रणाम करना आनति

१ षडकारिदाणुमोदणरहिद तद् पासुगं पसत्थं न ।

दिण्णं परेण भत्तं सममुत्ति एमणा समिदी ॥ ६३॥

२ मनो वाक्कायाना प्रत्येकं कृत कारितानुमोदनं कृत्वा नव विकल्पाः भवन्ति, न तैः संपुक्तमन्नं नव कोटिविशुद्धमित्युक्तम् ॥” पृ० ५२

३ भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ ।

विण्णणं तवकाले सत्तागुणा हीति दायारे ॥ भाव संग्रह ४९६

है, फिर आहार दान करते समय आतंरोद्र ध्यान रहित अवस्था को मन शुद्धि, कर्कश आदि भाषा नहीं बोलने को मचन शुद्धि तथा शरीर से सबूत आचार करने को वाय शुद्धि कहा है । इस प्रकार तीनों शुद्धियों को करके शुद्ध आहार देवे । यह अतशुद्धि है ? सत्पात्र के लिए नवधामकित करने का अमृतचन्द्र सूरि ने इस प्रकार वर्णन किया है —

“सग्रह अर्थात् प्रतिग्रह, उच्चस्थान, चरण धोना, पूजा, प्रणाम, वाक्-शुद्धि, काय शुद्धि तथा भोजन की शुद्धि इस प्रकार नवधा विधि कही है।” दातार के सप्त गुणों का इस प्रकार वर्णन किया है—

“लौकिक फल की आकांक्षारहित होना, क्षमा, निष्कपटता, ईर्ष्याभाव, तथा विषाद रहित होना, प्रसन्न होना, अहंकार रहित होना ये दाता के गुण हैं।”

सत्पात्र को किस पदार्थ का आहार कराना चाहिए इसका समाधान आचार्य अमृतचन्द्र सूरि इस प्रकार करते हैं:—

- आहार का स्वरूप “जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि को उत्पन्न नहीं करता है तथा उत्तम तप, स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाला है, वह देने योग्य है।”^१

दातार के गुणों में विज्ञान गुण कहा है । अतः कुशल दाता क्षेय, काल आदि तथा प्रकृति आदि का विचार करके आहार देता है । वह द्रव्य ऐसा हो, जो प्रमाद को उत्पन्न न कर तप तथा स्वाध्याय में सहायक बने । विकारों का कारण न हो ।

गृहस्थ अपने लिए बनाए गए भोजन को मुनि को प्रदान करता है । मुनियोंकी भिक्षाको गोचरी, असन्नक्षण, उदराग्नि-प्रशमन, भ्रामरी, गर्तपूरण नाम से कहते हैं । जिस प्रकार गाय सलीला तथा तालकार धुवती स्त्रियोंके द्वारा लाए गए घासको उस स्त्री के शरीर सौन्दर्यके निरीक्षण में तत्पर न होते

१ प्रतिग्रहोच्चस्थानाग्नि प्रक्षालनार्चनती विदुः :

योगाग्र शुद्धीश्च विधीननवादरविशेषितान् ॥ ५-४५

२ सग्रहमुच्चस्थान पादोदकमर्चनं प्रणामच ।

। वाक्कायमनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधि मातुः ॥१६९॥

३ रागद्वेषासयम-मददुःखमदादिकं न यत्कुरुते ।

द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

हुए खाती है, उसी प्रकार भिक्षु भी भिक्षा प्रदान करनेवाले लोगों के मृदु मनोहर रूप, वेप, विलास के देखने में निरसुक हो शुष्क, द्रव आहार की योजना विशेष को न देखते हुए जो प्राप्त होता है, उसे खाता है, अतः गो के सदृश भोजन करने के कारण इसे गोचार या गोचरी कहते हैं।

जैसे गाड़ी में अपनी बहुमूल्य संपत्ति रखकर उसमें ओगन रूप तेल डालकर व्यापारी देशान्तर को जाता है, उसी प्रकार मुनि भी शरीर रूपी गाड़ी में गुण रूपी रत्नों को रखकर निर्दोष भिक्षा द्वारा जीवन के लिए ओगन तुल्य सामग्री लेकर इष्ट समाधि रूप नगर को प्राप्त होता है, अतः इसे अक्षम्रक्षण कहते हैं।

उदरग्नि घामन नागकरण का कारण यह है कि जिस प्रकार भांडागार में उठती हुई अग्नि को अक्षुचि या शुचि जल से गृहस्थ बुझाता है, उसी प्रकार मुनि उदरग्नि को प्रसान्त धरता है।

चतुर मुनि दातार को बिना कण्ट दिये भ्रमर को भाति आहार ग्रहण करता है इस कारण इस भ्रमराहार नाम से कहते हैं। गर्त पूरण भी मुनिकी भिक्षा को कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार जिस किसी भी तरह गड्ढा भरते हैं, उसी प्रकार मुनि मधुर अथवा अमधुर पदार्थ के द्वारा अपने उदर के गड्ढे को भरते हैं। दिगम्बर मुनिराज के आहार के निमित्त विहार करने के विषय में मूलाचार टीका में लिखा है—

“आहार के लिए जाते समय मुनिराज न तो बहुत तेजी से, न बहुत धीरे, न रुकते २ जावें। घनी, निर्धन के घरों में भेद भाव न करे। मार्ग में न घातचीत करे और न रुके। हास्यादि को न करे। नीच बुला म प्रवेश न करे। सूतक आदि के दोष दूषित शुद्ध कुलों में भी प्रवेश न करे। द्वारपाल आदिके द्वारा रोके जाने पर प्रवेश न करे। जितने प्रदेश पर्यन्त भिक्षार्थ आहार लेने वाले जाते हैं, वहां तक ही जावे। विरोध के निमित्त रूप स्थानों में न जावे। दुष्ट गर्दभ, ऊट, भैंसा, गाय, हाथी, सर्पादि से दूर से बचकर चले। भत्ता, उन्मत्त, मदाविष्टों से भली प्रकार पृथक रहे। स्नान, विलेपन, मण्डन, रतिक्रीडा में प्रसक्त नारियों का अवलोकन न करे। दिनपूर्वक पड़गाहे जाने पर रुके। विधि पूर्वक दिए गए, प्रासुक् आहार का सिद्ध भक्ति करने ग्रहण करे। दातन, पतन, गलन न करते हुए छिद्र रहित नर रूपी पात्र को नाभि प्रदेश में करके धुर धुर घबड़ादि न करके भोजन करे। इस प्रकार भर पेठ भोजन करके अथवा

अन्तराय जाने से अपूर्ण उदर आहार ग्रहण कर मुख, हाथ, पाँवों को धोकर शुद्ध जल से भरे कमंडलु को लेकर वहाँ से चले । धर्म कार्य के बिना गृहान्तर में प्रवेश न करे । इस प्रकार जिनालयादि प्रदेश को प्राप्त कर प्रत्याख्यान को ग्रहण करनेवे पदचात प्रतिश्रमण करो” (पृ २६२-२६३)

भोजन त्याग करने के निमित्तों का वर्णन करते हैं:—“आनक अर्थात् अकस्मात् उत्पन्न हुई मारणान्तिक पीडा होने पर, ब्रह्मचर्य की निर्मलता के लिए, बाध को कृश करने के लिए, जीवों की दया निमित्त आदि वारणा से आहार ग्रहण नहीं करे ।”

भोजन के प्रमाण को इस प्रकार कहा है ।

“कुक्षि के दो भागों को अन्न से तथा एक भाग को जलादि द्रव्य से पूर्ण करे, तथा चतुर्थ भाग को पवन आदि का स्थान जान खाली रखे ।”

आहार ग्रहण करने का क्या लक्ष्य है, यह कहते हैं — “श्रुत्या की वेदना की शांति, समय स्व-पर की वैयावृत्य अर्थात् आपत्ति के प्रतीकारार्थ प्राणों के रक्षण निमित्त आवश्यक त्रिया का पालन, स्वाध्याय, ध्यान आदि के हेतु मुनिराज आहार ग्रहण करें ।”

आहार का काल भोजन के योग्य समय को इस प्रकार कहा है— ‘मूर्ध्व के उदय तथा अस्त होनेके तीन नाडी प्रमाण काल को छोड़कर मध्यवर्ती अशन का काल है । (नाडी का प्रमाण २४ मिनट है ।) भोजन करने के काल में तीन मुहूर्त में भोजन करना जघन्याचरण, दो मुहूर्त में करना मध्यम आचरण है तथा एक मुहूर्त में करना उत्कृष्ट आचरण है ।” यह समय भोजन करने का है । भोजनार्थ पर्यटन करने का काल इसमें सम्मिलित नहीं है । कहा है “सिद्धिभक्तो कृताया परिणाममेतन्न

१ सूक्ष्मदयत्यमणादो णालीतियवज्जिदे असण - काले ।

सिद्धिदुपण्णमुहुरो गहण्ण - पविस्सम्मभूक्कस्से ॥६-७३

२ आतक उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये ।

कायकार्ष्यतपः प्राणिदयाद्यर्थं च नाहरेत् ॥

३ अघ्नेन कुक्षेर्द्विशी पानेनैक प्रपूरयेत् ।

आश्रम पवनदीना चतुर्थमवशेष येत् ॥

भिक्षानलभगवानस्य पर्यटत इति" (पृ० ३८६) यह काल का परिणाम सिद्ध भक्ति के पश्चात् का है, भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए उसे नहीं प्राप्त करने का नहीं है।"

मूलाचार में लिखा है कि मुनि के आहार ग्रहण का लक्ष्य शरीर में बल की वृद्धि तेज की उत्पत्ति आदि नहीं। यही बात बहते हैं:-

"आहारग्रहण करने का उद्देश्य बलकी वृद्धि, आयु की वृद्धि, स्वाद का लाभ, शरीर में मांस की वृद्धि, अथवा शरीर में वीर्य का लाभ नहीं है। ज्ञानार्थ, समयार्थ तथा ध्यानार्थ मुनि आहार करते हैं।"

यदि आहार ग्रहण करने से समय में बाधा आती हो तो आहार का त्याग करते हैं।

मुनिधर्म में छयालीस दोष, बत्तीस अंतराय तथा १४ मल दोष रहित जो आहार ग्रहण किया जाता है, उसे एषणा समिति कहा है। इसका विशेष वर्णन मूलाचार से जानना चाहिए।

उत्कृष्ट अहिंसात्मक साधना के हेतु शुद्ध और निर्दोष आहार का ग्रहण करना आवश्यक है। महात्रयी मुनि के द्वारा अनुद्ध आहार ग्रहण करने पर भावों में भलिनता की नियमतः उत्पत्ति होगी। अतएव आहार के विषय में मुनिराज सर्वदा अपनी अहिंसा भयी दृष्टि को सजग रखते हैं। प्राण जाने पर भी क्षुधा से संतप्त होते हुए भी वे सदोप आहार ग्रहण न करेंगे, कारण वे जानते हैं कि वह आहार शरीर का है और उनकी दृष्टि आत्मा पर है।

यह जैन धर्म की विशेषता है कि वह समय के क्षेत्र में युक्ति और सद्विचार समर्थित कथन करता है। खोजा मुसलमानों के धर्म गुरु आगा खान के कथन सदृश अद्भुत बातें जिनेन्द्र की दाणी में नहीं मिलेगी वे हजरत गटागट शराब की बोतल उड़ाते हुए भी अपने समर्थन में कहते हैं—“आह! तुम भूल जाते हो जिस समय शराब मेरे वण्ट में आती है, तो वह जल रूप में परिवर्तित हो जाती है।” मोहनीय कर्म के

१ ण बलाउ ताउअट्ट ण सरोरस्सुवचयट्ठं तेजट्ठं

णाणट्ठं सजमट्ठं ज्ञाणट्ठं चेवभुजेज्जो। ६-६२ ॥

२ “Ah”, he replied. “You forget, that wine turns to water as soon as it touches my mouth”.

John Gunther : Inside Asia P. 485

उदय से किस प्रकार जीव अपने आराम पतन की बात को नहीं जानने का प्रयत्न करता है यह दुष्ट की बात है ।

सामु के आहार ग्रहण करते समय यदि मांस आदि पक्षी वरगत पिण्ड को ले जावे, तो काकादि पिण्डहरण नाम का अंतराय होगा । आहार करते समय हाथ से यदि प्राप्त भूमि पर गिर जाय, तो पाणिपिड पतन नामक अंतराय होगा । स्वयं हाथ में आहार करते समय कोई जन्तु जाकर गिरे और मर जाय तो पाणि जन्तु बधनामका अंतराय है । आहार ग्रहण करते समय यदि मांस, मद्यादि का दर्शन हो जाय, तो मांसादि दर्शन अंतराय है । देव मनुष्य तिमंच कृत उपसर्ग होने पर देवाद्युपसर्ग नामक अंतराय है । भोजन करते समय पैरों के बीच में पशु आ जाय तो पादान्तर पचेन्द्रियागमन नामक अंतराय है । ऐसे सूक्ष्म नियम मुनिपों के आहार सम्बन्धी हैं, जो अहिंसा मूल्य है ।

आदान विक्षेपण समिति

आदान विक्षेपण समिति का स्वरूप कहते हैं—“ज्ञानोपकरण-पुस्तक, शीघोपकरण, कमण्डलु, समयोपकरण-पिच्छी का ग्रहण करने तथा रखने में सावधानी रखना आदान विक्षेपण समिति कही गई है । मूलाचार में कहा है—“कमण्डलु आदि द्रव्य को ग्रहण करते एवं रखते समय तथा जिस स्थान पर रखना है उस द्रव्य स्थान को चक्षु से देख कर मुनि समय लब्धि के हेतु पिच्छी से प्रमार्जन करे ।” अनगार धर्माभूतमें लिखा है—

“आदान विक्षेपण समिति का ध्यान रखने वाला मुनि चक्षु से भली प्रकार देखकर तथा पिच्छी से प्रतिलेखित ग्रन्थ आदि वस्तु को स्थिर चित्त होकर ग्रहण करे तथा इसी प्रकार देखकर तथा प्रमार्जन के पश्चात् उस पदार्थ को रखे । बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् पुनः देख कर आदान विक्षेपण करे ।” (४-१९८)

प्रतिष्ठापना समिति का स्वरूप कहते हैं—

प्रतिष्ठापना समिति “जो मुनि जीव जन्तु रहित प्रासक भूमि में, जो गूढ है, दूसरों के निषेध से रहित है, मलमूत्रादि का त्याग

१ पोयइ-कमंडलाइ ग्रहण विसग्नेसु पयत-परिणामो ।

आदावण-णिवखेवण-समिदी होदित्ति णिदिट्ठं ॥ ६४ ॥

करता है, उसके प्रतिष्ठापना समिति होती है ।”

दावानल के द्वारा दग्ध भूमि, हल के द्वारा विदारित भूमि, शमशानादि का दग्ध प्रदेश, स्यडिल भूमि, ऊसर भूमि, जिसमें लोक का निषेध नहीं हो विस्तीर्ण तथा जन्तु रहित भूमिमें भुनि मलमूत्रादिका विसर्जन करे।

इन समितियों का सदा पालन करने पाले साधु को हिसाबि दोष नहीं लगते इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

“स्नेह युक्त कमलिनी के पत्रपर जिस प्रकार जल लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार साधु जीवो के मध्य में समिति सहित विचरण करते हुए पाप से लिप्त नहीं होता है ।”

अनगर धमामृत में समिति को गुप्ति की सखी कहा है । “समितिपु हि गुप्तयोऽन्मते, न तु गुप्तिपु समितयः (पृ ५ ३१३) । समितियों में तो गुप्ति पाई जाती है, किन्तु गुप्तियों में समितिया नहीं पाई जाती । समिति में यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति पाई जाती है, अतः इसमें अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति का अभाव है, इस दृष्टि से इसमें गुप्ति का सद्भाव पाया जाता है, किन्तु गुप्ति में समिति का सद्भाव नहीं है, कारण गुप्ति निवृत्ति रूप है किन्तु समिति में यत्नाचार रूप प्रवृत्ति है ।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र का रक्षण करती है उसी प्रकार तीन गुप्ति और पत्र समिति रूप अष्ट प्रवचन मातृका द्वारा मुनिराज के ज्ञान दर्शन चरित्र का रक्षण होता है । इनमें पंच महाव्रत जोड़ देने से तेरह प्रकार का चरित्र कहलाता है । पूज्यपाद आचार्य ने चारित्र्य भक्तिमें लिखा है “कि तेरह प्रकार के चारित्र्य का वर्णन आदिनाथ तीर्थंकर ने किया था, कारण उनके शिष्य ऋगु अर्थात् सरल परिणाम वाले थे । महावीर तीर्थंकर ने भी त्रयोदश भेद रूप चारित्र्य कहा है क्योंकि उनके समय के शिष्य भद्र परिणामी नहीं रहे थे ।” आचार्य प्रभावधर ने वर्तमान भगवान के समय के शिष्यों को जब बुद्धि

१ पासुगभूमिपदेसे गूडे रहिए परोपरोहेण ।

उच्चारदिच्चागो पडट्टा समिदी हवे तस्स ॥६५॥

२ तिस्र सत्तम गुप्तिवस्तुमनोभानानिमित्तोदयाः ।

पचेर्यादिममाश्रयाः समितयः पचव्रतानीत्यपि ॥

चारित्र्योपहित त्रयोदशतय पूर्वं न दृष्ट परं ।

आचार परमेष्ठिनो जितपतेर्धौर नमामो धयम् ॥७॥

लिखा है और नादिनाथ तीर्थंकर के समय के शिष्यों को ऋजु - मति वाला बतलाया है । अजितनाथ आदि बावीस तीर्थंकरों ने अभेद रूप चारित्र्य का निरूपण किया है, क्योंकि उनके समय के शिष्य न जडबुद्धि थे, न सरलबुद्धि थे । इसलिए उनने सम्पूर्ण पापों का त्याग रूप चारित्र्य का वचन दिया ।

यहां यह सन्देह हो सकता है कि दो तीर्थंकरों के द्वारा चारित्र्य का जिस प्रकार स्वरूप कहा गया उस प्रकार बाईस तीर्थंकरों द्वारा क्यों नहीं बताया गया, इस शंका का समाधान यह है कि चारित्र्य का स्वरूप सम्पूर्ण पापों के त्याग रूप चौबीसो तीर्थंकरों ने कहा है । दो तीर्थंकरों ने शिष्यों के प्रतिरोधन के लिए भेद विवक्षा से तेरह प्रकार वचन किया है और बाईस तीर्थंकरों ने अभेद दृष्टि से उसे बताया है । इस लिए तत्त्व प्रतिपादन की शैली में भेद है । तत्वों के निरूपण में भेद नहीं है । इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा । किसी आदमी ने १०००) के सौ-सौ रुपये के १० नोट रख लिए और किसी ने हजार रुपये का एक नोट रख लिया । तत्व दृष्टि से दोनों के पास हजार के नोट है । एक के पास फुटकर है और दूसरे के पास समुदाय रूप है, इसी प्रकार बाईस तीर्थंकरों ने समुदाय रूप से कहा है और दो तीर्थंकरों ने भेद दृष्टि से बताया है ।

इस सम्बन्ध में आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में एक विशेष दृष्टि पर प्रकाश डाला है । वे लिखते हैं कि "ऋषम आदि तेईस तीर्थंकरों ने सामायिक आदि पाच भेद वाला चारित्र्य कहा है और महावीर भगवान ने पंच समिति, तीन गुप्ति तथा पंच महाव्रत इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र्य कहा है ।"

१ परैरजितादिभिर्जिननाथैस्त्रयोदशभेदभिन्न चारित्रं न कथितं सर्वं सावद्य-विरति-लक्षणमेकचारित्र्यं तैर्विनिर्दिष्टं तत्कालशिष्याणां ऋजुजडमति-त्वाभावात् । वर्धमानस्वामिना तु जडमति-भव्याशयवशादादिदेवेन तु ऋतुमति-विनेयवशात् त्रयोदशविधं निर्दिष्टं आचारं नगामो वयम् ।

२ सामायिकादिभेदेन पचधा परिकीर्तितं ।

ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्र्यं सप्तपचकम् ॥२॥

पच महाव्रतं गलसमितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।

गुप्तिफलभारनञ्च सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥३॥

ज्ञानार्णव १०९

इन्द्रिय जय

महाप्रती मुनि को इन्द्रियो को जीतना आवश्यक है । शुभचन्द्राचार्य ने लिखा है "जिसने इन्द्रियो को नहीं जीता है, वह न्याय रूपी अग्नि को शात करने में समर्थ नहीं होता, इसलिए श्रोत्रादि को जीतने के लिए इन्द्रियो को निग्रह करना प्रशसनीय कहा जाता है । इन्द्रिय रूपी भयनर सर्पराज के शीघ्र के वेग की शक्ति के लिये योगी लोग वीर भगवान द्वारा बताए गये परमेष्ठी के नाम-मन्त्र का स्मरण करते हैं । जिस मुनि ने इन्द्रिय रूपी बन्दर को ज्ञान-रूपी बन्वन में बाधकर वीरग्य के विजरे में बन्द कर दिया है वह मुनियो में थोड़ा है । जैसे, जैसे जीवो के वश में इन्द्रिया होती जाती है वैसे, वैसे वीरग्य रूपी सूर्य हृदय में अधिक प्रकाशमान होता है । जो पुरुष इन्द्रियो को वश में न करके मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है वह मूर्ख अपने सिर की ठोकर से पहाड़ को तोड़ना चाहता है । जो मुनि इन्द्रियरूपी सेना का सकोच करता है जिस प्रकार बधुवा अपने अंगो को सकोच करता है, वह दोषरूपी पक्ष से घुसत जगत में विचरण करता हुआ भी दोषो में लिप्त नहीं होता आत्मन् । मैं तो ऐसा मानता हूँ कि ऐसे विषय तुझे ठगने की ही प्रवृत्त हुए हैं, इसलिए मन को ऐसा स्थिर कर जिससे विषयो के द्वारा वह मलिन न हो, जैसे जीव इन्द्रिय के विषयो में तन्मय होता है उस प्रकार यदि आत्म तत्त्व में लीन हो जाय, तो कौन न शीघ्र मोक्ष प्राप्त करेगा ?"

समतभद्र स्वामी कहते हैं "इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ आनन्द विजली के समान चंचल है । यह तृणा रूपी रोग को बढ़ाता है, जिससे यह निरन्तर सताप प्राप्त करता है । वह सताप जीव को दुःख पहुँचाता है ।" अज्ञान के कारण यह जीव इन्द्रियो के सुख को महत्त्व देता है । वास्तव में आत्मा के सुख का परिचय होने पर विषय सुख विषय तुल्य लगते हैं । मूलाचार्य में लिखा है, "इन्द्रियो के विषयों से उत्पन्न जो दिव्य महान शारीरिक सुख प्राप्त होता है, वह वीतराग मुनि के आनन्द के अनंतर्वें भाग प्रमाण भी नहीं होता है ।" इन्द्रिया से उत्पन्न सुख यथार्थ में देखा जाय तो साक्षात् दुःख है । प्राकृत सिद्ध भक्ति में लिखा है 'सिद्ध भगवान का सुख अतिशय युक्त, बाधा रहित, अनंत, अनुपम, उत्कृष्ट, इन्द्रियो के विषय से अतीत या अविनाशी होता है ।"

सुख सिद्ध भगवान के सुख का स्वरूप पूज्यपाद स्वामी ने इस प्रकार समझाया है.—

“सिद्ध परमात्मा का जो सुख है, वह स्वयं आत्मा से ही उत्पन्न है, इन्द्रिय जनित सुख पर पदार्थ से उत्पन्न होना है। यह अतिशय सहित है, बाधाओं से रहित है। यह विशाल है अर्थात् सपूर्ण आत्मा में व्याप्त है। इन्द्रिय जनित सुख इन्द्रियो को ही साता देता है, किन्तु यह सुख सपूर्ण आत्मा में व्यापक रहता है। इस सुख में होनाविद्यता नहीं रहती है। विषय विरहित है, यह बाह्यवस्तुओं से उत्पन्न नहीं होता है, इसका प्रति द्वाही दुःख नहीं रहने से यह विरोध भाव रहित है। यह सातावेदनीय आदि कर्म तथा स्त्री, चंदनादि को अपेक्षा नहीं करता है। यह निरुपम है। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके साथ इसकी तुलना हो सके। यह अनंत है, शाश्वत है, अविनश्वर है, सर्व बाल रहने वाला है। उत्कृष्ट, सीमा रहित, सार-पूर्ण है, अतः इसे श्रेष्ठ सुख कहा है।”

इन्द्रियरूपी घोड़े इस आत्मा को मार्ग विमुख कर विषयों की ओर पहुँचाते हैं। इन्द्रिय के द्वारा पर पदार्थों का ग्रहण तथा उपभोग किया जाता है इसलिए इन इन्द्रियो को चोर कहते हुए उनकी दंडित करते हुए अपने वश में रखने का वर्णन मूलाचार में करते हैं—

“स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध स्वरूप विषयों में प्रसार करने वाले, चंचल, तथा चढ अर्थात् शीघ्र ही कुपित होने वाले तथा भीषण इन्द्रिय रूप चोर मन, वचन तथा काम युक्ति रूप व्यवसित अर्थात् अध्यवसाय द्वार से मुनियोंके द्वारा वश में किए जाते हैं।” जैसे भीषण जंगली हाथी बधन मुक्त होने पर नगर में फिरता है और बलशाली पुरुष के द्वारा तीक्ष्ण अकुश से वश में किया जाता है, इसी प्रकार प्रचण्ड मन रूपी जंगली हाथी समयमात्र की श्रृंखला रहित होकर रूपादि विषयों में दौडता है और विवेक रूप अकुश के द्वारा अधीन किया जाता है और वैराग्य रूप रस्ते से बाधा जाता है। इन उच्छ्राल होने वाली इन्द्रियो को व्रत तथा उपवास के प्रहार से वश में किया जाता है।” कहा भी है—

“राग, द्वेष, मोह को दृढ रतनत्रय भावना के द्वारा सम्यक् प्रकारसे

१ विसृज्य पद्मावता चवला चडा त्रिदशगुत्तहि ।

इन्द्रिय घोरा घोरा चरम्मि ठविदा पवसिदेहि ॥ ९-१०७

धीत करके प्रचण्ड पाँचो इन्द्रिया प्रत तथा उपवास के प्रहार से बस में आती है ।”

शरीर में ममता वश जीव देह को सुख पहुचाने के लिए इन्द्रिय रूपी घोडो को विषयो की ओर जाते नही रोक पाता है । ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य आचार्य इस प्रकार कहते हैं —

“जिस शरीरमें सयमी पुरुष का प्रेम है उससे भेद विज्ञानके आधार पर आत्मा को पृथक् करके चैतन्य मय आत्म शरीर में चित्त को लगावे, ऐसा करने से वाय का स्नेह दूर हो जाता है ।”

शरीरमें आत्म बुद्धिधारण करने वालेकी दिशा भ्रान्ति नष्ट नही हो पाई है, अत यह तपश्चर्या करते हुए सुन्दर शरीर और दिव्य भोगो की आकांक्षा करता है, किन्तु जिसने आत्मस्वरूप को पूर्णतया समझ कर अपनी सर्व प्रकार की भ्रान्तियो का अन्त कर लिया है वह शरीर के कंदखाने से छूटकर अपने अशरीरी पद को प्राप्त करना ध्येय बनाता है और उस ओर पहुचने का उद्यम करता है कहा है । “शरीर में आत्मबुद्धि धारण करने वाला बहिरात्मा जीव शुभ शरीर और दिव्य इन्द्रियो के विषयो की इच्छा करता है किन्तु सत्त्वदर्शी उस शरीर से भी अपना पिंड छुडाना चाहता है, कारण इस शरीर के रगमच पर ही तो सब कर्म अपना उत्पात दिखाते हैं । शरीर से मुक्त होते ही यह जीव अविनाशी और अनन्त आनन्द या अधिपति हो जाता है ।

इन्द्रिय सम्बन्धी विषयासक्ति वश जीव हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करता है । अर्थ के प्रति आसक्ति वश गृह पशु, वस्त्रादि को रखता है । आत्मरक्षणार्थ विविध वस्तुओ के प्रति आत्मीयता का भाव जगाता है । रसना इन्द्रिय के कारण विविध रसयुक्त वस्तुओ के भक्षण में उद्यत होता है तथा आसक्ति के अतिरेकवश उह खाकर रोगो से कष्ट पाता है । उपस्थ इन्द्रिय के कारण कामिनो के प्रति आसक्ति होता है । इन कारणो से यह अपने प्राण देने की तैयार रहता है तथा दूसरो के प्राण भी लेने से नही चूकता है । आचार्य कहते हैं—

१ रागो दोस्तो मोहो विदीय धीरेहि णिज्जिदा सम्म ।

पचेदिया दता वदोववासप्पहारोहि ॥९-११४

२ यत्र काये मुने प्रेम ततः प्रच्याव्य देहितम्

बुध्या तदुत्तमे काये योजयेत् प्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

“इस जीव ने अनादि ससारमें रसना इन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रियके निमित्त से अनन्त बार दुःख भोगा है, अतः अब जिह्वा और उपस्थ इन्द्रिया को बस में करना चाहिए ।”

छोटे छोटे अवोध जीवोंमें एक एक इन्द्रिय की आसक्तिवश अवर्णनीय यातनायें तथा प्राणघात तक के कष्ट भोगे हैं, तब पाँचो इन्द्रियों के विषया में फसने वाले मानव की क्या दुर्दशा न होगी, यह साचा जा सकता है ।

शकाकार कहता है, इन्द्रियोंके द्वारा सुखाभाव बताना अतिरेक्की बात है। स्त्री के निमित्त से विषय मुख्य प्राप्त होता है, यह सुख ययार्थ में वेदना का प्रतिवार है । जिस प्रकार खुजली की वेदना के शान्त करने के लिये शरीर से रुधिर आदि बहते हुए भी मानव रुजाने से विमुक्त नहीं होता है, तथा क्षणभर शान्ति मानते हुये पीछे तीव्र व्यथा की उत्पत्ति वश कष्ट पाता है, इसी प्रकार काम सुख की स्थिति है । इसी कारण ऊँचे स्वर्गवासी ग्रंथयक वासी आदि देवा के महान सुख होते हुये वहाँ देवागता का अभाव कहा है । ‘परे अग्रवीचारा’ सूत्र द्वारा दस बातों को स्पष्ट किया है, कि पाँच स्वर्गवासी से ऊपर के देवा में मंथुनोपसेवन न होते हुये भी बहुत शान्ति रहती है । वहाँ काम की वेदना न होने से जो सुख होता है वह वेदना वाले नीचे के स्वर्गों में उपशान्ति के उपायों द्वारा नहीं होता है ।

आज बड़े २ अनुसंधान कुशल तीक्ष्ण मति वैज्ञानिक पुद्गलके अतस्तल में छुपी हुई अनन्त शक्तियों के भण्डार की कुछ चामत्कारिक विभूतियों को समक्ष लाकर अपनेको वृत्तार्थ मानते हैं, कि उनने जगत्को सुख और शान्ति प्रदान की, किन्तु तत्त्वतः चिन्तन करने पर भात होगा, कि इस प्रक्रिया से विषयों की आकांक्षा और भोगों की लालसा और लम्बकाय बन गई और वह भी बढ़ती जा रही है ।

पुद्गल की शक्ति द्वारा आत्मा की शान्ति का उपाय ऐसा लगता है मानो बड़े बड़े प्रखर भौतिक शास्त्रज्ञ मरुभूमि की ग्रीष्म कालीन उष्ण सिकता राशि पर दिखने वाली मोहनीय मरीचिका के जल का सग्रह कर उससे सिंचाई का काम करने का उद्यम कर रहे हैं । तथा उसके द्वारा बिजली उत्पन्न करके

१ जिम्बो—वर्त्यणिणित्त जीवो दुस्स अणादि ससारे ।

पत्तो अणतसो तो जिम्बोवत्थे जयह दाणि ॥ १०-९७ ॥

उस समस्त मय भूमि को नन्दन उपवन के रूप में परिणत करने वाले हैं। इस कार्य के लिए दिन रात किया गया श्रम और अंधाधुंध बड़े बड़े विशाल-काय यन्त्रों का संग्रह तथा उपयोग देखकर भोले मोही जीव बड़ी आशा करने लगते हैं कि अब तो अद्भुत कार्य हो जायगा; किन्तु भविष्य के हृदय की विवेक बुद्धि से जानकारों के धित्त में इस अपार श्रम तथा उद्यम को देखकर दया का भाव पैदा होता है, क्योंकि मृगतृष्णा में जल का एक कण भी नहीं है, तब उसके द्वारा जलास्तित्व जन्य अगणित लालसाओं की पूर्ति कैसे हो सकेगी ? यहां तो मूल में ही मूल है। इसी प्रकार पुद्गल के जड़ भंडार के द्वारा चैतन्य पुंज अमूर्तीक आत्मा की आनन्दोद्भूति का कार्य है। मोह पिशाच के द्वारा छला गया मानव अपने पैरों पर कुठाराघात बरसे हुए हर्षित होता है। मोक्ष मार्ग में इन्द्रिय विजय तो आवश्यक है ही, किन्तु जगत में भी जितेन्द्रिय को विजय मिलती है। विषयो की आसक्ति वाला व्यक्ति सदा असफलता के कारण दुखी हो दैव को कोषा करता है। नीतिवाक्यामृत में लिखा है:— “अजितेन्द्रियों का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है।” इतिहास के देखने से यह बात समझ में आ जाती है, कि जब जब किसी समाज या राष्ट्र में भोग और विषयों की लालसा का रोग घुस जाता है, तो थोड़े समय में वे बड़े बड़े राष्ट्र धराशायी हो धूल में मिल जाते हैं। इन्द्रियासक्ति रूपी पिशाची यदि ज्ञान वैराग्य आदि के द्वारा हटा दी गई तो निर्विघ्न रीति से इष्ट सिद्धि हुए बिना नहीं रहती है। यही बात कहते हैं:— “जिस किसी भी उपाय से विषयाशारूप पिशाची हटा दी गई, तो अधिक कहना व्यर्थ है। इष्ट कल्याण की सिद्धि निर्विघ्न रूप से हो जाती है।” यदि मनुष्य सुन्दर और रम्य दिखने वाले पदार्थों पर आसक्त होने के पूर्व उन पर विवेक भ्रम का प्रकाश डालकर उनका विश्लेषण करे, तो आसक्ति के त्याग में विरक्ति का जन्म हुए बिना न रहेगा। जो मानव देह बड़ा मनोह्र और मोहक लगता है उसका यदि तत्त्व ज्ञान के प्रकाश में विश्लेषण किया जाय, तो आसक्ति का ज्वर तुरंत दूर हो

१ नाजितेन्द्रियाणां कापि कार्यसिद्धिरस्ति - ३-७ पृ० ३५

२ यथाकथंचिदेकैव विषयाशापिशाचिका

क्षिप्यते चेतप्रलप्यालं सिध्यतीष्टमविघ्नतः, ॥४, १८॥

३ दैवादंतः स्वरूपं चेद्विदेहस्य किं परैः ।

आस्ता मनुभवेच्छेयमात्मन को नाम पश्यति ॥११-५२॥

जायगा । इसी विवेक के आलोक में कोई कामान्ध अपनी प्रिया के सुन्दर रूप को देखे और समझे, तो उसका अधापन दूरतत्काल होगा ।" वादीभस्मिह लिखते हैं - "आत्मन्! यदि देव योग से इस शरीर का मल मूत्रादि का भंडार बाहर आ जावे, तो भला वृत्ता, इस शरीर से भोग करने की इच्छा तो दूर, इसे देखना भी कौन पसंद करेगा ?"।

इन्द्रियो के जीतने का अर्थ कोई कोई भावुक बाह्य इन्द्रियो का नाश करना आदि सोचते हैं, जैसे कहा जाता है चक्षु इन्द्रिय को उत्पातो की इन्द्रियो का क्षय जननी जान एक कवि ने अपनी आखें फोड़ ली थी
इन्द्रिय जय ऐसा ही स्पर्शनादि इन्द्रियो को जीतने के लिए हिन्दू
नहीं हैं नागा साधु आदि लोग अद्भुत उपायो का आश्रय लेते हैं ।

यह भाव इन्द्रिय जय का नहीं है । यद्यपि बाह्य इन्द्रिय का क्षय कर भी दिया तो भी जब तक रागद्वेष को, जो उन इन्द्रियो के निमित्त से हुआ करते हैं, दूर नहीं किया, तब तक इन्द्रिय जय नहीं बहलायेगा । इन्द्रिय घात तो हिंसन का कार्य होने से अहिंसा महाव्रत को दूषित करेगा । चक्षु इन्द्रिय को फोड़ देने से जो महान असयम रूप जीवन होगा, उसका निवारण किस प्रकार होगा ? अतः जैन शासन ऐसी दृष्टि को दोषार्ह बहकर पंचेन्द्रियो के नियमों में रागद्वेष का निरोध करने को इन्द्रिय जय कहता है ।

चक्षु इन्द्रिय के समक्ष वस्तु के आते ही अपनी दूषित या वीतराग मनोवृत्ति के अनुसार उस वस्तु के प्रति ममत्व या उपेक्षा का भाव होगा । मुनिराज का कर्तव्य होगा कि इन्द्रियो को प्रिय लगने वाली वस्तुओं की ओर इन्द्रियो की बोंड को बन्द करे, और यदि विषय और विषयी का का सन्निपात हो गया है तो उस सम्बन्ध में मलिन विचारों से आत्मा को मलिन न होने देवे । जैसे एक विलासिनी हाव भाव विलास करती हुई जा रही है, साधु उस ओर दृष्टि न डालेगा, किन्तु यदि वह नैनो के समक्ष आ भी गई तो वैराग्य के प्रकाश में उसके संपूर्ण सौन्दर्य के भी तर छुपे हुए मल बीज, मलयोनि शरीर की स्थिति को समझकर विरक्ति को जगाएगा, और उस विपत्ति पर विजय प्राप्त करेगा ।

प्राग्नेन्द्रिय जय के विषय में यह विचारणीय है । समीपवर्ती उद्यान के सुवासित पुष्पो ने अपना सौरभ साधु के आवास स्थल में समीर की सहायता से भर दिया, उस समय मुनिराज प्राणायाम द्वारा उस पवन से

वचने का कार्य नहीं करेंगे। उनका कर्तव्य यही होगा कि वे उसके विषय में आसक्ति छोड़ दें। उसके विषय में राग भाव तथा विपरीत गंध के विषय में द्वेष भाव का परिहार करें। उनका यही घ्राणेन्द्रिय जय होगा।

प्रायः मन धातावरण से प्रभावित हो इंद्रिय द्वारा गृहीत विषयो में रागद्वेष की भावना करने से नहीं चूकता है, अतः साधु उस प्रकार के निमित्तों के संपर्क से बचने का भी उद्योग करता है। फिर भी यदि विकार के साधन आ जाते हैं तो वह उन दुर्वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है। मूलाचार में लिखा है—

“मुनिराज को सर्वदा चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा, स्पर्शन इन पंच इंद्रियो को अपने अपने विषयो से रक्षा करनी चाहिए।”^१

मनोजय की आवश्यकता इंद्रिय जय यत्न के लिए मनोजय परम आवश्यक है, कारण मनोवृत्ति के अनुसार वस्तु में इष्ट अनिष्ट वरूपना हुआ करती है। कहा भी है—

“इंद्रियो की अमनोश, मनोत विषयो में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति में स्वामी का कार्य मन करता है, जिस तरह स्वामी अपने कुत्ते को किसी के पास दौड़ने का इशारा करता है और वे उसके वहे अनुसार दौड़ते हैं, उसी प्रकार इंद्रिया भी श्वान सदृश अपने स्वामी मन के अनुसार विषयो की ओर जाकर कार्य करती हैं। स्वामी यदि दुष्ट प्रवृत्ति का है। तो सेवक पीडाप्रद कार्य करते हैं। अतः इंद्रियो को नियमन में रखने के लिए मनोजय मुख्य कारण है। इंद्रियो का रागादि जनक विषयो से सम्बन्ध वक्ताने से प्रायः मन की उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती है और इस प्रकार मनोजय के कार्य में सफलता मिलती है। ज्ञानार्णव में लिखा है,

“एक मन का वश में करना ही संपूर्ण अभ्युदयो का दाता है। इस मनोव्यय का आश्रय कर योगी लोग तत्त्वों के निश्चय को प्राप्त करते हैं।”^२

चित्ता को स्थिर करने वाले महात्माओं के चरणों का दास

१ इंद्रियो के विषय में ब्रह्मविलास में दिया गया सवाद (पृ. ३३८ से ३५२ तक) मननीय है।

२ एक एव मनोरोधः सर्वान्भ्युदयदायक

यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तद्व-निश्चयम् ॥२३४॥

भुवनत्रय बन जाता है, यह बताते हैं—

“जिसका अन्तःकरण स्थिर होकर आत्म स्वरूप में लीन हो गया है, उसके चरण कमलों का यह त्रिभुवन आसपत्त हो जाता है ।”

इस कारण कुन्द कुन्द स्वामी इंद्रियों और मन के निरोध का उपदेश देते हुए कहते हैं—

“हे भव्य तु इंद्रियों की सेना को समाप्तकर, प्रयत्न पूर्वक मन रूपी मर्कट को वश में कर लोढानुरगतार्थ बाह्य व्रत धेन को काम में मत ला, अर्थात् आत्म साधना को अपना केन्द्र बिन्दु बना, और बाह्य दृष्टि का त्याग कर ।”

भुवनत्रय बन जाता है, यह बताते हैं—

“जिसका अन्तःकरण स्थिर होकर आत्म स्वरूप में लीन हो गया है, उसके चरण कमलों का यह त्रिभुवन आसन्न हो जाता है ।”

इस कारण कुन्द कुन्द स्वामी इंद्रियो और मन को निरोध का उपदेश देते हुए कहते हैं—

“हे भव्य तु इंद्रियो की सेना को समाप्तकर, प्रयत्न पूर्वक मन रूपी मर्कट को वश में कर लोकातुरजनार्थं बाल्य व्रतधेय को काम में मत ला, अर्थात् आत्म साधना को अपना केन्द्र बिन्दु बना, और बाह्य दृष्टि का त्याग कर ।”

युक्त है, ऐसे व्यक्ति को बाधा रहित और अस्खलित जो छह द्रव्य विषयक ज्ञान होता है, वह भाव सामयिक है।”

“तीना ही सध्याओ में, पक्ष मास के सधि के दिवसों में या अपनी इच्छित बेला में बाह्य अंतरंग समस्त पदार्थों में कपाय का निरोध करना काल सामायिक है।”

मूलाचार टीका में सामायिक के छह भेदों को इस प्रकार स्पष्ट किया है “शुभ तथा अशुभ शब्दों का सुनकर राग द्वेष आदि का त्याग करना नाम सामायिक है। कोई २ स्थापनायें भली प्रकार स्थित सुप्रमाण सर्व अवयवों की पूर्णता सहित, सद्भाव रूप, मन को आनन्दित करनेवाली होती हैं, और कोई २ स्थापनाएँ दुःस्थित, प्रमाण रहित सम्पूर्ण अवयवों से अपूर्ण, सद्भाव रहित हैं, उन दोनों के ऊपर राग तथा द्वेष का अभाव स्थापना सामायिक है। सुवर्ण, रजत, मुक्ता—फल, भाण्डियादि, मृत्तिका, वाष्प, लोष्ठ, कटकादि के विषय में समान दृष्टि रखना राग, द्वेष का अभाव करना द्रव्य सामायिक है। उद्यान, नगर, नदी, कूप बाणी, तालाब जनपदोपचित कोई कोई क्षेत्र रमणीय होते हैं, कोई २ क्षेत्र रुक्ष कटक युक्त विषम, विरस, अस्थि, पाषाण सहित हैं, जीर्ण अटवी, क्षुद्रक नदी, महस्थल की रेत राशि की बहुलता युक्त हैं, उनके ऊपर राग द्वेष का अभाव करना क्षेत्र सामायिक है। प्रायुड, वर्षा, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म छह ऋतु, रात्रि दिवस, शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष रूप काल के विषय में राग द्वेष का त्याग करना काल सामायिक है। सर्वजीवों के ऊपर मैत्री भाव रखना तथा अशुभ परिणाम का त्याग करना भाव सामायिक है।

नियमसार में बताया है “कि यदि अतः कारण में साम्यभाव की प्रतिष्ठा नहीं है, तो सर्वप्रकार की कठोर तपश्चर्या आदि इष्टसिद्धि में समय नहीं हो सकती है।” आचार्य कहते हैं—“जो श्रमण साम्य भावसे विरहित है, उसका मन में निवास करता, काय को क्लेश देता, अदभुत उपवास करना, स्वाध्याय, गीत आदि का करना क्या कर सकता है ? उससे मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता है।”

साम्य शून्य
सपादि व्यर्थ

“समता भाव रहित मुनि के अनशनादि तपश्चरण से कुछ लाभ नहीं मिलता है, अतः हे मुनि ! तू समता देवी के कुल मंदिर में अनाकुल भात्म तत्व की आराधना कर।”

आचार्य मूलाचार में कहते हैं—

“जो सर्व साधन का त्याग करता है, गुणित्वय के द्वारा इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में गति को रोकता है, उसकी सामायिक स्थायी होती है। जो श्रमण सर्व जीवों, चाहे वे स्थावर हो चाहे जस हो, के प्रति समभाव रखता है, उसकी सामायिक स्थायी होती है। केवली भगवान के शासन में कहा है, कि जिस मुनि के मन में राग तथा द्वेष विकृति नहीं उत्पन्न करते हैं उसकी सामायिक सर्वदा होती है। जो सदा आर्त और रौद्र ध्यान को दूर करता है, उसके स्थायी सामायिक होती है।”

जब तक चित्त राग द्वेष के आघात से शून्य नहीं होता है तब तक साम्य भाव का दर्शन नहीं होता है। अन्तःकरण का सतृप्ति बन जाना समस्त साधनाओं का केन्द्र बिन्दु है। जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति में यह सतृप्ति दृष्टि वीतराग, वीतद्वेष रूप स्थिति पूर्णतया अभिव्यक्त होती है। स्पष्ट सत्य कहा जाय, तो कहना होगा, कि जिनेन्द्र की मूर्ति के सिवाय विश्व की किसी भी आराध्य प्रतिमामें वह पूर्ण साम्य भावना परिदृश्यमान नहीं होती है। कहीं द्वेष का भाव है, तो किसी में मधुर राग दृष्टिगोचर होता है। साम्य की सच्ची साधना के लिए मुमुक्षु को जिनेन्द्र के चरणों का आश्रय लेना अनिवार्य होगा। साम्य की लम्बी लच्छेदार चर्चा से समता का सुधाशु अपने अमृत कर द्वारा आनन्द नहीं दे सकेगा। जीवन में साम्य भाव की प्रतिष्ठा होना आवश्यक है।

रागद्वेष की प्रवण्ड पवन जीवन दीप में सदा चंचलता उत्पन्न करती है, जैसे २ इस पवन का वेग न्यून होता है, वैसे २ आत्मा स्थिर होता है। राग और द्वेष के पूर्णतया दूर होने के क्षण मात्र में ही यह आत्मा शैवल्य ज्योति ममलंकृत हो पर ज्योति, परमात्मा, प्रभु बन जाता है।

कोई तात्त्विक पूछ सकता है, कि कंचन-वाच, मणि साम्य दर्शन अज्ञान मूलक नहीं है। हंस-वक्त्र में साम्य सोचना क्या सम्पत्तियों का कार्य है? कंचन और वाच को, वक्त्र और हंस को एक तराजू पर तोलना तो गहन अज्ञान का द्योतक है, फिर यह कार्य परमज्ञानी महामुनि का कैसे माना जा सकता है?

यह धारणा भ्रम मूलक है। लौकिक व्यक्ति स्वार्थ की भूमिका पर वस्तुओं को रखकर उनमें प्रिय और अप्रिय अभिधानों को लगाते हैं। बाजार में मूल्य, विक्रय (market value) के आधार पर कंचन-कंचन,

मणि, मूर्तिकामें भीषण भिन्नता परिलक्षित होती है, किन्तु आध्यात्मिकता की कसौटी पर वसे जाने से ये सभी आत्म भिन्नता के चिह्न से चिह्नित अवगत होते हैं। चैतन्य की दृष्टिसे वक और हममें भला क्या अन्तर है? जड़ तत्वकी दृष्टि से दृश्यमान अनन्त पदार्थ मालिका में क्या कोई भिन्नता है? अत आध्यात्मिक मूल्य (Spiritual Valuation) की दृष्टि से भिन्न भिन्न दिखने वाली, प्रिय अप्रिय लाने वाले वस्तुओं में समान रूप से अनात्मत्व का सद्भाव पाया जाता है। इस अपेक्षा से महल और गसान में अन्तर नहीं दिखता। दोनों ही अन्तःकरण में न तो अनुराग पैदा करते हैं और न द्वेष ही। इस साम्य का यह अर्थ नहीं है, कि वे पदार्थ अपने गुण-धर्म तथा पर्याय रहित हो जाते हैं। उनका अस्तित्व पूर्ववत् रहा आता है। प्रतिभास अर्थात् ज्ञान के अतः प्रविष्ट होने से सबको ब्रह्मस्य मानने की ग्रान्ति का उदय स्याद्वाच्य शासन में नहीं है, सभी उद्यत वे पदार्थ अपने २ स्वरूप में विद्यमान रहते हैं। साम्य की ज्योति जगने के कारण छह द्रव्य, सात तत्व, और नव पदार्थ की व्यवस्था नहीं बदलती है, सदात्मक वस्तु का तुच्छाभाव या द्रव्यान्तर रूप परिणमन विकास में भी सम्भव नहीं है।

“तत्त्व सन् लक्षण बाह्य है, अभेद दृष्टि से वह सम्मान है। वह स्वयं सिद्ध होने के कारण आदि अतः रहित है। इससे वह अनादि निघन है। वह स्व सहाय है, पर की सहायता रहित है और वह विवर्त्य शून्य है।”

इस दार्शनिक विचार पद्धति के अनुसार जगत् के सद्भाव को कीन असद्भाव रूपमें बदल सकता है। अतः साम्यभाव में वस्तुओंकी विशेषता, उनके गुणधर्म का लोप नहीं किया जाता है। जो वस्तु श्याम, शुक्ल रूप है, वह उन्ही प्रकार ग्रहण की जाती है, किन्तु उनके कारण उसमें राग और द्वेष का विष नहीं उत्पन्न होता है। इसलिए साम्यभाव सपन्न साधु के सम्यक् ज्ञानो होने के गौरव को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचती है। केवली भगवान की वाणी में जिस पदार्थ का जो स्वरूप है, वही बताया गया है, निम्ब को मधुर और सर्करा को कटु बताना अज्ञान का कार्य होगा, किन्तु सर्करा के माधुर्य पर राग न करना और निम्ब की कटुता के प्रति विद्वेष न करना

१ तत्त्व सत्लक्षणिक सम्मान वा यतः स्वतः सिद्धम्

तस्मादनादिनिधनं स्वसहाय निर्विकल्पकम् ॥

साम्य दृष्टि का कार्य होगा । अतः साम्यालंकृत महामुनि ही सम्यग्ज्ञानी कहे जा सकते हैं, जो वस्तु का अवबोध करते हुए उसमें रागद्वेष, मोह की कालिमा नहीं लगाते हैं । अंतर्जगत में विचरण करनेवाला योगी ही साम्य की निधि को बचा सकता है, अन्यथा रागद्वेष तृपी डाकू उस निधि को लूटे बिना नहीं रह सकते ।

त्रिलोकीनाथ बनने वाले उस महापुरुष की दृष्टि कर्मों की ठोकर खाने वाली और विषयों की जूठन खाने वाले भोगासक्त जीव से पूर्ण तथा पृथक् होती है । जिस जगत और उसके पदार्थों पर दुनिया मरा करती है, जिस जगत के गौरव को पाकर मानव अपने को कृतार्थ मान अहंकार भी करने पर उद्यत होता है, आत्मदर्शी उस जगत के बीच रहते हुए भी अपने की उससे पूर्णतया पृथक् अनुभव करता हुआ निरंतर निर्भय रहता है । वह विचारता है, "मेरा लोक तो चैतन्य लोक है । ज्ञानात्मक विश्व मेरी दुनिया है । वस्तुतः वह अविनाशी है, इसके सिवाय और कोई लौकिक लोक है कहा ?" अतः प्रतिभास कालमें वहिर्मुखता नहीं रहती है, ऐसी स्थितिमें मुझे किससे भीति होगी ? स्वद्रव्य में स्थित, स्व क्षेत्रमें अवस्थित, स्वकाल में विद्यमान और स्वभाव में विराजमान आत्मा को पर द्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल पर भाव के द्वारा क्या क्षति पहुँच सकती है ? इसी कारण सम्यक्त्वो जीव को भय से पूर्णतया उन्मुक्त कहा है ।

समता भाव का उद्देश्य आत्मा को पतन से बचाकर श्रेष्ठ निर्वाण पद को प्राप्त करना है । जो साम्य के नाम पर स्वेच्छाचारिता की ओर जाते हैं, और पशुओं में पाई जाने वाली विवेक शून्यप्रवृत्ति करते हैं, तथा अपने में और उनमें साम्य भाव बताते हैं, वे दुर्वासनाओं के द्वारा बचित हो आत्म प्रतारणा के पथ में दौड़ते हैं । जो पापाचार भ्रष्ट जीवन की ओर ले जावे, वह साम्य वा स्वप्न में भी स्पर्श नहीं करता है । शूबर के प्रति साम्य धारण कर बराह वृत्ति का अनुगमन करना पतन का कारण है क्योंकि यहा लट्ठ विषयों और भोगों की दासता का है । साम्यभाव वाता अपने में और परमात्मा में साम्य देखकर आत्मा को उच्च बनाने का

१ लोको मे हि चिस्लोको नूनं नित्योस्ति सोधतः ।

नापरं लौकिको लोकस्ततोभीतिः कुतोस्ति मे ॥ पंचाध्यायी

निश्चय करता है। इस साम्य दर्शन के द्वारा वह योगी समुद्र हो लोक शिखर पर समासीन हो सिद्धों की सभा में सम्मिलित हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र इस सामायिक की तत्त्वोपलब्धि का मूल कहते हुए इसे अधिकता से करने की प्रेरणा करते हैं, "समस्त पदार्थों में राग और और द्वेष का त्याग करके साम्य का अवलम्बन ले तत्त्वोपलब्धि के हेतुमत् सामायिक को अधिकता से करना चाहिये।" जिनेन्द्र के साथ समता स्थापित होने पर जीव क्षीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है। कहा है "जो आत्मा को जिनेन्द्र समान मानता है और जिनेन्द्र को जीव के समान जानता है वह समभाव में स्थित होता है और क्षीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।"

स्तव आवश्यक

स्तव आवश्यक का स्वरूप इस प्रकार कहा है— "वृषभादि जिनेन्द्रों की नाम निवृत्ति तथा गुणानुकीर्तन करके, पूजा करके मन, वचन काय को शुद्धता पूर्वक उनकी प्रणाम करना स्तव है। कोई शंकाकार कहता है, तीर्थंकर भगवान् दोष-रहित नहीं हैं, इससे वे स्तुति के पात्र नहीं हैं। इस शंका को जयघबलाकार (पृ० १०८, भाग १) इन शब्दों द्वारा स्पष्ट करते हुए उसका निवारण करते हैं— "तीर्थंकर सुरदुन्दुभि, ध्वजा, चमर, सिंहासन, रत्न निर्मल छत्र, भेरी, शंख, नाहल (नगारा) आदि परिग्रह रूपी गूदड़ी के मध्य विद्यमान रहते हैं, तथा त्रिभुवन को अवलम्बन प्रदान करते हैं। अपने उपदेश से जगत के जीवों को अवलम्बन देते हैं, इससे वे निर्दोष नहीं हैं। परिग्रह के मध्य रहना और जगत को उपदेश देना ही मोहरूपी दोष के द्योतक है।"

यह समझ ठीक नहीं है। भगवान् ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अंतराय इन घातिचतुष्क कर्मों का नाश किया है और इससे वे नव केवल-लब्धि से विराजित हैं, अतः उनका दोष के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, इत्यादि रूप से चौबीस तीर्थंकर सम्बन्धी भ्रान्त दृष्टियों का निराकरण करके नाम, स्थापना, ब्रह्म और भाव के भेद से निश्चय चौबीस

१ जीवा जिणवर जो मुणइ जिनवर जीव मुणई ।

सो समभाव परिट्ठियउ लहू निव्वानु लहेइ ॥

२ उसहादि जिणवरार्णं नामणिशत्तिं गुणानुकित्तिं च ।

काळण अन्विदूण य तिसुट्ठि पणमो पवो गेओ-१-१४ मूलाचार

श्रीपंक्तियों के स्तवन के विधान का और उसके फल का कथन चतुर्विंशति-स्तव करता है। गोमट्टतार जीवकांड में भी चौबीस श्रीपंक्तियों की नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव की अपेक्षा महिमा के वर्णन तथा इसके प्रतिपादक शास्त्र को भी चतुर्विंशति-स्तव कहा है—

युक्तधनुशासनमें समंतभद्र स्वामी कहते हैं—“भगवन् ! यद्यपि सीमा का उल्लंघन करके गुणों की महिमा का कथन करना लोकमें स्तुति कही जाती है। आपके गुणों के छोटे से छोटे अंश को कहने में असमर्थ हम भला आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं ? ” बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में उनमें यही चर्चा की है। “जिनेन्द्र ! गुणों के न्यून होते हुए भी उसकी सीमा का उल्लंघन कर उनका बढ़ाकर कथन करना स्तुति है। आपके गुण अनन्त हैं, उनका वर्णन करना हमारी शक्ति से बाहर की बात है। अतः आपके विषय में स्तुति किया जाना कैसे संभव हो सकता है ? ” ऐसी स्थिति में चतुर्विंशति स्तव की बात कैसे बनेगी ?

इस शंका का निराकरण करते हुए स्वयं समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं, “प्रभो ! यद्यपि वास्तविक बात ऐसी ही है। फिर भी मुनियों के ईश, पवित्र कीर्ति वाले आपके नाम का संकीर्तन हमारी आत्मा को पवित्र बनाता है, इससे थोड़ासा गुण वर्णन करते हैं।” मानतुंग मुनिराज कहते हैं, “मेरा ज्ञान अल्प है, अतः स्तुति करने का मेरा प्रयास महान ज्ञानियों के परिहास का पात्र होगा, फिर भी क्या कहूँ, आपकी भक्ति (गुणों का अनुराग) स्तुति करने की प्रबल प्रेरणा करती है। वसंत ऋतु में कीकिल मधुर शब्द करती है, इसका एकमात्र कारण आम्र की सुन्दर वीर का समुदाय ही है।” महाकवि धर्मजय की उक्ति सुन्दर है। वे कहते हैं, “भगवन् ! इंद्र ने आपके स्तवन करने के अहंकार को छोड़ दिया, फिर भी मैं स्तवन के निश्चय को नहीं छोड़ूँगा। मैं तो वातायन के समान अल्प बोध के द्वारा उससे अधिक पदार्थ का निरूपण करूँगा।”

१ गुणस्तोकं सद्गुलंघ्य तद्बहुत्वकया स्तुतिः ।

आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥८६॥

२ तथापि ते भूनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।

पुनाति पुण्यकीर्तनेस्ततो भूयाम किंचन ॥८७॥

मूलाचार में लिखा है—इस स्तव का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र स्तव के भेद काल तथा भाव में छह रूप से निक्षेप होता है। चौबीस तीर्थंकरों का उनके गुणों के अनुसार एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन नाम—चतुर्विंशतिस्तव है। चतुर्विंशति तीर्थंकरों की अगणित कृत्रिम, अकृत्रिम स्थापनाओं का स्तवन करना स्थापना चतुर्विंशति स्तव है। तीर्थंकर के परमोदारिक शरीर का वर्ण भेद से स्तवन द्रव्य स्तव है। कैलाश, सम्मेद, उर्जयन्त, पावा, चपानगर आदि निर्वाण क्षेत्रों तथा समवशरण के क्षेत्रों का स्तवन काल स्तव है। स्वर्गावतरण, जन्म, निरुमण, केवलोत्पत्ति तथा निर्वाण के समय का स्तवन काल स्तव है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन भाव स्तव है।

जयचवला टीका में स्तव के नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव, इस प्रकार चार भेद दिए गए हैं। वहाँ लिखा है “चौबीसों तीर्थंकरों के गुणों का अनुसरण करते हुए उनके एक हजार आठ नामों का ग्रहण करना नाम—स्तव है, जो सद्भाव तथा असद्भाव रूप स्थापना में स्थापित है किन्तु बुद्धि से, विचार से तीर्थंकरों से एकत्व को प्राप्त है, अर्थात् उनसे भिन्न नहीं है, अतः तीर्थंकरों के समस्त गुणों से परिपूर्ण है, ऐसी कृत्रिम अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का कीर्तन करना स्थापना स्तव है। जिन भवन का स्तवन पृथक् नहीं कहा गया है, बल्कि उसका जिन प्रतिमा के स्तवन में अंतर्भाव हो गया है।

जो विष, शस्त्र, अग्नि, वात, पित्त, वक्क जनिता समस्त वेदनाओं से उन्मुक्त है, जिनने अपने महान प्रभा मण्डल के तेज से दसों दिशाओं में बारह योजन पर्यन्त अन्धकार को दूर कर दिया है, जो स्वस्तिक, अक्षुश आदि चौसठ लक्षणों से व्याप्त है, शुभ सस्यान और सहनन युक्त है, जिनने सुरभि गंध से निभुवन को आमोदित कर दिया है, जो रक्त नेत्र, कटाक्ष रूप वाणों का छोड़ना, स्वेद, रज, विकारादि विमुक्त है, जिनके नख, रोम योग्य प्रमाण में हैं, क्षीरोदधि तट की तरंग के जल रुद्धा घबल चौसठ सुरभित चमर से विराजमान है, जिनमें स्वर्ण का दण्ड लगा है, जिनका वर्ण शुभ है, इस प्रकार अनेक स्वरूप का अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना द्रव्य स्तव है। उन जिन भगवान के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख, सम्यक्त्व, अव्यावाध, वीतराग भावादि गुणों का

अनुसरण करते हुए प्ररूपणा करना भाव स्तवन है ।

भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, इससे इन दो क्षेत्रों की अपेक्षा चतुर्विंशति स्तव कहा गया है ।

विदेह की अपेक्षा यह कम नहीं है । वहाँ सदा चतुर्युग काल रहता है और धर्म के उद्योत करने वाले तीर्थंकरों का अनुरूप व्युच्छिन्न नहीं हो पाता । जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्व और अपर विदेह हैं, इन में अधिक से अधिक प्रत्येक में सोलह, सोलह तीर्थंकर कुल मिलाकर बत्तीस तीर्थंकर तक होते हैं । धातकी खड द्वीप में दो विदेह होने से वहाँ तीर्थंकरों की संख्या चौसठ रहती है, पुष्करार्घ द्वीप में भी चौसठ तथा तीर्थंकर होते हैं । पञ्च भरत और पञ्च ऐरावत में प्रत्येक में २४ तीर्थंकर केवल उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के दुःखमा सुखमा काल में पाए जाते हैं । शेष पञ्च काल में तीर्थंकरों का अभाव हो जाता है ।

ऐसी बात विदेह में नहीं है । वहाँ सदा दुःखमा सुखमा नाम के चतुर्युग काल सद्यः काल का परिणमन रहता है तथा तीर्थंकरों का उत्पाद होता रहता है । प्रत्येक विदेह में बत्तीस तक तीर्थंकर हो सकते हैं । दस प्रकार पञ्च विदेहों के एकती सठ तथा पञ्च भरत और पञ्च ऐरावत में एतसमय में प्रत्येक में एक एक होने से पाच भरत में और पाच ऐरावत में होने वाले दस मिलाकर सब एक सौ सत्तर पर्यन्त तीर्थंकर हो सकते हैं ।

भरत और ऐरावत में पञ्चवत्याणक वाले ही तीर्थंकर होते हैं, किन्तु विदेह में कम से कम दो वत्याणक वाले तक तीर्थंकर पाए जाते हैं । कोई जीव ने मुनिपद धारण के पश्चात् षोडशवारण भावना के द्वारा तीर्थंकर मोक्ष नाम कर्म का उद्धारजन किया, तद्भ्रमोक्ष गामी होने से उसके गर्भ, जन्म और तपकल्याणन तो न होंगे, केवल ज्ञान वत्याणक तथा मोक्षकल्याण होंगे ।

पूर्वा-पर विदेह की अपेक्षा सामान्य तीर्थंकर स्तव कथन करना निर्दोष होगा । आचार्य वसुनदि ने मूलाचार की टीका में यही बात दर्शाई है, “भरतैरावतापेक्ष चतुर्विंशतिस्तव उपतःपूर्वविदेहपरविदेहापेक्षस्तु सामान्य तीर्थंकर-स्तव इति वृत्त्या न दोष इति” (पृ ४१८, अध्याय ७-४१)

यहाँ तीर्थंकर शब्द के सम्बन्ध में भी विचार करना उचित है । कारण उसके स्वरूप का यथार्थ अवबोधन होनेसे अन्य संप्रदाय के बड़े २ विद्वान तक

अमपूर्ण अर्थ लगाते हैं। विख्यात विद्वान् डा० सर राधाकृष्णन ने अंग्रेजी की पुस्तक 'बड़ों के बीच में' (Among the Great) के प्राक्कथन में लेखक श्री दिलीपकुमार राय की स्तुति में यह लिखा है— "इस ग्रंथ का लेखक तो तीर्थंकर है, सत्य की खोज का यात्री है, ज्ञान का अन्वेषक है।"^१

यह तीर्थंकर शब्द का अनुपयुक्त प्रयोग है। शिशु को सुरगुरु कथन सदृश बात है। इस शब्द को महत्ता और गौरव पर आगे प्रकाश डाला जायगा। प्रायः देखा जाता है कई शब्दों का लोक में बड़ा मिथिल प्रयोग होता है। महाविद्यालय में उपाधि परीक्षा पास करने वाले को स्नातक कह दिया जाता है, जैन वाङ्मय में द्वादशांग के पारगामी विपुलमति मनः पर्यय तथा सर्वाविधि ज्ञानवाले मुनियों को भी स्नातक नहीं कहते हैं। वे छत्रस्व कहलाते हैं और केवल ज्ञान प्राप्त होने पर उनको स्नातक कहते हैं, कारण 'स्नात वेदसमाप्ती' इस नियमानुसार ज्ञानकी समाप्ति कंवत्य होने पर ही होगी। 'प्रक्षीणयातिकर्माण, केवलिनः स्नातका (पृ. ३५८ त. राजवार्तिक ९-४६) घाति कर्म-क्षयवाले केवली भगवान् स्नातक हैं। आज कल आचार्य शब्द का भी प्रयोग महाविद्यालय के शिक्षकों के लिए होने लगा है। शिक्षण देने के कारण उनको आचरण के मार्ग दृष्टा आचार्य क्यों कह दिया जाता है, यह बात विचारणीय है। जैन आगम में श्रमण सघ के नायक को यह अभिधान प्राप्त होता है, जो सघस्व मुनियों को को व्रतादि आचार का मार्ग बताते हैं। स्वयं व्रताचरण करते हुए दूसरों को आचारमार्ग से लगाते हैं। आदेश तथा उपदेश देते हैं। सघ में उनका ही अनुशासन चलता है। शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टिसे "आचरति यस्मात् व्रतानीत्याचार्यः" (पृ. ३४६-९-२४ त. रा.)—जिनके पास से व्रतों को लेकर मुमुक्षु आचरण करते हैं वे आचार्य हैं। ऐसी ही तकं हिन्दू धर्म के विशेष उपभेद के द्वारा सम्मानित शंकराचार्य की पीठ पर प्रतिष्ठित ध्यवित को जगद्गुरु शब्द द्वारा पुकारे जाने पर एक विद्वान् ने उपस्थित की थी। लगभग ढाई अरब अर्थात् २५० करोड़ मानव समुदाय तथा अनतानत जीव राशि से युक्त जगत् के गुरु जिस व्यक्ति को कहा जाता है, उनके क्षिप्य संप्रदाय की संख्या की न्यूनता देख स्पष्ट होता है, कि यह शब्द का विसंगत प्रयोग है।

१ "The author in the Tirthankar, the pilgrim in quest of truth, the seeker of wisdom".

ऐसी स्थिति में तीर्थंकर के विषय में प्रकाश डालना तीर्थंकरका स्वरूप आवश्यक है। 'तीर्थ'-शब्द पर आचार्य प्रभावन्द इस प्रकार प्रकाश डालते हैं "संसारोत्तरण-हेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः" संसार सिन्धुसे निकलने में कारण खूब होने से तीर्थ (घाट) के समान होनेसे तीर्थ शब्द का अर्थ है, आगम (जिनेन्द्र की वाणी)।

उस आगम रूप तीर्थ के जनक को तीर्थंकर कहते हैं। द्वादशांग रूप आगम की शब्द रचना चतुर्विध ज्ञान संपन्न गणधर देव करते हैं। अर्थकर्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। घबला टीका में कहा है "भगवान तीर्थंकर के निमित्त से गीतम गणधर श्रुत पर्याय से परिणत हुए, अतः द्रव्यश्रुत के कर्ता गीतम माने गए हैं।

इस संसार की तुलना एक महान सिंधु से की गई है, उसमें जहां देखो जलराशि ही दिखाई पड़ती है, कोई भी वाश्रय नहीं पाया जाता है। अपना कोई नहीं दिखाता है, और पद पद पर मृत्यु की भीषण मूद्रा ही दिखाई पड़ती है। ऐसा ही यह संसार है। पंच परावर्तन रूप संसार के समक्ष समुद्र की भीषणता भी तुच्छ दिखती है। समुद्र में यदि किसी जगह भूतल का दर्शन हो जाय और व्यवस्थित घाट-तीर्थ का लाभ हो जाय, तो भ्रान्त पथिक को प्राण मिलता है। वह अपना वाण निश्चित सोचता है। इसी प्रकार मोह सिंधु में भ्रान्त जीव को रत्नत्रय धर्म का पथ बताने वाले जिनेन्द्र के आगम का मिल जाना या मुक्ति का उपदेश प्राप्त होना तीर्थ-घाट की उपलब्धि है। इस सिंधु में आत्मा के उद्धार हेतु घाट-तीर्थ के निर्माता को तीर्थंकर-'तीर्थ' करोतीति तीर्थंकरः' कहते हैं। मूलाचार में तीर्थंकर को धर्म तीर्थंकर कहा है। धर्म के तीन अर्थ किए हैं, चारित्र्य रूप धर्म, धर्मास्तिकाय द्रव्य, जो जीव पुद्गल के समुद्र में सहकारी होती है, तथा तीसरा आगम अर्थात् जिनवाणी-श्रुतरूप धर्म। इनमें श्रुत धर्म को तीर्थ कहा है, जिससे संसार सागर से तिरा जाता है। आचार्य ने "उत्ते द्रव्य तीर्थं कहा है," जिससे शरीर का दाह दूर होता है, तृष्णा-पिपासा का

१ तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य ।

तदिओ वरित्तधम्मो, सुदधम्मो एत्थ पुण तिरयं ॥ ७-६० ॥

२ दाहोपसमण-तण्हा-छेदो मलपंक-पवहणं चेय

तिहि कारणेहि जुत्तो सद्दया तं दव्यदो तिरयं ॥ ७-६२ ॥

छेद होता है, पंकहा मल का निवारण होता है । इन तीन बातों के कारण उसे द्रव्य तीर्थ कहते हैं । "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र से सयुक्त सभी जिनेंद्र तीर्थ होते हैं, अतः कारणत्रय से युक्त वे भावतः तीर्थ हैं । भावोद्योत से लोक वा उद्योतन करते हैं । भाव धर्म तीर्थके वर्णा होने से धर्म तीर्थकर कहलाते हैं अथवा दर्शन ज्ञान चारित्र्य सर्व जिनवरों के द्वारा सेवित हुए हैं, अतः रत्नत्रय भाव तीर्थ हैं ।"

जिस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों का जिनागम में वर्णन है, इस प्रकार चौबीस अवतारों का उल्लेख हिन्दू पुराणों में आता है । वेविलोनिया के पुरातन अधिवासियों में चौबीस मार्ग-दर्शक देवता (Counsellor Gods) माने जाते थे । वीदों में चौबीस बुद्धों का वर्ण किया गया है । पारसियों में चौबीस देव 'अहूर' नाम से माने गये हैं । यहूदियों के धर्म ग्रंथों में चौबीसपूज्य पुरुषों (Twenty four elders) का उल्लेख आता है । तुलनात्मक धर्म के विशेषज्ञ विद्वान स्व० बैरिस्टर चपतरामजी ने अग्नेजी ग्रंथ ऋषभदेव में यही बात व्यक्त की है ।^१

जैन धर्म के स्वावलंबी शिक्षण को देखते हुए कभी २ ऐसा लगता है, कि यह स्तव, पूजा, नमस्कार की चर्चा तीर्थंकर महावीर की वाणी न होकर उसका संप्रदायान्तर से प्रभावित रूप है । यदि यह जैन वाङ्मय का मूल रूप है, तो उसकी उपयोगिता क्या है ? वीतराग के समक्ष प्रशंसा या

१ दसगणानचरिते णिज्जुत्ता जिणवरा दुसब्बेपि ।

तिहि करणेहि जुत्ता तह्या ते भावदो तित्थं ॥ ६३ ॥

२ There is a special fascination in the number four and twenty. The Hindus have twenty four Avatars (incarnations) of their 'favourite God Vishnu, there were twenty-four counsellor gods of the ancient Babylonians, the Buddhist posit four and twenty-previous Buddhas, that is teaching gods. The Zorastrians also have twenty-four Ahuras who are regarded as "the mightiest to advance desire and dominion of blessings". But the most remarkable case of identity of thought between Jainism and a non-Jain creed is furnished by Jewish Apocrypha which acknowledges exactly four and twenty "faces" on the ladder of Jacob. P. 57-58

निंदा समान है, अतः स्तवन का क्या लाभ है ? ऐसे ही विचारों का प्रभाव जिनके चित्त पर पड़ा है, वे कहते हैं कि जैन धर्म में पूजा उपासना तत्व के लिए कोई स्थान ही नहीं है । समस्त विश्व की बाइबिल (The World Bible) में लिखा है "जैन धर्म में पूजा का स्थान ध्यान तथा, सामाजिक व्यवहार ने लिया है ।" उनमें यह भी लिखा है:-

"महावीरके जैनधर्म में सर्व देवताओं के सद्भावका निषेध किया गया है । मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य ऐसे विचार तथा व्यवहार रूप है, जिनका किसी भी प्रकार की पूजा से जरा भी सम्बन्ध नहीं है ।" ये विचार आति पूर्ण हैं । जैन धर्म में धर्म तीर्थंकरों को परमात्मा कहते हैं, उनके सिवाय जो भी आत्मा कोय, मोह आदि विकारों का विनाश करके पूर्ण पवित्र बन जाती है, उसे परमात्मा कहते हैं । हा ! जगत का विधाता, तथा संहारक परमात्मा जैन सिद्धान्त में नहीं माना गया है । अब विचारणीय प्रश्न रह जाता है स्तवन-पूजा का । पूजा का भाव है, आदर बुद्धि का धारण करना । जिन आत्माओं ने वासनाओं पर विजय प्राप्त की है, उनके प्रति आदर बुद्धि कोई भी वैज्ञानिक सिद्धांत परित्याग नहीं करेगा । आज का आर्थिक मानव (Economic man) धनके अधिदेवताकी पूजा (mammon worship) में संलग्न रहता है । जैनधर्म धर्म विजेताओं का सिद्धान्त होने के कारण आध्यात्मिक वीरों (Spiritual Victors) के प्रति आदर का भाव व्यक्त करता है । यह नो वीरोपासना (Hero worship) है, जो कभी भी अनुपयुक्त नहीं सोची जा सकती और न अयोग्य सिद्ध ही की जा सकती है ।

जैन धर्मानुसार चिन्तित ईश्वर तथा उसकी पूजा का लक्ष्य कहते हैं, "जो भुक्ति पय के प्रदर्शक हैं, कर्मरूप पर्वत के विनाशक हैं तथा विश्व तत्व के ज्ञाता हैं उनको उनके गुणों की उपलब्धि के लिए मैं प्रणाम करता हूँ ।"

१ "In Jainism meditation and social behaviour were & substituted for worship.

In Mahavira's Jainism the existence of all gods was denied and man's religious duty consisted entirely of thought, behaviour unconnected with any form of worship". p. 2

इस पथ में जैन धर्म का आदर्श पूर्णतया अंकित है, कि पूजक का ध्येय पूज्य के पद को प्राप्त करना है। मोह, ममता के मध्य में रहनेवाला मानव जहाँ जाता है, वहाँ रागद्वेष की सामग्री का सचय अनायास कर लिया करता है। उसका अध्यात्म विद्या के उच्च स्तर पर पहुँचना सरल काम नहीं है। अनन्तकालीन विषयों की दासता से यह जीव इतना विषयों के साथ ऐष्य धारण कर चुका है, कि उसे विषय रूप विष प्रिय लगता है, और आत्मोद्धार का पथ विपत्ति का भंडार दिखता है। ऐसे आत व्यक्ति को सत्पथ पर लाने को ऐसे उपाय चतुरता पूर्वक किए जाते हैं, जिनसे उसकी जीवन आति धीरे-२ दूर हो जाय, और सहर्ष सम्यक्पथ पर वेग से चलने में वह समर्थ हो जाय। भौतिकता के दातावरण से उसको कुछ सज के लिए बलग करके ऐसी आध्यात्मिक विभूतियों के समीप विचारों के द्वारा लाया जाता है, जिनका जीवन उज्ज्वल आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से पूर्णता को प्राप्त कर चुका है। उन महामानवों का दर्शन, गुणचिंतन, नाम-स्मरण भी अंतःकरण को पवित्रता की ओर आकर्षित करता है। उससे हृदय जघन्य तथा कुत्सित भाव-नाओं द्वारा अभिभूत नहीं होता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जैसे मनुष्य के विचार होते हैं, वैसे ही उसका जीवन बन जाया करता है। अतः सत्पुरुषो-धेष्ठ आत्माओं की पूजा, आदर भाव आदि के द्वारा उज्ज्वल प्रवृत्तियों की जागृति हुआ करती है। जैन पूजा का या स्तवन का यही अर्थ है। यहाँ दासता-दीनता का प्रश्न नहीं, किन्तु जब तक आत्मा पूर्ण समर्थ नहीं बन पाया है, तब तक यह अपने आदर्शों को तथा उसकी मूर्ति की पूजा करके आत्म-विकास के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है। बाह्य वस्तुओं से अंतःकरण पर क्या प्रभाव होता है, यह सभी छोटे-बड़े जानते हैं।

छोटा बालक प्रारम्भ में चलना नहीं जानता। धीरे-धीरे आश्रय के बल से वह चलने लगता है और दौड़ने में भी सहारा नहीं लगता है। ऐसे ही अध्यात्म पथ में चलने में पहले पाँच वाँपते हैं, चित्त नहीं लगता है, उस समय रागारमक सत्प्रवृत्तियों के सहारे मनको वीतराग के समीप लाया जाता है। वीतराग के नाम से हृदय में वीतरागता के विचारों को प्रेरणा मिलती है। उसके जीवन से सम्बन्धित स्यलो के दर्शन से विशेष स्फूर्ति प्राप्त होती है। परन्तु पूर्ण विकसित आत्मा को अयत्न-यत्न की आवश्यकता नहीं रहती है। भूतल पर स्थित व्यक्ति को राज-

प्रसाद पर चढ़ने की सीढ़ी का आश्रय लेना पड़ता है, पश्चात् भवन के ऊपर भाग पर पहुँचने पर सीढ़ी उसके लिए आवश्यक नहीं रहती। इसका यह अर्थ नहीं है, कि किसी के लिए भी उसकी उपयोगिता नहीं रही है। असम्पत्तियों के लिए अवलम्बन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसलिए प्राथमिक स्थिति की दृष्टि से पूजादि के बिना आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति होना असम्भव है। पश्चात् सुविकसित जीवन के होने पर अवलम्बन को छोड़ दिया जाता है, अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि वह अवलम्बन स्वयं छूट जाता है। ध्यान करने में भी प्रारम्भ में मूर्ति बीजाक्षर आदि का अवलम्बन लिया जाता है पश्चात् स्थायीतः ध्यान में निरंजन, निराकार सिद्धों का ध्यान किया जाता है। ऐसी स्थिति को कम व्यक्ति प्राप्त कर पाते हैं। अतएव उस पथ का सर्व साधारण के समक्ष प्रतिपादन उपयोगी नहीं रहता है। प्रारम्भिक स्थिति के साधक लिए लिए जिनेन्द्र की मूर्ति के सिद्धाय जिन भगवान के जन्म कल्याणक आदि के स्थान कल्याण प्रद हो जाते हैं, क्योंकि वे मंगल भावना को उत्पन्न करते हैं।

मनोविज्ञान में सम्पर्क विषयक नियम (Law of association) का उल्लेख आता है। भगवान् ब्राह्मणों का चित्र देखते ही श्रमणवेलमोला स्थित गोमटेश्वर की स्मृति का हो जाना इसी नियम का कारण होगा। इसी प्रकार काल, क्षेत्र, नाम आदि के द्वारा वीतराग के साथ मानसिक संपर्क हो जाता है, अतः पुण्य संपर्क होने के कारण इन साधनों को प्रशस्त और परम आदर का पात्र कहा गया है। जिनेन्द्र की पूजा, स्तुति के द्वारा पाप का विनाश तथा पुण्य की प्राप्ति होती है। इससे इन कार्यों को मंगल कहा गया है।

इस प्रकार जैन चार्मय के परिशीलन से ज्ञात होगा, कि उसमें स्तवन के क्षेत्र में भी अनेकांश शैलीका पूर्णतया परिरक्षण किया गया है।
 तार्किक दृष्टि परिपालक की आत्म-सामर्थ्य की ध्यान में रख सकाम भक्ति, निष्काम भक्ति एवं ध्यान-ध्याता-ध्येय के भेद-भाव से मुक्त शुद्धात्मावलम्बन का प्रतिपादन पात्रभेद से किया गया है।

उच्च श्रेणी के उन्मुख मुमुक्षु को उपदेश देते हुए कहते हैं, कि "तू परावलम्बन छोड़ और अपनी आत्मा का ही आश्रय ले; न कोई तीर्थ को जा, न अन्य देव की ही आराधना कर। इस शरीर के भीतर विराजमान

प्रभु की छवि का दर्शन कर, उससे ही तेरा निर्वाण होगा। परालम्बन साक्षात् निर्वाण न देगा। महान साधक को योगीन्द्र देव कहते हैं -

“वत्स ! जो ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थ का ध्यान करता है; उन भक्तान के विलास वालों को कैवल्य का लाभ कैसे होगा ?”

इस विषय में टीकाकार का यह कथन है कि “प्राथमिक सविकल्प अवस्था में चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषय कषाय रूप आर्त-रोद्र ध्यान दूर करने के लिए जिन प्रतिमा, मंत्राक्षरादि ध्येय होते हैं, किन्तु निश्चय ध्यान के समय अपनी शुद्ध आत्मा ही ध्येय होती है।”

आचार्य कहते हैं “यद्यपि यह आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्मोदय वश यह पर का चिंतन करता है। जिस समय यह आत्मा बीतराग निर्विकल्प स्व-सवेदन बोध के द्वारा आत्मा को जानता है उस समय यही परमात्मा बन जाता है।” (परमात्म प्रकाश)

“आत्मन ! तू दूसरे तीर्थों को मत जा, अन्य गुरु की शरण में मत पहुंच। अन्यदेव का चितवन मत कर। अपनी निर्मल आत्मा का चिंतन कर।”

यह ध्यान निश्चय नय की अपेक्षा है। व्यवहार तय से निर्वाण भूमि, मूर्ति, चैत्योलय आदिक तीर्थ रूप परिणत पुरुषों के गुण-स्मरणार्थ तीर्थ होते हैं तथापि बीतराग निर्विकल्प समाधि रूप छिद्र रहित जहाज सदृश इस रासार समुद्र के सतरण, में समर्थ निश्चय नय की अपेक्षा स्वात्म तत्त्व ही तीर्थ होता है। उनके उपदेश से परंपरा से परमात्मतत्त्व का लाभ होता है।

इस विवेचन के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है, कि व्यवहारिक दृष्टि से जिनेन्द्रकी पूजा, भक्ति, स्तुति आदि पुण्यानुबंधी कार्यों का असाधारण महत्त्व है। ये साधन धर्म हैं। इनके द्वारा निश्चय दृष्टि साध्य है, जिसमें आत्मा के सिवाय अन्य वस्तु का अवलंबन नहीं लिया जाता। अतएव जैन तत्त्वज्ञान के शिक्षण के पूर्णतया अनुरूप स्तुति आदि का ध्यान है। इसका लक्ष्य आत्म शुद्धि के सिवाय ईश्वरीय प्रसाद की प्राप्ति आदि

१ अण्पा मिल्लिनि णाणमउ, अण्णु जि हायहि ज्ञाणु ।

चङ्ग अण्णाण वियंभियहं, कउ तहं केवल्लणाणु ॥२८९॥५. प्रकाश

२ अण्णु जु तित्थु म जाहिनिय, अण्णु जि गुच्छं म सेवि ।

अण्णु जि देउ म चित्ति तुहं अण्पा विमल्लु मुएवि ॥२९॥

नहीं हैं। भावा समान होते हुए भी जैन दृष्टि परमार्थतः स्वावलंबन की मूल पर अवस्थित पाई जायगी किन्तु ईश्वर को विश्व निर्माता मानने वालों का लक्ष्य परमात्मा की कृपा को प्राप्त करना रहेगा।

वही २ जिनेन्द्र के प्रति उपचार से वर्तव्यका आरोप भी उनके स्तवन में दृष्टिगोचर होता है, उसका सामंजस्य जैन विचार धारा से इस प्रकार बैठेगा, कि जिनेन्द्र नाम-स्मरण या स्वरूप चिन्तन से पुण्य का संचय होता है जिसके द्वारा इष्ट पदार्थ मिलते हैं। अतः इष्ट वस्तु की प्राप्ति का कारण पुण्योदय और पुण्योदय के बंध में कारण उज्ज्वल भाव होते हैं। उन पवित्र भावों के निर्माण में जिनेन्द्र विम्ब, जिन मंदिर, जिन तीर्थ का दर्शन आदि कारण होते हैं, अतः प्रकारान्तर से जिनेन्द्र को सर्व सिद्धि ना प्रदाता कहना व्यवहारिक दृष्टि से पूर्णतया संगत तथा उचित है। जो परमार्थ दृष्टि से भी जीवों को सुख का दाता जिनेन्द्र को माने, वह जैन तत्त्वज्ञान तथा शिक्षण के प्रति न्याय नहीं करता है। अतः व्यवहारिक दृष्टि और परमार्थ विचार के भेद को भुला जैन-स्तवन आदि में कर्त्तावाद का प्रभाव मानना या उनको जैन दृष्टि का सम्यक प्रतिनिधित्व न करने वाला सोचना समन्वयशील स्याद्वाद शैली को विस्मृत करना है।

जिनेन्द्र को भक्ति के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, जिन विम्ब के दर्शन से निकाचित बंध तत्काल क्षय होता है, जिनेन्द्र विम्ब के दर्शन से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है, अतएव ये आरम्भकल्याण के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण माने गये हैं। कहा भी है:-

जिन प्रतिमा अथ जिन भजन कारण सम्यक्ज्ञान ।

कृत्रिम और अकृत्रिमा तिग्हे नमो धर ध्यान ।

वन्दना

वन्दना नाम वा तृतीय आवश्यक कर्म है। वृषभादि पौरोहित्य तीर्थंकर, भरतादि क्षेत्रों के वेवली, आचार्य, चैत्यालयादि को पृथक् ७ रूप से नमस्कार करना अथवा गुणों का अनुस्मरण करना वन्दना है (महावंध पृ० ३८)। एक तीर्थंकर को नमस्कार करने को वन्दना कहा है। श्री गोमट्टसार जीव काण्ड में लिखा है, "एक तीर्थंकर का अवलंबन द्रव्य चैत्य, चैत्यालयादि की स्तुति वन्दना है, अथवा इसका प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वन्दना कहलाता

१ "एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम (जयवला पृ. १११)

वन्दना-विशुद्धिः, द्यासना, चतुःशिरोवनतिः द्वादशावर्तना । (त.रा.) १-२४

वन्दना विषयक शास्त्र अंगवाह्य श्रुत में समाविष्ट है । अंगवाह्य आगम के चौदह अर्थाधिकारों में वन्दना का वर्णन आता है ।

आचारसार में लिखा है "वन्दना करने वाले को मन, वचन, काय को शुद्ध रखना चाहिये । द्वादश आवर्त करना चाहिये । आदि तथा अंत में दो बार बैठकर नमस्कार करना चाहिये । चारों दिशाओं में चार नमस्कार करना चाहिये तथा दोनों हाथ जोड़कर वन्दना के बत्तीस दोषों से रहित होकर वन्दना करना चाहिये ।" (९-८८)

इस सम्बन्ध में मूलाचार में लिखा है "अर्हन्त, सिद्ध प्रतिमा, तप श्रुत, गुण से गुरु अर्थात् महान, दीक्षा गुरु, दीक्षा से अधिक इनका कृति कर्म से अर्थात् सिद्ध-भक्ति, श्रुत भक्ति पूर्वक कायोत्सर्गादि से तथा अन्य से अर्थात् श्रुत भक्ति आदि क्रिया पूर्वकता के बिना शिर प्रणाम से त्रिकरण संकोचना अर्थात् मन, वचन, कायकी शुद्धि पूर्वक प्रणाम करना वन्दना है ।

मूलाचार टीका में अर्हन्त प्रतिमा को अष्ट प्रातिहार्य समन्वित लिखा है तथा प्रातिहार्य रहित को सिद्ध प्रतिमा बताया है अथवा कृत्रिम प्रतिमा को अर्हत् प्रतिमा और अकृत्रिम को सिद्ध प्रतिमा कहा है—“अष्ट महाप्रातिहार्य समन्विता अर्हत् प्रतिमा, तद्रहिता सिद्ध-प्रतिमा । अथवा कृत्रिमायास्ता अर्हत्-प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्ध प्रतिमा。” ॥ (गाथा २५ अध्याय १) । इस आगम के प्रकाश से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ समय से जो मूर्ति को काटकर पोला आकाश दिखाने वाला बनाया जाता है, वह आगम सम्मत सिद्ध मूर्ति नहीं है । प्रातिहार्य रहित अर्हन्त मूर्ति को सिद्ध मूर्ति नहीं मानना चाहिए ।

वन्दना के भेद मूलाचार में "इस वन्दना के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव ये छह भेद कहे गये हैं ।" १

वन्दना में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से छह निक्षेप कहे गये हैं । एक तीर्थंकर के नाम का उच्चारण, सिद्ध आचार्यादि का नामोच्चारण नाम की आवश्यक वन्दना नियुक्ति है । एक तीर्थंकर प्रति-विम्ब, सिद्ध आचार्यादि के प्रतिविम्बों का स्तवन द्रव्य वन्दना नियुक्ति है ।

१ णामद्रवणा दब्बे खेत्ते काले य होदि भावे य ।

ऐसो सल्लु दन्दणे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो ॥७-७८॥

इस कथन से आचार्यों की मूर्ति का निर्माण कार्य आगम सम्मत है, यह स्पष्ट होता है। एक तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्यादि के शरीर का स्तवन द्रव्य-वंदना नियुक्ति है। उनके द्वारा अधिष्ठित क्षेत्र का स्तवन क्षेत्र वंदना, उनके द्वारा अधिष्ठित काल का स्तवन काल-वंदना, एक तीर्थंकर, सिद्ध आचार्यादि का शुद्ध परिणाम से जो गुण स्तवन है, वह भावावश्यक नियुक्ति है।”

तीर्थंकर वंदना से कर्मों का क्षय होता है, इस विषय में जयधवल में यह शंका उठाई गई है, “एक तीर्थंकर की नमस्कार त्रिया की वंदना कहते हैं, किन्तु एक जिन तथा एक जिनालय की वंदना के द्वारा कर्मों का क्षय नहीं होगा, क्योंकि एक जिन और जिनालय की भक्ति या नमस्कार द्वारा शेष जिनेन्द्र तथा जिनालय की आसादना (अनादर) होती है, जो अशुभ कर्म बन्ध का कारण होगी। तथा एक जिन और एक जिनालय की वंदना करने वाले को मोक्ष तथा जैनत्व नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि वह पक्षपात दूषित है—किसी जिन का पक्ष करता है और दूसरों की उपेक्षा करता है। अतः उसके ज्ञान और चारित्र्य में कारण रूप सम्पददर्शन नहीं हो सकता है। इस कारण एक जिन तथा जिनालय का नमस्कार कार्य योग्य नहीं है। (पृ० ११२)

इस शंका का इस प्रकार निराकरण करते हैं, “एक जिन या जिनालय की वंदना करने से पक्षपात नहीं होता है क्योंकि वंदना करने वाले के मन में एक जिन या जिनालय की ही वंदना बहूंगा, अन्य की नहीं, ऐसा प्रतिज्ञा रूप नियम नहीं पाया जाता है। इसका यह भी भाव नहीं है कि वंदना करने वाले ने शेष जिन और जिनालयों को नियम से वंदना नहीं की है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त धर्म और अनन्त सुख आदि के द्वारा अनन्त जिनों में एकपना है, अतएव एक जिन तथा जिनालय की वंदना से सभी जिन, जिनालयों की वंदना हो जाती है।

ऐसा होते हुए भी चतुर्विंशतिस्तव में वंदना का अंतर्भाव नहीं होता है, कारण द्रव्याधिक तथा पर्यायाधिक नयों में एकत्व का विरोध है। दूसरी बात यह है, कि सभी पक्षपात अशुभ कर्मबन्ध के हेतु हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जिनका मोह क्षीण हो गया है, ऐसे जिन भगवान विषयक पक्षपात में अशुभ कर्मों के बंध की हेतुता नहीं पाई जाती है।

कदाचित् कोई यह आप्रह करे कि एक जिनकी वंदना का जितना

फल है, उतना ही फल शेष जिनों की वंदना का है, अतः शेष जिनों की वंदना करना सफल नहीं है । इस हेतु से शेष जिनों की वंदना में अधिक फल नहीं पाया जाता, इसलिए एक जिनकी ही वन्दना करनी चाहिए । अथवा अनंत जिनों में छद्मस्व के उपयोग की एक साथ विशेष रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए भी एक जिन की वंदना करना चाहिए । इस प्रकार का एकांत पक्ष नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार का एकांत का निश्चय करना दुर्लभ है । इस कारण पूर्वोक्त प्रकार से विवाद का निराकरण करके एक जिन की वंदना में निरवयव भाव ज्ञापन द्वारा वंदना के भेद तथा फलों का निरूपण होता है ।” (पृ० ११३)

जिनेन्द्र देव का स्तव अथवा वंदना का मूलतः उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि है । इस अन्तःकरण को पवित्रता के प्रकाशित हुए बिना आत्मा अंधकार में भटकती फिरती है, तथा उसके प्रयत्न दृष्ट साधक नहीं होते हैं । योगीन्द्र देव परमात्म प्रकाश में लिखते हैं—

“हे जीव जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा, जैसा जो चाहे वंसा कर, किन्तु जब तक चित्त की शुद्धि नहीं होती, तब तक मोक्ष को किसी भी प्रकार नहीं पा सकता है ।”

यह जीव भोगों के अनुभवन के बिना भी काम क्रोधादि दुर्धर्मान द्वारा शुद्ध आत्म-भावना से गिरकर भाव से कर्म का बंध करता है, अतएव अनवरत अन्तःकरण की विशुद्धता आवश्यक है ।

चित्तवृत्ति की चंचलता को समता करने वाली वस्तु जगत में अन्य नहीं मिलेगी । ऐसा चित्त आत्मचित्तन में निरन्तर कैसे रह सकता है ? यदि दसकी स्वोन्मुखता अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त हो, तो मोहनीय, ज्ञानावरण दर्शनावरण, अंतराय का ध्वंस होकर कैवल्य की ज्योति का लाभ हो जाय । मन को बश में करने की बातें, जिस सरलता और जोश के साथ की जा सकती है, उसका अक्षरशः पालन स्वप्न में भी नहीं बनता । अतएव उस चंचल चित्त वृत्ति को अशुद्ध भूमि में विचरण करने से रोक कर जिनेन्द्र के सद्गुणों का चिन्तन, स्मरण तथा वंदना आदि में संलग्न रखना हितप्रद है । यह सत्य है कि जिनेन्द्र देव का स्वरूप वाणी के द्वारा

१ जहि भावइ तहि जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि ।

केम्यइ मोखु ण अत्थि पर, चित्त ह सुद्धि ण ज जि ॥१९७॥

अवर्णनीय है, फिर भी उसका व्यवहार दृष्टि से निरूपण जीय की मनो-वृत्ति में विलक्षण विमलता का संचार करता है। यही विशुद्धता आराधक की आकांक्षाओं की पूर्ति में मुख्य कारण है और जिन-स्मरण कारण का कारण होने से सर्वदा स्लाघनीय तथा उपादेय माना है। महाकवि जिनसेन भगवान् वृषभनाथ के स्तवन-पाठ में कहते हैं—

“हे प्रभो! जिनेन्द्र के पुण्य गुणों का सकीर्तन ही तो स्तुति है, विदुद्ध विचार वाला भव्य जीव ही स्तुति करने वाला है। स्तुत्य-स्तुतिके के पात्र कृतकृत्य आप हैं, इसका फल निर्वाण का अविनाशी आनंद है। भगवन! आप एक हजार आठ नामों के गोचर होते हुये भी परमार्थतः वाणी के द्वारा अवर्णनीय हो, फिर भी आपके स्तवन के द्वारा स्तुति करने वाला अपने इष्ट फल को नियमतः प्राप्त करता है।”

प्रभु के नाम स्मरण या वदना का ध्येय आत्मा का विशुद्धीकरण है, किन्तु प्रायः लोग भगवान् के पास जा भिखारी की भाँति स्वार्थ पूर्ति के लिये अपनी-अपनी माँगों का वही-खाता खोल देते हैं। इससे भक्ति की पवित्रता तथा शुभ्रता का सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। वर्नाडका का कथन कितना सत्य है। “(Common people do not pray, they only beg)—साधारण जन प्रभु की प्रार्थना नहीं करते। वे तो उनसे भीख माँगा करते हैं।” जब तक हमारी आत्मा पुण्यशील और सद्बृत्ति सम्पन्न नहीं बनती, तब तक जोर जोर से स्वार्थ पूर्ति के लिए केवल वाणी से उठाई गई आवाज क्या कर सकती है? हेमलेट में शेक्सपियर ने लिखा है—“भाव विहीन वाणी स्वर्ग को स्पर्श नहीं करती।”

कोई २ भोग और विलासता के दास स्वावलंबन तथा आत्मनिर्भरता की लम्बी लच्छेदार वातें छेड़ते हैं किन्तु भगवद्गुण-स्मरण में वे आत्महित की तनिक भी सामग्री नहीं देखते हैं। उनको गाँधी जी का यह कथन ध्यान में लाना चाहिये।^१ “प्रार्थना आत्मा के लिये उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। मैं बिना प्रभु-स्मरण

१ “Words without thoughts never to heaven go”.

२ “As food is necessary for the body prayer is necessary for the soul. No act of mine is done without prayer I am not a man of learning, but I humbly claim to be a man of prayer” life of M. Gandhi P. 330

के कोई भी कार्य नहीं करता। मैं बड़ा विद्वान तो नहीं हूँ, किन्तु नम्रता पूर्वक अपने को प्रार्थना-शील मानव कहूँगा।”

प्रार्थना का केन्द्र यदि सम्यक्त्व की प्रभु हो, तो आत्मा की सफलताओं और सिद्धियों की सीमा नहीं रहती है। इससे द्वारा त्रिविक विकास करता हुआ जीव आगे स्तुति का विषय बन जाता है। प्रार्थना में नतमस्तक मानव विश्व में उन्नत-मस्तक महापुरुष बन जाता है। ईश्वर की आराधना से जो सफलता मिलती है, वह इतनी अलौकिक और अपूर्व होती है, कि मनुष्य ऐसी बातें स्वप्न में भी नहीं सोच सकता है। टेनीसन के ये शब्द सर्व सुविदित हैं:-

जिनेन्द्र भक्ति की विशेषता “जिन बातों का जगत स्वप्न देखता है, उससे भी बड़े कार्य प्रार्थना द्वारा सम्पन्न हो जाते हैं।” जिनेन्द्र की भक्ति में एक विशेषता है, कि उनकी जैसे जैसे वृद्धि होगी, वैसे वैसे आत्मा भोग और विषयों के प्रति विमुक्त बनता हुआ आत्मिक मोन्दर्य की ओर अधिक आकर्षित होता जाता है। मलयाचल के पास जाने वाले के पास वहाँ की सुवास जीवन में क्यों नहीं आयेगी? वीतराग की भक्ति, गुणचिंतन का यह अवश्यभावी परिणाम होता है, कि आत्मा भोगों की दासता को विष-तुल्य समझने लगता है और उसे अपनी आत्मा के स्वरूप की पवित्र स्मृति हो जाती है। वीतराग जिनेन्द्र के दर्शन से आत्मा में भेद विज्ञान की ज्योति जग जाती है। जितनी पवित्र प्रवृत्ति वाली आत्मा होगी, उतनी ही अधिक ज्ञान और सुख वह जिनेन्द्र के चरणों में प्राप्त करेगी। जिनेन्द्र की वीतराग, ध्यानमय, प्रज्ञान, निर्विकार मुद्रा का अन्तःकरण पर निरन्तर उज्ज्वल प्रभाव पड़ता है, इसे कवि इस प्रकार व्यक्त करते हैं:-

निरखत जिन चद्र वदन स्व पर सुरधि आई ॥१॥

प्रगटी निज आनकी, पिछान ज्ञान भानकी,

बला उदीत होत काम यामिनी पलाई ॥१॥

शाद्वत आनंद स्वाद पायो, विनस्यो विषाद;

ज्ञान में अनिष्ट इष्ट कल्पना नलाई ॥२॥

साधी निज साधकी समाधि मोह व्याधि की

उपाधि को विराधि के अराधना सुलाई ॥३॥

“More things are wrought by prayer.
Than this world dreams of”.

घन दिन छिन आज सुगुनि, चिन्तौ जिनराज अबे,
सुधरे सबकाज 'दौल' अचल सिद्धि पाई ॥४॥

इस प्रसंग में यह बात विशेष ध्यान देने की है, कि आराधना का लक्ष्य सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी आतन होकर यदि आराधक के समान ही दोषी तथा दुर्वासनाओं का पुंज रहा, तो ऐसी भक्ति आत्माकी अधोगति का कारण होगी। ऐसी भ्रान्त भक्ति, पूजा, वदना की अपेक्षा उससे दूर रहने वाला व्यक्ति अपेक्षाकृत कम क्षति ग्रस्त होगा। अनंत मसार में परिभ्रमण करने वाले जीव को सम्पन्न पथ की प्राप्ति तथा सदगुरु शरण बड़े भाग्य से मिलता है। चँच का ठाठ बाट रख स्वयं रोगी हो बीमार के जीवन को सकट में डालने वाले चिकित्सक नामधारी बहुत मिल सकते हैं, किन्तु रागादि दोषों को दमन करने की मानस्य सम्पन्न सफल आत्म चिकित्सक की उपलब्धि असमान्य पुण्य से होती है। असम्पन्न लक्ष्य की आराधना आत्मा को कैसे उन्नत बनावेगी? शराबी, कुशील-सेबी, मासभक्षी, दुराचार मूर्ति को लक्ष्य बनाकर आराधना करने वाले जीवमें वे अवगुण सहज ही उत्पन्न होंगे। इसका कारण है। जिसकी वदना की जाती है उसकी जपनी अपेक्षा उच्च और आदर्श मान सर्वदा उस ओर ध्यान देकर तद्रूप बनने की आन्तरिक आकांक्षा की जाती है। उस ओर आकर्षण होने से विचारतदनुसार प्रवृत्ति में प्रेरणा देते हैं, फलतः शरीर शरीर आराध्य के अनुरूप साधक का परिणमन होता है। इसलिए इस विषय में प्रारम्भ में यह निश्चय करना आवश्यक है, कि मैंने अपना आदर्श मुदने में भूल तो नहीं की है।

बहुते हैं एक राजा बड़े भगवद् भक्त थे। प्रजा प्रिय भी थे। विशेष सभारम पर गाड़ी सवारी निकलने वाली थी, अतः लाखों नर-नारी नरपति के दर्शनार्थ राजपथ में एकत्रित थे। इतने में सुसज्जित मार्ग में एक कुत्ते ने आकर उसे अपने मलमूत्र द्वारा गदा कर दिया। यह देख एक चतुर मालिन ने पुष्पों से भरी हुई टोकनी से उस स्थल को ढाँक दिया। भीड़ के लोगों ने पुष्पों का ढेर देख कोई पवित्र स्थल की कल्पना कर थोड़े बहुत पुष्प वहाँ डाल दिए। थोड़े ही काल में वहाँ पुष्पों का समुदाय हो गया। इतने में राजा साहब की सवारी निकली, वहाँ पुष्पों का ढेर देखकर सोचा कोई पुण्यस्थल होगा, अतः उनमें वहाँ सुन्दर छतरी बनाने की मन्त्री की आज्ञा प्रदान की।

मन्त्री ने नरेश की आज्ञा को निरोधार्थ कर उस स्थान के विषय

आशाधर जी लिखते हैं—“प्रतिक्रमक अर्थात् प्रतिक्रमण कर्ता मुनि मुनि होता है। प्रतिक्रम्य अर्थात् प्रतिक्रमण के विषय दुष्कृत है। मेरे दुष्कृत मिथ्या हो इत्यादि शब्द कथन से अथवा मेरे दुष्कृत मिथ्या हो इस प्रकार व्यक्त किए परिणामों से व्रत शुद्ध आत्मा में दुष्कृतों का छेद होता है, वह प्रतिक्रमण है।” (अ०धर्मा ८-६१)

प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठान द्वारा अधस्तन भूमि में मुमुक्षु का उपकार होता है और प्रतिक्रमण आदि के न करने से अहित होता है। उच्च श्रेणी में विद्यमान साधु के प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठान द्वारा अपकार होता है—

यह प्रतिक्रमण आदि अधस्तन भूमि में स्थित साधु के लिए अमृत कलश रूप है किन्तु उच्च श्रेणी गत मुनि के लिए यह विषकुश सदृश है।

कहा भी है “अप्रतिग्रहण, अप्रतिशरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिदा, अगर्हा, और शुद्धिका नहीं करना ये अमृत कुश हैं।” (समयसार ३०७)

इस विषय का सम्यक् अवबोध निमित्त प्रकाश अमृतचन्द्र सूरि से मिलता है। आत्मा में लगे हुए दोषों का शोधन कर्म प्रतिक्रमण कहा जाता है। निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञानी आत्मा निरपराधी है, तब उसे प्रतिक्रमण की ओपधि पिलाने की क्या आवश्यकता है ? नाटकसमयसार में लिखा है—

“पर द्रव्य का ग्रहण करने वाला अपराधवान जीव बंधन को प्राप्त करता है, किन्तु स्वद्रव्य में संवृत संयमी अपराध रहित होने से बंधन को नहीं प्राप्त करता है। लोक में देखा जाता है कि जो चोरी आदि का अपराध करता है उसके ही बंधन की शंका संभव होती है, किन्तु जो चोरी आदि का अपराध नहीं करता है, वह निश्चित हो जनपद - देश में भ्रमण करता है। इसी प्रकार जीव भी अशुद्ध होता हुआ पर-द्रव्य-ग्रहण लक्षण रूप अपराध को करता है, उसके ही बंध की शंका होती है। जो शुद्ध होता हुआ अपराध नहीं करता है, उसके बंध की शंका नहीं होती है।”

“अपराधी आत्मा निरन्तर अनन्त पुद्गल परमाणुरूप कर्मों के द्वारा बंधता है, किन्तु निरपराध आत्मा बंधन को कदाचित् भी स्पर्श नहीं करता है। अपने को नियम से अशुद्ध मानने वाला आत्मा सापराध रहता है किन्तु शुद्ध आत्म सेवी संयमी निरपराध रहता है।”

आत्महत्याति टीका में यह भी लिखा है "जो अज्ञानीजन साधारण का अप्रतिक्रमणादिक है, वह शुद्धात्म सिद्धि के अभाव स्वभाव रूप होने से स्वयं अपराध रूप होनेके कारणही विष कुभ हैही। उसकी चर्चा करना अनावश्यक है।"

जो द्रव्य प्रतिक्रमणादिक है, वह सर्व अपराध रूप विष की व्याख्या के आकर्षण करने में समर्थ होने से अमृत कुभ रूप होते हुए भी प्रतिक्रमणादि से पृथक् अप्रतिश्रमण रूप तृतीय भूमिका को नहीं देखता हुआ आत्मा की वध, मुक्तिरूप कार्य करण में, असमर्थ होने से विपक्ष का कार्य करने से पूर्ववत् विष कुभ ही ठहरता है।

अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमि-स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धि रूप होने से सर्व अपराध रूप विष के दोषों का पूर्णतया परिहार करने के कारण स्वयं अमृत कुभ होती है। इससे तृतीय अप्रतिक्रमण रूप भूमिका के द्वारा ही निरपराधपना स्थित होता है। उसकी प्राप्ति से लिए ही द्रव्य प्रतिक्रमणादि साधन रूप प्रारम्भ में होते हैं।

दोष शुद्धि निमित्त किए जाने वाले प्रतिक्रमणादिक को विष-कुभ सुनकर प्रमादी व्यक्ति हर्षित हो सोचता है, मैं प्रतिक्रमण की झलट से और मुक्त हो गया। इस प्रकार वह अधिक प्रसन्न बनता है, उसे समझाते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है:-

"जहां निश्चय दृष्टि में प्रतिक्रमणमादि को विष कहा है, वहां प्रमादी का प्रतिक्रमण न करना कैसे अमृत कहा जायगा? अतः अधः पतित होता हुआ व्यक्ति कथो प्रमाद करता है? वह प्रमाद रहित हो कथो नहीं ऊंचा ऊंचा चढ़ता है?" (समयसार कलश १८९)

इस कथन का निष्कर्ष यही है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रतिक्रमण करना परम कर्तव्य है। इस विषय में मूलाचार का कथन विशेष मननीय है।

"भगवान् वृषभनाथ तीर्थंकर तथा भगवान् महावीर के तीर्थ में घमं सप्रतिक्रमण कहा गया है, चाहे अपराध हुआ हो या न हुआ हो। भगवान् अजितनाथ आदि पारसनाथ भगवान् पर्यन्त मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में अपराध की बहुलता का अभाव होने से यह प्रतिक्रमण अपराध होने पर ही किया जाता था, अन्यथा नहीं।" (७-१२९)

"अजितनाथ जिनेन्द्रादि पार्श्वनाथ तीर्थंकर पर्यन्त मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में जिस प्रत में अपने तथा दूसरों के अतीचार जाता था, उसी विषय में

प्रतिक्रमण के भेद मूलाचार में प्रतिक्रमण का छह प्रकार से निक्षेप किया गया है—नाम प्रतिक्रमण—पाप के कारण रूप अतीचारों का निवारण करना, अथवा प्रतिक्रमण दंडकगत शब्दों का उच्चारण करना, सदाग स्थापनासे परिणामों को दूर करना, स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य द्रव्य को सेवा से परिणामों का निवारण करना द्रव्य है प्रतिक्रमण क्षेत्राश्रित अतीचारों को दूर करना, क्षेत्र प्रतिक्रमण है। कालाश्रित अतीचारोंसे निवृत्ति काल प्रतिक्रमण, रागद्वेष आश्रित अतीचारोंकी निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है। इस प्रकार प्रतिक्रमण में छह प्रकार के निक्षेप जानना चाहिए—

प्रतिक्रमण के ये सप्तभेद—कहे गये हैं:—दिवस में उत्पन्न दोषों के दूर करने को दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रि सम्बन्धी दोषों की शुद्धि के लिए

expiation, these eight kinds constitute the pot of nectar.

These two Gathas by their paradoxical statement will be shock from the ordinary point of view. In the case of an empirical self, the uncontrolled rush of emotions must be kept under restraint. For achieving this purpose this eight kinds of discipline Pratikramana etc. become necessary and desirable. Since they promote the achievement of the good they must be said to constitute the pot of Nectar. Whereas the lack of eight-fold discipline must constitute the opposites that is the pot of poison, since there is a free vent to evil.

This ordinary description is reversed in the two gathas by Sri Kunda Kuda. He is thinking of the transcendental Self which is quite beyond the region of good and evil. Hence the question of discipline or no-discipline is meaningless. And hence in the case of the Supremely pure state of the Self 'to talk of the Pratikramana etc. is to drag it down to the empirical level and to postulate the possibility of occurrence of impure emotions, which ought to be disciplined and controlled. Hence to talk of Pratikramana etc. in this state will be positive evil.

Hence the revered author considers the various kinds of moral discipline to be things to be avoided and calls them posion pot. "Samayasara" P. 189-190

रात्रिक प्रतिक्रमण, छह जीव निवायो के सम्बन्ध में किए गए अतीचारा को दूर करना ईर्यापथ प्रतिक्रमण, पंद्रह दिन में दोषों का विशोधन कार्य करना पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मास में किया गया प्रतिक्रमण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। वर्ष में किया गया प्रतिक्रमण सावत्सरिक प्रतिक्रमण है। यावज्जीवन चतुर्विध आहार का परित्याग रूप प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। ("उत्तमार्थे भवमोक्षमार्थे यावज्जीव चतुर्विधाहारस्य परित्यागः।")

आचार्य वीरसेन ने जयघबला टीका में प्रतिक्रमण के विषय में लिखा है—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, ऐर्यापथिक और बौद्ध-स्थानिक इस प्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकार का है।

५० महाचन्द्रजी ने थावक का प्रतिक्रमण सक्षिप्त रूप में सामायिक

Then, what is the significance of the opposite, Apratikramana etc which are described to constitute the pot of Nectar. Here the term Apratikramana implies not the mere opposite of Pratikramana. The mere opposite of mere Pratikramana would imply removing the disciplinary act and giving free access to the impure emotions towards the focus of attention. That would be positive degradation of the Self. Hence the interpretation of this term would be inapplicable to the pure Self in the Transcendental region.

Therefore the negative prefix in the words Apratikramana must be taken to signify the absence of necessity to practice the discipline. When the Self is absorbed in its pure nature by attaining the Yogic Samadhi there is a full stop to the series of impure psychic states, characteristic of the empirical Self. Hence there is no necessity to practice the various kinds of discipline. The very absence of those disciplinary practices produces spiritual peace that passes under standing. It is in that stage there is the pot of Nectar. Such a spiritual peace necessarily implies spiritual bliss, which is the characteristic of the Supreme Self.

के प्रारम्भ में पढ़ने योग्य इन शब्दों में लिखा है -

हे सर्वज्ञ जिनेश किए जे पाप जु मैं अब,
ते सब मन वच काय योग की गुप्ति बिना लभ ।
आप समीप हजूर माहि मैं खडो खडो सब,
दोष बहू सो सुनो करो नठ दुख देहि सब ॥२॥
नोध मान मद लोभ मोह माया वश प्राणी,
दुख सहित जे किए दया तिनकी नहि आनी ।
बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय-वि-ति चउ-पचेन्द्रिय,
आप प्रसाद हि मिटें दोष जो लग्यो मोहि जिय ॥३॥
आपस में एक ठोर पापि करि जे दुःख दोने,
पेलि दिये पगतले, दावि करि प्राण हरीने ।
आप जगत् के जीव जिते तिन सयके नायक,
अरज करु मे सुनो दोष मेटी दुःखदायक ॥४॥

लघुप्रतिक्रमण लुच-प्रतिक्रमणा, रात्रि-प्रतिक्रमणा, दिवस-प्रतिक्रमणा,
गोचार-प्रतिक्रमणा, निपिद्धि का गमन प्रतिक्रमणा, ईया-
पथिक प्रतिक्रमणा, अतीचार प्रतिक्रमणा इस प्रकार सात लघु प्रतिक्रमण कहे
गये हैं ।

उपयोगिता विषयो में अनुरक्त, इन्द्रियो के भवत जिस प्रकार बाह्य
वस्तुओं द्वारा शरीर को सजाते हैं, उसे स्वच्छ करते
हैं । उसी प्रकार विषय विरक्त इन्द्रियो को अपने अधीन रखने वाले योगी
अपनी आत्मा की मलिनता की प्रतिक्रमण के द्वारा दूर कर उसे पवित्र,
उज्ज्वल तथा आंतरिक सामञ्जस्य एवं मोन्दर्य की अप्रतिम भूमि बनाते
हैं । आध्यात्मिक मोन्दर्य तथा शुभ्रता पर लक्ष्य रहने के कारण मलघट
तुल्य शरीर को सुसंस्कृत करने की ओर उनका झुकाव नहीं रहता है ।
जिस प्रकार समाज या राष्ट्र की सद्बृत्ति और सदाचार की अभिवृद्धि के
हेतु न्यायशील शासक दण्ड का सम्यक् प्रयोग करता है, और बाह्य जगत्
में शांति, सुख्यवस्था बनाये रखता है, उसी प्रकार अतर्जगतमें क्रोध,मान,
माया आदि उच्छृंखलता तथा उद्धता के द्वारा जो सुजीवन, सौमनस्य
तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य का सृजन नहीं हो पाता है, उन विचारों को
पराभूत करने के लिए भुविजन प्रतिक्रमण आदि आत्माश्रित अस्त्रा का प्रयोग
सतत करते हैं । इससे उनके जीवन में पूर्णशांति और समता का राज्य स्थापित

हो जाता है। आचार्य सोमदेव ने दण्ड को दोष-विशुद्धि का कारण कहा है। जैसे चिकित्सा शास्त्र शारीरिक विकारों को दूर करने का निमित्त होता है—“चिकित्सा आगम इव दोष विशुद्धिहेतु-दण्डः। इस प्रतिक्रमण के द्वारा आत्मगत दोषों का निवारण होकर आत्मा में विशुद्धता उत्पन्न होती है। यह आध्यात्मिक सुधार की पद्धति बाह्य कानून या राज्याज्ञा की शक्ति के बाहर की वस्तु है। बाह्य कानून के निर्माता तथा प्रयोक्ता स्वयं रागादि विकारों तथा परिग्रहादि पर पदार्थों के प्रति आसक्ति के कारण अपराधी होते हैं। वे जब स्वयं महान दण्ड भोगने के पात्र हैं, तब उनका शासन निरपराध पुण्यचरित्र साधुसमुदाय के लिए नीरोगता के स्थान में उत्पात उत्पादक हुए बिना न रहेगा। अतः वे मुनिजन सम्पूर्ण विकृतियों के विजेता जिनेंद्रदेव के शासन के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं, तथा उनकी वाणी को पूज्य मान उनकी आज्ञाका कभी भी अतिक्रमण नहीं करते हैं। प्रमादवश दोषों की उद्भूति होने पर जिनवाणी की अमृत ओषधि को वे ग्रहण करते हैं। विषय रोगों के सताये हुए बड़े २ विवेकी शासक इन मुनियों के उपदेश में आत्मत्राण का उपाय पाते हैं।

गिबन्स नामक विद्वान ने लिखा है ‘सुधार का कार्य अतकरण से होना चाहिए, बाहर से नहीं। सद्गुण के लिए कानून नहीं बना सकते।’^१ उसका भाव यह है कि नैतिक सुधार और सद्गुणों की अभिवृद्धि कानून के बल की वस्तु नहीं है। उसके लिए अतकरण को ही तैयार करना आवश्यक है। मुनियों के जीवन सुधार में आंतरिक प्रवृत्तियों के संयमन तथा सशोधन को ध्यान में रख प्रतिक्रमणादि का आश्रय लिया जाता है। जो यह सोचते हैं कि ये मुनिजन निरंकुश तथा स्वच्छन्द रहते हैं, अतः इनके विषय में वे अपने नियमों का प्रतिबंध लगाने की इच्छा करते हैं। ये बड़े भारी भ्रम में हैं। इन मुनियों का जीवन संवेदा आगम के अंकुश की सादर स्वीकार करता है तथा उनकी निरन्तर प्रवृत्ति जीवन के सशोधन तथा अहिंसा पुनीत चरित्र गठन में सलग्न रहती है। प्रतिक्रमण आदिका पूर्णतया परिशीलन करने से ज्ञात हो सचता है, कि मोहादि विकृतियों को दूर करने के लिये जिनेंद्र के शासन में कितनी सूक्ष्म गम्भीर तथा मनोवैज्ञानिक अतः सुधार की पद्धति अपनाई गई है।

१ “Reform must come from within, not from without. You cannot legislate for virtue.”

सत्तार सिन्धु में डूबती हुई कर्म भारवाली आत्मा का परिमाण प्रतिक्रमणादि के द्वारा होता है तथा वह सबद्ध-मुक्त स्थिति को प्राप्त करती है। प्रतिक्रमण के द्वारा सर्वदा शोधित आत्मा में कर्मों की मलिनता वा संचय नहीं हो पाता है और वह आत्म-प्रकाश द्वारा निर्वाण मार्ग को देखकर स्वस्वोपलब्धि की ओर गीप बढ़ती है।

प्रत्याख्यान

मुनियों के आवश्यकों में प्रतिक्रमण के समान प्रत्याख्यान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य अफलकदेश लिखते हैं, "अतीत दोषोपा निवारण प्रतिक्रमण द्वारा होता है, तथा अनागत-आगामी दोषों की निवृत्ति प्रत्याख्यान से होती है।" आचार्यार में लिखा है—“मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक आगामी काल में भी नाम स्थापना आदि के भेद से अयोग्य का परिहार करना प्रत्याख्यान कहा है।” समयसार में लिखा है—“जिस भावके होने पर जो आगामी काल में शुभ तथा अशुभ कर्म बंधते हैं, उस भाव से जो आत्मा दूर होता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं।” इस विषय में टीकाकार जयसेनाचार्य लिखते हैं—“शुभ तथा अशुभ रूप अनेक भेदों से विस्तृत आगामी कर्म, मिथ्यात्वादि, रागादि परिणाम के होने पर वचन को प्राप्त होते हैं। इस कारण अभेद रत्नत्रय रूप में स्थित तपोधन के ही निश्चय नय से निश्चय प्रत्याख्यान होता है।” मूलाचार्य में लिखा है—“मन, वचन, तथा काय से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप छह प्रकार के अनागत तथा वर्तमान अयोग्यो अर्थोत् पाप के कारणों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।”

“आगामी दोषों के निवारण के हेतु मन वचन काय से नामादि छह प्रकार के पाप के कारणों का परिहार करना प्रत्याख्यान कहा है।” “जिसका अतिक्रमण शुद्धोपयोग के योग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के सेवन से पवित्र है, जो शरीर से पृथक् आत्मा को प्राप्त करता है, वह साधु पर द्रव्य ग्रहण रूप अपराध के लेश से भी अगवधित होता हुआ मोक्ष मार्ग की आराधना करता है।” (अ धर्म ८-६७)

प्रत्याख्यान के नामादि छह भेदों का मूलाचार्य टीका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है। पाप के हेतु, विरोध के कारण अयोग्य नामों

पाने नहीं करना, न करवाना और न अनुमोदन करना नाम-प्रत्याख्यान है। पाप वध की वारण भूत अयोग्य स्थापना है, जो मिथ्यात्वादि का प्रवर्तन कराती है, अपरमार्ग रूप देवतादि के प्रतिविम्ब है, पाप के वारण द्रव्य रूप है, उनको न करना, न कराना और न अनुमोदना करना स्थापना प्रत्याख्यान है। पाप वध की वारण द्रव्य सावध-द्रव्य है तथा निर्दोष द्रव्य भी तपो निमित्त त्यागी जाने पर न खाना चाहिए, न सिलाना चाहिए और न अनुमोदना की जाना चाहिए, यह द्रव्य-प्रत्याख्यान है। असयम के हेतु भूत क्षेत्र को छोड़ना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है। असमाधि निमित्त भूतवाल का मन वचन काय रूप शिवा त्याग करना काल-प्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व समय, वपायादिक का त्रिविध रूप से, मन वचन काय से परिहार करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अंतर है इस विषय में भी मूला-चार की टीका का विवेचन ध्यान देने योग्य है।

प्रदन्-प्रतिश्रमण और प्रत्याख्यान में क्या विशेषता है ?

उत्तर-यह दोष नहीं है, अतीत कालीन दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है। अनागत तथा वर्तमान काल में द्रव्यादि के दोष का त्याग करना प्रत्याख्यान है-इस प्रकार दोनों में भेद है।

तप के लिए निर्दोष द्रव्यादि का परित्याग प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण दोषों के दूर करने के लिए ही किया जाता है।

शक्वाकार बहता है-‘यदि प्रतिक्रमण का यह लक्षण है, तो समाधि-मरण के समय किया जाने वाला औत्तमस्थानिक प्रतिक्रमण नहीं बनेगा, वारण उसमें प्रतिक्रमण के लक्षण का अभाव है। उसमें दोषों का लगाना और पुनः दोषों को दूर करना नहीं पाया जाता है।’ ऐसा नहीं है, इसमें भी प्रतिक्रमण के समान प्रतिक्रमण है, इस प्रकार उपचार में उक्त प्रतिक्रमण को प्रतिक्रमण कहा है।

इस उपचारका क्या कारण है? प्रत्याख्यान सामान्यपना उपचार का हेतु है। उत्तम स्थानिक प्रत्याख्यानमें प्रतिक्रमण के उपचारका क्या कारण है? पंच महाव्रत ग्रहण काल में शरीर हेतुक वपाय सहित आहार का त्याग कर दिया था। अन्यथा शुद्धनय के विषयभूत महाव्रत के ग्रहण की अनुपपत्ति होगी। उस आहार को मंने शक्ति की विकलतावश इतने काल पर्यन्त पंच महाव्रत को भंग करते हुए ग्रहण किया। इस प्रकार अपनी आत्मा की

गहाँ करके उत्तम स्थान कालमें प्रतिग्रमण की प्रवृत्ति का ज्ञान कराने के लिए वही प्रतिग्रमण का उपचार दिया है। (जयघवला ५ ११५-११६)

समयसार की टीका में अमृतचंद्र सूरिने प्रतिग्रमण के जिस प्रकार उन्चास विकल्प किए हैं, उसी प्रकार प्रत्याख्यान के भी भग लिखे हैं। अंतर इतना है कि प्रतिग्रमण में अतीत दुष्कृतो के विषय में मिथ्यापना कहा गया है और प्रत्याख्यान में अनागत दोषो का मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदना की अपेक्षा त्याग का वर्णन है।

नियमसारमें निश्चय प्रत्याख्यानका स्वरूप इस प्रकार कहा है, "जो सर्व वचन जाल को छोड़कर अनागत शुभ अशुभ सभी कर्मों का वारण करते हुए आत्मा को ध्याता है, उसके प्रत्याख्यान होता है। व्यवहारनय की अपेक्षा मृनिगण आहार के पश्चात् प्रतिदिन पुन योग्यकाल पर्यन्त अन्न पान खाद्य लेह्य सम्बन्धी रुचिका त्याग करते हैं, यह व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है। "निश्चय नय से शुभ अशुभ समस्त वचन व्यवहार का परित्याग कर शुद्धज्ञान भावना की आराधना के प्रसाद से आगामी शुभ अशुभ द्रव्य भाव कर्म का सबर प्रत्याख्यान है। जो सदा अतर्मुख होकर अपनी चित वृत्ति द्वारा परमकला के आधार अपूर्व परमात्मा का ध्यान करता है, उसके सदा प्रत्याख्यान होता है।" (नियमसार टीका पृष्ठ ७७)

समयसार की टीका में लिखा है—

"मं मोह रहित हो आगामी समस्त कर्म का प्रत्याख्यान करके चैतन्य रूप कर्म रहित आत्मा में आत्मा के द्वारा सदा वर्तता है।"

व्युत्सर्ग

छठवें आवश्यक कायोत्सर्ग का स्वरूप तत्त्वार्थ राजवार्तिकार ने इस प्रकार लिखा है:—"परिमितकाल तक शरीर में ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।" इसे व्युत्सर्ग भी कहते हैं।

"स्तुति वदनादि विधायो से शरीर से ममत्व का त्याग करना तथा बाह्य अंतरंग लक्ष्मी विभूषित पंच परमेष्ठियो का स्मरण करना अथवा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्वासोच्छ्वास को ध्याम देना कुम्भक, पूरक, रेचक, के द्वारा पंच परमेष्ठी का जप करना व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग है।"

१ परिमितकाल-विषया शरीरे ममत्व-निवृत्तिः कायोत्सर्गः,

(६-२४ पृ. २६६).

कायोत्सर्ग का अर्थ काय वा उत्सर्ग है । काय शब्द से काय में ममत्व का ग्रहण किया गया है, कारण ममत्व का आवास काय में रहता है । अतः आधेय का आधार में ग्रहण किया है । इससे काय में ममत्व का त्याग यह कायोत्सर्ग का अर्थ होगा । कहा भी है—“वाय में स्थिति ममत्व को, वाय स्थिति वाला होने से वाय कहते हैं, उसका त्याग करना जिनविम्ब की आकृति धारी मुनि का कायोत्सर्ग है ।” मूलाचार में लिखा है, “दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिकादि नियमों में भागमोक्त काल में आगम कथित प्रमाण जिन भगवान के गुण चित्तमें रत होकर शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है” । “सर्वांग जलन रहित, स्थित तथा बैठे हुए की शुभध्यान की वृत्ति कायोत्सर्ग है । जिसके यह कायोत्सर्ग होता है, वह कायोत्सर्गी कहलाता है, वह असंयत सम्बद्धि आदि भ्रष्टात्मा रूप है” । यह छह प्रकारका है— “कठोर तीक्ष्णादि सावध नाम के द्वारा आगत अतीचार के शोधनार्थ किया गया कायोत्सर्ग नाम—कायोत्सर्ग है । पाप की स्थापना के द्वारा आगत अतीचार के शोधनार्थ कायोत्सर्ग परिणत प्रतिबिम्बता स्थापना—कायोत्सर्ग है । सावध द्रव्य सेवा के द्वारा आगत अतीचार निवारणार्थ किया गया कायोत्सर्ग द्रव्य—कायोत्सर्ग है । सावध क्षेत्र सेवन द्वारा आगत दोष ध्वसन के हेतु किया गया कायोत्सर्ग क्षेत्र—कायोत्सर्ग है । सावध बालाचरण द्वारा आगत दोष परिहार के लिए किया गया कायोत्सर्ग काल—कायोत्सर्ग है । मिथ्यात्व आदि अतीचार के शोधनार्थ किया गया भाव—कायोत्सर्ग कहा गया है ।”

कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं, “जिसमें लम्बी भुजा लटक रही है, पैरों के मध्य में चार अंगुल का अंतर है, तथा संपूर्ण अंग चंचलता रहित है, वह विशुद्ध कायोत्सर्ग होता है ।” मोक्षावर्ती, निद्राविजेता, मूत्र तथा उसके अर्थ में प्रवीण, शुद्ध परिणाम युक्त, आत्मबल, वीर्ययुक्त तथा विशुद्धात्मा कायोत्सर्ग करनेवाला होता है ।

कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष का है और जघन्य प्रमाण अतमूहृत है । मध्यम के अनेक द्विवल्प होते हैं अर्थात् एक अतमूहृत के ऊपर और वर्ष के भीतर दिवस रात्रि, आदि अनेक भेद होते हैं । दैवसिक प्रतिश्रमण के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए । अर्थात् ३६ बार पन्नवमस्कार का मनमें जाप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिश्रमण में

जीवन उच्छ्वास करना चाहिए। पाक्षिक प्रतिक्रमण में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए। वीर भक्ति कायोत्सर्ग काल में और सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशतिभक्ति करने के समय प्रमाद रहित होकर मुनि की उच्छ्वास प्रमाण जप करना चाहिए।

उच्छ्वास के विषय में अनार धर्मांमृत की टीका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं इन दो पदों का चिन्तन एक उच्छ्वास है। इस प्रकार णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं यह चिन्तन दूसरा उच्छ्वास हुआ। तथा णमो लोए सव्वसाहूणं यह चिन्तन तृतीय उच्छ्वास है, इस प्रकार णमोकार मंत्र की गाथा के तीन प्रकार चिन्तन करने में तीन उच्छ्वास होते हैं, नौवार चिन्तन करने पर सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं।” (अ. धर्म. ८-७१)

कायोत्सर्गका यह कथन महत्वपूर्ण है “भवत पान अर्थात् आहार ग्रहण के पश्चात् गोचार प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास कहे हैं, एक ग्राम से ग्रामान्तर गमन में, जिनेन्द्र के निर्वाण, समवधारण, केवल-ज्ञान, दीक्षा, जन्म स्थानों की वंदनार्थ गए हुए साधु को पच्चीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। श्रमण-शय्या अर्थात् जहाँ साधु का देह विसर्जन हुआ हो, उस स्थान की वंदना के उपरांत लौटने पर, शौच के लिए बाहर जाकर वापिस आने पर, अपनी वसतिका में पच्चीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग कहा है।

“ग्रंथादि के प्रारम्भ काल में, प्रारब्ध ग्रंथ की समाप्ति काल में, कामोत्सर्ग में, सत्ताईस उच्छ्वास मात्र जप करना चाहिए। स्वाध्याय विषयक कायोत्सर्ग एवं वंदना में मनमें अशुभ परिणाम उत्पन्न होने पर सत्तावीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने से जंसे अगोपांगो की सधिया भिद जाती है, उसी प्रकार कर्मरज भी अलग हो जाती है। क्षेत्र, काल, शरीर, संहनन, बल, वीर्य आदि का ध्यान रखकर कायोत्सर्ग करने की आज्ञा है।”

शेष मूलगुण

मुनियों के मूल गुणों में दाढी, मूँछ और मस्तक के केशों का हाथ से उखाड़ने का विधान है। इसका कारण उनका पूर्णतया स्वावलम्बी जीवन अहिंसात्मक वृत्ति का परिरक्षण और शरीर के प्रति उत्कृष्ट विरागता की जागृत भावना है। केशों को न कटाकर जटाका रूप बनाने से जूँ आदि जीवों की उत्पत्ति होगी और उनके द्वारा त्रास दिये जाने पर सहसा मस्तक में खुजली आने पर हाथ के पहुँच जाने से उनका सहज ही घबहा जायगा और भी अनेक उपद्रव होंगे तथा उनके निमित्त से चित्त में अनेकाग्रता उत्पन्न होगी, अतएव निस्पृहता, अकिञ्चनता, तथा अहिंसा की जीती जागती भूति दिगम्बर मुनिराज शान्त भाव से केशों को हाथों से उखाड़ देते हैं। उनकी आत्म-निमग्नता का प्रेक्षक के अंतकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विषयान्ध मानव के मन में विचार उत्पन्न होने लगते हैं, कि कहा इन निस्पृही साधुओं का स्वाधीन जीवन और कहा हमारा, जो निरन्तर वस्तुओं के सचय और सग्रह की लालसा में ही लिपटा रहता है और चिन्ताभण्ड रत्न के समान नर जन्म को भोग-राधना में नष्ट कर देता है। व्यसनी तथा हीनाचरण वाले स्वच्छन्द खान पान वाले साधु नाम धारी भी जैन मुनि की केशलोच रूप स्वाधीन वृत्ति को देख अपने हीन जीवन और लम्बे चौड़े नाम को सोच मन ही मन अपनी हीनता का अनुभव करने लगते हैं।

आचार सार में लिखा है:-

“दाढी, मूँछ तथा मस्तक के केशों का लोच करना केशलोच कहलाता है। सके द्वारा परीपहो पर विजय प्राप्त होती है, किसीके पास दीनता नहीं धारण करनी पड़ती, वैराग्य भाव की वृद्धि होती है, परिग्रह के त्याग का भाव दृढ़ होता है, तथा समय का पालन होता है।” (१-२४)

“जो केश लोच चार माह में किया जाता है वह जघन्य है, जो तीन माह में किया जाता है वह मध्यम है और जो दो माह में किया जाता है, वह श्रेष्ठ है। केश लोच के दिन उपवास किया जाता है। लोच करने के अनंतर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह लोच दिवस में ही किया जाता है।”

यहा प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब छुरा आदि से केशों का दूर

किया जाना सम्भव है, तब उनको उखाड़ने का क्या रहस्य है ? आचार्य कहते हैं "दैत्यवृत्ति, याचना करना, परिग्रह रखना, परिभव होना आदि दोषों का निवारण केशों के लोच द्वारा होता है ।"—(मूलाचार टोका)

"मुनिराज के पास कौड़ी तक नहीं रहती है, जिससे नाई से बाल बनवावें । छुरा बर्बरह से चित्त में व्याकुलता रहेगी, अतः बाल बनाने को उसे नहीं रखा । जटादिक का धारण हिंसा का कारण होता है, क्योंकि स्वयं जूँ आदि उत्पन्न हो जाते हैं । अतः वैराग्यादि की वृद्धि के हेतु यतिगण केशों का लोच करते हैं ।"

अचेलता अर्थात् दिगम्बरत्व

पूर्णतया निराकुल, स्वाधीन, अहिंसामय जीवन का कारण होने से जैन मुनि बालक के समान निर्विकार नग्नता को धारण करते हैं । आत्मनिर्भरता, आत्मनिम्नता आत्मसाधना तथा आत्मशान्ति के हेतु शीत आदि ऋतुकृत बाधाओं की उपेक्षा करते हुए एवं विशुद्ध ब्रम्हचर्य का पालन करते हुए मुनिराज अचेलत्व का व्रत पालते हैं । वस्त्र को चेल कहते हैं अतः अचेलता का अर्थ दिगम्बरपना है । परिग्रह का लेश भी मूर्छा मोह का कारण बन आकुलता का हेतु बनता है तथा आत्म गौरव को दाति प्रदान करता है ।

इस विषय में स्व. बैरिस्टर श्री चपतराय जी ने लिखा है — "जैन मुनिराज, जिनका शीलव्रत अत्यन्त दृढ तथा अजेय होता है. दिगम्बर रूप में विहार करते हैं, इसका हेतु यह नहीं है कि वे सदावार पथ से किसी को विचलित करना चाहते हैं, किन्तु इसका असली हेतु यह है कि निर्वाण तब तक नहीं प्राप्त होता है, जब तक सांसारिक सामान तथा वस्त्रादि परिधान की अंतिम वस्तु का भी त्याग नहीं किया जाता है" इस सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से पहले विचार किया जा चुका है अतः संक्षेप में कथन करना उचित है ।

१ "The Jain saint, whose vow of chastity is of the most rigid and unbending type goes about naked not because he wishes to seduce any one from the Path of virtue but because Nirvana cannot possibly be attained without the renunciation of the very last article of apparel and worldly goods."

C. R. Jain : Sanyasa Dharna P. 55.

आचारसार में लिखा है—“अलवार, अनग-कामवासना, परिग्रह रहित तथा पत्तो की छाल, चमड़ा वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढाँकना अचेलक-दिगम्बरत्व श्रेष्ठ है” । (१-४४)

आचार्य पद्मनाभ ने लिखा है :-

“वस्त्र के मलिन होने पर उससे प्रक्षालनाथं जलादिका आरम्भ होनेसे जीवरक्षण रूप समय कैसे सधेगा? यदि वस्त्र फट गया, तो उससे नारण वित में क्षोभ होगा तथा महान आत्माओं को भी दूसरों से वस्त्र की भीख माँगनी होगी। कोपीन सदृश थोड़ा वस्त्र रखने पर यदि उसका दूसरों के द्वारा हरण हो गया तो तत्काल क्रोध उत्पन्न होगा; अतः सर्वदा पवित्र वीतराग, शम-सम्यक्त सयमियों का वस्त्र दिगम्बर ही रहता है ।”

सोमदेव भूरि ने लिखा है—“विचार के होने पर ही विद्वानों की दृष्टि में दोष माना जाता है, विकार विहीनता की प्रवृत्ति में नहीं। तब नैसर्गिक नग्नता में द्वेष-पाप का क्या स्थान है? अकिंचनता तथा अहिंसा का पालन सयमी कैसे कर सकेंगे, यदि वे बत्तल, चर्म, वस्त्र वे परिग्रह की आकांक्षा करते हैं?”

पात्र केसरि-स्तोत्र में बड़ी सुन्दर विवेचना की है—“जिनेश्वर! आप के मत में पट, वस्त्र, पात्र का ग्रहण नहीं बताया गया है, उनको सुख का साधन सोच सामर्थ्य शून्य लोगों ने उनकी कल्पना की है। यदि वस्त्रादि को धारण करना भी मोक्ष का मार्ग है, तो नग्नता व्यर्थ की वस्तु हो जायगी? भला, जब हाथ से ही सरलता पूर्वक वृक्ष से फल प्राप्त हो सकते हैं, तब कौन व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ेगा?” (श्लोक ४१)

आचार्य देवसेन भावसंग्रह में लिखते हैं—“यदि वस्त्रादि परिग्रह सहित निर्वाण की प्राप्ति होती, तो तीर्थंकर रत्न कोप के साथ अपने राज्य का क्यों परित्याग करते और जनशून्य जंगलों में जाकर रहते।” (८८)

कोई तार्किक पूछे कि हमें तीर्थंकरों की प्रवृत्ति मार्ग प्रदर्शन नहीं करा सकती, संभव है उन्हें उस समय वह तत्त्व समझ में न आया हो, जो हमें आज आया है, सत्य की उपलब्धि श्रम और शोध साध्य है अतः बड़ो का नाम न बता परिग्रह के ग्रहण में क्या बुराई है, यह कहिए? इसका समाधान पात्रकेसरी इस प्रकार करते हैं “परिग्रहधारी सत्पुरुषों के पास नियम से भय का आवाह रहता है। उसके निमित्त से प्रकोप तथा जीव घात होता है। कठोर । मिथ्या वाणी निकलती है। भगता रही आती है। चोर के

निमित्त से मन में भ्रांति होती है, अतः कलुष चित्तवालोंको उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान की कैसे उपलब्धि हो सकती है ?”

शरीर में वस्त्रादि परिधान के धारण द्वारा निराकुलता द्वारा साध्य निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती तथा परिपूर्ण अहिंसा का जीवन भी वस्त्र धारण की स्थिति में असंभव रहता है। जिस प्रकार पवन के प्रहार से जल में अनवरत लहरें उठती ही रहती हैं उसी प्रकार वस्त्रादि के संपर्क द्वारा रागादि विकल्प सदा उदित हुआ चरते हैं। विह्वलि जनक परिग्रह का संपर्क छूटने से शान्ति की उपलब्धि सरल हो जाती है। एक चीनी विद्वान ने सुन्दर बात लिखी है। वह पूछता है “भला बताओ पकिल पानीको कौन निर्मल बना सकता है ? उसका स्वयं उत्तर इस प्रकार देता है कि “यदि उस जल को तुमने अकेला छोड़ दिया, तो वह स्वयं निर्मल हो जाता है।” इस कथन के प्रकाश में यह कहना ठीक होगा, कि परिग्रह के संपर्क दूर होने से आत्मा की वृत्ति स्वयं परिशुद्धता की प्राप्ति करती है। अतः दिगम्बरत्व की महत्ता को शिरोधार्य करना तर्क संगत बात है।

परिग्रह त्याग महाव्रत में इसका अंतर्भाव हो जाता है, किन्तु इस पर विशेष जोर देने के लिए तथा इसकी प्रधानता को सूचित करने के लिए पृथक् रूप से अचेलव्रता का उपदेश दिया गया है।

भूमि शयन व्रत

भूमि शयन नामक मूलगुण पर आचारसार में लिखा है “मुनियों को शुद्ध प्रासुक तथा अपने द्वारा जिसे सस्त्रुत नहीं किया गया है, ऐसी भूमि, शिलातल आदि पर एक ही करवट धनुष दंड के समान सोता भूमि शयन कहा है। मूलाचार में लिखा है “प्रासुक अर्थात् जन्तु रहित भूमि प्रदेश में, जहाँ शयन के लिये सुखद तनिक भी हरियाली नहीं, जहाँ अल्प सस्तर है अर्थात् तृण मय काण्ड वा फलक अथवा शिला-तल पर एकान्त प्रदेश में धनुष के दण्ड के समान एक करवट से, न अपीमुख और न सीधे लेटकर शयन करना क्षितिशयन व्रत है”।

“The Chinese philosopher, Lao Tze, asked, who is there who can make muddy water clear ?” and answered “If you leave it alone it, will become clear of itself”

Quoted in Indian Philosophy p

इन्द्रिय जनित सुख को दूर करने के लिये तप की भावना के हेतु तथा शरीरादि में निस्पृहतादि के लिये भूमि-शयन किया जाता है ।

अनगारधर्माभूत में लिखा है—“मुनि अपने शरीर प्रमाण स्वल्प सस्तर पर अथवा तृणादि-तृण काष्ठ शिलादि पर, तृणादि से जो आच्छादित न हो ऐसे भूतल पर सीधा, या औघा न होकर एक बरबट शयन करे ।” मुनियों को नींद भी बहुत कम आती है । शीघ्र ही निर्वाण जाने की तैयारी के कारण वे अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग आत्म चिन्तन, आत्म ध्यान पंचपरमेष्ठी की आराधनामें करते हैं। चोरोकी नगरीमें पहुँचे हुए पथिक को नींद बठिनता से आती है । वह अपने जानमाल को रक्षार्थ सावधान रहता है। इसी प्रकार कर्मचारों द्वारा आत्म निधि न लुट जाय, इससे मुनिराज अल्प निद्रा लेते हैं । मोह नींद के दूर हो जाने से मुनिराज आत्म-स्वरूप में सतत जाग्रत रहते हैं, जबकि जगत्वासी जीव आत्म कल्पाण के कार्य में सदा सोते रहते हैं ।

मुनिराज प्रहरी के समान रात्रि के समय जाग्रत रहकर आत्म गुणों का चिन्तन करते हैं । कहा भी है—“जिस रात्रि में जगत सोता है, उसमें मुनि जागते हैं।” उनका सात्त्विक आहार, सयमी जीवन योड़ी सी नींद से शरीर में स्फूर्ति प्रदान करता है और शरीर उनके धर्म साधन में सेवक की भाँति तत्पर हो जाता है । ससारी जीवों के समान शरीर उन पर अपनी आज्ञा नहीं चला सकता है ।

स्थिति भोजन

मुनियों का सत्तावीसवा मूलगुण स्थिति भोजन—खड़े खड़े अपने करपात्र में आहार ग्रहण करना है । आचारसार में लिखा है—“शुद्ध भूमि पर दोनों पैरों को समान अंतर से रखकर निराधार खड़े होकर द्रव्य, दाता और पात्र इन तीनों की शुद्धतापूर्वक दोनों हाथों से भोजन करना स्थिति भोजन है ।” दोनों हाथों की अङ्गुलि बनाकर करपात्र में मुनिराज आहार लेते हैं । संपूर्ण परिग्रह के त्यागी होने के कारण वे कोई भी पात्र का उपयोग नहीं करते हैं । दोनों हाथों का जब तक बराबर सग्रह रहता है, तब तक ही वे आहार करते हैं । वदचित्त अङ्गुलि खुट जाय, तो वे अन्तराय समझ आहार छोड़ देते हैं । दोनों पैरों में चार अङ्गुली का अंतर रहता है । वे निराधार खड़े रहते हैं । दीवाल आदि का आश्रय नहीं लेते हैं । दिगम्बर होकर पाणिपाय में खड़े खड़े भोजन करते समय मुनि की निर्विकार शील-पूर्ण वृत्ति भी सबके नयनगोचर हो जाती है ।

मूलाचार में लिखा है—मुनिराज खड़े होकर अंजुलि पुट के द्वारा (करपात्र में) आहार लेते हैं । वे भित्तीका आश्रय ले अथवा बैठकर या लेटे हुए आहार नहीं लेते हैं । दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखते हैं, तथा परिशुद्ध भूमि त्रिक में खड़े होकर आहार लेते हैं ।” (१-३४) जिस स्थान पर खड़े होकर मुनि आहार लेते हैं, ऐसा उनके चरणों का भूमि प्रदेश उच्छिष्ट जहा गिरता है, वह भूमि तथा जहां दाता खड़ा है, ऐसे तीन स्थान जीव वधादि दोषों से रहित होना चाहिए । ऐसे प्रदेश में खड़े होकर दीवाल आदि का अवलंबन न ले करपात्र में आहार लेना स्थिति भोजन है ।

मुनिराज केवल दिन में ही एक बार भोजन पान करते हैं, दुबारा नहीं । मुनिराज खड़े होकर क्यों आहार लेते हैं ?

इस शंका के समाधान में आचार्य कहते हैं, “जब तक मेरे हाथ पाँव बराबर चलते हैं तब तक आहार ग्रहण योग्य है, अन्यथा नहीं । यह यात स्थिति भोजन से ज्ञात हो जाती है । मैं अपने हाथों में ही बैठकर भोजन न करूँगा, अन्य के हाथ से भी नहीं करूँगा, वर्तन में आहार नहीं लूँगा।” इस प्रतिज्ञाके पालनार्थ उपरोक्तसमझना चाहिए। इसके सिवाय अपना करतल शुद्ध होता है, अन्तराय के आने पर बहुत अनाज को नहीं छोड़ना पड़ता है, अन्यथा पूरी की पूरी धाली छोड़नी पड़े, उसमें दोष होगा । इन्द्रिय संयम प्राणि संयम के पालनार्थ मुनि स्थिति भोजन करते हैं ।

अस्नान व्रत

मुनिराज अपनी आत्मा को सदगुणों से अलंकृत करते हैं । जब आत्मा सुसंस्कृत हो जाती है, तब वनात्मरूप अशुचि मय शरीर को सजाने सुन्दर बनाने की ओर ध्यान नहीं जाता । जब पवित्र और स्थायी सौन्दर्य के सिन्धु आत्मत्व पर दृष्टि जम जाती है, तब पुद्गल का सौन्दर्य नश्य दिखना है और तत्त्वज्ञान की पंखी दृष्टि के समक्ष वह अपवित्रता अशुचिता बीभत्सता का भयंकर संग्रहालय दिखाई देता है । ऐसी घृणा की भूमि को सजाने में आत्मवान् सुसंस्कृत समुन्नत चेतस्क साधु कैसे तत्पर होगा ? इसलिए दिगम्बर मुनिराज स्नान स्थापन करते हैं । सामान्यतया जगत् शुचिता के लिए स्नान को साधन मानता है, किन्तु मुनियों की दुनिया भिन्न प्रकार की है । वहा सत्य का सूर्य प्रकाश देता है अतः शरीर का सम्पर्क स्वरूप दृष्टि पथ में आजाने से उसकी शुचिता

के हेतु जलादि का प्रयोग करना मलराशि के शोधन के समान व्यर्थ का प्रयास दिखता है। वे पुण्याचरण के द्वारा अपनी आत्मा को निरंतर उज्ज्वल बनाते रहते हैं। शरीर की वास्तविक स्थिति उन्हें भुलावे में नहीं डाल सकती है। वे इसकी संपूर्ण परिस्थिति से परिचित हैं।

मूलाचार में लिखा है—“संसार से वैराग्य को प्राप्त मुनिराज इस शरीर को हड्डी, चमड़ा, मांस, पित्त, कफ, रक्त इत्यादि अपवित्र पदार्थों के संग्रह (Store) के रूप में देखते हैं। यह शरीर रूपी घर हाड़ों में मठा और नसाजाल से जकड़ा हुआ है। सर्व अपवित्र पदार्थों से तथा कृमि-कुल से पूर्ण है, मांस से व्याप्त है। चर्म से आच्छादित है। इससे ऊपर से सुन्दर दिखता है, किन्तु यह सदा ही अपवित्र रहता है।” (९-८२, ८३)

जब शरीर का यथार्थ स्वरूप इस प्रकार है तब सत्पुरुष इसमें कैसे आसक्ति करेंगे, ? हा ! मोहकी मदिरा के कारण जिसका विवेक विलुप्त हो गया है, वह इस तथ्य को न जान ऊपरी लुभावनी मोहकता को ही परमायं मान इसके पीछे दीवाना बनकर सर्व अनर्थों के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहता है।

आचार्य देवसेन कहते हैं—“देह सर्वदा मलिन है, देहो सदा निर्मल अरूपी है। अतः जल से किसकी शुद्धि होगी। इस कारण स्नान द्वारा शुद्धि नहीं होती।” “यह आत्मा एक नदी के सदृश है इसमें सत्य रूप जल भरा है, संयमरूपी घाट है, शील रूप तट है, दया की लहरों से व्याप्त है। हे पांडु पुत्र इस ! पुण्य नदी में डुबकी लगाने से आत्मा पवित्र होती है। भला वही जल से भी आत्मा की शुद्धि होती है ?” (महाभारत)

आत्मा की शुद्धि का उपाय क्या है, इसे देवसेन सूरि बताते हैं—“जिस प्रकार अग्नि के योग से सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह जीव, जो कि रत्नत्रय से संयुक्त है, इंद्रिय रूपी खलो के निग्रह रूप श्रेष्ठतप के द्वारा शुद्ध होता है।” “व्रत, नियम, शील को धारण करने वाले, कपार्यों का नाश करने वाले, दया में तत्पर तथा ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले मुनिगण स्नानरहित

१ सुजज्ञ इ जीवो तवसा इन्द्रियखल-णीगहेण परमेण

रणतयसजुत्तो जह कण्यं अग्निजोगेण ॥२१॥

होतेहुए भी सर्वदा शुद्धरहते हैं।" गृहस्थोंके लिए स्नान द्वारा शुद्धि का वर्णन है। बिना स्नान के उनको भगवान की पूजा का अधिकार नहीं है। गृहस्थ एक-देस हिंसा का त्यागी है, वह आरम्भ परिग्रह में निरन्तर लगा ही रहता है। उसको व्यवहार शुद्धि आवश्यक है। जो निश्चय पथ के पथिक है, ऐसे मुनियों की शुचिता उनकी पुण्य प्रवृत्ति द्वारा सदा रही आती है। शरीर के जिन अंगों से मल मूत्र का क्षेपण होता है उनको वे मुनिराज अपने कमण्डलु के जल से शुद्ध करते हैं। अतः स्नान द्वारा शरीर की शुचिता न करने पर उनमें दोष नहीं रहता है। इस सबध में सन्यास धर्म में लिखा है—

"मुनि को स्नान करने की निषेधाज्ञा है क्योंकि ऐसा करते से उन्हें अपने शरीर की ओर ध्यान देना होगा, गंदगी या अस्वच्छता का यहा प्रश्न नहीं है। उनको स्नान करने या दातों को स्वच्छ करने की अवकाश नहीं है। उन्हें अपने जीवन के सबसे बड़े सवर्ष-मृत्यु के विरुद्ध सग्राम-के लिए तैयार होना है, अतः वे अपने समय और अवसर को बाह्य शरीर को सजाने और सुन्दर बनाने में बरवाद करने में असमर्थ रहते हैं।"

साधु की शरीर के प्रति अनासक्ति तथा उसकी सजावट के प्रति पूर्ण उपेक्षा उनके आत्म चिंतन और ब्रह्मपथ की ओर प्रयत्नशील कदम को बताते हैं। साधुत्व के स्वरूप को वहिर्दृष्टि वाले नहीं समझ पाते, कि वह महात्मा अतर्पृष्ठा बन गया है अतः वह अन्तर्मानव (inner-man) का सतत ध्यान रखता है। सुबरात ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ कहता है "मुझे ऐसा कर दो कि मैं अपनी आत्मा के भीतर सौन्दर्य समन्वित बन जाऊँ" यह अतः सौन्दर्य दिगम्बरमुनिया को जिन शासन की शरण से सहज ही प्राप्त होता है।

"1 The saint is not allowed to bathe, for that will be fixing his attention on the body. There is no question of dirt or untidiness. He has no time to think of bathing or of cleaning his teeth. He has to prepare himself for the greatest contest in his career, namely the struggle against death and cannot afford to waste his time and opportunity in attending the beautification and embellishment of his outward person."

Sanyas Dharma P 46

2 Grant to me that I be made beautiful in my soul within" (Philo-Phaedeus)

मुनियों का शरीर दिग्म्वर होने के कारण सदा पवन का सर्वोप में स्थित प्राप्त करता है। प्रकाश और सूर्य की किरणों के कारण उनका शरीर स्नाना भाव में भी पर्याप्त स्वच्छता संपन्न रहता है। प्रकृति प्रदत्त मृदा धारी मुनिराज का पवन, प्रकाश द्वारा निरन्तर बहिर्स्नान होता है तथा ब्रह्मचर्य, अहिंसा सयमादि द्वारा अंतः शुचिता का भी उनको अपूर्व सोभाग्य प्राप्त होता है।

अस्नान मूलगुण के विषय में अनगार धर्माभूत में लिखा है—“ब्रह्म चारियों को, विशेषकर आत्मदर्शी मुनियों को जल शुद्धि से प्रयोजन नहीं है। अथवा वह जल शुद्धि दोनों के अनुसार जिनागम में कही गई है।” (१-१८)

शरीर का अतः विचार स्नान के अभाव में यदि राज आदि के रू बहिर्भूत होकर शरीर को आश्रान्त भी करले तब भी मुनिराज स्नान नहीं करते हैं। यह भी जितेन्द्रिय मुनियों की बहुत बड़ी सपना है।

सोमदेव मूरि ने लिखा है कि “जो रागद्वेष मदसे उन्मत्त हैं स्त्री आसक्ति युक्त हैं, वे संकटों तीर्थों में डुबकी लगाने पर भी अपवित्र रहते हैं।”

रागद्वेष मदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।

न ते कालेन शुध्यन्ति स्नातास्तीर्थ-शतैरपि ॥

आचारसार में लिखा है:—

सयमद्वयार्थं स्नानादेवर्जनं मुनेः ।

जलस्वेदमलालिप्त-गात्रस्यास्नानता मता ॥४५॥

“इन्द्रिय सयम तथा प्राणी-संयम के रक्षणार्थं जल, स्वेद, तथा मल लिप्त शरीर वाले मुनिराज का स्नानादि का न करना अस्नान व्रत माना गया है।”

अदन्त धावन व्रत

अस्नान व्रत के समान दन्त धावन न करना भी मुनियों का मूलगुण है। आचारसार में लिखा है:—

“भोग्यो तथा शरीर के स्वरूप के जानने उत्पन्नसे वैराग्य मदिरों में रहनेवाले मुनियों के पाषाण, अगुली, वृक्ष की डाल, नखादि के द्वारा दांतों का नहीं घिसना दंतधावन न करना नाम का व्रत है।”

१ दशनावर्षेणं पाशाणागुलोत्पट्टनखादिभिः ।

स्यादृताघर्षणं भोगदेहवैराग्यमदिरे ॥ ४८ ॥

मूलाचार में लिखा है—“अगुली, नस, दातीन, तुण विशेष, पापाण, वृक्ष की छाल, मजन आदि के द्वारा दन्तमल का शोधन करना अदत्त धावन है। इससे संयम की गूप्ति वर्थात् इन्द्रिय समय का रक्षण होता है।”

प्रदन्-इमसे क्या लाभ होता है ? उत्तर-वीतराग वृत्ति सूचित होती है तथा जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन होता है।

हिन्दू शास्त्र स्मृतिरत्नाकर में लिखा है—

“राजन् जो उपवास के दिन दन्त धावन करता है, वह भयकर नरक में जाता है तथा चार युग पर्यन्त व्याघ्र के द्वारा खाया जाता है।”

शरीर शास्त्रज्ञका कथन है, कि जब पेटमें मलकी अधिकता तथा विकृति रहती है, तब उसकी ऊष्मा से जिह्वा और दाता में मलिनता का संचय होता है, इसी कारण रोगी के दातो की ओर जीभ की स्वच्छता की ओर ध्यान दिया जाता है। मुनिराज उपवास आदि तपश्चर्या के कारण शरीर को इतना अल्प मात्रा में आहार पहुँचाते हैं, कि उसे जठराग्नि तत्काल भस्म कर देती है, अतः पाचन क्रिया ठीक रहने से नैसर्गिक रीति में साधुओं के दंत और जीभ स्वच्छ रहते हैं। उनका मूल लक्ष्य है, आत्मीय स्वास्थ्य। आराम चिन्ता में निरन्तर सलग्न रहने के कारण उन महात्माओं का ध्यान शरीर की सुन्दरता आदि की ओर नहीं जाता है। उन के आत्म-शरीर की चिन्ता रहते हैं और इस मल मंदिर की सजावट के प्रति विमुख रहते हैं। यह वृत्ति मुनियों की उत्कृष्ट आध्यात्मिक शुद्धि और ब्रह्मनिष्ठा की सूचित करती है।

अनगार वर्मामृत में लिखा है ‘जब तब मैं अजुति बनाकर तथा खड़े होकर भोजन करने में समर्थ रहूँगा, तब तब मैं आहार ग्रहण करूँगा, जब ऐसी सामर्थ्य नहीं रहेगी, तब मैं आहार नहीं ग्रहण करूँगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा के पालनार्थ तथा इन्द्रिय और प्राणसमय के रक्षार्थ भी खड़े होकर आहार किया जाता है।’ (१-१३)

लुई जैको लियट ने लिखा है—“भोजन ग्रहण करने के लिए योगी को

१ उपवास दिने राजन् दन्त-धावन-वृत्तत्तर ।

२ स घोर नरक याति व्याघ्र-भक्षश्चतुर्गुणम् ॥

२ “The yogi should not sit down to eat”

(The Occult Science in India P 83 by Louis Jacolliot)

बैठना नहीं चाहिए।" मुनि जीवन की प्रवृत्ति आहार द्वारा शरीर पोषण की नहीं है, शरीर को आहार देते हुए उसके द्वारा आत्मा का पोषण करने की ओर उनकी दृष्टि रहती है। खड़े होकर आहार करने से इन्द्रियो पर विजय होती है, जीवों की रक्षा होती है। अत्यन्त अशक्त होते हुए भी मुनि अपने अर्जुलि पृष्ठ में पड़े होकर आहार लेंगे। जब इस साधना के योग्य शरीर न रहेगा, तब मुनिराज शांत भाव से रत्नत्रय धर्म की रक्षा करते हुए समाधि धारण करने को तैयार हो जाते हैं। जिस मृत्यु के नाम से ससार मय खाता है, जिन प्राणों के रक्षण निमित्त ससार में कितने और और वीन २ से पाप नहीं किए जाते हैं, उस मृत्यु का स्वागत करने को साधु सदा समुद्यत रहा करते हैं। पुद्गल शरीर को सदा नाशवान जानते हैं। आत्मा का अविनाशोपना उनके हृदय में जम गया है, अतः जीर्ण वस्त्र त्यागने के समान शरीर का छोड़ना वे मानते हैं। अनन्तकाल से आत्मा को भुला शरीर को आत्मा मानते रहे, अब ज्ञानी पुरुष मुनि बनने पर आत्मा को ही अपना शरीर मानते हैं। उसके सिवाय उनको और कोई भी वस्तु श्रिय नहीं लगती है।

जिस शरीर ने कर्मों का साथ दे, अनन्त भव में जीव को त्रास दिया, उस पर ज्ञानी ऋषियों का कैसे अनुराग होगा? इसकी समाराधना से रत्नत्रय की रक्षा नहीं बन पाती। इससे वे इसके फुलाने और समाने में तनिक भी तैयार नहीं रहते हैं। पेट का गड़्ढा पूरा करके जीवन की गाड़ी को खेंचना तथा समय का पायें लेना उनका लक्ष्य रहता है। वे निश्चय दृष्टि रखते हैं। कर्मों के नाश के लिए वे उद्यत रहते हैं। अतः कर्मों के प्राण बीज बनने के स्थान में वे स्वावलम्बी रहते हैं और असाता के उदय से तथा अन्तराय कर्म के कारण वस्तु का अलाभादि होने पर कर्मों को ही दोषी कहते हैं और विचारते हैं कि, समता भाव से अपने कष्टों का फल भोगने से पुनः यह कर्मोन्मी पितृराज इस जीव को नहीं कुछ देगा अतः कठोर तपस्या करना उनका लक्ष्य रहना है, जिससे उस तपस्विन में उनकी आत्मा शुद्ध हो जाय वे तपोवन हैं। तपस्वियों तपस्ति के सग्रह एवं सर्वधर्म में सतत अध्यवसाय रखते हैं। तप स्वस्था धर्म के सग्रह निमित्त अनेक प्रकार का कठोर समय करते हैं। इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है अतः बड़े २ कष्टों की भी परवाह नहीं करते हैं।

एक-भक्त

मुनियों का अट्ठाईसवां मूलगुण एक बार भोजन करना है। इसे 'एक भक्त' कहते हैं। आचारसार में लिखा है:-

"सूर्योदय के तीन घड़ी बाद तथा सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक मुहूर्त तक उत्तम; दो मुहूर्त तक मध्यम तथा तीन मुहूर्त तक भोजन करना अधन्य रूप से मुनिराज के एक भक्त कहा है।" मुनिराज सूर्योदय के पश्चात् तीन घड़ी तथा सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व तक सामायिक का काल छोड़कर आहार करते हैं। इतना विशेष नियम है, कि मुनि दिन में एक बार से अधिक आहार नहीं करते हैं।

एक भक्त-अर्थात् एक बार आहारपान ग्रहण करने का यह भाव नहीं है, कि प्रतिदिन मुनियों को आहार लेना ही चाहिये, कारण मुनिराज कर्मों की निर्जरा तथा आत्मशुद्धि के हेतु बहुधा उपवास करते रहते हैं। अतः एक भक्त का भाव यही है, कि वे यदि आहार लें, तो दिन में ही एकबार से अधिक भोजन न करेंगे। शरीर के रोगी होने पर या और कोई विशेष असाधारण कारण के आने पर भी वे त्रिकाल में इस नियम में क्षति नहीं पहुंचावेंगे।

इस आत्म प्रकाश वाले सत्पुरुष आत्मा को ज्ञानामृत द्वारा पुष्ट करते हैं। अन्न पान से आत्मा का पोषण होता है, यह अनादि का लीन भ्रम का भाव उनके पात से भाग जाता है।

"एक कवि ने कहा है—"जो ईश्वर की आराधना करना चाहता है, उसे उपवास करना आवश्यक है। उसे निर्मल भी होना चाहिए। उसे अपनी आत्मा को पुष्ट करना चाहिए तथा अपने शरीर को कृश करना चाहिये।" शरीर को पुष्ट करने में तत्पर व्यक्ति समाधि सहित मृत्यु करने में अममर्थ बन जाता है। अतएव आत्मत्व के पोषकसाधु उचित समय पर शरीर को इतना ही भोजन पान देते हैं कि वह आत्म साधना में सहायक हो और विघ्न न करे।

१ उदयास्तोभयत्यवत्वा शिताडी भोजनं सकृत् ।

एक-द्वि-त्रिमुहूर्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः ॥४॥

२ Who so will pray, he must fast and be clean,
And fat his Soul; and made his body lean-Chaucer

परीपह जय

ये मुनिराज विपत्ति को शूल सम न गिनकर उसे निर्जरा का कारण जान फूल तुल्य प्रिय पदार्थ मानते हैं और इसलिए वे संकटों का सदा स्वागत करने को तत्पर रहते हैं। इससे उनका आत्मबल जगता है उस आत्म पौरुष के द्वारा वे कर्मों को पछाड़ देते हैं। इस विपत्ति-विजय की प्रक्रिया को 'परीपह जय' कहते हैं। आत्म प्रकाश के कारण संवट, उनके भावों में मलिनता अथवा घबराहट नहीं उत्पन्न करता है। जिस पापी पेट के भरने को जगत नीचतम बायों को करने में संकोच नहीं करता उस धुधा को वे साम्यभाव के द्वारा सहन करते हैं। इस धुधा विजय का 'अम्ह विलास' में भैया भगवती दास ने इस प्रकार चित्रण किया है:-

जगत के जीव जिहं जेर जीत राखे अह ।
जाके जोर आगे सब जोरावर हारे हैं ॥
मारत मरोरे नहि छोरे राजा रंक वहूँ,
आखिन अंधेरी ज्वर सब दे गछारे हैं ॥
दावा कीसी दवाल जो जराय डार छाती छवि ।
देवन को लाग पशु पंछी को विचार हैं ॥
ऐसी धुधा जोर 'भैया' कहत कहौ ली और ।
ताहि जीत मुनिराज ध्यान बिर धारे हैं ॥

पिपासा के परीपह को वे सहन करते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-

धूप की घखनि परे आग सो शरीर जरै,
उपचार कौन करे हहैं द्वार आन के ।
गली की पियास जेती कहैं को बखान तेताँ,
तीनो जोग थिर सेती सहैं कष्ट जान कै ।
एक छिन चाह नाहि पानी के परीसे माहि,
प्राण बिन नास जाहि, रहैं सुख मानि कै ।
ऐसी प्यास मुनि सहैं तब जाय सुखलहै,
'भैया' इहि भाति कहैं वदिये पिछानके ॥७॥

वे साम्य भाव से क्षुधा, पिपासा की व्यथा को सहन करते हैं ।

शीत की असह्यवेदना जगत को विकल कर देती है । उष्ण की व्यथा संसार को अस्त करती है, किन्तु उसको कुछ न गिनकर मुनिराज कष्ट को सहते हैं । डास, मच्छर, सर्प, बिच्छू आदि जीवों के हींद्वारा शास पाते हुए भी वे शास भाव का परिहारा नहीं करते हैं । यह दंश-मशक परीपह कहलाती है । दंश-मशक शब्द उपलक्षण मात्र है । इससे अन्य जीवधारियों द्वारा पीड़ा दिए जाने पर भी शासि रचना इस परीपह की परिधि के भीतर आता है ।

दिगम्बर मुद्रा के द्वारा जो शरीर को अपार कष्ट होता है उसे सहन करता नग्नता परीपह-जय है । कवि कहते हैं :-

नग्न के रहिये को, महाकष्ट सहिये को ।
कर्मवन दहिये को, बड़े महाराज हैं ॥
देह नेह तोरिये को, लोक लाज छोरिये को ।
धर्म प्रीति जोरिये को जाकी जोर काज है ॥
धर्म धिर राखिये को परभाव नाखिये को,
सुधारस चाखिये को ध्यान की समाज है ।
अंबर के त्यागो सों दिगम्बर कहाए साधु,
छहो काय के अराध यातें शिरताज हैं ॥१६॥

विषय सुखों में आसक्ति छोड़ संयम से अनुराग करना अरति परीपह जय है । कहा भी है—

आँखनि की रति मान दीपक पतंग परै,
नासिका कीरति मान भ्रमर भुलाने है ।
कानन की रति मृग खोबत है प्राण निज
करस की रति गज गए जो दीवाने है ।
रसना की रति सब जगत सहत दुःख
जागत है, यह सुख ऐसे भरमाने है ।
इंद्रिज की रति मान गति सब छोटी करै,
ताहि मुनिराज जीत आप सुग मान है ॥१७॥

परम दुर्धर ग्रहचर्य व्रत को धारण कर वे स्त्री कृत बाधा आने पर भी जरा भी विकृत को नहीं प्राप्त करते हैं । यह स्त्री परीपह जय है । कहा भी है—

नारि के निहारत विचार सब भूलि जाय ।
 नारि के निहारे परिणाम किये जात है ।
 नारि के निहारत अज्ञान भाव आप भु के,
 नारि के निहारत ही शील गुण घात है ।
 नारि के निहारत न शूरवीर धीर परे ।
 लोहनि, के मार जे अडिग ठहरात है ।
 ऐसी नारि नागनि के नैन को निमेष जीत ।
 भए है अर्जुन मुनिजगन विख्यात है ॥१९॥

गमन सम्बन्धी वृष्टि का सहन करना चर्या परीपहज्य है ।
 अविचलित आसन से रहना निपट्या परीपहज्यो है । भूतल पर सोने
 के वृष्टि को सहन करना शय्या परीपह जय है । दुष्टों की मर्म भेदक
 वाणी को सुनते हुए भी परिणामों में शांति रखना आश्रय परीपह
 जय है ।

दुष्टों द्वारा शरीर को मारना आदि अनर्थ किए जाने पर भी
 शांत भाव रख पूर्व कर्मों का, यह शिक्षा है, यह जान वृष्टि सहना
 वष परीपह जय है । प्राण जाने पर भी, क्षुधासे बाधित होते हुए भी याचना
 नहीं करना याचना परीपह जय है । आहार-दिवा का लाभ न होने पर भी सतोष भाव
 का संरक्षण करना अलाभ परीपह जय है । भीषण से भीषण व्याधि के
 आने पर भी नित्य वीतराग स्वरूप का चिंतन करना और क्लेश नहीं
 करना रोग परीपह-जय है । तृण वटवादि की पीड़ा को सहन करना
 तृण-स्पर्श परीपह जय है । शरीर में अस्नान व्रत के वारण पसीना में
 घूलि के आगमन के उपरांत जो मलादिका सच्य होता है, उसमें शांत
 भाव रखना मल परीपह जय है । मान-अपमान के प्रसंग आने पर
 मानसिक निर्मलता का रक्षण करना सत्कार-पुरस्कार परीपह-जय है ।
 ये सत्कार पुरस्कार की तनिक भी आकांक्षा नहीं करते हैं । कहा
 नी है-

जहाँ होय मान तहाँ मानत महान सुख,
 अपमान होय तहाँ मुख्य के समान है ।
 मान के गुमान आप महाराज मान रहे,
 होत अपमान मूढ हरै दशो प्राण है ।
 मान ही की लाज जग सहत अनेक दुःख,

अपमान होत धरै नरक निदान है ।

ऐसे मान अपमान दोऊ दुष्ट भाव तज,

गनत समान भुनि रहे सावधान है ॥२०॥

महान ज्ञान होने पर अभिमान न करना प्रज्ञा परीपह जय है ।
घोर तपस्या करते हुए भी अज्ञानीपना रहने के कारण प्राप्त तिरस्कार
की शांत भाव से सहना अज्ञान परीपह जय है । अनेक प्रकार के तप
करते हुए भी विशेष प्रभाव या चमत्कार न देख जिनेन्द्र के वचन के
प्रति श्रद्धा भाव को नहीं छोड़ना अदर्शन परीपह जय है ।

स्वेच्छा पूर्वक ये परीपह सहन की जाती है । दूसरों के द्वारा
ये संकट किए जाने पर इनको उपसर्ग कहते हैं । इस परीपह जय से
कर्मों की निर्जरा होती है और रत्नत्रय मार्ग में स्थिर भाव रहते हैं ।

जब लौकिक अल्प स्यामी सुख की उपलब्धि के हेतु जीव को महान
श्रम करना पड़ता है, तब शाश्वतिक तथा लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति
के लिए परीपह जय करना आवश्यक है ।'



१ "No easy hope or lies shall bring us to our goal,
But iron sacrifice of body, will and soul." Kipling

ध्यान

आत्मा अनन्य शक्ति का भंडार है। चित्त वृत्ति चंचल रहने से वह शक्ति इष्ट मायन नहीं कर पाती है। ध्यान के द्वारा चित्त वृत्ति को केन्द्रित करने से अचिन्त्य कार्य सम्पन्न होते हैं। ऐसे ही ध्यान से विचारों का नाश हो जाता है। मोक्ष के लिए समुद्यत साधुओं के लिए ध्यान कल्पनातीत सिद्धि का पैदा करता है। कुद कुद स्वामी ने कहा है कि “मुनियों का मुख्य कार्य ध्यान और अध्ययन है।”

तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं, “एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्त-मुहूर्तान्-चित्त वृत्ति का एकाग्र रीजना ध्यान है। उसका समय अन्तर्मुहूर्त है।” अमनाज पदार्थ का मरोग हाने पर उसके वियोग का चितवन करना, प्रिय वस्तु के विभाग हाने पर उसके मयाग का चिन्तना करना, वेदना की निवृत्ति का चिन्तन करना, आगामी मनाज भोगों की आकांक्षा करना रूप निदान ये आनंदध्यान के चार भेद हैं। हिमा, बूझ, चोरी तथा विषयों के संरक्षण में उत्पन्न रीद्र ध्यान भी चार प्रकार का है। आर्तध्यान पीडात्मक होता है और रीद्रध्यान दूसरों को सत्ताप देने के साथ ध्याता के चित्त में हर्ष का नाश है। हिमा में आनन्द मानने वाले के हिसानन्द नाम का रीद्र ध्यान होगा। ससार के सभी जीव इन दोनों ध्यानों के चक्कर में हैं।

आत्मा का वयाण धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से होता है। वे मोक्ष के हेतु कह गए हैं।

कुद कुद स्वामी ने मानपाट्ट में लिखा है—“जो साधु भीषण ससार रपी महान सिंधु से पार होना चाहता है, वह कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।”

इस पंचमकाल में मुनियों के धर्म ध्यान ही हो सकता है, यह बात कहते हैं—“इय भरत क्षेत्र में इय दुःख काल में आत्म स्वभाव में स्थित मुनि के धर्म-ध्यान होता है। जो इसे नहीं मानता है, वह अज्ञानी है।”

† “Concentration is normally sustained at its fullest for a very short time only”

Radhakrishnan - Indian Philosophy-P. 357

शुद्ध ध्यानका अभाव होनेसे आज हीन संहतन युक्त साधुओंको साक्षात् भुक्ति का लाभ नहीं मिलता है, फिर भी परम्परा से मोक्ष की सिद्धि होती है। ज्ञानार्णव में लिखा है:-“वह मुनि महाभाग्य है, जो राग द्वेष रूप फासीके फदे को काटकर अचिन्त्य पराक्रम युक्त हो ध्यान की सिद्धि के लिए एकात्म-निर्जन स्थान का आश्रय लेता है।” (अ० २७) ध्यान की सिद्धि के हेतु मुनिराज योग्य स्थान का आश्रय लेते हैं, क्योंकि पुण्य स्थल पवित्र विचारों के उदभव में सहायक होते हैं। योगिराज शुभचन्द्र ने लिखा है:-“निर्वाण भूमि, तीर्थकर आदि महापुरुषों के द्वारा आश्रित हुए महान तीर्थ में, जहाँ उनके कल्याण हुए हो, ऐसे पुण्य स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है।” वे यह भी कहते हैं, “जिन स्थान में रागादिक दोष निरन्तर लघुता को प्राप्त होते हैं, उसी स्थान में मुनियों का आवास समीचीन है। ध्यान काल में तो ऐसे स्थान पर अवश्य वास करना चाहिये।” ध्यान के योग्य आसन को कहते हैं:-“धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिए काष्ठ के तख्ते पर, शिला पर वा भूमि पर वा बालू के ऊपर स्थिर आसन लगावे।”^१

“पर्यंकासन अर्ध पर्यंकासन, वज्रासन, सुखासन, वीगासन, कमलासन तथा कायोत्सर्ग ये ध्यान के योग्य आसन कहे हैं। जिस आसन से मुनियों का मन निश्चल बन सके, वही सुन्दर आसन मुनियों को करना चाहिये।”^२
“दस काल में शक्ति की न्यूनता के कारण कायोत्सर्ग और पद्मासन को ध्यान योग्य कहा है।”^३

ध्यान की सिद्धि के लिए स्थान और आसन में एक भी न हो, तो

१ सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।

कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ अ० ३८-१॥

२ सत्र रागादयो दोषा अजस्रं याति लाघवम् ।

तत्रैव वसतिः सत्त्वो ध्यानकारणे विशेषतः ॥ ८ ॥

३ दाह पट्टे शिखपट्टे भूमौ वा सिकतातले ।

समाधिसिद्धये धौरी विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥

४ येन येन सूयासीना विदधुनिश्चल मनः ।

तत्तदेव विषयेऽस्यामुनिभिर्वन्दुरासनम् ॥ ११ ॥

५ The yoga realises that our body has a dignity of its own as much as the mind. Ashna, or posture is a physical

ध्यानी मुनिका चित्त विक्षेप रहित नहीं होता ।”

ध्यान मुद्रा के विषय में लिखते हैं—

“पर्यंक देश के मध्य भागमें स्थित उन्नत दोनों हस्तके मुकुल विकसित कमल के सदृश चपलता रहित करे ।”

अति निश्चल सौम्यता लिए स्पन्दता रहित है मन्द तारे (नेत्रों की पुतली) जिनमें ऐसे दोनों नेत्रों को नासिकाके अग्रभाग में धारण करे ।”

“मुख को इस प्रकार करे, कि भीहें तो विकार रहित हो, दोनों ओष्ठ न न बहुत खुले और न अति मिले हों, ऐसे सोते हुए मत्स्य सहित सरोवर सदृश मुख कमल को करे ।” “योगी का कर्तव्य है, कि वह अगाध यक्षणा समुद्र में निमग्न हो गया है तथा संवेग सहित है मन जिसका ऐसा सीमा और लम्बा शरीर रखे, जैसे दीवाल पर चित्रराम की मूर्ति हो उस प्रकार शरीर को बनावे ।”

“सम्यक प्रकार सत्यार्थ युक्त सिद्धांत वाले मुनियों ने ध्यान की सिद्धि तथा मन की स्थिरता के हेतु प्राणायाम की प्रशंसा की है ।”

“हृदय में पवन के साथ चित्त की स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उत्पन्न होते और विषयाशा भी नहीं उठती है, तथा अंतरंग में विशेष

help to concentration. We cannot fix our attention on an object, when we are running or sleeping. We must settle our selves down in a convenient posture before we begin to meditate.” Radhakrishnan: Indian Philosophy p. 354-355

१ ध्यानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।

नेत्रं मुक्त्वा मूत्रैः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥ २० ॥

२ पर्यंक देश मध्यस्ये प्रोत्ताने करकुङ्मले ।

करोत्युत्फुल्लराजीव सन्निभे च्युतचापले ॥ ३४ ॥

३ नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।

प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्ने मन्दतारके ॥ ३५ ॥

४ मुनिर्णीति सुसिद्धान्ते : प्राणायामः प्रशस्यते ।

मुनिभिर्ध्यानसिद्धर्थं स्वैर्यथै चान्तरात्मनः ॥ २९-३१ ॥

“Breath-control is regarded as a steadying influence on the mind and plays an important part in Hatha yoga,



भगवान् पार्श्वनाथ की कलामय मूर्ति ।

ज्ञान का प्रकाश भी होता है ।” यह प्राणायाम स्वयं साध्य नहीं है । जो प्राणायाम क्रिया से ही अपने को कृतार्थ मान बैठे हैं, उनके मोक्ष का काम नहीं होता है, ऐसा कहा गया है ।

“जो मुनि संसार देह भोगोंसे विरक्त है, प्रशान्त है, वीतराग है, जितेन्द्रिय है, उनके लिये प्राणायाम प्रशंसनीय नहीं है कारण प्राणायाम में प्राणों के आगमन से रोकनेसे पीड़ा होती है । उससे आर्तध्यान होता है । उसके कारण तत्त्वज्ञानी मुनि भी लक्ष्य से विचलित हो जाते हैं । पवन के पूरक, कुंभक तथा रेचक करनेसे चित्त व्यग्र रूप होता है, कारण वह पवन से क्लेशित होने पर खेद पाता है अतः प्राणायाम का प्रयत्न गौण कहा गया है ।” ऐसी स्थिति में क्या कर्तव्य है, उसे इस प्रकार कहते हैं—“इंद्रियो को विषयों से रोककर, समता का अवलम्बन ले मन को ललाट देश में संलीन करनेसे वह निश्चल हो जाता है ।”

“आचार्यों ने नेत्र युगल, कर्ण युगल, नासाग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि मस्तक, तालु, हृदय, भोंह का मध्यभाग ये दस स्थान मन को लगाने योग्य कहे हैं ।”

आजके वैज्ञानिक हिप्नाटिज्म (Hyponotism) मैसमेरेज्म आदि आध्यात्मिक चमत्कारों के प्रभाव को स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना तथा एकाग्रचित्त वृत्ति के फल स्वरूप योगी अपूर्व निर्मलता तथा आत्मसुद्धि की प्राप्ति करता है ।^१ इसे अंग्रेजीमें “process of self-hypnotisation” कहते हैं । इस कारण साधु के तत्त्वचिन्तन का बड़ा महत्व है ।

ध्यान करते समय मुनिराज सोचते हैं^२ “आज रागज्वर जीर्ण हो

where it is esteemed for its great efficiency in producing occult powers! Ibid p. 356

१ विकल्पाः न प्रसूयन्ते विषयज्ञा निवर्तन्ते ।

अन्तःस्फुरति विज्ञानं तत्र चित्तं स्थिरीकृते ॥ ९ १ ॥

२ निश्चयकरणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च ।

ललाटदेश-संलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ॥ १२ ॥

३ To the modern mind, in East or West, the whole yoga scheme of attaining perfection appears to be only an elaborate process of self-hypnotisation” Indian Philosophy p. 372

४ अथ रागज्वरो जीर्णो मोह-निद्राद्य निर्गता ।

ततः कर्म रिपुं हन्मि ध्याम निश्चिन्तयारया ॥ ३१-३४

गया है, मोह की निद्रा दूर हो गई है, अतः ध्यान स्वी तलवार की धार से कर्म शत्रु का नाश करता हूँ ।” “मैं प्रबल ध्यानरतों वज्रपातसे पाप-पादपका ऐसा विनाश करूँगा, कि वह फिर संसार में जन्म नहीं फल न दे ।” “मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञानलोचन हूँ। अतः आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिये मैं परमात्म स्वरूप को जानना चाहता हूँ ।” “गुण समूह सक्ति रूप से मेरे में है, वे व्यक्ति रूप से परमात्मा में हैं। इन प्रकार हममें तथा परमात्मा में सक्ति, व्यक्ति वृत्त भेद है ।”^१

आचार्य कहते हैं—“जिनका अल्प भी ध्यान करने से जीवों के संसार में जन्म लेने सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं और तथा अन्य प्रकार से नष्ट नहीं होते, वही जगत का प्रभु अध्युक्त परमात्मा हैं । उन प्रभु का ज्ञान हुए बिना समस्त ज्ञान व्यर्थ हो जाता है और उनका ज्ञान होने पर समस्त जगत का ज्ञान नियम से हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है । जिसने अपनी आत्मा को नहीं जाना है, वह परमात्मा को नहीं जान सकता है । अतः परमात्मा को जानने के पूर्व आत्मा का निश्चय करना आवश्यक है ।”

प्राथमिक स्थिति में परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करना हितप्रद है, किन्तु वह स्वयं साध्य नहीं है । यह विमुक्त आत्म चित्तन का साधन है । अन्य संप्रदायों में ईश्वर का चित्तन सर्व श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु जैन आगम में उससे भी ऊँचा स्वान आत्म-गुण-चित्तन को प्रदान किया गया है । वीतराग भाव पूर्वक आत्म निरमगता के प्रसाद से संसारी मानव स्वयं परमात्मा बन जाता है । “यह आत्मा आत्मा द्वारा स्वयमेव अनुभव

१ प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसशयम् ।

तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवं संभवम् ॥ ५ ॥

२ अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ ।

अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत् स्वरूपोपलब्धये ॥ ३१-३२ ॥

३ मम शक्त्या गुणप्राप्तौ व्यक्त्या च परमेष्ठिनः ।

एतावानावयो भेदः सक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥ १० ॥

४ “Vijnanabhiksu says: Of all kinds of conscious meditation the meditation of the Supreme God-head is the highest.” Indian Phil. p. 372

किया जाता है। इससे अन्तर आत्मा के ज्ञान करने का प्रयास निष्फल है।" "जब मैं ज्योतिर्मय आत्मा को देखता हूँ, तब रागद्वेष का क्षय हो जाता है और तब मेरा न कोई शत्रु रहता है और न मित्र होता है।" "यदि मुनि का चित्त मोह के कारण रागादि से बाधित होता है, तो वे उसे आरम्भ तत्त्व में लगाते हैं, इससे क्षण मात्र में रागादि की बाधा दूर हो जाती है।"

"योग का अभ्यास करने में उन्नत मुनियों को बाहर सुख तथा अतृप्त्य में दुःख प्रतीत होता है, किन्तु योग में सुप्रतिष्ठित होने वाले वे पक्ष में दुःख तथा अतृप्त्य में आनन्द प्राप्त होता है।"

इस पञ्चमकाल में मुनियों के शुक्ल ध्यान नहीं होता है। उनके धर्म ध्यान होता है। उसके चार भेद कहे गए हैं।

‘जिस ध्यान में सर्वश्रमगवान की आज्ञा को प्रधान करके पदार्थों का सम्यक् चिन्तन किया जाता है, वह मुनीश्वरों ने आज्ञा नाम का धर्म ध्यान कहा है।”

अवलोक स्वामी कहते हैं—“आगम प्रामाण्य के आधार पर अर्थ का निश्चय करना आज्ञा विषय है।”

“जिस ध्यान में कर्म-कृत अपाय अर्थात् विनाश का उपाय सहित चिन्तन किया जाता है उसे विद्वानों ने अपाय विषय कहा है।”

इसमें कर्म कृत का अपायका तथा आत्म सिद्धि के हेतु कर्म क्षय का उपाय सोचा जाता है। राजवातिक में लिखा है—

“सन्मार्ग से गिरने के कारण मोक्षाभिलाषी जीव मार्ग से दूर होते जा रहे हैं यह चिन्तन अपाय विषय है।” मिथ्या मार्ग से ये जगत के प्राणी

१ ज्योतिर्मय भमात्मान पश्यतोऽथैव यान्त्वमी ।

क्षय रागादयस्तेन नारिः कोपि प्रियो न मे ॥३५ श्लोक॥

२ अन्तर्दुःख बहिर्लोभ्य योगाभ्यासोद्यत्तात्मनाम् ।

सुप्रतिष्ठित-योगात्मा विपर्यस्तमिदं पुन ॥६५॥

३ सर्वज्ञाज्ञा पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेन् ।

यत्र तत्तु ध्यानमाप्नातमाज्ञास्य योगिपु र्गर्व ॥२२

४ तत्रागमप्रामाण्यादर्थविधारण माज्ञाविषय आज्ञाप्रकाशनार्थोवा ।

सन्मार्गापाय-चिन्तन-अपायविषय ” पृ. ३५२

संपूर्ण जीवों के विषय में चिन्तवन उपयोगी कहा है । ज्ञानार्णव में कहा है—
‘यह समस्त लोक तो केवली भगवान के ज्ञान गोचर है । उसका समुदाय
रूप से तथा पृथक् पृथक् रूप से शक्ति के अनुसार मुनि चिन्त-
वन करे ।’”

इस ध्यान के द्वारा असंख्यात-गुणित-रूप से निर्जरा होती है ।
इसकी स्थिति अतर्मुहूर्त (४८ मिनट से कम काल प्रमाण) कही है ।
इसका भाव क्षयोपशमिक है । लेश्या सदाशुक्ल ही रहती है । (ज्ञानार्णव)

परमात्म प्रकाश में लिखा है “जो ज्ञानी आत्मा निर्विकल्प समाधि
में मन लगाता है, उसका मोह क्षीघ्र नष्ट होता है और ज्ञान द्वारा वह
लोकालोक प्रमाण हो जाता है ।” यहाँ गाथा में आगत आकाश शब्द का पर्याय
वाची आकाश द्रव्य नहीं है, किन्तु निर्विकल्प समाधि है । ब्रह्मदेव सूरि ने इस
गाथा के पूर्व की गाथा में आगत आकाश के पर्यायवाची अवर शब्द की
व्याख्या में लिखा है “अवरशब्देन शुद्धाकाश न गाह्य किन्तु विषयकपाय-
शून्यः परमसमाधिर्ग्राह्यः” अवर शब्द से शुद्ध आकाश को न ग्रहण कर
विषय कपाय शून्य परम-समाधि जानना चाहिए ।

टीकाकार ने यह भी लिखा है कि इस निर्विकल्पक समाधि
में मुनि कुंभक, पुरक आदि रूप से पवन के रोक्ने का प्रयत्न नहीं करते
हैं, किन्तु इस समाधि के बल से बिना यत्न के सहज ही पवन रुक जाता
और मन अचल हो जाता है । उस समय तालु के सूक्ष्म छिद्र ‘ब्रह्म-
रघ’ नामक दशम द्वार में स्वयमेव पवन रुक जाता है ।

इस सम्बंध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि सर्वज्ञ भगवान के
द्वारा लोकालोक का ज्ञान होता है, अतः ज्ञानावेक्ष्या आत्मा को लोकालोक
व्यापक उपचार से कहते हैं । परमार्थतः लोक पूरण समुद्रमात
के काल के समय वह केवल लोक व्यापी (अलोक व्यापी नहीं)
एक समय मात्र रहता है तथा अशरीरी सिद्ध परमात्मा के आत्म प्रदेश
अधिक से अधिक ५२५ धनुष प्रमाण पूर्व शरीराकार रहते हैं और जघन्य
से साढ़े तीन अरस्त्रि प्रमाण देशोन होते हैं”

इस उपचरित कथन को मुख्य समझ कोई २ भाई भ्रमवश यह सोचते

१ रामस्तोत्रमहो लोक केवलज्ञानगोचरः ।

त व्यक्ते वा समस्त वा स्वभावमा चिन्तयेद्यति ॥१८४॥

है, कि धर्म में भी विश्व व्यापी आत्मा वेदान्ती की तरह माना है; यथार्थ में जैन सिद्धांत का सापेक्ष वर्णन है। परमार्थतः परमात्मा विश्व व्यापी नहीं है, जब कि वेदांत ग्रन्थ की विश्व व्यापी कहता हुआ समस्त प्रपञ्च को ब्रह्म की विवर्त-पर्याय मानता है, जो सर्वज्ञ ज्ञान से सम्मग्न नहीं प्रमाणित होता है।

निश्चय दृष्टि को मुख्य बनाते हुए महर्षि बुद्ध कुंद कहते हैं, "व्यवहार नय से केवली भगवान् सर्व पदार्थों को जानते हैं, देखते हैं, किन्तु निश्चय नय से केवली भगवान् आत्मा को जानते हैं, देखते हैं।"

व्यवहारनय पराश्रित होता है, 'पराश्रितो व्यवहारः।' अतः व्यवहार नय से पर हट कर अनंत पदार्थों का बोध केवली भगवान् के वहा गया है, किन्तु निश्चय नय पर का आश्रय नहीं करता है, अतः उस आत्माश्रयी नय की अपेक्षा आत्मा का ज्ञाता रूप से बयन किया है।

इस भरत क्षेत्र में पंचमकाल में शुक्लध्यान का अभाव होने से उस सम्बन्ध में विशेष चर्चा न कर इतना ही लिखना आवश्यक है कि शुक्ल ध्यान के लिए महान् बल की आवश्यकता है। मोक्ष जाने योग्य शुक्ल ध्यान की आराधना बिना वज्र वृषभसंहतन के नहीं होती है। इस काल में उसका अभाव होने से निर्वाण का लाभ इस क्षेत्र से नहीं होता है। विदेह क्षेत्र से अभी भी मोक्षगमन होता है। यहा तो धर्म ध्यान ही मुमुक्षु के लिए अवलंबन है।



अनुप्रेक्षा

आचार्य शुभचंद्र कहते हैं कि "द्वादश अनुप्रेक्षा सदा ही धर्म ध्यान की कारण है । अतः चित्त भूमिमें उनको स्थिर करके निज स्वरूप का अवलोकन करो ।"

पूज्यपाद स्वामी का कथन है कि "शरीरदीनां स्वभावानुचिततम अनुप्रेक्षा"—शरीर आदि के स्वभाव का चिंतन करना अनुप्रेक्षा है । इस तार्किक चिंतन से भव भोग तथा शरीर की असली अवस्था अन्तःकरण के समक्ष उपस्थित होती है और इसलिए वैराग्य का उज्ज्वल प्रकाश प्राप्त होता है । मूलाचार में इसे वैराग्य की माता माना है "भावणाओ...बुहजण वैराग-जणणीओ ८-७३"—ये भावनाएँ ज्ञानी पुरुषों के चित्त में वैराग्य उत्पन्न करने वाली जलनी के समान हैं । विषय सुख का सौन्दर्य अविचारित स्थिति पर्यन्त ही रमणीय ज्ञात होता है । निवेक के प्रकाश में उस रमणीयता के अंतस्तल में निहित अस्थिरता, अशुचिता आदि का अवबोध आसक्ति की निबिड़ निशा का अंत कर देता है ।

अनित्य—भावना

इन अनुप्रेक्षाओं में आद्यस्थान अनित्य संबंधी विचार को प्रदान किया गया है जैसे दलदल दूषित भूमि में बनाया गया सुन्दर भवन अल्पस्थायी होता है और उसे गिरते देर नहीं लगती, इसी प्रकार इस अनित्यता का जामा पहने जगत को जान इसमें भ्रमता का महल खड़ा करने पर पश्चात्तापप्रद स्थिति होनी है । बौद्ध दर्शन का तो यह अनित्य चिंतन प्राण है । वह वस्तु को अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःख रूप मानता है । अविद्या के कारण यह पदार्थ नित्य, सात्मक, शुचि तथा सुख रूप प्रतीत होता है । धम्मपद नामक बौद्धग्रंथ में लिखा है:—"सभी संस्कार अनित्य है; जिस समय ऐसा ज्ञान अंतःकरण में भासता है, उसी समय इस दुःख भय संसार से आशा निवृत्त हो जाती और यही निर्वाण आश्रित का सुगम मार्ग है ।"

१ अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निर्वचनम् ।

चित्तदूषी स्थिरोक्तस्य स्वस्वरूपं निरूपय ॥४१ पर्व-३॥

२ सब्बे सङ्खारा अनित्थाति यदा पज्जायप-स्सति ।

अयं निव्विन्दति दुक्खे एतमगो विमुद्धिया ॥मग्ग वग्ग, ५॥

अकलंक स्वामी (राजवार्तिक १. ३२७ में) स्याद्वाद दृष्टि को बताते हुए द्रव्य दृष्टि से वस्तु को नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य कहते हैं — “शरीर, इंद्रिय, विषय, भोग द्रव्य समुदाय रूप से जल के बुलबुले के सदृश अनित्य स्वभाव वाले हैं । इस संसार में समुदाय स्वरूप कोई भी पदार्थ, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, उपयोग स्वभाव को छोड़कर, ध्रुव रूप नहीं है । आचार्य सोमदेव यशस्तिलक में कहते हैं ।

उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते रिक्ता विशति मृतोजलयंत्रकल्पाः ।

एकोद्यम जरति यूनि महत्यणी च सर्वकपः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥

“श्वास के द्वारा जीवन रूपी जल बाहर निकाला जाता है, जैसे रहट के द्वारा पानी खेंच कर बाहर किया जाता है, इसके पश्चात् जीवित जल को बाहर डाल कर श्वास पुनः शरीर में प्रवेश करता है । सर्व संहारक भीत युष्क वृद्ध छोटे बड़े के विषय में बिना भेद भाव के अपना उद्यम जारी रखती है ।”

मूलाचार में लिखा है “राज्य गृहादि रूप सामग्री, धधुरादिक इंद्रिय, सोन्दर्य, बुद्धि, आयु, शक्ति, तेज, भवन, मुख के कारण, शयन तथा जासन की सामग्री, खाद्य सामग्री, वस्त्रादि रूप भाडादि सभी को अनित्य रूप से नित्यन करो ।”^१ उनका अभिप्राय यह है, कि दृश्यमान जगत् का कोई भी पदार्थ नहीं मिलेगा, जो अध्रुव वृत्ति विहीन हो ।

अशरण भावना

जगत् में जीव का घमं के बिना अन्य शरण नहीं है यह चित्त अशरण भावना है । भगवती दास जी कहते हैं,

“अशरण तोहि शरण नहि कोय, तीन लोक में दूगधर जोय ।

कोई न तेरा राखन हार , कर्मन घश चेतन निरधार ॥३॥

कवि मंगतराय के शब्द बड़े प्राण पूर्ण हैं :-

१ These life-breaths draw the water of life like a water wheel and leaving it outside, enter the body empty. Death, the destroyer of all acts with equal efforts on old and young, great and small. 2-105

Yashastilaka & Indian Culture, P 298

२ सामागिदिय रुव मदि जीवण जीविय वलं तेजं

गिहसयपासण भंडादिया अग्निच्चेति चिंतेज्जो ॥ ८-४ ॥

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव वनमें ।
 नहीं बचावन हारा कोई, यों समझो मन में ॥
 'मंत्र यंत्र सेना धन संपत्ति, राजपाट छूटे ।
 वश नहीं चलता काल लुटेरा, काय नगर लूटे ॥६॥

मुलानार में लिखा है:-

"जन्म, जरा, मृत्यु—युक्त लोक में जन्म, मृत्यु रूपी महान शत्रु को दूर करन वाले जिनेन्द्र के शासन के सिवाय जीव के लिए अन्य वस्तु शरण नहीं है ।" महाराज जीवधर ने दीक्षा लेने के पूर्व में जो चिंतन किया था, उसे क्षत्र धूड़ामणि में इस प्रकार वादीर्भासिह सूरि ने लिखा है:- "हे आत्मन् ! समुद्र में नौका के नष्ट होने पर पक्षी की भांति विपत्ति के समय कोई भी तेरे लिए शरण रूप नहीं है । उसके ठीक रहने पर हजारों प्रकार से सहायक हो जाते हैं ।" (११-१३) । यशस्तिलकमें लिखा है:- "यह जीव बंधुओंके समुदाय, सुभट कोटि, इष्ट जन तथा मंत्रतंत्र दस्त्रादि के द्वारा सर्व प्रकार से रक्ष्य मान होते हुए तथा सैन्य से भी अधिक पराक्रम समन्वित होते हुए बेचारा अकेला ही यम के दूतों के द्वारा मृत्यु के दाधीन करने के हेतु जबरदस्ती ले जाया जाता है ।" इस जीव का एक मात्र सहायक तथा रक्षक रस्तगय ही है । इस भावना से क्या होता है, इस पर अवलोक स्वामी कहते हैं- "इस प्रकार चिंतन करते हुए कि मैं सदा अशरण हूँ, यह अत्यन्त उदास होता है । इससे संसार के पदार्थों में भ्रमत्व का भाव दूर होता है तथा भगवान सर्वज्ञ अर्हन्त देव की वाणी में स्थिर मति होता है ।"

१ 'Even when a man is stronger than an army, being protected by multitudes of kinsmen, millions of warriors and trusty followers with all the resources of counsel, arms, and troops, he is brought under the sway of Death by the latter's messengers—miserable and all alone.'

'Yas. and India culture' p. 300

२ Who is wife? Who is son? Who are you? Where from did you come? How wonderful is this Sansara? How are you related to one another? Think deeply on all these matters.

Who am I? Where from have we come? Who is mother? Who is father? Leave off this world, which is a dream and seek the eternal. Gyana Yoga P. 230.

संसार-भावना

संसार भावना का वातिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार स्वरूप कहा है — 'मिथ्यात्व तथा कपाय संयुक्त जीव एक शरीर को छोड़ता है, अन्य नवीन देह को ग्रहण करता है, पुन उसे छोड़कर नवीन को ग्रहण करता है, इस प्रकार बहुत बार करता है । इस प्रकार जो जीव का अनेक शरीरों में संसरण अर्थात् परिभ्रमण होता है, वह संसार है । यदि संसार कर्म का विचार करे तो वैराग्य भाव जगमे बिना न रहेगा ।"

इस संसार में जीव का विचित्र उत्थान पतन का दृश्य दिखाई देता है ।

सोमदेव मूरि लिखते हैं:-

कर्मापितक्रमगतिं पुंश्च शरीरमेकं द्यजत्यपरमाभजते भवाब्धौ ।

शूलूपयोषिदिव ससूतिरेनमेपा नाना विडम्बयति चित्रकरं, प्रपचं ॥

"इस संसार सिन्धु में आत्मा एक शरीर को छोड़कर कर्म के द्वारा रचित दूसरे शरीर को धारण करता है, तथा एक गति को छोड़कर दूसरी गति में जाता है । यह संसार नटी के समान इस जीव की नाना प्रकार के विचित्र वेषा द्वारा विडम्बना रचता है ।"

दैवाद्वानेस्वधिगतेषु पटुनं काय, वायेपटी न पुनरायुरवाप्तवित्तम ।

इत्य परस्परहतात्मभिरात्मधर्मं लोके सुदु खयति जन्मकर प्रवध ॥

"कर्मोदय के वक्त यदि धन का लाभ होता है, तो शरीर ठीक नहीं रहता है ।^१ यदि शरीर नीरोग हुआ, तो धन संपन्न जीवन नहीं रहता

१ In the ocean of existence, the transmigrating soul leaves one body, the result of Karma, and resorts to another. The cycle of existence like an actress deludes the soul with many a marvellous show (2 : 15)

२ When by chance wealth is acquired, health is absent. When there is health, longevity attended by wealth is lacking. Thus the process of birth and rebirth, inflicts misery on the world with its mutually contradictory attributes

है; इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के विपरीतपने से विध्वंस को प्राप्त आत्म स्वभाव के द्वारा भवान्तर का उत्पादक कर्म जीव को बहुत संतप्त करता है ।”

अकलंक स्वामी लिखते हैं—“अधिक क्या कहा जाय इस संसार में जीव कर्म रूपी यंत्र से प्रेरित होता हुआ अपनी ही स्त्री के गर्भ जाकर स्वयं का पुत्र हो जाता है ।” कर्मोदय से अपने स्वरूप तथा समय को भूला हुआ यह जीव इस विश्व के रंगमंच पर आकर अपना खेल दिखाता है । नवि भगवतोदास कहते हैं—

केऊ फिर कान फटा केऊ शीश धरे जटा,
केऊ लिये भस्म बटा भूले भटकत हैं ।
केऊ तज जाहि अटा, केऊ घेरें चेरी चटा
केऊ पढे पटा केऊ धूम गटकत हैं ।
केऊ तन लिये लटा, केऊ महा दीसै कटा,
केऊ तरतटा केऊ रसा लटकत हैं ।
भ्रम भाव ते न हटा, हिये काम नाहि घटा,
विपै सुख रटा साथ हाथ पटकत हैं ।

संसार चक्र में घूमता जीव क्रीड़ा केशरी—सरकश के सिंह सदृश प्रतीत होता है । यह स्वामी के आदेशानुसार क्रीड़ा द्वारा जनानुरंजन करता है और यह नहीं सोचता है, कि मेरा स्वरूप बदरिया की भाँति नाचना नहीं है, किन्तु मैं पराक्रम का पुंज यनराज मृगपति हूँ । उसका दूसरों के आगे नाचना शोभा नहीं देता है । एक कवि भृगुन्द्र को अन्योक्ति द्वारा कहता है—

पड़े बंधनों में परतंत्र मान मंश, भूल,
ताप तंत्र यंत्रणा में कवली तचोगे तुम ।
खोखले खिलाडियों के खेल के प्रधान बन,
कानधरी छेरी सब कब लीं नचोगे तुम ।
पीट पीट तालिया सुनाते लोग गालियाँ हैं,
भूर झूरता का रूप कवली रचोगे तुम ।
भर के दहाड़ तोड़ ताड़ दासता का यंत्र,
बनोगे स्तंत्र तभी केशरी जंचोगे तुम ॥

एकत्वानुप्रेक्षा

एकत्व अनुप्रेक्षा में जीव अपने एकाकीपन के बारे में विचारता

हैं । अकलंकदेव ने कहा है “मे अकेला ही हूँ, मेरे कुटुम्बी लोग या दूसरे व्यक्ति मेरी व्याधि, बुढ़ापा तथा मृत्यु आदि के दुखों को नहीं दूर करते हैं । बंधु, मित्र तो समयान से आगे साथ नहीं देते । एक धम ही मेरा सहायक है, वही सदा सुख-दाता है । यह चिंतन करना एकत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार की भावना करने वाले जीव के दृष्ट जनों में राग नहीं होता है । दूसरों के प्रति द्वेष नहीं होता है । इससे अकिंचनत्व को प्राप्त आत्मा मोक्ष के योग्य हो जाता है ।” यशस्तिलक में लिखा है, “हे आत्मन ! पुत्र मित्रादि बाह्य परिग्रह की बात जाने दो, यह देह जन्म से तुम्हारा साथी होते हुए भी साथ में नहीं जाता है, तब तुम क्षण में नयन गोचर बनकर विलीन होने वाली स्त्री, पुत्र, धन, भवन रूप मोह बधन से क्यों खिलते हो ?”

हेमचन्दाचार्य की यह उक्ति मामिष है:—“यह जीव शिशु बाल में माता के उन्मुख होता है, यौवन में युवती के उन्मुख और बुढ़ापे में पुत्रोन्मुख बनता है किन्तु यह अज्ञ आत्मोन्मुख कभी नहीं बनता है यह दुःख की बात है ।”

मूलाचार में लिखा है:—“अपने कुटुम्बियों तथा परिजनो के मध्य में यह जीव अकेला ही व्याधि ग्रस्त होता है, दुःख भोगता है और मृत्यु के अधीन होता है । इसके साथ में न स्वजन जाते हैं, न परिजन ही साथी रहते हैं ।” (८-८)

भैया भगवतीदास ने लिखा है—

जीव अकेला फिर त्रिकाल । ऊरध मध्य भुवन पाताल ॥

१ “Let alone thy external possessions, even the body coeval with thee, will not accompany thee at death. Why dost thou suffer evermore from such fetters of delusion as wife and children and wealth and home appearing and disappearing in a moment.” P. 301

२ स्याच्छैशवे मातृमुखस्तारुण्ये तरुणीमुखः ।

वृद्धभावे सुतमुखो मूर्खोऽनात्ममुखः नवचित ॥

दूजा कोइ न तेरे साथ । सदा अकेलो भ्रम अन्याय ॥

कार्तिकेय स्वामी कहते हैं:—“निश्चय दृष्टि से देखा जाय, तो जीव के कूटुम्बी उसके उत्तम क्षमा, मादं व आदि दसविध धर्म हैं । यह जीव को देवलोक में ले जाता है और वही धर्म दुःख का क्षय भी करता है ।”

अन्यत्व भावना

जीव की पुद्गलादि से भिन्नता का चितवन करना अन्यत्व भावना है । भैया भगवतीदास कहते हैं—

भिन्न सदा पुद्गल त रहै, मर्म बुद्धि नै जडता गहै ।

वे लुपी पुद्गल के संघ । तू किन्मूरति सदा अवंध ॥६॥

एक अरबी भाषा की सूक्ति में कहा है “हे शरीर सेवक ! तू कब तक इसकी सेवा में लगा रहेगा । क्या तू उस चीज से लाभ उठाना चाहता है, जिसमें घाटा ही घाटा है । ऐ लोगो ! दिल को दुनिया और उसके श्रृंगार से दूर रखो, कारण दुनिया की सफाई ही भंदगी है । देखो ! सुबह और शाम के आने जाने ने छोटे को जवान और बूढ़े को नष्ट कर दिया ।” अतएव चैतन्यमय ज्ञानवान् आत्मा को पुद्गल शरीरादि से पृथक् जानना चाहिए । इस अन्य भाव को भुला जीव इष्टजनों के विषय से व्यथित होता है किन्तु संसार सिन्धु में डूबती हुई अपनी आत्मा के विषय में तनिक भी नहीं विचार करता है । भूलाचार में लिखा है—

“कोई जीव मेरा स्वामी मर गया ऐसा मानकर दूसरे का तो दुःख करता है, किन्तु संसार समुद्र में डूबती हुई अपनी आत्मा की जरा भी चिन्ता नहीं करता है ।”

सोमदेव सूरि ने कहा है—“आत्मन् मे शरीरात्मक हूँ, यह बात चित्त

१ जीवस्स णिच्चयादो दहलवत्तणो हवे सुयणो ।

सो षोइ देवलोए सो चिय दुक्खत्तखय कुणइ ॥७८॥

२ अण्णो अण्णं तोणंदि मदोत्ति मम गाहोत्ति मण्णंतो ।

अत्ताणं णहु सोयदि संसारमहण्णवे वुद्धं ॥८-११॥

३ देहात्मकोहमिति चेतसि मा कयास्त्वं ।

त्वत्तो यतोस्य वपुषः परमोबिबेकः ।

त्वं धर्म-धर्म-वसतिः परितोवसायः ।

कायः पुनर्जडतया गतधीनिकाय ॥२-१२३॥

में न रख। इस शरीर के साथ तेरी अत्यन्त मिश्रता है। तू अनन्तज्ञान दर्शनादि धर्म तथा परम आनन्द का आगार है और सर्वांगीण ज्ञानमय है, किन्तु शरीर जब रूप होने से चैतन्य-शून्य है।”

“आसीदति त्वमि सति प्रतिनोतिकायः प्राप्ते तिरोभवति भूषणनादिरूपं । भूतात्मकस्य मृतवत्त सुखादिभाव स्तरमात्कृती वरणत पृथगेव जीव ॥१२४॥

“हे आत्मन् ! तेरे होने पर ही यह शरीर रहता है तथा वृद्धि को भी प्राप्त करता है। तेरे इस शरीर के बाहर जाने पर पृथ्वी, पवन आदि के रूप में यह तिरोभूत हो जाता है। पृथ्वी आदि भूत रूप शरीर के मृतक के सदृश सुखादि का सद्भाव नहीं पाया जाता है, अतः इन्द्रियो से यह पुण्यवान् जीव पृथक् रूप है।”

आत्मा और शरीर में स्वरूप भिन्नता को अवलोक्य स्वामी इस प्रकार बताते हैं—“यह शरीर इन्द्रियगोचर है और मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर ज्ञान-शून्य है, मैं ज्ञान सहित हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि तथा अत सहित है, मैं अनादि-अनन्त हूँ। ससार में भ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर हो गए हैं, किन्तु उनसे पृथक् मैं वही हूँ। इस प्रकार इस शरीर से मेरी भिन्नता है, तब भाई ! ब्रह्म परिग्रह से भिन्नता का क्या कहना है ? इस प्रकार का चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार मनका समाधान होने पर आत्मा की शरीरादिक में इच्छा नहीं उत्पन्न होती है। इससे वह ब्रह्माण में प्रवृत्त होता है।”

1 Never imagine that those art composed of the body, because the body is utterly different from thee Thou art all consciousness, an abode of virtue and bliss, whereas the body, because it is inert, is an unconscious mass

2 The body exists and grows so long as thou art in existence When thou art dead, it disappears in the form of earth, air and the like Composed of the elements, it is devoid of feelings such as joy like a corpse. Hence the blissful self is surely different from the body.

अशुचित्व भावना

शरीर के अपवित्र स्वरूप का चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। वादीप्रसिद्ध सूरि लिखते हैं—“जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र पदार्थों में भी अपवित्रता आ जाती है, वह रजवीर्य से उत्पन्न शरीर क्या अशुचि रूप नहीं है ?”

मुनि कातिकेय कहते हैं:—“हे भव्य ! यह मनुष्य का देह कर्मों ने अशुचि रूप बनाया, जिससे वे इससे विरक्त हों, किन्तु वे इनमें ही अनुरक्त हो गए।”

इस अंतः मलपुंज शरीर को धस्याभूषण से सुसज्जित करने पर इसकी मलिनता तनिक भी दूर नहीं होती है। एक फारसी कवि ने कहा है—“गधा यदि रेयमी बस्त्र पहिन ले, तो भी उसे लोग गधा ही कहेंगे।”

सोमदेव सूरि कहते हैं:—“आत्मन ! यदि शरीर का अंतरंग रूप देववश बाहर आ जावे, तब उसका अनुभव करने की बात तो निराली है, यदि कोतूहल के बस से उसे देखने की हिम्मत भी हो जाय तो इस शरीर में अनुराग भवश्य कर ?”

आस्रव भावना

आत्मा में कर्मों के आगमन के द्वार की आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार नौका में छिद्र रहने से समुद्र का जल उस में भरता है, इसी प्रकार मन, बचन तथा काय की शुभ तथा अशुभ क्रिया के द्वारा शुभ अशुभ कर्मों का आत्मा में आगमन होता है।

सोमदेव सूरि का कथन है:—“हे आत्मन् ! अंतरंग में कषाय कलुषित होकर अशुभ योग द्वारा बंध के कारण रूप कर्मों का तू उद्भाजन करता है, जैसे हस्तिनी का लंपट हस्ती, रज्जुशो द्वारा बन्धनको प्राप्त करता है। अतः

१ मणुआणं असुइमयं विहिजा देहं विनिम्मियं जाण ।

तेतिं विरमण कज्जे ते पुण तत्थेव अनुरत्ता ॥८५॥

२ If by chance the interior of the body were visible outside and thou couldst bring thyself to look at it even out of curiosity, contact being out of the question, then thou wouldst indeed delight in the body. 2-123

तू दुष्ट चैष्टाओं का त्याग कर ।”^१

यह जीव अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कर्मों का बंध करता है, पश्चात् विपाक काल में बंध के अनुसार फल को प्राप्त करता है। हमारा आगामी जीवन हमारी वर्तमान मनोवृत्ति और प्रवृत्तियों के अधीन है। अरबी की एक कहावत है “मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को उस मकान में रहना होगा, जिसका निर्माण उसने मृत्यु के पूर्व में किया है।” मूलाचार में लिखा है “हिंसा अनृत स्तेयादि पंच आस्रव के द्वारोसे कर्म का आगमन होता है। उससे निश्चय से जीव का विनाश होता है, जैसे छिद्र सहित नौका का समुद्र में नाश होता है।” कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

“कर्म के पुण्यकर्म तथा पापकर्म इस प्रकार दो भेद हैं। उनके कारण भी प्रशस्त तथा अप्रशस्त रूप से दो प्रकार के होते हैं। मंद कपाय रूप परिणाम प्रशस्त अथवा स्वच्छ कहलाते हैं, तीव्र कपाय के भावों को अस्वच्छ या अप्रशस्त कहते हैं।”^२

मन्द कपाय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कहते हैं, “सब जीवों के प्रति प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन सुनकर भी दुर्जनो के प्रति क्षमा भाव धारण करना सर्व जीवों के गुणों का ग्रहण करना, मंद कपाय के दृष्टान्त हैं।” तीव्र-कपाय का उदाहरण कहते हैं “अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों के भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव, बहुत काल पर्यन्त बैर का धारण करना तीव्र कपाय के चिह्न हैं।”^३ इस आस्रव के द्वारा जीव का कैसा अहित होता है, इस

१ With thy heart contaminated by passions, thou dost acquire Karma, the cause of bondage, owing to thy assiduity in evil activities, just as an elephant for getting himself in the company of his mate . for himself the

प्रकार आस्रव के दोषों का दर्शन इस अनुप्रेक्षा में होता है । जिसने अपनी आत्मा वा कच्छप के समान सकोच कर लिया है उसके आस्रवके दोष नहीं होते हैं । अकलव स्वामी ने लिखा है—“आस्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा । सर्व एते आस्रवदोषा कूर्मवत्सवतात्मनो न भवति” (त रा. ३२४) ।

संवर भावना

आस्रव का निरोध करना संवर है । कहा है—जिस प्रकार नौका में छिद्रों से पानी भरता था उसी प्रकार आस्रव होता था । नौका के छिद्रों को बंद करने के समान वर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना संवर है । सत्त्वार्थसार में लिखा है —

“जो आस्रव का निरोध है, उसे जिनेन्द्र देवने संवर कहा है । गुप्ति समिति, धर्म, परीपह—जय, तप, अनुप्रेक्षा तथा चारित्र्य ये संवरके कारण हैं ।” कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—“सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, वपायो का जीतना तथा भोगों का अभाव ये संवरके नाम हैं ।”

गीमट्टसार चर्मकाण्ड में आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, वपाय तथा योग कहे हैं, जिनके भेदों की संख्या ५७ होती है । उनमें निरोध रूप संवर का कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार किया है। “मिथ्यात्व का निरोधक सम्यक्त्व, अविरतिक निरोधक देशव्रत, महाव्रत । वपायों का निरोधक वपायो का जय, योग का निरोधक योगों का अभाव कहा गया है । मन, वचन, कायगुप्ति, समिति उत्तमक्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा परीपहजय, सामायिकादि उत्कृष्ट चारित्र्य ये विशेष अपेक्षा से संवर के कारण हैं ।”

जिस प्रकार छिद्र तथा संधि रहित होने से जल प्रवाह से क्षति को प्राप्त न होने वाली नौका बिना विपत्ति के समुद्र का सतरण कर पार लग जाती है, उसी प्रकार पूर्व कालीन वर्म समूह का क्षय करने वाला तथा नवीन कर्माश्रय रहित जीव परमपद—निर्वाण को प्राप्त करता है ।

जैसे नौका के छिद्रों को बन्द करने से उसमें जल-जल से जल भरने द्वारा विप्लव होने पर समुद्र में उस नौका के भीतर वास करने वालों का विनाश निश्चित है, तथा छिद्र के बन्द करने से बिना विपत्ति के वह इष्ट प्रदेश को ले जाती है, इसी प्रकार वर्मों के आगमन के द्वार का संवरण (निरोध) होने पर कल्याण में बाधा नहीं आती है, इस प्रकार संवर के गुण का चितन संवराप्रेनुक्षा है । इस प्रकार संवर का चितवन करने वाले जीव को संवर के विषय में सदा प्रवृत्ति होती है ।

तू कुष्ट चेष्टाओं का त्याग कर ।”^१

यह जीव अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कर्मों का बंध करता है, पश्चात् विपाक काल में बंध के अनुसार फल को प्राप्त करता है। हमारा सागामी जीवन हमारी वर्तमान मनोवृत्ति और प्रवृत्तियों के अधीन है। अरबी की एक कहावत है “मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को उस मकान में रहना होगा, जिसका निर्माण उसने मृत्यु के पूर्व में किया है।” मूलाचार में लिखा है “हिंसा अनृत स्तेयादि पच आस्रव के द्वारोसे कर्म का आगमन होता है। उससे निश्चय से जीव का विनाश होता है, जैसे छिद्र सहित नौका का समुद्र में नाश होता है।” कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

“कर्म के पुण्यकर्म तथा पापकर्म इस प्रकार दो भेद हैं। उनके कारण भी प्रशस्त तथा अप्रशस्त रूप से दो प्रकार के होते हैं। मंद कपाय रूप परिणाम प्रशस्त अथवा स्वच्छ कहलाते हैं, तीव्र कपाय के भावों को अस्वच्छ या अप्रशस्त कहते हैं।”^२

मन्द कपायको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कहते हैं, “सब जीवों के प्रति प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन सुनकर भी दुर्जनो के प्रति क्षमा भाव धारण करना सर्व जीवों के गुणों का ग्रहण करना, मंद कपाय के दृष्टान्त है।” तीव्र-कपाय का उदाहरण कहते हैं ‘अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों के भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव, बहुत काल पर्यन्त वैर का धारण करना तीव्र कपाय के चिन्ह है।”^३ इस आस्रव के द्वारा जीव का कैसा अहित होता है, इस

१ With thy heart contaminated by passions, thou dost acquire Karma, the cause of bondage, owing to thy assiduity in evil activities, just as an elephant for getting himself in the company of his mate earns for himself the ropes that bind him Renounce, therefore, O sentient being all thy misdeeds (2-131)

२ कम्म पुण्य पाव हेउ तेसि च होति सच्छिदरा ।

मदकसाया सच्छा तिव्वयसाया असच्छाहु ॥ ९० ॥

३ सव्वत्थ वि पिपदयण दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरण ।

सन्वसि गुण ग्रहण मदकसायाण दिठ्ठता ॥ ९१ ॥

प्रकार आस्रव के दोषों का दर्शन इस अनुप्रेक्षा में होता है । जिसने अपनी आत्मा का कण्ठप के समान सकोच कर लिया है उसके आस्रवके दोष नहीं होते हैं । अश्वत्थ स्वामी ने लिखा है—“आस्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा । सर्व एते आस्रवदोषा ब्रूमन्तस्त्वत्तात्मनो न भवति ” (त रा. ३२४) ।

संवर भावना

आस्रव का निरोध करना संवर है । कहा है—जिस प्रकार नौका में छिद्रों से पानी भरता था उसी प्रकार आस्रव होता था । नौका के छिद्रों को बंद करने के समान कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना संवर है । तत्त्वार्थसार में लिखा है—

“जो आस्रव का निरोध है, उसे जिनेन्द्र देवने संवर कहा है । गुप्ति समिति, धर्म, परीपटु—जय, तप, अनुप्रेक्षा तथा चारित्र्य ये संवरके कारण हैं ।” कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—“सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कपायो वा जीतना तथा भोगों का अभाव ये संवरके नाम हैं ।”

शोमट्टसार कर्मकांड में आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, कपाय तथा योग कहे हैं, जिनके भेदों की संख्या ५७ होती है । उनके निरोध रूप संवर का कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार किया है। “मिथ्यात्व का निरोधक सम्यक्त्व, अविरतिक निरोधक देशव्रत, महाव्रत । कपायो वा निरोधक कपायो वा जय, योग का निरोधक योगी का अभाव कहा गया है । मन, वचन, वायुगुप्ति, समिति उत्तमसमाधि धर्म, अनुप्रेक्षा परीपटुजय, सामायिकादि उत्कृष्ट चारित्र्य ये विशेष अपेक्षा से संवर के कारण हैं ।”

जिस प्रकार छिद्र तथा संधि रहित होने से जल प्रवाह से क्षति को प्राप्त न होने वाली नौका बिना विपत्ति के समुद्र का सतरण कर पार लग जाती है, उसी प्रकार पूर्व कालीन कर्म समूह का क्षय करने वाला तथा नवीन कर्मात्मक रहित जीव परमपद—निर्वाण को प्राप्त करता है ।

जैसे नौका के छिद्रों को बन्द करने से उसमें कम-अम से जल भरने द्वारा विप्लव होने पर समुद्र में उस नौका के भीतर वास करने वाली का विनाश निश्चित है, तथा छिद्र के बन्द करने से बिना विपत्ति के वह दृष्ट प्रदेश की ले जाती है, इसी प्रकार कर्मों के आगमन के द्वार का संवरण (निरोध) होने पर कल्याण में बाधा नहीं आती है, इस प्रकार संवर के गुण का चिंतन संवरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार संवर का चिंतन करने वाले जीव को संवर के विषय में सदा प्रवृत्ति होती है ।

तत्त्व की बात इतनी है कि जीव के जितनी जितनी वीतरागता की वृद्धि होगी, उतना उतना कर्मों का संवर होता जायगा, तथा पूर्ववद्ध कर्मों को निर्जरा भी होगी ।

निर्जरा भावना

कर्मों का आत्मा से एक देश क्षय होना निर्जरा है । अकलंक स्वामी लिखते हैं, “गृहीत कर्मों का तपश्चर्या विशेष के द्वारा एक देश क्षय रूप लक्षणवाली निर्जरा होती है, जैसे मन्त्र तथा औषधि के दल से विष के वीर्य का विपाक निर्जोर्ण अर्थात् नष्ट हो जाने से वह दोषप्रद नहीं होती है, उसी प्रकार सविपाक, अविपाक निर्जरा के कारण तपो विशेष से कर्म का रस निर्जोर्ण हो जाता है, इससे वह संसार परिभ्रमण रूप फल नहीं देता है ।”

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है “समस्त कर्मों की शक्ति-फलदान की सामर्थ्य के विपाक का नाम अनुभाग है । इस विपाक के पश्चात् कर्मों का शब्द जाना निर्जरा कहलाता है । वह निर्जरा दो प्रकार की है, एक स्वकाल प्राप्त, दूसरी तप के द्वारा की गई । स्वकाल प्राप्त निर्जरा चारों गतियों के जीवों के होती है, तथा दूसरी निर्जरा अती जीवों के होती है । स्वकाल प्राप्त निर्जरा को सविपाक निर्जरा कहते हैं । तप द्वारा स्थिति पूरी होने के पूर्व जो निर्जरा की जाती है, वह अविपाक निर्जरा है । भैया भगवती दास ने कहा है—

स्थिति पूरी हैं खिर खिर जाहि, निर्जरभाव अधिक अधिकाहि ।

निर्वल होय विदार्द आप, मिटै सहज परसग मिलाप ॥१०॥

तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—“गृहीत कर्मों का अलग होना निर्जरा है । वह दो प्रकार की है । पहली विपाकजा, दूसरी अविपाकजा है ।” अनादिकालीन कर्म बंधन की उपाधि के विपाकाधीन जीव के जो कर्मों का फल देने के पश्चात् क्षय होता है, वह विपाकजा निर्जरा है । जो तप की सामर्थ्य से उदय को नहीं प्राप्त होने वाले कर्मों की उदोरणा करके उदयावली में लाकर फल भोगा जाता है और पश्चात् उसका क्षय होता है, वह अविपाकजा है । जिस प्रकार आम, पन्स आदि फल असमय में भी उपाय द्वारा परिपाक को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार जीवों के कर्म भी असमय में परिपाक को प्राप्त होते हैं ।”

अनगार धर्माभूत में कहा है “कर्मों की निर्जरा दो प्रकार की है, एक अकाम निर्जरा है, दूसरी सकाम निर्जरा है । काल से जो फल वा

पाक होता है, उसके समान समय पर फल देकर होने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है। प्रयत्न करके जो असमय में पाक होता है उसके समान तपस्या के द्वारा असमय में होने वाली निर्जरा को सकाम निर्जरा कहते हैं।

स्वोपज्ञ टीकामें आशाधरजीने लिखा है—“अपने समय पर फल देने के पश्चात् कर्मों की निर्जरा रूप लक्षण वाली अकाम निर्जरा है, उसे ही विपा-
कजा और अनोपक्रमिकी कहते हैं। सकाम निर्जरा अपवय-कर्म की निर्जरा लक्षणात्मक है, वह बुद्धिपूर्वक की जाती है। इससे उसे उपक्रमा कहते हैं। इसे अविपाकजा, ओपक्रमिकी भी कहते हैं।” (पृ-११७)

जिस कालमें फलदान शक्ति युक्त कर्म का अर्जन किया गया है, उसी काल में फलदानादि का होना विपाकजा निर्जरा है। जवरदस्ती प्रयत्न करके उदपावली में लाए जाकर भी कर्म अनुभव किये जाते हैं। जिस तरह आभ्रादि का पाल में पूर्व ही पका डालने है, इसप्रकार की निर्जरा अविपाकजा है। बुद्धिपूर्वक प्रयोग रूप स्वपरिणाम को उपक्रम कहते हैं।

शुभचंद्राचार्य ने शानार्णव में लिखा है—“जीवों की निर्जरा के सकाम तथा अकाम इस प्रकार दो भेद कहे हैं। मुनियों की तपस्या द्वारा होने वाली निर्जरा को सकाम निर्जरा कहते हैं, सर्व जीवों की यथा-काल कर्म विपाक के पश्चात् होने वाली निर्जरा को अकाम निर्जरा कहा है।” इसे ही अमृतचन्द्र सूरि सविपाक निर्जरा कहते हैं। इस अनुप्रेक्षा के विषय में राजवातिका में लिखा है “वह निर्जरा दो प्रकार की है एक अबुद्धिपूर्वा है दूसरी कुशल-मूला है।”

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा नरकादि गतियों में कर्म फल के विपाक से होती है। वह कल्पाण का कारण नहीं है इससे उसे अकुशलानुबंधा कहते हैं। परीपहजय करने पर कुशल मूला निर्जरा होती है। यह बुद्धिपूर्वक होती है। यह शुभरूप है, इससे जीव का गल्माण होता है। अतः इस कुशल मूला निर्जरा को शुभानुबंधा कहा है। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोष की भावना को निर्जरानुप्रेक्षा कहते हैं। इस प्रकार इसका चिंतन करने से कर्मों की निर्जरा करने में प्रवृत्ति होती है।

यशस्तिलक में लिखा है—“हे हत-भाग्य आत्मन ! अनुभव काल में रमणीय रूप वाले किन्तु अन्त में कटुतर ऐसे संसारोत्पन्न सुख लेश से चलित चित्त होकर जो तुने दुःख के कारण नवीन रूप से गृहीत

पाप का बंध किया है उसे सहन कर ।”

“जो मुनि समता के सुख में निमग्न रहता है, बारंबार अपनी आत्मा का स्मरण करता है , जो इंद्रिय तथा कर्मायों का विजेता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।” (का० अनुप्रष्टा ११४)

लोक भाषना

लोक के संस्थान आदि का विचार करना लोकानुपेक्षा है ।

अनंत आकाश जितने भाग में घर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव तथा काल ये छह द्रव्य पाई जाती हैं, वह लोक कहलाता है। उसके सिवाम शेष अनंत आकाश को अलोक कहते हैं ।

लुक् धातु से लोक बना है। मंस्मृत में इसका अर्थ देखना है, अंग्रेजी में भी लुक (look) शब्द देखने का वाचक है । “धर्माधर्मपुद्गल कालजीवाः यन लोचयन्ते स लोक इति” (त. रा, पृ. २०७-५, १२)। इस लोक के पूर्व पश्चिम दिशा में अधोभाग में सात राजू प्रमाण विस्तार है। मध्य में एक राजू तथा ब्रह्मस्वर्ग के वहाँ अर्धान् मध्य लोक से ३३ राजू ऊंचाई पर पाच राजू चौड़ाई है तथा अन्त में नीचे से चौदह राजू पर एक राजू प्रमाण चौड़ाई है। इस लोक के शिखर में सिद्ध भगवान विराजमान हैं ।

यह लोक अकृत्रिम है अर्थात् यह किसी विशेष शक्ति की इच्छा श्रीड़ा, आदि की कृति नहीं है, अनादि निघन है, अपने स्वभाव संयुक्त है, जीव तथा अजीव राशि से पूर्ण है, सर्व काल उपलभ्यमान होने से नित्य है, ताल वृक्ष के समान आकृतिवाला है ।

पं० जयचंदजी ने लिखा है:-

लोकस्वरूप विचारि के. आतम रूप निहार ।

परमार्थ व्यवहार मुनि, मिथ्या-भाष निवारि ॥११॥

भैया भगवती दास कहते हैं:-

लोक माहि तेरो कछु नाहि, लोक अन्य तू अन्य लखाहि ।

१ Suffer, O miserable being, the consequences of the pain-bringing, ever new sins thou hast committed, led astray by the pleasures of life, charming in the beginning and unpleasant at the end. (2-142)

सब पट् द्रव्यन की धाम, तू चिन्मूरति आत्म राम ॥११॥

सोमदेव भूरि कहते हैं, कि “इस विशाल जगत में अनंत काल से भ्रमण करते हुए इस जीव ने सभी स्थलों का उपभोग किया है, केवल कर्म—जाल—भुक्त मुक्ति—मंदिर में प्रवेश नहीं किया है।

हे आत्मन् ! इस जगत में सर्वत्र बार बार परिभ्रमण करते करते ऐसा कोई स्थल शेष नहीं बचा है, जिसे भोग करके तूने न त्यागा हो। हो ! एक स्थान है जो संपूर्ण कर्म जाल से रहित है। उस स्थान का कौतुक बश भी तूने स्पर्श तक नहीं किया है।”

हे आत्मन् ! तू पाप से मलिन मति बन नरकमें तथा तिर्यचगतिमें वास करता है, योग्य पुण्य के होने पर सर्वार्थ सिद्धि पर्यन्त स्वर्ग में निवास तू करता है, पाप-पुण्य युगल के योग से नर पर्याय में रहता है। इस प्रकार लोकत्रय रूप भवन में निवास किया करता है। यह लोक तेरे स्वच्छन्द विचरण का स्थल है।”

इस विशाल विश्व का विचार कूप-मंडूक वृत्ति रूप जीवन और भोगराशना को छोड़कर उज्ज्वल तथा श्रेष्ठ वृत्ति के लिए प्रेरणा एवं प्राणप्रदान करता है। अहंकार, मात्सर्य, लालच आदि की विकृति दूर भाग जाती है। यह जीव इस भावना रूपी रथ पर आरूढ होकर लोक-त्रय का दर्शन करता है। व्यसन—सेवा तथा पापावरण करने वाले नार-कियों के दुर्भाग्य और अवर्णनीय व्यथा का विचार करने से पापाचार से मन-पराङ्मुख होता है। अहिंसा, सत्य, शील, प्रतादि के पालन से स्वर्ग का सुख भोगने वाली दिव्यात्माओं के चिन्तनसे धर्म में बुद्धि होती है और सिद्ध परमात्मा का चिन्तन कर सर्व कलंक बीज कर्म क्षय द्वारा निर्वाण लाम की लालसा जागृत होती है।

विदेह भूमि का चिन्तन करने से इसे ऐसा लगता है मानी में

१ अत्रास्ति जीव न च किंचिदभुक्तमुक्तं स्थानं त्वया निखिलतः परिशीलनेन।

तत्केवलं विगलिताखिलकर्मजालं, स्पष्टं कुतूहलधियापि न जातु धाम ॥

२ त्वंकल्मषावृतमतिनिरयं तिरश्चि, पुण्योचिते दिवि नृप द्वयकर्मयोगात्।

इत्थं निपीदसि जगत्त्रयमभिरेऽस्मिन्, स्वैरं प्रचारविधये तव लोक एवः॥

भगवान् सीमंघर स्वामी आदि धर्म तीर्थंकर महाप्रभुओं के पाद-पद्म के पाद्व में पहुँच गया है, जिनके प्रसाद से आज भी वहाँ से जीव विदेह (मुक्त) होते हैं। इस छोटेसे क्षेत्र में शासक या शासन सत्ता द्वारा अधर्म का प्रथय मिलने से पाप का बोझाला भले हो दिखता हो, किन्तु तीर्थंकर सूर्य के प्रकाश में मिथ्या प्रवृत्तियों का दर्शन भी नहीं होता है। उसे धर्म गंगा से पुनीत विदेह का विचार, चिन्तना द्वारा साक्षात् तीर्थंकर के पाद मूल की प्राप्ति सा करा देता है। इससे धर्मोत्साह में सदा अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार धर्मध्यान के लिए अद्भुत आनन्ददायी अमृताहार का लाभ मिलता है। धर्मध्यान का भेद संस्थान-विचय बताया गया है।

“जो मानव उपशान्त भावों से इस प्रकार लोक के स्वभाव का चितवन करता है, वह संपूर्ण कर्म पुंज का क्षय करके लोक का शिक्षामणि बनता है। उससमय वह आत्म जगतका अधिपति बनता है। उस आत्मोत्थ आनन्द में आकांक्षमग्न आत्मा बाह्य विश्व की ओर उपयोग नहीं लगाता है, वह अंतर्मुख होता है, तब जानावरणादि के क्षय होने से समस्त पदार्थ मालिका उसकी विमल आत्मा में स्वयं प्रतिबिम्बित होती है।

बोधि दुर्लभ भावना

यस पर्याय, मनुष्यस्व आदि अनुकूल सामग्री की उपलब्धि कठिनता से होती है, इसका चिन्तन करना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है। ,

पं० जयचंद्रजी लिखते हैं:-

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहि।

भव में प्राप्ति कठिन है, यह व्यवहार कहाहि ॥ १२ ॥ ,

“हे आत्मन् ! अनन्तभव वाले संसार में बहुद्वार परिभ्रमण करते हुए तूने मिथ्यात्व के बश हो बाधी गई कर्म प्रकृति के कारण बोधि-लाभ (रत्नत्रय का लाभ) नहीं प्राप्त किया है।” (वल्गुणालोचना)

रत्नत्रय की महत्ता पर महाकवि हरिचंद्र ने इस प्रकार प्रकाश डाला गया है “जन्म, व्यथा मृत्यु रूप सर्वत्रय के मद को चूर्ण करनेवाले रत्नत्रय को मैं प्रणाम करता हूँ, जिस रत्नत्रय रूप भूषण की प्राप्ति कर

१ एवं लोय सहावं जो शायदि उवसमेवकसंभावो ।

सो खविय-कम्म-पुंजं तस्सेव सिहामणी होदि ॥ २८३॥ (का.अ.)

सत्पुरुष विरूपाकार (क्षय रहित अशरीरी) होते हुए भी मुक्तिश्री के प्रेम पात्र बन जाते हैं ।” (धर्मशमभ्युदय १-७)

इस भावना वाला तत्त्व चिंतक रत्नत्रयको आत्म निधि मानता है । उसे सुरराज के भी भोग प्रिय नहीं लगते । भोगोंके विषय में कवि दोलतराम जी की यह जाणी कितनी यथार्थ तथा मार्मिक है—

मत कीजो जो यारी, ये भोग भुजग सम जान के । टेंक

भुजग डसत इकवार नसत है, ये अनंत मृतु कारी ।

तिसना तृपा बड़ सेयें, ज्यों पीये जल खारी ॥ १ ॥

रोग वियोग शोकवन को घन, समता-लता कुठारी ।

केहरि करि अरिहू न देत ज्यो, त्यों ये दें दुःख भारी ॥ २ ॥

इन में रचे देव तह थाये, पाये श्वभ्र मुरारी ।

जे विरचे सुरपति अरचे, परचे सुख अविकारी ॥ ३ ॥

पराधीन छिनमाहिं छोन ह्यै, पापबंध करतारी ।

इन्हें गिनै सुख आक माहिं तिन, आम लनी बुधि घारी ॥ ४ ॥

भीन मतंग पतंग भ्रंग मृग इनवश भये दुखारी ।

सेवत ज्यों किंपाक ललित, परिपाक समय दुखकारी ॥ ५ ॥

सुरपति नरपति खगपतिहू की, भोग न बास निवारी ।

‘दोल’ त्याग अब भज विराग सुख, ज्यों पावै शिवनारी ॥ ६ ॥

कार्तिकेय स्वामी कहते “हैं कि इस रत्नत्रय को पाकर यदि जीव ने मोक्षकपाय भाव किए, तो उसकी रत्नत्रय निधि नष्ट हुए बिना न रहेगी । रत्नत्रय को प्राप्त करके भी यदि जीव तीव्र कपाय करता है तो रत्नत्रय रहित होना हुआ नरक तिर्यंघ गति में जाता है ।” सोमदेव सूरि लिखते हैं—

बाह्य प्रपंच-विमुखस्य शमो-मुखस्य भूतानुर्कंपनरुचः प्रियतत्त्ववाचः ।

प्रत्यक् प्रवृत्त हृदयस्य जितेन्द्रियस्य भव्यस्य बोधि रियमस्तु पदाय तस्मै ॥

“जो बाह्य विषय कपाय रूप संसार से पराङ्मुख है, साम्य के

अन्मुख है, सम्पूर्ण जीवों के प्रति करुणाभाव की रुचि सम्पन्न है, प्रिय

तात्त्विक वचन बोलता है, परमात्म तत्त्व में जिसका मन लगा है, सम्पूर्ण

इंद्रियों को जिसने बश में कर लिया है, ऐसे भव्य जीव की बोधि निर्वाण पद

का कारण होवे ।”

यह रत्नत्रय की उपलब्धि मनुष्य जीवन की ही विशेषता है । मानव को कम से कम श्रावक के ग्रंथों का पालन करना आवश्यक है । बवि भूपरदास की यह वाणी बड़ी प्राणदायिनी है —

ऐसी श्रावक कुल तुम पाय वृथा काहे खोवत हो ॥टेक॥

बठिन कठिन कर नर भव पायो तू लेखो आसान ।

धरम बिसार विषय संग राखो मानी न गुह को आन ॥१॥

बाहू शठ चिन्तामन पायो मग्न न जानो तास ।

बायस देख उदधि में डारो फिर पाछे पछताय ॥२॥

चञ्ची एक मतग जु पायो ता पर ईधन ढोवे ।

बिना विवेक बिना मति ही के अमृत सो पग घोवे ॥३॥

सप्त व्यसन आठो मद त्यागो, करुणा वित्त विचारो ।

तीन रतन हिरदे में धारो आवागमन निवारो ॥४॥

‘भूषर’ बहे सुनो भाई भविजन अवहूँ क्यों न चितारो ।

प्रभु को नाम तरण-तारण जप करम फद निरवारो ॥५॥

आचार्य अकलक कहते हैं, “इस भावना के द्वारा धोधि का लाभ होता है तथा कभी भी उसके विषय में प्रमाद नहीं होता है । “एवं ह्यस्य भावयत धोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति”

धर्म भावना

बारहवी भावना का नाम है, ‘धर्म-स्वाख्यातत्वम्’-‘सर्वज्ञ-वीतरागधर्मस्य शोभनाख्यानं धर्म-स्वाख्यातत्वम्’ (सुखबोध टीका पृ २१२) सर्वज्ञ वीतराग भगवान् ने धर्म का सुन्दर स्वरूप निरूपण किया है । यह ‘धर्म-स्वाख्यातत्व’ है । इसका पुन पुन चिन्तन करना धर्म-स्वाख्या-तत्वानुचिन्तन कहलाता है ।

“यह धर्म सपूर्ण सुखो का आकर है, हितकारी है, इस धर्म का ज्ञानी पुरुष उपचय करते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए पुष्टि करते हैं,

lead the man with faith to that exalted state, namely liberation, the man that is averse to worldly phenomena eager for spiritual calm, self-controlled and kind to all creatures and fond of the truth, his heart devoted to the Inner Self” P 307

धर्म से ही शिव सुख सम्यक् प्रकार से प्राप्त होता है, उस धर्म के लिए नमस्कार हो। उसारी जीवों का धर्म से बढकर उपकारक नहीं है। धर्म का मूल दया है। मैं प्रतिदिन अपना चित्त धर्म में लगाता हूँ। हे धर्म ससार महासिन्धु में गिरते हुए मेरी रक्षा कर।”

ऐसा कल्याणकारी धर्म केवली भगवान द्वारा प्रणीत हो सकता है। जिनके पास सर्वज्ञता की ज्योति न हो, जो चीतरागता की संपत्ति शुन्य हो तथा जिनमें हितोपदेशिता का अभाव हो, वे धर्म पथ की दिशना कैसे दे सकते हैं? इसी से ‘केवलपण्यतो धम्मो मगल—वेदली प्रणीत धर्म को मगलरूप-पाप वा नाशक तथा पुष्प का दाता कहा है। जिनेन्द्र के धर्म के विषय में बम्ह विलास में लिखा है—

“पापन के बूट जे अटूट भरे घट माहि,
होते चिरकालन के सर्व निघटत हैं।
लगे जो मिथ्यात भाव भूलि के सुभाव निज,
तिन्हू के पटल प्रभात ज्यो फटत हैं।
अपनी सुदृष्टि होत प्रगटे प्रकाश ज्योत
तिहू लोक में उद्योत सस्य प्रगटत हैं।
ऐसो जिन धर्म के प्रसाद तै प्रकाश होय
अजहू सभार भैया काहे को रटत हैं।”

यह प्राणीधर्माभूत को छोड़कर विषय रूप विष पातको बयो तत्पर होता है, इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व रोग वश इस जीव का स्वाद बिगड़ गया है, इससे मधुर वस्तु कटु लगती है और अपव्यकारी आहार मनोमुग्धकारी लगता है। गोमट्टसार जीवकांड में लिखा है—

“मिथ्यात्व प्रवृत्ति के उदय से जीव की श्रद्धा विकृत हो जाती है इससे उसे धर्म नहीं सुहाता है। ज्वर वाले को मधुर वस्तु अच्छी नहीं, लगती है।”

१ “The soul involved in wrong belief thought activity becomes a perverted believer and certainly has no inclination for Truth (Dharma) as a man in fever (has no taste) for sweet (sugar-cane) juice”

Gom Eng Trans by J L, Jami

इस विवृत रुचि होने के कारण दूसरों के द्वारा की गई धर्मा-
घना मिथ्यात्वी जीव को विघ्न करने योग्य दिखती है और पाप तथा
अनर्थ के धर्म सहायता तथा प्रेरणा के पात्र प्रतीत होते हैं। नीति
वाक्यामृत के धर्म समुद्देशमैलिखा है, "धर्म के अनुष्ठान में बिना आमरण के भी
लोगप्रतिकूल वृत्ति बन जाते हैं। अधर्म के धर्मों में कौन नहीं उपदेश देता
है, अथवा अग्रसेर नहीं बनता है?"

स्वामी समन्त भद्र कहते हैं—'इस जीव का असली धर्म यदि
कोई है तो वह अधर्म है। सच्चा जीव का कल्याणकारी बंधु धर्म ही
नाशी शांति और अनन्त आनंद का लाभ जिनेन्द्रोपतधर्म की आराधना
से होता है। जो रागद्वेष मोह के राग से सतप्त है, वे रागादि के रोग
से दुखी जगत को वीतरागत की ज्योति कैसे दिखा सकते हैं?' नेत्रहीन
व्यक्ति का मार्ग प्रदर्शन क्या कभी भी कल्याण प्रद हो सकता है?
इससे सर्वज्ञ जिनेन्द्र के धर्म की स्तुति करते हुए भैया भगवतीदास
लिखते हैं—

कल्पवृक्ष जिन धर्म इच्छ सब पूरे मन की,
चितामन जिनधर्म बित सब टारै जगकी।
पारस सो जिन धर्म करै लोहादिक बचन,
बामघेनु जिन धर्म बामना रहती रच न।

कोई यह सोच कि धर्म के द्वारा जिस प्रकार उत्थान होता है,
उसी प्रकार अधर्म के द्वारा भी अभ्युदय हो सकता है, इस भ्रम का निवा-
रण करते हुए कातिकेय स्वामी कहते हैं—

"देव पर्याय वाला जीव भी धर्म रहित हो मिथ्यात्व के वश से
एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। सार्वभौम चक्रवर्ती नरेंद्र धर्म रहित होता हुआ नरक
में पतित होता है। अतः अधर्म संपत्ति का कारण नहीं होता है अर्थात्
हिंसादि पाप द्वारा जीव की विपत्ति ही प्राप्त होती है।"

प्रायः ऐसी शका उत्पन्न हुआ करती है कि पाप करने वाला जीव
सुखी देखा जाता है, अतः पाप को दुःख का कारण कैसे माना जाय?
इस शका का निवारण सहज है। पूर्व में सचित पुण्य के उदय से जीव
सुखी है, आज के पाप का सब तक प्रभाव नहीं दिखेगा, जब तक पुरातन
पुण्य की पूजा पुजीभूत है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति ने बैंक में
कई लाख रुपया जमा करा दिए हैं और वह जुआ, व्यभिचार आदि पाप

चार की निकुष्ट मूर्ति बन गया तथा विपुल धन बरबाद करने लगा। उसे जितना रुपया लगता है तत्काल बैंकसे मिल जाता है। इसे देख कोई अल्पज यह सोचे कि पाप करते हुए भी इसे रुपया कैसे मिलता जाता है, तो यह बात उसे विदित होना चाहिए, कि जितना जमा है, उतने तक धन को वह पापी जब चाहे, तब प्राप्त कर सकता है किन्तु पूँजी समाप्त होने के बाद बैंक कानी कौड़ी बराबर भी कीमत उसकी नहीं करेगा। इसी प्रकार पुण्य की कमाई पूर्वकी जब तक है, तब तक जीव सुख पाता है। अतः सुख की इच्छा करने वाला सभी भव्यात्माओं को धर्मका, धर्म ही का, धर्म शरण लेना चाहिए। सद्धर्म का लाभ बड़े भाग्य से होता है।

कल्याणकारी धर्म को भ्रम यशस्कट का कारण मानने वाले रूस के भाग्य विधाता स्टेलिन के विषय में अमेरिकन लेखक राबिन्सन ने बताया है कि “स्टेलिन महाशय ने १० करोड़ छोटे जमीन के मालिकों को भरवा डाला था और इतने ही मनुष्यों को अपनी शासन पद्धति की आलोचना करनेके कारण साइबेरियाके कारावासमें अपार कष्ट दिया था।” इस प्रकार और भी बड़े बड़े अनर्थ के कार्य उस व्यक्ति के निमित्त से हुए।

अधर्मी के समान धर्म की भ्रम पूर्ण धारणा भी जीव को भीषण पागल बना देती है, फिर वह विपक्षियों के जीवन का मूल्य नहीं सोच पाता। देखो न, पाकिस्तान के जनकहजरत जिद्दा की जिद्द के कारण कितने अपराध रहित लोगों के जीवन, धन, इज्जत आदि की बर्बादी नहीं हुई? इसलिए विवेकी मानव का कर्तव्य कृष्णा पूर्ण धर्म का आश्रय लेने में है।

1 “He had close to 10,000,000 small landowners cold-bloodedly killed it the '20's for objecting to the collectivization of Russia's farmlands (“It was all very bad and difficult-but necessary,” he told Winston Churchill, in 1942.) He has had untold millions sent to barbaric prison camps in Siberia for the slightest criticism of his regime. (Official estimates placed the number of prisoners in these camps in 1951 at over 10, 000, 000,) He has instituted vicious controls of press, speech, science, art every thing, with an omnipresent spy system to enforce them.”

The 100 Most Important People: P.8

सार

आज का अद्भुत युग अमर जीवन देने वाले आध्यात्मिक विचारों पर यम दंड का प्रहार कर रहा है। पापविक प्रवृत्तियों तथा आसुरी भावनाओं का विश्व व्यापी प्रसार हो रहा है। लोभरुचि भी भोगकांक्षी, विषय लोलुपी तथा द्रव्य की दासी बन गई है। जीवन में हंस तुल्य धवलता और गुणशता का दर्शन दुर्लभ हो गया है। इसलिए वाक सदाश्याम वृत्तियों की अभिवृद्धि वेग से हो रही है। इस दिशा में शासक और शासित परस्पर होड़ सी लगा दौड़ रहे हैं। जगत् भौतिक वस्तुओं का इतना अधिक दास बन गया है, कि उनकी आराधना के लिए अपनी आत्मा को पूर्णतया खोने के लिए सदा तत्पर रहता है। आत्माका अमृत रस इस मोही मानव को विष के समान कटु लगता है, और स्थायी पतन के पथ में प्रवृत्त करने वाली सामग्री, अमृत तुल्य लगती है। ऐसे वातावरण में फसा हुआ व्यक्ति कैसे शाश्वतिक शांति, अमर जीवन और आनंद को प्राप्त कर सकता है ? एक ओर बात है, आज तो व्यक्ति के जीवन का उचित मूल्य भुलाकर उसे समष्टि के सिधु में समा जाने की ही कल्याणकारी समझा जाता है। समष्टि पर दृष्टि रखने के साथ व्यक्तिगत विकास तथा जीवन को स्फीत बनाने की बात कम महत्वास्पद नहीं है। यह ठीक है "सर्वे शक्तिः कलौ युगे", किन्तु यदि व्यक्ति सामर्थ्य तथा शक्ति का पुत्र हो तो उसके जीवन से समष्टि को प्रकाश तथा शक्ति भिजा करती है। युगान्तर उत्पन्न करने की क्षमता असाधारण आत्माओं में पाई जाती है। अगणित नक्षत्र मालिका द्वारा भी जिस अखंड अवधार के कुशासन का प्रसार नष्ट नहीं होता, उसे एक चंद्र अपनी ज्योत्स्ना के द्वारा दूर कर विश्व को प्रकाश से धवलित करता है।

असाधारण हित तथा चिरंतन कल्याण करने वाली विभूतियों से कभी कभी प्रकाश तथा प्रेरणा पाने वाला जगत उचित रूप से परिचित नहीं रहता है। उसके परिचय में बहुधा ऐसे लोग आते हैं जिनको स्वार्थी वर्ग अपने विज्ञापन के साधनों द्वारा सजाकर समक्ष उपस्थित करते हैं। यथार्थ में व्यक्ति की उच्चता और पवित्रता का मापदंड उसकी प्रतिष्ठा तथा लोक द्वारा पूजा नहीं है क्योंकि पतित आत्माओं भी वर्गवाद के बल तथा प्रथम को पाकर कुछ समय के लिए ऐसे ही चमका करती हैं जैसे

दीपमालिका के अवसर पर बच्चों को आनदित करने वाली फुलझंडी आदि । कुछ काल के बाद इस कृत्रिम प्रसिद्धि पर प्रकृति का आचरण आने से वे भी विस्मृति के गहरे गर्त में गायब हो जाते हैं । सद्गुण संपन्न व्यक्ति अपना अपूर्व प्रभाव चिरस्मृति की सामग्री छोड़ जाता है । यूरोप के प्रकाण्ड विद्वान रसेल ने लिखा है कि "यदि व्यक्ति में मानव समाज के प्रति प्रेमभाव है, उसकी दृष्टि विशाल है, वह साहस और सहनशीलता संपन्न है, तो ऐसा व्यक्ति बड़ा काम कर सकता है । जो व्यक्ति पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं वे यद्यपि अपने समय में अज्ञान सरीखे हो कितु उनके अपना जीवन व्यर्थ में व्यतीत किया, इस बात का भय नहीं करना चाहिए । उनके जीवन में कुछ ज्योति प्राप्त होती है, कुछ प्रकाश मिलता है, जो उनके मित्रों, पड़ोसियों तथा भविष्य काल के लिये लोगों को प्रकाश देता है ।"

महान कार्य करने वाले व्यक्ति को सदा विषम वातावरण से सघर्ष कर अपना स्थान बनाना पड़ता है । लोक प्रवाह में बहने वाले व्यक्ति का सरिता के जल के साथ बहने वाले बालू के कणों के समान नगण्य स्थान होता है । आज भी विषयो की पूति की ओर अघाघु-बदौड़ने वाले जगत का प्रकाश में देने का साहस बोन कर सकता है । प्रवाह के भवर में आने वाली आत्मा स्वयं उस चक्र में घूमने लगती है । जगत की मोह जाल में जकड़ी हुई अवस्था का चित्रण एक कवि के इन मार्मिक शब्दों में मिलता है:-

को छूट्यो यहि जाल परि, कर कुरंग अकुलात ।

ज्यो ज्यो सुरजि भज्यो चहत, त्यो त्यो उरजत जान ॥

ऐसी परिस्थिति में जब कि सर्वत्र असंयम के कीटाणु व्याप्त हो और समय की साधना मोही मानव को यम की दाणी सी लगती हो, तब पवित्रता के पुज थोछ योगी का जीवन व्यतीत करनेवाले महापुरुष की

१ The individual, if he is filled with love of mankind, with breadth of vision, with courage and with endurance, can do a great deal. Those who live nobly, even if in their day they live obscurely, need not fear that they will have lived in vain. Something radiates from their lives, some light that shows the way to their friends, their neighbors—perhaps to long future ages."

कहा उपलब्धि हो सकती है ? यह तो महान सौभाग्य की बात है कि महा-मुनि श्री शातिसागर विद्यमान महाराज हैं जिनका पुण्य जीवन सत्य, बहिष्ता, अपरिग्रहत्व आदि गुणों का रत्नागार है । ये ही डा. राधाकृष्णनके शब्दों में "वास्तव में सच्चे तत्त्वज्ञानी हैं जो आत्माके रोग को दूर करते हैं और हमें के बन्धन से बचाने में सहायक होते हैं ।"

आचार्य महाराजके पवित्र जीवन पर इस प्रथम हमने जो प्रकाश डाला है उसमें उनकी पूज्यता तथा लोकोत्तरता स्पष्ट होती है । अभी काशी में उन साधुराज के जीवन के सम्बन्ध में दिगम्बर मुनि श्री बीरसागर महाराज ने एक महत्व की बात कही थी "आचार्य महाराज का का पुण्य प्रभाव मनुष्यों की बात ही दूसरी, पशुओं पर भी अपना अचिन्त्य असर डालते हुए हमने देखा है । सन १९२८ में जब हम आचार्य महाराज के साथ सम्मेलन शिखर की यात्रा को गए थे तब एक जंगल में बेलों के भुण्ड में से चार मस्त और उड़ड़ बिल बंधन तोड़कर हमारे सघ की ओर भागे । हमें आश्चर्य हुआ कि, कोई बड़ा उपद्रव न कर बैठें । दृष्टने में क्या देखते हैं कि वे भागते हुए आचार्य महाराज के पास पहुंचे और एकदम शांति धारण कर उन शांति के सागर के चरणों के मम्युल्लसत-मस्तक हो गए ।" उनके ये शब्द बड़े मार्मिक हैं, तीर्थ यात्रा करना है तो शिखरजी जाओ, मूर्ति के दर्शन करना हो तो भगवान गोमटेश्वर की प्रतिमा के समीप जाओ और यदि मुनिराज की वदना करना है तो आचार्य शातिसागर महाराज के दर्शन करो । ऐसी निर्दोष श्रद्धा बोध तथा सदाचरण समन्वित आत्मा की कीर्ति मुमुक्षु प्रणाम न करेगा ? हमारी उनके पुण्य चरणों में हार्दिक श्रद्धाजलि है ।

1 "The true philosopher is a physician of the soul, one who helps us to save ourselves from the bondage of desire".

Ind Phil. p 364.



आचार्य श्री लेखक को आशीर्वाद देते हुए ।

आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम्

पूज्यातिपूज्यैर्यतिभिस्तुवद्य । ससार-गभीर-समुदसेतुम् ।

ध्यानकनिष्ठा-गरिमा गरिष्ठम् । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

ध्यानादिसैन्य परिवर्धय पूर्णम् । वर्माश्रित्यं प्रणिहृत्य वेगान् ।

नीरागस्वातन्त्र्यपदे प्रतिष्ठम् । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

भयन्तरो बाह्य उपाधिभार । वृत्तिकृतो येन वितृष्णभावात् ॥

दैगम्बर सुन्दरदि-मनायम् । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

धर्माभूत पाययति प्रभूतम् । यो भव्यजीवान् करुणास्वरूपः ।

स्वात्मस्वरूप च चकार तेभ्यः । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

बोऽनेक साधून् विषयेष्वरक्तान् । निर्यय लिंगे विधिना चकार ।

गुरुपरागोपि च वीतराग । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

महागभीर विशदीकृतार्थं । शास्त्राब्धिपारेर्गतवाग्दामयम् ।

तथापि प्रजामक्ताधिरक्तः । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

दशं दशं सूरिशान्तस्वरूपम् ।

पाय पाय धाक्य-नीयूष-धाराम् ॥

स्मारस्मार तद्गुणान् स्पृष्टपादा ।

जाता शान्ता साधवाश्चेष्टवरक्ता ॥

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
बैजन्ती	वैजयन्ती	१३	११
Weath .	Wealth	१३	२८
विहंगो	निहंगो	८	२८
चार सौ	चार	१३	११
वृत्त	व्रत	२३	१७
बाहर न जाना	बाहर जाना	२५	९
कार	कारण	२९	२८
सामयिक	सामायिक	४३	१३
आध्यात्म	अध्यात्म	४५	२०
ऐकीभाव	एकीभाव	५३	४
गायकवाङ्	गायकवाड	६३	१८
कपायो	कपाणो	६७	२३
केल	केला	६९	२७
वाग	बाड	८३	१६
वाचकम्	वाचकम्		१६
संतकः	रनंतकः		२३
र्षान्	अर्षान्		२८
स्वाध्यय	स्वाध्याय	१२२	२७
अतर्जल्य	अंतर्जल्य	१४०	१९
			२०
			२१
सीर्यं-याटन	सीरिटन	१५६	
महाव्रत्ता	महाव्रतः		१९
सागर	सागार	१६०	७
prou	pious	१७९	२३
begining	beginning	३०३	२४
आयदा	अयदा	५४४	२५
flash	flesh	५५०	२२
ministar	minister	५५१	२९
सदाचर	सदाचरण	५५५	१२